वर्ष 12, अंक 40, जनवरी -मार्च 2022

मूल्य
₹120/-

UGC Care Listed

त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

ISSN-2321-1504 Nagfani RNI No. UTTHIN/2010/34408

नागफनी

अस्मिता, चेतना और स्वाभिमान जगाने वाला साहित्य

आगामी अंक के बारे में

UGC CARE LISTED हिन्दी की स्तरीय पत्रिका नागफनी का अंक जून, २०२२ के अंत में प्रकाशित करने का निणय सम्पादक मंडल ने लिया है। अतः हिंदी लेखकों, समीक्षकों एवं शोधार्थियों से अनुरोध है कि अपनी रचनाएँ/आलेख भेजने का कष्ट करें। आलेख और सत्यापन/सहमति पत्र nagfani81@gmail.com पर २५ मई, २०२२ तक भेजने का कष्ट करें। शोधालेख प्रकाशन की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा वह आपको २५ मई, २०२२ के बाद मेल से ही सूचित किया जाएगा। इसको लेकर संपर्क करने की आवश्यकता नहीं हैं। 'नागफनी' अस्मिता, चेतना, और स्वाभिमान जगाने वाली त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका है। इस पत्रिका को ISSN-2321-1504 nagfani और RNI No- UTTHIN/2010/34408 नम्बर प्राप्त है। साथ ही यह peer Reviewed Referred journal है। किसी भी तरह की जानकारी के लिए डॉ. एन. पी. प्रजापति मो. (९७५२९९८४६७), प्रोफेसर बलिराम धापसे, मो. (९४२०९९६१२५), प्रोफेसर संजय एल. मादार मो. (९९४५६ ६४३७९) से सम्पर्क करें। शोधालेख कृतिदेव १० फॉन्ट १४ साइज में तथा Unicode में टाइप करके word और PDF दोनों में भेजने का कष्ट करें। अन्य किसी टाइप फ़ॉन्ट को स्वीकृत नहीं किया जाएगा। धन्यवाद !!!

शोधालेख प्रकाशन के मानक

UGC CARE LISTED हिन्दी की स्तरीय पत्रिका नागफनी के जो सदस्य हैं उनका ही आलेख प्रकाशित होगा। जो भी व्यक्ति शोधालेख भेजना चाहते हैं उसमें निम्नोक्त बिंदु आवश्यक हैं जैसे-

१. भूमिका / प्रस्तावना
२. विषय वस्तु / बीज शब्द
३. मुख्य अंश / उद्देश्य
४. परिणाम / निष्कर्ष
५. सन्दर्भ
६. शब्द मर्यादा अधिकतम शब्द ३०००। इससे ज्यादा शब्द है तो कार्यकारी संपादक से परामर्श कीजिएगा।
७. सत्यापन एवं सहमति पत्र देने पर ही आलेख के सम्बन्ध में निर्णय होगा।

सत्यापन एवं सहमति पत्र

मैं.. सत्यापित करता/करती हूँ की नागफनी के लिए प्रस्तुत शोधालेख शीर्षक ....मौलिक एवं अप्रकाशित है। लेखन संबंधित सारे संदर्भ सत्य है। किसी | भी अंश के विवादित स्थिति के लिए मैं स्वयं जिम्मेदार रहूँगा रहूँगी। साथ ही प्रस्तुत शोधालेख में नागफनी के पीयर रिव्यू कमिटी को संशोधन, संपादन और संवर्धन करने की सहमति जताता / जताती हूँ।

शोधालेख प्रकाशित-अप्रकाशित करने का पूर्ण अधिकार सम्पादक मंडल और पीयर रिव्यू कमेटी का है। स्तरीयता एवं मौलिकता आदि के परीक्षण के बाद ही शोधालेख की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा, मुझे मान्य होगा। उपरोक्त नियम और शर्तों को मैं स्वीकार करता/करती हूँ।

हस्ताक्षर :

नाम:

मोबाइल क्रमांक :

व्यक्तिगत पंचवार्षिक सदस्यता लेने पर पांच साल तक पत्रिका मिलेगी। पत्रिका में मात्र नागफनी के सदस्यों के ही आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। शोधालेख प्रकाशन की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा वह आपको मेल से ही सूचित किया जाएगा। इसको लेकर संपर्क करने की आवश्यकता नहीं हैं।

अधिक जानकारी के लिए वेबसाइट देखिएगा http://naagfani.com

नागफनी

A Peer Reviewed Referred Journal

(अस्मिता, चेतना और स्वाभिमान जगाने वाला साहित्य)

UGC Care Listed त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

ISSN-2321-1504 Naagfani RNI No. UTTHIN/2010/34408

वर्ष 12, अंक 40, जनवरी - मार्च 2022

संपादक
सपना सोनकर

सह-संपादक
रूपनारायण सोनकर

कार्यकारी संपादक
डॉ. एन. पी. प्रजापति
प्रोफेसर बलिराम धापसे

अतिथि संपादक
प्रोफेसर दिनेश कुशवाह

सलाहकार मंडल (Peer Review Committee)

प्रोफेसर विष्णु सरवदे, हैदराबाद (तेलंगाना)
प्रोफेसर किशोरी लाल रैगर, जोधपुर (राजस्थान)
प्रोफेसर आर.जयचंद्रन तिरूअनंतपुरम (केरल)
डॉ. एन. एस. परमार, बड़ोदा (गुजरात)
डॉ. दिलीप कुमार मेहरा, बी.बी. नगर (गुजरात)
प्रोफेसर विजय कुमार रोड़े, पुणे (महाराष्ट्र)
प्रोफेसर संजय एल. मादार, धारवाड (कर्नाटक)
प्रोफेसर गोविन्द बुरसे, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
डॉ. दादासाहेब सालुंके, औरंगाबाद(महाराष्ट्र)
प्रोफेसर अलका गड़करी, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
डॉ. साहिरा बानो बी. बोरगल, हैदराबाद (तेलंगाना)
डॉ. बलविंदर कौर, हैदराबाद (तेलंगाना)
डॉ.उमाकांत हजारिका,शिवसागर (असम)

मुख पृष्ठ- डॉ.शेख आजम, मैत्री ग्राफिक्स, सावंगी (ह), औरंगाबाद

प्रकाशन/मद्रण

प्रकाशक रूपनारायण सोनकर की अनुमति से डॉ. एन. पी. प्रजापति एवं प्रोफेसर बलिराम धापसे द्वारा
नमन प्रकाशन 423/A अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली 11002 में प्रकाशन एवं मुद्रण कार्य

संपादकीय / व्यवस्थापकीय कार्यालय

दून व्यू काटेज स्प्रिंग रोड, मसूरी-248179, उत्तराखण्ड दूरभाष: 0135-6457809 मो. 09410778718

शाखा कार्यालय

पी.डब्ल्यू. डी.आर-62 ए, ब्लाक कालोनी बैढ़न, जिला-सिंगरौली म.प्र. 486886, मो. 097529964467

सहयोग राशि-150/- रुपये, वार्षिक सदस्यता शुल्क (संस्था के लिए)-1000, रुपये पंचवार्षिक सदस्यता शुल्क (व्यक्ति के लिए)-2000/- रुपये
पंचवार्षिक संस्था और पुस्तकालयों के लिए 3000/- रूपये, विदेशों में $50 आजीवन व्यक्ति 6000/- रुपये 10000/- रुपये

सदस्यता शुल्क एवं सहयोग राशि-इंडिया पोस्ट पेमेंट बैंक AC8367100138282 IFSC Code-IPOS0000001,Branch -SIDHI(NIRAT Prasad Prajapati)

नोटः- पत्रिका की किसी भी सामग्री का उपयोग करने से पहले संपादक की अनुमति आवश्यक है। संपादक - संचालक पूर्णतयः अवैतनिक एवं अध्यावसायिक है। **नागफनी**' में प्रकाशित शोध-पत्र एवं लेख, लेखकों के विचार उनके स्वंय के हैं, जिनमें संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं। **"नागफनी"** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल देहरादून न्यायालय के अधीन होंगे। अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है। सारे भुगतान मनीआर्ड बैंक/चेक/ बैंक ट्रांसफर /ई-पेमेन्ट आदि से किये जा सकते हैं। देहरादून से बाहर के चेक में बैंक कमीशन 50/- अतिरिक्त जोड़ दें।

लेख भेजने के लिए Mail ID: nagfani81@gmail.com Website: http:naagfani.com

नागफनी

पृष्ठ क्रमांक

संपादकीय..... 01

साहित्यिक विमर्श

1. कन्नड भाषा और साहित्य का सांस्कृतिक संदर्भ-प्रो.संजय एल.मादार 2-4
2. मध्यकालीन हिन्दी काव्य : राम और कृष्ण के शब्द चित्रों के संदर्भ में-डॉ.नीतू परिहार 5-6
3. उदय प्रकाश की कहानियों में उदारीकरण की संस्कृति-डॉ.सुनील पाटिल 7-8
4. साहित्य के मानदण्ड एवं प्रेमचंद के निबंध-डॉ.अमित कुमार तिवारी 9-11
5. रमेश पोखरियाल 'निशंक' के काव्य में राष्ट्रीय चेतना के स्वरः-डॉ.संगिता चित्रकोटी 12-14
6. अज्ञेय की काव्य संवेदना : एक अन्तर्यात्रा-डॉ.वीणा जे 15-17
7. 'राम की शक्तिपूजा' मनोभावों की समग्रता का प्रबल साक्ष्य-त्रिनेत्र तिवारी 17-18
8. विष्णु प्रभाकर के स्वागत नाट्य (मोनो लॉग) का शिल्पगत अध्ययनः डॉ.कल्पना मौर्य 19-20
9. प्रेमचंद और आज का भारतः किसान विमर्श के संदर्भ में- वैशाली गायकवाड 21-22
10. निराला और उनकी राष्ट्रीय चेतनाः डॉ.समयलाल प्रजापति/डॉ.निरपत प्रसाद प्रजापति 23-24
11. 'सुख' तलाशते साठोत्तर समाज का 'दुख'-डॉ.दीपक जाधव 25-27
12. भारतीय अन्नदाता की त्रासदी का उपन्यास 'अकाल में उत्सव'-डॉ.मृत्युंजय कोईरी 27-29
13. हिंदी कहानियों में वृद्ध विमर्श : यथार्थवादी चिंतन -डॉ.सुरेश सिंह राठौड 30-32
14. मुक्तिबोध और फैन्टेसी : 'अंधेरे में' कविता के संदर्भ में- आरती सिंह राठौर/डॉ.रेशमा अंसारी 33-34
15. रस का आधुनिक काव्य से संबंध - डॉ.कविता त्यागी 35-36
16. जयप्रकाश कर्दम के कथा साहित्य में लोकजीवन-सुनीता 37-38
17. इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में सांस्कृतिक चिंतन के द्वारा राष्ट्रीय चेतना-श्रीमती मीना शर्मा 39-40
18. साहित्य से सिनेमा फिल्मांकन की समस्या पर विमर्श (हिन्दी सिनेमा के संदर्भ में)-संजय सिंह/डॉ.शाह आलम 41-43
19. 'नए इलाके में': नए इलाके की खोज करती कविताएँ-डॉ.अन्सा ए 44-46
20. स्वाधीनता आंदोलन और हिंदी की हास्य व्यंग्य कविता : डॉ.उर्विजा शर्मा 47-48
21. हिंदी साहित्य में विकलांगता का चित्रण-मोनी 49-52
22. निराला का अंग्रेजी साम्राज्य के खिलाफ विद्रोह-डॉ.कृष्ण बिहारी राय 53-54
23. इक्कीसवीं सदी के प्रतिनिधि उपन्यासों में राजनीतिक मूल्य-श्रीमती मालती देवी 55-57
24. 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' : पर्यावरण चिंतन का महाकाव्य-डॉ.अंजू लता/आलिया जेसमिना 58-62
25. सुशीला टाकभौरे की कहानियों में उत्पीडन एवं जीवन संघर्ष -डॉ.कुलदीप सिंह मीना 63-65
26. ढाई बीघा जमीन : आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में-डॉ.जयंत बोबडे 66-68

स्त्री विमर्श

1. इक्कीसवीं सदी की हिंदी कविता में स्त्री अस्मितामूलक प्रश्नों की संवेदना-डॉ.बलविंदर कौर 69-71
2. नारी अस्मिता के विविध आयाम-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य-डॉ.नीरजा शर्मा 72-73
3. नारी अस्मिता और छिन्नमस्ता उपन्यास-प्रोफेसर आसाराम बेवले 74-76
4. स्त्री लेखन का नया प्रतिमानः स्त्री-भाषा-डॉ.यमुना प्रसाद रतूडी 77-79
5. 'रेत' उपन्यास में चित्रित स्त्री-डॉ. शीतल गायकवाड 80-81
6. कृष्णा अग्निहोत्री की 'और...और...औरत' आत्मकथा में नारी विमर्श-राकेश भील 82-83
7. स्त्री विमर्श के दायरे में 'बारबाला' का अनुशीलन-डॉ.मीना सुतवणी 83-86
8. नन्द चतुर्वेदी की कविता में स्त्री चित्रण-डॉ.विदुषी आमेटा/संगीता भारद्वाज 87-93
9. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ग्रामीण स्त्री जीवन का परिदृश्य :'बेनीमाधो तिवारी की पतोह'के विशेष संदर्भ में- बेबी विश्वकर्मा 94-96
10. वर्तमान समय में नारी की स्थिति-डॉ.पूजा शर्मा 97-98
11. अनामिका की कविता में स्त्री पक्षधरता-डॉ.उषस पी.एस. 99-101
12. 'थेरीगाथा' में चित्रित स्त्री-जीवन की वैयक्तिक समस्याएँ- संजय यादव 101-102
13. शिवमूर्ति की कहानियों में स्त्री स्वर की अभिव्यक्ति-चंद्रावती 103-105
14. भगवानदास मोरवाल के उपन्यास 'वंचना'में व्यक्त नारी विचार-परेश सननसे/संजय कुमार शर्मा 106-107

पृष्ठ क्रमांक

आदिवासी विमर्श

1. आजादी की ईबारत 'जननायक टंट्या भील-डॉ.जगत सिंह मण्डलोई 108-111
2. मराठी आदिवासी काव्य में स्त्री जीवन- डॉ.संतोष गिरहे 112-113
3. हिंदी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी जीवन प्रथाएँ- डॉ.राजेंद्र घोडे 114-115
4. आदिवासी विमर्श-रोहिणी सालवे 116-117
5. जनजातियों की सामाजिक अवधारणा और रीति-रिवाज-शीतल कुमार चौके 117-119
6. आदिवासी समाज और उसका हिंदी कविता से अंतर्संबंध-वेद प्रकाश सिंह 119-122
7. आदिवासी समाज के विविध रंग एवं हिंदी कहानी- रत्नेश कुमार 123-125

विविध विमर्श

1.भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी भाषा और साहित्य :पाठयक्रम के विशेष संदर्भ में - प्रोफेसर बळीराम धापसे 126-127
2.सामाजिक विज्ञान विषय के पाठ्यक्रम में उत्पन्न शिक्षकों की समस्याएँ एवं उनके कारण-महेश कुमार शर्मा 128-130
3. वैश्विक धरातल पर आतंकवादः मानवता के समक्ष एक गम्भीर चुनौती- डॉ.राजू पवार 130-132
4. आधुनिक भारत में किसान आंदोलन का ऐतिहासिक अध्ययन-डॉ.अंजू पाण्डे 133-137
5. इक्कीसवीं सदी में गांधी की बुनियादी शिक्षा दर्शन की उपादेयता-डॉ.मृदुला शर्मा 138-140
6. माध्यमिक स्तर पर सांस्कृतिक दृष्टि से स्वदेशी और पाश्चात्य पाठ्यक्रम का अध्ययन-डॉ.रामावतार 141-143
7. समाज और संस्कृति का अंतःसंबंध-डॉ.मीना 144-148
8. हाशिये के सामाजिक परिवर्तन के लिए दूरस्थ शिक्षा-डॉ.अमित राय 149-151
9. हिन्दी पत्रकारिताः एक चुनौती-डॉ.साधना 152-153
10.कन्नड और हिंदी अनुवादः एक विश्लेषण -डॉ.रेशमा एल.नदाफ 154-158
11. देशज व्यक्तियों के अधिकार और विस्थापन-डॉ.चित्रा माली 159-161
12. मीडिया का चेहरा और चरित्र-डॉ.शीतल प्रसाद महेन्द्रा 162-166
13. अध्यापकों की जीवन संतुष्टि का विद्यार्थियों की संवेगात्मक स्थिरता पर पडने वाला प्रभाव -डॉ.सुनीता यादव 167-168
14.समाज पर सामाजिक माध्यमों का प्रभाव-आर.अरुणा/डॉ.जी.शांति 169-171
15.वैदिक वाङ्मय और सामाजिक चेतना- डॉ.कनक रानी 172-174
16.गांधी और विनोबा के अर्थशास्त्र में खादी- डॉ.मोहम्मद तारिक 175-176
17.सरकारी एवं गैर सरकारी विद्यालयों के विद्यार्थियों की बुद्धि एवं शैक्षणिक निष्पत्ति का अध्ययन-डॉ.कैलाश पारीक 177-179
18.विंध्य क्षेत्र के बौद्ध स्थापत्य (देउर कोठार स्तूप समूह के विशेष संदर्भ में)-डॉ.गोविंद बाथम 180-181
19.भौगोलिक वातावरण का कृषि एवं जैव विविधता पर प्रभावः- गजेन्द्र सिंह राठौड/ डॉ.सुनील कुमार 182-185
20. शिक्षक-प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव-मंजु यादव/प्रो.मनीषा वर्मा 186-188
21.चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता-मुनेश यादव/प्रो.मनीषा वर्मा 189-193
22.आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षणिक समस्याओं का निदान एवं उपचार-मुकेश बाला/ प्रो.मनीषा वर्मा 194-196

किन्नर विमर्श

1.समकालीन कहानियों में अभिव्यक्त किन्नर जीवन- डॉ.शबाना हबीब 197-198
2. इक्कीसवीं सदी के प्रमुख उपन्यासों में किन्नरों की स्थिति- डॉ.पी.सरस्वती 199-201
3. समाज के अभागों (किन्नर) का दर्द- डॉ.लक्ष्मीकान्त चंदेला 202-205
4. कुसुमलता मलिक की कहानियों में दिव्यांग विमर्शः अनिता देवी 205-207
5. किन्नर जीवन का सच्चा यथार्थ 'दुनियाँ जीत ली' कहानी के विशेष संदर्भ में- सनोज पी.आर 208-209
6. किन्नरों का इतिहास एवं मिथकः भारतीय साहित्य के विशेष संदर्भ में-प्रियंका कलिता 210-212
7. हिन्दी उपन्यासों में तृतीय प्रकृति की अस्मिता-डॉ.निम्मी ए.ए. 213-216

पृष्ठ क्रमांक

दलित विमर्श

1. नागफनी-सामाजिक क्रांति का दस्तावेज-डॉ.अभय परमार 217-221
2. गूँगा नहीं था मैं (कविता संग्रह) में अभिव्यक्त दलित चेतना- डॉ.जी.वी.रत्नाकर 221-223
3. बाजारवाद के आइने में 'सुअरदान' उपन्यास का विश्लेषण-डॉ.अजय कुमार 223-224
4. दलित कविता का सौन्दर्यबोध- डॉ.विशेष कुमार राय 225-227
5. आत्मकथात्मक कृति 'जूठन' में दलित व्यथा का चित्रण-डॉ.उदय भान भगत 228-230
6. समकालीन हिंदी काव्य में दलित समस्याओं का निरुपण-सूर्य प्रकाश 231-234
7. मानवता और परिवर्तन की सशक्त अभिव्यक्ति-'सूअरदान'-डॉ.गायत्री देवी जे.लालवानी 235-237
8. सूरजपाल चौहान की कहानियों में दलित नारी-डॉ.पारुल सिंह 237-240
9. कथ्य और शिल्प की नवीनता का उपन्यासः 'डंक'- डॉ.हेना 241-242
10. नागफनीः दलित प्रतिरोध का जीवंत दस्तावेज-जितेन्द्र विसारिया 243-247
11. वर्चस्ववादी मानसिकता और दलित साहित्य- डॉ.विलास साळुंके 248-251
12.डॉ.आंबेडकर : पुलिस, जासूस और अखबार की नजर से-डॉ.अनिरुद्ध कुमार 252-253
13. तथागत गौतम बुद्ध के वर्ण और जाति व्यवस्था पर विचार-डॉ.धर्मराज पवार/डॉ.अंबादास बाकरे 254-256
14. दलित और आदिवासी साहित्य-विमर्शः एक तुलना-डॉ.सुषमा कुमारी 257-259
15.दलित चेतना और सुशीला टाकभौरे की कविता में नारी-ऊषा यादव 259-262
16.भारत विभाजन की त्रासदी एवं दलित विमर्श -सुकांत सुमन 263-267

English Discourse

1.An Ethnographic Introduction To The Nat : A Denotified Scheduled Castes of Chhattisgarh -Hemant Kumar 268-271

2.Complexity of Identity in August Wilson's *Radio Golf*-A.muthukumar/ Dr.v.anbarasI 272-275

3. Cultural Identity and Exploration of Multicultural-identity of Indo-Malaysians revealed in K.S.Maniam's *The Return*-A.Athiappan/ Dr.T.Gangadharan 276-279

4.Ecofeminism in India with special reference to Chipko Movement-aoyana Buragohain/Pallav Protim Mahanta 280-282

5.An Analytical Study on Autonomy Movement in Assam and Its Relevance- Golap Borah 283-286

6.Buranji Literature: A repository of history of medieval Assam-Monjit Gogoi/ Bismita Bora 287-289

7. Contributions of the Emerging Women Leadership in the Panchayati Raj Institutions(PRIs) towards Society: An Evaluative Analysis-Dr. Jayanta Baruah 290-293

8. Challenging Stereotypes:Altering the Stereotype of Dependent Woman in the Fictional works of Indian Women Novelists-Sonawane Tejal Mark 294-296

09. Locating the Supernatural in Contemporary Naga Society: A Reading of Select Short Stories of Avinuo Kire- Dr Breez Mohan Hazarika, 297-299

10. Understanding Jyotiba Phule as the Critic of Colonial Government and Indian Socio political Order-Dr. Umakanta Hazarika/ Dr. Shahiuz Zaman Ahmed 300-302

11. Education, Dalit Activism and Caste Politics in Akhila Naik's Bheda-Saraswathi G/ Dr. K. Suganthi 303-306

12. Ethnic Contestation And Conflicts In the Assam's Hill District of Dimahasao: A Case of Challenge to Peaceful Co-Existence -Dr. Lamkholal Doungel 307-311

13. A Study On Attitude Of Parents Towards Higher Education Of Girls Among Bhojpuri Community In Khowang Block, Dibrugarh District-Punam Koiri 312-322

Page No:

14.Impact of Lockdown on Digital Marketing Tools During Covid-19 in selected Business- Sidhant Kumar/Saurabh Sonkar/Ashoke Kumar Sarkar 323-329

15.Illusion Of Human Interdependence In Vikram Seth's A Suitable Boy-J. Ambika/J. Dharageswari 330-333

16.Role Of Commercial Banks In Lending To Priority Sector With Customers Perspective In Krishnagiri District – Tamilnadu.-Mrs.K.usha 334-336

17.Reviewing the Emergence and Problematics of Dalit Literature in India-Dr. Anil Kumar 337-344

18.Cultural Confrontation In Ruth Prawer Jhabvala's Novelss-Aranya Devi. P/Dr. Keerthi G 345-348

19.SOM: An Institute of Social and Cultural values of the Kuki Youths in Traditional society - Dr. Paochon Tuboi 349-353

20.Scrutinizing The Influence Of Myth In Domesticity: A Study Of Shashi Deshpande's Novels-T.vijaya / Dr.J. DharageswarI, 354-357

21.The problem of meaning of Social action: Max Weber and Talcott Parsons-Dr.Premala anil Kumar 358-364

22.The Problematics of Individualism in a Collective Family: A Study of the Protagonist of the Novel Inga -Chitra Pegu 365-368

23.Training -Need for the employee's performance & development -A study of the Private sector banks of Uttarakhand-Dr. Reenu RaniMishra 369-3742

24.Prospects Of Ethnic Tourism In Namphake Village, Dibrugarh District, Assam- Dr. Beejata Das 375-380

25.Manjhi: The Mountain Man: A Biopic of Dalit Agency-Jai Shri Jain 381-386

26.Rights of Refugees and Humanitarian obligation of world at large- Kolte Dinesh B. 387-392

संपादकीय.....

नागफनी का यह अंक अस्मितामूलक विमर्शों पर केन्द्रित है जिसमें दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श, थर्ड जेन्डर विमर्श, विकलांग विमर्श वृद्ध विमर्श आदि शामिल है। मुख्य रूप से दलित और स्त्री विमर्श तो साहित्य के मुख्य सरोकारों में आ गये हैं। प्रथमदृष्ट्या दलित या स्त्री विमर्श, दलितों और स्त्रियों द्वारा सत्ता में और समाज में हिस्सेदारी की मांग है। जो लोग पिछली कई शताब्दियों से शोषित और वंचित हैं आज के इस लोकतांत्रिक समय में उन्हें अपना वाजिब हक मांगने का पूरा हक है।साहित्य के कुछ सरोकार सनातन है जिन्हें हम मानवीय मूल्य कहते हैं, जैसे प्रेम, करूणा, दया, परोपकार, परदुख-कातरता आदि । कालांतर में जब दुनिया नये प्रश्नों से मुखातिब हुई तो उसके साथ ही नये सरोकार भी जुड़ते गये। स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व, प्रतिकार और प्रतिबद्धता ऐसे ही अधुनातन सरोकार हैं। लोकतंत्र के मूल्यों का क्षरण हो या स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों, किन्नरों के साथ सहस्राब्दियों का अन्याय, अनाचार और अत्याचार, समतामूलक समाज का सपना सांप्रदायिकता का सवाल या जाति का प्रश्न, जो ज्वलत समस्याएँ और मुद्दे समाज के सामने आते हैं, व ह साहित्य के भी सरोकार बनते हैं। साहित्य उनसे अछूता नहीं रह सकता। इसलिए साहित्य के सरोकार, समय और समाज सापेक्ष होते हैं। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि ऐसे ही समय-समाज सापेक्ष साहित्यिक सरोकार है।

आज भारतीय राजनीति और समाज ने यदि किसी व्यक्ति विशेष के विचारों को सर्वाधिक प्रासंगिक बनाया है तो वे डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचार हैं। डॉ. अम्बेडकर के निर्वाण के बाद दलित चेतना का जो असंतोष फूटा वह राजनीतिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहा। यह दलित साहित्य लेखन के रूप में उभरा। महाराष्ट्र से निकलकर वह देश के अन्य भाषाओं में भी विकसित हुआ। चूंकि दलित देश भर में थे तो वह पूरे देश में फैला। हिन्दी में भी दलित साहित्य की पुरानी परंपराओं की खोज होने लगी। जिन लेखकों ने डॉ. अम्बेडकर के जीवन संघर्ष और शोध कार्यो को आत्मसात किया वे ही सार्थक दलित साहित्य देने में कामयाब रहे।

आज हिन्दी का दलित साहित्य विदेशी भाषाओं में तेजी से अनुदित हो रहा है। इतना ही नहीं वह अमेरिका, कनाडा और जापान जैसे विकसित देशों के पाठ्यक्रमों में भी अपनी जगह बना रहा है। उम्मीद है कि वह अपने देश में भी हाशिये से निकलकर बाहर आयेगा।आदिवासी विमर्श के संदर्भ में कहना न होगा कि लाज ढकने के लिए लंगोटी और जीने के लिए दो मुट्ठी अन्न मांगने वाले, देशी उद्योगपतियों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों से अपने जल, जंगल, जमीन की रक्षा की गुहार लगाने वाले और मजबूर होकर आंदोलनों और संघर्षों में उतरने वाले आदिवासियों के साथ सत्ता और व्यवस्था आज क्या सलूक कर रही है ? आदिवासी विमर्श में आदिवासियों का यह दुःख साहित्य का नया सरोकार बना है।जहाँ तक स्त्रियों का प्रश्न है जिन्हें हम आधी आबादी कहते हैं, कम विचारणीय नहीं है। महिलाओं के बारे में संयुक्त राष्ट्र संघ की एक ताजा रिपोर्ट पर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ- "विश्व में इस समय सबसे बड़ा वैकल्पिक खतरा महिलाओं को बना हुआ है। पालने से लेकर कब्र तक वैयक्तिक असुरक्षा की काली छाया उनका पीछा करती है। बचपन से लेकर बुढापे तक उनका शोषण केवल इसलिए किया जाता है कि वे मादा है।" विश्व बाजार के इस दौर में स्त्री की स्थिति और भयावह है। कुछ लोग इस पूरी दुनिया को एक चकलाघर बनाने में लगे है, इसका सबसे दयनीय शिकार स्त्रियाँ है। कौशल्या बैसन्त्री ने इसी को 'दोहरा अभिशाप' कहा है। एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार-" एक दलित महिला एक उच्च जाति की महिला की तुलना में जीवन के पंद्रह बसंत कम देखती है। कारण है कुपोषण। यही हाल गरीब बच्चों का है।"हर कालखंड में दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों के साथ अन्याय, अत्याचार हुए हैं। सीता, अहल्या, द्रोपदी, माधवी, शम्बूक और एकलव्य के मिथक इसके बड़े उदाहरण हैं।आज स्त्रियों ने ,दलितों ने, आदिवासियों ने अपने दुःख लिखना शुरू किया है। खासकार आत्मकथाओं के रूप में। कविताओं और कहानियों के रूप में। तो हमें यह एहसास हुआ है कि यह तो पहले लिखा ही नहीं गया और न हम इससे परिचित थे। हजारों वर्ष पूर्व ऋग्वेद के पुरुष सुक्त की रचना से लेकर भारतीय संविधान की रचना तक जितना भी इतिहास है अगर उसे हम दलित, स्त्री और आदिवासी के संदर्भ में मानवीय संवेदना की दृष्टि से देखें तो वह क्रूरता , अमानवीयता और असभ्यता का इतिहास है। हमारे समाज की संरचना कुछ इस प्रकार की है कि एक जाति को दूसरी जाति के दुःखों का पता ही नहीं है। अतः आज जो भी स्त्रियाँ और दलित लिख रहे हैं उन्हें कला और पूर्णता के नाम पर हतोत्साहित मत कीजिए। लोगों की भीड़ में जैसे एक आदिवासी चुपचाप खड़ा रहता है उसी तरह से बहुत दिनों तक स्त्री और दलित चुपचाप सहते और सुनते रहे हैं। अतः आज जब बोल रहे हैं तो कृपया उन्हें डाटकर चुप मत कराइए।

'नागफनी' का यह विशेषांक आपके हाथों में है। इसमें जो कुछ बन पड़ा है उसका सारा श्रेय डॉ. एन.पी. प्रजापति और प्रो. बलिराम धापसे को है। इसमें जो खामियाँ होंगी वह मेरे खाते में जायेंगी।

प्रो. दिनेश कुशवाह

वरिष्ठ आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

अ.प्र. सिंह वि.वि. रीवा (म.प्र.)

दिनांक : 23 मार्च , 2022

भगत सिंह शहीद दिवस

कन्नड भाषा और साहित्य का सांस्कृतिक संदर्भ

साहित्यिक विमर्श

-प्रो.संजय एल.मादार

विभागाध्यक्ष, पी.जी केंद्र,

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा,खैरताबाद,

हैद्राबाद Mob.9945664379

संस्कार को अगर सुमन कहा जाएँ तो संस्कृति उसका सौरभ हैं। वास्तव में भारतीय संस्कृति की व्यापकता इतनी अधिक है कि विश्व की तमाम संस्कृतियाँ इसमें समाहित हो जाती है। भारतीय चिंतन और सामाजिक परिवर्तन किसी एक भूभाग या प्रदेश के लिए सीमित नहीं है। इसलिए भारतीय संस्कृति और साहित्य सभी भारतीय भाषाओं एवं बोलियों में अभिव्यक्त है। इस प्रकार अगर भाषा के साथ संस्कृति सहजता से जुड़ जाती है तो भाषा को अभिव्यक्ति चेतना प्रदान करती है। वहाँ संस्कृति मानवीय गरिमा और सांस्कृतिक सौष्ठव की संवाहिका बन जाती है। मतलब स्पष्ट है कि भाषा की भी अपनी संस्कृति होती है और संस्कृति भी भाषा के बिना गूंगी होती है। इसका सबसे बड़ा एवं जीवंत प्रमाण कन्नड़ साहित्य भी है। जिसमें कर्नाटक प्रदेश की संस्कृति का दर्शन होता है। भारत वर्ष में भाषाओं की अनेक सरिताएँ प्रवाहित होती रही है। जो अंततः संस्कृति रूपी सागर में जा कर समाहित होती है। इसी में कन्नड़ भाषा और साहित्य की धारा भी समाहित हुई है।

नयी शिक्षा नीति 2020 की भाषा के संदर्भ को लिया जाएं तो इसे समाज उपयोगी बनाते हुए देश की भाषाओं को यथोचित सम्मान दिलाने का प्रयास किया गया है। विशेष बात यह है कि नयी शिक्षा नीति में त्रि-भाषा सूत्र को शिक्षा के केंद्र में लाया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि जनसामान्य की आकांक्षाओं के अनुरूप यह बनाई गई है। इससे स्पष्ट होता है कि देश की शिक्षा पद्धति को सांस्कृतिक चेतना के साथ-साथ लोकतांत्रिक बनाने का प्रयास किया है।

कन्नड़ भाषा के संदर्भ में कहा जाएँ तो यह द्रविड़ परिवार की एक समृद्ध भाषा है। इस परिवार की अन्य भाषाओं में तमिल, कन्नड़, तेलुगु और मलयालम समाहित है। सांस्कृतिक दृष्टि से इतिहास को देखा जाए तो कर्नाटक राजाओं के शासन के प्रभाव से हरि हरेश्वर आराधना उत्तर में आचरण में थी। इतिहास के पन्नों से यह भी स्पष्ट होता है कि सम्राट पृथ्वीराज चौहान के दरबार में कर्नाट की नामक मशहूर नर्तकी थी।

कन्नड़ भाषा साहित्य के अंतर्गत भक्ति के क्षेत्र की ओर जब देखते है तो यहाँ कर्नाटक का महत्त्वपूर्ण योगदान दिखाई देता है। शायद इसलिए यह उक्ति प्रसिद्ध हो गई-

"भक्ति द्राविड़ उपजे, लाएँ रमानंद-परगट किया कबीर ने सप्तद्वीप नवखंडा।"

भक्तों को प्रेरणा देने वाले आचार्य कर्नाटक में रहे।

हम जानते हैं कि हर भाषा साहित्य में उस भाषाई समाज की श्रेष्ठता का वर्णन होता है। कन्नड़ साहित्य उसका अपवाद नहीं है। कन्नड़ भाषा और साहित्य में विकसित संस्कृति की यह विशेषता है कि जीवन की विकसनशीलता को बल मिलता रहा है। कर्नाटक में सातवाहन, कदंब, गंग, चालुक्य, राष्ट्रकूट, होयसल, विजयनगर, वडेयार, हैदर,टीपू आदि राजवंशों और राजाओं का शासन रहा है। प्रत्येक कुल के शासक सहिष्णु और उदार होने के साथ-साथ सबने वास्तुकला और शिल्प कला को प्रोत्साहन दिया है।

कन्नड़ साहित्य-

कन्नड़ साहित्य का इतिहास 9 वीं सदी से आरम्भ होता है। आरंभिक काल में जैन कवियों की महत्ती साधना से कन्नड़ साहित्य समृद्ध हुआ। पंप, पोन्न, रन्न, जन्न जैसे महाकवियों ने साहित्य को वैभव के शिखर तक पहुँचाया। कन्नड़ साहित्य में 'कविराज मार्ग' प्राचीन ग्रंथ माना जाता है। यह राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष नृपतुंग के समय का है। इसमें कन्नड़ भाषा, काव्य लक्षणों के साथ कर्नाटक वासियों की संस्कृति पर भी प्रकारांतर से उक्तियाँ मिलती है। सुसंस्कृत के लक्षणों को निरूपण करते हुए, इसमें कहा गया है कि दूसरों के विचार ध्यान से सुनना और उनके धर्म के प्रति सहिष्णु होना ही 'शील-सम्पदा' है। गुणहीन होकर समाज में तिरस्कृत जीवन जीना भी कोई जीवन जीना है? मेरी उपेक्षा होती है, मेरी प्रशंसा होती है, इनकी परवाह न करते हुए, पर की हित साधना में लगे रहना, निंदा या स्तुति के कारण अपने कर्तव्य से विमुख न होना ही सुसंस्कृत मानव का लक्षण हैं। इसी प्रकार 'आदि पुराण', कन्नड़ के प्रथम कवि पम्प की प्रसिद्ध रचना है। इसमें भारतीय संस्कृति के शाश्वत् गुणों का धर्म की व्याख्या के प्रसंग में वर्णन किया है जो इस प्रकार है- दया, दम, दान, तप, शील आदि से युक्त धर्म ही संसार सागर से मानव मात्र को पार कराने का साधन है। कवि पम्प की एक और रचना 'विक्रमार्जुन विजय' जो कौरव-पांडवों की कथा पर आधारित है , इसमें अकुलिन होने के कारण अभिशाप से पीड़ित कर्ण अभिजात वर्ग के दंभ को संस्कारहीनता का परिणाम बताते हुए, अपना आक्रोश व्यक्त करता है। युग-युग से बढ़ाई करते आएँ हो, वह कुल आखिर है क्या? मुझसे ललकारने वालों से जुझने की शक्ति मुझमें है। सुसंस्कृत व्यक्ति या समाज कुलिन-अकुलिन का भेद-भाव नहीं जानता। कर्नाटक में बसने वालों की संस्कृति की यह खूबी है कि वे त्याग, भोग, विद्या, गायन, सामाजिकता आदि से विभूषित है।

कन्नड़ साहित्य के अंतर्गत यह देखने को मिलता है कि (दास) शरणों के वचन पद और हरिदासों के कीर्तन से गायन कला का विकास भी यहाँ हुआ है।

इनमें 'निजगुण शिवयोगी' प्रसिद्ध वीर शैव्य संत थे। इनके द्वारा लिख गए ग्रंथ का नाम है- 'विवेक चिंतामणि' है। इनके बाद संत शिरोमणी पुरंदरदास का स्थान है। हरिदासों में सर्वश्रेष्ठ कृष्ण भक्त पुरंदरदास जी ऐसे कीर्तनकार थे, जिन्हें 'कर्नाटक संगीत पितामाह' कहा जाता है। इसके अलावा मैसूर नरेशों के दरबार में प्रसिद्ध दरबारी संगीतकार रह चुके हैं। जिनमें 'वीणे शेषणा' से लेकर संगीत विद्वान 'देवेन्द्रप्पा' तक सात श्रेष्ठ संगीतकारों के नाम सम्मिलित है। इन सबकी गायन-कीर्तन में गहरी पैठ थी। लोकगीतों में भी कर्नाटक की संस्कृति पीछे नहीं रही है। इसमें ऋतुओं के अनुसार आने वाले विविध पर्व-त्यौहार से लेकर जन्म-मरण तक के संस्कारों के गीत बड़े मनोहर है। कर्नाटक का कृषि कर्म भी धर्म के साथ जुड़ा रहने के कारण कृषि में सहायक गाय-बैल आदि पशुओं का भी पूजन-अर्चन इन गीतों में वर्णित है। गायन-कीर्तन की भाँति नर्तन-अभिनय भी यहाँ विकसित है। आधुनिक रंगमंच के आविष्कार से पहले मंदिरों में या मैदानों में पौराणिक आख्यानों पर आधारित अभिनय हुआ करते थे।

पूर्व काल (बसव युग)-

बसव युग में अनेक वचनकार (वाणी) हुए। जिसका मूल उद्देश्य सामाजिक वैषम्य मिटाना रहा है। इनमें बसवेश्वर महान धार्मिक पुरूष थे। उनका साहित्य वचन साहित्य कहलाया। वचन ऐसी काव्य शैली है जिसमें सहज-स्पूर्त गहन चिंतन और अनुभव के फलस्वरूप हृदय से निकली अनुभाविक सिद्धी है। वचन साहित्य का निर्माण एक विशिष्ट राजनैतिक, सामाजिक और एक धार्मिक परिवेश में हुआ था। बसवेश्वर द्वारा स्थापित अनुभव मंडप में नित्य अनुभव गोष्ठी हुआ करती थी। जिनमें भक्त लोगों की भागीदारी रहती थी। उनमें सभी कर्मनिष्ठ थे। उनमें कहीं जातिवाद नहीं था। सभी तरह की जाति एवं व्यवसाय से जुड़े भक्त थे। जैसे-धोबी, नाई, केवट, दर्जी, जुलाहा, चारवाहा, भेड़पाल, चमार, किन्नर, माली, गनिका आदि। बसवेश्वर द्वारा जिन्हें पहले प्रेरणा मिली थी उनमें हरिहर, राघवांक मुख्य है।

इस प्रकार वीरशैव धर्म का अविर्भाव हुआ। गुरु बसवेश्वर इस धर्म के समर्थ प्रतिपादक हुए। शिव भक्ति समानता, सामाजिक न्याय और समर्पित आचरण इस धर्म के लक्षण माने गए। इस समय लौकिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार की रचनाएँ लिखने की प्रथा विकसित हुई। कन्नड़ काव्य विधा का यह स्वर्णयुग माना जाने लगा। 12 वीं सदी में राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक उथल-पुथल मची इसका असर साहित्य पर होना स्वाभाविक था। परंतु बसवेश्वर संघटन चतुर थे। उन्होंने सभी वर्ग के लोगों को आकर्षित किया। जिससे महिलाएँ भी काफी प्रभावित हुई। उनमें अक्कमहादेवी प्रमुख रही। अक्कमहादेवी का वैराग्य स्त्रियों को पुरूष के समान अधिकार और गौरव दिलाने के लिए किए हुए कार्य अनुकरणीय है। कहा जाता है कि अनुभव मंडप में 33 (शरणीयाँ) स्त्री भक्त थी। उनमें बसवेश्वर की बहन अक्क नागम्मा तथा उनकी दो पत्नियाँ गंगांबिका और नीलांबिका भी सम्मिलित है।

उत्तर मध्य काल (कुमार व्यास युग)-

15 वीं से 17 वीं सदी तक का यह युग साहित्य समृद्धि का युग माना जाता है। इस युग में प्रधान रूप में वैष्णव साहित्य रचा गया। कुमार व्यास, चामरस, सर्वज्ञ, निजगुणी शिवयोगी, दास साहित्य के श्रेष्ठ पुरंदरदास और कनकदास, रामायणकार कुमार वाल्मिकी, महाभारतकार लक्ष्मीश तथा जैन कवियों में रत्नाकर, वर्गी, वीरशैव कवि षडक्षरदेव और होनम्मा इस सदी के प्रतिनिधि कवि रहें। इनमें कुमारव्यास इस युग के प्रसिद्ध कवि हैं। कुमार व्यास जी ने देशी शैली में भारत लिखा। यह कन्नड़ भारत या गदुगिन भारत नाम से प्रसिद्ध है। इसके नायक श्रीकृष्ण है, इसलिए इसे कृष्णचरित्रामृत भी कहा जाता है। भागवत धर्म का प्रचार इसका उद्देश्य है। इसके बाद आते है –चामरस उन्होंने हरिहर और राघवांक की शिवशरणों के जीवन चरित्र की परम्परा को आगे बढ़ाया। वीरशैव चरित्रकारों की कृतियों में भीम कवि का बसवपुराण, विरुपाक्ष, पंडित का चेन्न बसव पुराण उल्लेखनीय है। इसी युग में वचन साहित्य का व्यवस्थित रूप में संग्रह-संपादन करके वचनों पर टीकाएँ लिखने का कार्य सम्पन्न हुआ और यही वह समय था निजगुण शिवयोगी जी ने वीरशैव, धर्म को सरल और गीतों में रचकर प्रचारित करने का महान कार्य किया। कहा जाता है कि वे राजा थे और वैराग्य के कारण तपस्या करते थे। उनके परमाणु बोध, परमार्थ गीता, अनुभवसार, 63 पुरातन की त्रिपदियां आदि है। इसी तरह सर्वज्ञ कर्नाटक की महान विभूति थी जो कबीर और तेलुगु के वेमना के समान फकड़ व्यक्तित्व के थे।

दास साहित्य-

श्री व्यास राय और उनके शिष्य पुरंदरदास और कनकदास ने दास साहित्य की श्रीवृद्धि की। इनमें श्री व्यास राय, विजयनगर सम्राज्य के राज गुरु थे। पुरंदरदास जी की रचनाओं से लगता है कि उन्होंने संपूर्ण भारत के तीर्थ स्थलों की यात्रा कर विभिन्न मतों, पंथों के साधु-संतों से मिलकर सत्संग और लोकानुभव से उदार मानवतावादी भावना अपनाई थी। पुरंदरदास राग-रागनियों के मर्मज्ञ थे। उन्हें कर्नाटक संगीत के पितामाह कहा जाता है साथ ही हरिदासों की परम्परा में उन्हें नारद के अवतार माने जाते हैं।

कनकदास जी पुरंदरदास के समकालीन व्यास राय के प्रिय शिष्य एवं क्रांतिकारी हरि भक्त थे। वे जन्म से राज्य के दण्डनायक (सेनापति) थे। कहा जाता है कि उन्हें किसी युद्ध के दौरान वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे हरि भक्त हो गए। उनकी प्रसिद्ध कृतियों में हरिभक्ति सागर, नलचरित्र और मोह तरंगिनी आदि है। दास साहित्य के श्रेष्ठ रत्न पुरंदरदास और कनकदास के बाद भागवत कवियों में कुमार वाल्मिकी, लक्ष्मीश, रत्नाकर वर्णी, षडक्षर देव, तिरुमल्लाचार्य, होनम्मा साथ ही हेलवन कटे, गिरिअम्मा आदि नाम उल्लेखनीय है। 19 वीं सदी के उत्ताराद्ध में हुए श्री बसप्पा शास्त्री जो अभिनव कालिदास उपाधि से सम्मानित थे। इन्होंने संस्कृत नाटकों का कन्नड़ रूपांतरण किया। इन्होंने शेक्स्पीयर के ओथेलो का कन्नड़ रूपांतरण 'सूरसेन चरित्र' नाम से किया है। अंग्रेजी नाटक का कन्नड़ भाषा में सबसे पहले परिचय कराने का श्रेय इन्हीं को जाता है।

आधुनिक काल (अरूणोदय)-

कन्नड़ साहित्य में नंदलिके लक्ष्मीनारायण जो मुदणा नाम से जाने जाते है। यह कन्नड़ आधुनिक साहित्य के संधि काल के कवि है। (1870-1901) ये 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कन्नड़ साहित्य जगत में जगमगाकर 20 वी सदी के आरम्भ में अस्तगत हो गए। केवल 30 वर्ष की अपनी अल्पावधि में इन्होंने कन्नड़ गद्य साहित्य की नीव डाली। इनकी रचनाओं में रत्नावली कल्याण और कुमार विजय (यक्षगान) अद्भुत रामायण (गद्य कृति) रामपट्टाभिषेक और रामाश्वमेध (काव्य) एवं गोदावरी (अधूरा उपन्यास) है। मुद्दणा और भारतेंदु दोनों अपने-अपने साहित्य के निर्माता है।

सन् 1920 के बाद आरम्भ होनेवाला युग कन्नड़ साहित्य में नवोदय युग नाम से जाना जाता है। ये हिंदी साहित्य के छायावाद का पर्याय या अन्य भारतीय भाषाओं में गोचर रोमांटिक युग का कन्नड़ रूप है। बी.ए. श्रीकंठया इसके प्रवर्तक है। इन्होंने इसका आरंभ 'इंग्लीश गीते गलू' से माना है। यह अंग्रेजी के प्रसिद्ध रोमांटिक कविताओं का अनुवाद होने पर भी उसका प्रभाव युगांतकारी था। इस युग की कविताएँ जीवन की आशा-निराशाओं को अभिव्यक्ति देती है। नवोदय युग में जन्मी भावगीत शैली अत्यंत लोकप्रिय रही है। नवोदय युगीन प्रसिद्ध कवियों में मास्ती वेंकटेश अय्यंगार, कुवेंपू, द.रा. बेंद्रे, डी.वी.जी, ए.एस नरसिंह स्वामी, पू.ती. नरसिंहचार्य, वि.सीतारामय्या, एस.वी. रंगप्पा, शांतकवि मधुचेतन और सिद्य्या पुरानिक विशेष रूप से स्मरणीय है।

नवोदय काल के बाद नव्य काव्य (1950-1970) में परिवर्तन हुआ ।इसके प्रर्वतक गोपाल कृष्ण अडिग जी माने जाते है। इनको कृष्णन कोळलु (कृष्ण की बांसुरी) और हिमगिरिय कंदर (हिमगिरी की घाटी) की रचनाओं में नव्य काव्य का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। इस काल के प्रतिनिधि कवियों में वी.कृ. गोकाक और रामचंद्र शर्मा विशेष उल्लेखनीय है। साथ ही यू.आर. अनंतमूर्ति की भिक्षुकरु, लंकेश की होक्कूळल्लि हुविल (नाभी में फूल नही) चंद्रशेखर कंबार की हेळतेन केळ' (सुना मेरी बात) और तिरुमल्लेश की मुखवाडगळू (मुखौटे) आदि रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। नव्य कवियों ने साहित्य को जीवन के विश्लेषण का माध्यम माना। उन्होंने जीवनानुभव को तोड़कर समग्र जीवन के संदर्भ में देखा। उनका लक्ष्य अनुभव को व्यक्त करना था। इसके साथ 1970 के बाद नव्य काव्य का प्रभाव कम होता गया और युवा कवि ऐसे साहित्य को देने के पक्ष में रहें, जिसे पाठक समझ सकें साथ ही दलित और मजदूर की जिंदगी चित्रित हो।

आधुनिक कन्नड़ कथा साहित्य-

कन्नड़ कथा साहित्य का आरंभ लोकसाहित्य को लेकर हुआ। कन्नड़ गद्य साहित्य के निर्माण में इसका बड़ा योगदान है। प्रारंभ में यह संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन कथाओं के और आधुनिक भाषाओं में अंग्रेजी, बंगाली, मराठी कथा साहित्य के अनुवाद से शुरू हुआ। पंचेमंगेश्वर राव, आधुनिक कन्नड़ कथा साहित्य के प्रथम मौलिक कहानीकार रहें। उनकी रचना में कहानी तत्व के लक्षण स्पष्ट रूप से मिलते है। व्यक्तिगत अनुभव कथन और विनोदप्रियता उनकी विशेषता रही हैं। कन्नड़ कथा साहित्य की दिशा-दर्शन करने वाले और कन्नड़ कथा लोक को समृद्ध करने वाले मास्ती वेंकटेश अय्यंगार जी कन्नड़ लघु कहानियों के जनक के रूप में याद किये जाते हैं।

इसी समय आनंद कंद देवुडु नरसिंह शास्त्री, शिवराम कारंत, गोरुर रामास्वामी अय्यंगार भी लिखने लगे थे। 1933-43 के बीच का समय कन्नड़ कथा साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है। इस युग में अश्वत व्यास राय लिखने लगे थे। वे लोग विभिन्न समस्याओं पर कहानियाँ लिखने लगे। गोरुर रामस्वामी अय्यंगार जी ग्राम परिवेश को लेकर लिखने लगे। कूर्ग की 'गौरम्मा' कन्नड़ की प्रथम महिला कहानीकार है। इनकी कम्पनी कहानी में स्त्री जीवन की दर्दभरी दास्तानें है। बेंद्रे और कुवेंप्पु भी इसी समय कहानियाँ लिखने लगे।

अ.न. कृष्ण राव के नेतृत्व में एक नया प्रगतिशील आंदोलन या विचारधारा शुरू हुई। वे प्रेमचंद से प्रभावित थे। अ.न. कृष्ण राव कन्नड़ साहित्य के प्रगतिशील कथालोक के प्रमुख स्तंभ थे। वे पाठकों में उतेजना भरते थे। प्रेम-प्रणय सामाजिक विषमता, गरीबी, राजनैतिक परिवर्तन आदि इनकी कहानियों की विषय वस्तु रहीं। बसवराज कट्टिमनी इस प्रगतिशील धारा के एक और स्तंभ थे। वे स्वभावतः सामाजिक अन्याय के विरोधी थे। अन्य भाषा साहित्य की तरह कन्नड़ में भी उपन्यास सबसे लोकप्रिय विधा रहीं है। सन्1920 के बाद शिवराम कारंत, के.वी. पुटप्पा, अ.न. कृष्ण राव, त.रा. सुब्बाराव, मास्तीजी, बसवराज कट्टिमनी, निरंजन, गोकाक, कृष्णमूर्ति पुरानिक आदि के श्रेष्ठ उपन्यासों से कन्नड़ साहित्य समृद्ध हुआ। एस.एल. भैरप्पा कन्नड़ के बहुचर्चित उपन्यासकार रहें।

कन्नड़ में नाटक साहित्य पर प्रकाश डाला जाएँ तो सिंगराय रचित 'मित्रविंदा गोविंद' प्रथम उपलब्ध ग्रंथ माना जाता है। इसका समय 17 वीं सदी है। 19 वीं सदी में यक्षगान रूपक नाटक की प्रतियां मिलती है। बसप्पा शास्त्री का कन्नड़ शाकुंतलम्, अभिनय की दृष्टि से सफल नाटक माना जाता है। उत्तर कर्नाटक में उपराल, कम्मन, कृष्ण पारिजात नाटक लोकप्रिय है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नव्य युग में गिरिश कर्नाड, लंकेश, चंद्रशेखर पाटिल, डॉ. रत्न समर्थ नाटककार हुए है। गिरिश कर्नाड के ययाति, तुगलक, हयवदन आदि (यह हिंदी में भी मंचित हुए है)

अंत में यह कहना चाहता हूँ कि कन्नड़ साहित्य विशाल महासागर के समान है। इसे गागर में सागर भरने की कल्पना मात्र की जा सकती है। पर वास्तव में यह संभव नहीं है। भारतीय साहित्य की आत्मा एक हैं। केवल भाषाएँ भिन्न है। इस युक्ति की सचाई का पता कन्नड़ साहित्य के विवेचन से होता है। भारतीय संस्कृति-सभ्यता एक होने से मूलभूत विचारधारा में भी समानता दिखाई देती है। अंतर केवल प्राकृतिक सौंदर्य के वर्णन में, रहन-सहन में तथा खान-पान आदि के वैविध्य में होता है। हाँ, कुछ बातों में अंतर भी दिखाई देता है। इस प्रकार कन्नड़ साहित्य में भारत की अखंडता, भावात्मक एकता और राष्ट्रीय सांस्कृतिक सद्भावना का अपूर्व संगम देखा जा सकता है।

मध्यकालीन हिन्दी काव्य : राम और कृष्ण के शब्द चित्रों के संदर्भ में

-डॉ.नीतू परिहार
सह आचार्या, विभागाध्यक्ष,
हिंदी विभाग, मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय,
उदयपुर मो.-9913864055

चित्रों का रंग और रेखाओं से घनिष्ठ संबंध है। चित्रकार अपने मन के भावों को रेखाओं और रंगों से मूर्त्त करता है। उसकी आड़ी–तिरछी खीची रेखाएँ उसके मन के, अन्तर्मन के भावों को अभिव्यक्त कर देती हैं। उसके बनाए चित्र उसकी कल्पनाओं को साकार कर देते हैं।

ठीक इसी प्रकार लेखक अपने भावों को शब्दों के चित्र खींच कर स्पष्ट करता है। कवि मन अपनी बात को, विचार को, चित्रांकित करता है। साहित्य में हम देखते हैं कवि प्रारम्भ से ही अपने भावों को अभिव्यक्त करता रहा है।

कवि ने जब कभी किसी प्रेमिका को अपने उत्कंठित, आतुर प्रेमी को सबके सामने बुलाने का प्रयास करते देखा होगा तो यह शब्द–चित्र उनके मानस में साकार हुआ–

''कहत, नटत, रीझत, खीझत, मिलत, खिलत लजियात।
भरे भौन में करत है, नैनन ही सू बात।।[1]

हिंदी साहित्य की बात करे तो यहाँ तो एक से एक ऐसे कवि है जिन्होंने अपने काव्य में शब्द–चित्र उकेरे है। इस आलेख में विभिन्न कवियों द्वारा राम और कृष्ण के जो शब्द–चित्र प्रस्तुत किए उनका अवलोकन कर रही हूँ।

तुलसीदास जी ने श्रीराम के बालस्वरूप का जैसा सजीव चित्रण किया वैसा हिंदी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। कवितावली के बालकाण्ड में दशरथ गोद में लिए बालक राम को खिला रहे हैं और उसी समय कोई अवध की महिला महल में जाती है। इस दृश्य को वो अपनी सखी से कहती है तो उसके शब्दों से पूरा दृश्य साकार हो जाता है–'

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।'[2]

वह राम के सौंदर्य को देख कर ठिठक गई। इसी तरह तुलसी ने बालक राम के हठ करने, अपनी परछाई से डरने, ताली बजाकर नाचने का ऐसा सुंदर चित्र बनाया है कि हम उसका मानसिक साक्षात्कार करते हैं–

'कबहूँ ससि मांगत आरि करै, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु, सबै मन मोद भरैं।।'[3]

तुलसी ने ऐसे अनेक चित्र अपने काव्य में रचे हैं जिनको पढ़ कर हम अपने मानस में उन चित्रों को सहज उभरता हुआ देखते हैं। राम जी को जब वनवास दिया गया और बहुत मना करने पर भी सीता जी नहीं मानती, रामजी के साथ जिद्द कर वनवास के लिए प्रस्थान करती हैं, पर धूप में चलने का अभ्यास सीता जी को कहाँ था। कहाँ उस नाजों से पली सीता ने पहले कभी ऐसा श्रम किया था। थोड़ा ही चलने से उनके चेहरे पर पसीने की बूंदे झलक पड़ी, होठ सूख गये। बड़ी अधीरता से उन्होंने राम से पूछा–''कितना और चलना है? पर्णकुटी कहाँ बनाएगे?''

कैसा कष्टपूर्ण है ये देखना कि जिस पत्नी को संसार के सारे सुख देने का वादा कर लाया हो और पहले ही दिन उसे वनवास जाना पड़े। कैसी पीड़ा है? कैसी विडम्बना? राम जी की आँखे भर आई। सीता जी की अधीरता, उनकी बैचेनी, उनकी पीड़ा को देख कर, इस घटना का वर्णन तुलसी के शब्दों में देखे–

'पुरते निकसी रघुवीर–वधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुरा धर वै।
फिरि बूझति हैं, 'चलनों अब केतिक' पर्नकुटि करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की आंखियाँ अति चारू चली जल च्वै।।'[4]

इसी तरह जब वन जाते समय बीच में आने वाले गाँव से निकलते समय गाँव की स्त्रियाँ सीता जी से पूछती हैं कि ये साथ चलने वाले सांवले तुम्हारे कौन हैं, तो सीता जी भी बड़ी चतुराई से आँखों के इशारे से कुछ समझा कर मुस्कराकर कर चल देती हैं।

'सुनि सुन्दर बैन सुधारस–साने सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछू मुसुकाइ चली।।'[5]

तुलसी ने जिस तरह राम का वर्णन किया है उसी तरह कृष्ण के रूप सौन्दर्य, उनके मनोरंजक रूप का वर्णन भी मध्यकाल में कई कवियों ने किया है। जिनमें सूरदास, रसखान, नरोत्तमदास, और मीरा मुख्य है।

यद्यपि सूर आंखों से नहीं देख सकते थे, किंतु उन्होने अपनी मन की आंखों से कृष्ण के ऐसे सुन्दर, मनमोहक चित्र खींचे हैं जो लोक मानस के हृदय पर अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं। सूर का वात्सल्य वर्णन हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। रामचंद्र

शुक्ल जी ने तो कहा ही है– ''सूर वात्सल्य का कोना–कोना झांक आए हैं।'' [6]

कृष्ण के बालरूप वर्णन में सूर बेजोड़ है। उन्होंने माँ यशोदा का कृष्ण को पालने में झूलाने, लोरी गा के झुलाने का जो वर्णन किया है वह अद्भुत है। वे लिखते हैं–

''यशोदा हरि पालनै झुलावै
हलरावे दुलरावे, मल्हावै, जोई सोई कुछ गावै।।
कबहुं पलक हरि मूंदि लेत हैं, अधर कबहुं फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै बैठी, करि करि–सैन बतावै।'' [7]

इन पंक्तियों को जब पढते है तो सहज ही पालने में झूलाते माँ का चित्र उभर आता है। बच्चे की नींद ना टूट जाए इसलिए माँ घर के सभी सदस्यों को चुप करवाती है। मैनें ही क्या इस दृश्य को तो आप सभी ने भी अपने जीवन में अवश्य ही देखा होगा। सूरदास का एक और पद है जिसमें वे बाल कृष्ण के चंद खिलौना लेने के हठ को चित्रित करते हैं–

''मैया मै चंद खिलौना लै हौं
जैहौं लोटि धरनि पर अब ही,' तेरी गोद न ऐहौ।।'' [8]

बच्चे सदा ही हठ करते हैं, उनको कोई वस्तु न दी जाए तो वे बिना सोचे–समझे धरती पर लोट जाएंगे, पैर पटक–पटक कर रोऐगे। किंतु सूरदास ने इस बिम्ब का ऐसा सजीव शब्द चित्र बनाया है कि पढ़ने वालों पाठक को मानसी साक्षात्कार हो जाता है।

सूर की ही तरह कृष्ण के बाल रूप का बहुत सुंदर चित्रण रसखान ने भी किया है जिसमें कृष्ण धूल से भरे हैं, उनकी सुंदर चोटी बनी है। घर के आंगन में खेल रहे है, हाथ में माखन लगी रोटी है, इतने में ही कोई कौआ उनके हाथ से रोटी छिन ले जाता है–

''धूरि भरे अति सोभित स्याम जू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरै अंगना, पग पैंजनिया कटि–पीरी कछौटी।
व छवि को 'रसखानि' बिलोकत, बारत काम कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सौं लै गयों माखन रोटी।।'' [9]

नरोत्तम स्वामी के सुदामा–कृष्ण के उस शब्द चित्र को कैसे भूला जा सकता है, जो मित्रता का प्रतीक बन गया। सुदामा अपनी पत्नी के कहने पर कृष्ण से मिलने जाते हैं। मार्ग की धूल, पथरीली राह और कटीले कांटे सुदामा के पैरों को लहूलुहान कर देते हैं। कृष्ण को जैसे ही संदेश मिलता है कि उनके मित्र सुदामा आये हैं, वे दौड़ पड़ते हैं उनके स्वागत में, किन्तु अपने मित्र की दीन–दशा देखकर कृष्ण के नेत्रों से अश्रु–धारा बह जाती है। सुदामा के पैरो को धोने के लिए परात मे जो जल मंगवाया था वह तो कृष्ण छुते भी नही अपने आंसुओं से ही सुदामा के पैर धो देते हैं। कितना सजीव चित्र है, बरसो हो गये इसकी रचना हुए किन्तु आज भी पढ़े तो यह मानस मे सचित्र उभरता है। पद देखिए–

''ऐसे बेहाल बेवाइन सों पग कंटक चाल लगे पुनि जोयै
हाय महादुख पायो सखा तुम आये इतै न किते दिने खोये,
देखी सुदामा की दीन दसा करुणा करके करुणानिधि रोये
पानी परात को हाथ छुयो नही नैनन के जल सौ पग धोये।'' [10]

मीरा के काव्य में भी अनेक शब्द चित्र ऐसे है, जिनमें साक्षात कृष्ण की छवि को देख सकते है। मीरा जब कृष्ण की साँवली सुरत उनकी मोहनी मुरत को देखती है तो उनके इसी रूप को अपनी आँखो में बसा लेना चाहती है। जब इस पद को हम पढते है तो मुरली बजाते कृष्ण का रूप हमारी आँखो में भी साकार हो जाता हैं। वह कहती है कि–

''बसो मोरे नैनन मे नन्दलाल
मोहनी मुरती साँवरी सुरती, नैणा बने बिसाल
अधर सुधारस मुरली राजती उर बैजंती माला।'' [11]

इस प्रकार हम देखते हैं हिन्दी–साहित्य में ऐसे अनेक शब्द चित्र हैं जो कवि के मनोभावो को पाठक के मानस में साक्षात् चित्रित कर देते हैं। यहाँ तो कुछ प्रसिद्ध शब्द–चित्रों का वर्णन किया गया है, जिसे चित्रकला प्रेमियों ने कलाकारों ने कई बार अपने कैनवास पर उतारा हैं। ये शब्द–चित्र हिन्दी साहित्य और चित्रकला की अमूल्य निधि है। आज भी इसके महत्त्व को कम नहीं आंका जा सकता।

<u>संदर्भ :</u>

1. बिहारी प्रकाश– सं. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 114
2. कवितावली बालकांड– सं. सुधाकर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद पृ.सं.1
3 वही पृ.सं. 2
4. कवितावली अयोध्याकांड– सं. सुधाकर पांण्डेय,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद पृ.सं.22
5. वही पृ.सं. 29
6. हिंदी साहित्य का इतिहास– आचार्य रामचंद्र शुक्ल, कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, नवीनतम संस्मरण
7. भक्ति काव्य सरिता–सं. श्यामसुंदर दास, सूरदास पृ.सं. 24–25
8. वही पृ.सं. 25
9. भक्ति काव्य सरिता– सं. श्यामसुंदर दास, रसखान, 46
10.सुदामा चरित– श्री नरोतम दास ठाकुर, पृण सं. 43
11. भक्ति काव्य सरिता–सं. श्यामसुंदर दास, मीरा पृ.सं. 68

उदय प्रकाश की कहानियों में उदारीकरण की संस्कृति

-डॉ.सुनील पाटिल
आर.सी.पटेल महाविद्यालय,
शिरपुर, धुलिया मो.9518977538

सारांश

उदारीकरण के इस दौर में जीवन के हर क्षेत्र में नैतिकता का पतन हो रहा है। सत्य, अपरिग्रह, अहिंसा एवं ईमानदारी जैसे शाश्वत मूल्य हशिए पर ढकेल दिए गये है। उदारीकरण का एक मात्र पुरुषार्थ है - ' अर्थ ' और एकमात्र धर्म है- ' मुनाफा ' उदारीकरण युग में मानवतावाद के सर्वथा प्रतिकूल है। उदारीकरण का बाजारतंत्र है, जो बाजार की जरुरत देखता है। लाभ के लिए कुछ भी करता है। समाज में बाजार की आवश्यकता होती है। लेकिन आज इस बाजार में संवेदना एवं मूल्य की जगह मुद्रा तथा माल ने ले ली है। आज हमारे सामने केवल बाजार रह गया है। आज का मनुष्य बाजार के इस समुंदर में भोगवृत्ति को बढावा की डूबकिया ले रहा है। मानवीय मूल्य पहले ही डूब चुकी है। आज मानवीय संवेदना मर चुकी है। प्रस्तुत शोध लेख में यही चित्रण किया है।

प्रस्तावना

वर्तमान युग में आर्थिक उदारीकरण ने बाजारवाद एवं उपभोक्तावाद व्यवस्था को जन्म एवं शक्ती प्रदान की है। उदारीकरण, उत्तर आधुनिकता एवं बाजारवाद के संदर्भ में उदय प्रकाश की कहानियाँ उल्लेखनीय है। मार्क्स का समय औघोगिक पूंजीवाद का समय था। आज की बहुराष्ट्रीय निगमों वाले पूंजीवाद का समय है। आज पूंजीवाद का अर्थ बदल रहा है। हालात यह हो गई है कि पूंजीवाद ' विश्व-बाजारवाद की स्थिति तक पहुंच गया है। इसलिए उपभोक्तावाद एक नवीन उपयोगिता क्रांति के सुरक्षित रहकर अपना प्रभाव विस्तार करता है। विज्ञापन की भाषा को बदल देता है और नए ग्राहक तैयार करता है। " सर्वमंगल मांगल्ये पूंजी सर्वार्थ साधिके " के सूत्र को उत्पादक और उपभोक्ता दोनों मिलकर आजमा रहे है। बाजारवाद का सबसे बडा अस्त्र अगर कोई है, वह है विज्ञापन। विज्ञापन बाजारवाद की सबसे महत्वपूर्ण विधा है। इस विधा को आगे बढाने का काम जनसंचार माध्यमों ने की है। आज व्यक्ती तेजी से बहुत सीख लेता है कि कौन से विचार सही है, कौन-सा आचरण सही है, कौन-सा रूचिबोध प्रचलित है। इन सब स्थितियों का चित्रण उदय प्रकाश की कहानियों में दिखाई देता है।

विषय वस्तु

उदारीकरण के नाम पर पूंजीवाद ने जिस प्रकार उपभोक्तावादी संस्कृति को हमारे समाज में जन्म दिया है। इस संस्कृति से केवल व्यक्ती ही नही पूरा भारतीय समाज भी प्रभावित है। बल्की पूरा भारतीय समाज को तहस-नहस कर दिया है। उदय प्रकाश की अधिकांश कहानियाँ उपभोक्तावादी संस्कृति से प्रभावित है। जैसे ' पिली छतरी वाली लडकी', 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड', 'और अंत में प्रार्थना', 'दत्तात्रेय के दुःख ', ' तिरिछ ' तथा ' पॉल गोमरा का स्कूटर ' आदि कहानियों में उपभोक्ता संस्कृति के दुष्परिणाम पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

उदय प्रकाश की कहानियों में उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रभाव युवाओं पर पड रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने पुरे देश को अपने कब्जे में ले लिया है। विशेषकर मध्यवर्ग इस बाजार की चॅपेट में आ चुका था। उदय प्रकश ने इसी बाजार की महत्ता का वर्णन - " पॉल गोमरा का स्कूटर " कहानी में किया है - " बाजार अब सभी चिजों का विकल्प बन चुका था। शहर, गांव, कस्बे बडी तेजी से बाजार में बदल रहे थे, हर घर दुकान में तब्दील हो रहा था। बाप अपने बेटे को इसलिए घर से निकालकर भगा रहा था कि वह बाजार में कही फिट नही बैढ रहा था। पत्नियॉं अपने पतियों को छोड-छोडकर भाग रही थी क्योंकि बाजार में उनके पतियों की कोई खास मांग नही थी। औरत बिकाऊ और मर्द कमाऊ का महान चकाचक युग आ गया था। " [2] इस बिकाऊ और कमाऊ संस्कृति में मानवता, इन्सानियता तथा प्रेम का कोई महत्व नही रहा गया है। विकास हो रहा है जिसमें रुपया ही सब कुछ है। उपभोक्तावादी संस्कृति में रुपये के लिए लोग कुछ भी करने के लिए तैयार होने लगे है।

पूंजीवादी युग ने चारो ओर बाजार का ऐसा चकाचौंध फैला दिया है कि मनुष्य उसके सम्मोहन में बंधने को मजबूर है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण विज्ञापन है। बाजार ने विज्ञापनों का जाल हमारे चारो ओर फैला रखा है। ये विज्ञापन मनुष्य के विवेक को कैद करने की एक कला है। यह मनुष्य की बुद्धि को तब तक कैद करके रखता है, जब तक इससे अपना लाभ नही कमा लेता है। अनजाने में भी मनुष्य की नजरें तिरिछ से मिल ही जाती है। मनुष्य के पास बाजारवादी तिरिछ से बचने का एक ही उपाय है, वह है अपने ज्ञान, विवेक चेतना एवं संवेदना पर भरोसा करना।

बाजार की इसी मायावी दुनिया में किशनगंज के एक सफाई कर्मचारी की बेटी सुनीला और छपरा की प्राइमरी स्कूल की टीचर आशा मिश्रा जैसी लड़कियां फॅस जाती है। विज्ञापन एजेंसियां उनके देह का बाजारीकरण कर लोगों कि कामुकता को बढावा देती है। उदय प्रकाश कहते है कि - " सुनीला रातोरात मालामाल हो गई थी। टी. वी. के विज्ञापन में वह आठ फुट बाई चार फुट साइज के विशाल ब्लेड के मॉडेल पर नँगी सो गई थी। सुनीला को अपने चेहरे पर उस ब्रांड के ब्लेड से होनेवाली सेविंग चिडियों के पर के स्पर्श से उपजने वाले सुख और आंनदातिरेक को दस सेकंड के भीतर व्यक्त करना था। " [3]

उदय प्रकाश कि " वारेन हेस्टिंग्स का सांड " एक रूपक कथा है, इस कथा में इतिहास का मिश्रण है। वारेन हेस्टिंग्स के समय के इतिहास को समकालीन समस्याओं से जोडा गया है। वारेन हेस्टिंग्स का प्रसंग कुछ औपनिवेशिक समय की भारतीय स्थितियों का अनावरण है। और उसका कुछ संबंध आज की दशाओं में स्वाधीनता से संबंधित चिंताओं से है। आज से तीन सौ साल पहले ईस्ट इंडिया कंपनी जिस उद्देश्य को सामने रखकर काम कर रही थी। आज बहुराष्ट्रीय कंपनियॉं भी वही काम कर रही है। नई विदेशी कम्पनियों के हाथों भारतीय संप्रभूता या आजादी को नई गुलामी की ओर धकेलने के प्रतिपक्ष में यह कहानी खडी होती है। वारेन हेस्टिंग्स पहले भारत को ताज्जुब और विस्मय से भरकर देखा करता था, धीरे-धीरे वह उन सबके साथ घुल-मिल जाता है। वह भारतीय धर्म, मनुष्य और कला के प्रति लागाव और अभिरुचि दिखाता है। उनका उद्देश्य जानना नही था। बल्की यह औपनिवेशिक अत्याचार को ढकने का एक तरिका था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के लॉर्ड क्लाइव की टिप्पणी के माध्यम से यह स्पष्ट करते है कि लॉर्ड क्लाइव की तब की टिप्पणी मौजुदा दौर में उतनी ही प्रासंगिक है। जितनी कि उस समय -- " मैं सिर्फ यही कहूँगा कि अराजकता का ऐसा दृश्य, ऐसा भ्रम, ऐसी घुसखोरी, ऐसा भ्रष्टाचार, ऐसी लूट-खसोट और ऐसी बेईमानी जैसे हमारे राज में दिखाई दे रही है। वैसे किसी और देश में न सुनी

गई एवं न देखी गई। अचानक धनाठयों की बेइंतहा दौलत परस्ती ने विलासिता और भोग के भीषण रुप को चारों तरफ पैदा कर दिया है। इस बुराई से हर डिपार्टमेंट का हर सदस्य प्रभावित है। हर छोटा मुलाजिम ज्यादा से ज्यादा धन हडपकर बडे मुलाजिम या अधिकारी के बराबर हो जाना चाहता है। क्योंकि वह यह जानता है कि संपत्ति और ताकत ही उसे बडा बना रही ही --- कोई ताज्जुब नही कि दौलत की इस हवस को पुरा करनेवाले साधन इन लोगों के वे अधिकार है जों इन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से प्रशासन चलाने के लिए दिए गए है।"[4]

" पीली छतरी वाली लडकी " कहानी में उदय प्रकाश ने विश्वविद्यालय, छात्रावास और शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से पुरे देश के राजनीतिक-सामाजिक अवमूल्यन और भ्रष्टाचार की चरम स्थिति पर करारा प्रहार करते हुए पूंजीवादी शक्तियों को नंगा करके रख दिया है। जो नव उदारवाद का जामा पहनकर हमारे सामने उपस्थित है। कहानी के आरंभ में ही कहानीकार उदय प्रकाश ने इस पूंजीवादी तोते का वर्णन करते हुए कहा है कि - " वह आदमी बहुत ताकतवर था, उसको सारे संसार कि महान शैतानी प्रतिभाओं ने बहुत परिश्रम, हिकमत, पूंजी और तकनीक के साथ गढा था। उसको बनाने में नई टेकनालॉजी की अहम भूमिका थी, वह आदमी कितना शक्तिशाली था, उसका अंदाजा एक इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि उसने पिछली कई शताब्दियों के इतिहास में रचे - बनाए गये दर्शोनों, सिद्धान्तों और विचारों को एक झटके में कचडा बनाकर अपने आलीशान बंगले के पिछवाडे के कूडेदान में डाल दिया था। ये वे सिद्धांत थे, जो आदमी की हवस को एक हद के बाद निमंत्रित करने, उस पर अंकुश लगाने का था, उसे मर्यादित करने का काम करते थे।"[5]

आज की तारीख में भारत दुनियां का सबसे बडा बाजार है, इस बाजार में सामाजिक-मानवीय मूल्यों की कोई कींमत नही है। प्रेम तथा दोस्ती को सीढी बनाकर अपने स्वार्थ की मंजिल पर पहुंचना चाहता है। आज के दौर में हर चीज सीमित हो गई है। जिंदगी के मायने बदल गए है और अब समाज की पुरी तस्वीर बद्‌ल गई है, जिसे उदय प्रकाश ने बहुत ही सुंदर तरिके से प्रस्तुत किया है - " इससे ज्यादा मत खाओं, इससे ज्यादा मत कमाओं, इससे ज्यादा हिंसा मत कारों, इससे ज्यादा संभोग मत कारों, इससे ज्यादा मत सोओं, इससे ज्यादा मत नाचों --- वे सारे सिद्धान्त जो धर्म ग्रंथों में भी थे, समाजशास्त्र या विज्ञान अथवा राजनीतिक पुस्तकों में भी उन्हें कुडेदान में डाल दिया था। बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में पूंजी, सत्ता और तकनीक की समूची ताकत को अपनी मूटियों में भरकर कहा था, स्वतंत्रता, चीखते हुए आजादी अपनी सारी एषणाओं को जाग जाने दो, अपनी सारी इंद्रियों को इस पृथ्वी पर खुल्ला चरने और विचरने दो। इस धरती पर जो कुछ भी है। तुम्हारे द्वारा भोगे जाने के लिए है, न कोई राष्ट्र है, न कोई देश समूचा भूमंडल तुम्हारा है, न कुछ नैतिक है, न कुछ अनैतिक, न कुछ पाप है, न कुछ पुण्य, खाओं, पियों और मौज करों। "[6]

उदारीकरण, पूंजीवादी एवं उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य से मनुष्य को दूर कर दिया है। लोग रोजमर्रा की जिंदगी में इस कदर व्यस्त हो गए है कि एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से मिलने के लिए वक्तही नही है। किसी के पास वक्त तभी होता है, जब उनको किसी से कोई काम हो --- " दिल्ली में ऐसे लोगों की संख्या इधर बहुत बढ गई थी, जो सिर्फ उसीसे मिलते थे, जिनसे कोई काम होता था।"[7]

आज उदारीकरण एवं उपभोक्तावादी संस्कृति ने हमारे देश की मानवीय संवेदना नष्ट किया। आज हमारे देश में दिन-प्रतिदिन सामाजिक-राजनीतिक अवमूल्यन, क्षेत्रियवाद, जातिवाद, सांप्रदायिक, राष्ट्रवाद, बेरोजगारी आदि समस्याएं बढती जा रही है।

उपभोक्तावादी संस्कृति पुराने अस्त्रों को एक नए रूप में हमारे सामने लाकर खडा किया है। उपभोक्तावाद के कठोर हमले का जबाब देने के लिए आज विरोधी ताकते भी खडी दिखाई नही दे रही है न ही ऐसी कोई विचारधारा है, जो मनुष्य जीवन की आस्था, विश्वास और मूल्यों का हास होता जा रहा है। पूंजी के इसी जाल में फंसी और सत्ता के पैरों के नीचे दबी आम-आदमी की कहानी को उदय प्रकाश ने "मोहनदास " के रुप में हमारे सामने रखते है। इसी जीवन चक्र के चक्रव्यूह में मोहनदास जैसे मेरिट पानेवाला दलित व्यक्ती अपना रस्ता तलाशते हुए भटकता रहता है और अपने परिवार की मूलभूत जरूरतों को पुरा नही कर पाता है। कहानी का नायक मोहनदास है। वह दलित समाज का हिस्सा है और डॉ. अंबेडकर के - " शिक्षित होवो, संगठीत होवो, संघर्ष करो। "[8] के पथ पर चलना शुरु करता है। मोहनदास बी. ए में अव्वल भी आया लेकिन उसका संघर्ष कोई सुनहरा भविष्य न पा सका। यह आरक्षण के युग में एक दलित की त्रासदी की कथा है।

पूंजीवादी संस्कृति मध्यवर्गीय मनुष्य के दिमाग पर हमला करती है। उनकी सोचने-समझने की शक्ती क्षीण कर देती है, मनुष्य को अकेला खडा कर देती है। उनका साथ कोई नही देता है। दिल्ली वासी दुःख की घडी में साथ नही देती है। दिल्ली दिलवालों की है, यह अवधारणा पुरी तरह से गलत है, बल्की दिल्ली तो पैसेवालों की है। इसलिए जो व्यक्ती दुर्दिनों की चपेट में आता है, दिल्ली उसे बाहर का रास्ता दिखा देती है। ऐसी अवस्था में उसका अकेलापन ही उसका साथी बन जाता है -- " जो भी दुर्दिनों में घिरता है, दिल्ली उसे त्याग देती है। विनायक दत्तात्रेय भी दुर्दिनों में थे, दिल्ली ने उन्हें त्याग दिया था। न उनके पास कोई आता था, न कोई उनका हाल पुछता था। टेलिफोन कभी बजता नही था। वे अकेले रह गए थे, अकेलापन और दुर्दिन के दिन बिताने का तरिका विनायक दत्तात्रेय ने खोज निकाल था। वे अपने कमरे के एक कोने में जाकर खडे हो जाते थे और पुकार कर पूछते है -- " विनायक कैसे हो, फिर दूसरे कोने पर खडे होकर मुस्करते हुए कहते - मै ठीक हूँ विनायक। अपनी सुनाओं। कभी-कभी आ जाया करों यार। "[9]

निष्कर्ष

इस प्रकार उदय प्रकाश ने अपनी कहानियों के माध्यम से एक तरफ जहाँ उपभोक्तावादी संस्कृति के कुप्रभाव पर प्रकाश डाला है। दूसरी ओर इस संस्कृति का मध्यवर्ग पर पडनेवाले प्रभाव को बडी ही सादगी से प्रस्तुत किया है। आजाद भारत के इतिहास में उदय प्रकाश की कहानियों में पुरे व्यवस्था के ऊपर सवाल उठाती है कि आजादी के इतने वर्ष बाद भी मध्यवर्ग जो मेहनत एवं ईमानदारी से जीवन व्यतीत करने की कोशिश करता है, उनके सामने पूंजीवादी शक्तियों ने लॉलीपॉप रख दिया है। उस लॉलीपॉप को हासिल करने के लिए मध्यवर्गीय समाज उपभोक्तावादी संस्कृति का गुलाम बनता जा रहा है।

संदर्भ :-

1) "तिरिछ " - उदय प्रकाश - वाणी प्रकाशन - नई दिल्ली - 2001- पृष्ठ - 50-51
2) "पॉल गोमरा का स्कूटर" - उदय प्रकाश - वाणी प्रकाशन - नई दिल्ली -2010 - पृष्ठ - 37
3) "पॉल गोमरा का स्कूटर" - उदय प्रकाश - वाणी प्रकाशन- नई दिल्ली -2004 - पृष्ठ - 38
4) "वारेन हेस्टिंग्स का सांड" -उदय प्रकाश - वाणी प्रकाशन - नई दिल्ली -2013- पृष्ठ -105
5) "पीली छतरी वाली लडकी " - उदय प्रकाश -वाणी प्रकाशन- नई दिल्ली -2014 - पृष्ठ-11-12
6) " पीली छतरी वाली लडकी " - उदय प्रकाश - वाणी प्रकाशन - नई दिल्ली -2014 - पृष्ठ-12
7) " दत्तात्रेय का दुःख " - उदय प्रकाश - वाणी प्रकाशन - नई दिल्ली - 2006 - पृष्ठ - 44
8) " महोनदास " - उदय प्रकाश - वाणी प्रकाशन - नई दिल्ली - 2006 - पृष्ठ - 79
9) " विनायक का अकेलापन " - उदय प्रकाश - वाणी प्रकाशन -नई दिल्ली- 2006 - पृष्ठ -42

साहित्य के मानदण्ड एवं प्रेमचंद के निबंध

-डॉ.अमित कुमार तिवारी
अस्टिटंट प्रोफेसर, हिंदी,
डॉ.राम मनोहर लोहिया राजकीय महाविद्यालय,
विधूना, औरैया, (उ.प्र)

प्रेमचंद की वैचारिकी, आलोचना दृष्टि एवं साहित्यिक मानदण्ड का चित्र मात्र उनके कथा साहित्य के आधार पर बनाना उनके साथ अन्याय करना होगा। विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में छपे उनके लेख, निबन्ध, पुस्तक समीक्षा उनके द्वारा विभिन्न सभा गोष्ठी में दिये गए भाषण का संकलन अमृतराय ने लगभग सोलह सौ पृष्ठों की सामग्री "विविध प्रसंग" नाम से तीन भागों में संकलित किया। अमृतराय ने लिखा कि- "इस खजाने की तरफ अबतक किसी का ध्यान नहीं गया था और शायद इन पंक्तियों के लेखक का भी न जाता अगर मुंशी जी की प्रामाणिक जीवनी लिखने के तकाजे ने उसे मजबूर न किया होता कि वह उन सब चीजों की छानबीन करे जो मुंशी जी ने जब-जब और जहाँ-जहाँ लिखी।"[1] प्रेमचंद के निबंधों का एक संकलन 'कुछ विचार' नाम से प्रकाशित हुआ। जिसमें कुल ग्यारह निबंध है। प्रथम निबन्ध लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का अध्यक्षीय भाषण 'साहित्य का उद्देश्य' है। इस संकलन में उपन्यास कहानी राष्ट्रभाषा जैसे विषयों पर निबन्ध हैं।प्रेमचन्द की साहित्यिक मान्यता क्या थी\ वो उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबन्ध कविता के विषय में किस तरह की विचारधारा रखते थे उसका उन्होंने भली-भॉति अपने निबन्धों में विवरण प्रस्तुत किया है। इसमें कई निबन्ध उन्होंने सैद्धान्तिक लिखे हैं।

प्रेमचन्द की दृष्टि उपयोगिता वादी रही है, चाहे वह साहित्य हो अथवा समाज। उन्होंने लिखा कि "मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य वृत्ति की पुष्टि करनी है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है पर ऐसा रूचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनंद नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनंद स्वतः एक उपयोगिता युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुःख भी।"[2]

प्रेमचन्द का साहित्य 'साधनावस्था' की कोटि में आता है। प्रेमचन्द सुधारवादी साहित्य के हिमायती रहे। उन्होंने समाज को संघर्ष के लिए प्रेरित किया। 'साहित्य का उद्देश्य' नामक निबन्ध में प्रेमचन्द ने स्पष्ट लिखा है कि- "हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं जिनसे संसार की नश्वरता का अधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाए।"3प्रेमचन्द ने कहानियों उपन्यासों पर लिखे लेखों तथा साहित्य पर दिए गये भाषणों और टिप्पणियों से साहित्य की सोद्देश्यता को न केवल रेखांकित किया बल्कि उसे सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बनाने का प्रयत्न किया है। कहानी पर लिखे उनके पहले लेख में उनकी साहित्य सम्बन्धी सैद्धान्तिक विचारधारा परिलक्षित होती है। इस लेख में कहानी और उपन्यास का अन्तर आकर और जीवन के विस्तार को समेटने के प्रयत्न को ध्यान में रखकर किया। उन्होंने लिखा कि- "उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है, आख्यायिका केवल एक घटना है।"

प्रेमचंद की कहानी ईदगाह, नशा, सद्गति, शतरंज के खिलाडी इसी प्रकार की कहानियाँ है। कहानी कला- 3 नामक निबन्ध में बौद्धिकता, मनोविज्ञान, कोमल तथा पवित्र भावनाओं का प्रोत्साहन और सत्य सेवा आदि देवत्व के अंशों का जागरण, संघर्ष और आत्मिक भाव के प्रकटीकरण को कहानी का आधार माना गया है। उन्होंने लिखा कि- "बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। सबसे उत्तम कहानी वह होती जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो"[5]

प्रेमचंद अत्यधिक मात्रा में शब्दाडंबर अलंकार प्रयोग इत्यादि के पक्षधर नहीं थे। वो अपनी बात को सरलता से कहने के हिमायती रहे, बनावटीपन एवं व्यर्थ की साज-सज्जा से उनको चिढ़ थी। कहानी कला-3 में उन्होंने लिखा कि "जिस तरह मसालों के बाहुल्य से भोजन का स्वाद और उपयोगिता कम हो जाती है उसी भाँति साहित्य भी अलंकारों के दुरपयोग से विकृत हो जाता है। जो कुछ स्वाभाविक है वही सत्य है और स्वाभाविकता से दूर होकर कला अपना आनन्द खो देती है। उसमें जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह जाती।"[6]

जो कहानी जीवन के सत्य का उद्घाटन करे मनोवैज्ञानिक पक्ष को रेखांकित करे, समस्याओं के अतल गहराइयों में जाकर उसका हल ढूढ़ने का प्रयास करे एसी कहानी प्रायः सफल मानी जाती है। 'साहित्य और मनोविज्ञान' निबंध में प्रेमचन्द साहित्य के वर्तमान युग को न केवल मनोविज्ञान का युग कहते है बल्कि चरित्रों के चित्रण में उसकी सहायता आवश्यक मानते है। प्रेमचन्द मात्र कोरे यथार्थ चित्रण के हिमायती नहीं रहे। ऐसे चित्रण से वे निराशावादी होने का खतरा मानते थे। प्रेमचन्द यथार्थवाद और आदर्शवाद पर बहुत विचार किए थे। समाज के समस्त बुराइयों और अच्छाइयों पर उनकी पैनी नजर रहती थी। उन्होंने कई रचनाओं में समाज की बुराइयों का खुला एवं नग्न चित्रण किया है। प्रेमचन्द ने यथार्थ का आधिक्य साहित्य के लिए आपत्तिजनक माना। उन्होंने लिखा कि "इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है तो आपत्तिजनक हो जाता है।"[7]

प्रेमचन्द आदर्शवाद और यथार्थवाद के समावेश के हिमायती रहे। इसी को उन्होंने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा। अर्थात् ऐसा यथार्थ जो आदर्श को ध्यान में रखकर चित्रित किया जाय, वहाँ यथार्थ का नंगापन मात्र न हो बल्कि आदर्श की मनमोहक मूर्ति भी हो। वही साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो। जब साहित्य की रचना किसी समाजिक राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है तो वह अपने उच्च पद से गिर जाती है। प्रेमचन्द मात्र कलात्मक औदात्य का उतनी गहनता से समर्थन नहीं करते थे जितना अनुभूति का।

प्रेमचन्द रचना के लिए सृजन शक्ति एवं कल्पना को बहुत

महत्व देते हैं। प्रेमचन्द शब्दों के आडम्बर से चिढ़ते थे। प्रेमचन्द उपन्यास में परिस्थिति के अनुसार सामान्य जन की बोली-भाषा से निःसृत सहज एवं सरस शब्दों का प्रयोग ज्यादा श्रेयस्कर समझते थे। प्रेमचंद ने संवाद के सन्दर्भ में लिखा कि- "उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाए उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए प्रत्येक वाक्य को-जो किसी चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत पूर्णरुप से स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुकूल सरल एवं सूक्ष्म होना जरूरी है।"[8]

उपन्यास के सन्दर्भ में प्रेमचन्द का तीसरा लेख 'उपन्यास-रचना' है। इस लेख में उपन्यास की रचना के सन्दर्भ में प्रेमचन्द ने कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये। उपन्यास रचना के लिए उन्होंने छः बिन्दु बताए। 1. अवलोकन 2. अनुभव 3. स्वाध्याय 4. अन्तर्दृष्टि 5. जिज्ञासा 6. विचार आकलन। प्रेमचंद ने उपन्यास रचना में प्लाट को भी बहुत महŸव दिया। किसी रचना का प्लाट उन घटनाओं को कहते है जो उपन्यास के चरित्र पर घटित हो। प्लाट को उन्होंने छः भागों में विभाजित किया- 1. कोई अद्भुत घटना 2. कोई गुप्त रहस्य 3. मनोभाव- चित्रण 4. चरित्रों का विश्लेषण और तुलना 5. जीवन के अनुभवों को प्रकट करना 6. कोई सामाजिक या राजनीतिक सुधार।

प्रेमचंद की स्पष्ट मान्यता थी कि साहित्य रचना के लिये भाषा के एक स्थायी रूप का होना आवश्यक है। भाषा को राष्ट्रव्यापी होने के लिए एक मानक रूप की आवश्यकता होती है। प्रेमचंद साहित्य को जीवन की आलोचना मानते थे। उन्होंने लिखा कि - "साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वात्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबंध के रूप में हो चाहे कहानियों के या काव्य के उसे हमारे जीवन की अलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।"[9]

प्रेमचंद ने रस को साहित्य का अनिवार्य तत्व माना। उन्होंने साहित्येतर वाङ्.मय से साहित्य को पृथक करने के लिए एक ही कसौटी स्वीकार की-रस। प्रेमचन्द ने रस और आनन्द को पर्याय के तौर पर प्रयोग किया है। साहित्य में बुद्धि तत्व की कितनी महत्व होनी चाहिए इस पर भी प्रेमचन्द ने स्पष्ट विचार रखा- "सच पूछिए तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिए उपयुक्त ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की वस्तु है, बुद्धिवाद की यहाँ इतनी ही जरूरत है कि भावुकता बेलगाम होकर दौड़ने न पाए।"[10]

साहित्य में शृंगार को कितना स्थान मिलना चाहिए, शृंगार को रसराजत्व पद मिलना चाहिए अथवा नहीं\ इस विषय पर भी प्रेमचन्द ने काफी कुछ लिखा। प्रेमचन्द शृंगार रस के विषय में बहुत साहिष्णु नहीं रहे। उन्होंने लिखा कि "जो शायरी हुस्न व इश्क को आहना व शाना (शीशा और कंघी) हिज्र व मसदर सब्जा व खत और दहन व कयर के तखी युल (कल्पना) से मलब्बस करती है। वह हरगिज इस काविल नहीं कि आज हम उसका विरद (पाठ) करें।"[11] प्रेमचन्द शृंगार को साहित्य से बहिष्कृत करने के पक्षधर नहीं रहे। उन्होंने शृंगार के अतिरेक का विरोध किया। उन्होंने लिखा कि- "निस्सन्देह काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है, पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री पुरूष का प्रेम मात्र नहीं है। श्रृंगारिक मनोभाव जीवन का एक अंगमात्र है और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध हो वह उस जाति और युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरूचि का प्रमाण हो सकता है।"[12] उन्होंने श्रृंगार का पूर्णतः विरोध नहीं कि अपितु साहित्यकार को कर्तव्य निर्वाह करने के लिए कहा एवं मात्र नायिका के कपोलों की लालिमा पे बेसुध रहने वाले साहित्यकारों को सचेत किया। भूख एवं यौन भावना में भूख अधिक प्रबल है। भूखा मनुष्य यौन सम्बन्ध की बात नहीं सोचता और जिस समय प्रेमचन्द का साहित्य रचा गया हमारा समस्त राष्ट्र भूखा था। प्रेमचन्द ने श्रृंगारिक कवियों को सम्बोधित करते हुए लिखा कि- "तुम्हारी कविता उच्च कोटि की है, मैं इसे सर्वांग सुन्दर कहने को तैयार हूँ लेकिन तुम्हारा कर्तव्य है कि अपनी इस अलौकिक शक्ति को स्वदेश के हित में लगाओ। अवनति की दशा में शृंगार और प्रेम का राग अलापने की जरूरत नहीं है, इसे तुम स्वीकार करोगे।"[13]

साहित्य विषयक अपनी कसौटी बताते हुए प्रेमचन्द ने साहित्य की परिभाषा तो नहीं की है किन्तु परिभाषा के निकट अवश्य आ गए हैं। "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन की सच्चाइयों का प्रकाश हो जो हममें गति संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[14]

काव्य हेतु के सन्दर्भ में प्रेमचन्द का मानना है कि साहित्यकार पैदा होता है बनाया नहीं जाता। उन्होंने यह अवश्य स्वीकार किया है कि जिज्ञासा की प्रकृति एवं साहित्य साधना के फलस्वरूप इसका विस्तार किया जा सकता है। स्पष्ट है कि 'प्रकृति की देन' को प्रेमचंद ने स्वीकार किया है, इसी को हमारे आचार्यों ने शक्ति अथवा प्रतिभा कहा है। प्रेमचन्द के निबन्धों में साहित्य हेतुओं की तीन कोटियाँ पाते हैं। प्रथम प्रेरक हेतु, द्वितीय उपादान हेतु, एवं तृतीय निमित्त हेतु है। प्रेरक हेतु व्यक्तित्व एवं सामाजिक परिस्थितियाँ हैं; उपादान हेतु शिक्षा जिज्ञासा एवं अभ्यास है। निमित्त हेतु प्रतिभा है।

प्रेमचंद ने अपने निबंध में काव्य प्रयोजन को भी जगह-जगह स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया है। प्रेमचन्द की दृष्टि उपयोगितावादी रही है। उन्होंने लिखा कि- "हम केवल उन फूलों को प्यार करते है जो फल लाते है और उन बादलों को प्यार करते हैं जो पानी बरसाते हैं, वे सौन्दर्य के लिए सौन्दर्य को प्रेम नहीं करते।"15 प्रेमचन्द कला कला के लिए सिद्धान्त को न मानकर कला की उपयोगिता में विश्वास रखते हैं। प्रेमचंद के साहित्य में एक प्रकार का आशावाद मानव महत्व के प्रति अमित विश्वास और समाज की अनिष्टकारी शक्तियों के विरूद्ध एक कठोर व्यंग्य का भाव मिलता है। प्रेमचंद की दृष्टि में उपयोगितावाद ही साहित्य का प्रयोजन है । उपयोगितावाद का स्वरूप प्रेमचन्द के अनुसार बहुत व्यापक है। प्रेमचन्द साहित्य को उपदेशक के रूप में स्वीकार करते हैं। इन समस्त प्रमाणों तथा उक्तियों की उपस्थिति में भी हम प्रेमचन्द को कहीं भी साहित्य के प्रयोजन 'आनन्द' का निषेध करते हुए नहीं पाते हैं। बल्कि उन्होंने 'आनन्द' का समर्थन ही किया है। मानसरोवर के प्रथम भाग के प्राक्कथन में उन्होंने लिखा है कि "साहित्य काल्पनिक वस्तु है पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना और इसलिए वह सत्य है।"[16]

प्रेमचंद के अनुसार साहित्य एक आदर्श या समाज की ऑखों के सम्मुख मार्ग दिखाने का कार्य करता है। प्रेमचन्द निराशावादी साहित्य के विरोधी रहे हैं। प्रेमचन्द ने साहित्य का ही समाज पर अधिक प्रभाव माना है। समाज का साहित्य पर कम। उन्होंने स्वीकार किया है कि समाज स्वयं नहीं चलता उसका नियंत्रण करने वाली सदा ही कोई अन्य शक्ति रही है। प्रेमचन्द ने राजनीति एवं साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया है। जो कार्य राजनेता अपने आन्दोलन से करता है उसी साध्य की सिद्धि साहित्यकार अपनी कलम के द्वारा प्राप्त करता है। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य की भाषा पूर्णतः सामान्य एवं आडम्बर विहीन रखी है। उनका सीधा, सरल, ईमानदार एवं निरलंकार व्यक्तित्व उनकी शैली का प्रधान गुण है। तत्सम बहुला न होने के कारण प्रेमचन्द की भाषा चलती हुयी थी तथा मुहावरों

को भलीभाँति पचा सकती थी। प्रेमचन्द वर्णन के साथ उपमाएँ देते चलते थे जो मुहावरों के रूप में होती थी। ये मुहावरे साहित्यिकता की अपेक्षा ग्राम्य बोली के अधिक समीप होते थे तथा भाषा को अलंकृत करने के स्थान पर भाव स्पष्ट करने के लिए ही उनका प्रयोग किया गया है। व्यंजना का प्रयोग प्रेमचन्द के साहित्य में बहुत अधिक नहीं मिलता बल्कि मुहावरों के माध्यम से लक्षणा का प्रयोग बहुत अधिका हुआ है। प्रेमचन्द भाषा को साधन मानते हैं साध्य नहीं। प्रेमचंद के समय में हिन्दी- उर्दू के आपसी संघर्ष के कारण हिन्दी की शुद्धता की रक्षा के लिए चलाया जाने वाला आन्दोलन मजबूती के साथ उभर रहा था। यही कारण था कि प्रेमचन्द को इस विचार के विरोध में बार-बार लिखना पड़ा। प्रेमचंद हिन्दी भाषा में नवीन शब्दों के आगमन के समर्थक रहे। भाषा का कोश बढ़ाने की आवश्यकता का उन्होंने अनुभव ही नहीं किया बल्कि उसके लिए मार्ग निर्देशन भी किया। भाषा के सम्बन्ध में प्रेमचंद के विचार निम्नवत है-

1. भाषा साध्य नहीं है वरन वह भावों की अभिव्यक्ति एवं उसको ग्रहण करने का साधन है।
2. बोधगम्यता के विचार से हमें देशज तथा तद्भव शब्दों का प्रयोग करना चाहिए एवं विदेशी आगत शब्दों का स्वागत करना चाहिए, तथा विचार एवं एवं विषय का स्पष्ट करने के लिए तत्सम शब्दों का भी उचित प्रयोग करना चाहिए।
3. भाषा बद्ध पुष्करिणी न होकर गतिमान धारा के समान होनी चाहिए।

प्रेमचन्द ने विचार पक्ष को शिल्प से अधिक महŸव दिया है। प्रेमचंद के अनुसार सौन्दर्य शब्दों का न होकर भावों और विचारों का है। प्रेमचंद ने लिखा कि- "साहित्य न चित्रण का नाम है, न अच्छे शब्दों को चुनकर सजा देने का न अलंकारों से वाणी को शोभायमान बना देने का। ऊँचे और पवित्र विचार ही साहित्य की जान हैं।"[17]

प्रेमचन्द के समय में राष्ट्रभाषा को लेकर झगड़ा चरम पर था। प्रेमचन्द शुद्ध हिन्दी अथवा उर्दू के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' को ही स्वीकारते थे। राजनीति के क्षेत्र में प्रेमचन्द महात्मा गाँधी के अनुयायी थे। महात्मा गाँधी ने ही राष्ट्रीय एकता के लिए 'हिन्दुस्तानी' का आन्दोलन चलाया था। प्रेमचन्द ने भी इसी का समर्थन किया। लिपि के संबंध में प्रेमचन्द का स्पष्ट मत था कि भारत की सभी भाषाओं के लिए एक ही लिपि होनी चाहिए- नागरी लिपि। नागरी लिपि के साथ एक प्रश्न लगातार बना रहा उसके शिरोरेखा का। प्रेमचन्द ने इस समस्या पर भी प्रकाश डाला- "शिरोरेखा नागरी अक्षरों का कोई आवश्यक अंग नहीं। जिन ब्राह्मी अक्षरों से नागरी का विकास हुआ है, उन्हीं से बंगला, तमिल गुजराती आदि का भी विकास हुआ है, मगर शिरोरेखा नागरी के सिवा और किसी लिपि में नहीं। हम बचपन से शिरोरेखा के आदी हो गए हैं और हमारी कलम जबर्दस्ती अनिवार्य रूप से ऊपर की ओर लकीर खींच देती है, लेकिन अभ्यास से यह काबू में भी आ सकती है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि शिरोरेखा का परित्याग करके हम अपने लेखन की चाल बहुत तेज कर सकेंगे, और उसकी मन्द गति की शिकायत बहुत कुछ मिट जायेगी। रही बात कि बिना शिरोरेखा के अक्षर मुण्डे और सिर कटे से लगेंगे तो यह केवल भावुकता है। जब आँखे बेरेखा के आक्षरों की आदी हो जाएँगी तो वही अक्षर सुन्दर लगेंगे और हमें आश्चर्य होना कि हमनें इतनी सदियों तक क्यों अपनी लिपि के सिर पर इतना बड़ा व्यर्थ का बोझ लादे रखा।"[18]

प्रेमचंद ने अपने निबंध एवं आलोचलाओं में साहित्य के लगभग प्रत्येक अंग-उपांगों पर चर्चा की है। प्रेमचंद समस्या से भागने वाले नहीं बल्कि समस्या से टकराने वाले साहित्यकार थे। उन्होंने साहित्य से सम्बन्धित जो कि उनके समय में मुख्य समस्या के रूप में थी, प्रत्येक बिन्दुओं पर तर्कपूर्ण ढंग ये अपना विचार प्रस्तुत किया।

सन्दर्भ :

1. विविध प्रसंग भाग-2 सं॰ अमृतराय, हंस प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ-5
2. कुछ विचार, प्रेमचंद, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2011, पृष्ठ -16
3. कुछ विचार, प्रेमचंद, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2011, पृष्ठ -15
4. कुछ विचार, प्रेमचंद, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2011, पृष्ठ -31
5. कुछ विचार, प्रेमचंद, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2011, पृष्ठ -15
6. प्रेमचन्द के श्रेष्ठ निबंध, स॰ सत्यप्रकाश मिश्र, ज्योति प्रकाशन इलाहाबाद 2003 पृष्ठ -108
7. प्रेमचन्द का चिन्तन, स॰ नन्द किशोर आचार्य, वाग्देवी प्रकाशन बीकानेर 2012 पृष्ठ 56
8. कुछ विचार, प्रेमचन्द, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2011, पृष्ठ 62
9. कुछ विचार प्रेमचन्द, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2011 पृष्ठ 06
10. साहित्य का उद्देश्यः प्रेमचन्द, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, मुद्रक भार्गव प्रेस इलाहाबाद, प्रथम संस्करण पृष्ठ 41
11. कर्बला, प्रेमचन्द, डायमंड बुक्स नई दिल्ली 2011 पृष्ठ -06
12. कर्बला, प्रेमचन्द, डायमंड बुक्स नई दिल्ली 2011, पृष्ठ -30
13. कर्बला, प्रेमचन्द, डायमंड बुक्स नई दिल्ली 2011, पृष्ठ -26
14. प्रेमचन्द, स॰ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, प्रकाशन संस्थान, 2009 पृष्ठ -180
15. साहित्य का उद्देश्यः प्रेमचंद, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1954 पृष्ठ 199
16. मानसरोवर भाग-1 प्रेमचंद, सुमित्र प्रकाशन इलाहाबाद 2009 (प्राक्कथन से उद्धृत)
17. साहित्य का उद्देश्यः प्रेमचंद, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1954 पृष्ठ 262
18. साहित्य का उद्देश्यः प्रेमचंद, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1954 पृष्ठ-288

रमेश पोखरियाल 'निशंक' के काव्य में राष्ट्रीय चेतना के स्वर
('मातृभूमि के लिए' विशेष संदर्भ में)

-डॉ. संगिता चित्रकोटी
असोसिएट प्रोफेसर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष ,
कोएसो लक्ष्मी-शालिनी महिला महाविद्यालय, पेझारी,
अलिबाग, रायगड

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में स्वाधीनता संग्राम में तीव्रता आ गयी थी। भारत को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति दिलाने के लिए बहुत से क्रांतिकारियों और स्वतन्त्रता सेनानियों ने अहं भूमिका निभाई है। महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आंदोलन अहिंसा के मार्ग से चलाया, भीमाबाई होलकर ब्रिटिश कर्नल मैल्कम के खिलाफ बहादुरी से लड़ी और अंत तक उसने इंदौर में ब्रिटिश छावनी बनने नहीं दी। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अपने राज्य झाँसी को अंग्रेजों क के चंगुल से बचाने के लिए जंग छेड़ी, नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने के लिए आजाद हिन्द फौज का गठन किया। उनके द्वारा दिया गया 'जय हिन्द' का नारा राष्ट्रीय नारा बन गया, लोकमान्य तिलक जी ने खुलकर ब्रिटिशों के दमनकारी नीतियों का विरोध कर स्व शासन व पूर्ण स्वराज्य की मांग की। ऐसे ही अनेक क्रांतिकारियोंने अहिंसक और सशस्त्र मार्ग से क्रांति का आंदोलन छेड़ा था। परिणाम स्वरूप हिन्दी साहित्य में राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभक्ति, राष्ट्रसम्मान, राष्ट्रीय एकात्मता, भारतीय संस्कृति, समाज सुधार आदि विषयों की प्रधानता रही। भारत भूमि में एक से बढ़कर एक दिग्गज कवि पैदा हुए। उनमें बाबू भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशंरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, गजानन माधव मुक्तिबोध, माखनलाल चतुर्वेदी आदि प्रमुख हैं। वे स्वाधिनता संग्राम और नवजागरण से प्रभावित हुए और उन्होंने राष्ट्रीय भाव से ओतप्रोत कविताएं लिखी। राष्ट्रीय काव्याधारा की यह गौरवशाली परंपरा चिरकाल से निरंतर चली आ रही है। इसी परंपरा को आगे ले जाने का काम रमेश पोखरियाल 'निशंक' जी ने किया है। उत्तराखंड की वादियों में जन्मे कवि 'निशंक' अपने भारत भूमि से जितना स्नेह करते हैं उतना ही उन सरहदों पर मर मिटने वाले जवानों से करते हैं। वे एक भारतीय राजनीतिज्ञ, उत्तराखंड राज्य के पांचवे मुख्यमंत्री तथा केंद्रीय मानव संसाधन मंत्री रहे हैं। वे बचपन से ही काव्य और कहानियाँ लिखते रहे है परंतु उनका पहला काव्य संग्रह 'समर्पण' 1983 में प्रकाशित हुआ। उसके बाद तमाम व्यस्तता के बावजूद वे लगातार लेखन कार्य कर रहे है। आज उनके 10 कविता संग्रह 12 कहानी संग्रह, 10 उपन्यास, साथ ही पर्यटन ग्रंथ,बाल साहित्य, व्यक्तित्व विकास जैसी 4 दर्जन से भी ज्यादा पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है। यह उनके साहित्य की मौलिकता ही है जिसके कारण उनके साहित्य का अँग्रेजी, जर्मनी, फ्रेंच, मलयालम, मराठी आदि कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। 'निशंक' स्व की परिधि से बाहर आकर सामाजिकता, धार्मिकता और राष्ट्रीयता के परिवेश में प्रवेश करते है इसलिए उनके काव्य में आदर्श भाव और दिव्यता विकसित होती हुई दिखाई देती है तथा राष्ट्रीय चेतना का प्रभावी और अनुप्रेरक रूप भी सामने आता है। इसलिए आज रमेश पोखरियाल 'निशंक' का स्थान राष्ट्रकवि के रूप में उच्च पद पर आसीन है। उनकी रचनाओं में अतीत भारत की गौरवमयी झांकी तो है ही साथ में राष्ट्रीय नायकों की वीरता और त्याग का चित्र भी है।

'निशंक' जी का 'मातृभूमि के लिए' काव्यसंग्रह देशभक्ति की भावना से रंगा हुआ है। उसमें देश की मिट्टी की सौंधी महक है। उन्होंने अपने इस काव्य संग्रह में समाज सुधार, बुद्धिवादीता, राष्ट्रीयता, भारतीय संस्कृति और मानव प्रेम को अभिव्यक्त किया है। वैसे उनकी कविताएं मानवीय सरोकारों से गहन अभिरुचि रखती है। किंतु समाज में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक विषमता पर भी उनकी दृष्टि टिकी हुई दिखाई देती है जिससे स्पष्ट होता है कि 'निशंक' मूलतः कोमल मानवीय संवेदना के कवि है। इस काव्य संग्रह की भूमिका में डॉ. श्यामधर तिवारी लिखते है– " 'मातृभूमि के लिए' की कविताएँ जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की गहरी भावनाओं के बिंबों से संपृक्त हैं। कवि स्वयं को राष्ट्र की बलिवेदी पर अर्पण करने को तत्पर है। यही नहीं देशवासियों को भी सतत सजग होने के लिए प्रेरित करता है। प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी व्यक्ति, चाहे वह किसी भी धर्म, जाति, वर्ग, भाषा, प्रांत, क्षेत्र, संप्रदाय, का हो उसके अन्तर्मन को उद्दीप्त करने में मातृभूमि के लिए की कविताएं सक्षम है।"--[1] स्वयं 'निशंक' जी मातृभूमि के लिए इस काव्य संग्रह के उद्देश्य के बारे में लिखते हैं--" मेरे इस काव्य संग्रह का उद्देश्य भावी पीढ़ी में राष्ट्रीयता की भावना कूट कूट कर भरना एवं जन जन को देशभक्ति से ओतप्रोत करते हुए मातृभूमि के लिए सर्वस्व न्योछावर की भावना को जागृत करना है।"--[2] उनके काव्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के कई सोपान है। कहीं पर वे भारत के गौरवशाली अतीत के प्रति आस्था प्रकट करते है तो कहीं वर्तमान दयनीय दशा का हृदय स्पर्शी अंकन करते है। कहीं सैनिकों की वीरता पर सद्भावना व्यक्त करते है तो कहीं सैनिकों का मनोबल बढ़ाते है। आज देश न केवल सीमा के बाहर के खतरों से नहीं बल्कि सीमा के अंदर भी कई खतरों से जूझ रहा है। ऐसी स्थिति में कहीं भी सैनिकों का मनोबल ना ढले इसलिए 'निशंक' जी 'कुर्बान होगा देश पर' इस कविता में वीरों को प्रेरणा देते है–

"अब रक्त न पानी बने/शीश अपना झुके नहीं,
लाख संकट सामने हों/वह वीर है जो रुके नहीं।
दृढ़ता से जो बढ़ा,/वह सफलता ही पाएगा,
कुर्बान होगा देश पर जो,/इतिहास उसी को गाएगा।"--[3]

सैनिकों के कारण हम सुरक्षित रहते है। उन्ही के कारण हम अपने परिवार के साथ निश्चिंत होकर जीवन बिताते है। इसलिए हमारे हृदय में उनके लिए आदर और सम्मान का भाव हमेशा होना चाहिए। सैनिक जब देश के लिए लड़ता है तो उसके सामने अपना परिवार नहीं केवल देश होता है। देश के लिए वह हँसते-हँसते अपनी जान कुर्बान कर देता है। सच्चा सैनिक देश के लिए जीता है और देश के लिए मरता है। इसी बात को निशंक जी 'देश के सपूतो, करो तुम प्रयाण' इस कविता में इस तरह

कहते है–

"काँटों ने फूलों का भेदन किया है,
देश में दुष्टों ने छेदन किया है।
तुमको बचानी है भारत की शान
देश के सपूतों, करो तुम प्रयाण,
हँस-हँस के दे दो मातृ-भू पे प्राण ॥" --[4]

निशंक परिवर्तन एवं विकसनशील परंपरा के कवि है। जीवन और जगत में स्थैर्य उन्हे अच्छा नहीं लगता। इसलिए गतिशीलता की आकांक्षा लेकर वे विकास के नए मार्ग तलाशते है। विकास और सुधारवादी भावनाओं से ओतप्रोत होकर निशंक जी सामाजिक समस्याओं में अपेक्षित सुधार लाने के लिए काव्य का सहारा लेते है। । अस्पृश्यता, जातीयता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, नारी को उचित सम्मान आदि अनेक युगीन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करके अपने रचनात्मक कार्यक्रमों में उन्होने अनेक सुधारों को शामिल कर लिया। उनकी रचनाओं में सामाजिक सुधार का मार्ग प्रशस्त होता हुआ दिखाई देता है। 'भारतीयो आज' इस कविता में वे देश में जातीयता का जो विष फैलता जा रहा है उसकी चिंता व्यक्त करते हुए भारतीय जनता को जागृत करने का कार्य करते है –

"जातियों का विष भयंकर, फैलता ही जा रहा है,
इसलिए जग द्रोह करने इस ज़मीं पर आ रहा है।
किंतु हम इस भूमि पर, विद्रोह को पलने न देंगे,
आज हमको देश-भर से द्रोहियों को छानना है।
भारतीयो, आज का क्षण-क्षण हमें पहचानना है।"--[5]

यहाँ कवि देशद्रोहियों के विरुद्ध आवाज उठाने का साहस करते है। समस्या किसी भी प्रकार की हो उसका विरोध करना वे अपना दायित्त्व समझते है। किसानों का किसी न किसी रूप में शोषण होता ही रहता है। उनकी दशा बद से बदतर हो रही है। इसलिए वह आत्महत्या करने के लिए मजबूर है। वैसे तो किसान अन्नदाता है। राष्ट्र के आर्थिक ढांचे के रक्षक है। पर उनकी ऐसी शोचनीय दशा देखकर कवि व्यथित होते है और अपने 'बढ़ चले हम ग्रामवासी' इस कविता में कृषक वेदना को वाणी देते है। –

"चीख़ते पशु और पक्षी, ताल सूखे क्यों पड़े,
इक बूँद पानी को तरसते, मौत के मुँह में खड़े।
हम कब तलक लुटते रहें, मिटते रहेंगे साथ में
अब बढ़ चले हम ग्रामवासी, ले मशालें हाथ में।" –[6]

कवि 'निशंक' हिन्दी के साधक और भक्त है। उनकी कमाना है कि विश्व में भारत के ध्वजारोहण हेतु देश में हिन्दी को सम्मान मिले। सहज स्नेह के साथ वे 'हिंदी देश की शान' इस कविता में हिन्दी भाषा प्रेम को मनोरम अभिव्यक्ति प्रदान करते है।

"एकता की सूचक हिंदी भारत माँ की आन है,
कोई माने या न माने हिंदी देश की शान है।
भारत माँ का प्राण है,
भारत- गौरव गान है।" --[7]

निश्चित ही हिन्दी से राष्ट्रीय काव्यधारा में देश की संस्कृति और गरिमा मुखरित हुई है। इसने जनमानस में अपूर्व उत्साह और ऊर्जा भरने का अनुकरणीय भूमिका निभाई है। इसलिए कवि हिन्दी की महत्ता को रेखांकित करते है।

निशंक जी अपने काव्य में मानवतावादी सिद्धान्त को भी प्रभावोत्पादक स्थान दिया है। उनका मानव प्रेम देशकाल की सीमा लांघकर विश्व मानवता से जुड़ता है। अर्थात वे वसुधैव कुटुंबकम की स्थापना चाहते है। इसीलिए वे समाज में व्याप्त विसंगतियो, विषमताओं, रूढ़ियों अंधविश्वासों मान्यताओं के खिलाफ विद्रोह की आवाज बुलंद करते है।

“आज मानवता रह-रह के रोती है
क्यों न मानवता की बात होती है।
बात आदर्श की कोई सुनता नहीं,
मार्ग परहित का कोई क्यों चुनता नहीं।
अब तो हर बात जैसी ये थोथी है,
क्यों न मानवता की बात होती है।” --[8]

निशंक जी की दृष्टि में सभी धर्म एवं जाति के लोग मात्र मनुष्य है। मनुष्य अपने अच्छे कर्मो के आधारपर देवत्व प्राप्त करता है। इन्सानियत ही सर्वोपरि है, हिन्दू या मुसलमान, सिक्ख या ईसाई होने से कोई फर्क नहीं पड़ता सब लोग एक है। राष्ट्र के निर्माण और उसके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए युग और परिस्थितियों के अनुरूप राष्ट्रीय एकता और अखंडता की भावना निर्माण करना अनिवार्य होता है। अपनी ‘भारत देश महान’ इस कविता में इसी सांप्रदायिक एकता का बखान करते है।

"मंदिर मस्जिद गिरजाघर, यहाँ सबका ही सम्मान है,
एक हाथ में गीता रहती, दूजे हाथ कुरान है।
नहीं मिसाल विश्व में इसकी, वीरों की यह खान,
त्याग, तपस्या, प्रेमभक्ति, किस-किसका करूँ बखान।
अनगिन गाथाएँ जिसकी ये भारत देश महान्।"--[9]

राष्ट्रीय चेतना का अर्थ एकता की भावना है, जो राष्ट्रीय बल राष्ट्रीय सुरक्षा तथा अखंडता आधार है। राष्ट्रीय एकता और अखंडता की भावना राष्ट्रीय चेतना का महान बल और अनिवार्य शर्त है इसलिए अपनी कविता में वे जातिभेद मजहब-संप्रदाय से ऊपर उठकर एकता और अखंडता की भावना को अभिव्यक्ति प्रदान करते है।

निशंक जी समाजिकता के आदर्श रंग में रंगे हुए है। इसलिए उनमें देशानुराग का उत्कर्ष भाव जागा है। देशानुराग में देश के समाज, प्रकृति और समस्त मानव के प्रति सद्भाव जागृत होता है। देशानुराग की आकर्षक छटा इनके 'भारत देश महान' कविता के लिए वरदान सिद्ध हुई है।

" त्याग, तपस्या, प्रेम, भक्ति,
किस-किसका करूँ बखान,
अनगिन गाथाएँ जिसकी ये
भारत देश महान्।" --[10]

देश और समाज के उत्कर्ष के लिए उनके मन में मनमोहक भाव था। यही कारण है की उनके काव्य में 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का अनूठा भाव है। इनके काव्य में, राष्ट्रप्रेम में मानवतावाद का मुखर और अनुकरणीय रंग उभरा है।

कवि 'निशंक' को अपने देश की संस्कृति से प्रेम है। भारतीय संस्कृति के चित्र आँकते समय कवि ने समस्त ग्राम-परिवेश को साकार कर दिया है। उनकी कविता '

विशेषता हमारी है' भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत है।
" दुनिया में छायी है यहाँ की विवेकता,
कौन न जाने यहाँ ऋषि-मुनियों की श्रेष्ठता।
भोगवादी संस्कृति भी यहीं आकर हारी है,
अनेकता में एकता विशेषता हमारी है।"
****
"जाति-धर्म के त्यौहार हर क़दम पर हैं यहाँ,
यहाँ की विपुलता देख अचंभित सारा जहाँ।
भारत की संस्कृति तो कल्याणकारी है,
अनेकता में एकता विशेषता हमारी है।" --[11]

'निशंक' राष्ट्रियता के फ़लक पर सांस्कृतिक गौरव का उत्कर्ष देखना चाहते है। इसीलिए वे सांस्कृतिक उत्थान के समर्थक और प्रेमी रहे है। सांस्कृतिक विरासत और गरिमा को भी वे साथ लेकर चलते है। 'विशेषता हमारी है' इस कविता में जन्म-भूमि की गरिमा और उसके प्रति अटूट प्रेम मिलता है। स्वर्णिम अतीत का वर्णन भी उनके इस कविता में मिलती है।

"षोडश कलाओं वाले कृष्ण भी यहीं हुए,
त्यागी दधीचि जैसे और न कहीं हुए।
हर क़दम पर त्याग-तप की गाथा ही न्यारी है,
अनेकता में एकता विशेषता हमारी है।"
दुनिया में छायी है यहाँ की विवेकता--[12]

भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति है। संस्कृति ही किसी भी देश की आत्मा होती है। संस्कृति से ही देश, जाति, समुदाय के उन समस्त संस्कारो का बोध होता है जिनके सहारे वे अपने जीवन मूल्यों का निर्धारण करते है। परंतु वर्तमान काल में हमारे सामाजिक आचार-विचारों पर पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव पड़ा हुआ दिखाई देता है। लोग हमारी संस्कृति को छोड़कर आधुनिक संस्कृति को अपनाने लगे है। पाश्चात्य संस्कृति के कारण कई नए-नए आविष्कार,प्रौद्योगिकी विकास, महिला सशक्तिकरण आदि क्षेत्र में निश्चित विकास हुआ है किन्तु लगातार हमारा क्षणिक मिथ्या सुख की प्राप्ति एवं आडंबरपूर्ण दिखावे की वजह से अपनी मूल संस्कृति को भूलना भविष्य में खतरे की घंटी है। इसील्ये निशंक जी अपने काव्य में भारतीय संस्कृति की महिमा का गान करते है।

भारतवर्ष सदैव शांति का प्रतीक रहा है। सहस्रो वर्ष पूर्व केवल इसी देश में सर्वयमी शांति हेतु जैसी प्रार्थना की गई थी वैसी विश्व में आज तक कभी और कहीं नहीं की गयी। यजुर्वेद, अथर्ववेद में इसके प्रमाण प्राप्त होते है। संसार में केवल भारत ने समग्र मानव जाति ही नहीं अपितु समग्र प्राणियों के प्रति- मित्र दृष्टि का प्रतिपादन किया। कवि निशंक में प्रेम का एक शांत एवं निर्मल स्रोत दिखाई देता है इसीलिए उनके काव्य में क्रांति एवं अहिंसा के स्वर सुनाई पड़ते है। जिन्होंने भारत देश को स्वार्थ से छला है उनके प्रति भी कवि के मन में कहीं भी बदले की भावना नहीं उल्टा कवि स्वयं का बलिदान देकर भी शांति बनाए रखने की बात करते है।' बलिदान देने चला' इस कविता में वे इसी भाव को व्यक्त करते है।

"बलिदान से मेरे कहीं भी शांति हो तो, मैं आज ही बलिदान देने को चला हूँ।
हर मार्ग काँटों से भरा, हर शहर नफ़रत से जला,
जलता रहेगा वतन अपना
न सभ्यता का मान है, न ज्ञान संस्कृति का जिन्हें,
देशहित दिखता नहीं, निज स्वार्थ में उलझे इन्हें।
मैं पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ इन स्वार्थियों से ही छला हूँ,
बलिदान से मेरे कहीं भी शांति हो तो,
मैं आज ही बलिदान देने को चला हूँ।" --[13]

भारत ने सदैव विश्वशांति के लिए काम किया है लेकिन इसका मतलब यह नहीं की भारत देश चुपचाप किसी का अन्याय सहन करेगा। यदि कोई हमें उकसाता है तो उसे उसी की भाषा में समझाने के लिए सक्षम है। वह शत्रु को मुंहतोड़ जवाब देने के लिए सदैव तैयार है। इसी भावना को कवि 'निशंक' 'हमने न किसी को ललकारा' इस कविता में व्यक्त करते है–

" विश्व जानता है कि हमने नहीं किसी को ललकारा,
पर जिसने ललकारा हमको, हमने उसको फटकारा।
शांत रहे हम दुनिया में संदेश शांति का देते हैं,
करते हैं सर्वस्व निछावर कब कुछ बदले में लेते हैं?" – 1[4]

इस प्रकार कवि निशंक के काव्य में राष्ट्रप्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी है। उन्होंने अपनी कविताओं में देश की मिट्टी तथा संस्कृति का गायन किया है। राष्ट्रप्रेम के विविध रूपों को उन्होने अपनी रचनाओं में बड़ी मनोमयता के साथ शब्दायित किया है। सबसे बड़ी बात यह है कि उनकी कविता में भारत माँ कि ऐश्वर्यशाली वंदना तथा अर्चना हुई है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना, देशप्रेम, सांस्कारिक आस्था, नैतिकता उनके काव्य की प्रमुख विशेषता रही है। उनके काव्य में सामाजिक सरोकार भी सम्मिलित है। वे सामाजिक कुरीतियों को दूर करके एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना चाहते है।

संदर्भ -

1. रमेश पोखरियाल 'निशंक' मातृभूमि के लिए, हिन्दी साहित्य निकेतन, बिजनौर - भूमिका – पृष्ठ - 11
2. वहीं -पृष्ठ - 15
3.वहीं -पृष्ठ - 39
4.वहीं -पृष्ठ - 28
5.वहीं -पृष्ठ - 25
6.वहीं -पृष्ठ - 36
7.वहीं -पृष्ठ - 51
8.वहीं -पृष्ठ - 57
9.वहीं -पृष्ठ - 26
10. वहीं -पृष्ठ - 26
11. वहींपृष्ठ - 42
13. वहींपृष्ठ - 52
14. वहींपृष्ठ - 59

अज्ञेय की काव्य संवेदना : एक अन्तर्यात्रा

-डॉ.वीणा जे
सह आचार्या, विभाग अध्यक्षा,
हिंदी विभाग, सनातन धर्म कॉलेज,
आलप्पुला, केरल मो. 94468586338

भूमिका

नवीनता की ख्वाहिश मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। नवीनता के प्रति मोह तथा अपनी अलग पहचान के साथ बीसवीं शती के तीसरे, चौथे दशकों में एकदम नई एवं जटिल संवेदनाओं से अनुप्राणित कुछ अपूर्वराग और तान अपनी कविता की 'असाध्यवीणा' के द्वारा सुनाते हुए हिन्दी काव्य क्षेत्र में उतरे असामान्य व्यक्तित्व के धनी है 'सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय'। अज्ञेय हिन्दी साहित्य के वरिष्ट कलाकार है ,जिनकी कला साधना का श्रीगणेश छायावादी युग में हुआ, और बाद में उनकी रचना यात्रा प्रगति – प्रयोगवाद से होकर नई कविता की भावभूमि की ओर चल पड़ी। साहित्य के साधक होने के नाते भारतीय संस्कृति के प्रसार को उन्होंने अपना ध्येय समझा और 'हिन्दी साहित्य परिषद' को केंद्र बनाकर हिन्दी साहित्य की नई धारा का प्रचार एवं प्रसार किया। उनका काव्य व्यक्तित्व उनके विकासशील चिंतन एवं संवेदनशील कविरूप का प्रमाण है। उन्होंने छायावादोत्तर नई कविता की अनेक महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को दिशानिर्देश दिया है।

बीज शब्द : काव्य संवेदना, प्रकृत्यून्मुखता , विश्वमानववाद , अहंवादिता ,समाजोन्मुखता, मिथकीयता, संवेदनशीलता अन्तश्चेतना, वैयक्तिकतामूलक, समष्टिमूलक, प्रयोगधर्मिता, आदि|

उद्देश्य : छायावादोत्तर काव्यधारा के द्युतिमान नक्षत्र है , 'सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय'। उनकी काव्य प्रतिभा का पल्लवन छायावादी युग में ही हुआ था। अपनी सहज प्रकृत्यून्मुखता एवं सौंदर्यबोध के कारण उनकी प्रारंभिक कविताओं में छायावादी फूट ही प्रमुख रूप में प्राप्त है। बंगाली कवि रवीन्द्रनाथ ठाकूर तथा तत्कालीन अंग्रेजी कवियों से प्रभाव एवं प्रेरणा ग्रहण कर ही अज्ञेय ने छायावादी कविता करना शुरू किया था। बाद में रवींद्र बाबू की मानवतावादी प्रवृत्तियों से वे आकृष्ट हो गए। "भारतीय कलाक्षेत्रों के दर्शनों और व्यावहारिक जीवन से अलग , मात्र सैद्धांतिक तल पर ज्ञानार्जन में व्यतीत विद्यार्थी जीवन के परिवेशों ने अज्ञेय के अधेड़ दिल को रवीन्द्रनाथ की काल्पनिकता , रहस्यात्मकता एवं आदर्शपूर्ण मानववाद की ओर आकृष्ट किया।" साथ ही साथ 'वॉर्ड्सवर्थ', 'कीट्स', 'शेल्ली' जैसे अंग्रेज़ी कवियों की रोमान्टिक अनुभूतियाँ भी उनके तरुण हृदय की प्रणायानुभूति को रागरंजित कर दिया। अपनी जीवन यात्रा के दौरान जीवन के विस्तृत संदर्भ में पदार्पण करने पर उन्होंने अलौकिक जगत से अपना नाता टूट दिया। अतः यथार्थबोध से वे अवगत हो गए। जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण ने उन्हें मानवता के प्रति आकर्षित कर दिए। लेकिन अज्ञेय का मानवतावाद विश्व मानववाद न रहकर वैयक्तिकतामूलक रह गया। वे मानवीय अस्तित्व को केंद्र में रखकर व्यक्ति की अद्वितीयता एवं महत्व को व्यक्त करते हैं। उनकी कई कविताएँ मानवीयता का निरूपण करती हैं। परंतु उनका मानववाद परंपरागत मानववाद की समष्टिमूलता से एकदम भिन्न हैं। "सामाजिक समस्या को कविता के केंद्र में स्थापित करने की जगह व्यक्ति के भीतरी पहलुओं को महत्व देने के परिणामस्वरूप परंपरागत काव्यात्मक संरचना ही नहीं ,मूल्य और संवेदना की समूची बुनावट में फर्क आ गया।"

अज्ञेय की मानववादी संवेदनाएँ उनकी उत्तरवर्त्ति कविताओं में युगचेतना से परिपुष्ट हो गई। वे तो 'आत्मा' की खोज अपनी कविता के द्वारा करने लगे।'शंभूनाथ' की राय में - "नेहरू भारत को 'डिस्कवर' कर रहे थे , और अज्ञेय 'आत्मा' को.... .. हमारे ऋषि – मुनि आत्मान्वेषन ही तो करते आए थे। अज्ञेय ने इसे धर्म के स्थान पर 'टेक्नॉलजी' की भित्ति पर खड़ा किया, सत्य तक पहूँचने के लिए प्रयोगों को आत्मान्वेषन का आधार बनाया गया।" 'बुद्ध' कविता में अज्ञेय ने पराधीनता की जंजीरों में जकडी 'भारतीय आत्मा' की निराशपूर्ण उदगारों को यों व्यक्त किया है –

"ओ निर्बलते ! मैं ने कब कुछ मांगा तुझसे
आज शक्तियाँ मेरी ही फिर विमूख हुई क्यों मुझसे।"

'बंदी स्वप्न' कविता में भी पराधीन भारतीय जनमानस का उद्घाटन हुआ है।

अज्ञेय की कविताओं में उद्घाटित व्यक्ति केंद्रित मानववाद आगे चलकर मार्क्सवादी चिंतन में परिणत हो गए। लेकिन मार्क्सवाद के बुनियादी तत्व (व्यक्ति की उपेक्षा) अज्ञेय को स्वीकार्य नहीं था। वे व्यक्ति एवं व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा चाहते थे। मार्क्सवाद के वर्गबोध , वर्ग संघर्ष , अर्थ दर्शन, जीवन – दर्शन आदि से वे प्रभावित हुए। आधुनिक शोषणमूलक परिस्थितियों के प्रति उनके मन में जो विद्वेष था, वह मार्क्सवादी वर्ग चेतना का ही प्रभाव है। 'लौटे यात्री का वक्तव्य' शीर्षक कविता में शोषणमूलक परिस्थितियों के प्रति उनका आक्रोश व्यक्त है। खेत – खलीहानों में परिश्रम करनेवाले दरिद्र किसान की दयनीय स्थिति और अयोग्य शक्तिशाली शासकों का शोषण आदि का जीता-जागता वर्णन इस में द्रष्टव्य है ---

"सभी जगह
जो उपजाता है अन्न, पालता सबको
उसकी झुकीं कमर है।
सभी जगह
जिसकी मुट्ठी में ताकत है,
उसको भेजा है एक ओर भेड़िये ,
दूसरी पर मर्कट का।"

अज्ञेय की कविताओं में दुनिया को ग्रसित विद्रूपता और अस्तित्व की आकुलता को भी वाणी मिली है। यह आकुलता उनके कविमन को कभी निराशा की ओर नहीं ले जाती। जीवन के दुख – दर्द को स्वीकारने के लिए वे सदैव तैयार हैं। उनके अभिप्राय में दुख व्यक्ति को परिष्कृत बना देता है , और उसे स्वस्थ बना देता है। दर्द की भी अपनी दीप्ति है। ये पंक्तियाँ देखिए....

"दुख सबको माँजता है /और-
चाहे स्वयं को मुक्ति देता वह न जाने , किन्तु
जिनको माँजता है,

उन्हें वह सीख देता है कि सबको मुक्त रखे।

अज्ञेय में सामाजिक विषमता के प्रति गहन क्षोभ है। सत्ताधारियों के अमानवीय कृत्यों को वे ललकारते हैं। उनकी दृष्टि सदा वर्ग – चेतना पर केंद्रित है। 'बंदी स्वप्न', लौटे यात्री का वक्तव्य', जैसी वर्ग-चेतना की रचनाएँ युगीन परिस्थितियों की उपज है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से अस्वतंत्रता की निराशा के घोर तम में डूबे हुए भारतीय जनमानस को मुक्त करके उनमें आशा की रोशनी फैलाता है, और उनका कर्मपथ प्रशस्त करता है। 'जनवरी छब्बीस' इस तरह की एक कविता है।

"नागरिक, जय! प्रजा-जन, जय! राष्ट्र के सचे
विधायक, जय!
हम आलोक - मंजूषा समर्पित कर रहे है : और
मंजूषा तुम्हारी है
और यह आलोक तुम्हारे ही अडिग विश्वास का
आलोक हैं"

अज्ञेय की काव्य चेतना इंसानियत से जुड़ा है। लेकिन उन्हें घोर अहंवादी कहा जाता है। उनकी कुछ कविताओं में घोर अहंवाद दृश्यमान हैं। ये पंक्तियां देखिए --

"सब में मैं हूं, सब मुझमें, हैं,
सबसे गूँथा हुआ हूँ, पर जो
बींध गया है सत्य मुझे वह
वह उजली मछली है भेद गई जो मेरी ..।

अज्ञेय का यह अहंवाद वास्तव में 'मम' भाव है, जो बाद की कविताओं में 'ममेतर' की अनुभूति में डूब कर सत्य का दर्शन कराते हैं। उन्होंने अपने ममेतर भाव को मानव के हित केलिए समाजोन्मुख बना देने का सफल प्रयास भी किया है। 'यह दीप अकेला' शीर्षक कविता इस का उत्तम नमूना है। इस में व्यक्ति और समाज के बीच के संबंधों की व्याख्या हुई है। व्यक्ति अपनी समर्थता पर, अहं पर 'गर्व – भरा मदमाता' है। कवि केलिए यह अद्वितीय है। फिर वह अपने हृदयभाव को विकसित कर पंक्ति (समाज) में ही अपनी सार्थकता पाता है –

"यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता,
पर इसको भी पंक्ति को दे दो।"

अज्ञेय जीवन के अर्थ को वैयक्तिक स्तर पर स्वीकार करते हैं। जीवन सत्य उनकेलिए व्यक्तिगत ही है। जीवन की चारितार्थता उनकी अनुभूति के ताल पर होती है और यह अनुभूति व्यक्तिनिष्ठ है। उनकी व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति की तीव्रता से ओतप्रोत कविता को कुछ आलोचकों ने असामाजिक कहकर उसकी कटु आलोचना की है। 'यह दीप अकेला' कविता द्वारा उन्होंने अपने को असामाजिक या अहंवादी घोषित करनेवाले आलोचकों की आलोचना से मुक्त करा दिया।

अज्ञेय ने अपनी व्यक्तिवादिता को 'अहं' से मुक्त कर समाज केलिए उपयोगी बनाने की कोशिश अपनी रचनाओं द्वारा की है। 'मैं वहां हूं' कविता इसका उत्तम दृष्टांत है ---

"दूर दूर दूर .... सेतु हूं,
किन्तु शून्य से शून्य तक का सतरंगीं सेतु नहीं,
वह सेतु, जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है,
जो मानव को एक करता है।"

इस तरह 'अहं' का अंत व्यक्ति केलिए शुभदायक, और समाज केलिए हितकारी सिद्ध हुआ है।

उनकी सृजनशक्ति अपनी प्रतीक गठन क्षमता में निहित है। शब्दों के सामान्य अर्थ के परे ध्वन्यारत शक्ति पर कवि की प्रतीक परक या बिम्बपरक चेतना निहित है। 'साँप' कविता में शहरी जीवन की कपटता की विषमयता कवि ने स्वयं अनुभव किया है। इसमें कवि का अन्तश्चेतनागत छाया -बिम्ब सांप के रूप में कविता में प्रविष्ट हुआ है –

"साँप!
तुम सभ्य तो हुए नहीं
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया।
एक बात पूछूँ –(उत्तर दोगे?)
विष कहाँ पाया?"

इस प्रकार सूर्योदय और सूर्यास्त को भी कवि ने बिम्ब के द्वारा व्यक्त किया है। सूर्योदय कवि केलिए 'जयतिलक' है। सूर्यास्त के समय सागर में तरंगें उठती नहीं बल्कि –

"यह सूरज का जपा फूल
नैवेद्य चढ़ चला
सागर हाथों
अम्बा तिमिरमयी को।"

अज्ञेय की कविताओं में बिम्ब के समान प्रतीक भी अनुभूति से अनुप्राणित होकर काव्य का अटूट अंग बन गया। उनकेलिए प्रतीक काव्य का प्राणभूत तत्व ही है। 'कलगी बाजरे की' शीर्षक कविता में कवि ने यह स्पष्ट किया है –

"ये उपमान मैले हो गए है।
देवता इन प्रतीकों के कर गए है कूच।"

'बावरा अहेरी' कविता में भी प्रतीक योजना का सुंदर दृष्टांत देख सकते हैं। 'बावरा अहेरी' प्रतीक है, सूर्य का, जो अपनी आलोक की कनियों से सब को अपने जाल में समेटकर बाँध लेता है। देखिए –

"बावरे अहेरी रे
ले, मैं खोल देता हूं कपाट सारे
मेरे इस खंडहर की शिरा-शिरा छेद दे
आलोक की कनी से अपनी,
गठ सारा ढाह कर ढूह भर कर दे:"

वास्तव में अज्ञेय की कविता में हर प्रतीक एक नई भंगिमा को लेकर ही सामने आता है। इस प्रकार सूर्य, दीप, सागर, नदी, द्वीप, वीणा, साँझ आदि अनेक परंपरागत प्रतीकों को उनकी रूढ़ीगत अर्थ को छोड़कर बिल्कुल नए संदर्भ में प्रयुक्तकर अज्ञेय ने अपने प्रयोगधर्मिता को व्यक्त किया है।

अज्ञेय की कविता में मिथकों की ओर भी विशेष आभिमुख्य दृश्यमान है। आधुनिक परिवेश में नए अर्थ में मिथकों को प्रस्तुत करने में वे सिद्धहस्त थे। 'असाध्य वीणा' शीर्षक अपनी लंबी कविता में कवि ने कुछ मिथकीय प्रतीकों को अपनाया है। पौराणिक मिथकों के माध्यम से आधुनिक जीवन – संदर्भों को प्रस्तुत करने का प्रयास कविता में है। इसमें कवि ने अपनी आत्मा को अशेष सृष्टि के हाथों में सौंप दिया है। इस वीणा के मौन में ही झंकृति है। सबने अपनी – अपनी भावना के अनुसार उसके स्वर सुने। कवि की मिथकीय संवेदनशीलता एवं अनुभूति की तीक्ष्णता अद्वितीय है। देखिए..।

"पर उस स्पंदित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा –
नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में –
वीणा के माध्यम से अपने को मैं ने
सबकुछ को सौंप दिया था –
सुना आप ने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :"

असाध्य वीणा के द्वारा अज्ञेय ने अपनी परंपरा से सिद्ध निर्वैयक्तिकता के सिद्धांतों का समर्थन भी किया । इस प्रकार अज्ञेय की कविताओं में साक्षात्कृत आदिबिम्बों ,प्रतीकों एवं मिथकीय तत्वों के कारण उनका कृतित्व पूर्ण रूप से परंपरा से सम्बद्ध रहता है, और पूर्ण चैतन्ययुक्त हो गया है। अतः उनकी कविताएँ कालिकता के छोटे दायरे को छोड़कर कालातीत गरिमा का अधिकारी बन गया है ।

निष्कर्ष

अज्ञेय की काव्य संवेदना छायावादी भावभूमि से शुरू होकर अपनी कल्पना वैभव एवं प्रयोगधर्मिता से परिपुष्ट हुई है ।छायावादी विचारधारा से आरंभ कर प्रगति – प्रयोगधर्मी रचनाकार के रूप में अपने को स्थापित करने केलिए उन्हें अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा। वास्तव में अज्ञेय 'राहों के अन्वेषी' थे, जिन्होंने अपनी रचनाधार्मिता के ज़रिए सत्यान्वेषण किया है। उनका व्यक्तित्व सर्जक का व्यक्तित्व ही था। उन्होंने अपनी कविता को सृजनात्मक आनंद- साधना माना है। उनकी कविता मम से ममेतर की ओर की यात्रा ही है , जिसमें अहं का विलयन द्रष्टव्य है। संक्षेप में कह सकते है कि अज्ञेय अपनी कविताओं में नए बिंबों, प्रतीकों, एवं मिथकों को स्वीकारकर आधुनिक युग के बुद्धिवादी प्रेषकों की काव्यानुशीलन में पाथेय बन सकी है।

संदर्भ :

१.आज के लोकप्रिय कवि अज्ञेय : (सं) विद्यानिवास मिश्र . राजपाल & संस,दिल्ली
२.मिथक और हिन्दी कविता : शम्भूनाथ : नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
३.अज्ञेय का काव्य : एक विश्लेषण : दुर्गाशंकर मिश्र : हिन्दी साहित्य भंडार
४. अज्ञेय : पूर्वा (काव्य संग्रह) : राजपाल & संस , दिल्ली
५.अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय : भारतीय ज्ञानपीठ , काशी
६.अज्ञेय : हरी घास पर क्षणभर : : राजपाल & संस , दिल्ली
७. अज्ञेय : बावरा अहेरी : भारतीय ज्ञानपीठ,काशी
८. अज्ञेय : इंद्रधनुष रौंदे हुए थे : सरस्वती प्रेस , इलाहाबाद
९ .अज्ञेय : कितनी नावों में कितनी बार : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१०.अज्ञेय : आँगन के पार द्वार : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
११. श्रीमद भगवद्गीता

'राम की शक्ति पूजा' मनोभावों की समग्रता का प्रबल साक्ष्य

-डॉ.त्रिनेत्र तिवारी
हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली-11007
मो.7503136745

'राम की शक्ति पूजा' निराला की ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी कविता की महान उपलब्धि है। अधिकतर आलोचकों ने उसके भाषिक-विधान की ही चर्चा की। रामनरेश त्रिपाठी ने इसकी भाषा को बिच्छू झाड़ने का मंत्र कहा तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे निराला की संस्कृतनिष्ट भाषा का नमूना बताया। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'राम की शक्ति पूजा' और 'सरोज-स्मृति' को निराला की श्रेष्ठ कविता मानते हुए लिखा-"इनमें भाषा अद्भुत प्रसार पाठक को निरन्तर व्यस्त बनाये रखता है।"[1] निराला रचित,"राम की शक्ति पूजा" घोर निराशा वाली पंक्तियों,"रवि हुआ अस्त" के साथ शुरू होती है और जब समाप्त होती तो,"होगी जय,होगी जय हे पुरुषोत्तम नवीन" का जयघोष होता है।

राम की शक्ति पूजा मनोभावों की समग्रता का प्रबल साक्ष्य है।कविता का प्रारंभिक स्वर निराशा और हताशा का भाव समेकित किए हुए है।अनीति जब नीति पर हावी होने लगती है तब प्रथम प्रहार धैर्य की ढाल पर होता है।राम नीति और न्याय के प्रतीक हैं और रावण के साथ हो रहा अपराजेय युद्ध उनके धीर पर प्रबल प्रहार कर रहा है।निराला ने नीति-अनीति के द्वंद से उपजे वातावरण और मनःदशा को प्रतिबिंबित करने के लिए प्रकृति के संकेतो का कुशल कलाकार की भांति प्रयोग किया है।।एक ओर जहां युद्ध अनिर्णीत है वहीं रवि हुआ अस्त के साथ गोधूलि की बेला का भी वर्णन है।वहां न तो दिन है ना ही रात।न तो घोर अंधकार है ना ही प्रकाश।सब कुछ अस्पष्ट और धुंधला सा है।राम जो आज तक कभी हताश नहीं हुए आज उनका विश्वास धुंधले आवरण से आच्छादित है।

"प्रशमित है वातावरण,नमित मुख सांध्य कमल" [3]

राम की चेतना पर अनिर्णय और किंकर्तव्यविमूढ़ता का मायावी आवरण आच्छादित है और अपने नायक के हताश होने से सेना के उत्साह पर थकान का भाव हावी होने लगा है।इस घनीभूत होती हताश और निराशा को अनुभूत कर निराला लिखते हैं -बच्चन सिंह ने लिखा है -"आर्थिक, गृहस्थ, समाजिक, साहित्यिक युद्ध में पराजित निराला अपनी मनोदशा को बदलने और पराजय के बोद्ध को फेंकने के लिए नये मार्ग का और अन्वेषण कर रहे थे।वे नये सिरे से एक युद्ध करना चाहते थे। इसके लिए उन्हें 'राम की शक्तिपूजा' का 'ऑब्जेक्टिव कोलेटिव' मिल गया।"[4] "है अमानिशा,उगलता गगन घन अंधकार"[5] कविता का तीसरा बन्द "है अमानिशा" से आरंभ होता है- तीन शब्दों से ही। अमानिशा की भयंकरता को कई बिंबो में चित्रित किया गया है- 'आकाश अंधकार उगल रहा है, पवन संचार बन्द है, पीछे विशाल सागर गरज रहा है, पहाड़ समाधिस्थ है, केवल मशाल जल रही है।' फिर वही अंधकार-प्रकाश का द्वन्द्व। 'केवल जलती मशाल' एक ओर रात्रि की भयंकरता को बढ़ा रही है तो दूसरी ओर अंधकार में प्रकाश का एक वृत्त बना रही है। यह सब भीतर-बाहर दोनों स्तरों पर घटित हो रहा है। ऐसे ही 'क्षण अंधकार घन' में कुमारी सीता की छबि विद्युत की तरह कौंध गयी। सौंदर्य का चिर-परिचित विस्तार। इस सौंदर्य ने उनके मन में विश्व-विजय-भावना भर दी। इसी के समानान्तर उन्हें आने जोतिर्मय वाणों का भीमा मूर्ति में बुझना भी दिखाई पड़ा और 'लख शंकाकुल हो गये अतुल बल शेष शयन।'[6] इस हताशा-निराशा-किंकर्तव्यविमूढ़ता से उपजे घोर नैराश्य भरे मन के बीच सीता के रूप एक ज्योतिर्मय संबल का क्षीण प्रकाश भी प्रदीप्त है।सीता उस सम्बल का प्रतीक है और रावण अनीति-अनाचार का।राम अपने संबल को अनीत-अनाचार से घिरे हुए देख कर व्यथित हैं।**स्थिर राघवेंद्र को हिला रहा फिर-फिर संशय,रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय।।**[7]

राम और अधैर्य दोनों एक दूसरे के विलोम हैं।जहां राम हैं वहां अधैर्य-अविश्वास-अनीति नहीं है।दोनों एक दूसरे के विपरीत ध्रुव हैं।राम जीवन में कभी अधीर नहीं हुए।राजतिलक की तैयारी के ठीक पहले उन्हें वनवास मिलता है लेकिन उनके मन में

किसी प्रकार का कोई परिताप नहीं है।राम अपनी माता को सम्बल देते हुए कहते हैं,"पिता दीन्ही मोहे कानन राजु"।लेकिन आज राम हताश और अधीर है,रावण ने सीता के रूप में उनका सम्बल हर लिया है।

जो नहीं हुआ आज तक हृदय रिपु-दम्य-श्रांत-/एक भी,अयुत लक्ष में जो रहा दुराक्रांत,/कल लड़ने को हो रहा विकल वो बार-बार,/असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार हार।।[8]

सीता,राम के व्यथित मन के लिए इतनी बड़ी शक्ति हैं कि इस विषम स्थिति में सीता का ध्यान राम की घनघोर अंधकार भरे मन में ज्योति की एक छोटी सी किरण का संचार कर देता है।**ऐसे क्षण अंधकार घन में जैसे विद्युत/जागो पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि,अच्युत**[9]लेकिन कविता में केवल हताशा ही नहीं है हनुमान के रूप में बल और जाम्बवन्त के रूप में चेतना का स्वर भी उदीयमान है। 'ये अश्रु राम के' आते ही मन में विचार,

उद्वेल हो उठा शक्ति- खेल- सागर अपार,[10]

हनुमान शक्ति का प्रतीक हैं और नीति की स्थापना के लिए वे बहुत अधिक आंदोलित हैं दूसरी और जाम्बवन्त विवेक का धैर्य और प्रतीक हैं।विभीषण संबल का पर्याय हैं।हनुमान के ऊर्ध्वगमन की सार्थकता को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इसे अति प्राकृत तत्व कहते हैं। नंदलारे वाजपेयी के मतानुसार यह बैलेड की विशेषता है। शक्तिपूजा की संरचना में खप नहीं पाता। वस्तुतः यह निराला के विभाजित व्यक्तित्व का एक अंश है। राम का मन भी द्विधा विभक्त है। हनुमान 'मर्यादा पुरुषोत्तम के सर्वोत्तम, अनन्य' हैं। हनुमान का उद्वेलन राम का वह मन है जो नहीं थका है। विक्षेप काल में निराला का यही ऊर्ध्वगमन उनको रचनात्मक बनाये रहा।11जब राम निराश होते हैं तो विभीषण राम को नैतिक बल और साहस देते हैं विभीषण का परामर्श वैसा ही है जैसा आज के किसी नेता का अर्थहीन ओजस्वी भाषण।

राम का विषण्णानन देखते हुए कुछ क्षण, **"हे सखा", विभीषण बोले, "आज प्रसन्न वदन/वह नहीं, देखकर जिसे समग्र वीर वानर—/भल्लूक विगत-श्रम हो पाते जीवन—निर्जर;/रघुवीर, तीर सब वही तूण में हैं रक्षित,/है वही वक्ष, रण-कुशल हस्त, बल वही अमित,**[12]

विभीषण के संबल के बाद भी जब राम उस घोर तिमिर से नहीं निकल पाते तब धैर्य और विवेक के प्रतीक जाम्बवन्त राम को ऊर्जान्वित करते हैं अजर कहते हैं

आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर, तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर;[13]

इसी चेतना के साथ राम के घोर निराशा वाले मन में चेतना का दीप प्रदीप्त होता है,राम अब आशान्वित हैं,अपनी विजय को विश्वस्त हैं।

बोले आवेग-रहित स्वर से विश्वास-स्थित—

मातः, दशभुजा, विश्व-ज्योतिः, मैं हूँ आश्रित;[14]

नीति की स्थापना के लिए की जाने वाली साधना के लिए राम प्रतिबद्ध हैं लेकिन उनके मन का एक कोना बाधाओं को लेकर आशंकित भी है यही उन्हें विचलित भी करता है।**धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,/धिक् साधन, जिसके लिए सदा ही किया शोध!/जानकी! हाय, उद्धार प्रिया का न हो सका।"**[15]

लेकिन राम के मनोभावों का एक और पक्ष है जो उनको धैर्यवान और मजबूत बनाता है,उनकी चेतना को प्रदीप्त करता है।

वह एक और मन रहा राम का जो न थका;/जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,[16]

यह कथा राम पर केंद्रित है लेकिन यह महाप्राण निराला के संघर्षो से भरी आत्मकथा होने के साथ ही समाज के हर संघर्षरत और जुझारू व्यक्ति के जीवन को भी प्रतिबिंबित करती है।जीवन बाधाओं और अभावों से भरा हुआ है,संघर्ष में कई बार अकेलापन भी अनुभूत हो सकता है परन्तु जिस व्यक्ति ने उस एकाकी में अपने धैर्य और विश्वास को बनाये रखा उसी ने इतिहास स्थापित किया है।निर्विवाद रूप से जीवन में समस्याएं हैं लेकिन उन समस्यायों का हल भी है,कविता में निराशा का संचार है तो आशा के सम्बल भी है। 'राम की शक्ति पूजा' ऊपर से अन्य पुरुष-प्रधान होने के कारण आख्यानपरक दिखती है, पर उसकी भीतरी संयोजन को ध्यान से पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसमें राम के अनेक रूपों का ही अंतर्द्वंद मुख्य प्रतिपाद्य है। पूरी कविता एक प्रकार से राम और राम की शक्ति के बीच संवाद है- इसीलिए इसमें तीन मुख्य नाटकीय लक्षण हैं। जो भी ब्यौरे इसमें दिये गये हैं, वे बहुत थोड़े-से हैं और बहुत स्पष्ट और स्थिति की गम्भीरता के अनुकूल परिवेश भी इसी गुरुता के अनुकूल है। ध्वनि-संरचना बहुत नियमित है, छन्द घनाक्षरी ही प्रायः है, जहाँ कहीं उसमें भंग है, वहाँ नाटकीय मोड़ ही उपलक्षित है, उसमें तुक-संरचना भी निमित है।

राम की शक्तिपूजा महाप्राण निराला की आत्मकथा का पुट लिए हुए राम के संघर्षमय जीवन पर केंद्रित है,लेकिन जब इसका सामान्यीकरण किया जाय तो ये कविता प्रत्येक युग के नायक से जुड़ी हुई तथा आम जनमानस के मनोभावों को स्पंदित करती हुई सी प्रतीत होती है।राम की शक्ति पूजा में राम के जीवन के साथ सतयुग के हरिश्चन्द्र से लेकर आधुनिक समय के गांधी के संघर्ष की झलक भी दिखाई देती है साथ ही अपने युग की दैनिक समस्याओं निरन्तर जूझ रहे आम जन के पीड़ित मन पर मलहम की तरह राहत पहुंचाने के साथ उसकी चेतना को ज्योतिर्मय भी करती है। सभी रचना अपने समय को अपनी भाषायी विविधता में दर्ज करती हैं। कवि केवल अन्तर्वस्तु ही नहीं, काव्यात्मक बिम्ब का चुनाव भी अपने समय के भीतर से करता है। लेकिन वह अपने पाठ की धुरी पर ही पृथ्वी की तरह कालचक्र में यात्रा करती है। यही क्षमता किसी रचना की श्रेष्ठता को उत्कर्ष तक पहुँचाती है। 'राम की शक्ति पूजा' में औपनिवेशिक भारत की पराधीनता का घोर अंधेरा और 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति की ऐतिहासिक वास्तविकता को दर्शाती है। अंधकार की ताकत अधिक संगठित हुई है और दीपक की बाती धीमी पड़ रही है। 'राम की शक्ति पूजा' में राम अंधेरपन से घिरे हुए थे -लेकिन उनके पास एक संकल्प से भरा ऊर्जावान मन भी था। धर्म, नीति , मूल्य और माता सीता की मुक्ति के सपने जिंदा थे। आत्मशक्ति की नयी किरण हमारी प्रतिक्षा कर रही है।'राम की शक्तिपूजा' केवल राम की कथा न होकर युगनायकों के संघर्ष का प्रतिबिंब और जनमानस का वृत्तिचित्र भी है। इस कविता में सुख-दुख, आशा-निराशा, हार-जीत, क्रोध-क्षमा सब का सम्मिश्रण है।

संदर्भ :-

1- कविता का परिसर एक अन्तर्यात्रा-रामेश्वर राय ; प्र. वाणी प्रकाशन ; पृ.११

2- हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास ; बच्चन सिंह ; राधाकृष्ण प्रकाशन ; पृष्ठ-352।

3- राग-विराग : सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : संपादक-रामविलास शर्मा ; लोकभारती प्रकाशन ; पृष्ठ -93।

4- हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास ; बच्चन सिंह ; राधाकृष्ण प्रकाशन ; पृष्ठ-352।

5-राग-विराग : सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : संपादक-रामविलास शर्मा ; लोकभारती प्रकाशन ; पृष्ठ -93।

6-हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास ; बच्चन सिंह ; राधाकृष्ण प्रकाशन ; पृष्ठ-353

7-राग-विराग : सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : संपादक-रामविलास शर्मा ;लो.प्र.पृ.94

8-वही पृष्ठ-94

9-वही पृष्ठ-94

10-वही पृष्ठ-95

11-हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास ; बच्चन सिंह ; राधाकृष्ण प्रकाशन ;पृष्ठ-353

12-राग-विराग : सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : संपादक-रामविलास शर्मा ;लो.प्र.पृ.97

13- वही पृष्ठ- 100

14- वही पृष्ठ- 100

15- वही पृष्ठ- 103

16- वही पृष्ठ- 103

17- निराला की कविताएं (मूल्यांकन और मूल्यांकन) , संपादन- परमानन्द श्रीवास्तव, नीलाभ प्रकाशन ; पृष्ठ-63-64

विष्णु प्रभाकर के स्वगत नाट्य (मोनो लॉग) का शिल्पगत अध्ययन

-डॉ.कल्पना मौर्य

अध्यक्ष,हिंदी विभाग,

उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)

गांधी विद्या मंदिर,

सरदार शहर (चुरु),राजस्थान

प्रस्तावना : विष्णु प्रभाकर एक सजग रचनाकार है। उन्होने रेडियो नाटकों को किसी एक धारा में बहने नहीं दिया, बल्कि वे तरह तरह के प्रयोग नाटक के कथ्य और शिल्प में करते रहे है। उनके जैसा प्रयोगधर्मी नाटककार हिन्दी में कोइ दूसरा कदाचित ही हो। रेडियो नाटककार के स्वरूप् मे वे अद्वितीय हैं। विष्णु प्रभाकर के रेडियो स्वगत नाट्यों का हिन्दी के रेडियो नाटय साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। रेडियो के लिए अपने यहां जो स्वगत नाटय लिखे गये है, उनकी संख्या बहुत कम है। सफल और प्रभावशाली स्वगत नाटयो की संख्या तो और भी कम है। इस दृष्टि से प्रभाकर के नाट्यो का हिन्दी के रेडियो नाटय साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्य नाटकों की तुलना में स्वगत नाटय लेखन कठिन है। प्रारम्भ से अन्त तक एक ही पात्र बोलता है। उसमें नाटकीयता बने रहे, श्रोताओं का मन कही न ऊबे इसलिए बड़ी सर्तकता और कुशलता अपेक्षित है।

कुंजी शब्द:- स्वगत नाट्य, मोनोलॉग, प्रयोगधर्मी, अद्वितीय, प्रभावशाली, एकपात्री, सतर्कता।

विष्णु प्रभाकर इस दिशा मे बहुत सजग दिखते है। उन्होने चार मनोलॉग लिखे है। ''सड़क'', धुआ, नये पुराने, नही नही नही, इन सभी में यह ध्यान रखा गया है कि यह भावात्मक प्रलाप न रह जाये, इसलिए इसमें नाटकीय कथानक रखने का प्रयत्न किया गया है। इसके मुख्य पात्र ऐसे चुने गये है, जिनमें मन में किसी न किसी प्रकार का द्वन्द्व है। ''सड़क'' की नायिका जिसको अपना बनाना चाहती थी वह अपना नहीं बन सका उसके पति का मित्र बन गया - प्रेमी की स्मृतियां नायिका के मन में बार बार आती है। और उसे लगता है कि वह अपने पति के प्रति विश्वास घात कर रही है। ''नये पुराने'' के मां अपने बेटे के विवाह के बाद उसकी तरफ से आंख फेर लेती है। माँ विगत जीवन के संबंध में सोचती है। कि वह भी जब नव दम्पति थे बड़ो की आंखो की किरकिरी बने हुये थे। और बेटे के समान उन्होनें भी अपना अलग घर बसा लिया था। पुत्र का चित्र देखकर मां अपनी अन्तः प्रवृतियों का विश्लेषण करती है। और अन्त में यह निर्णय लेती है कि पुराने बंधनों को तोड़कर नये बंधन बनाना मनुष्य के लिए स्वभाविक है। ''धुआं'' का नायक प्रबोध अपने बीते जीवन की याद करता है मंजरी मित्र के प्रति विश्वास पात्र होने के कारण समाज द्वारा शैतान समझा जाकर यह नीरजा से विवाह कर लेता हैं एक दिन नीरजा से लड़कर वहां से चले जाने पर प्रबोध अपने विगत को याद करता है। इस प्रकार श्रोताओं को ज्ञान हो जाता है कि चरित्र विशेष के जीवन में इसके अपने कथोपकथन प्रारंभ करता है। कुछ समय बाद वह वर्तमान में लौट आता है। और नीरजा के संबंध में सोचने लगता है। उसके मन में यह विचार उठता है कि जिस प्रकार वह मंजरी से प्रेम करने लगा था। वैसे ही नीरजा भी किसी से प्रेम करती है। इसी सोच पर पुरूष का स्वार्थ हुंकार उठता है। और नीरजा के लौट आने पर उस पर अपना एकाधिकार प्रकट करता है।

''नहीं नहीं नहीं'' का प्रारंभ नाटकीय है। विनोद अपने मित्र के घर जाता है। और वहाँ एकांत मे शराब की बोतल देखकर वह अर्न्तसंघर्ष में पड़ जाता है। क्योंकि एक और तो उसने शराब न पीने की प्रतिज्ञा की है और दूसरी और शराब पीने की लालसा उसके दिल मे जग उठती है। इस स्थिति से उबरने के बाद वह निश्चय करने में सफल होता है और उसके द्वन्द्व की ''समाप्ति'' मैं में शराब नहीं पी सकता, नही पी सकता। नही, नही, नही शब्दों के साथ हुई है।

स्वागत नाट्य परिभाषा और शिल्प: इसे अंग्रेजी में मोनो ड्रामा लॉग कहते है। इसमें एक पात्र रंगमंच पर आकर अपने स्वगत भाषण तथा कार्य व्यापार से समूचे एकांकी को समाप्त करता है। संस्कृत ''आकाश भाषित'' नामक नाटक का एक प्रकार ऐसा ही है। जिसमें एक ही पात्र बोलता है। स्वगत नाटक को एक पात्रीत एकांकी भी कहते है।

इसे विष्णु प्रभाकर ने सपोक्ति तथा एक पात्रीत एकांकी मानते हुये लिखा है '' ....कि किसी पूर्व घटना को लेकर पात्र अपनी उलझी अन्तः प्रवृतियों का विश्लेषण करता है। इसकी कथा वस्तु सुसम्बद्ध नही होगी। लेकिन भावना की सघनता अनिवार्य है। रंगमंच पर उपस्थित किसी वस्तु या मूक पात्र को लक्ष्य करते हुये भी विश्लेषण किया जा सकता है'' उसमें एक ही चरित्र उपस्थिति के कारण स्वगतनाटक, एक पात्रीय नाटक, एकल नाटय स्वोक्ति नाटक तथा मोनो ड्रामा आदि नामों से अभिहित किया जाता है। ''चिरंजीव कहते है कि रेडियों शिल्प के अनुसार रचित एकपात्री नाटक रेडियो पर अभिनीत होकर संजीव और साकार हो उठे। विष्णु प्रभाकर के शब्दों में ''मंच पर मोनोलॉग का युग आज नही रहा पर आकाशवाणी में इसको पुनर्जीवन मिला है।

पात्र एवं भावाभिव्यक्ति : भावों की सफल अभिव्यक्ति के बिना मोनोलॉग के बिना मोनोड्रामा सफल नही हो सकता। अतः वाणी में ओज घ्रणा आवेश, प्रेम, लज्जा भय, आश्चर्य, विषाद, हर्ष उपस्थित करना कोई साधारण कोटि के अभिनेता का कार्य नही है। विष्णु प्रभाकर के मोनोड्रामा में एक ही दृश्य रहता है। एक ही साथ कमरे में सम्पूर्ण नाटक घटता है। अधिकतर पात्र भावों की व्यंजना ही करते है किन्तु क्या जहां कही भी कही गई है। वहां वह सुसम्बद्ध है। मोनोड्रामा का पात्र विशेष मानसिक आन्दोलन के मध्य घिरा हुआ मंच पर प्रवेश करता है। वह पात्र बहुत शीघ्र तथा तटस्थ बनकर जीवन के दार्शनिक स्तर पर व्याख्या करने लगता है। कभी अपनी मानसिकता को आत्मगत स्तर पर झेलता हुआ अभिभावुक बन जाता है।

संघर्ष योजना: विष्णु प्रभाकर ने अपने मोनोलॉग में इन्द्र की उपस्थिति कर कथा वस्तु को नाटकीय बना दिया है। ताकि वे केवल भावात्मक प्रलाप बनकर न रह जाये। विष्णु प्रभाकर के मोनोलोग के संबंध में लिखते है। ''सभी स्वागत नाट्य संघर्ष की स्थितियों पर आधारित है यह क्षण विशेष की तीव्रता पर केन्द्रित है। इनमें अवधि का तनिक भी विस्तार नहीं है। पात्र जितने मिनटो तक सोचते है। उतने ही मिनटों में नाटक समाप्त हो जाता है। लेखक ने सर्वत्र विविधता का ध्यान रखा है।

भावों की भावनाओं की सामान्यतः एवं तीव्रता की गति का, बोलने की गति का लेखक ने ध्वनि प्रभावों और शांति का भी उपयोग किया है। इन्हीं कारणों से इनमे प्रारंभ से अंत तक आकर्षक बना रहता है।

मोनोलॉग में अर्न्तद्वन्द्व का अंकन किया जाता है। मोनो लॉग में नाटक का अपेक्षित द्वन्द्व है। वह पढने के लिये नहीं, अभिनय के लिए रखा जाता है। और कोई कुशल अभिनेता नाटकीय ढंग से पढकर हमे प्रभावित कर सकता है। मोनोलॉग में सामान्यतः किसी ऐसे पात्र को उपस्थित किया जाता है, जिसका जीवन कुछ विरोधी भावनाओं के ताने बाने से बुना हुआ होता है उलझनपूर्ण व्यक्तित्व वाले पात्रों के जीवन की किसी मार्मिक कथा को मोनोलॉग में अंकित किया जाता है उदारहण के लिये ''सड़क'' की नायिका को देख सकते है। जिसे वह अपना बनाना चाहती है, वह अपना नही बन सका, उसके पति का मित्र बन जाता है। नायिका का विवाह हो चुका है, वह चाहती है कि उस युवक को वह भूल जाये, जो उसका अपना नही हो सका, लेकिन ऐसा हो नही पाता, उस युवक की स्मृतियां उसके तन में बार बार उमड़ कर चली आती है। तब उसे लगता है, जैसे वह अपने पति के प्रति विश्वासघात कर रही है। स्वयं उसके शब्दो में ''जिसे अपना बनाना चाहती थी, उसे न बना सकी और जिसने मुझे अपना बनाया उसके प्रति भी विश्वासघात करती हूं। विश्वास घात हाँ विश्वासघात...........! नहीं कैसे \ उसकी याद करना खिड़की पर आकर रोज सड़क को देखना यह अपने पति के साथ विश्वासघात नही तो और क्या है \ नहीं, नहीं, मैं उनके प्रेम करती हूँ। मैं उनसे विश्वासघात नहीं कर सकती। ''उसके मन की उलझन स्पष्ट है उसके हृदय की दो विरोधी भावनायें आपस में टकरा रही है।

कथोपकथन: स्वागत नाटक में कोई कथोपकथन नहीं होता । प्रारंभ से अन्त तक केवल एक ही व्यक्ति अपनी कहानी कहता है तथा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। मोनोलॉग में कथोपकथन का नितान्त अभाव है। नाटक में विभिन्न पात्र परस्पर वार्तालाप करते है, मोनोलॉग में एक ही पात्र की विभिन्न भावनायें आपस में कथोपकथन करती है। मोनोलॉग के नाटक कहा जाना इस दृष्टि से बिलकुल सार्थक है। लेखक की भाषा बड़ी शसक्त है। भावात्म संघर्ष के स्थलों पर इसकी शक्ति देखने में आती है, ऐसे अनेक स्थल नाटकों में आये है, जहां विरोधी भावों का संघर्ष बड़ा तीव्र हो गया है, उदारहण स्वरूप ''धुआं'' का स्थल उद्धृत किया जा सकता है।

प्रबोध: वह दूसरी ही पत्नी थी। वी छिपाकर मेरे पत्र पढा करती थी। वह मुझसे प्रेम करती थी...............(क्षणिक शांति) वह मुझसे प्रेम नहीं करती थी तो.............वह खिंचवा क्यों था \ (आवेग बढता है) क्यों वह मेरे बिना तड़पती थी क्यों उसके पात्रों में उसके हृदय की कराहट छिपी रहती थी \ क्यों.........क्यों, आखिर (आखिर संगीत उभरता है, धीमा पड़ता है) क्यों का जवाब जानना चाहते हो......सुनो, वह मेरी और इसलिये खिंच रही थी, उसे अपने पति से नहीं मिला था जो वह चाहती थी, उसकी इच्छाऐं पूरी न हो पायी थी और वह उसे पूरा करना चाहती थी...............वह मुझसे प्रेम नही करती थी (उतना ही आवेष नहीं करती थी) नहीं करती थी (संघर्ष संगीत) करती थी। (संगीत तेज होकर बंद होता है क्षणीक शांति फिर धीरे धीरे बोलता है) यह मुझ से क्या हो गया है।

भाषा:कला की दृष्टि से भी विष्णु प्रभाकर के मोनोलॉग सफल है। भाव बड़े सषक्त और भाषा भावानुरूप है। भावात्मक संघर्ष के स्थलों पर उसकी शक्ति देखी जा सकती है। डा. दुर्गा दीक्षित ने एक नाटक की भाषा के संबंध में लिखा है। पूरा नाटक काव्य के स्तर पर चलता हुआ सा प्रतीक होता है। अतः नाटककार के पास कभी तो शक्ति एवं अभिव्यक्ति कुशलता का होना आवष्यक माना जाता है। उसके पास चरित्र के अंतरतम को शब्दबद्ध करने की क्षमता होनी चाहिए।

''सड़क'' की गायिका अपने अन्तकरण के भावों को व्यक्त करने के लिये गीत गाती है। तथा 'नही, नही, नही का विनोद भी शराब पीने का औचित्य, सिद्ध करने के लिए शायरी का सहारा लेता है। सरल छोटे प्रवाहमयी वाक्य आष्चर्य चमत्कार खोज एवं आशंका को व्यक्त कर देने वाले है। गतिशील चित्रात्मक शब्दों का प्रयोग दर्शनीय है।

''एकदम) अरे, अरे, वह तांगा (मोटर की तेज आवाज) सवारियां कूदी पर वह औरत और उसका बच्चा गिर वह बच्चा गिर गया अरे अरे वह उसे कुचल देगी, (मोटर का तेजी से रूकना चीख) पर यह क्या\ यह एक युवक तेजी से लपका और बच्चे को उठा ले गया। विराम ओह, वह मां कैसे रो रही है। कैसे उस युवक की बलायेंले रही है। वह मां है (विराम) ओह कितना भयंकर कितना रोमांचिक नजारा है। ''इस प्रकार पात्र की वेदना अभिव्यक्त करने वाली भाषा भी सार्थक है। वाक्यों के दोहराने से भाव में सघनता आयी है, और सुपरिचित तथ्य पर आधारित सभी मोनोड्रामा मर्म व्यजना से पूर्ण है।

संगीत:

ध्वनि प्रभावों के अतिरिक्त मोनोलांग को प्रभावोत्पादक बनाने मे संगीत का भी बहुत अधिक हाथ है। भावनाओं को व्यंजित करने वाले पृष्टभूमि संगीत से मोनो लॉग में प्रभावेत्पादकता लायी जा सकती है। स्थान स्थान पर ''शांति'' का भी उपयोग किया जा सकता है। ये सभी साधन रेडियो नाटक के सभी प्रकारों के लिये आवश्यक है, पर मोनोलॉग में कथोपकथन की कमी की पूर्ति के उद्देश्य से इन पर विशेष ध्यान दिया जाता है।''विष्णु प्रभाकर ने समुचित निर्देश ध्वनि प्रभाव एवं संगीत की योजना कर उन्हे परिष्कृत रूप प्रदान किया है। स्वगत के माध्यम से ही चरित्र विकसित हुये है। संवाद दो स्थलों पर प्रयुक्त हुये है, किन्तु पात्र दो नही है, अपितु एक ही पात्र विगत में हुये वार्तालाप को दोहराता है। इस प्रकार अतीत की स्मृति के लिये संवादों का प्रयोग ''धुआ'' तथा ''सड़क'' में देख सकते है।

समग्रतः विष्णु प्रभाकर के मोनोड्रामा में विरोधी भाव स्थितियों के क्रमिक उतार चढाव को व्यक्त करने के लिए भाषा की शब्दार्थ क्षमता का उपयोग कर मार्मिक स्थलों का ही स्पर्श किया गया है।

निष्कर्ष:

विष्णु प्रभाकर ने रेडिया स्वगत नाट्यो का हिन्दी के रेडियो नाटय साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होने सर्वत्र विविधता का ध्यान रखा है, भावो की, भावनाओं की समान्यता और तीव्रता की बोलने की गति की विष्णु प्रभाकर ने ध्वनि प्रभावों और शांति का भी उपयोग किया हैं। लेखक की भाषा वही सशक्त और भावानुरूप है। भावात्मक संघर्ष के स्थलों पर इसकी शांति देखने में आती है।

संदर्भ:

1.डॉ. रमेश तिवारी: हिन्दी एकांकी स्वरूप का विश्लेषण, स्मृति प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 1973

2.विष्णु प्रभाकर: सृष्टि की खोज, भूमिका, संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1973, पृ. 8

3.श्री चिरंजीत: स्वातंत्र्योत्तर एकांकी और रेडियो नाटक (लेख) हिन्दी साहित्य, सम्पादक महेन्द्र भटनागर, पृ. 115

4.विष्णु प्रभाकर: दस बजे रात - दो शब्द, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1959

5.सिद्धनाथ कुमार- हिन्दी एकांकी, शिल्पविधि का विकास, पृ. 274-275

प्रेमचंद और आज का भारत : किसान विमर्श के संदर्भ में

-डॉ.वैशाली गायकवाड
सहायक प्राध्यापिका,हिंदी विभाग,
अरुणाचल यूनिवर्सिटी ऑफ स्टडीज,
नमसाई,अरुणाचल प्रदेश मो.9029920423

मूल शब्द : किसान, समाज, समस्या, अन्याय, शोषण, जीवन, |

साहित्य समाज का दर्पण होता है | समाज में रहते हुए हर व्यक्ति के जीवन में कई प्रकार की समस्याएँ आती हैं | इन्ही समस्याओं को एक साहित्यकार लिखित रूप में प्रस्तुत करता हैं | जहाँ जैसा समाज, देश होता है, उसके वातावरण का चित्रण तत्कालीन साहित्यकारों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता हैं | हिंदी साहित्य भी इससे अछूता नहीं है | हिंदी साहित्य में जब से कथा-साहित्य का आविर्भाव हुआ उसमें अनेक साहित्यिक विधाओं के द्वारा ग्रामीण परिवेश एवं उसके वातावरण को चित्रित किया गया है | क्यों कि भारत एक कृषि प्रधान देश है | इसलिए कथाकारों के द्वारा किसान विमर्श के रूप में विषयवस्तु की प्रस्तुतिकरण स्वाभावोक्ति रही है | भारत में मुंशी प्रेमचंद किसान विमर्श के प्रमुख कथाकार के रूप में जाने जाते है | प्रेमचंद हिंदी साहित्य के एक प्रसिध्द साहित्यकार हैं | वे प्रथम साहित्यकार होगे जिन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से समस्त देशवासियों को सामाजिक समस्याएं जैसे स्त्रियों की, दलितों की, किसानों की समस्याओं से परिचित कराया हैं | उन्होंने अपने उपन्यास गोदान, कर्मभूमि, प्रेमाश्रम में विशेष रूप से किसान को केंद्रबिंदु में रखकर के उनकी समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है | इसके अलावा उन्होंने पंच-परमेश्वर, बलिदान, सवा सेर गेहूं, दो बैलों की कथा आदि कहानियों में भी किसान को आधार बनाकर रचना की हैं | उन्होंने भारतीय समाज में मजदूर किसानों की आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदि समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है | जिसका सबसे बड़ा उदाहरण गोदान उपन्यास में देखा जा सकता है |

किसान अन्नदाता के रूप में जाना जाता है | खेती में कड़ी मेहनत करके अनाज, फल, सब्जियां उगाता हैं | जिससे देश को अन्न की प्राप्ति होती हैं | हम कह सकते है, कि मनुष्य का जीवन किसान पर अर्थात खेती पर आधारित है | जिसके कारण किसान जीवनदाता के रूप में जाना जाता हैं | उसी किसानों की स्थिति देश के स्वातंत्र पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर के बाद भी दयनीय रही है | आए दिन वह स्वयं भुखमरी, अन्याय, अत्याचार का शिकार होता रहा हैं | भारत की सामिजिक व्यवस्था के कारण कृषिजीवी हमेशा शोषण का शिकार बनते आ रहे हैं | किसान के अथक परिश्रम करने के बावजूद भी गरीबी के कारण वह अपने परिवार की ईच्छा, आकांक्षा और महत्वाकांक्षा पूर्ण नहीं कर पाता | एक बार उसने किसी जमींदार या महाजन से कर्जा ले लिया तो उसकी आने वाली कई पीढ़ी कर्ज ना चुकाने के कारण गुलामी के रूप में जीवन बिताती हैं | जहाँ मजदूर मजूरी करके भी अपना पेट भर सकता है | वही दूसरी ओर किसान अपने खेत होते हुए भी भुखमरी का शिकार होता रहता है |

प्रेमचंद के गोदान उपन्यास में होरी पूरे किसान वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है | होरी कर्ज की समस्याओं से घिरा हुआ है | उसने गाँव के महाजन से कर्जा लिया है | ऐसे में गाँव में रहने वाले जमींदार, साहूकार जैसे लोग कर्जा देने पर उन व्यक्तियों को अपना गुलाम समझते है | होरी के इस कथन से स्पष्ट होता है, "जब दुसरे के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है |"[१] होरी की पत्नी धनिया जानती है, की खेत में फसल उगाने के लिए कितनी भी मेहनत क्यों ना करे फिर भी जमीदारों को लगान देने से नहीं बच सकते | उसने यही अनुभव किया है की, "कितनी ही कतर- ब्योंत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौडी को दाँत से पकड़ो; मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है |"[२] कर्जा चुकाने के लिए होरी ने अपनी फसल खलिहान में तौल दी लेकिन फिर भी कर्ज के ३०० रूपये बाकि ही थे | " मंगरू साहू से आज पांच साल हुए बैल के लिए साठ रूपये लिए थे, उसमें साठ दे चूका था, पर वह साठ ज्यों के त्यों बने हुए थे | दातादीन पंडित से तीस रूपये लेकर आलू बोये थे | आलू तो चोर खोद ले गए और उस तीस के इन तीन बरसों में सौ हो गए थे |"[३] कर्ज के साथ जो ब्याज देना होता है उसी ब्याज से कर्जदार ऋण मुक्त नहीं हो पाता | यही दशा होरी की थी | उसकी ईच्छा एक गाय खरीदने की थी | किसानों के लिए खेत और पशु उनके घर की शोभा होते हैं | इसलिए होरी भी एक गाय लेना चाहता था|

"भगवान कहीं गौ से बरखा कर दें और डॉडी भी सुभीते से रहे, तो एक गाय जरुर लेगा | देशी गायें तो न दूध दें न उनके बछवे ही किसी काम के हों | बहुत हुआ तो तेली के कोल्हू में चले | नहीं, वह पछाई गाय लेगा | उसकी खूब सेवा करेगा | कुछ नहीं तो चार-पांच सेर दूध होगा | गोबर दूध के लिए तरस-तरस कर रह जाता है | इस उमिर में न खाया -पिया, तो फिर कब खायेगा | साल – भर भी दूध पीले, तो देखने लायक हो जाय | बछवे भी अच्छे बैल निकलेंगे | दो सौ से कम की गोंई न होगी | फिर, गऊ से ही तो द्वार की सोभा है | सबेरे-सबेरे गऊ के दर्शन हो जायं तो क्या कहना | न जाने कब यह साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आयेगा !"[४] हर एक व्यक्ति की तरह होरी के मन में भी गाय लेने की ईच्छा उसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न, सबसे बड़ी साथ थी | परंतु बैंक सूद से मुक्ती के बिना जमीन खरीदने या महल बनवाने की बड़ी आकांक्षाएँ उसके छोटे से हृदय में कैसे समातीं | फिर भी गोबर के बेटे मंगल के लिए गाय का दूध मिले इस आशा में वह पैसे कमाने के लिए खुदाई का काम करने लगा | दिनभर धूप में काम करके एक दिन लू लगने के कारण

वह बीमार हो गया | और वह समझ गया की उसका अंतिम क्षण आ गया है | वह धनिया से कहता है, "मेरा कहा सुना माफ़ करना धनियाँ ! अब जाता हूँ | गाय की लालसा मन में ही रह गयी | अब तो यहाँ के रुपए क्रिया-करम में जायेंगे |"[५] अपनी अधूरी ईच्छा लेते हुए उसकी मृत्यु हो जाती है | जीते जी गाय नहीं ले पाया होरी के मृत्यु के पश्चात् पंडिज जी धनिया को गोदान करने को कहते है | जिस गाय को खरीदने के लिए होरी के प्राण चले गए उसके क्रिया कर्म के लिए धनिया के पास पैसे नहीं है और उसकी आत्मा की शांति एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए गोदान करने को कहाँ जाता है | इस विंडबना को प्रेमचंद जी ने प्रस्तुत किया है |

प्रेमचंद पूर्व उपन्यासकार शिवपूजन सहाय ने भी अपने उपन्यास 'देहाती दुनिया' में किसानों के कठिन जीवन संघर्ष को प्रस्तुत किया है |

"दरोगा जी के किसी पुश्त में दया की खेती नहीं हुई थी | उनके पिता पटवारी थे | पटवारी भी कैसे ? गरीबों की गर्दन पर अपनी कलम टेकने वाले ! उनकी कलम की मार ने किसानों की कमर तोड़ दी थी, कितने बिना नाधा-पैना के हो गए थे, कितनों का देस छुट गया था, कितनों के मुँह के टुकड़े छीन गए थे |"[६] इस कथन के द्वारा शिवपूजन सहाय भी यही दर्शाना चाहते है की, उच्च वर्ग के जमींदार कैसे निम्न वर्ग के व्यक्तियों को पीड़ित करते रहते हैं | किसान पूरा दिन जमींदारों के खेतों में काम करते हैं, लेकिन फिर भी वे उनको दिनभर मेहनत करने का पूरा मूल्य नहीं देते | इसके बावजूद किसी व्यक्ति में उनके विरुध्द आवाज उठाने का साहस नहीं है | वे अन्याय करते है और भोले भाले किसान अन्याय सहते रहते है | गाँव के पूंजीवादियों के उत्पीडन से कितने ही कृषक वर्ग शहरों में स्थानांतरित हो चूके हैं |

प्रेमचंदोत्तर साहित्यकार संजीव ने अपने फ़ांस उपन्यास के माध्यम से वर्तमान समय में हो रहे किसानों की आत्महत्या और उसके पीछे के कारण तथा समस्याओं को उजागर किया हैं |

"कौन था, क्यों फांसी लगायी ?..... अरे आदमी था भाई शेतकरी | दो-दो बार फसल मरी गयी, कर्ज लिया न दे पाया, मार लिया खुद को |"[७] किसान की खेती पानी, मिटटी और फसल पर आधारित होती हैं | सामाजिक समस्याओं के अलावा किसान नैसर्गिक विपत्तियों से भी चिंतित हैं | कभी पानी का अभाव, कभी सुखा, बाढ़ आना, तो कभी बेमौसमी वर्षा के कारण फसल का ख़राब होना आदि कई संकटों से बेचैन हैं | इन सभी संकटों से बचने के लिए और अपने जरूरतों को पूर्ण करने के लिए कर्ज लेता है | पंरतु उसे चुकाने में अक्षम रहता है | "इस देश में किसान कर्ज में ही जन्म लेता है, कर्ज में ही जीता है, कर्ज में ही मर जाता है |"[८] आए दिन अलग -अलग समस्याओं से त्रस्त होकर किसान वर्ग आत्महत्या कर रहे हैं | होरी की तरह इस उपन्यास में भी शकुन ने विदेशी गाय खरीदने की ईच्छा प्रकट की तो शिंबू कहता है की, " पगली कहीं की | अभी-अभी तो पहले के फ़ांस से उबरे हैं | फिर कर्ज | दो-दो बेटियों की शादी अलग से उधर वन विभाग का केस और तुझे गाय की पड़ी है |"[९] कृषक वर्ग लड़की के विवाह में दहेज़ देने की प्रथा से भी चिंतित है | शिबू भी अपनी दोनों बेटियों का विवाह करना चाहता था | विवाह के लिए सुयोग्य वर ढूंढ रहा था | लड़के के पिता दहेज की बात बिना कहे यह कहते है की, आपका कर्तव्य है कि आपकी बेटी सुखी रहे | " रेट तो सबको पता ही है- एक हीरो हांडा, एक लाख नगद |"[१०] अंतत: शिबू भी कुँए में कूदकर आत्महत्या कर लेता है |

सुनील चतुर्वेदी जी ने भी अपने उपन्यास कालीचाट में मालवा के सिन्द्रानी गाँव में भीमा महाजन द्वारा गरीब जनता पर किए जाने वाले अत्याचारों को दर्शाया है | वह आर्थिक सहायता के नाम पर गाँव के लोगों का शोषण करता हैं | गाँव के लोग अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए भीमा से पैसे उधार लेते रहते थे | इस गाँव में साहिबु एक छोटा सा किसान है | उसने भी अपनी जमीन गिरवी रखकर भीमा से पैसे उधार लिये थे | एक बार जमीन भीमा के हाथ लग जाती है तो उससे जमीन छुड़वाना कठिन हो जाता है | इसी बात से साहिबु चिंतित है | उसकी पत्नी रेशमी कहती है की मैं मेहनत करके पुरे पैसे चुकाकर जमीन छुड़ा लूँगी | साहिबु उत्तर में कहता है की, "रेशमी शेर का मुंडा से निवालो छुड़ाना सहज है पर भीमा बा से जमीन छुडानी आसान नी है |"[११] क्यों की भीमा बा खेत गिरवी रखते समय दस रूपये सैंकडे का ब्याज वसूलते हैं और गिरवी रखे टुकड़े की फसल भी खुद ही लेते हैं | जमींदार हो, महाजन हो या पूंजीवादी एक बार उनके पास कोई चीज गिरवी रखी जाती है तो उसे मुक्त करना कठिन हो जाता है |

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि, किसानों की दशा प्रेमचंद युग के पूर्व, प्रेमचंद के समय और उनके बाद भी दुर्दशा पूर्ण ही हैं | आज के इस इक्कीसवी सदी में भी उनके हालातों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ हैं | आज भी वे जमीनों का बिकना, दहेज देने की चिंता, परिवार का पालन-पोषण की समस्या, ऋण चुकाने की समस्या, लगान या सूद देने पर भुखमरी की समस्या, सूखे की समस्या, बीमारी आदि समस्याओं से घिरे हुए हैं | इन सभी समस्याओं से दुखी, परेशान होकर वे आत्महत्या कर रहे हैं | उनकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं |

संदर्भ

1. मुंशी प्रेमचंद, गोदान, पृ.५
2. वहीं, पृ.५
3. वहीं, पृ.३४
4. वहीं, पृ.६-७
5. वहीं, पृ.३५२
6. सहाय शिवपूजन, देहाती दुनिया, पृ.७६-७७
7. संजीव, फ़ांस, पृ.१४
8. वहीं, पृ.१५
9. वहीं, पृ.६९
10. वहीं, पृ.९४
11. चतुर्वेदी सुनील, कालीचाट, पृ.१०-११

निराला और उनकी राष्ट्रीय चेतना

-डॉ.निरपत प्रसाद प्रजापति
विभागाध्यक्ष हिंदी,
शासकीय अग्रणी महाविद्यालय,बैढन
मो.9752998467

-डॉ.समय लाल प्रजापति
एसोसिएट प्रोफेसर,हिंदी,
टी.आर.एस.कॉलेज,रीवा (म.प्र.)
मो.9752000531

निराला की राष्ट्रीय चेतना, सांस्कृतिक गौरव से परिपूर्ण आध्यात्मिकता से समृद्ध और उज्ज्वल भविष्य की आकांक्षा से युक्त एक व्यापक और गतिशील चेतना है। उनकी राष्ट्रीयता न तो भारतेन्दु युगीन राष्ट्रीयता की भॉति हिन्दुत्व की परिधि तक है और न द्विवेदी युगीन राष्ट्रीयता की भॉति जाति, समाज और देश तक। वह एक विस्तृत मानवीय धरातल पर प्रस्तुत होने वाली राष्ट्रीयता है। निराला की राष्ट्रीयता में संस्कृति के जागरण का स्वर है, स्वामी विवेकानन्द और टैगोर के संपर्क से उपजी अध्यात्म की गहराई है और लोकमान्य तिलक के वैचारिक विद्रोह से उत्प्रेरित ओजमयी वाणी है। उनके राष्ट्रीय गीतों में भारत के अतीत के गौरव पूर्ण चित्र, वर्तमान का सामाजिक आर्थिक वैषम्य तथा आदर्श और उज्ज्वल भविष्य का आकांक्षा स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

निराला ने अतीत की गरिमा और आदर्श चरित्रों का भव्य चित्रांकन किया है। गुलामी की जंजीरों में जकड़ी हुई, हीन भावना से ग्रस्त जन–चेतना को उद्‌बद्ध करने के लिए ही उन्होंने अपना प्रसिद्ध उद्‌बोध गीत 'जागों फिर एक बार' लिखा। प्रस्तुत कविता में निराला ने आधुनिक भारतीय जन–मानस को प्रेरणा, स्फूर्ति, ओज एवं गौरव की भावना से प्रभावित कर उद्‌बद्ध करने की चेष्टा की है–

**"पशु नहीं, वीर तुम,
समर –शूर , क्रूर नहीं,
काल चक्र में हो दबे,
आज द्रुम राज कुंवर,
समर सरताज!
मुक्त हो सदा ही तुम ,
बाधा विहीन – बन्ध चन्द्र ज्यों।"**

निराला के इस उद्‌बोध गीत में कवि की जिस ओजमयी वाणी की झंकार सुनाई पड़ती है उससे लगता है कि बूढ़ी शिराओं का भी खून उबल पड़ेगा–

**"समर–गान में अमर कर प्राण / गाएं
महा सिन्धु से /सिन्धु नद तीरवासी !
सैन्धव तुरंगों पर
तचुरंग – चभू संग,
सवा–सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊॅगा,गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊॅगा।"**

निराला की सांस्कृतिक चेतना एक विशिष्ट आध्यात्मिक गरिमा से ओत–प्रोत है। जीव और ब्रम्ह के अमिट संबंधों की कितनी सुन्दर व्यंजना इन पंक्तियों में दिखाई पडती है–

**तुम दिनकर के खर किरण जाल,
मैं सरासिज की मुस्कान।
तुम वर्षो के बीते वियोग,
मैं हूँ पिछली पहचान।
तुम योग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्चय लय
मैं सुचिता सरल समृद्धि।**

'छत्रपति शिवाजी का पत्र' में शिवाजी के आदर्श चरित्र और ओजमयी शिवाजी के प्रस्तुतीकरण द्वारा कवि ने व्यंजना से गुलाम भारतीयों को ही उद्‌बद्ध किया है। शिवाजी जिस प्रकार जय सिंह को धिक्कारते और समझाते हैं उसे पढ़कर कौन जड़ उद्‌बद्ध नहीं होगा–

**शत्रुओं के खून से
धो सके यदि एक भी तुम मॉ का दाग,
कितना अनुराग देववासियों का पाओगे!
निर्जर हो जाओगे–अमर कहलाओगे।**

इसी प्रकार निराला ने अपनी अन्य कविताओं 'यमुना के प्रति', 'राम की शक्ति पूजा', 'दिल्ली और खण्डहर' आदि में भी

पुरातन वैभव, आदर्श और गौरव को उपस्थित और जीवन्त करने का सफल प्रयास किया है।

निराला का युग बोध बहुत गहरा था। इसीलिए उन्होंने देश की सामाजिक विभीषिका, आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति, धर्मान्धता और अमानवीयता पर गहरा क्षोभ प्रकट किया है। उनकी कविता में तिलमिला देने वाले व्यंग्य भरे पड़े है। देश की गिरी हुई अवस्था और भग्न संस्कृति का जो चित्र उनकी 'तुलसीदास' में खींचा गया है, वह दुर्लभ है। निराला इस सांस्कृतिक पतन पर व्यंग्य करते हुए मानव को यह निश्चय करने की प्रेरणा प्रदान करते है कि –

"करना होगा यह तिमिर पार, देखना सत्य
का मिहिर द्वार, बहना जीवन के प्रखर ज्वार
में निश्चय।" [2]

मजदूरों ,कुलियों और दलित शोषित वर्ग के जितने मर्मस्पर्शी चित्र निराला ने दिये हैं, वे अनुपम हैं। 'भिक्षुक' 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी सशक्त कविताऍं एक तरफ जहॉं उनकी दुरावस्था और विवशता को अंकित करती हैं वही दूसरी तरफ 'मानव जहॉं बैल घोड़ा है, कैसा तन–मन का जोड़ा है' में मानवीय बिन्दुपताओं पर व्यंग्य किया गया है।

'कुकुरमुत्ता' 'बेला' और 'नये पत्ते' में न जाने ऐसे कितने चित्र मिलेंगे जो इस देश की सामाजिक –आर्थिक विषमता और सांस्कृतिक गिरावट की सूचना देते हैं। इन कविताओं में न केवल वैषम्य के प्रति कवि का गहरा आक्रोश है, बल्कि अमानवीय शोषण और राजनीति पर भी गहरे व्यंग्य हैं–

"इनके साथ और अफसरान है
जैसे दरोगा जी
वीस शेर दूध दोनों घड़ों में जल्द भर ।" [3]
" खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है 'कैपिटलिस्ट'।" [4]

"आज अमीरों की हवेली , किसानों की होगी पाठशाला!
धोबी, पासी, चमार , तेली , खोलेंगे अंधेरे का ताला।। "[5]

''वालो के नीचे पड़ी जनता बलतोड़ हुई
माल के दलाल ये वैश्च हुए देश के
सागर भर हुआ
किरने समन्दर पर पड़ती कैसे दिखीं
लहरों के झूले–झूले
कितना विहार किया कानूनी पानी पर।"

निराला की कविताओं में जहॉं अतीत के गौरव मय चित्र हैं, मानवता का आदर्श हैं, वर्तमान का वैषम्य पूर्ण बोध है, वहीं उनमें उज्ज्वल भविष्य की आकांक्षा भी हैं। उन्होंने सुखी स्वाधीन समाज की परिकल्पना की है। भारत के सामाजिक वैषम्य, अमानवीय कुकृत्यों और अराजनीति पर क्षोभ व्यक्त करते हुए कवि जहॉं तोड़ने और उसमें संघर्ष करने की बात करता है, वहीं उनमें भविष्य में उगने वाले सूर्य का सुन्दर आलोक भी है–

"लड़ना विरोध में द्वन्द–समर
रह सत्य –मार्ग पर स्थिर निर्भर
करने के ज्ञानों द्रुत प्रहार
तोड़ने को विषम बज्र द्वार,
उमड़े भारत का भ्रम अपार हरने को।

निराला के राष्ट्रीय गीतों में केवल राष्ट्रीय जीवन का उत्कर्ष ही चित्रित नहीं है, बल्कि उसमें राष्ट्र की अधोगति, उसकी भौतिक दरिद्रता , विषमता आदि के भाव भी व्यक्त किये गये हैं।साथ ही इन गीतों में उज्ज्वल भविष्य की आकांक्षा और कल्पना भी वर्तमान है। इसके साथ ही इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये सामाजिक अवसरों पर गाये जाने वाले गीत हैं। आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी ने लिखा है'"हिन्दी राष्ट्रीय गीतों में निराला की प्रणाली ही सबसे अधिक प्रतिनिधिक कही जा सकती है। अन्य गीतकरों के गीतों में सामूहिक गेयता नहीं आई। निराला जी के राष्ट्रीय गीतों की पहली विशेषता उनकी गेयता है । उनके गीतों के आकार राष्ट्र गीत के अनुरूप है।''

संदर्भ :

1- 'जागो फिर एक बार'
2- 'तुलसीदास'
3- 'नये पत्ते'
4- 'कुकुरमुत्ता'
5- 'बेला'
6- 'आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां पृष्ठ 19 '

'सुख' तलाशते साठोत्तर समाज का 'दुख'

-डॉ.दीपक जाधव

सहा.प्राध्यापक एवं हिंदी विभाग प्रमुख,

वेणूताई चव्हाण कॉलेज,

कराड, सांगली मो.9165526550

बुद्ध ने कहा 'दुख' जीवन की वास्तविकता है परंतु जीव और जीवन की संपूर्ण यात्रा सुख प्राप्ति की लालसा है। भले ही सामने का बृहत्तर पहाड़ दुख हो और उसकी चोटी पर उदयीमान होने वाला सूर्य का कमलकांत प्रतिबिंब सुख हो। इसके बावजूद मनुष्य की चेतना का लक्ष्य बृहत्तर पहाड़ न होकर कमलकांत प्रतिबिंब रहा है। वह पहाड़ों की पीड़ादायक यात्रा परिश्रम पूर्वक चढ़ता है। यात्रा के दरमियान आने वाले सुनहरे पलों, अल्हाददाई क्षणों एवं मिलने वाले अनुभव को नजरअंदाज करता, खाली हाथ गंतव्य तक पहुंचता है। दूर से लुभावना लगने वाला सुख हाथ आने पर पहाड़ की अगली चोटी पर उसका दूसरा प्रतिबिंब टिमटिमाते हुए दिखाई देने लगता है। इस दूसरे प्रतिबिंब के पीछे की दौड़-धूप, छटपटाहट, कष्ट बोध, आभाव ज्ञान, व्यर्थता बोध साठोत्तर समाज और कहानी का सत्य है।

साठ के बाद की बदली सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों का सीधा प्रभाव आम तथा मध्यवर्गीय जीवन पर न केवल दृष्टिगोचर होता है बल्कि इन स्थितियों के आक्रमण से वह प्रभावित होता है। इस संदर्भ में डॉ. के. एल. मालती लिखती है, "साठोत्तर युग में एक तरह से नयी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियां उभर आई। संयुक्त परिवारों का विघटन तेजी से हो रहा था। परंपरागत नैतिक आदर्श टूटते जा रहे थे और पारिवारिक संबंधों में बदलाव आ गया था। …….. साठोत्तर कहानियों में इन बदलते जीवन मूल्यों और परिवर्तित विचार भूमियों का यथार्थ चित्रण मिलता है।"[1] इन बदली भाव भूमियों को साठोत्तरी रचनाकार उसी तल्खी और यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करता है।

साठोत्तरी रचनाकार का यथार्थ मात्र सामाजिक, देखा हुआ, कालजन्य या सर्वकालिक यथार्थ नहीं है। उसकी आस्था अनुभूत यथार्थ में अधिक है। वह यथार्थ को केवल व्यापक, सतही नहीं मानता बल्कि भाव भूमि के गहरे में उतरने की तैयारी करता है। साठोत्तरी नया लेखक परंपरागत यथार्थ से अधिक यथार्थवादी हुआ है। परंपरागत यथार्थ एवं साठोत्तरी रचनाकार के यथार्थ के बारे में सं. मधुकर सिंह लिखते हैं, " नया लेखक यथार्थ के इस रूप का गुलाम नहीं है। 'वस्तु' का 'यथार्थ' और क्या होता है सिवा उस 'यथार्थ' के जिसे वह देखता और महसूस करता है और 'महसूस' करने की इसी प्रक्रिया में उसे शक्ल देता है। वह 'शक्ल' जो 'यथार्थ' की भी है और उसकी अपनी भी।"[2]

साठोत्तर कहानीकार काशीनाथ सिंह की कहानी 'सुख' भोला बाबू के जीवन के तथाकथित सफल होने और सुख से जीवन बिताने की कहानी है। भोला बाबू पहाड़ी इलाके में जीवन भर तार बाबू की नौकरी करते हैं। इलाके भर के गांवों के चक्कर लगाते उनका जीवन बिता है और सप्ताह भर पहले वह नौकरी से वापस आए हैं। एक शाम कमरे में अखबार पढ़ रहे थे कि एक नन्ही किरण उनके गंजे सिर पर पड़ी। उन्होंने देखा सूरज पहाड़ी के पीछे कहीं गायब हुआ था लेकिन वह नन्ही किरण उनके सिर को गर्माहट दे रही थी। जैसे किसी बच्चे ने गर्म और गद्देदार हथेली सर पर रखी हो।

वे उठकर बाहर आते हैं। बाहर की हरी घास लाल थी। चार दिवारी लाल थी। यहां से सूरज दिखाई दे रहा था। " पहाड़ियों के कुछ ऊपर, बादलों के कहीं आसपास! ताड़ और बाबूल के बीच में। उन्होंने स्वयं पर निगाह डाली-मारकीज का सफेद कुर्ता गुलाबी हो उठा था। वे मुस्कुराएं,' देखो, दुनिया में क्या-क्या चीजें हैं। कितनी अच्छी-अच्छी चीजें।"[3] उन्होंने दूर तक नजर घुमाई। झोपड़ियां लंबी हो गई थी। मंडई लंबी होकर मंदिर को घूम रही थी। मंदिर के पास की गाय लाल है या सफेद, वे तय नहीं कर पाए। सारा नजारा देख वे मुस्कुरा उठे।

भोला बाबू का ध्यान सूरज पर जाता है। सूरज का गोला छोटा बड़ा हो रहा था। वे अपनी पत्नी को आवाज देते हैं और बाहर बुलाते हैं। उनके चेहरे पर बच्चों से चमक है। वे पत्नी को सूरज का लाल-लाल गोला बड़े चाव से दिखाते हैं। पर पत्नी को उसमें कुछ भी विशेष नहीं लगता। भोला बाबू उखड़ जाते हैं और डांटते हुए पत्नी को 'चुल्हा फुंकने' की बात करते हैं। पत्नी डर कर चली जाती है लेकिन भोला बाबू के मन में विचार आते हैं, "सूरज, बादल, बादलों पर उभरते रंग, रंगों पर खींचती धारियां, पहाड़ियां, पहाड़ियों के सामने वाले हिस्से का धुंधलापन, धुंधलापन के बिल्कुल ऊपर-चोटी पर लाल कुल से का क्षीण होना…..। वे जिंदगी भर तार बाबू रहे- उन्होंने सोचा। पहाड़ियों के इस जिले में ही रहे। उनसे कोई गांव नहीं छुटा, कस्बा नहीं छुटा, शहर नहीं छुटा। लेकिन यह सूरज! अब तक कहां था? यह शाम आखिर किधर थी?"[4]

भोला बाबू सूरज तथा प्रकृति का अजूबा बच्चों को दिखाना चाहते हैं लेकिन वे गायब थे। रास्ता चलते ऊंटवाले को वे नजारा दिखाना चाहते हैं। पर वह निश्चित बैठे बीड़ी पी रहा था। भोला बाबू की बातें उसके समझ में नहीं आ रही थी। उसे भोला बाबू की बातों में बिल्कुल रस न था। बोला बाबू गुस्सा हो उसे गाली देते हैं।

सूरज डूब जाता है और भोला बाबू उदास हो जाते हैं। वे धोती पहन, छड़ी ले चुपचाप बाहर निकल जाते हैं। उन्हें लगता है कि आज की इस घटना का पता सभी को होना चाहिए। वे अपने मित्र माधव मुख्तार से मिलने निकलते हैं कि रास्ते में बीज गोदाम के पास जिलेदार साहब दिखाई देते हैं। जिलेदार साहब को एकांत में ले जाकर भोला बाबू कहते हैं, "आज का सूरज ऐसा लाल... ऐसा खूबसूरत कि आपसे क्या कहूं? सारी धरती लाल हो गई थी जिलेदार साब! आपने

ISSN-2321-1504 Nagfani No. UTTHIN/20210/34408

देखा था न?"5

जिलेदार साहब सपाट लहजे में कहते हैं कि यह नई बात नहीं है, ऐसा रोज ही होता है। भोला बाबू के उत्साह को कुछ धक्का सा लग जाता है। वे वहां से आगे निकलते हैं। बाजार से परिचित-अपरिचितों के बीच से चुपचाप चलते हैं। उन्होंने सूरज के बारे में किसी से कुछ नहीं कहा जबकि वह कहना चाहते थे।

भोला बाबू सोचते-विचारते माधव की गली में उड़ते हैं। गली के अंधेरे में बाल्टी हाथ में लिए आता हुआ माधव उन्हें दिखता है। आवाज देने पर पता चलता है, वह माधव न होकर उनका नौकर सोहन है। माधव के न निकलने से भोले बाबू और भी निराश हो जाते हैं। वे अपनी बेचैनी में सोहन से पूछते ही है कि सूरज देखते हो या नहीं? सोहन के बातों में सूरज के स्थान पर 'सुरजा तेली' का जिक्र आता है। सोहन द्वारा भी उनकी बातें ना समझने से वह झल्ला उठते हैं।

भोला बाबू घर आकर चुपचाप बिस्तर पर लेट जाते हैं और मन ही मन तय करते हैं कि वे कल सभी को सूरज दिखाएंगे। लोगों का सूरज में, प्रकृति में रुचि न होना, उनके लिए चिंता का विषय बन जाता है। उन्हें लगता है कि दिन-ब-दिन लोगों को क्या होते जा रहा है। भोला बाबू सोचते हैं, " कल शाम होगी। वह सभी लोगों को बुलाएंगे। सूरज दिखाएंगे। और समझाएंगे कि देखो, दुनिया में चुल्हा, भोजन, कचहरी, ऊंट और दूध ही सब कुछ नहीं है। सूरज भी है। वह पहाड़ियों के ऊपर होता है। ताडों के बीच में आता है। फिर कांपता है। और फिर वह क्षण भी आता है जब वह पहाड़ियों के पीछे जाता है। और डूबने के पहले एक मुलायम किरण तुम्हारे गंजे सिर पर छोड़ जाता है।"[6]

सूरज और सूरज के डूबते बिंब से प्रकृति में आए मनोहरी बदलाव को खुली आंखों से, पूरी संवेदना से न देख पाने का 'दुख' असल में औरों का नहीं बल्कि भोला बाबू का अपना है। घर काम में व्यस्त पत्नी, ऊंट पर सवार आदमी, जिलेदार साहब, माधव का नौकर सोहन या बाजार के लोगों के लिए सूरज भले ही आकर्षण का उतना प्रबल कारण ना बने लेकिन उनके लिए वह भोला बाबू की तरह अजूबा नहीं है। वे सूरज को रोज देखते हैं लेकिन इसी पहाड़ी इलाकों में सालों नौकरी करते हुए, इस गांव से उस गांव भोला बाबू घूमते रहे।पर काम की सनक, जिम्मेदारी के बोझ, जीवन की ओर देखने के एकांगी विचार और 'सब कुछ परिवार के सुख के लिए' के भाव के चलते वह खुद डूबते सूरज को, उसकी गर्माहट को, गंजे सर पर बच्चे सा हाथ रखने वाली किरण को महसूस ही नहीं कर पाए थे। भोला बाबू की छटपटाहट, बेचैनी, झल्लाहट जितनी बाहरी है, उससे कई अधिक आंतरिक है।

भोला बाबू का यथार्थ केवल बाहरी यथार्थ नहीं है, जितना बाहरी है उससे अधिक व्यापक और आंतरिक है। यह एक व्यक्ति का दुख नहीं है। वह साठोत्तर कहानी, कहानीकार और रोजी-रोटी कमाने में ही जीवन की सार्थकता ढूंढने वाले समस्त वर्ग का यथार्थ है। साठोत्तर कहानी के इसी यथार्थ चित्रण की विशेषता के बारे में डॉ. लक्ष्मीलाल वैरागी लिखते हैं, " समकालीन कहानी के इन कहानीकारों ने नई कहानी से भी आगे बढ़कर यथार्थ को पूर्ण, निर्मम रूप में स्वीकार किया तथा उसे अपनी वैचारिकता से युक्त किया। यह यथार्थ का नया रूप है। जहां कहानी जीवन के गंभीर प्रश्न और समस्याओं से जूझती है।"[7]

भोला बाबू बिस्तर पर पड़े-पडे ही अपना हाथ सिर पर ले जाते हैं। वह हिस्सा बिल्कुल ठंडा पड़ा था जिसमें संध्या के किरण के गर्माहट लाई थी। किसी के आने से उनकी तंद्रा टूटती है। वह पाते हैं कि मेज पर भोजन की थाली रखी है और चारपाई पर पत्नी बैठी है। वे न तो पत्नी से बात करते हैं। न ही उसके सवालों के ठीक से जवाब देते हैं और न ही उसे आवश्यक समझते हैं। पत्नी उन्हें खाने के लिए उठाना चाहती है। पर वह ऐलान करते हैं कि वह आज खाना नहीं खाएंगे। वे निरुत्तर, उदास भाव से पड़े रहते हैं। पत्नी को संबोधित करते हुए कहते हैं, " देखो, कहने को यह बीवी है। यह बेटा है। यज्ञ बेटी है। यह मकान है। यह जायदाद है। यह दोस्त है। यह नातेदार है। लेकिन सच पूछो तो कोई किसी का नहीं।"[8] जिन रिश्तों की खातिर मरते-खपते रहे, उसकी निस्सारता के साथ ही भोला बाबू की निस्साहायता व्यक्त होती है।

"जब मेरा कोई दुख नहीं समझ सकता तो कैसी बीवी और कैसा बेटा।"9 भोला बाबू की बातें सुन पत्नी की आंखों में आंसू आते हैं। भोला बाबू का स्वर भी भर्रा जाता है। भोला बाबू कहते हैं, नहीं, मेरा कोई नहीं है। पत्नी रोने लगती है। बच्चे सीसकने लगते हैं। भोला बाबू उन्हें जाने के लिए कहते हैं। उन्हें खाने-पीने के लिए कहते हैं। पर खुद के खाना न खाने पर अडिग रहते हैं। वे दूसरी ओर करवट ले तकिए में मुंह घूसेड सिसकने लगते हैं। पत्नी जोर से रो पड़ती है। बच्चे भी चिल्ला उठते हैं। भोला बाबू भी फूटकर रोने लगते हैं। लेकिन " रोने वालों में सबसे ऊंचा और दुखी स्वर भोला बाबू का था।"[10]

काशीनाथ सिंह कहानी के अंत में कहते हैं - रोने वालों में सबसे ऊंचा और दुखी स्वर भोला बाबू का था। अर्थात् भोला बाबू ने क्या खोया है इसका एहसास केवल भोला बाबू को हैं। उन्होंने घर-परिवार, जमीन-जायदाद, दोस्त-नातेदार सब के बारे में सोचा, पर अपने बारे में सोचना ही भूल गए। भोला बाबू का दुख समस्त मध्यवर्ग का दुख है जो परिवार के जीवन साधन जुटाने में अपने जीवन को होम कर देता है और इसे ही जीवन की सार्थकता समझता है। परिवार हेतु साधन जुटाने की प्रक्रिया में कभी-कभी वह खुद परिवार से कट जाता है तो कभी परिवार ही उसे अपनी परिधि से बेदखल कर देता है(वापसी- उषा प्रियवंदा)। सारा जीवन घर-परिवार, बीवी-बच्चों की चिंता में डूब जाता है। इन सारी जिम्मेदारियों, दुश्चिंताओं में भोला बाबू जैसे तमाम लोग सहर्ष उतरते हैं, गहरे-गहरे आगे बढ़ते हैं, सांस लेने की फुर्सत तक नहीं लेते। अपनी ही धुन में चले जाते हैं। क्या परिवार, दोस्त, समाज समझ पाता है कि उन्होंने कितना कुछ खोया है। कुछ कि सरलता के लिए अपना जीवन दांव पर लगाया है।

भोला बाबू के मन में एक ओर जीवन व्यर्थ गांवाने का गम है तो दूसरी ओर उसके अपने कहे जाने वाले लोग उसे समझ ही नहीं पा रहे हैं, इस बात का रंज है। उसके लिए यह सदमा भी है कि अपने कहे जाने वालों को पता ही नहीं या वे समझने में असमर्थ है कि वह क्यों दुखी है। साठोत्तर कहानी, कहानीकार एवं समाज के इस स्थिति के बारे में सुनील कुमार द्विवेदी लिखते हैं, " साठोत्तर कहानियों ने मानवीय स्थिति से मानवीय संबंधों की विकास यात्रा के सामाजिक आधारों की खोज की है। साठोत्तर कहानीकार कहानी विधा के अंतर्गत शब्दों में जीवन का प्रतिबिंबन करने के क्रम में अपने परिवेश से अपनी अनुभूति की यात्रा करता है। वहां वह मानवीय संवेदनाओं की जांच पड़ताल करता नजर आता है।"11

भोला बाबू का 'दुख' सुख की राह पर आंख मूंदे चलने का दुख है। उसमें जीवन की परंपरागत स्थितियों से ठगे जाने की टीस है। व्यर्थता बोध की तीव्रता है। किसी से अपनी स्थिति साझा न कर पाने की घुटन है। कितने ही ऐसे क्षण जिन्हें जीना संभव था, उन्हें खोने से उपजी रिक्तता है। और वह उम्र के इस पड़ाव पर खड़े हैं जहां जीने की लालसा का विशेष महत्व नहीं है। और जो बीता है, उसे वापस नहीं लाया जा सकता। इन स्थितियों से जीवन कभी न खत्म होने वाले अवसाद से भर जाता है। निसंदेह काशीनाथ सिंह भोला बाबू के माध्यम से मध्यवर्गीय कामकाजी आदमी के जीवन को यथार्थ भावभूमि पर उतारने में सफल हुए हैं।

संदर्भ :

1.साठोत्तर हिंदी कहानी - डॉ. के. एल. मालती- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद - प्र. सं. 1999 पृ. 99

2.साठ के बाद की कहानियां - सं. मधुकर सिंह - चैतन्य प्रकाशन, नई दिल्ली- 110049 प्र. सं. 2010 पृ.8

3.वही, पृ. 41

4.वही, पृ. 43

5.वही, पृ. 45

6.वही, पृ. 47

7.हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास - डॉ. लक्ष्मीलाल वैरागी - संघी प्रकाशन, जयपुर प्र. सं. 1999 पृ. 361

8.साठ के बाद की कहानियां - सं. मधुकर सिंह - चैतन्य प्रकाशन, नई दिल्ली- 110049 प्र. सं. 2010 पृ. 48

9.वही, पृ. 48

10.वही, पृ. 48

11.ज्ञानरंजन की कहानियों में मध्यवर्ग का स्वरूप और विश्लेषण (शोध ग्रंथ, 2007) - सुनीलकुमार द्विवेदी - उत्तर बंगाल विश्वविद्यालय, सिलीगुड़ी पृ.53

12.लमही - प्र. सं. विजय राय - अंक जुलाई-सितंबर, 2011 -विवेक खंड, गोमती नागर, लखनऊ - 226010

13.वागर्थ - सं. एकांत श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी - अंक सितंबर, 2013 - भारतीय भाषा परिषद, 36ए, शेक्सपियर सारणी, कोलकाता - 17

14.हिंदी साहित्य संक्षिप्त इतिहास - शिवकुमार मिश्र - वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली- 02

भारतीय अन्नदाता की त्रासदी का उपन्यास 'अकाल में उत्सव'

-डॉ. मृत्युंजय कोईरी

राँची, झारखंड

मो.07903208238

भारत के अन्नदाता कहलाने वाले किसान का जीवन अत्यंत दयनीय है। वे आज मौसम के मार से, बीज-खाद, व्यापारी, बिचौलिया, भ्रष्ट अधिकारी और सरकार की कुव्यवस्था के कारण आत्महत्या करने पर मजबूर हैं। पंकज सुबीर ने 'अकाल में उत्सव' उपन्यास में सूखा पानी का एक छोटा किसान रामप्रसाद के जरिये भारतीय अन्नदाताओं की त्रासदी को उजागर किया है।

भारत के अन्नदाता अपने पुत्र को जमीन का लगान, बैंक का लोन, सोसायटी और सूदखोरों का कर्ज छोड़ जाते हैं। 'अकाल में उत्सव' उपन्यास के किसान रामप्रसाद के माथे पर भी पिता का कर्ज है। सूदखोरों का अपना गणित होता है, जो बहुत ही विचित्र है। यथा- ''आप मुझसे दस हजार रुपये अभी ले रहें हैं, जिनको आप छः माह बाद एक हजार रुपये प्रति महीने के हिसाब से ब्याज देकर लौटाने की बात कर रहें हैं, तो आपको अभी दस हजार नहीं मिलेंगे, आप दस हजार पर अँगूठा लगाएँगे और मिलेंगे आपको केवल चार हजार। छः हजार तो ब्याज के कट गए न भाई। अब छः महीने बाद केवल दस हजार ही लौटाना है आपको।''[1]

रामप्रसाद दिन-रात अपने खेतों में काम करता है। पत्नी कमला बड़े किसानों के खेतों में मजदूरी करती है, तब कहीं जाकर जैसे-तैसे घर में दो वक्त की रोटी नसीब होता है। वहीं रामप्रसाद जैसे किसान बिजली बिल जमा करने एवं बीज, खाद खरीदने के वास्ते अपने गहने को सोनार के वहाँ गिरवी रखते हैं। पहले सोना को फिर चाँदी को। यदि किसान गिरवी रखने की जगह बेच दें तो अच्छा है। क्योंकि वे आगामी फसल को देखकर गिरवी रखते हैं। लेकिन फसल ओले या पानी से नष्ट हो जाती है। कभी फसल हुई भी तो व्यापारी के हाथों से बहुत कम पैसे मिलते हैं। गिरवी का सोना व चाँदी ब्याज की रकम में ही डूब जाता है। साहूकार का गणित देखिए- ''देख भाई तीन महीने का हो गया ब्याज, तो ढाई सौ के हिसाब से ढाई सौ तीसा पन्द्रह सौ और उसमें जोड़े चार सौ पिछले तो पन्द्रह सौ और चार सौ जुड़ के हो गए छब्बीस सौ। उनमें से तूने बीच में जमा किए तीन सौ, तो तीन सौ घटे छब्बीस सौ में से तो बाकी के बचे अट्ठाइस सौ, ले माँड दे अँगूठा अट्ठाइस सौ पे। समझ में आ गया ना हिसाब? कि फिर से समझाऊँ?''[2]

वर्तमान समय में हर चीजों की कीमतों में इज़ाफ़ा हुआ है। लेकिन किसान की फसल की कीमत में नहीं के बराबर वृद्धि हुई है। 1975 में सोना की कीमत 540 रुपये का दस ग्राम आता था और आज 2022 में 50 हजार के आसपास झूल रहा है। 1975 में गेहूँ का न्यूनतम मूल्य सरकार की ओर से तय था। लगभग एक क्विंटल का सौ रुपये। तब किसान पाँच क्विंटल गेहूँ बेचकर दस ग्राम सोना खरीद सकता था। किंतु आज 25 क्विंटल गेहूँ पर दस ग्राम सोना खरीद सकता है। आज एक लीटर सरसों तेल खरीदने के वास्ते सरकारी रेट में लगभग दस किलो धान बेचना पड़ता है। देश के अन्नदाता आज खेत के अनाज से खुद का पेट नहीं भर सकते हैं। देश के अन्नदातों की दयनीय स्थिति उपन्यासकार के शब्दों में- ''रामप्रसाद चौके में

ही बैठ कर खाना खा रहा है। थाली के नीचे टेका लगा कर उसे एक तरफ टेढ़ा कर रखा है। नीचे की तरफ पानी में नमक और मिर्च घोल के झोल सा बना है, उसमें ही मीड़-मीड़ के रोटी खा रहा है। एक तरफ कुचला हुआ प्याज रखा है और एक दो हरी मिर्ची रखी हैं, जिनको हर कौर के साथ कुतर लेता है वो। बीच-बीच में गमछे से नाक से आता हुआ पानी पोंछ लेता है।''[3]

देश के भलेभाले किसानों को सरकारी हॉस्पिटल में मूर्ख बनाकर पैसा लेने के वास्ते दलाल तत्पर रहते हैं। ये दलाल सरकारी डॉक्टर के हैं, जो प्राइवेट फीस लेकर और अपना दवाखाना से दवा खरीदने के वास्ते मजबूर करना चाहते हैं। राजेश की माँ की तबीयत खराब होने पर रामप्रसाद और राजेश सरकारी हॉस्पिटल में भर्ती करते हैं। डॉक्टर के दलाल वार्ड ब्वाय की नीति देखिए- ''ज्यादा नहीं है, एक बार देखने का आठ सौ रुपया लेते हैं। और इलाज चालू हो जाता है। फिर उसके बाद कोई फीस नहीं लगेगी। दवा वगैरह लिखेंगे, तो उनके ही घर में मेडिकल स्टोर है, वहीं से खरीद लेना क्योंकि डाक्टर साहब बहुत ऊँची दवाई लिखते हैं, वह किसी और दुकान पर नहीं मिलेगी। मान के चलो कि दो ढाई हजार की दवा आएगी। दो दिन में तो अम्मा जी चंगी-भली हो जाएँगी। यहाँ तो पटके रहोगे, तो कोई सुनवाई नहीं होगी।''[4]

वार्ड ब्याय की बातों से सरकारी हॉस्पिटल की असलियत भी उजागर होती है। क्योंकि मरीज बेड पर पटके ही रहते हैं। इलाज के नाम पर नसों पर केवल सेलाइन सरकाई जाती है। डॉक्टर दिन भर में दर्शन भी नहीं देते हैं। सरकारी हॉस्पिटल की लाचार व्यवस्था के कारण राजेश की माँ की मृत्यु हो जाती है। किसानों के घर विवाह हो या मृत्यु, दोनों ही स्थिति में मेहमान और रिश्तेदारों को खिलाने-पिलाने के वास्ते कर्ज लेना पड़ता है। या सोना-चाँदी को गिरवी रखकर क्रियाकर्म करते हैं। ये भारतीय किसानों के जीवन का यथार्थ है।

बहरहाल किसान यदि गेहूँ की खेती एक एकड़ में करता है, तो करीब चालीस किलो बीज बोना पड़ता है। सरकारी बीज मिले तो लगभग पन्द्रह सौ लगेगा और यदि बीज दुकानदार से खरीदना पड़ा। तब तीन हजार के आस-पास लग जायेगा। खेत तैयार करने का, कीटनाशक दवा, खाद, सिंचाई और कटाई आदि के सभी खर्च हिसाब करने पर कुछ लाभ नहीं होगा। केवल खाने भर का जैसे-तैसे निकलता है। किसान रात-दिन मेहनत करके जब फसल बेचने सरकारी मंडियों में जाते हैं। तब व्यापारी ट्रालियाँ, बैलगाड़ियाँ की लाइन देखकर कीमत तय करने वक्त हजारों बहाने बनाते हैं। दाना दागी हो गया है, धब्बा साफ दिख रहा है या कहते कि अनाज में माइश्चर हैं। फिर बाहर पन्द्रह सौ में बात करते हैं और अंदर चैदह सौ मिलता है। उसके लिए भी किनारे पर अपना हिस्सा झपटने के वास्ते खड़े रहना पड़ता है। उपन्याकार के शब्दों में- ''बिचारा किसान मंडी के बाहर दलाल को पन्द्रह सौ में अपनी उपज बेच देता हैं। दलाल के पास सब व्यवस्था होती है, वह तुरंत अंदर जाता है और उसी व्यापारी के आढ़त पर जाकर उपज तुलवा देता है, जो अभी अंदर चौदह सौ से एक रुपया भी ऊपर नहीं कर रहा था। किसान तो गरीब की जोरू है मानो, जिसे हर कोई अपनी लुगाई मान कर चलता है और मौका मिलते ही नोंच-खसोट लेता है।''[5]

किसान क्रेडिट कार्ड से किसानों को सहायता करने के वास्ते सरकार द्वारा लोन की सुविधा प्रदत्त है। किंतु बिचौलियों किसानों के नाम पर लोन ले लेते हैं। वे लोन अदा नहीं करते हैं। बैंक वाले किसान के घर नोटिस भेजकर लोन अदा करने पर मजबूर करते हैं। इस उपन्यास के नायक रामप्रसाद की दो एकड़ जमीन पर बिचौलिया ने क्रेडिट कार्ड बनवाता है। और तीस हजार रुपये निकाल लेता है। बिचौलियाँ द्वारा लोन अदा नहीं करने पर बैंक रामप्रसाद के घर नोटिस भेजता है। अनपढ़ किसान मास्टरजी से नोटिस पढ़वाते हैं। जिसमें तीस हजार रुपये लोन निकालने की बात लिखी हुई है। किंतु रामप्रसाद एक रुपया बैंक से लोन नहीं लिया है। रामप्रसाद, मास्टरजी से आदेवन लिखवाकर बैंक चला जाता है। बैंक में एक महिला कर्मचारी को आवेदन थमा देता है। वह महिला आदेवन लेने के बाद बैंक के किसी बड़े अधिकारी को फोन करती है। उनकी बातों से स्पष्ट होता है कि रामप्रसाद जैसे अनेक किसानों के नाम पर बिचौलिए लोन निकाल लिये हैं। यथा-''सर एनदर केस.......सेम एज ऑल द प्रीवियस केसेज। सूखा पानी का किसान है कोई। जी सर आवेदन लेकर आया है। हाँ सर सेम वैसा ही मामला है, उसे कुछ नहीं पता है इस सब के बारे में। जी सर।''[6]

यह वर्तमान समाज का यथार्थ है। क्रेडिट कार्ड पास करने में बैंक मैनेजर और बिचौलिया से लेकर सरकारी ऑफिसर तक की मिलीभगत है। बैंक मैनेजर की करतूत देखिए- ''जो बिचौलिया था, उसने कहा था कि वह इन सारे खातों में समय पर पैसे जमा करवा देगा। लेकिन अब वह बिचौलिया बदल गया है, कह रहा है कि मेरे पास पैसा नहीं है जमा करवाने को।''[7]

रामप्रसाद कलेक्टर श्रीराम परिहार के ऑफिस आवेदन लेकर भूखा-प्यासा चला जाता है। ताकि बैंक का लोन माफ हो सके। और इस प्रकार किसान के क्रेडिट कार्ड से लोन लेने वाले बिचौलियों को कड़ी-से-कड़ी सजा मिले। आगे से कोई बिचौलिया किसान के क्रेडिट कार्ड से फर्जी लोन लेने से डरे। साथ ही बैंक के मैनेजर और भ्रष्ट ऑफिसर को भी कड़ी सजा मिले। बैंक मैनेजर और ऑफिसर किसान क्रेडिट कार्ड में लोन पास करने से पहले अच्छे से जाँच-पड़ताल कर लें। उसके बाद ही लोन दिया जाए। किंतु कलेक्टर श्रीराम परिहार झूठी संवेदना दिखाते हुए रामप्रसाद को खाना खिलाने का आदेश देता है। ताकि कहीं मर गया तो मीडिया वाले बात को बड़ा करेंगे। और नगर उत्सव में मुख्यमंत्री भी शामिल होने वाले हैं। श्रीराम परिहार एक संवेदनहीन कलेक्टर हैं। किसान के प्रति उनकी संवेदनहीनता देखिए- ''और हाँ यहाँ के सारे अर्दलियों को भी समझा दो कि उत्सव के बाद इस प्रकार का कोई किसान यहाँ आता है आवेदन लेकर, तो उसे मुझसे न मिलने दें, और कैम्पस में ही नहीं खड़ा होने दो। सीधे कहो कि बैंक में जाइये यह बैंक का मामला है, इसमें कलेक्टर का कोई काम नहीं है। यह जो आज खड़ा था सूखा पानी का किसान, दिन भर का भूखा, अगर वहीं पर बेहोश होकर गिर जाता, मर जाता, तो.....? हम क्यों बिना मतलब के यह सिरदर्द झेलें। उसकी हालत देखी थी, अब मरता कि तब मरता। मोटी-मोटी हेडिंग छपती समाचार पत्रों में कि धोखाधड़ी के शिकार किसान ने कलेक्ट्रेट कैम्पस में कलेक्टर के सामने अपनी जान दी। खुद तो मरता, साथ में हमें भी मरवा जाता।''[8]

बहरहाल बीज, खाद, डीजल की कीमत और मौसम के उलटफेर से किसान तंग आ चुके हैं। खेत में खड़ी फ़सल असमय के बरसात और ओले से नष्ट होने के कारण, अब छोटे किसान मजदूरी करने लगे हैं। जब देश में मल्टीनेशनल कंपनियाँ खेती करेंगी, तब राकेश पांडे जैसे संवेदनहीन व्यक्ति को समझ आयेगी।

फिक्स कीमत में सब्जी खरीदने पर किसान के नहीं होने की याद आयेगी। राकेश पांडे का किसान के प्रति मानसिकता देखिए- ''तो मर जाए न? सरकार के भरोसे बैठा है क्या? दुनिया में सब अपने-अपने भरोसे बैठे हुए हैं। आपको किसने कहा है खेती करो? मत करो अगर नुकसान का इतना ही डर है तो। जब कहा ही जाता है कि खेती तो मौसम के भरोसे खेला जाने वाला जुँआ है, तो क्यों खेलते हो उस जुँए को? किसी ने कहा है क्या आपसे? मत करो खेती कोई दूसरा काम करो।''[9]

देश के भ्रष्ट अधिकारी अपना जेब भरने के लिए किसान को बलि का बकरा बनाते हैं। नगर उत्सव का डेकोरेशन भी फूलों की जगह किसान की फसल से करना चाहते हैं। ये किसान की फसल को कुछ समझते ही नहीं है। आनंद शर्मा जैसे लोगों की नीति देखिए- ''असल में गेहूँ की कुछ बालियाँ चाहिए होंगी। कुछ का मतलब थोड़ी ज़्यादा। केवल बालियाँ नहीं, पूरा पौधा ही चाहिए होगा। उसीसे डेकोरेशन करेंगे असल। फूलों की जगह उनका ही उपयोग करेंगे।''[10]

नगर में उत्सव के वास्ते पटवारी, सरपंच, कलेक्टर एवं अन्य तैयारी में लगे हुए हैं। इधर सूखा पानी में फागुन के माह में भादो के महीने की तरह बादल गर्जन और बिजली की चमक के साथ ओला और पानी पड़ने लगता है। किसान के खेतों में ओले पड़ते ही किसानिन रो-रोकर भगवान से विनती करती हैं। फिर फसल के नष्ट होते ही गालियों के साथ भगवान को कोसती हैं। जैसे मातम मानाते कोसती हैं। उसी प्रकार आज कोस रही हैं। किसान के खेत की भयावह दृश्य देखिए- ''ओलों की मार खाकर वह बालियाँ टूट-टूटकर जमीन पर गिर रही हैं, जो कुछ घंटों पहले तक अपने गर्भ में कुछ होने का अहसास लिए, हवाओं के स्पर्श पर झूल रही थीं, झूम रही थीं। ओले, गेहूँ के पौधे पर जहाँ जाकर टकराते हैं, वहीं से उसे तोड़ कर गिरा देते हैं। जो पौधे हवा के कारण जमीन पर पहले ही गिर चुके थे, अब ओलों में दब कर उनकी कब्र बन रही है। जिंदा कब्र। या शायद यह कब्र किसान की।''[11]

पानी-ओले से गेहूँ, चना, सब्जी से लेकर आम की मंजरियाँ और महुए का फूल आदि सभी को नष्ट कर देता है। किसान की कमर को पूर्णरूप से तोड़ देती है। सूखा पानी के किसान कलेक्टर को ज्ञापन देने की तैयारी करते हैं। मुआवजे की माँग का ज्ञापन मुख्यमंत्री के नाम लिखते हैं। रात की प्रलय से रामप्रसाद पत्थर के समान हो जाता है। किंतु वह अन्य किसान के साथ ज्ञापन देने शहर चला जाता है। रामप्रसाद के क्रेडिट कार्ड के फर्जी लोन का आदेवन कलेक्टर के पास जमा करने की सूचना से पटवारी बराबर रामप्रसाद को फटकारते हैं। ओले और पानी के नुकसान का मुआवजा के लिए पटवारी को विवरण लिखने के लिए आग्रह करते हैं। तब पटवारी ताना मारते हुए पुनः कलेक्टर साहब के पास मुआवजा के वास्ते जाने को कहते हैं। रामप्रसाद की विनती करने पर जमीन का विवरण लिखते हैं। जिसमें रामप्रसाद की अपनी जमीन का केवल लिखते हैं। लेकिन रामप्रसाद मालिक की जमीन पर भी गेहूँ की खेती की थी। जिसका मुआवजा नहीं लिखते हैं। रामप्रसाद की बार-बार विनती करने पर पटवारी की भ्रष्टनीति देखिए- ''कहने से कुछ नहीं होता है, देने से होता है। भेंट पूजा करनी पड़ती है रिपोर्ट लिखवाने के लिए। कुछ लाया है क्या? लाया हो तो दे दे, मैं ग्राम सेवक को दे दूँगा, वह ठीक से रिपोर्ट बना देंगे। वैसे नहीं बनाता है कोई भी रिपोर्ट।''[12]

वर्तमान समाज का यथार्थ है कि जिनके खेत में वास्तव में ओले से नुकसान हुआ है। उनके लिए प्रति एकड़ हजार रुपये और जिनका नुकसान नहीं हुआ है। उसे प्रति एकड़ ढ़ाई हजार रुपये मुआवजा दिया जाता है। देश की इसी भ्रष्टनीति के कारण रामप्रसाद जैसे किसान आत्महत्या करने पर मजबूर हैं। एक सीधा-साधा किसान रामप्रसाद जो क्रेडिट कार्ड का फर्जी लोन, ओला से फसल के नष्ट होने पर और सही मुआवजा न मिलने के कारण आत्महत्या कर लेता है। रामप्रसाद के आत्महत्या करने की वजह खुद सरकारी अधिकारी हैं। अधिकारी हमेशा अपने ऊपर आने वाले संकट को टालने के लिए किसी भी हद तक जा सकते हैं। आज रामप्रसाद जैसे किसान को आत्महत्या करने के बाद तत्काल लाश को जला देते हैं। ताकि असलियत छुपा सकें। यहाँ मीडिया के सामने रामप्रसाद के भाई भगीरथ और उनकी पत्नी कमला को झूठी संवेदना दिखाकर अपनी झाल में फंसा लेते हैं। फिर मीडिया के सामने रामप्रसाद को पागल साबित करा देते हैं। यथा- ''रामप्रसाद के नाम से बैंक में फर्जी किसान क्रेडिट कार्ड बनवा लिया था किसी ने, इसके कारण मानसिक संतुलन खराब हो गया था उसका। इसी कारण आत्महत्या की रामप्रसाद ने। रामप्रसाद की पत्नी और उसके भाई ने स्वीकार किया कि रामप्रसाद पागल हो चुका था।''[13]

कलेक्टर, पटवारी, सरपंच, बैंक मैनेजर, सोनार, डॉक्टर, बिचौलियों और व्यापारी आदि की भ्रष्टनीति के कारण भारत के अन्नदाता आत्महत्या करने पर मजबूर हैं। विवश अन्नदाता की आत्महत्या करने के बाद देश के सरकारी अधिकारी अपने उच्च अधिकारी से बचने के वास्ते किसान को मीडिया के सामने पागल घोषित कर देते हैं। ये वर्तमान समय में देश के अन्नदाताओं की त्रासदी है।

संदर्भ-

१. अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, शिवना प्रकाशन, मध्यप्रदेश, दसवाँ संस्करण: 2020, पृ.-8

२. उपरिवत्, पृ.-27

३. उपरिवत्, पृ0-49

४. उपरिवत्, पृ.-66

५. उपरिवत्, पृ.-106

६. उपरिवत्, पृ.- 158

७. उपरिवत्, पृ.-158

८. उपरिवत्, पृ.- 173-174

९. उपरिवत्, पृ.-194

१०. उपरिवत्, पृ.-202

११. उपरिवत्, पृ.-209

१२. उपरिवत्, पृ.-232

१३. उपरिवत्, पृ.-255

हिंदी कहानियों में वृद्ध विमर्श : यथार्थवादी चिंतन

-डॉ.सुरेश सिंह राठौड़

सहायक आचार्य, हिंदी विभाग,

राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय,

बांदरसिंदरी,किशनगढ़ मो.9928344566

शोध सारांश :- साहित्य समाज सापेक्ष होता है। विमर्श' शब्द का अर्थ है, अनुकूल-प्रतिकूल चिन्तन, सोच, विचार, चर्चा आदि। प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में बुजुर्गों का अत्यंत उच्च और आदर्श स्थान रहा है। जीवन भर अपने मन, कर्म एवं वचन से रक्षा करने वाला, परिवार के सदस्यों को पौधों से पेड़ बनाने वाला व्यक्ति; घर में एक कोने में अपेक्षित जीवन जीता रहता है या वृद्धाश्रम में अपनी मौत का इंतजार करता है । भौतिकता में डूबकर तथा आधुनिकता की दौड़ में व्यक्ति रिश्तों की मर्यादा भूलता जा रहा है तथा मानवीयता की गरिमा का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है।

बीज शब्द :-विमर्श,भूमंडलीकरण,यथार्थवादी चिन्तन, भौतिकता

साहित्य समाज सापेक्ष होता है। साहित्य और समाज के परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध के कारण ही साहित्य में समाज सदैव से ही रूपायित होता रहा है। जिस साहित्यकार का अपने समाज से जितना वैचारिक आदान-प्रदान होता है, वह साहित्य उतना ही जीवंत, संवेदनशील और प्रभावशाली होता है। साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज की जीवंत समस्याओं को सुधि पाठकों के समक्ष उठाता रहा है।

प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में बुजुर्गों को अत्यंत उच्च और आदर्श स्थान रहा है। वैश्वीकरण एवं उपभोगतावाद के कारण देश में परिवार के मूल स्वरूप में भी व्यापक परिवर्तन आया है। बदलते सामाजिक परिवेश में संयुक्त परिवारों का विखंडन बड़ी तेजी से एकल परिवार के रूप में परिवर्तित हुआ है। वर्तमान परिवार व्यवस्था को देखें तो संयुक्त परिवार की अवधारणा बहुत ही कम रूप में देखने को मिलती है। एक ही छत के नीचे अपवाद स्वरूप ही दो-तीन पीढ़ियां साथ रहते देखीं जा सकती हैं। कितनी विडंबना है पूरे परिवार को बरगद की तरह छांव देने वाला व्यक्ति बुजुर्ग होने पर अकेला, असहाय व बहिष्कृत जीवन जीता है। जीवन भर अपने मन, कर्म एवं वचन से रक्षा करने वाला, परिवार के सदस्यों को पौधों से पेड़ बनाने वाला व्यक्ति; घर में एक कोने में अपेक्षित जीवन जीता रहता है या वृद्धाश्रम में अपनी मौत का इंतजार करता हैं। आधुनिक समाज की बौद्धिकता और वैज्ञानिक परिवेश के कारण पारंपरिक धार्मिक भावनाओं के प्रति आस्था और भय खत्म हो गया है। वर्तमान में पारिवारिक संबंध मात्र आर्थिक जुड़ाव के कारण ही शेष रह गए हैं। आज समाज में आदर्श मूल्य, सामाजिक पारिवारिक जिम्मेदारियाँ, कर्तव्य जैसे शब्द बेईमानी से लगते हैं। रिश्तों भी इनसे अछूते नहीं रहे वर्तमान में व्यक्ति केवल अर्थ को ध्यान रखता हैं। परिवार रिश्ते समाज उसके लिए कुछ भी मायने नहीं रखते। व्यक्ति को बुढापे में अकेलेपन की समस्या जूझना पड़ता है। भौतिकता में डूबकर तथा आधुनिकता की दौड़ में व्यक्ति रिश्तों की मर्यादा भूलता जा रहा है तथा मानवीयता की गरिमा का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है। आधुनिकता की दौड में डूबे परिवार के बीच वृद्धावस्था में आराम करने की उम्र वाले वृद्धों को परिवार की जिम्मेदारियो से जूझते कहानियों में इंगित किया गया है।

कीर्ति शर्मा की कहानी 'दायित्व' वृद्ध विमर्श से सरोकार रखती है। परंतु यहाँ विचारणीय बात यह है कि यहाँ आधुनिक पीढ़ी उन्हें बोझ नहीं समझती, अपितु वह अपने दायित्वों का निर्वहन करती हुई पिता के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करती है। सरकारी सेवा से निवृत होने के बाद व्यक्ति अपने ही घर में पराया-सा महसूस करता है। कथा नायक विजय के पिताजी सरकारी सेवा में रहते हुए व्यस्त जीवन शैली के बाद घर लौटते हैं। घर की चहारदीवारी में वे अपने आपको घुटा हुआ-सा महसूस करते हैं, बैचेन-सा महसूस करने लगते है, स्वयं को घर में अकेला महसूस करते हैं। एक शाम बाबूजी बिना भोजन किए ही अनमने से होकर लेट जाते हैं। विजय ऑफिस से आकर देखता है कि पिताजी उदास एवं बैचेन हैं। विजय पिताजी के पास बैठता हैं। उनसे सुख दुःख की बात करता है। बातों ही बातों में पिताजी उसे संकेत दे देते हैं कि घर में समय काटे नहीं कटता है वे जीवन में पुनः व्यस्त होना चाहते हैं। विजय इस समस्या के समाधान हेतु 'मुस्कान भवन' की शरण में जाता है। मुस्कान भवन वृद्ध व्यक्तियों की संस्था है, जिसकी बहुतायत से सेवानिवृत व्यक्तियों ने सदस्यता ले रखी है। यहाँ साहित्य, संगीत के साथ-साथ समाज सेवा से जुडे उपक्रम भी आयोजित किये जाते हैं। यहाँ आकर बाबूजी अपनी पढ़ने की रूचि को पुनः जीवित करते हैं और उनके जीवन में फिर-खुशहाली आ जाती है। कहानी में विजय द्वारा अपने पिता के प्रति निभाये गये दायित्व के माध्यम से युवा पीढ़ी को संदेश प्राप्त होता है। आज वृद्धाश्रमो के युग में युवा पीढ़ी यह नहीं समझ रही है कि उनके माता-पिता को पैसे की नहीं प्यार की आवश्यकता है। जिस प्रकार बचपन में संतान को प्यार की जरूरत होती है, वैसे ही बुढ़ापे में माँ-बाप को भी होती है। रिश्तो में आपसी मेलजोल से ही यह जीवन खुशी से जीया जा सकता है। लेखिका ने विजय के माध्यम से सकारात्मक संदेश प्रेषित किया है। विजय ऑफिस जाते समय पिताजी की समस्या को दूर करने के बारे में, जो चिंतन करता है; वह आज के परिदृश्य में बहुत ही महत्वपूर्ण है। विजय सोचता है "अपनो के साथ बड़ी खुशी के पल कितने सुखद होते हैं फिर क्यों आज का आदमी अपनो से कहने लगा है, रिश्तो की मिठास, उनकी अहमियत छूटती जा रही है, तभी तो उसका जीवन मशीनी और शुष्क बन गया है, हर पल भागदौड़। ग़र इस भागदौड को थोडा विराम देकर अपने आसपास के रिश्तो को महत्व दे, उन्हें सजीव कर दे तो वह अनुभूति छूटता मिठास पुनः लौटा लाए, मैंने थोडी नींद ही तो खोई, माँ के थोडे फेरबदल से हमने अपनी सेहत बाऊजी का सानिध्य पाया।"

भूमंडलीकरण की सबसे बड़ी समस्या है-समयाभाव। आज के व्यक्ति के जीवन में भागदौड़ ज्यादा हो गयी है। वह अपनों के लिए भी समय नहीं निकाल पाता है। विजय के व्यवहार एवं कथन से उक्त प्रसंग में यह बात सामने आती है कि यदि हम चाहें तो थोड़े से प्रयास करने पर भाग दौड भरी जिंदगी में भी खुशी के पल खोजे जा सकते है। दायित्व पूर्ति का एक अन्य उदाहरण मुस्कान भवन के सभी सदस्यों द्वारा समाज सेवा के लिए किए जाने वाले प्रयास हैं। सरकारी सेवा तथा निजी कर्तव्यों से मुक्त होने वाले बुर्जुगो का सामाजिक दायित्व तो जिंदगी के आखिरी मोड़ तक बना रहता है। उसी दायित्व को निभाने की प्रेरणा इस कहानी से दी गई है। अत: कहा जा सकता है कि वर्तमान समाज में जहाँ युवाओ की सोच ने वृद्धाश्रमों की संख्या में वृद्धि की है। वहीं इस कहानी में युवा वर्ग द्वारा दायित्व की पूर्ति करवाकार सकारात्मक पहल की गई है।

एकाकीपन केवल वृद्धावस्था की ही निशानी नहीं है अपितु अपने बच्चों द्वारा अकेले छोड़ देने के कारण भी जीवन में एकाकीपन आ जाता है। रजनी मोरवाल रचित कहानी 'मरीन ड्राइव की खाली बोतल' शिखा और प्रशांत दो पात्रों की कहानी है। तीसरे और महत्वपूर्ण पात्र के रूप में समुद्र तट मरीन ड्राइव आता है। इसी स्थान पर समुद्र के किनारे बैठ कर शिखा को जिंदगी की नई प्रेरणा मिलती है। शिखा और प्रशांत के दोनों बेटे पढ़-लिख कर विदेश में जाकर नौकरी करने लग जाते हैं और परिवार सहित वहीं बस जाते हैं। जिंदगी के अंतिम पड़ाव पर आकर वे दोनों अकेले रह जाते हैं और जीवन में एकाकीपन हावी हो जाता है। वे सोचते हैं कि बच्चों को पढाया-लिखाया इस काबिल बनाया परंतु सब अपने अपने मार्ग पर चले गए और जिन्दगी के इस अंतिम पड़ाव में हम दोनों को अकेला छोड़ गए। एस बिंदु पर आकर कहानी आधुनिक परिवेश से जुड़ जाती है जहां आधुनिकता के फेर में पड़ा युवा अपने बूढ़े माँ-बाप को बेसहारा छोड़कर विदेश में जाकर बस जाता है। कहानीकार मोरवाल ने भी इन्ही सन्दर्भों में प्रस्तुत कहानी की रचना की है और युवाओं को समझाने का प्रयास किया है कि जिन लोगों ने तुम्हारे लालन पालन में अपना सब कुछ गवा दिया आज वे तुम्हारे दीदार के लिए तरसते रहते हैं। साथ ही पुरानी पीढ़ी को भी सन्देश दिया है कि आधुनिक पीढ़ी के ये युवा ऐसे पक्षी हैं जो उड़ने के लिए ही पैदा हुए हैं। इसी बात को कहानीकार ने समुद्र और खाली बोतल के माध्यम से अभिव्यक्त किया। इतना सब कुछ होने के उपरांत भी तब वह अपनी संतान के प्रति सोचने समझने में ही अपना जीवन लगाते रहते हैं। शिखा और प्रशांत की तरह ही कमोवेश हर माँ बाप जिंदगी के अंतिम मोड़ पर ऐसा ही सोचते हैं। शिखा अपने अकेलेपन को लेखन के जरिए दूर करने में लग जाती है। यहाँ भी अर्थ निकलता है कि व्यक्ति जब भावनात्मक रूप से जिंदगी से जुड़ता है तब वह लेखन करने लगता है इसी प्रकार जीवन के प्रति एक और संदेश कहानी में है "शिखा मन-ही-मन बुदबुदा उठी मनुष्य की प्रकृति भी इस गहरे समुद्र की मानिंद होनी चाहिए जो कुछ भी उसका अपना नहीं है या यूं कहें लो की फॉरिन पार्टिकल है उसे यह अपने भीतर कभी समाहित नहीं होने देता किसी न किसी युग में सदी में या किसी ने किसी दिन जरूर बाहर लाकर तट पर पटक देता है तन साफ तो मन साफ।" इस प्रकार यह कहानी अपने में विशेष अर्थ को समाहित किए हुए हैं।

दीप्ति कुलश्रेष्ठ द्वारा रचित 'परिणति' कहानी में भी एकाकीपन के खतरों को इंगित करती है। आधुनिकता का सबसे बड़ा खतरा है एकाकीपन। संयुक्त परिवार प्रथा के टूटने के बाद एकल परिवारों में संत्रास बढ़ गया है। परस्पर प्रतिस्पर्धा के कारण एवं पूंजीवादी व्यस्था के दुष्परिणाम स्वरुप व्यक्ति व्यक्ति के मध्य गलाकाट प्रतिस्पर्धा बढ़ गयी है।

विद्या पालीवाल रचित कहानी 'शून्य' में वृद्धों की समस्या को उठाया गया है। लेखिका एक संभ्रांत महिला के एकाकीपन का वर्णन करते हुए कहती है- "पता चला कि खालाजान को इकलौते पुत्र की अम्मा होने का सौभाग्य प्राप्त है। अपने वतन से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात अग्रिम अध्ययन हेतु बाहर का आकर्षण खींच ले गया। लन्दन गए और वहीं के हो गए सुपुत्र ...।"[1] परन्तु इतना सब होने के बाद भी अम्मजान ख्वाज़ा की दरगाह पर इस आश से मिन्नत माँगने जाती है कि मरने से पहले एकबार बेटे का मुहँ अवश्य देख ले। कहानीकार अपने पाठकों ओ सन्देश देते हुए कहती है "किस दिन के लिए माँ-बाप संसार रचाते हैं ? कहाँ पहुंचेंगे हम और कहाँ पहुंचेगी मानवता और प्रेम का क्या मोल होगा इस भौतिक समाज में ? औलाद विलायत में है और बड़े मियाँ और खालाजान को गुजारनी है बाकी जिंदगी यहाँ भारत में।"[2]

डॉ. सुरेश राठौड़ राजस्थान के युवा साहित्यकार हैं। राजस्थान की मिटटी की मोहक गंध उनकी कहानियों के मूल में है। उनके कहानी संग्रह 'माटी के रंग हज़ार' की कहानियाँ आम आदमी की जिंदगी का जीवंत दस्तावेज कही जा सकती हैं। आज के भौतिकतावादी युग में स्त्री-पुरुष के रिश्ते, उसके परिवार के समीकरण, बदलते सामाजिक मूल्य तथा तिरोहित होते जीवन आदर्श प्रमुखतया उनकी कहानियों के कथानकों के केंद्र में हैं। "तिरोहित होते मानव मूल्योंएवं मानवीय संवेदना से शून्य आज के मनुष्य का यथार्थ चित्रण इन कहानियों में हुआ है। ... आधुनिकता के परिणाम स्वरूप इंसान की पल-पल बदलती मनोवृति एवं मापदंड समाज के बदलते हालात और मुहं चिढ़ाते मानव मूल्यों को प्रस्तुत कहानियों में रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।"[3] इस संग्रह की कहानी **'कोहरे के आर-पार'** का नायक अशोक अपने बूढ़े माँ-बाप को गाँव से शहर लाना चाहता है परन्तु अशोक की पत्नी लता को उनका साथ रहना पसंद नहीं। इसलिए वह अशोक के बूढ़े माँ-बाप के लिए कहती है -" इस घर में या तो तुम्हारे माँ- बापूजी रहेंगे या फिर मैं और बच्चे।" इसी प्रसंग में लता कहती है -"कतना मातम मनाओगे अपने बूढ़े माँ-बाप के लिए ? ...पड़े थे यहाँ पर आराम से दो वक्त की रोटी मिल रही थी।"[4]

वर्तमान समय में मनुष्य आधुनिकता को अपना रहा है। वह जीवन के प्रत्येक पहलू में आधुनिक बनता जाता है वह भूल जाता है कि जिस व्यवस्था और स्थिति ने उसे बनाया है, वह उससे दूर होता जा रहा है। माता पिता जिनके सहारे वह जीवन का महत्त्व सीखता है, बचपन से चलना, हंसना, बोलना, वह अपने माता पिता से सीखते है। और जब वृद्धावस्था में माता पिता को अपनी संतान की आवश्यकता होती है वह अपनी जिम्मेदारी से मुंह फेर लेते हैं। 'गुलमोहर का परिंदा' कहानी में लेखक 'योगेश कानवा' ने बताया है कि आज हम जिसके सहारे मनुष्य कहलाते हैं बाद में उन्हें हम अनुपयोगी वस्तुओं के रूप में देखने लगते हैं। इसी को प्रतीक रूप में योगेश कानवा' ने इस कहानी में चरितार्थ किया है। अपने सामने लगे गुलमोहर के वृक्ष की शाखा पर बैठे परिंदे को देखते हैं जो बार - बार अपने तीखे पंजों से शाख को नोच रहा था पर प्रहार कर रहा था ऐसा लग रहा था मानो वो उसे तोड़ ही डालेगा। उस पक्षी के बार-बार प्रहार के कारण वो डाली अपना उपरी आवरण खो चुकी थी। कहानी का पात्र शिवम उसे देखकर सोचने लगता है कि यह तो उसका बसेरा है, उसका घोंसला भी इसी डाली पर है फिर भला ऐसा क्या कारण हो सकता हैं। कहानीकार ने इसी के माध्यम से वृद्धावस्था से गुजर रहे वृद्ध जनों की ओर

इंगित किया है - "वो परिंदा गुलमोहर की शाखा नोच रहा था तो लगा जिसने सहारा दिया उसी शाखा को काटना, जिसने पैदा किया उन्हीं को अलग करना। जिसने घर बना कर दिया उन्हीं को उसी घर से बाहर निकाल बेघर करना ये तो सब इंसानी फितराना बातें हैं।"[5] स्पष्ट होता है कि आज के दौर में मनुष्य जिसके कारण अपनी जिंदगी का महत्व सीखता है बाद में उन्हीं माता पिता को अयोग्य समझकर वृद्धाश्रम छोड़ दिया जाता है। जिस समय उन्हें प्यार और अपनेपन की आवश्यकता होती है, उसी समय उन्हें अकेलेपन में जिंदगी गुजारने को विवश कर दिया जाता है।

भौतिकता की चकाचौंध में डूबी आज की युवा पीढ़ी को यह समझना चाहिए कि वास्तव में वृद्धावस्था एक स्वाभाविक और प्राकृतिक स्थिति है। प्रत्येक बालक कुछ समय बाद युवा और फिर प्रौढ़ बन कर अंत में वृद्धावस्था तक पहुंचता है। इस प्रकार में ज्ञात होता है कि वृद्धजन हमारी संस्कृति के जन्मदाता एवं संरक्षक बुजुर्गों में समाज को शिखर तक पहुंचाने की असीम बौद्धिक क्षमता है। वृद्धजन हमारी संस्कृति की अनमोल धरोहर है, उनको सुरक्षित रखना हमारी आवश्यकता एवं परम धर्म है। वर्तमान में वृद्धों की स्थिति का सबसे बड़ा कारण गिरते नैतिक मूल्य, टूटते संयुक्त परिवार, शहरीकरण, पश्चिमी परिवार, महंगाई, पीढ़ीगत वैचारिक अंतर, आदि प्रमुख कारण हैं। अत: प्रत्येक माता-पिता को चाहिए कि वह अपने बच्चों को संस्कारित करें, उन्हें समाज के प्रति उनके दायित्वों से अवगत करवाएं और सामाजिक सीख दें।

क्षमा चतुर्वेदी की 'फासलें' कहानी में भी वृद्ध विमर्श मुखरित हुआ है। जहाँ बुढापे में अकेलेपन की समस्या से व्यक्ति को जूझना पड़ता है। रामबाबू व उनकी पत्नी के बीच की दूरी उनका अकेलापन और बढ़ा देती है। वे चाहकर भी इस दूरी को पाट नहीं पाते है। 'फासले' कहानी में लेखिका ने रिश्तों में आये फासलों को अपनी जुबान मे व्यक्त किया है। लेखिका ने शहर मे कुछ लोगो के जीवन में आये अकेलेपन व उबाउपन को ढूंढती है। ग्रामीण व शहरी वातावरण में अंतर को स्पष्ट किया है। भौतिकता में डूबकर तथा आधुनिकता की दौड़ में व्यक्ति रिश्तों की मर्यादा भूलता जा रहा है तथा मानवीयता की गरिमा का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है। साथ ही ग्रामीण समाज में रिश्तों के स्थायीपन व मानवीयता को दर्शाया है। एक तरफ जहां रामबाबू व शोभा एक दूसरे से निरन्तर दूर होते हैं, वहीं दूसरी तरफ दयाल बाबू व उनकी पत्नी उमा में उस के साथ-साथ नजदीकी आती जाती है। रामबाबू को दयाल बाबू उमा के संदर्भ में कहते है - "अब उमा की ही जिद है कि गांव में ही रहकर जिंदगी के बचे कुचे वर्ष बिताने हैं। वहां सब लोगो के बीच इसका भी मन लग जायेगा और मेरा भी। भई, अब इस उम्र के इस दौर में पत्नी ही तो एकमात्र साथी रह जाती है और उसका मन रखना ही हमारा एकमात्र ध्येय।" यहाँ लेखिका ने दयाल बाबू के शब्दों में वृद्ध व्यक्तियों के संदर्भ में अपने विचारों को अभिव्यक्ति दी है तथा वृद्धावस्था में पति व पत्नी के बीच खत्म हो रहे रिश्ते व मानवीय संवेदना को अभिव्यक्ति दी है। जब दयाल बाबू अपनी पत्नी उमा के साथ गांव चले जाते हैं, तो रामबाबू अकेले पड़ जाते हैं। अब वह सुबह भ्रमण पर जाना भी छोड़ देते हैं। अकेलेपन से जूझते हुए वह एक दिन सुधा से कह उठते है "तुम्हे बुढापे में ये सब करने की क्या जरूरत है ? बच्चों का ध्यान बहुएं रख लेगी। तुम मेरा ध्यान रख लो, वही बहुत है।" रामबाबू अब बुढापे मे अपनी पत्नी से वही स्नेह और प्यार एकदम स्थापित करना चाहते हैं जो दयाल बाबू व उमा का है। उमा शुरू से ही रामबाबू से दूर थी। अब वह एकदम उनके साथ सामंजस्य नहीं बैठा सकती थी। सुधा उन्हें समझते हुए कहती है "अब तुम तो ऐसे कहने लगते हो जैसे कुछ जानते ही नहीं। छोटी बहू तो खुद डॉक्टर है उसे कहां फुर्सत है, यह सब देखने की। घर का सारा काम अब बड़ी के जिम्मे आ पड़ा है। उसे मैं मदद नहीं करूंगी तो और कौन करेगा, और मेरी तो उम्र ही बीती है घर के काम काज में। हाथ पर हाथ धरे अब बैठे भी तो नहीं रह सकती।" यहां लेखिका के आधुनिकता की दौड में डूबे परिवार के बीच वृद्धावस्था में आराम करने की उम्र वाली वृद्धा को परिवार की जिम्मेदारियो से जूझते बताया है। अगले दिन रामबाबू घर के बाहर बगीचे में ही टहलकर वापस आ गये। अब वह घर में बैठे-बैठे सोचते रहते है कि शोभा भी उमा की तरह उनके पास आकर बैठे और उनसे अपने मन की बात करे। लेखिका ने उनकी मनस्थिति को अपने शब्दो में अभिव्यक्ति देते हुए लिखा है "उनका कितना मन होता है कि सब कुछ छोड़कर शोभा कुछ देर उसके पास आकर बैठे। पुराने किस्से बीती यादों को वे भी ताजा करे, दयाल की तरह वे भी अपनी पत्नी से घंटो बतियाते रहें, पर शोभा क्यों नहीं यह सब कुछ समझ पाती है, उसका ध्यान तो बस घर बहुओं, बच्चे मे लगा रहता है।" लेखिका रामबाबू की तीन इच्छाओं को प्रकट करते हुए कहती है "पर अब उनकी तीन इच्छा होती है कि शोभा आकर उनके पास बैठे, उनका सुख -दुख सुने और तो और अगर बेटे के बारे में भी अगर कोई बातें कहेंगे तो आखिर शोभा से ही तो कहेंगे ना।" रामबाबू ने शोभा से रात को बीमारी का बहाना बनाकर से रात में अपने कमरे में सुलाने की बात कहते है तथा रात में उनको पानी आदि पिलाने हेतु उन्ही के कमरे में सोने की बात करते हैं। लेकिन शोभा नहीं मानती है। अंत में रामबाबू स्वयं को इस फासले का दोषी मानते हुए सोचते है "लग रहा था कि जो फासले कभी उन्होंने खुद ही अपने और शोभा के बीच बनाये थे। वे बढ़कर आज इतने बड़े हो चुके है कि उन्हें काटना अब उनके बस की बात नहीं रही है।" लेखिका ने रिश्तों में आयी इस दूरी में दोनो पक्षों की भागीदारिता के स्पष्ट संकेत दिये है। साथ ही भौतिकता की दौड में अंधे इंसान के ध्यान को उन फासलों को मिटाने की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया है। तथा इस फासलों को मिटाने की नसीहत दी है। स्त्री विमर्श का झूठा झंडा उठाने की बजाय लेखिका ने समाज की मूल समस्याओं को उठाकर एक नवीन दिशा देने का प्रयास किया है।

अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आलोच्य कहानीकारों की कहानियों में वृद्ध विमर्श मुखरित हुआ है। इन कहानीकारों ने अपने लेखकीय दायित्व का निर्वहन करते हुए अपनी कहानियों में न केवल वृद्धों की समस्या को उठाया है, अपितु उनके प्रति युवाओं को सचेत करने का भी कार्य किया है।

संदर्भ:

1. पालीवाल, विद्या, शून्य (दरकते रिश्ते) पृ.सं. ६४
2. पालीवाल, विद्या, शून्य (दरकते रिश्ते) पृ.सं. ६६
3. राठौड़, सुरेश, 'माटी के रंग हज़ार', फ्लैप पर अंकित टिप्पणी
4. राठौड़, सुरेश, कोहरे के आर-पार (माटी के रंग हज़ार) पृ.सं. 38
5. कानवा, योगेश 'गुलमोहर का परिंदा'(कोरड़ी),पृ.सं१३

मुक्तिबोध और फैन्टेसी : 'अंधेरे में' कविता के संदर्भ में

-डॉ.रेशमा अंसारी
प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष,
हिन्दी विभाग, मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर(छ.ग.)

-आरती सिंह राठौर
हिन्दी विभाग,
मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर(छ.ग.)

मुक्तिबोध 'रक्तप्लावित संकल्पधर्मा चेतना' के और 'मानवता' के कवि हैं। हिन्दी साहित्य को फैन्टेसी के माध्यम से समृद्ध करने का श्रेय मुक्तिबोध को है। हिन्दी में फैन्टेसी का सर्वाधिक और सफल प्रयोग मुक्तिबोध ने किया है। मुक्तिबोध की निर्भीक एवं बेबाक अभिव्यक्ति ने एवं विकासवादी प्रतिभा ने युग जीवन का कोना-कोना झांककर उसका सांगोपांग चित्र कविताओं में फैन्टेसी के माध्यम से प्रस्तुत किया है| फैन्टेसी के संबंध में मुक्तिबोध लिखते हैं- "फैन्टेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का अनुभूत जीवन समस्याओं का और इच्छित जीवन-स्थितियों का प्रक्षेप होता है। यहाँ कल्पना का मूल कार्य मन के निगूढ़ तत्वों को प्रोदभासित करते हुए विभिन्न रंगों में उन्हें अपने समस्त सौन्दर्य के साथ उद्घाटित करना रहता है।"[1]इस प्रकार काव्य में फैन्टेसी अनुभूत जीवन समस्याओं का और इच्छित जीवन परिस्थितियों के बीच की लंबी यात्रा होती है। जो केवल विवेक प्रक्रिया द्वारा अनुशासित न होकर हृदय और मन के द्वारा भी अनुशासित होती है।

'फैन्टेसी'शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द 'फैन्टेसीया' शब्द से हुई है, सामान्य शब्दों में इसका अर्थ है-दिवास्वप्न या मन की काल्पनिक आकांक्षा। फैन्टेसी का संबंध मानव मन के अवचेतन में घटित होने वाली घटनाओं से होता है| मानविकी पारिभाषिक कोश के अनुसार- "फैन्टेसी एक स्वप्नचित्र मूलक साहित्य है, जिसमें असंभाव्य संभावनाओं को प्राथमिकता दी जाती है।"[2] रोजमैरी जैक्सन ने अपनी पुस्तक 'फैन्टेसी : दी लिटरेचर ऑफ सबवर्जन' में लिखती हैं- "फैन्टेसीक साहित्य इच्छाओं-आकांक्षाओं का साहित्य है जो कि उसे खोजता है जिसकी उपस्थिति केवल कमी या खोए हुए की अनुभूति के रूप में शेष रह गई है। कमी या खोने की यह अनुभूति सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया में मनुष्य के रचनात्मक-आत्म के प्रतिबंधन द्वारा संघटित होती है।"[3]डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं- "फैन्टेसी मनोविज्ञान का शब्द है,इसका संबंध स्वप्न और अवचेतन मन में घटित होने वाली घटनाओं की विघटित और बेतरतीब बिम्बावलियों से है| साहित्य या काव्य में यह तकनीक के रूप में प्रयुक्त की जाती है।"[4]

'कला के तीन क्षण' निबंध के अंतर्गत काव्य रचना प्रक्रिया को प्रतिपादित करते हुए फैन्टेसी को मुक्तिबोध ने काव्य रचना प्रक्रिया का आधारभूत तत्व माना है। मुक्तिबोध लिखते हैं कि- "कला का पहला क्षण है, जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण| दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने से कसकते-दुखते मूलों पृथक हो जाना और एक ऐसे फैन्टेसी का रूप धारण कर लेना मानों वह फैन्टेसी अपनी आँखों के सामने खड़ी हो| तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैन्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रियापरिपूर्णवस्था तक की गतिमानता।"[5] इस प्रकार मुक्तिबोध ने फैन्टेसी को ही काव्य रचना प्रक्रिया माना है|मुक्तिबोध की कविताओं जैसे- ब्रह्मराक्षस, चाँद का मुँह टेढ़ा है, भूल-गलती, अंधेरे में आदि में फैन्टेसी अपने व्यापक स्वरूप में चित्रित है। इस दृष्टिकोण से 'अंधेरे में'कविता अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह कविता फैन्टेसी के माध्यम से शुरू होती है और फैन्टेसी के माध्यम से आगे बढ़ती है। इस कविता में कवि ने जिस यथार्थ की,जिस सत्य की अभिव्यक्ति की है; वह फैन्टेसी के माध्यम से ही संभव हो पाया है। इस कविता में स्वप्न के भीतर स्वप्न चलता है अर्थात फैन्टेसी के भीतर एक और फैन्टेसी।

'अंधेरे में' कविता में दो चरित्र हैं। पहला- वाचक जो काव्य नायक है और मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतीक हैतथा दूसरा- रक्तालोक स्नात पुरुष जो सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है। यह कविता इसी सर्वहारा वर्ग से तदात्म्य स्थापित करने की कविता है। मुक्तिबोध की कविताओं में आमजन का, जनता का चित्रण पहले भी हुआ है किन्तु, 'अंधेरे में' कविता में रक्तालोक स्नात पुरुष का जीवन्त चित्रणपहली बार हुआ है, जो फैन्टेसी के माध्यम से ही सफल हो पाया है।

"वह रहस्यमय व्यक्ति/अब तक न पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है,
पूर्ण अवस्था वह/निज संभावनाओं, निहित प्रभाओं, प्रतिभाओं की
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव/हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव,वह
आत्मा की प्रतिमा।"[6]

काव्य नायक सर्वहारा चेतना से युक्त होना चाहता है किन्तु वह अपनी मध्यम वर्गीय सुविधाओं को, दुर्बलताओं को भी नहीं छोड़ना चाहता है। इस निर्णय-अनिर्णय की स्थिति को जीकर, फैन्टेसी के माध्यम से संवेदना के स्तर को पार कर काव्य नायक व्यक्तिकता को छोड़कर सामूहिकता से जुड़ जाता हैतथा काव्य नायक की अस्मिता का विलय सर्वहारा वर्ग की चेतना में हो जाता है। चंचल चौहान लिखते हैं- "अंधेरे में कविता 'अंधेरे से प्रकाश' की ओर 'व्यक्ति से समूह' की ओर 'अस्मिता से आत्मविलय' की ओर 'स्वआत्म से नि:स्वआत्म' की ओर 'आत्मनिर्वासन से आत्मविस्तार' की ओर और 'मैं से हम' की ओर यात्रा करती है।"[7] इस कविता में फैन्टेसी ने अंधेरे का आशय स्पष्ट कर दिया है कि अंधेरा मध्यमवर्गीय स्वार्थों एवं मोह जालों का है। इसके विशेष फैन्टेसी चित्र को इस प्रकार देखा जा सकता है-

1.किसी मृत्यु दल की शोभा यात्रा-

'अंधेरे में' की प्रमुख फैन्टेसी मृत्यु दल की शोभा यात्रा है। यह फैन्टेसी वर्तमान समाज का यथार्थ है, वर्तमान समाज में पर्दे के पीछे होने वाले काले कारनामों का वर्णन है। यह जुलूस रहस्यमय एवं डरावनी है, किसी मृतक दल की शोभायात्रा की तरह क्योंकि यह विचित्र प्रोसेशन जनता को धोखा देने वाले षड्यंत्रकारियों का है-

"कलाबत्तूवाला काला जरीदार ड्रेस पहने

चमकदार बैंड-दल-

अस्थि-रूप, यकृत-स्वरूप, उदर-आकृति

आंतों के जालों से, बाजे वे दमकते हैं भयंकर।"[8]

इस जुलूस को देखकर काव्य नायक को अपनी स्थिति का अहसास होता है कि 'सब सोये हुए हैं, लेकिन मैं जाग रहा देख रहा।' काव्य नायक शोषण करने वाले षड्यंत्रकारियों को देख पा रहा है,जीवन के सत्य एवं परिवेश के यथार्थ को देख पा रहा है। यह जुलूस शोषक वर्ग के लोगों का है। काव्य नायक को उनके भीतरी राक्षसी स्वार्थ और छिपे हुए उद्देश्य स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। मुक्तिबोध ने अपने फैन्टेसीक संवेदना द्वारा जुलूस में पूंजीवादी समर्थक लोगों का असली चेहरा दिखाकर उन्हें नग्न कर दिया है।

"उनमें कई प्रकाण्ड आलोचक,विचारक,जगमगाते कवि-गण

मंत्री भी, उद्योगपति और विद्वान

यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात/डोमा जी उस्ताद।"[9]

1. जनक्रांति दमन हेतु मार्शल लॉ- पूंजीवादी वर्ग और उनके पोषक तथा समर्थक के षड्यंत्रों के,उनकी निरंकुशता के खिलाफ संगठित जनता का संघर्ष उत्कर्ष पर पहुंचता है, जिसके दमन के लिए पूरे शहर में सैनिक शासन और मार्शल लॉ लगा दिया जाता है_

"किसी जन-क्रांति के दमन के निमित्त यह

मार्शल-लॉ है।"[10]

3.तिलक, गांधी से साक्षात्कार-

दमनकारी शक्तियों का अनुमान होते ही काव्य नायक उनसे जूझने को तैयार होता है, इतने में काव्य नायक को उन ऐतिहासिक व्यक्तियों के दर्शन होते हैं, जिन्होंने कभी ऐसे दमनकारी शक्तियों से टक्कर ली थी| काव्य नायक ऐतिहासिक विवेक पाने के लिए तिलक की पाषाण-मूर्ति के पास पहुंचता है-

"कोई मुझे खींचता है रास्ते के बीच ही

जादू से बंधा हुआ चल पड़ा उस ओर

सपाट सूने में ऊंची-सी खड़ी जो

तिलक की पाषाण-मूर्ति है नि:संग/स्तब्ध जड़ीभूत..।"[11]

तिलक से मिलने के पश्चात काव्य नायक को जन मन के उद्देश्य का ज्ञान हो जाता है तथा उसका निजत्व क्षीण होता चला जाता है। वह इस उद्देश्य की सफलता का रहस्य जानना चाहता है तभी काव्य नायक को गांधी जी के दर्शन होते हैं-

"जिसे खूब देखा था, निरखा था कई बार/पर, पाया नहीं था|

आर हाँ,वह तो...../वह मुख-अरे, वह मुख, वे गांधी जी!!"[12]

स्वतंत्रता संग्राम में 'जन शक्ति' ने गांधी जी का साथ दिया था और वे सफल हुए थे| गांधी जी काव्य नायक से तिलक और गांधीजी स्वतंत्रता संग्राम के दो प्रमुख आधार बिन्दु हैं और इनका मुक्तिबोध ने फैन्टेसी के माध्यम से जो मार्मिक एवं उद्देश्यपूर्ण चित्रण किया है वह बेजोड़ है। गांधी जी कहते हैं-

"मिट्टी के लोंदे में किरगिले कण-कण गुण हैं

जनता के गुणों से ही संभव

भावी का उद्भव..।"[13]

निष्कर्षत:

कहा जा सकता है कि फैन्टेसी मुक्तिबोध के लिए साधन मात्र नहीं है, साधना भी है और उनकी इस साधना की चरम परिणिती 'अंधेरे' में है। मुक्तिबोध ने 'अंधेरे में'कविता की फैन्टेसी के सौन्दर्य और भयावहता की अभिव्यक्ति के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया वह अद्वितीय है| "यह कविता भाषा की पूर्वप्रचलित प्रणाली को तोड़कर एक ऐसी भाषा में रची गई है,जो जितनी ही 'अकाव्यात्मक' है,उतनी ही 'काव्यात्मक,भी।"14मुक्तिबोधीय साहित्य के ऊर्जा के स्रोत हैं– गरीब,भूखे, नंगे,बेसहारा, दमित,उपेक्षित लोग हैं, खून पसीना बहाकर श्रम करने वाले श्रमिक हैं। पूंजीवाद के बढ़ते दुष्प्रभाव और समाज की विसंगतियों और इनसे उपजे छल प्रपंच और दोहरापन हैं। "फैन्टेसी जहां एक ओर इच्छा को अभिव्यक्ति देने के लिए वह प्रभावशाली संस्कृति की भाषा को ही काम में लाती है तो वहीं दूसरी ओर इच्छा के निष्कासन द्वारा वह सांस्कृतिक ऑर्डर का ही विसर्जन कर देती है। निश्चित रूप से मुक्तिबोधीय फैन्टेसी यही फैन्टेसी है।"15

आम जन और जन-जन की शक्ति को मुक्तिबोध ने अपनी सर्वस्व प्राणशक्ति से अभिव्यक्त किया है और यही उनके फैन्टेसीक चिंतन का आधार है। मुक्तिबोधीय साहित्य के फैन्टेसीक चिंतन का प्रमुख बिन्दु हैं- मानवता के समक्ष उत्पन्न होने वाले समस्याओं का है। कवि ने देश और समाज के जिस काले संकेतों को संकेतों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है वह अत्यन्त ही विचलित करने वाला और सटीक मार्ग दिखने वाला है।

संदर्भ :

1.तिवारी, रामचन्द्र, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रूपरेखा, लोक भर्ती प्रकाशन, संस्करण-2010, पृ-205.

2.https://www.hindisahity.com

3.https://samalochna.blogpost.com

4.यू.जी.सी./नेट/जे.आर.एफ. हिन्दी साहित्य, दृष्टि पब्लिकेशन्स, दिल्ली , पृ-547.

5.जैन, निर्मला-गजानन माधव मुक्तिबोध निबंधों की दुनिया, वाणी प्रकाशन, पृ-70.

6.वर्मा, श्रीकांत-चाँद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, 2013, पृ-27.

7.चौहान, चंचल, मुक्तिबोध के प्रतीक एवं बिम्ब, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ-115.

8.वर्मा, श्रीकांत- चाँद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, 2013, पृ-264.

9.वर्मा, श्रीकांत- चाँद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, 2013, पृ-264.

10.वर्मा श्रीकांत- चाँद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, 2013, पृ-267.

11.वर्मा, श्रीकांत- चाँद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन 2013, पृ-275

12.वर्मा, श्रीकांत- चाँद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, पृ-277.

13.वर्मा, श्रीकांत- चाँद का मुंह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, पृ-278.

14.नवल, नंदकिशोर- निराला और मुक्तिबोध चार लंबी कविताएं, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2014, पृ-170.

15.https://samalochan.blogpost.com

रस का आधुनिक काव्य से सम्बन्ध

-डॉ.कविता त्यागी
एसोसिएट प्रोफेसर,हिन्दी विभाग,
मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ.प्र)
मो.9760801501

सारांश

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त प्राचीनतम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त की चर्चा संस्कृत के आदि आचार्य भरतमुनि से लेकर आज तक विभिन्न रूपों में होती रही है। ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के साथ जीवन-मूल्यों के परिवर्तन पर साहित्यिक मान्यताएँ प्रभावित हुई है। हिन्दी में यह परिवर्तन सर्वाधिक प्रबल रूप में दृष्टिगोचर होता है क्योंकि स्वतन्त्रता आन्दोलन की आधारभूत भाषा हिन्दी थी। इस प्रकार परम्परा और मान्यता का प्रभावित होना स्वाभाविक है।

मुख्य शब्द-
रहस्योन्मुखी, सम्प्रेषित, आत्मपरितोष तादात्म्य, साधारणीकरण, जटिलताएं, लोकरूचि रसानुभूति, सृजनशीलता।

आधुनिक काल के विद्वानों के विचार में जैसे-जैसे परिवर्तन क्रम चला, उसी प्रकार कविता में रस-सम्बन्धी मान्यताएँ बदलती गई। रस सम्बन्धी प्रभावित चिन्तन, भारतेन्दु युग से ही सामने आने लगा। द्विवेदी युग में यह प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक गुरूतर हो गया। द्विवेदी जी शास्त्रीय विचारक कम, लेखक अधिक थे। उनकी दृष्टि साहित्य के आदर्शोन्मुखी स्वरूप पर भी थी। साथ ही उनका ज्ञान काव्य चमत्कार और टूटती भगिमाओं पर भी रहता था। उन्होंने वाग्विलास में लिखा है- ''काव्य अध्ययन के द्वारा सुप्त भाव विशेष प्रसंग पाकर जग जाते हैं और काव्य-सृष्टि करते हैं, उसे रस कहते है।"[1] उनकी रचना में वह भाव उभरता है जो उनका सैद्धान्तिक आग्रह है। द्विवेदी जी का आनन्द के प्रति उतना झुकाव नहीं है जितना कि काव्यास्वाद के लिए उत्पन्न मानवीय व्यवहार के प्रति है। प्रसाद ने रहस्य से जुड़कर भारतीय काव्य को मुख्य और महत्वपूर्ण रहस्योन्मुखी धारा से जोड़ दिया। आह्लादक और रहस्यवादी अनुभूति का संयोग करा दिया है। उनके अनुसार- ''जिस काव्य में रहस्यानुभूति नहीं, वह काव्य नहीं है।"[2]

आधुनिक काव्य के नवीनतावादी चिन्तक अथवा कवि प्राय नई कवितावादी साहित्यकार ही है। इनमें अज्ञेय, डॉ. जगदीशगुप्त, लक्ष्मीकान्त वर्मा, डॉ. राकेशगुप्त, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. नामवरसिंह और डॉ. नगेन्द्र आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने साहित्य की प्राचीन मान्यताओं को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया है। इनके अनुसार- रस और साधरणीकरण का साहित्य में कोई महत्व नहीं है। उनका मन्तव्य है- युगीन परिस्थितियों के परिवर्तन पर साहित्यिक मान्यताएँ बदल गई है। अब चिन्तन का विषय यह है कि जीवन परिस्थितियों के परिवर्तन पर रस सामग्री बदल गई है किन्तु साहित्य में भाव और रसानुभूति की स्थिति कैसे बदलती है\ आधुनिक विद्वानों द्वारा रस को काव्य के नित्य तत्व के रूप में स्वीकृति नहीं मिली है। इन विद्वानों ने बौद्धिकता पर अधिक बल दिया है।

आधुनिक कवियों की चिन्तन प्रक्रिया के कारण आधुनिक काव्य सन्दर्भ में रस-सिद्धान्त को निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर असफल कहा गया है-

1. रसानुभूति को अलौकिक और ब्रह्यानन्द सहोदर कहा गया है। वर्तमान वैज्ञानिक युग के विकसित मनोवैज्ञानिक के आधार पर सब कुछ निर्वचनीय है, फिर रस कैसे अलग हो सकता है\
2. रस का पूरा बल भाव पर होता है। आज मानव बुद्धि प्रधान हो गयी है। अनुभूतियाँ शुभ भावात्मक नहीं रहीं, रस-सिद्धान्त में इस नवीन सौन्दर्य बोध का चिन्तन सम्भव नहीं है।
3. रस से सम्बन्धित भाव (स्थायीभाव) संचारीभावों की संख्या 9 और 33 सीमित कर दी गई है। मानव चेतना में अनगिनत भाव उठते रहते है। इस प्रकार भावों को सीमा में बाँधना उचित नहीं है। आधुनिक युग में मनुष्य की जटिलताएँ अति गम्भीर हो गई हैं।
4. रस के विरोध और अवरोध की चर्चा से रस की सीमा अपेक्षाकृत अधिक संकुचित हो गई है। विपरीत क्रम के कारण रस के स्थान पर आज रस-देव का स्थायी रूप पा चुका है।
5. रस-सिद्धान्त की सबसे बडी सीमा है कि रसानुभूति मात्र सहृदय को होती है। इस प्रकार कविगत रस, काव्यगत रस की उपेक्षा हो जाती है।
6. रस स्थायी मूल्यों पर आधारित है। आज मानव-मूल्यों से स्थायीभाव का विघटन हो चुका है। इस प्रकार आधुनिक कविता के लिए यह सिद्धान्त उपयोगी नहीं।

रस में आनन्द पर बल दिया जाता है। वर्तमान कविता में जब आत्म-उत्कर्ष और सत्कर्म प्रवृत्ति क्षीण होती जा रही है तो वहाँ रंजन पक्ष की संभावना ही नहीं। अतः रस-सिद्धान्त आधुनिक कविता के सन्दर्भ में अव्यावहारिक सिद्ध होता है।

आधुनिक विद्वानों के उक्त कथनों पर चिन्तन करते हैं तो सत्य स्थिति का आभास होता है। रस को ब्रह्यानन्द सहोदर कहने का अर्थ है कि रसानुभूति इन्द्रियों की सामान्य अनुभूति नहीं है। राग-द्वेष से मुक्त होकर पर्याप्त उदात्त भाव का उदय होता है। ऐसे में ही रसानुभूति संभव है। स्थायीभाव और संचारीभावों की संख्या निर्धारण विवाद के योग्य नहीं है क्योंकि संख्या निर्धारण या सिद्धान्त

 ISSN-2321-1504 Nagfani No. UTTHIN/2010/34408

निर्धारण आचार्यों का काम है किन्तु रस का यह गौण विषय है। इस चर्चा में यह आक्षेप तर्कहीन है।

बौद्धिक अनुभूतियाँ रागात्मक संस्पर्श के अभाव में काव्य में अपना सहज स्थान नहीं पा सकती है। ऐसी अनुभूतियाँ विज्ञान तथा अन्य विषय से सम्बन्धित हो सकती है। प्रत्येक पाठक अपने बौद्धिक और मानसिक संस्कार के आधार पर ही रसास्वादन करता है। यदि बौद्धिक अभिव्यक्ति कविता बन जाएगी तो उसमें स्थायीत्व नहीं होगा। डॉ. राकेशगुप्त के मतानुसार- ''सहृदय को काव्यास्वाद तभी मिलता है जब उसका मन काव्य में रम जाए। इस प्रकार रस काव्यास्वाद और मन रमण- ये तीनों एक ही है। काव्य, सहृदय और सम्पूर्ण काव्य प्रस्तुति के प्रति सहृदय की अपनी प्रतिक्रिया- इस त्रिकोण में समस्त रसचक्र समा जाता है। इस प्रकार काव्य भी विषय-वस्तु और अभिव्यंजना-शिल्प एवं सहृदय का अपना व्यक्तित्व और परिवेश वे सीमा-रेखाएँ है जिनकी सापेक्षता में बँधकर रस प्रवाहित होता है। मन रम जाने पर सहृदय की भी अपनी कुछ प्रतिक्रियाएँ होती है। वह किसी पात्र के प्रति संवेदनात्मक अनुभूति करता है, उसके शोकग्रस्त होने पर दुःखी होता है। उसके रति उत्साह आदि को देखकर सुखी होता है।"[3]

रस के स्थायीत्व पर भी आक्षेप लगाया गया है। माना कि वर्तमान चंद जीवन पूरी तरह से विघटित हो रहा है। आस्था और विश्वास टूटता चला जा रहा है किन्तु यह भी निश्चित है कि हम अशान्ति में भी शान्ति ढूँढते हैं। निराशा भरी जिन्दगी में आशा की डोर के सहारे जी रहे हैं। यही क्षीण आशा और शान्ति की तलाश ही हमारा स्थायीत्व भाव है और इसी प्रकार रस वर्तमान कविता का तत्व सिद्ध होता है। डॉ0 नगेन्द्र के अनुसार सहृदय के लिए रसानुभूति किस प्रकार संभव होती है। इस सम्बन्ध में उनकी मौलिक स्थापना यह है कि काव्य भाषा के भावमय प्रयोग की रमणीयता में रमकर सहृदय की मानवसुलभ सहानुभूति उद्रिक्त हो उठती है, फलतः वह काव्य में सम्प्रेषित कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होता है और इस प्रकार रस की चवर्णा करता है।"[4]

रस-सिद्धान्त में आनन्द पर विशेष बल दिया गया है। डॉ. नगेन्द्र के मतानुसार- ''साधरणीकृत होने के कारण अर्थात् व्यक्ति, देश और काल के बंधनों से मुक्त होने के कारण रस की अनुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी होती है, प्राचीनों के इस मत पर भी आचार्य नगेन्द्र की पूर्ण आस्था है। वस्तुतः रस-परिपाक की प्रक्रिया में भावानुकूल सुख-दुखात्मक तो वे भी स्वीकार करते हैं, किन्तु परिणति में अनिवार्य आन्नदमयता मानते हैं। आनन्द उनकेलिए मनः प्रसाद और आत्मपरितोष का पर्याय है। उनके अनुसार- प्रत्येक सफल कलाकृति का अध्ययन या प्रेक्षण करने के पश्चात् सहृदय अनिवार्यतः एक प्रकार के आत्म-परितोष का अनुभव करता है"[5] आक्षेप यह है कि आनन्द के कारण सात्विक प्रवृत्तियाँ दबती है। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो परम आनन्द प्राप्तकरना न चाहे किन्तु सबके लिए संभव नहीं है। डॉ. नामवर सिंह ने कविता के प्रथम प्रतिमान को स्थापित करते हुए भाषा की सृजनशीलता के विषय में कहा है कि कविता एक सघन निर्मिति है और वह निर्मिति सफल होती है शब्द और अर्थ की सही पकड़ से। जब कोई कवि किसी सही अर्थ के लिए सही शब्द की खोज कर लेता है तो वह सही काव्य की रचना करता है। सही शब्द की खोज का खतरा कोई कवि तभी उठा सकता है जब उसकी अनुभूति में प्रखरता हो, तनाव हो, जो उसे खोज के लिए बेचैन कर दें।"[6]

नई कविता में दिखावा, पाखण्ड, रूढ़ियों की विषमता से वीभत्स के नये रूप को अभिव्यक्ति मिली है। ऐसी कविता में व्यंग्य का सशक्त रूप दिखाई देता है। नई कविता में बौद्धिक व्यायाम की बहुलता है। कवि के मन में समाज, राजनीति और अर्थ आदि की विसंगतियों से सम्बन्धित झुंझलाहट, खीज, नई कविता में दिखलाई देती है। कई स्थानों पर दुरूहता के कारण भाव-बोध कठिन ही नहीं, असम्भव हो गया है। डॉ. नामवर सिंह अनुभूति को जटिलता या द्वन्द्व को भी कविता के प्रतिमान के रूप में स्थापित करते हुए कहते हैं कि- ''काव्यानुभूति की जटिलता चित्तवृत्तियों की संख्या पर निर्भर नहीं बल्कि संवादी-विसंवादी वृत्तियों के द्वन्द्व पर आधारित है।"[7]

वर्तमान कविता की दुरूहता के कुछ अन्य कारण है- लोकरूचि आकांक्षा के विपरीत वैयक्तिक भाव की प्रधानता। यह निर्विवाद तथ्य है कि कोई भी साहित्यिक कृति श्रेष्ठ नहीं हो सकती। डॉ. नामवरसिंह के मतानुसार- ''निस्सन्देह किसी कविता का सिरजा हुआ संसार ही उसका मूल्य है, किन्तु उस मूल्य की प्रासंगिकता इस बात पर निर्भर है कि वह सिरजा हुआ संसार कितना वास्तविक है अथवा वास्तविकता के बारे में हमारी समझ को कितना गहरा और समृद्ध करता है। हमारे आस-पास के संसार को अर्थ प्रदान करने में ही किसी कविता के अपने संसार की सार्थकता है।"[8]

निष्कर्ष

डॉ0 नगेन्द्र ने रस-सिद्धान्त को आधुनिक कविता के लिए, भूत और भविष्य के लिए भी सार्वभौम सिद्धान्त के रूप में स्वीकृति दी है। शास्त्र रूढ़ियों से मुक्त रस सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विकासशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है। इस प्रकार साहित्य को विकासशील चेतना का परितोष भी रस-सिद्धान्त के द्वारा ही हो सकता है।

संदर्भ :

1.आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी वाग्विलास पृ. 27
2.जयशंकर प्रसाद कामायनी, पृष्ठभूमि, पृ. 6
3.डॉ. राकेश गुप्त, आधुनिक आचार्यो का रस-विवेचन पृ. 175
4.डॉ. नगेन्द्र, रस-सिद्धान्त, पृ. 110
5.डॉ. नगेन्द्र, रस-सिद्धान्त पृ. 110
6.वही, पृ. 148
7.डॉ. नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान, पृ. 232-233
8.डॉ. नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान पृ.115

जयप्रकाश कर्दम के कथा साहित्य में लोकजीवन

-सुनीता
सहायक आचार्या,हिन्दी विभाग,
राजा सिंह महाविद्यालय, सीवान,बिहार

प्रस्तावना:- डॉ. जयप्रकाश कर्दम दलित साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनकी रचनाएं दलित जीवन की त्रासदी, शोषण और विद्रोह से ओतप्रोत है। डॉ. कर्दम का जन्म पश्चिमी उत्तरप्रदेश में हुआ। बचपन वहीं बीता। उनकी रचनाओं में पश्चिमी उत्तरप्रदेश का लोकजीवन अनायास ही झलकता है।ग्रामीण पृष्ठभूमि पर लिखे उपन्यास और कहानियों में पश्चिमी उत्तरप्रदेश की माटी की गंध है।

बीजशब्द:- कर्दम, लोकजीवन, सांग, गीत, पंच, शीतला माई, घर की पूजा, वेशभूषा,खानपान, संस्कृति, लोकोक्तियां, ग्रामीण लोकजीवन, बाकली, दलित जीवन, बदलाव।

मुख्य अंश:- तथाकथित अभिजात्य संस्कृति के समानांतर दलित लोक संस्कृति पूरे भारत में विद्यमान रही है। पश्चिमी उत्तरप्रदेश में दलितों के बीच पाये जाने वाले रीति-रिवाज, उनका रहन- सहन, मान्यताएं, उनके गीत, नाटक- तमाशे, लोकोक्तियां इत्यादि डॉ. कर्दम के कथा साहित्य में दिखाई देते हैं। प्रसिद्ध साहित्यकार भगवानदास मोरवाल कहते हैं "मेरा मानना है कि जो लेखक अपने लोक को नहीं समझ सकता, उसकी संस्कृति को नहीं समझ सकता , वह ना किसी स्त्री विमर्श को समझ सकता है और ना दलित विमर्श को और ना ही किसी अन्य समाजशास्त्रीय विषय को ….."[1]

डॉक्टर कर्दम ने ग्रामीण लोक जीवन को आत्मसात किया है। कई वर्षों से राजधानी दिल्ली में रहने के बावजूद उनके भीतर का लोक जीवित है वह रचनाओं के माध्यम से प्रस्फुटित होता है। शादी -विवाह,सगाई ,जन्म या मृत्यु के समय होने वाले संस्कार लोकजीवन का प्रमुख अंग है। विभिन्न क्षेत्रों में इस दौरान कई तरह की रस्में अदा की जाती हैं। "पगड़ी" कहानी में सरबतिया के बेटे की सगाई का वर्णन है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश की लोक संस्कृति यहां दिखाई देती है। "पंचों को सूचना ,गांव वालों को दावत का न्योता ,गीत गाने वाले औरतों के लिए बाकली ,पंचों के लिए हुक्का पानी ,लोगों में बंटवाने के लिए मिठाई, इन सब के इंतजाम में वह इतनी व्यस्त थी कि उसे अपना कोई होश नहीं था।"[2] सगाई के दौरान बिरादरी वाले एकत्रित हुए उनमें बिरादरी के पंच भी शामिल थे एक तरफ पुरुषों के हुक्का- बीड़ी का दौर चल रहा था, तो दूसरी ओर महिलाओं के गाने और ढोलक बजाने का। वर पक्ष की ओर से बिचौले से किए गए सवाल जवाब, सगाई का जीवन्त दृश्य प्रस्तुत करते हैं। दलित आंदोलन के फलस्वरूप दलितों के लोक जीवन पर भी असर पड़ा है, यह भी हमें यहां देखने को मिलता है। "अजी, वहां के पंचों ने यहां के पंचों के लिए जय भीम भेजी है।" [3] वहीं दूसरी ओर सगाई के लिए पूरब दिशा की ओर मुंह करके बैठने के विरोध पर, युवकों को, बुजुर्गों का भी समर्थन मिलता है। "ठीक बात है दिशाओं में कुछ भी ना रखा है। यह तै मन का विश्वास है।' बुजुर्ग पंचों ने भी यह कह कर उसकी बात का समर्थन किया। ' दिसा- विसा की कोई बड़ी बात ना है। किधर कू भी बैठ जाओ। बैठ जा बेटा कहीं भी बैठ जा "[4] दलित चेतना, लोक जीवन को भी प्रभावित करती है। पगड़ी रामसिंह को ना बंधवाकर, सरबतिया को बांधी जाती है। सभी पंच व अन्य लोग इसे स्वीकार करते हैं। यह लोगजीवन में आते परिवर्तन का संकेत है।

डॉ० कर्दम के नवीनतम उपन्यास "उत्कोच" में नायिका श्यामा की मृत्यु का प्रसंग है। यहां भी लोकजीवन की झलक दिखाई देती है। " बुजुर्ग महिला का आदेश मानते हुए वे स्त्रियां एक चादर का पर्दा कर उसकी ओट में श्यामा को नहलाने के काम में लग गई और दो तीन व्यक्ति अर्थी तैयार करने में लग गए थे। थोड़ी देर में श्यामा को दूध से नहला कर नए वस्त्र पहनाकर और सभी श्रृंगार कर दुल्हन की तरह सजा दिया गया।"5 सभी रिश्तेदारों द्वारा लाए गए चादर, साड़ियों को अर्थी पर ओढ़ाना, महिलाओं का विलाप लोकजीवन की संजीदगी को दर्शाते हैं।

सांग, नाटक, तमाशे लोकजीवन के अंग होते हैं। इंटरनेट के इस युग में जब मनोरंजन के असीमित साधन उपलब्ध हैं, ग्रामीण जनता आज भी मेले ,तमाशे ,मदारी, सांग इत्यादि को बहुत पसंद करती है।डॉ० कर्दम की कहानी सांग इसी को प्रदर्शित करती है। सोनपुर में उल्लास का माहौल है। कारण है कि सांग की टोली गांव में आई है। सभी संध्या समय के खाना-पीना से निश्चिंत हो जाना चाहते हैं।ताकि आराम से सांग का आनंद लें। "नंगे अधनंगे बच्चे रेत मिट्टी उड़ाते, किलकारी मारते, छुआछुई करते, हो हल्ला मचाते एक दूसरे के पीछे दौड़ रहे थे। घरों के भीतर बर्तनों की खटर - पटर और पत्थरों के सिलबट्टों पर मसाला पीसती, हड़िया छौंकती, चून माड़ती, बर्तनों को इधर-उधर रखती हुई, औरतों की चूड़ियों की खनक चारों ओर गूंज रही थी। इस छोर से लेकर उस छोर तक पूरे सोनपुर में उत्साह और उमंग का सा माहौल था। क्या औरतें, क्या आदमी, क्या बच्चे ,क्या बूढ़े और जवान सबके अंदर एक उमंग थी। होती भी क्यों नहीं, जब मेहनत मजदूरी के एक निश्चित ढर्रे पर चलने वाली जिंदगी में, मनोरंजन के लिए गांव में सॉन्ग की टोली जमी हो।"[6] सांग देखने के लिए चौपाल में सभी का एकत्रित होना भी एक नियम के तहत होता है। "धमाचौकड़ी करते बच्चे तो दिन छिपते - छिपते ही, मुखिया जी की चौपाल के बाहर खड़े नीम के पेड़ के नीचे, अपने-अपने घरों से लाए हुए टाट पट्टी के टुकड़े बिछाकर पहले ही जम गए थे। लेकिन जैसे ही हारमोनियम बजना शुरू हुआ तथा ढोलक और नगाड़े पर चोट पड़ी बड़े लोग भी घरों से निकल- निकल कर चौपाल में जमा होना शुरू हो गए थे।"[7] गांव में सांग की टोली का आना एवं लोगों का उसके प्रति उत्साह लोक जीवन की झांकी प्रस्तुत करते हैं। लोकगीत ग्रामीण लोक जीवन के प्राण होते हैं। मेहनत कश समाज अपने दुःखों व सुखों को लोक गीतों द्वारा अभिव्यक्त करता है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में रागनियां गायी जाती हैं। डॉक्टर कर्दम की कहानी सांग में इसका जिक्र है। सांग के बीच बीच में एकरसता भंग करने के लिए रागनियां गायी जा रही थी।

"हो गया गात सूख कै माड़ा,
पिया दे दै मनै कुल्हाड़ा
ओए, मैं भी चलूंगी तेरे साथ में।
ओ गोरी ,सजै ना कुल्हड़ा तेरे हाथ में।"[8]

यह ग्रामीण शहर में जाने पर भी अपने लोकगीतों को नहीं भूलते हैं। मनोरंजन के लिए मिल बैठकर लोकगीत गाते हैं। छप्पर उपन्यास में संतनगर में रहने वाले दलितों द्वारा रात में लोक गीतों की महफिल सजाने का जिक्र आया है। "तो भी अधिक हुआ भी तो साथ में बैठकर ढोलक मंजीरे की तान पर कुछ राग- रागिनियां गा लेते हैं। राग-रागनियां गाने का भी इन लोक गायकों का अपना अलग अंदाज होता है। जब भी कोई गायक पूरी लय और ताल के साथ गाता है, तो उसका एक हाथ कान पर और दूसरा लोग को संदेश देने की -सी मुद्रा में ऊपर उठ जाता है। जैसे - जैसे गीत गति पकड़ता है ,वैसे-वैसे गायक की आवाज और ओजपूर्ण होती चली जाती है।"[9]

दलितों के देवी- देवता, रीति -रिवाज ,उसी गांव में रहने वाले सवर्णो से भिन्न होते हैं। सवर्ण जहां लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती आदि देवियों की पूजा करते हैं; वहीं दलित शीतला माई, मसान माई ,सती माई ,समय माई, आदि की पूजा करते हैं। यह देवियां दलित समाज के पूर्वज मानी जाती हैं। सवर्ण जहां राम, कृष्ण,हनुमान ,विष्णु आदि की पूजा करते हैं; वहीं दलित गोरिया बाबा, बघौत बाबा, संपहा बाबा, राह बाबा आदि की पूजा करते हैं। यह भी उनके पूर्वज माने जाते हैं। ब्राह्मणवादी संस्कृति के प्रभाव से दलितों ने भी उन्हीं के देवी देवताओं को पूजना प्रारंभ कर दिया। घर- घर में

विष्णु, राम,कृष्ण, दुर्गा ,लक्ष्मी, गणेश आदि की मूर्तियां रखी जाने लगीं। लेकिन तमाम अनुकरण के पश्चात भी दलितों के 'घर की पूजा' निहायती निजी होती है। सवर्णो से भिन्न होती है। इसमें अपने ही घर परिवार के लोगों को शामिल किया जाता है। डॉक्टर कर्दम की कहानी "नो बार" में राजेश की मां द्वारा शीतला माता को याद करना ,दलित लोकजीवन को दर्शाता है। "मां ने जमीन चुचकारी थी और शीतला देवी को याद किया था। 'शीतला मैया तू बड़ी दयालु है। जैसे तने म्हारी अब तक सुनी है। आगे भी सुनिए।"[10]

रहन-सहन वेशभूषा, खानपान इत्यादि लोकजीवन के अंग होते हैं। डॉक्टर कर्दम की रचनाओं में लोकजीवन के रंग बिखरे पड़े हैं। चोट लग जाने पर या मामूली अस्वस्थ होने पर ग्रामीण-दलित, डॉक्टर के पास नहीं भागते हैं। पहले घरेलू चिकित्सा करते हैं। कारण है कि प्रथम तो गांव में डॉक्टर नहीं होते, इसके लिए शहर जाना पड़ता है। दूसरा कारण दलितों की आर्थिक समस्या होती है। 'लाठी' कहानी में हरिसिंह को बदनी जाट, पीठ पर लाठी मार देता है। गहरी चोट लगती है। तब अतरो घरेलू इलाज करती है। "अतरो ने तुरंत उठकर हल्दी की गांठ सिलबट्टे पर पीसी और हंडिया में से एक बड़ा गिलास दूध लाकर ,पहले हल्दी की फंकी हरि सिंह को खिलायी, फिर दूध के साथ गुड़ खिलाया।"[11] पुनः "अतरो ने चूल्हे में आग जला कर तया गर्म किया और एक रजाई में से थोड़ा सा रूअड़ निकालकर उसे तये पर गर्म करके हरि सिंह की कमर की सिकाई करने लगी। "[12]

गरीब ग्रामीण गाय पालने में सक्षम नहीं होते वह छोटे जानवर जैसे बकरी, मुर्गी, सुअर इत्यादि का पालन करते हैं। 'पेंशन' कहानी में रुक्मणी बकरी पालती है। उससे उसे थोड़ा दूध भी मिल जाता है, साथ ही उसे आर्थिक मदद भी मिलती है। मॉनिटर कहानी में सतीश अपने ताऊ के साथ मजदूरी करने जाता है। दोपहर के भोजन के लिए नतने में प्याज रोटी बांध कर ले जाता है। गरीब दलितों के जीवन में दाल और सब्जी खाना एक सपना है। अधिकतर चटनी, नमक या चीनी के साथ रोटी खायी जाती है। 'कामरेड का घर' कहानी में सभी मित्र मध्यवर्गीय हैं। असलम मुसलमान है उसके घर अक्सर मांसाहारी भोजन का जिक्र किया गया है। तुम मुसलमान हो, तुम्हारे यहां मुर्ग मुसल्लम चलता है। वही बनवाओ तुम।"[13] पुनः "तेरी कटोरी में अंडे की सब्जी है। मां तक इसकी स्मैल पहुंच गई तो मुसीबत हो जाएगी। इसलिए मैं तुझ से कह रहा हूं कि तू अपनी कटोरी को बंद कर ले।"[14] कुछ नया सामान खरीदने पर मुंह मीठा करवाना लोकजीवन का एक अंग है। अब इसे चाहे अंधविश्वास माने या मन की खुशी। अगर मिठाई संभव ना हो तो बताशे ही बांटे जाते हैं। "बिट्टन मर गयी" कहानी में नया पलंग आने पर बताशे बांटने का जिक्र आया है। "वह अपने लिए फोल्डिंग पलंग खरीद कर लाया, तो वर्मा जी की पत्नी ने जिनको वह उम्र और अपनेपन के लिहाज से चाची कहता था बताशे मंगवा कर सबका मुंह मीठा करवाया था। बिट्टन को भी उन्होंने बतासे दिए, तो उसने यह कहकर बताशे लेने से इनकार कर दिया, 'नहीं हम तो लड्डू खाएंगे।'

'अभी पलंग आया है इसलिए बताशे हैं, पलंग पर सोने वाली आ जाएगी तो लड्डू भी खिला देंगे।' कहकर उन्होंने मुट्ठी में पकड़े बताशे बिट्टन की ओर बढ़ाएं।"[15] छप्पर उपन्यास में वर्षों बाद बेटी कमला के मिलने की खुशी में हरिया विशेष पकवान बनवाता है। सुक्खा अपने बेटे चंदन की चिंता करते हुए सोचता है "क्या उसे भी गुड़ की डली या प्याज की गंठी के साथ रूखी सूखी रोटी हलक के नीचे उतारकर दिन गुजारने पड़ेंगे? क्या उसे भी मेरी तरह जानवरों का सा जीवन जीना पड़ेगा ?"[16] साधारणतः ग्रामीण दलितों का भोजन सूखी रोटी और नमक प्याज ही है। दाल ,चावल, सब्जी यह उनके लिए विशेष पकवान हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के लोकजीवन की वेशभूषा, पहनावा भी छप्पर उपन्यास में दर्शाया गया है। "एक जोड़ी जूती तक नसीब नहीं हो पाती। एक दो गजा तहमद और फटा सा मैला कुचैला कुरता है सुक्खा के पास और एक पेटिकोट कमीज और ओढ़ना रमिया के पास, उनमें भी जगह-जगह थेकली लगी है।"[17]

लोकोक्तियां कहावतें लोकजीवन का महत्वपूर्ण अंग होते हैं। डॉक्टर कर्दम की रचनाओं में यथास्थान स्थानीय भाषा देशज शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है। लोकजीवन में प्रचलित लोकोक्तियों ने उनकी भाषा को मारक और जीवंत बनाया है।

" नाक कट गई सबकी सबके सिर पर मूत दिया एक चमार ने।"[18]

"जिसके मुंह पर चांदी का जूता मारोगे वही काम कर देगा। फिर आर. वी. सिंह का मूत हाथ में लेने की क्या जरूरत है।"[19]

"तै ऐसे गांड में पूंछ दबा के रहवेंगे हम?"[20]

"कहीं कुछ ऊंच-नीच हो जावै है तो बिचौला ही पिटे है पहले।"[21]

"तै हम चूड़ी पहन कै घर में बैठ जावै।"[22]

तथाकथित शिष्ट समाज ऐसे मुहावरे और लोकोक्तियां का प्रयोग नहीं करता है। परन्तु ग्रामीण लोक जीवन में इनका प्रयोग आमतौर पर होता है।

जहां कहीं अनपढ़, ग्रामीण व बुजुर्गों के संवाद है वहां डॉक्टर कर्दम ने खड़ी बोली हिंदी की बजाय स्थानीय बोली का प्रयोग किया है। इससे उनकी रचनाओं में लोकजीवन उभरकर सामने आया है। "बात तै ठीक कह रे हैं मरद लोग। जब सारा कुछ सरबतिया ही करे है, अर रामसिंग कुछ बी ना करै है। उसे कुछ परवाह ही ना है घर गिरस्ती की, तै ऊ काहे का मुड्ढ या मुखिया।"[23] "बेटा म्हारी जिनगी की तै अब सांझ है। पके पांव है म्हारे , आज मरे कल कू दूसरा दिन।"[24]

बाकली (उबाले हुए काले चने), नतना, चून (आटा), हंडिया रोटी (भोजन), सांग (स्वांग), तया (तवा) जैसे लोकजीवन में रचे बसे शब्दों का प्रयोग, डॉक्टर कर्दम की रचनात्मकता को दर्शाता है।

निष्कर्ष:- निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि डॉक्टर कर्दम गांव की मिट्टी के रचनाकार हैं। गांव में दलितों के होने वाले शोषण को उन्होंने स्वयं महसूस किया है। उनकी रचनाओं में लोकजीवन अपने रंग बिरंगे रूप में नजर आता है। उन्होंने गुणों व दोषों के साथ, पूरी संपूर्णता से लोक का चित्रण किया है। समय के साथ दलित लोकजीवन में आने वाले बदलावों के संकेत भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं।

संदर्भ :

1. Sahityashilpi.com
2. खरोंच पृ०84
3. वही पृ० 86
4. वही पृ० 88
5. उत्कोच पृ०
6. तलाश पृ० 29
7. वही पृ०30
8. वही पृ० 30
9. छप्पर पृ०11
10. तलाश पृ०40
11. वही पृ०96
12. वही पृ०96
13. वही पृ०117
14. वही पृ०120
15. वही पृ०60
16. छप्पर पृ०28
17. वही पृ०28
18. छप्पर पृ०31
19. तलाश पृ०24
20. वही पृ०94
21. खरोंच पृ०86
22. तलाश पृ०95
23. खरोंच पृ० 90
24. तलाश पृ० 39

इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में सांस्कृतिक चिंतन के द्वारा राष्ट्रीय चेतना का प्रचलन

-श्रीमती मीना शर्मा
हिंदी
मो.9397662443

किसी भी देश की संस्कृति उसमें आवास करने वाले लोगों की मानसिकता पर आधारित रहती है| यदि उसकी मानसिकता सकारात्मक होकर समाज व राष्ट्र के ऊपर प्रतिबद्ध होती है तो वह समाज अथवा राष्ट्र सुसम्पन्न होंगे| यदि किसी समाज की सांस्कृतिक चेतना आदर्शपूर्ण हो तो उसमे रहने वाले सदस्यों की राष्ट्रीय चेतना अत्यंत कल्याणकारी होगी| अत: किसी भी समाज के लोगों की राष्ट्रीय चेतना को समझने के लिए उसमें रहने वाले लोगों की सांस्कृतिक चेतना को समझना आवश्यक है| इस प्रकार 21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त सांस्कृतिक चेतना को समझकर उनके पात्रों एवं घटनाओं द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीय चेतना का अनुमान लगाया जा सकता है| अत: प्रस्तुत लेख के द्वारा 21वीं सदी के प्रतिनिधि हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त सांस्कृतिक चेतना पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है|

सबसे पहले शब्बीर अहमद 'मंजर' कुददूसी कृत "जुलेखा" उपन्यास का संदर्भ लिया जा रहा है| प्रस्तुत उपन्यास में जुल्खा एक साधारण सी छोटी बच्ची है जो कि तूफ़ान में अपने माता-पिता से बिछड़ जाती है| अकबर दंपति उसे पाल-पोशकर बड़ा करते है अच्छी शिक्षा एवं अच्छे संस्कार जुलेखा के मानो आभूषण थे| उसे उर्दू , हिंदी , अंग्रेजी , संस्कृत, अरबी आदि कई भाषाओं का ज्ञान था| एक बार कॉलेज में भाषण प्रतियोगिता थी जिसमें उसने पाँच भाषाओँ के माध्यम से अपना भाषण देकर अपनी काबिलियत का प्रमाण दिया| "शिक्षा की आवश्यकता और महत्व पर प्रकाश डालना उसका बड़ा ही सराहनीय काम है|"

सेमीनार के अध्यक्ष नंदा साहब ने कहा "मैं अब तक हथप्रभ हूँ कि भाषण देने वाली यह बच्ची इंसान है अथवा जिन्न 15 मिनट के थोड़े से समय में पाँच भाषाओं के द्वारा इसने विषय को जिस प्रकार संवारा है , मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि इसका मुकाबला कम वक्ता कर सकते है| इसे तो सफलता की शील्ड और सर्टिफिकेट ही नहीं बल्कि इसकी महारथ का एवार्ड दिया जाना चाहिए|" कहने का तात्पर्य है कि आज समाज को उचाईयों पर आगे से आगे बढ़ाने के लिए शिक्षा अत्याधिक महत्वपूर्ण व स्थान रखती है| जहाँ जुलेखा ने अपने भाषण में पाँच भाषाओँ का प्रयोग किया वहीं समाज के अनेक कार्यो में भी भाग लेके राष्ट्रीय चेतना की जागृति में विशेष स्थान प्राप्त किया हैं|

जुलेखा के व्यक्तित्व में पत्थर को ही हिरा बनाने की अदभुत क्षमता विद्यमान थी| उसने आस-पास की गरीब महिलाओं को अपने करीब कर लिया और बड़ी सरल भाषा में शिक्षा की आवश्यकता और महता पर जोर दिया| अज्ञानता व जहालत के नुकसान और शिक्षा के लाभ बताए| सारी औरतें उसे हैरत से देख रही थी कि एक नौजवान लड़की कितनी आकषर्क शैली में अपनी बात को समझा रही है| जुलेखा के द्वारा प्राथमिक शिक्षा की पाठशाला भी खोली गई| समाज व राष्ट्र को आगे बढ़ाने के लिए जुलेखा ने विद्यालय के साथ-साथ एक अस्पताल भी खोला और समाज को अपने चारों तरफ़ फैले बेरोजगारी , अत्याचार और गंदगी से कैसे दूर हो इस के बारे में भी एक दिशा व पहल की| अंत में जुलेखा के बारे में कहा भी गया हैं "औरत फूल की पंखडी भी है और संकल्प व साहस की एक मजबूत चट्टान भी|" एक शेर जो जुलेखा पर पूरा बैठता हैं –

मैं अकेला ही चला था जानिबे – मंजिल ,मगर

लोग साथ आते गए उर कारंवा बनता गया |

लता तेजेशवर 'रेणुका' कृत उपन्यास "सैलाब" में नारी और पुरुष दोनों के व्यक्तित्व को समान रूप से देखे जाने का आग्रह किया गया है| किसी समाज में जब यह चिंतन प्रचलित होगा तब उसके सभी सदस्यों में सकारात्मक राष्ट्रीय चेतना का प्रचलन संभव हो जाएगा| इस संदर्भ में सैलाब उपन्यास का यह उदहरण उल्लेखनीय है| "हर स्त्री के अंदर एक सैलाब छिपा होता है| जो

कभी ज्वालामुखी बन कर फट पड़ता है या तो वह अंदर ही अंदर स्त्री को संकुचा बना देता है| जिनके अंदर हिम्मत होती है वो किसी भी हालात में इस बवंडर से खुद को बाहर निकालने में सक्षम होते हैं लकिन कुछ स्त्रियाँ संस्कार और कुटुंब की मर्यादा के बीच पिस कर रह जाती हैं और इस दावानल को अंदर ही दबा कर घुट-घुट कर जीती हैं| अक्सर ये ज्वालामुखी समय के साथ दबाव में फट जाता है और स्त्री का जीवन इस दबाव में आकर झुलस कर रह जाता है| वे कभी परिवार की भलाई के लिए तो कभी सभ्यता और संस्कृति के नाम पर इस जहर को अपने अंदर छुपा के रखती है| हमेशा स्त्रियों को ही क्यूँ संस्कृति और सभ्यता की नोक पर खड़ा कर दिया जाता है ? क्या पुरुष के लिए ये सभ्यता संस्कृति लागू नहीं होती ? पावनी लिखते-लिखते रुक गई| कलम को दाँतों के बीच दबाकर सोच में पड़ गई|" इस प्रकार हम देखते है कि उपन्यासकार लता तेजेशवर राष्ट्रीय चेतना के प्रचलन के लिए स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से देखने का आग्रह करती है|

ममता कालिया कृत उपन्यास "दौड़" एक लघु उपन्यास हैं| प्रस्तुत उपन्यास में एक होड़ की बात की गई है कि कौन किस से आगे| लेखिका ने "आर्थिक उदारीकरण ने भारतीय बाज़ार को शक्तिशाली बनाया , इसने व्यापार प्रबंधन की शिक्षा के द्वार खोले और छात्र वर्ग को व्यापार प्रबंधन में विशेषता हासिल करने के अवसर दिए| बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने रोजगार के नए अवसर प्रदान किये युवा वर्ग ने पूरी लगन के साथ इस सिमसिम द्वार को खोला और इसमें प्रविष्ट हो गया , वर्तमान सदी में समस्त अन्य वाद के साथ एक नया वाद प्रारंभ हो गया बाजारवाद और उपभोक्तावाद| अगर इस तरह के वाद विकसित होते जाएँगे तो लोगों के मन में स्वार्थ की मानसिकता बढ़ेगी परन्तु राष्ट्रीय चेतना का प्रचलन नहीं हो पाएगा|

प्रस्तुत उपन्यास के अंतर्गत इक्कीसवी सदी का सीधा- सादा खरीददार एक चतुर उपभोक्ता बन गया| जिन युवा प्रतिभाओं ने यह कमान संभाली उन्होंने कार्य क्षेत्र में तो खूब कामयाबी पाई पर मानवीय सम्बंधो के समीकरण उनके कही ज्यादा खिंच गए , तो कही ढीलें पड़ गए| दौड़ उपन्यास इन्ही तनावों व प्रभावों की पहचान कराता हैं| आज राष्ट्र में यही दौड़ लगी हुई है| जहाँ पर सब एक दूसरे से आगे निकल जाना चाहते है| पर बात यहाँ यह आती है एक दूसरे की दौड़ में राष्ट्र की भावना व देश प्रेम की भावना मन से उतर गई है| यहाँ एक बाजार लगा हुआ है कही रिश्ते-नातों का उसमें कोई स्थान नहीं है| इस बाज़ार वादी संस्कृति में युवकों को अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियाँ निभाना कठिन लगता है| "अभिषेक शुक्ला अपनी पत्नी राजुल और बेटे अंकुर को झंझट समझता है तब पत्नी राजुल का उससे झगड़ा होता है| राजुल को शादी करने का पश्चाताप होता है क्योंकि शादी से उसकी आज़ादी चली गई| उसका कैरियर समाप्त हुआ| वह भुनभुनाती हैं – "हिन्दुस्तानी मर्द को शादी के सारे सुख चाहिए बस जिम्मेदारी नहीं चाहिए| इससे पता चलता है कि पुरुषो को अपने स्वभाव को बदलने की आवश्यकता हैं|"

"दौड़" उपन्यास में लेखिका ने यह ही दिखाया कि पूंजीवाद ने मनुष्यता की मर्यादाओं को तोड़ा है| जिसके कारण लोगों के मन में अस्थिरता फैल चुकी हैं|" इस प्रकार यह उल्लेख किया जा सकता हैं कि अगर अपनी मर्यादाओं को भूल जाएँगे तो राष्ट्र के प्रति हमारी जिम्मेदारियाँ कहा से मनो में उत्पन्न होगी|

निष्कर्ष: कहा जा सकता हैं कि 21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में स्त्री-पुरुषो के संबन्धो को उजागर करते हुए राष्ट्रीय चेतना का प्रचलन किया गया है| इन उपन्यासों के पात्रो और घटनाओं से हमें यही स्पष्ट होता है कि वर्तमान भारत में दिखाई देने वाली विविध प्रकार की विसंगतियों एवं विडंबनायें मात्र इस देश के नागरिको में राष्ट्रीय चेतना के अभाव के कारण ही है| प्रभावी साहित्य का विशेष रूप से कथाकार अपनी कृतियों के माध्यम से इस देश को ऐसी विडंबनापूर्ण स्थिति से मुक्त कर सकते हैं| वैसे तो 21वीं सदी के अनेक उपन्यासकारों ने अपनी अनेक कृतियों में भारत की सांस्कृतिक चिन्तन को प्रकाश में लाते हुए सहृदय पाठकों में राष्ट्रीय चेतना जगाने का प्रयास किया है| अपने सीमित कलेवर में इस लेख द्वारा अधिक कृतियों का उल्लेख करना संभव नहीं होगा| फिर भी ऊपर उल्लिखित तीन उपन्यासों के अलावा पाठक यदि राजेंद्रयादव कृत सारा आकाश, भीष्मा सहानी कृत तमस , ममता कालिया कृत बेघर , रणेंद्र कृत ग्लोबल गॉव के देवता , मासुम रजा 'राही' कृत आधा गांव , गीतांजली श्री कृत ह्मारा शहर उस बरस, धर्मवीर भारती कृत सूरज का सांतवा घोडा , श्री लाल शुक्ला कृत राग दरबारी , कमलेश्वर कृत कितने पाकिस्तान , जैसे उपन्यासों का अध्ययन करेगें तो उन्हें वर्तमान भारत के विकृत यथार्थ का परिचय मिलेगा और उसके विपरित संघर्ष करते हुये उसे बेह्तर बनाने की राष्ट्रीय चेतना उनके व्यक्तित्व में विकसित होगी|

साहित्य से सिनेमा फिल्मांकन की समस्या पर विमर्श
(हिन्दी सिनेमा के संदर्भ में)

-डॉ.शाह आलम
जयपुर नेशनल युनिवर्सिटी,
पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग

-संजय कुमार सिंह
जयपुर नेशनल युनिवर्सिटी,
पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग

सारांश

विश्व सिनेमा के शुरू होने के साथ ही साहित्य और सिनेमा साथ चले। सिनेमा की शुरूआत एक जादूई करतब की तरह लगी थी,लेकिन बहुत ही जल्द समझ में आ गया कि कथाओं को पेश करने के लिए चलचित्र बेहद सशक्त माध्यम है,किताबों के पन्नों में कथानाक पाठकों को कल्पना की दुनिया में ले गया तो सिनेमा ने उस कल्पना को सामने परोस दिया, ऐसे में पाठक से दर्शक बने लोग खुद को कथाओं, चरित्रों संदर्भों से और मज़बूती से जुड़ गए।शुरूआत से ही सिनेमा को कला की कसौटी पर परखा जाता रहा है।एक बड़ी बहस पूरी दुनिया में चलती आ रही है जिसके केंद्र में यही सवाल होता है कि साहित्य को ज्यों का त्यों पर्दे पर परोसा जाए या सिनेमा पर पेश करने के लिए कहानी के साथ प्रयोग किए जा सकते हैं। इन सवालों की भूमिका में जो तर्क होता है वो इस बात का ज़िक्र करता है कि जिस कथानक पर फिल्म बनती है वह पर्दे पर दोबारा गढ़े जाने के बाद मूल रूप से कितनी दूर हुई है।सवाल यह भी है कि क्या दर्शकों का भी साहित्य के साथ उतना जुड़ाव होता है जितना कि उस साहित्य पर बनने वाली फिल्म के साथ होता है।ग्राहक होने की वजह से दर्शको पर ज्यादा बात नही होती।विमर्श बाज़ार की शक्तियों के साथ-साथ निर्माता,निर्देशक और वितरकों के तरीकों पर किया जाता रहा है।रूपहले पर्दे पर नृत्य,गीत,संगीत,सिनेमाई और कल्पनाशीलता के बीच रचना की पुनर्रचना पर उसकी मूल आत्मा जितनी सेल्युलॉइड पर बचती है उतनी ही सिनेमा की सार्थकता है।

बीज शब्द- सिनेमा, साहित्य और सिनेमा, लेखन, पटकथा, निर्देशन, फिल्म निर्माण, तीसरी कसम, पिंजर -आदि

प्रस्तावना -

साहित्य से भारतीय सिनेमा से नाता प्रारम्भिक समय से ही है।भारतीय सिनेमा के जनक माने जाने वाले धुंडीराज गोविंद फाल्के, ने 1913 में भारत की पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' बनाई। राजा हरिश्चंद्र की कहानी लोक कथाओं में बहुत पुरानी है, इस फिल्म की परिकल्पना दादा साहब फाल्के को ऐसी फिल्म से मिली जो बाइबल पर आधारित थी। द लाईफ आफ क्राइस्ट देखते वक्त दादा साहेब फाल्के ने रामचन्द्र और भगवान कृष्ण जैसे किरदारों को भारतीय जनता के लिए पर्दे पर लाने की कल्पना की।पहली बोलती फिल्म आलमआरा को अर्देशिर ईरानी ने निर्देशित किया जो 14 मार्च 1931 मे रिलीज हुई।आलमआारा भी एक साहित्य पर बनी फिल्म थी।यह जोसेफ डेविड द्वारा लिखे एक पारसी नाटक पर आधारित थी। इसके प्रिंट तो मौजूद नहीं हैं लेकिन माना जाता है कि फिल्मी रूप में ढालते वक्त बनाते वक्त इस नाटक के मूल तत्वों का जस को तस ध्यान रखा गया। उस वक्त पौराणिक और धार्मिक विषयों पर फिल्मों का निर्माण हो रहा था जो ग्रंथो से लिए गए थे।यह वह दौर था जब धीरे धीरे भारतीय समाज,सिनेमा से परिचित हो रहा था और लोगों के लिए फिल्मी पर्दा एक तरह से जादू की तरह ही था। उस दौर के निर्देशक, विषय को लेकर गंभीर थे और कथा या साहित्य के मूल तत्व या यूं कहें उसकी आत्मा से छेड़छाड़ नही करते थे।1932 के पहले वी शांताराम की माया मछिन्द्र,चंदूलाल शाह की सती सावित्री,भगवती प्रसाद मिश्र की द्रोपदी,जे.जे मदान द्वारा निर्देशित इंद्र सभा इत्यादि फिल्में बन चुकी थी। ये फिल्में पौराणिक या ऐतिहासिक सन्दर्भो से ली गई थी।नीलिमा दास के अनुसार पत्र पत्रिकाओं मे कम कमाई होने की वजह से 1930 को बाद के काल मे कई साहित्यकार और कथाकारों ने मायानगरी का रूख किया। अजंता सिनेटोन स्टूडियो के लिए प्रेमचन्द ने फिल्म मिल मजदूर लिखी। मोहन भावनानी के निर्देशन मे यह फिल्म 1933 मे सामने आई। सिने पत्रकार इकबाल रिजवी लिखते हैं कि इस फिल्म को देखकर प्रेमचन्द को काफी धक्का लगा।उन्होंने कहा कि यह निर्माता निर्देशक के साथ अंग्रजी हुकुमत की सेंसर बोर्ड की कहानी है न कि प्रेमचन्द की और वो 1935 मे वापस बनारस लौट आए।अन्य साहित्यकार जिन्होंने उस दौरान के बम्बई का रूख किया था उनमें अमृतलाल नागर तथा भगवती चरण वर्मा शामिल है। अमृत लाल नागर कुछ समय बाद लौट आए जबकि भगवती चरण वर्मा ने एक साल बाद माया नगरी से रूखसती ले ली। बहूरानी .संगम,कंवारा बाप जैसी फिल्मों के पटकाथा और संवाद लिखनेवाले अमृतलाल नागर ने कभी किसी निर्माता, निर्देशक के अपनी कहानी नहीं दी।

अपने अनुभव के बाद वो कहते थे कि मै सिनेमा और साहित्य दोनो को अलग मानता हूं।फिल्में दर्शकों के हिसाब से बनाई जाती है।मै अपने साहित्य की दुर्दशा होते एंव चटनी बनते नहीं देख सकता।फणीश्वर नाथ रेणु की कहानी पर आधारित फिल्म तीसरी कसम वासु भट्टाचार्य के निर्देशन में 1956 में फिल्म रिलीज हुई थी। इस फिल्म के लेखक और निर्देशक दोनों मे कहानी को लेकर सहमति थी लेकिन फिल्म के अंत को लेकर विवाद था।निर्देशक का कहना था कि नायक को अंत में नायिका से मिलना चाहिए जबकि लेखक का यह मानना था कि ऐसा यदि होता है तो तीसरी कसम का मूल तत्व ही खत्म हो जाएगा और अंत में लेखक की बात ही मानी गई।इस फिल्म को सेल्यूलॉइड पर रची गई कविता कहा गया। बंगाल फिल्म जर्नलिस्ट एसोसिएशन द्वारा सर्वश्रेष्ठ फिल्म का पुरस्कार दिया गया। मॉस्को फिल्म फेस्टिवल मे इसे भरपूर सराहना मिली तथा पुरस्कृत किया गया।पर शुरूआती दौर की यह असफल फिल्म थी।इसकी असफलता से निर्माता शैलेन्द्र को ऐसा धक्का लगा कि वो दुनिया को अलविदा कह गए।कुछ इसी तरह 1958 में आए आर के नारायणन् के उपन्यास गाइड पर 1965 में निर्देशक विजय आनंद ने फिल्म बनाई। फिल्म के लिए कहानी के अंत में बदलाव किया गया, लेखक आरके नारायणन इन बदलावों से खुश नहीं थे, उनके मुताबिक फिल्म ने मूल कहानी के तत्वों को नहीं समझा गया। झा श्यामान्द के अनुसार साहित्य पर फिल्म देखने वाले दर्शक यदि उसका मूल साहित्य पढ़ लें, तो शायद वो साहित्य और सिनेमा के बीच की कड़ी को समझ पाएं,लेकिन ना तो पहले और ना ही फिल्म देखने के बाद साहित्य को पढ़ते हैं। इसलिए ज्यातर दर्शकों को साहित्य पर बने सिनेमा के मर्म को समझना मुश्किल हो जाता है। फिल्म भले ही साहित्य पर बनी हो, लेकिन उसमें एक किताब जैसी रचना हो पाना बहुत कम होता है और अगर ऐसा है तो यही साहित्य पर बनी सिनेमा की सफलता है। डाक्टर रमा के अनुसार साहित्य ऐसी जमीन है जहां पर सिनेमा अपनी चेतना के साथ बार बार लौटता है ।सिनेमा में जो कुछ भी घटता है पहले वह साहित्य के रूप में कलमबद्ध होता है फिर वह सिनेमा के दृश्यों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है ऐसा करते वक्त पर्दे पर बनने से पहले एक फिल्म कागज पर कई बार बनती और बिगड़ती है।लेकिन जो रचना एक फिल्म को ध्यान रखकर जब लेखक लिखता है तो उसमें आधुनिकता के साथ कई ऐसे तत्व कहानी में मौजूद रहते हैं जिनकी ज़रूरत बाज़ार तय करता है। दूसरी तरफ़ साहित्यकार की रूचि बाज़ारी तत्वों में नहीं होती। उसकी लेखनी मे साहित्यिक महत्व की तरफ़ ज्यादा झुकाव होता है।ऐसी कहानी पर अगर फिल्म बने तो उसे साहित्यिक फिल्म कहा जाता है।सिनेमा और साहित्य दो अलग अलग विधा हैं।बिमल मित्रा के साहित्य पर आधारित साहेब बीबी और गुलाम का निर्माण 1962 मे हुआ।बॉलीवुड़ के पहले शो मैन कहे जाने वाले गुरूदत्त इस फिल्म के निर्माता थे।अबरार अल्वी के निर्देशन मे बनी इस फिल्म को चार फिल्म फेयर अवार्ड मिले।यह फिल्म आर्थिक रूप से सफल रही। साहित्य से बने सिनेमा की कसौटी पर भी आलोचको ने इसे सराहा।साहित्य कृतियों पर ढेरों फिल्में बनीं पर कुछ अपवादों को छोड दें तो ज्यातर फिल्में असफल रहीं। अग्निहोत्री साधना के अनुसार जब उपन्यास या कहानी पर फिल्म बनती है तो उसमे बहुत कुछ जोड़ा या घटाया जाता है।जब फिल्म लेखक अपनी पटकथा या अपनी कहानी पर कार्य कर रहा होता है तो वह उस कहानी के दायरे मे होता है पर यदि किसी साहित्य पर फिल्म बनती है तो उसके लेखन में लेखक को यह यह ध्यान रखना होता है सिनेमाई तिलिस्म मे साहित्य की रचना करन वाले के मूल उद्देश्य और उसके संदेशों को सही तरीके से प्रस्तुत करें।कृति को उसके मूल कृति के साथ इंसाफ करना होता है।जैसे एक कहानी तो चार ,छह पन्नों की होती और और एक उपन्यास 100 से 150 पेज का होता है तो स्वभाविक है कि एक फिल्म के लिए उसमे कुछ जोडना या घटाना पड़ेगा।अमृता प्रीतम के साहित्य धरती सागर और सीपियां पर आधारित फिल्म कादम्बरी 1976 मे आई।इसके निर्देशक थे एच के वर्मा पर इस फिल्म की चर्चा उतनी नही हुई जितनी चर्चा और सफलता बाद मे 2003 उनके साहित्य पर बनी फिल्म पिंजर को मिली।पिंजर का निर्देशन चन्द्रप्रकाश द्विवेदी ने किया था। इसके निर्देशन के लिए इन्हे अप्सरा और फिल्मफेयर के अवार्ड मिले।यह एक सफल फिल्म थी।यह उन फिल्मों में अपना स्थान रखती है जिनमें फिल्म मूल रचना के साथ मेल खाती हो।डॉक्टर कुमारी अंजू के अनुसार साहित्यकार अपने साहित्य की रचना में किसी पर निर्भर नहीं है जबकि फिल्म का निर्देशक फिल्म बनाने की प्रक्रिया में कई दूसरे लोगों पर भी निर्भर हैं। निदेशक पर समय समय की पाबंदी है कि उसे तय समय सीमा मे फिल्म बनानी है। जबकि साहित्यकार को साहित्य लिखते वक्त इस तरह का कोई दबाव नही रहता ।साहित्य पर बनी फिल्मों की सूची बहुत लम्बी और उनमे सफल फिल्मों की सूची बहुत छोटी।इसके कारणों पर रोशनी ड़ालते हुए प्रोफेसर पुनीत बिसरिया लिखते हैं साहित्यिक कृतियों पर बनी असफल फिल्मों को आर्ट फिल्मों की श्रेणी मे रखा जाने लगा और इन कृतियों पर फिल्में बनी उनमे जो थाडी फिल्में हिट हुई उन्हे कामर्शियल सिनेमा से जोड दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि निर्माता निर्देशक ऐसी सहित्यिक रचनाओं पर फिल्म बनाने से बचने लगे और एंग्रीयंग मैन का नया दौर आ गया या यूं कहें तो वास्विकता से कटी हुई फिल्मों का दौर आ गया। वास्तव मे एंग्री यंग मैन दौर के पहले ही गुलशन नंदा ने कई फिल्में लिखीं जो सफल रही ।गुलशन नंदा उस दौर के उपन्यासकार थे जिनके लिखे को बाजारू साहित्य कहा गया।इनके लिखे को यथार्थ से दूर वाला साहित्य

कहा गया।उनकी लिखी ज्यादातर फिल्में सफल रही।ऐसा कहा गया कि वे जो कुछ भी लिखते हैं वो सिनेमाई तिलिस्म और बाजार के लिए लिखते हैं न कि साहित्य के लिए।इनमें पत्थर के सनम ,नीलकमल और दिल का हीरा जैसी 30 से ज्यादा फिल्मे शामिल हैं।वास्तव मे जो बाजार को चाहिए था उसे पहले गुलशन नंदा ने साहित्य के नाम पर ठूंसा ।फिल्म के लेखक को निर्माता,वितरक और फिल्म के लाभ के प्रति जबाबदेही का दबाव भी रहता है जबकि साहित्यकार सिनेमा को ध्यान मे रखकर साहित्य की रचना नही करता,उसके साहित्य पर फिल्म बनती है। फिल्म लेखन और साहित्य लेखन मे यही भेद है। साहित्य पर सिनेमा गढ़ते वक्त फिल्म निर्माता अपनी फिल्म के प्रति ज्यादा जिम्मेदार रहता है ना कि उसके साहित्य प्रति। तभी साहित्य की मूल भावना से खिलवाड़ होने का खतरा रहता है ।फिल्म मे इसमे कहानी से लेकर,पटकथा संवाद,लोकेशन,साउंड इफेक्ट,गीत,संगीत सहित कई चीजों का समावेश हो जाता है।एक फिल्म की शूटिंग महीनों या सालों, उसके शिड्यूल के हिसाब से चलती है। शूटिंग मैटेरिल (रॉ स्टाक) 100 घंटे का न्यूनतम होता है। महीनों संपादन,डबिंग ,मिक्सिंग जैसे विभागो पर काम होने के बाद फिल्म सेंसर बोर्ड के सामने जाने को तैयार हो पाती है।

निष्कर्ष -साहित्य रचना की सेल्यूलॉइड पर दुबारा रचित करने मे जो व्यावसायिक लाभ के नाम पर तोड़ मरोड़ कर जब उसकी कथा वस्तु से खिलवाड़ किया जाता उस पर जो बहस मुंशी प्रेमचन्द और अमृतलाल नागर ने तब छोड़ी थी वह अब भी प्रासंगिक है। यह भी एक तथ्य है कि एक साहित्य के ढ़ाई से तीन घंटे मे बांधना एक दुष्कर कार्य है।इस प्रकिया मे साहित्य की कथा वस्तु और उसकी आत्मा कई बार तो बच जाती है और कई बार आलोचना के तमाम दरवाजे छोड़ देती है।जब लिखने वाले, बनाने वाले और देखने वाले तीनों उसमें साहित्यिक तथा कलात्मक रूप दोनों से शामिल हो तभी एक साहित्य पर बनी सिनेमा की सार्थकता होगी।

संदर्भ

1 झा श्यामान्द (2014) साहित्य पथ के पुनरूत्पादन की समस्याएं (संदर्भ रंगमंच और सिनेमा) Pg.120,180 http://hdl.handle.net/10603/20999 (शोध गंगा)

2 .ड़ा. रमा (2019) हिन्दी सिनेमा मे साहित्यिक विमर्श-(भुमिका से) नई दिल्ली- हंस प्रकाशन

3-अग्रनिहोत्री साधना -(2019) शोध पत्र- साहित्य की सिनेमाई पटकथा रूपांतरण की सम्स्याएं https://sahityacinemasetu.com/shodh-lekh -sahitya-ki -cinemayi-patkatha-rupantaran-ki-samsayayein/

4-डा. कुमारी अंजु (2021) सहचर ई पत्रिका -शोध लेख https://www. sahchar.com//2021/08/11/साहित्य-व-सिनेमा-डॉ-अंजु-क/

5--पुनीत बिसरा-साहित्य और सिनेमा- शोध लेख https://www. jagran. com/blogs/puneetbisaria/साहित्य-और-सिनेमा/सोशल मिडिया संदर्भ

6-Singh Shweta(2015)-लेख-84 साल पहले बनी थी भारत की पहली बोलती फ़िल्म

7.https://www.bbc.com/hindi/entertainment/2015/03/150313 _a lam_aara_pkp

8-इकबाल रिजवी -सिनेमा और हिन्दी साहित्य -लेख http://www. hindisamay.com/content/4693/1/इकबाल-रिजवी-सिनेमा-सिनेमा -और-हिंदी-साहित्य.cspx

9-निलिमा दास -बॉलिवुड में फ्लॉप हो गई कथा सम्राट की कहानी कहानी https://navbharattimes.indiatimes.com/navbharatgold/literature/movie-based-on-the-story-of-munshi-premchand-failed-in-bollywood-his-debut-film-was-mill-mazdoor-in-1934/story/79940076.cms

10-Tanya Jha.Pinjar Review: The ‘Other' Side of the India-Pakistan Partition https://feminisminindia.com/2018/08/01/pinjar-movie-feminist-review/

11- ‘गुलशन नंदा से प्रकाश हिन्दुस्तानी कीबातचीत(इंटरव्यू) (1983) https://bit.ly/342p6sX

'नए इलाके में' : नए इलाके की खोज करती कविताएँ

-डॉ. अन्सा ए.
सहायक आचार्य,
हिंदी विभाग, सरकारी ब्रेण्णन कॉलेज,
तलश्शेरी,कण्णूर, केरल-670106

कविता अनुभूति को अभिव्यक्त करने का एक सशक्त साधन है तथा जीवन जगत को जानने परखने का एक आंतरिक औज़ार भी। इसमें परिवेशगत सच और यथार्थ को तलाशने और बदलने का सामर्थ्य है। भिन्न-भिन्न युगों से भिन्न-भिन्न नाम स्वीकार कर के वर्तमान हिंदी कविता अब विकास की ओर अग्रसर है। वर्तमान हिंदी कविता वास्तविक यथार्थ जीवन का खुलासा चित्रण करती है। जिसे पढ़कर समसामयिक काल-बोध अपने पूर्ण रूप में उभर कर आता है।

वर्तमान काव्य परिदृश्य के सलामी कवि है अरुण कमल| आपकी कविताएँ सम्पूर्ण मानव की स्थिति व नियति का वाहक है। इस कारण उनकी छोटी कविताएँ भी गहन अंत:पाठ को समावेशित करती हैं। अपने समय के लोगों के साथ चलते हुए कवि ने जो कुछ भी अनुभव किया, मानव पर आए दबाव व उनकी बदलती मानसिकता को गहरे में भोगा उसे उनकी कविता में वाणी मिली है।

नए इलाके में' अरुण कमल का तीसरा काव्य संकलन है जिसमें आपकी पचपन कविताएँ संकलित हैं। इस संग्रह की कविताओं में जीवन को देखने-परखने की नई कोशिश मिलती है और एक गहरा नैतिक बोध भी। "यह नया इलाका स्थूल अर्थों में सामाजिक-राजनीतिक नहीं, हालाँकि यह सही है कि पूरा तात्पर्य पाने के लिए पिछले वर्षों में हुए विभिन्न बाह्य परिवर्तनों को ध्यान में रखना ज़रूरी होगा , लेकिन ये कविताएँ वहीं तक सीमित नहीं हैं, अपने उठान और प्रसार में ये नए अर्थ प्रक्षेपित करती हैं। ये जीवन के आवरण की नहीं, बल्कि अस्तर की कविताएँ हैं।"[1]

'नए इलाके में' शीर्षकीय कविता इस संकलन की पहली कविता है जो एक अर्थ में पूरे काव्य संग्रह का मानचित्र भी माना जा सकता है। प्रस्तुत कविता में कवि ने एक ऐसी दुनिया की छवि हमारे सामने प्रस्तुत किया है जो एक ही दिन में पुरानी पड़ जाती है। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि जीवन में कुछ भी स्थायी नहीं है। संसार में दिन ब दिन हो रहे ऐसे बदलाव मानव में हताशा व पराजय के भाव को जन्म देती है। यह संसार इतना परिवर्तनशील है कि यहाँ स्मृति का कोई भरोसा नहीं है। जैसे एक ऋतु से दूसरे तक जाने से प्रकृति में भारी परिवर्तन आ जाता है वैसे परिवर्तन आज एक ही दिन में हो रहा है। इस पल-पल बनती-बिगड़ती दुनिया का वर्णन अरुण कमल ने बहुत गंभीरता से प्रस्तुत किया है-

"यहाँ रोज़ कुछ बन रहा है / रोज़ कुछ घट रहा है
यहाँ स्मृति का कोई भरोसा नहीं
एक ही दिन में पुरानी पड़ जाती है दुनिया
जैसे वसंत का गया पतझड़ को लौटा हूँ
जैसे बैशाख का गया भादों को लौटा हूँ।"[2]

विवेच्य काव्य संग्रह में कवि मूल्यों के बिखराव की चर्चा बार-बार करते हैं। कवि का मानना है कि समय के परिवर्तन के साथ-साथ नवीनता भी अपना ताज़ा व आकर्षण को छोड़कर धीरे-धीरे पुरानी पड़ने लगती है। 'यह वो समय' शीर्षक कविता में कवि ने इसी समस्या की ओर इशारा करके कहा है कि जिस प्रकार खेत से फसल कट जाने पर यदि उसमें कुछ बोया न जाए तो वह उजाड़ लगने लगता है वैसी ही स्थिति आज मानव जीवन में भी आ गयी है। आज मानव ऐसी अवस्था पर खड़ा है जहाँ पुराने मूल्यों का विखंडन हो रहा है और नए मूल्य अभी स्थापित नहीं हुए हैं। कवितांश हैं-

"यह वो समय है जब
शेष हो चुका है पुराना
और नया आने को शेष है।"[3]

'बात', 'श्राद्ध का अन्न' शीर्षक कविताएँ भी मूल्यच्युति को उजागर करने वाली हैं।

आज संवेदना की रिक्तता यह सिद्ध करती है कि व्यक्ति कितना स्वार्थी व लालच हो गया है। यह स्वार्थलिप्तता भी परिस्थितियों की उपज है। आज हमारे इर्दगिर्द ऐसी घटनाएँ घट रही हैं जो हमें संवेदनशून्य व संबंधहीन बना रही हैं। हमारी व्यस्तता आज हमें इतना अवसर देती कि आस-पड़ोस में रहने वाले के सुख-दुःख को जान सकें। 'वृत्तान्त' शीर्षक कविता में इसी व्यस्तता के माध्यम से कवि ने संवेदनहीन मनुष्य की भूल को दर्शाया है। कविता इस ओर संकेत करती है कि यात्रा के दौरान सभी सामान गाड़ी में चढ़ा दिया जाता है किन्तु गाँव की बूढ़ी द्वारा दिया गया एक झोला छूट ही जाता है। यह मनुष्य की भूल नहीं अपितु संवेदनहीनता है-

"लेकिन एक तो छूट गया-
चलते समय गाँव की बूढ़ी ने दिया था
जूट का झोला
बोली थी दिल्ली पहुँचते ज़रूर भिजवा दीजिएगा ददन को

 ISSN-2321-1504 Nagfani No. UTTHIN/2010/34408

नया चूड़ा और गुड़ की भेली है

और वह छूट गया।"[४]

भूख, अभाव व गरीबी एवं फटेहाली जैसे जीवन के कटु यथार्थ को कवि ने अपनी कविताओं में बहुत गहराई से वाणी दी है। गरीबी अभावग्रस्त जनता को किस हद तक नीचे गिरा देती है तथा उसके भीतर की मानवीयता को किस हद तक सोख लेती है इसका जीवंत चित्रण 'नैतिक प्रश्न' शीर्षक कविता में प्रकट हुआ है। चरण हैं-

"हाथ में गर्म भुट्टा पकड़े अँगीठी पर आँखें

गड़ाए वह बोला- लगता है मसान के

कोयले पर पका है

खाना ठीक होगा?"[५]

प्रस्तुत कविता में कवि ने घोर गरीबी और इससे उपज एक प्रकार की निस्सहायता का चित्रण किया है।

'लौ', 'रात का ढाबा', 'दाना' जैसी कविताएँ भी अभावग्रस्त जीवन पर तीखी टिप्पणी करने वाली हैं।

'सोये में चलना' कविता में कवि ने असहाय, कमज़ोर एवं निर्बल लोगों की मूक पीड़ा को वाणी दी है। अवतरण हैं-

"केवल शब्दों का फाहा लिए

जाना चाहता हूँ उसकी तरफ से

जो सबसे कमज़ोर है

जो अपने कौर के लिए भी हाथ उठा नहीं सकता।"[६]

प्रस्तुत कविता के ज़रिए कवि ने सर्वहारा वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की है।

अजनबीपन का एहसास इतना अदम्य है कि जीवन का लम्बा सफर तय करते-करते व्यक्ति के मस्तिष्क से पुरानी स्मृतियाँ छूटने लगती है और अतीत के चिह्न धुँधले होने लगते हैं। ऐसे में उन्हें अपना घर तक पहचानना दुष्कर हो जाता है। कवि ने इस तथ्य को प्रभावी ढंग से चित्रित किया है 'सबसे ऊँची छत पर' कविता में। अवतरण हैं-

"पर पहचानना मुश्किल है अपना ही घर

अपना ही मोहल्ला लगेगा अनजान

खुदाई में निकली किसी लुप्त सभ्यता का ध्वंसावशेष|"[७]

इसी ओर इशारा करने वाली और एक चरण देखिए-

"चढ़ते-चढ़ते पहुँचोगे वहाँ साँस के अंतिम मोड़ पर

तब मिलेगी धूप से भरी वो छत

और पहली बार तुम्हें लगेगा

जब कहीं भी नहीं है हवा तब भी यहाँ कुछ हवा है-

सिहरेंगे छाती के अधपके केश|"[८]

कभी-कभार मानव को ऐसे क्षणों की ओर गुज़रने पड़ते हैं कि उन्हें अपने संपूर्ण जीवन ही व्यर्थ व बेमानी लगने लगते हैं। व्यक्ति मन में गहरे अवसाद को जन्म देने वाली निराशा और निरर्थकता बोध की इस स्थिति को कवि ने बहुत गंभीरता के साथ उकेरा गया है 'स्थावर' शीर्षकीय कविता में। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

"इस बार भी लगता है यहीं रह जाऊँगा

हर बार सोच कर निकलता हूँ

कहीं दूर चला जाऊँगा

पर बारिश की शाम के धुएँ सा घुमड़ता

गिरता हूँ फिर उसी छप्पर पर जहाँ से उठा।"[९]

कवि की जीवन दृष्टि उम्मीद से संचालित है। आप 'शेष' शीर्षक कविता के ज़रिए लोगों के मन में आस्था बनाए रखने की प्रेरणा देते हैं कि भले ही घोर संकट स्थिति से गुजरने के बावजूद भी हमारे दिल में उम्मीद या आशा की किरण सदैव सुदृढ़ रखनी चाहिए| कवि के मन में सदा आशा का वह हरापन विद्यमान है-

"और मैं बच गया

आग में पड़ कर भी जला नहीं

क्योंकि अभी गीला था

अभी भी कुछ कुछ हरा था।"[१०]

'निवृत्त', 'लगभग', 'हमारे युग का नायक', ' आत्मा का रोकड़', 'सबसे ऊँची छत पर' आदि कविताओं के द्वारा कवि लोगों के मन में आशा का संचार जगाना चाहता है।

आपने 'हासिल' और 'जागरण' शीर्षक कविताओं के माध्यम से मानवीय जीवन में बढ़ती महत्वाकांक्षाओं की ओर इशारा किया है। हम पेंसिल की नोक को महीन से महीन करने की ज़िद में छीलते जाएँगे तो अंत में ठूँठ ही हाथ लगेगा। उसी प्रकार आज का नव मानव इतना महत्वाकांक्षी होता जा रहा है कि अधिक से अधिक पाने की धुन में वह सब कुछ अपने हाथ से खो बैठता है, जो उसके पास है वह भी खो देता है। इसे आंकती हैं 'हासिल' शीर्षक कविता की निम्नांकित पंक्तियाँ-

"नोक महीन से महीन

करने की ज़िद में इतना
छीलता गया पेन्सिल
कि अंत में हासिल रहा
ठूँठ।"[११]

वर्तमान भारतीय समाज आतंक एवं असुरक्षा बोध से ग्रस्त है कि सामाजिक जीवन दुत्कार होता जा रहा है। 'ऐसे में' शीर्षक कविता में कवि ने इस तथ्य की ओर इशारा करके कहा है कि आज ऐसा समय आ गया है कि सुबह का निकला आदमी शाम तक घर पहुँचाएगा या नहीं। आतंक एवं असुरक्षा इतनी फैल चुकी है कि प्रत्येक व्यक्ति कई प्रकार की घटनाओं से आशंकित नज़र आता है। चरण हैं-

"ऐसे में कुछ भी निश्चित नहीं
नहीं जानता कल शाम को छह बजे
आऊँगा या नहीं
कुछ भी पक्का नहीं।"[१२]

'चार दिन', 'वाकया', 'रात', 'सबसे ऊँची छत पर' 'दाना' आदि कविताओं में भी आतंक व असुरक्षा बोध से पीड़ित समाज का चित्रण हैं।

आज जनतंत्र का मतलब हो गया है चुनाव, वोट, सत्ता और शासन| इसमें जनता का दायित्व सिर्फ वोट देना है। 'संविधान का अंतिम संशोधन' कविता में कवि ने शासन तंत्र पर व्यंग्य करते हुए इस सच्चाई को पाठकों के सामने लाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार शासक वर्ग जनता को अपने इशारे पर नचाता है। उनके यहाँ सिक्के का बस एक ही पहलू होता है अर्थात हर बात का एक ही पक्ष| जो उनके स्वयं के हित में होगा और आम जनता से उन्हें कोई सरोकार नहीं होता। कविताांश हैं-

"संसद के संयुक्त अधिवेशन ने ध्वनि मत से
संविधान का अंतिम संशोधन पारित कर दिया
जिसके अनुसार अब से किसी भी सिक्के में
एक ही पहलू होगा
इस प्रकार सहस्त्रों वर्षों से चला आ रहा
अन्याय समाप्त हुआ|"[१३]

कवि अरुण कमल को ग्राम्य जीवन परिवेश से गहरा लगाव है। उन्होंने अपने परिवेश में किसान और उसकी अथाह भूमिका को अत्यंत गहराई से देखा है। आपने अपनी कविताओं में कृषक वर्ग की व्यथा व्यक्त करने के साथ-साथ उनके जीवन संग्राम को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। कवि ने इसे प्रभावी ढंग से चित्रित किया है 'लोक कथा' शीर्षक कविता में। एक समय की बात है कि किसी गाँव में एक किसान के घर दो महीने पहले गौना लेकर आए बेटे को डाकुओं ने रात में ढेर कर दिया गया। बेटे की अर्थी को किसान के बूढ़ा पिता, खुद किसान और उसके छोटे बेटे ने कंधा लगाया। एक कंधे की कमी पड़ी। लेकिन डकैत कहीं बुरा न मान जाए इस कारण गाँव का एक भी आदमी नहीं आया। अवतरण हैं-

"सुबह हुई
अर्थी उठाने का समय हुआ
तो किसान खुद लगा
उसका छोटा बेटा
और बूढ़ा बाप
फिर भी एक कन्धा कम पड़ रहा था
पर गाँव का एक भी आदमी नहीं आया
सबने सोचा डकैत बुरा मान जायेंगे।"[१४]

प्रस्तुत कविता में कवि कथा शैली को अपनाते हुए कृषक जीवन की विडंबना का चित्रण किया है।

संक्षेप में 'नए इलाके में' काव्य संकलन की कविताएँ शुरू से लेकर अंत तक एक नए इलाके की खोज करती हैं। साथ ही जीवन में जो कुछ घट रहा है उसका पुनः अन्वेषण और उसके आधार पर एक नई काव्य संवेदना का आविष्कार भी।

सन्दर्भ

1. अरुण कमल- नए इलाके में, आवरण पृष्ठ से उद्धृत
2. अरुण कमल- नए इलाके में, नए इलाके में, पृ. सं. 13-14
3. अरुण कमल- नए इलाके में, यह वो समय है, पृ. सं. 15
4. अरुण कमल- नए इलाके में, वृत्तान्त, पृ. सं. 46
5. अरुण कमल- नए इलाके में, नैतिक प्रश्न, पृ. सं. 76
6. अरुण कमल- नए इलाके में, सोये में चलना, पृ. सं. 23
7. अरुण कमल- नए इलाके में, सबसे ऊँची छत पर, पृ. सं. 17
8. अरुण कमल- नए इलाके में, सबसे ऊँची छत पर, पृ. सं. 16
9. अरुण कमल- नए इलाके में, स्थावर, पृ. सं. 29
10. अरुण कमल- नए इलाके में, शेष, पृ. सं. 27
11. अरुण कमल- नए इलाके में, हासिल, पृ. सं. 54
12. अरुण कमल- नए इलाके में, ऐसे में, पृ, सं. 78
13. अरुण कमल- नए इलाके में, संविधान का अंतिम संशोधन, पृ. सं. 68
14. अरुण कमल- नए इलाके में, लोक कथा, पृ. सं. 57

स्वाधीनता आंदोलन और हिंदी की हास्य-व्यंग्य कविता

-डॉ. उर्विजा शर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी
एस.डी.पी.जी.कॉलेज, गाजियाबाद

आज हम अपनी स्वतंत्रता का अमृत महोत्सव मना रहे हैं। अतः स्वतंत्रता आंदोलन का पुनरावलोकन अवश्यंभावी है। स्वतंत्रता आंदोलन कई वर्षों की साधना का प्रतिफल था। इसके लिए न जाने कितने राजनीतिक आंदोलन हुए, किंतु यह भी सत्य है कि केवल राजनीतिक आंदोलनों से स्वाधीनता प्राप्ति संभव नहीं थी। इसके लिए तत्कालीन राजनेताओं चाहे वह क्रांति के प्रणेता हों अथवा हिंसा के समर्थक के साथ-साथ सामाजिक धार्मिक सुधार को का भी योग रहा। साथ ही तत्कालीन शासकों के विरुद्ध वातावरण निर्माण करने में अनेक साहित्यकारों का भी योगदान रहा। ध्यातव्य है कि साहित्य को समाज का दिशा निर्धारक कहा जाता है। अतः स्वतंत्रता प्राप्ति में भी साहित्य ने तथा तत्कालीन साहित्यकारों ने भी अपनी भूमिका का निर्वहन किया। प्रत्यक्ष रूप से अनेक प्रतिबंध होने के कारण अप्रत्यक्ष रूप से तत्कालीन साहित्यकारों ने हास्य व्यंग्य के माध्यम से अपनी बात जनता तक पहुंचा दी। वैसे भी हास्य की चासनी में लपेटकर व्यंग्य करने में तत्कालीन साहित्यकार सिद्ध थे।

भारतेंदु युग 18 57 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में शासन के प्रति घृणा के भाव को और अधिक जागृत कर दिया। इस भाव को बढ़ाने में भारतेंदु युग के कवियों का प्रमुख हाथ रहा। वस्तुतः भारतेंदु हरिश्चंद्र का आविर्भाव हिंदी साहित्य में प्रकाश का व्यंजक बन गया। भारतेंदु युग नवीन जीवन दर्शन का परिचायक है। उस समय की परिस्थिति की सीमा में रहते हुए इन कवियों ने हास्य व्यंग्य कविताओं का वर्णन किया उस समय प्रचलित मुकरी स्यापा और मुशायरा के माध्यम से इन कवियों ने हास्यजनित भाव में अपने हृदय की पीड़ा को स्वर दीया। हास्य का रूप गत और विषय गत परिवर्तन करते हुए इस युग के साहित्यकारों ने व्यंग्य की आत्मा को अंगीकृत किया। पत्रकारिता ने भी इन साहित्यकारों को अवसर दिया भारतेंदु ने अंग्रेजों के प्रतीक के रूप में बंदर का प्रयोग किया यथा-

' भीतर भीतर सब रस चूस ए हंसी हंसी के तन मन धन मूसे

जाहिर बातन में अति तेज क्यों सखि सज्जन नहीं अंग्रेज।' [1]

भारतीय राजनेताओं की आपसी कलह तथा अंग्रेजों की पृथक तावादी नीति पर कटाक्ष प्रस्तुत मुशायरा कविता में किया-

'कैसरे हिंदुस्ता अब जान इनकी बख्श दो/देख लो रंजिश से सब इनका बदन पीला हुआ। [2]

बालमुकुंद गुप्त ने होली के बहाने अंग्रेजों पर व्यंग किया।

'अबके टेसू रंग रंगीले , अबकी टेसू छैल छबीली

होगा दिल्ली में दरबार, सुनकर चौक पड़ा संसार

शोक पड़ा दुनिया में भारी, दुनिया में है बड़ी तैयारी

देश देश के राजा आवे, खेमे डेरे साथ उठा में

घर दर बेचो करो उधार, बढ़िया हो पोशाक तैयार

हाथी घोड़े भीड़ भड़ाका , देखे सब घर फूंक तमाशा।' [3]

इन कवियों ने अंग्रेज सरकार पर कटाक्ष के साथ पुलिस को भी निशाना बनाया।

'रूप दिखावट सबरस लूटे, फंदे में जो पड़े न छूटे

कपट कटारी जिए में हुलिस, क्यों सखि सज्जन नहीं सखि पुलिस।' [4]

अंग्रेजों ने भारतीयों पर अपने शासन को निरंतर मजबूत बनाए रखने के लिए अनेक एक्ट एवं बिल पास किए इनमें इल्बर्ट बिल भी था जिस पर राधाचरण गोस्वामी ने स्यापा लिखा-

हे हक्ताल्फी हाय हाय सब एकतरफी हाय हाय

बच्चा बच्ची हाय हाय ,चाचा चाची हाय हाय ,

सच्चा बनिया हाय हाय , मरइयो नानी हाय हाय।' [5]

निश्चय ही इन कवियों के द्वारा भारत में राजनीतिक जागृति का बीजारोपण हुआ जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय आंदोलन को बल दिया। इन कवियों ने राजनीति के साथ आर्थिक दुर्बलता को भी अपने व्यंग के निशाने पर लिया। अपनी कृति मुशायरा के माध्यम से भारतेंदु जी ने आर्थिक विपन्नता को चित्रित किया।

सब के ऊपर लगा टिकस कि उड़ा होश मेरा

रोवे के चाहिए हंसी थीटी थटाना कैसा। [6]

भारतीय पूंजी के विदेश गमन पर प्रताप नारायण मिश्र की व्यथा दर्शनीय है-

'सर्वस्व लिए जात अंग्रेज ,हम केवल लेक्चर के तेज

श्रम बिन बाते का करती है, कहो टन्ट क न गाजे करती है।' [7]

इस प्रकार भारतेंदु युग का हास्य व्यंग स्वाधीनता आंदोलन की अलग जगाने में पूर्णतया सफल रहा |इस काल की कविता परिस्थिति जन्य थी ,जो साम्राज्य वादियों के अत्याचार और दमन में अपने आक्रोश को दिखाने में निरंतर सफल रही, साथ ही भारतीय जनमानस की मानसिकता को बदलने में सफल रही।

द्विवेदी युग हास्य व्यंग्य की दृष्टि से द्विवेदी युग भारतेंदु युग की अपेक्षा निर्भीकता, स्पष्ट वादिता तथा मारक शक्ति की दृष्टि से उतना प्रभावी नहीं कहा जा सकता।

यद्यपि द्विवेदी युग का आधार , राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय गौरव का पुनर्जागरण तथा राष्ट्र भक्ति का प्रचार ही था। तथापि हास्य व्यंग्य उतना मुखर नहीं रहा जितना भारतेंदु युग में था। महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने गर्दभ काव्य ,सरगो नर्क ठिकाना नहीं ,टेसू की टांग कविताओं की रचना की ।इस कड़ी में नाथूराम शंकर की कविता में हास्य व्यंग तीक्ष्ण दिखाई देता है ,जो अंग्रेजों की कूटनीति एवं अंग्रेज समर्थकों की चाटुकारिता को निरंतर निशाना बनाते हैं तथा कहते है-

'कीचड़ में केहरी पड़ा है, गीदड़ दल घात में खड़ा है।

गिद्धों ने घाव पर लिए हैं, कौओ ने पेट भर लिए हैं।'[८]

वोट पर व्यंग्य करते हुए अयोध्या सिंह उपाध्याय लिखते हैं -

'वोट देते हैं टके की ओट में ,है समाजों में बहुत ही ऐंठते

थे कुछ उठलू लोग ऐसे हैं ,जो है उठाते हाथ उठते बैठते। '[९]

राज भक्त नरम वादियों पर व्यंग करने से भी नहीं चूके तथा लिखा

'रसिक रहूंगा राज भक्ति का, बैठ प्रजा की ओर / बांध बाधिक विद्रोही दल को ,दूंगा दंड कठोर /सहाबियत में रहेगी मसत हम /थूकते हैं लोग तो थूका करें।'[१०]

भारत परतंत्र था तथा अंग्रेज भारतीयों का शोषण कर रहे हैं यह स्थिति राष्ट्र प्रेमी कवियों के लिए असह्य थी| ऐसे में नाथूराम शंकर का व्यंग अपने चरम पर पहुंचा-

'लगातार पूंजी बढ़ाते रहो, कमाते रहो, ब्याज खाते रहो

ना कंगाल का पिंड छोड़ा ,करो लहू लीचड़ो का निचोड़ आ करो'[११]

द्विवेदी युग के उपरांत स्वच्छंदतावाद कवियों की मानसिकता ही जीवन से पलायन, नैराश्य और सपनों से निर्मित रही। ऐसे में राष्ट्रीय सामाजिक संदर्भों की प्राय उपेक्षा की गई ।व्यक्तिगत मनोभावों एवं आत्मगत स्वरूप की कविता के कारण हास्य व्यंग्य का प्राय अभाव ही रहा।

हास्य व्यंग्य की दृष्टि से प्रगतिवाद का युग स्वर्ण युग सरीखा ही था। निराला ,पंत तथा नागार्जुन ने कार्ल मार्क्स के चिंतन से प्रभावित हो शोषकों पर निरंतर प्रहार किया |1936 में मुंशी प्रेमचंद की अध्यक्षता में 'प्रगतिशील लेखक संघ 'की स्थापना ने व्यंग्य की भावना को बल दिया और कवियों ने भारत की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवेश की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत की । निराला, पंत तथा भगवती चरण वर्मा की कविताओं में व्यंग्य दिखाई पड़ता है यथा भगवती चरण वर्मा की पंक्तियां -

' राजा साहब है दान शील राजा साहब है दयावान/राजा साहब के पैसों से पलते हैं कितने ही नेता/ पलते हैं कितने कवि लेखक /पलते हैं कितने ही गुंडे।'[१२]

दिनकर जी की दिल्ली शीर्षक कविता में व्यंग्य चरम तक पहुंच गया जब यह कहते हैं 'तू वैभव मद में इठलाती, परकीया सी नैन चलाती/ री ब्रिटेन की दासी। किसको।

इन आंखों पर ललचाती।'[१३]

प्रगतिवादी कवियों ने अंग्रेजों की दुराग्रह एवं पक्षपात पूर्ण नीतियों का खुलकर विरोध किया । द्वितीय विश्व युद्ध में भारत को लेकर चर्चिल की नीतियों का खुला विरोध इन कवियों ने किया। साथ ही सविनय अवज्ञा आंदोलन, भारत छोड़ो आंदोलन तथा करो या मरो जैसे आंदोलन तथा नारे इनका संबल बने |निराला ने कुकुरमुत्ता के माध्यम से साम्राज्यवाद, पूंजीवाद एवम सामंतवाद के प्रतिनिधि अंग्रेजों, भारतीय राजा व जमीदार वर्ग को खुली चुनौती दी। कुछ पंक्तियां दृष्टव्य है -

' तू है नकली मैं हूंमौलिक, तू है बकरा मैं हूं कौलिक/तू रंगा और मैं धुला, पानी में तू बुलबुला ।/तूने दुनिया को बिगाड़ा मैंने गिरते से उभारा /तूने रोटी छीन ली जनखा बनाकर ,एक कि दो-तीन महीने गुनगुना कर। '[१४]

मुस्लिम लीग एवं कांग्रेस के आंदोलनों ने भी इस काल के कवियों को हिला कर रख दिया तथा निरंतर काव्य रचना की प्रेरणा दी|

निष्कर्ष वस्तुतः साहित्य समकालीन समाज का ही प्रतिबिंब होता है अतः स्वाभाविक रूप से आजादी के आंदोलनों में तत्कालीन समाज की भूमिका भी बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है इन कवियों का योगदान किसी भी तरह से उस समय के राजनेताओं क्रांतिकारियों एवं समाज सुधारकों से कम करके नहीं आंका जा सकता है इन साहित्यकारों ने ऐसी चिंगारी प्रज्वलित की जिसने दासता की बेड़ियों को पिघलाकर भारत को आजादी का सूर्य दिखा ही दिया आज हम जब आजादी का अमृत महोत्सव मना रहे हैं ऐसे में यह साहित्यकार वंदन करने योग्य हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1.भारतेंदु हरिश्चंद्र , भारतेंदु ग्रंथावली, दूसरा भाग पृष्ठ 812

2.भारतेंदु हरिशचंद्र,भारतेंदु ग्रंथावली,तीसरा भाग, पृष्ठ 867

3. बालमुकुंद गुप्त, गुप्तनिबंधवाली, पृष्ठ 60

4.भारतेन्दु हरिश्चंद्र , ग्रंथावली दूसरा भाग ,पृष्ठ 812

5. सरोज खन्ना ,हिंदी साहित्य में हास्य रस ,पृष्ठ 123

6. भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु ग्रंथावली, दूसरा भाग पृष्ठ 864|

7. प्रताप नारायण मिश्र ,प्रताप लहरी ,पृष्ठ 63

8. नाथूराम शंकर ,शंकर सर्वस्व पृष्ठ 451

9.अयोध्या सिंह उपाध्याय , चुभते चौपड़े, पृष्ठ 149

10. वही ,पृष्ठ 149

11.नाथूराम शंकर ,शंकर सर्वस्व पृष्ठ 451

12. सुमित्रानंदन पंत ,ग्रामया , पृष्ठ 40

13.रामधारी सिंह दिनकर ,हुंकार ,पृष्ठ 46

14. निराला, कुकुरमुत्ता, पृष्ठ 41

15.डॉ ज्ञान प्रकाश शर्मा, हिंदी की हास्य व्यंग्य मई कविता का सांस्कृतिक विवेचन, अनुराधा प्रकाशन

16.डॉ वीरेंद्र मेहंदी र्त्ता, आधुनिक हिंदी साहित्य में व्यंग ,रिसर्च पब्लिकेशंस इन सोशल साइंसेज

17 पत्र एवं पत्रिकाएं

हिंदी साहित्य में विकलांगता का चित्रण

-मोनी
इतिहास विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली

सार- आज हम भारतवासी आपनी स्वतंत्रता की 75 वीं वर्षगांठ मना रहे है और वहीं दूसरी ओर उन लोगों को भी नमन कर रहे है जिनके अतुल्य योगदान से हम ये स्वतंत्रता प्राप्त कर सके है। परन्तु आज भी हम आज़ादी के वास्तविक अर्थ की तलाश कर रहे है। जैसे दलीत वर्ग, स्त्री, आदिवासी, किसान, अल्पसंख्यक, विकलांग आदि। ये ऐसे विषय है जो हमेशा से ही हाशिए पर रहे और हाशिए से निकलकर मुख्यधारा में आने का लगातार प्रयास करते रहे है। लेकिन इस लेख में मैंने सिर्फ विकलांगता पर ही ध्यान केन्द्रित किया है। व हिंदी साहित्य द्वारा विकलांगता की सामाजिक अवधारणा को दर्शाने का प्रयास किया है।

बीजक शब्द- समाज, इतिहास, हिंदी साहित्य व विकलांगता।

प्रस्तावना- आज हमारे समाज में विमर्शों का ऐसा दौर है जिसमें हर वर्ग अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। ऐसा ही एक वर्ग विकलांगता से ग्रस्त वर्ग का भी है। इस अस्तित्व की लड़ाई के बीज बहुत हद तक अतीत में घटित घटनाओं में दबे हुए है जिन्हें जानना और समझना आवश्यक है। और इतिहास व साहित्य वे दो विषय है जो समाज का दर्पण कहा जाये तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी। इस प्रकार मेरे इस लेख में जहां एक तरफ इतिहास की परिभाषा, इतिहास और साहित्य में अंतर, तो वही दूसरी ओर हिंदी साहित्य में व्यवस्थित हाशिए वर्ग विशेषकर विकलांगता पर चर्चा करना है। इसके अलावा कुछ पौराणिक कथाओं, समकालीन लेखकों के लेखन कार्य द्वारा विकलांगता के प्रति बनी दीन-हीन अवस्था में आने वाले बदलाव का विशलेषण करना। अंततः इस लेख को लिखने का मेरा एक मात्र उद्देश्य हिंदी साहित्य में व्यवस्थिति विकलांगता की छवि को दर्शाना है।

उद्देश्य- 'इतिहास' का अर्थ है: 'ऐसा ही था' या 'ऐसा ही हुआ'। अर्थात् इतिहास का संबंध अतीत से है, तथा इसके अंतर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का ही समावेश किया जाता है। इतिहास में उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है, जिनका संबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है और साथ ही, उसका संबंध केवल 'प्रसिद्ध घटनाओं' से ही नहीं, अपितु उन घटनाओं से भी है, जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई हों। वस्तुतः आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत, अतीत की प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अतः संक्षेप में, अतीत के किसी भी तथ्य, तत्त्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन व विश्लेषण को, जो कि कालविशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो, इतिहास कहा जा सकता है। लाक्षणिक अर्थ में 'इतिहास' का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीतकालीन घटनाओं और व्यक्तियों के लिए भी होता है।1

सामान्यत: 'इतिहास' शब्द से राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है, किंतु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका इतिहास से संबंध न हो। अतः साहित्य भी इतिहास से असंबद्ध नहीं है।[2] संक्षेप में कहा जा सकता है कि साहित्य का इतिहासकार जहां अतीत के सर्जन-कार्य को विभिन्न परंपराओं और धाराओं के रूप में ग्रहण करते हुए युगविशेष के संदर्भ में उनका विश्लेषण करता है, वहीं आलोचक किन्हीं स्थापित मूल्यों के आधार पर या नये मूल्यों की स्थापना के उद्देश्य से विभिन्न कृतियों के मूल्यपरक तत्त्वों का उद्घाटन करता है। एक के द्वारा जहां 'ऐसा क्यों हुआ' का उत्तर दिया जाता है, वहीं दूसरा 'इसमें क्या विशेषता है' की व्याख्या करता है।[3]

साहित्य और इतिहास दोनों ही सामाजिक रचना है। जहां साहित्य का अस्तित्व समाज से अलग नहीं होता, वही इतिहास का अस्तित्व समाज पर आधारित होता है। इसीलिए साहित्य का विकास समाज के विकास से जुड़ा होता है। साहित्यकार की रचनाशील चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है, व साहित्यिक कर्म की पूरी प्रक्रिया सामाजिक व्यवहार का ही एक विशिष्ट रूप है। इसलिए साहित्य का इतिहास समाज के इतिहास से अनेक रूपों में जुड़ा होता है। तथा साहित्य का इतिहास व्यापक सामाजिक इतिहास का अंग है।[4] अर्थात् ''इतिहास सामान्य रूप से कालखंड के अनुसार दर्ज एक ऐसा विषय है जो हमें हमारे अतीत से परिचित कराता है। वहीं साहित्य एक ऐसा स्रोत है जो अतीत में हुए समकालीन शासकों के प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के पहलुओं से अवगत कराता है''।[5] वास्तव में, साहित्य समाज के नजरिये और इतिहास में घटी घटनाओं के आधार पर बनता है। परन्तु कहीं न कहीं साहित्य और इतिहास एक - दूसरे के अभाव में विचारों को पूर्ण रूप से प्रस्तुत नहीं कर पाते, और साहित्य ही बाद में वो माध्यम बन जाता है जो विभिन्न तथ्यों व सांस्कृतियों को दर्शाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।[6]

इस प्रकार साहित्य की प्रकृति को लेकर किये गये कार्य सम-

सामयिकता की गहरी अनुभूति को उजागर करती है। पहला - समाज के लिए साहित्य की और साहित्य के लिए समाज की प्रासंगिकता अब एक स्थापित तथ्य बन चुका है। साहित्य लोगों के प्रति उत्तरदायी रहा है, और उसका उद्देश्य लोकरुचि को बदलकर उसका परिष्कार करना है। दूसरा - हर युग का अपना एक विशिष्ट और व्यापक युगधर्म होता है जिसे ग्रहण करना साहित्य और समाज दोनों के लिए आवश्यक है। और तीसरा - साहित्य समाज का दर्पण भी होता है जो समाज की आँखे खोलने का कार्य भी करता है।[7]

इसी प्रभाव को साहित्यकारों/लेखकों ने अपने लेखो में दर्शाया है। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में बड़ा बदलाव उन लेखकों ने लाना शुरू किया, जिन्होंने हाशिए वर्गो को अपने लेखन कार्य में शामिल किया। इन लेखकों जैसे मुंशी प्रेमचन्द, भीष्म सहानी, महादेवी वर्मा आदि ने जमीनी स्तर पर लेखन कार्य करते हुए विकलांग लोगों के बारे में लेखन कार्य किया। इस तरह के लेखन ने समाज में विकलांगता जैसे विषय को दीन - हीन अवस्था से निकलने और समाज की मुख्यधारा की ओर अग्रसर होने में मुख्य भूमिका निभाई। अर्थात् साहित्य लेखों, पत्र- पत्रिकाओं, उपन्यासों, कहानियों - आत्मकथाओं आदि ने विकलांगता के प्रति सामाजिक चेतना जगाने और गैर सामाजिक विषयों को मुख्यधारा में लाने का महत्वपूर्ण और सराहनीय कार्य किया।

भारतीय समाज प्राचीन समय से प्रकृति रूप में परोपकारी रहा है; गरीबों और जरूरतमंदों के लिए प्यार, करुणा और सहानुभूति और उन्हें साथी के रूप में मानना इस समाज में एक अंतर्निहित विशेषता रही थी। जिसमें अधिकांश भावनाएं आमतौर पर परिवार के वरिष्ठों या वृद्ध व्यक्तियों के लिए पाई जाती हैं। लेकिन जो व्यक्ति किसी घातक बीमारी से पीड़ित या अपंग हैं, उनके लिए भारतीय समाज का दृष्टिकोण हमेशा विविध रहा है। एक तरफ उन पर दया तो दूसरी तरफ पाप और पुन्य की धारणा, हमेशा से ही परिवारों में अफ़सोस का कारण रहा है।[8] वास्तव में, भारतीय समाज जिसमें सबसे अधिक हिन्दू धर्म को मानने वाले लोग रहते है और हिन्दू सिद्धांत कर्म पर आधारित है। हिन्दू धर्म के अनुसार एक व्यक्ति कई बार जन्म लेता है और यह एक जीवन में किए गए कार्यो और गतिविधियों पर निर्भर करता है। विकलांगता तब होती है जब कोई बहुत पापी जीवन व्यतीत करता है और परिणामस्वरूप भगवान उसे उसके पापों की सजा विकलांगता के रूप में देता है। अर्थात् हिन्दू सिद्धांतो में विकलांगता को कर्म से जोड़कर पाप और पुन्य के रूप में दर्शाया जाता है। वैसे हिन्दू, इस्लाम और ईसाई धर्मो ने अलग- अलग समय पर विकलांगों के साथ भेदभाव किया। विकलांगों के प्रति व्यापक रूप से भेदभाव को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

अ) शारीरिक विकलांगता - अंधे, बहरे, गूंगे और शरीर के किसी भी महत्वपूर्ण अंग जैसे हाथ और पैर में कमी इस श्रेणी का गठन करती है। इस श्रेणी में नपुंसक पुरुष भी शामिल थे।

बी) मानसिक विकलांगता - इस श्रेणी में बेवकूफ और पागल शामिल है।

सी) बीमारी के कारण विकलांगता - इस श्रेणी में विशेष रूप से कुष्ठ रोग के शिकार शामिल है क्योंकि इस बीमारी के परिणामस्वरूप कुरूपता और अंगों की क्षीणता होती है। यह अपने सभी रूपों में संक्रामक माना जाता था।

इस प्रकार यदि हम पौराणिक कथाओं की बात करें तो हमें विकलांगता भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते है। एक तरफ समर्पण तो वही दूसरी तरफ सामाजिक अयुक्तता दिखाई देती है। जैसे 'रामायण' और 'महाभारत' के महाकाव्यों में विकलांगता या किसी विकृति वाले पात्रों को आम तौर पर नकारात्मक या अशुभ आशयो वाले व्यक्तियों से जोड़ा जाता है।[9] उदाहरण के लिए एक तरफ मंथरा का चरित्र, एक कूबड़ वाली नौकरानी महाकाव्य 'रामायण' में एक चतुर और प्रतिशोधी प्रवृति वाली महिला के रूप में थी। जिसके हस्तक्षेप के कारण राजा दशरथ की एक रानी कैकेयी को रानी बनने और उसके बेटे को राजगद्दी पर बिठाने का लालच देकर बहकाने का प्रयास करती है। और अंत में सफल भी हो जाती है। जिस कारण राम और अन्य (सीता व लक्ष्मण) को वनवास भेज दिया है। तो वही दूसरी ओर 'महाभारत' में गांधारी आदर्श महिला की छवि प्रस्तुत करते हुए समर्पण को दर्शाती है और अपने अंधे पति धृतराष्ट के लिए खुद भी जीवन भर न देखने का प्रण लेती है और अपनी आँखों पर हमेशा के लिए पट्टी बांध लेती है।

इसी तरह 'महाभारत' में राजा धृतराष्ट्र पूरी तरह से अंधे होते है। वह बुरी आत्मा से ग्रस्त नहीं थे, लेकिन सबसे आम धारणा यह है कि वह कुरुक्षेत्र के युद्ध के लिए पूरी तरह से जिम्मेदार थे क्योंकि वह एक राजा के रूप में अपना कर्तव्य सही तरह से नहीं निभा सकें। उनका छोटा भाई पांडु भी यौन रूप से अक्षम था जो कि विकलांगता का दूसरा रूप है और आज भी हमारे समाज में इस तरह की अक्षमता के रूप को स्वीकार नहीं किया जाता है। यहां तक कि 'महाभारत' में मामा शकुनि, जिसने अपनी बहन के बेटों को उनके अपमान का बदला लेने के लिये पांड्वो के प्रति भड़का कर युद्ध के लिए उकसाया था, वह भी एक पैर अक्षम था। अंत: यह भली-भांति समझ सकते है कि किसी भी प्रकार की विकृति, कुरूपता, निशक्तता, विकलांग व्यक्तियों को किसी भी बुराई या शैतानी प्रवृति का अवतार मानती रही है। यहां तक की 'महाभारत' में कहा भी गया कि अंधापन या किसी भी प्रकार की विकलांगता से ग्रस्त व्यक्ति सिंहासन के उत्तराधिकार को प्राप्त करने में अयोग्य साबित होगा।

वैसे भारतीय समाजों में हमेशा ही संयुक्त परिवार व्यवस्था की प्रथा विधमान रही है। और ऐसे संयुक्त परिवारों में कुछ उसूल और सिद्धांत भी होते है। जैसे कि परिवार में बड़ों और बुजुर्गो का आदर व सम्मान करना; वृद्ध, बीमार या विकलांग व्यक्तियों की अच्छी तरह से देखभाल करना आदि। ऐसी परंपराएं हमें स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में भी मिलती है। 'भगवतगीता' में दान को जरुरतमंदो तथा विकलांग व्यक्तियों को देने और उनकी देखभाल के लिए चिंतित होने को महत्व दिया गया है।[10] वैसे विकलांगता को बुराई से जोड़ा जाता रहा है। 'विष्णु पुराण' में

भगवान विष्णु का बौना (बामन अवतार) या नरसिंह के रूप में (जो कि शेर और मनुष्य की एक साथ विशेषता है) 'राक्षस' या बुराई को नाश/ख़त्म करने के लिए था।11 देवी दुर्गा के दस हाथ होना, क्योंकि उसे राक्षस 'असुर' को मारने के लिए अतिरिक्त शक्ति और ताकत की आवश्यकता थी। इसके विपरीत 'रामायण' में दस सिर वाले 'रावण' के रूप को देखे जो उसे अलौकिक शक्ति प्रदान करता है। यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि जब भी कुछ असामान्य या श्रेष्ठ या सामान्य व्यवहार से विचलित होता है; तो उसे अक्सर बुरी आत्मा या किसी देवी - देवता के साथ जुड़ा होता है।

'महाभारत' में ऋषि कोहाद ने अपने अपमानित किये जाने पर अपने ही बेटे को आठ भागों में बाँट जाने का श्राप दिया, जिस कारण वह विकृत रूप (अष्टावक्र) में पैदा हुआ, ठीक इसी तरह रामायण में जब सुपर्णलखा अपनी यौनवासना के कारण लक्ष्मण को अपने प्रति आकर्षित करने का प्रयास करती है, तो बदले में लक्ष्मण उसकी नाक काट देता है व उसे शारीरिक रूप से कुरूप बना देता है। यानि अगर आप सामाजिक नियमों के विपरीत जाओगे तो आपको विकलांगता के रूप में सजा दी जाएगी।

इसी तरह 'चरक संहिता' रोगों या किसी दुर्भाग्य को पिछले जन्मों में किए गए कुकर्मो या गलत कार्यो का परिणाम मानती है और यह विश्वास केवल उन दिनों के बारे में ही सच नहीं है। बल्कि विज्ञान और प्रौधोगिकी के विकास तथा तथाकथित तेजी से विकसित आधुनिक दुनिया में अभी भी लोग पिछले जन्मों में या इस जन्म में किए गए किसी भी पाप के लिए भगवान द्वारा दी गई सजा के रूप में विकलांगता को मानते हैं। यहां तक कि परिवार के बड़े भी अक्सर छोटो को विकलांग सदस्यों का उदाहरण देते हुए चेतावनी देते हैं कि यदि वे इस जीवन में कुछ भी गलत करते हैं तो उन्हें अगले जन्म में विकलांगों की तरह दंडित किया जाएगा।[12]

इस प्रकार पौराणिक कथाओं में हमें विकलांगता के कई अलग-अलग रूप नजर आते है। लेकिन साहित्य लेखनों को देखे तो अधिकतर लेखन कार्य औपनिवेशिक काल और उसके बाद की व्यवस्थाओं को दर्शाने पर ही किया गया है। व कुछ ही ऐसी रचना/उपन्यास लेखकों द्वारा लिखे गये है जिनमें मुख्य पात्र विकलांग है। और उसमें भी औपनिवेशिक शासन की छवि और उसके द्वारा दी गई त्रासदी पर ही ज्यादा ध्यान केन्द्रित किया गया है। जैसे -प्रेमचंद के साहित्य को राष्ट्र में उदारता को बढ़ावा देने के लिए ज्यादा याद किया जाता है, लेकिन उन्होंने राष्ट्र में उदारता को विकलांगता के परिपेक्ष्य में रखते हुए अक्तूबर 1922 में उर्दू भाषा में 'चौगाने - हस्ती' के नाम से उपन्यास लिखना शुरू किया जो आगे चलकर 'रंगभूमि' के नाम से जाना गया। इस उपन्यास में प्रेमचंद स्वयं कहते हैं कि रंगभूमि का अर्थ है स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, एक ऐसी स्वतंत्रता जो न एक दिन में हासिल की जा सकती है और न खोई जा सकती है। इस आजादी की राह बहुत कठिन है लम्बी है जिसमें अनेकों उतर - चढ़ाव आयेंगे। किसी को भी ऐसे स्वतंत्रता संघर्ष में सफलता पाने के लिए एक सच्चे योगी की तरह पुरे अनुशासन में रहकर कठिनाईयों को झेलते हुए समर्पण भाव से निरंतर लड़ना होगा। तभी यह आजादी हासिल की जा सकती है।[13]

इस उपन्यास में एक तरफ प्रेमचंद औपनिवेशिक शासन से आजादी की बात करते है तो दूसरी तरफ उपन्यास का नायक जो दृष्टिबाधित है उसके प्रति सामाजिक चित्रण को भी दर्शाते है। इसी प्रकार सुदर्शन ने भी अपने साहित्य लेखन में प्रेमचंद के रंगभूमि नायक को लेकर एक नाटक और एक कहानी लिखी है। सुर्दशन का नाटक 'भाग्यचक्र' और उनकी कहानी सूरदास' काफी हद तक रंगभूमि के पात्र सूरदास से मिलती - जुलती है।[14] यधपि लगभग सभी रचनाओं में सुदर्शन नीतिपरक और उपदेशात्मक प्रतीत होते है और धर्म को हथियार बनाकर सामाजिक परिवर्तन की बात करते है। लेकिन 'अंधेरी दुनिया' कहानी में तो उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया है।

"रजनी कहती है कि कभी-कभी तो मुझे ईश्वर पर भी क्रोध आता है कि ऐ भगवान तुम कितने क्रूर हो, मुझे बताइए मेरा अपराध क्या है। तुमने मुझे दृष्टिहीन क्यों बनाया, आपने मुझे इतना बड़ा दंड क्यों दिया है। जब मुझे दृष्टिहीन बना दिया तो मुझे इस दुनिया में क्यों क्यों भेजा है? कृपया मुझे बताइये की मेरा अपराध क्या है? बिना कारण दिया गया दंड क्या क्या तुम्हारे घर का न्याय है?"

लेकिन सुदर्शन मानते हैं कि एक आम इन्सान की तरह दृष्टिहीन लड़का या लड़की के भी सुख-दुख, आशा-निराशा, आकांक्षा- महत्वाकांक्षा, प्रेम-करुणा, दया-सहानुभूति तथा अपने सौन्दर्य के अलग-अलग पैमाने होते है। सुदर्शन मानते हैं कि दृष्टिहीन वर्ग को समाज में सम्मान से जीने का अधिकार होना चाहिए। सुदर्शन नैतिक मूल्यों के माध्यम से समाज में परिवर्तन दबे-कुचले, पिछड़े निम्न जाति के लोग, विकलांग व स्त्री ही ला सकते है। इसी प्रकार हिंदी की प्रसिद्ध लेखिका महादेवी वर्मा का एक डायरी संस्मरण (अलोपी) जिसमें उन्होंने एक दृष्टिहीन व्यक्ति अलोपी के बारे में अपने कुछ महत्वपूर्ण अनुभवों को लिखा है। महादेवी वर्मा इस संस्मरण में स्वयं कहती है कि मुझे नहीं पता की इस दुनिया में दृष्टिहीन आदमी की कोई उपयोगिता है या नहीं, इसकी पड़ताल तो कोई समाजशास्त्री ही कर सकता है। पर मैंने जब-जब अलोपी को देखा मेरा हृदय उसके लिए करुणा से भर गया। यह अलोपी नामक दृष्टिहीन नवयुवक इंदौर के पास में एक गांव का रहने वाला था। जब महादेवी वर्मा सन 1937 में इंदौर विश्वविद्यालय में पढ़ा रही थी उसी दौरान यह अलोपी नामक दृष्टिहीन युवक उनके कालेज में सब्जी बेचने जाया करता था।[15]

स्वान्तयोत्तर लेखकों की भांति भीष्मसाहनी सहज मानवीय अनुभूतियों और तत्कालीन जीवन के अन्तर्दन्द को लेकर सामने आए व उसे रचना का विषय बनाया। भीष्मसाहनी की लेखकीय संवेदना का आधार जनता की पीड़ा रही। वे अपने साहित्य के माध्यम से सामाजिक विषमता व संघर्ष के बन्धनों को तोड़कर आगे बढ़ने का आह्वान करते थे। भीष्मसाहनी जी का उपन्यास 'बसन्ती' जिसे उन्होंने

1979 में लिखा था। और इस कहानी में वे एक ऐसी गरीब लड़की का चित्रण करते है जो छोटी सी ही उम्र में अपनी अथ्य जीवन से कहीं न कहीं उब चुकी है, और मर जाना चाहती है। जिसकी शादी उसका पिता उसे भी बड़े उम्र के विकलांग व्यक्ति से कर देना चाहता है, इसी प्रकार रामचन्द्र बाल- विवाह के घोर विरोधी थे, उनका एक पत्र जिसका शीर्षक 'माँ शत्रु पिता बैरी' में उन्होंने अविभावकों के बाल-विवाह से जुड़ी हुई बुराइयों पर तर्क संगत प्रहार किया। इस पत्र के शीर्षक से ऐसा लगता है कि ज्यादातर मामलों में माता-पिता अपनी छोटी-छोटी लड़कियों को विवाह के नाम पर बेच दिया करते थे।[16] जैसे बसंती उपन्यास में बसंती का पिता बसंती से दूगनी उम्र के लगड़े व्यक्ति को बेच देता है और शादी के नाम पर सौदा करता है –

"बारह सौ क्यों ? किस बात के बारह सौ ? आठ सौ पर तैने जबान की थी।" "जबान दे चुका हूँ, इसीलिए कह रहा हूँ। चौदह बरस की भी नहीं है छोरी, अब चौदहवें में पैर रखा है। और तेरे जैसे के हाथ में दे रहा हूँ। नहीं तो दस आदमी रोज इसके लिए पूछते है। अब मंजूर हो तो बोल दे।"

और दूसरी तरह कहानी में साहनी जी लिखते है कि एक रेल हादसे में एक युवा लड़का अपने दोनों टांगे खो देता है। और उसे कोई अस्पताल नहीं ले जाना चाहता –

'अस्पताल में ले जाकर क्या करोगे। क्या करोगे, अस्पताल ले जाकर?' " 'क्यों भाई, अस्पताल में ले जायेगे तो बच जायेगा।' " 'अरे दोनों टांगे कट गयी तो इसे बचाकर क्या करोगे? सारी उमर घिसट-घिसटकर भीख मांगता फिरेगा।'

ये वाक्य दर्शाता है कि समाज में किसी का विकलांग हो जाने का मतलब उसे सहारा देने के बजाय उसे मरने के लिए छोड़ देना ज्यादा आसान है।

इन सब साहित्यकारो की भाषाशैली गाँधीवादी विचार धारा से बहुत अधिक प्रभावित रही, जिन्होंने वर्ग संघर्ष की बजाय सामाजिक सहयोग और सामाजिक समन्वयता पर अधिक जोर दिया। ज्ञानेद्र पांडेय स्वयं भी यह मानते है कि प्रेमचन्द उन लेखकों, कवियों, कथाकारों, और महान व्यक्तियों में से एक थे जो गाँधी के व्यक्तित्व और उनके सत्याग्रह से बहुत प्रभावित हुए थे।[17]

संक्षेप में यदि कहा जाये तो हिंदी साहित्य और उसके लेखकों ने अपने संबंधित लेखन कार्यो, रचनाओं/उपन्यास द्वारा समाज में विकलांगता के प्रति हमारे दृष्टिकोण को बदलने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। हिंदी साहित्य ने विकलांगता जैसे वर्ग को भी मुख्यधारा में आने का कार्य बखुबी निभाया है। फिर चाहे उसकी छवि सकारात्मक या नकारात्मक कुछ भी क्यों न रही हो।

निष्कर्ष- इस प्रकार अलग-अलग समय व अलग-अलग विचारधारा का साहित्य विभिन्न तथ्यों को प्रस्तुत करता है और हमारा अतीत हमारे वर्तमान को प्रभावित कर हमारे भविष्य को बदल देता है। वास्तव में, विकलांगता और साहित्य दोनों ही अलग विषय हैं, परन्तु कुछ साहित्य लेखकों ने अपने लेखों द्वारा दोनों विषयों को साथ लेकर एक ऐसे साहित्य की रचना की हैं, जो कहीं न कहीं साहित्य में विकलांगता के प्रति हमारी समझ को ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में विस्तृत करने में प्रयासरत है।

संदर्भ-

1.प्रेमचंद , रंगभूमि दूसरा संस्करण : 2013), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशक, नई दिल्ली

2.फ्रांचेस्का, आसीनी (2011), हिंदी का लोकवृत्त 1920 - 1940, राष्ट्रवाद के युग में भाषा और साहित्य,वाणी प्रकाशन नई दिल्ली

3.साहनी, भीष्म (2008), बसंती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

4.वर्मा, महादेवी (1941), अतीत के चलचित्र : अलोपी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

5.पाण्डेय, मैनेजर (2009), साहित्य और इतिहास की दृष्टि, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली

6.सुदर्शन (1928), कहानी 'अँधेरी दुनियां', तीर्थयात्री प्रथम संस्करण, रामकुटिया बुक डिपो प्रकाशन, लाहौर

7.सुदर्शन (1929), नाटक 'भाग्यचक्र', प्रथम संस्करण 1932 व पांचवा संस्करण 1965, रामकुटिया बुक डिपो प्रकाशन, लाहौर

8.कुकरेती, हेमंत (2015), हिंदी साहित्य का इतिहास, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली

9.डॉ. नगेन्द्र और डॉ. हरदयाल (2020), हिंदी साहित्य का इतिहास: मयूर बुक पब्लिकेशन, नई दिल्ली

10.प्रगतिशील साहित्यकार : भीष्मसाहनी, www.bharatdarshan.co.nz/author-profile/10/author10.html.

11.Sangari Kumkum, & vaid Sudesh (2003), Recasting women: Essays in colonial History, kali for women.

12.Pandey, G. (1978), The Ascendancy of the congress in Uttar Pradesh 1926-34, Oxford University press Delhi.

13.Basham, A.L.; The Wonder That was India, London: Sidgwick and Jackson Press, 1924, Pp.310-311.

14.The Mahabharata period, the kings were expected to provide sustenance to the war disabled and their dependents.

15.Kane, P.V.; History of Dharma shastra, Vol. II, part I, Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute, 1974, Pp. 297-298.

16.Mukherjee, P.R. and Atul A. Waheli-'integrated Approach towards Drug Development from An Ayurveda and others Indian systems of Medicines' -Journal on Ethne Pharmacology, vol. 103, issue 1, 3rd Jan 2006, Pp.25.

निराला का अंग्रेजी साम्राज्य के खिलाफ विद्रोह

-डॉ.कृष्ण बिहारी रॉय
सहायक प्राध्यापक (हिन्दी),
शासकीय कन्या महाविद्यालय,
सीधी (म.प्र.) मो. 9301238696

सारांश- दुनियां का हर व्यक्ति स्वतंत्र एवं स्वाभिमान के साथ जीवन जीना चाहता है, किन्तु जब साम्राज्यवादी व्यवस्था अपनी जडे मजबूत कर अनेक प्रकार से शोषण करें तो ऐसे में सामान्य व्यक्ति की स्वतंत्रता व स्वाभिमान का जीवन जीने की चाहत एक सपना है। जिस समय 'निराला' जी लेखन कार्य कर रहे थे उस समय हमारे देश में ब्रिटिश हुकूमत थी। वह एक साम्राज्यवादी शासक थे। जिस देश में साम्राज्यवादी व्यवस्था रही हो उस देश में ऊँच-नीच जाति-पॉति भेदभाव होना ही था। यह भेदभावपूर्ण व्यवस्था हमारे देश को कभी भी प्रगति के पथ पर नहीं ले जा सकता था और न ही हम आजाद हो सकते थे। अंग्रेजों की यह नीति उनके अर्थात् निराला जी के हृदय में सूल की तरह गड़ रही थी। यही कारण था कि निराला जी ने अपने गॉव के कृषकों तथा स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने के लिए आह्वान भी करते थे और खुद भी नेतृत्व करते थे। निराला जी की मान्यता थी कि जब तक हमारे देश में जाति-पांति, ऊँच-नीच का भेदभाव रहेगा तब तक हमारे देश का समग्र विकास संभव नही होगा। और यह बात सत्य है कि जब तक हम अपने ही देश में अपने ही देश के लोगो को समान भाव से नहीं देखेंगे और उनके साथ समता का व्यवहार नहीं करेंगे तो यह अशांति बनी ही रहेगी। अतः देश में सुख,शांति और समृद्धि के लिए साम्राज्यवादी विचारधारा का खात्मा करना ही होगा। जो कि हमारे देश ही नहीं बल्कि विश्व के कई देशों मे परिलक्षित होती है।

मुख्य शब्द- साम्राज्य,कृषक,आन्दोलन, आन्दोलकारी, षड़यंत्र, ऊँच-नीच, देश, शांति, समृद्वि, सुख।

छायावाद के महाप्राण सूर्यकांत त्रिपाठी निराला हिन्दी साहित्य जगत में विद्रोही कवि के नाम से जाने जाते हैं। उनकी प्रसिद्धि हिन्दी साहित्य में ओज कवि के रूप में भी है। निराला के काव्य का सहज स्वर उदान्त है। फिर चाहे वह दार्शनिक क्षेत्र में हो या व्यंग्य तथा माधुर्य के रूप में चाहे साहित्यिक वाद-विवाद हो अथवा शोक और करूणा के रूप में, हर क्षेत्र में उनकी उदात्तता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। यद्यपि उनके साहित्य में यह जो विशेषता देखने और पढ़ने को मिलती है इसमें उनका व्यक्तित्व तो है ही साथ ही उस समय अर्थात् युग का प्रभाव भी बहुत गहरा रहा है। यदि हम उदात्त की बात करें तो एक प्रसिद्व कवि मिल्टन जो कि अंग्रेजी में अपने उदात्त काव्य के लिए ख्यातिलब्ध हैं। जब ब्रिटिश की जनता ने प्रजातंत्र को स्थापित करने के लिए यूरोपीय इतिहास में पहली दफा बादशाहत को खत्म किया था और लोकतंत्र को स्थापित किया। यूरोप की जनता ने पहलीबार जो सामन्त विरोधी आन्दोलन किया उसका मिल्टन जी ने सशक्त समर्थन किया। अंग्रेजी जनता द्वारा जो आन्दोलन किया गया उसका प्रभाव मिल्टन जी पर इतना गहरा पड़ा कि जब दोबारा बादशाहत कायम हुई तब भी उनके हृदय में उत्पन्न आस्था मिट न सकीं उनके साहित्य में जो ओजपूर्ण भाव परिलक्षित होता है उसका सीधा प्रभाव उस समय अर्थात युग की आनदोलनकारी जागृति का है।

हमारे भारतीय साहित्य में तमिल भाषा के एक प्रसिद्व कवि हुए सुब्रमण्य जी इन्हें भारत की आजादी को प्राप्त करने के लिए जो आन्दोलन हुए उन आन्दोलानों के प्रमुख कवियों में गिना जाता है। उन्हें देश की आजादी का आन्दोलन प्रगति पथ पर दिखाई दे रहा था। देश ही नही बल्कि देश से बाहर अर्थात् दुनिया में साम्राज्यवाद जिस मजबूती से फैला हुआ था वह अब बिखरता हुआ दिखाई देता है।

आजादी का यह आन्दोलन जहॉ तक बढ़ रहा था, कवि उससे भी आगे बढ़ने के लिए शूर-वीर की तरह जनता को आवाज लगाते रहे। उनके काव्य में भारत की पुरानी संस्कृत, तमिल भाषा से आगाध प्रेम, गरीब जनता से आन्तरिक सहानुभूति तथा समाज की विसंगतिपूर्ण व्यवस्था को परिवर्तित करने की प्रबल इच्छा उदातत्व की रचना करती है, उनका यह उदान्त देश की स्वधीनता आन्दोलन से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। कहना न होगा कि महाप्राण निराला भी उस समय के माहौल तथा सुब्रहमण्य भारती तथा मिल्टन जैसे साम्राज्य विरोधी कवियों से प्रभावित थे।

निराला के समय के कवियों में भारतीय आत्मा के नाम से प्रसिद्व माखन लाल चतुर्वेदी तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से देश की आजादी के लिए भारतीय जनता को प्रेरित करने के लिए ओजपूर्ण रचनाएँ की तथा मन के तार को युग की क्रांतिकारी चेतना से जोडा। उनके काव्य में भी उदात्त की गूँज सुब्रहमण्य भारती तथा निराला की ही भांति परिलक्षित होते हैं। यह बात किसी भी साहित्यकार से छिपी नहीं है कि चतुर्वेदी जी और 'नवीन' जी महान देश भक्त कवि थे।

निराला जी के बारे में कहा जाता है कि वह बाल्यावस्था में ही बंगभंग-विरोधी स्वदेशी आन्दोलन को देखा था। उन्होंने उन नवयुवक योद्धाओं की कहानियों का अध्ययन किया और सुना जिन्होंने भारत देश को आजाद कराने के लिए अपने आप को कुर्वान कर दिया था। इतना ही नहीं उन्होंने तो सन् 1920 और 1930 ई0 में जो स्वधीनता आन्दोलन के उभरते हुए नये रूप को देखा था जिसमें भारत की आज जनता बडे पैमाने पर हिस्सा लिया था। तब निराला जी ने अपने गृह जिले के कृषकों को संगठित करने में महती भूमिका का निर्वहन किया तथा कृषकों के संघर्षों का नेतृत्व भी किया था। निराला की विशेषता यह थी कि वह चाहे भारत की राजनीति हो या विश्व की राजनीति हो, इनकी सामग्री जो भी प्राप्त होती थी, उसे बड़ी गम्भीरता से पढ़ते थे, वह जो कुछ देखते और सुनते थे उसकी तुलना पढ़ी हुई सामग्री से करते थे। तब भारत और ब्रिटिश साम्रज्य के बीच निष्कर्ष निकलते थे। ऐसी स्थिति में उनके साहित्य में आजादी प्राप्ति का मोह आश्चर्य की बात नहीं कही जा सकती।

महाप्राण निराला केवल कवि ही नहीं थे बल्कि वह एक तार्किक व्यक्ति भी थे, वह एक पत्रकार थे। वह एक सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृति समस्याओं पर भी गहन विचारक के रूप में प्रस्तुत होते थे। निराला का जो चिंतन था उसकी खास बात यह थी कि उन्होंने अंग्रेजी सामाज्य की आर्थिक नीति, उनका अर्थात् अंग्रेजों का जो राजनैतिक दॉव-पेंच, सांस्कृतिक मामलों में उसके हस्तक्षेप को समझना, गम्भीरता से उसकी गवेष्णा की, भारत की राजनैतिक एंव संस्कृतिक व्यवस्था को बढ़ाने के लिए रास्ता तय किया।

कहना न होगा कि निराला जी एक सच्चे देश भक्त थे और वह अंग्रेजों

के औद्योगिक नीति के बिल्कुल खिलाफ थे। उनका मानना था कि अंग्रेज हमारे देश की बहुमूल्य कच्चा माल ले जाते हैं और वहाँ से माल बनाकर हमें मँहगी कीमतों में बेंचते हैं जो निराला जी को स्वीकार नहीं था।

साम्राज्यवाद मूलरूप में आर्थिक शोषण की एक व्यवस्था है। साम्राज्यवाद का मतलब है पूँजी की सम्पूर्ण शक्ति का स्वामी या यूँ कहें कि सम्पूर्ण भूमि में जिसका स्वामित्व है। सार्वभौम सत्ता का हृदय नहीं होता। जो कि भारत को वह ब्रिटिश पूँजीपतियों को लाभ देने के लिए दास बनाए हुए हैं। इसके विरोध में निराला ने लिखा है कि-''साम्राज्यवाद इग्लैंड की राजनीति का मूल है। पूँजी के द्वारा वार्षिक शक्ति का समस्त संसार पर प्रभाव है। साथ-साथ अपनी वृत्ति या जातीय साम्राज्यवाद-जीवन के कारण इग्लैंड की सरकार पूँजीपतियों की सरकार है और साम्रात्यवाद उसकी जीवनी शक्ति का मूलाधार।

अंग्रेजों ने भारत का आर्थिक शोषण करने के लिए जो नीति अपनाया था कि भारत को आर्थिक रूप से आजाद कर देंगे उसके पीछे की खास बात यह थी कि एक ओर वह हमारे देश के तथाकथित उच्च वर्ग के लोगों को शासन में हिस्सेदारी के लिए प्रलोभन देते थे, अनेक प्रकार के सुधारों की घोषणा करते थे, तो वहीं दूसरी ओर हमारे देश की जनता के अन्दर उनके आर्थिक शोषणकारी नीतियों के प्रति जो असंतोष व्याप्त था तो उसको दबाने के लिए दमनकारी नीति का सहारा लेते थे। अंग्रेजी शासन द्वारा जो घोषणाएँ की गई थी उनका व्यंग्यात्मक रूप में निराला जी ने मजाक उड़ाते हुए लिखा है कि-''दीवाली के भोर, जब जलते हुए आशा-प्रदीपों का अनुमान-तैल समाप्तप्राय हो रहा था, जब भाग्य का पाँसा कोर के बल लुढ़क चला था और निराशा निशा का उषाकालीन अन्धकार धनीभूत हो रहा था, देहली के राजप्रासाद से प्रातः कालीन मधुर तूर्य-निनाद के समान वायसराय महोदय की घोषणा ने भारत के राजनीतिक जीवन के एक नये ब्रह्ममुहूर्त की सूचना दी। देश के बंदी और मगध दौड़-दौड़कर तार यंत्र की लय के साथ प्रभु-गुणगान करने लगे। मंडलियों की विलासमयी निद्रा की खुमारी बहुत कुछ उतर गई सद्गृहस्थों ने भविष्य का प्रोग्राम बनाया और साम्प्रदायिक दुकानों ने नये फैशन की चीजों से दुकान की बृद्धि की। किन्तु दीवाने, भक्त संन्यासियों ने भभूत रमायी, लँगोट कसा, चीर पहना और शेखध्वनि के साथ अपने ईष्ट साधन में तत्वर हो गए।''[3]

कहना न होगा कि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला जी ने अंग्रेजों द्वारा जो सुधार की घोषणा की गई थी उसका घोर-विरोध किया। और सम्पूर्ण आजादी की जो माँग थी उसका प्रबल समर्थन किया और तत्कालीन सरकार जिस प्रकार से क्रूरतापूर्ण दमन को अपनाया था उसका चित्र खींचकर जनता को आजादी प्राप्ति हेतु संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। हमारे देश-भक्त जो अंहिंसा के मार्ग पर चलकर सत्याग्रह कर रहे थे उन पर अंग्रेजों ने डंडे बरसाए हमारे क्रांतिकारियों का संगठन चलाते थे उन्हें कठिन कारावास की लम्बी सजाएँ दीं। अंग्रेजों द्वारा किये जा रहे अन्याय के खिलाफ जब यतीन्द्रनाथ दास ने अनशन करते हुए अपने जीवन की कुर्बानी दी, तब देश-भक्त कवि निराला ने आक्रोशित भाव से लिखा कि- '' भारत वर्ष ने जितना सहना था, सह लिया । वह समय निकल गया जब खिलौना पाकर भारत बहल जाता था। देश समझ गया है कि हाथ पर हाथ धरकर बैठने से काम न चलेगा। भारत में एक नई लहर पैदा हो गई है। नवयुवकों ने रणभेरी बजा दी है।''[4]

इसी तरह से लखनऊ में सत्याग्रह करने वाले भारतीयों पर पुलिस जिस प्रकार से डंडे बरसा रही थी उसे देखकर निराला ने लिखा था कि- '' स्त्रियों और बच्चों पर डंडो की मार कर, घावों से बहती हुई रक्तधाराओं को देखकर, अपने शासन के सुदर्शन रूप पर इतराने वाली अंग्रेज सरकार के लिए उपयुक्त शब्द हमारे कोश में अभी नही''[5]

अंग्रेज सरकार एक ओर जहाँ दमन कर रही थी, तो वहीं दूसरी ओर सुधार करने की बात करने वाली इस सरकार की मंशा को स्पष्ट करते हुए निराला ने लिखा था कि '' यहाँ के आन्दोलन को दबा लेने के बाद सरकार की इच्छा है कि अपनी मर्जी इस देश के नालायक आदिमियों को कुछ हक वह दे दें, अन्यथा अगर यहाँ की माँग पूरी करनी पड़ी तो ब्रिटेन का बहुत बडा़ स्वार्थ बर्बाद होंगा।''[6]

हमारे देश के नवयुवकों तथा सत्याग्रही जो अहिंसा के मार्ग पर चलकर सशक्त क्रांति से भारत देश को आजाद कराने की इच्छा रखते थे उनसे अलग ए मजदूर वर्ग था जो भारतीय समाज को मुख्य क्रांतिकारी ताकत मानकर उनकों संगठित करने का काम कर रहे थे, उन लोगों को अंग्रेजों ने मेरठ षड़यन्त्र का दोषी मानकर उन पर केस दायर किया और मुकदमा चलाया तथा उन्हें सजाएँ दीं। साथ ही साथ अंग्रेजी वायसराय भारत को नई राहत देने की घोषणा कर रहा था। तब उनके द्वारा अपनाई जा रही दमन और रियायत की इस दोहरी नीति पर निराला ने लिखा था कि-'' सुन्दर हवाई महलों के स्वप्न देखकर संतुष्ट और आह्लादित होने वाले राजनीतिक नेताओं के दिन लद गए। अब तो क्रियात्मक और ठोस बातों की जरूरत है। उनके बिना युवक भारत की स्वातंत्र्य लिप्सा शान्त नहीं की जा सकती। यदि सरकार चाहती है कि एक ओर तो मेरठ षड़यंत्र, लाहौर हत्याकाण्ड और अन्यान्य राजनीतिक अभियोगों द्वारा युवक हृदय को कुचल डाला जाए, और दूसरी ओर इस प्रकार के अनिश्चित और नीहारिकामय धुँधले प्रलोभन उपस्थित कर उसको वंशवद बना लिया जाय तो यह उसकी भारी भूल है।''[7]

निष्कर्ष एवं सुझाव - निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जीवन का अंतिम उद्देश्य सुख, शांति, समृद्धि एवं अमन-चैन को प्राप्त करना होता है किन्तु इसे प्राप्त करने के लिए साम्राज्यवादी विचारधारा का समाप्त होना अत्यावश्यक होता है। जब तक 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः' के विचार को आत्मसात नही करते हैं तब तक उक्त बातें ठीक उसी तरह से लगती हैं जैसे तुलसी बाबा ने कहा था कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' कहने का तात्पर्य यह है कि निराला जी यह चाहते थे कि अंग्रेज हमारे देश के साधारण कृषकों और आम जनता के साथ छलावा व अत्याचार करना बंद करे। उन्होंने जब यह देखा कि हमारे ही देश के कुछ स्वार्थी लोग लोभ में आकर हमारे ही देश की आम जनता के पीठ मे छुरी घोपने का काम कर रहे है तब निराला जी ने अंग्रेजो को देश से भगाने तथा देश के चन्द्र गद्दारो को भी चेताया कि अब हमारे देश की जनता बहकावे मे आने वाली नही है अब देश की जनता साम्राज्यवादी विचारधारा को समाप्त करके ही चैन की साँस लेगी। यदि मेरे सुझाव की बात की जाय तो मै भी यही कहूँगा कि देश हित को दृष्टिगत रखते हुए जाँति-पाँति, ऊँच-नीच तथा आर्थिक विषमता को दूर करते हुए सभी के साथ समता मूलक व्यवहार करें। अन्यथा यह अशांति और भी भयावह हो सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से मध्यकाल मे संत रविदास जी ने कहा है कि - ''ऐसा चाहौं राज मैं, जहाँ मिलै सबन को अन्न। छोट-बडों सब सम बसैं, रैदास रहैं प्रसन्न।।'' यही निराला जी का भी कहना था और मेरा भी कहना यही है।

सन्दर्भ -

1. सुधा, फरवरी, 1930, सम्पादकीय टिप्पणी, पृष्ट 07
2. सुधा, अक्टूबर, 1932, सम्पादकीय टिप्पणी, पृष्ट 09
3. सुधा, दिसम्बर, 1929, सम्पादकीय टिप्पणी, पृष्ट 01
4. सुधा, नवम्बर, 1929, सम्पादकीय टिप्पणी, पृष्ट 01
5. सुधा, जून, 1930, सम्पादकीय टिप्पणी, पृष्ट 01
6. सुधा, जून, 1930, सम्पादकीय टिप्पणी, पृष्ट 01
7. सुधा, दिसम्बर, 1929, सम्पादकीय टिप्पणी, पृष्ट 03

इक्कीसवीं सदी के प्रतिनिधि उपन्यासों में राजनीतिक मूल्य

-श्रीमती मालती देवी
उच्च शिक्षा और शोध संस्थान,
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा,
हैदराबाद मो.9849582095

किसी भी समाज अथवा देश के साथ राजनीति का घनिष्ठ संबंध होता है। मनुष्य के हितों, अधिकारों, समाज के प्रति उसके कर्तव्यों तथा उसके सामाजिक संबंधों पर राजनीति का गहरा प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक व्यवस्था तभी उत्तम मानी जा सकती है जब लोग सुख-शांति तथा सुरक्षापूर्ण ढंग से जीवन व्यतीत कर सकें।राजनीतिक मूल्य वे मूल्य होते हैं जो नैतिक, सामाजिक एवं धर्म का अनुसरण करते हों। कुछ सत्ताधारी नेता इन मूल्यों का उल्लंघन कर आज किस कदर लोगों को समस्याओं के समुद्र में ढकेल रहे हैं और सरकार की गलत नीतियों के कारण सामान्य जनता का जीवन किस प्रकार अस्त-व्यस्त होता जा रहा है। इन बातों पर विचार करने से किसी भी सहृदय नागरिक को अत्यंत खेद पहुँचता है। साहित्यकार की कलम की धार प्रखर होती है क्योंकि साहित्य एक ऐसा शस्त्र है जो बिना प्रहार के ही मनुष्य को सुधार सकता है। साहित्यकार की लेखनी में ऐसी क्षमता निहित रहती है जो किसी और औज़ार में हो ही नहीं सकती। उसे अनुचित मार्ग पर अग्रसर होने से नियंत्रित करती है।। इक्कीसवीं सदी के अनेक कथाकार अपनी औपन्यासिक कृतियों में वर्तमान व्यवस्था की विसंगतिपूर्ण स्थितियाँ प्रकाश में लाए हैं। राजनेता अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए जनता को प्रलोभन देते हैं। प्रजा के साथ खुला विश्वासघात किया जाता है। राजनीति ऐसा चक्रव्यूह है, इसमें जो भी आता है वह इसी के रंग में रंग जाता है।

वर्तमान युग में राजनीतिक क्षेत्र के अंतर्गत नैतिक मूल्यों एवं आदर्श संस्कारों का लोप होता जा रहा है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषक एवं आदिवासी जीवन राजनीति से प्रेरित एवं परिचालित दिखाई देता है। पराधीनता के आर्थिक शोषण से उन्हें इतनी पीड़ा नहीं हुई जितनी स्वाधीनता के राजनीतिक शोषण की। आदिवासी एवं ग्राम जीवन में राजनीति ने जहाँ एक ओर लोगों को अपने अधिकार का बोध कराया, वहाँ गाँव के सौंदर्य को भी कुत्सित बना दिया। भारतीय राजनीति के ऐसे पक्ष को उभारा है जो अधिकांशत: किसानों, मज़दूरों, ज़मीदारों, ठेकेदारों के पारस्परिक संबंधों और व्यवहारों के रूप में हमें दिखाई देते हैं। 'डॉ. रणेंद्र' रचित 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में बेहद प्रभावी तरीके से आप्रेशन ग्रीन हंट के दौर का यथार्थ प्रस्तुत हुआ है। औपन्यासिक वस्तु चेतना में एक ओर देश के सबसे गरीब और उत्पीड़ित समुदाय का जीवन उसकी उपेक्षा, उसके संसाधनों की लूट और उसका संघर्ष है तो दूसरी ओर राष्ट्रीय बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हित में काम करने वाली दमनकारी होती राजसत्ता है। खनीज की अपनी भूख के कारण 'ग्लोबल देवता' यहाँ के असुर आदिवासी समाज को उनके आखरी बसेरे से भी उजाड़ने पर तुले हैं, इस समाज में अंधविश्वासों से होने वाली हत्याओं से अधिक जानें खनिज कंपनियों द्वारा बोक्साइट निकाल कर खुले छोड़े गए गड्ढ़ों में पनपे मच्छरों के काटने से जाती है। इससे भी अधिक जानें कंपनियाँ आदिवासियों की ज़मीन हथियाने के लिए लेती है और मरने वालों को नक्सली बता दिया जाता है। ऐसे में जब एक भेड़िया अभयारण्य के बहाने सरकार ने 36 गाँवों को खाली कराके खनन कंपनी वेदांग को देने की कोशिश की तो आदिवासियों ने उसका विरोध किया। जिस सरकार ने कभी उनकी सुध नहीं ली वह भेड़ियों को बचाने के लिए उन्हें उजाड़ रही है। जब प्रधानमंत्री को चिट्ठी लिखना भी काम न आया तो उन्होंने संघर्ष का रास्ता अपनाया। उपन्यासकार का आग्रह एन.जी.ओ.वादी, धर्मांध और राजनीति से बाहर आकर अपने संसाधनों की रक्षा के संगठित होने का द्रष्टव्य हैं जो हित प्रयास से अभिभूत है।

राजनीतिक क्षेत्र में समर्थ नायकों का अभाव होने से समाज की स्थिति पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक क्षेत्र में समर्थ नेता वही होता है जो निस्वार्थ होकर समाज की सेवा करने के लिए और जनता के हित के लिए प्रत्यत्न करता रहता है। जिस नेता के व्यक्तित्व में आदर्श मानव मूल्य निहित रहेंगे। वही जनता के कल्याण के लिए भरसक प्रयास करता है। वास्तव में भारत के अंतर्गत समसामयिक राजनीतिक क्षेत्र से नेताओं के अभाव के कारण अत्यंत विडंबनापूर्ण स्थिति से गुज़र रहा है। भारत के नागरिक ऐसे स्वार्थी नेताओं से मुक्ति पाना चाहें तो उन्हें तो उन्हें एकजुट होकर कथित विकृत यथार्थ के विरूद्ध संघर्ष करना होगा। यदि वे लोग 'हमारा क्या जाता है?' कहते हुए खामोश रहेंगे तो स्थिति और भी विकृत हो जाएगी और देश का विनाश अवश्यंभावी हो जाएगा परंतु जनता में ऐसी मानसिकता को दूर करके उन्हें स्वार्थी नेताओं के विरुद्ध आंदोलन करने हेतु प्रेरित करने की क्षमता यदि स्थिति घटक में है तो वह है साहित्य, विशेष रूप से उपन्यास साहित्य। इक्कीसवीं सदी के विवेच्य उपन्यासों में अनेक द्रष्टव्य हैं जो हित प्रयास से अभिभूत हैं। इसी संदर्भ में उपन्यासकार 'सुधीर निगम' ने अपने उपन्यास 'धर्मात्मा विभीषण' में विभीषण के माध्यम से लंकापति रावण के अनीतिपूर्ण राजनीतिक कार्यों के प्रति एवं स्वेच्छाचारिता का विरोध करने का साहसपूर्ण कार्य दर्शाया गया है। विभीषण राम को ऐसी रणनीति बनाने में सहयोग देते हैं जिसमें लंका की प्रजा की हानि कम से कम हो और प्रजा में बैठे लोग रावण द्वारा फैलाई गई कुप्रवृतियों से मुक्ति पा सकें। विभीषण को रावण के विरुद्ध खड़े होने को माता कैकसी ने प्रेरित किया और परिवार ने नैतिक समर्थन दिया। रावण अधर्म के पक्ष में युद्ध हेतु उद्यत है, अस्तु वध्य है। विभीषण कहते हैं- (पृ.सं.130)

"मैं तो यही समझता हूँ कि आसन्न युद्ध न तो राम और रावण के बीच होगा, न आर्य और तथाकथित आर्येतर नस्लों के बीच होगा, प्रत्युत यह अनाचार और अनृत के विरुद्ध सदाचार और मूल्यों का युद्ध होगा। अनाचार और अनृत के प्रतिनिधि रावण के समाप्त होने पर दुख कैसा! कुंभकर्ण ने राजसभा में रावण से कहा था कि उसे आश्चर्य है कि सीता के अपहर्ता को राम ने अभी तक मार क्यों नहीं डाला! रावण के मरने पर मुझे यही दुख होगा कि मैं अपने सहोदर को समझा-बुझाकर सच्ची राह पर नहीं ला सका।"

इस उद्धरण से हमें यही प्रतीत होता है कि कदाचित नेतागण अपने परिजनों के हितकारी वचनों को भी कोई महत्त्व नहीं देते और अपने दुराचरण से समाज को हानि पहुँचाने में कोई संकोच नहीं करते। उपन्यासकार इस प्रसंग से सहृदय पाठकों को यह अवगत कराना चाहते हैं कि अगर शासक या सत्ताधारी नेता भ्रष्ट हो तो उसके अनैतिक कार्यों के विरुद्ध आवाज़ उठाने में संकोच या भय नहीं होना चाहिए। जो परिवर्तित नहीं हो सकता उसे नष्ट होना ही होगा। विभीषण अपने उच्चतर मूल्यबोध का पक्षधर होकर भ्रातृ पक्ष का त्याग करता है। यह त्याग उसकी

श्रेष्ठ राजनीति प्रवृति एवं चरित्र का परिचायक है। इस पात्र ने सहृदय पाठकों को समझाने का प्रयास किया है कि जो लोग आचार-विचार से शुद्ध हैं, पाप या अपराध नहीं करते वे भी यदि पापियों के संपर्क में रहते हैं तो उनके पाप से वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे साँप वाले सरोवर में निवास करने वाली मछलियाँ उसी सर्प के कारण मारी जाती हैं।

अक्सर मनुष्य यही सोचता है कि मैं सुरक्षित रहूँ, अपना कर्म करूँ और राजनीति के मामले से दूर रहूँ। क्योंकि राजनीति में वह स्वयं को असुरक्षित महसूस करता है। वह स्वार्थ में अंधा हो जाता है, उसे अपने समाज की चिंता नहीं रहती। जबकि जहाँ समानता नहीं होती वहाँ स्नेह विकसित नहीं होता।

ग्रामीण जीवन से संबंधित सामग्री को वस्तुचेतना के रुप में प्रस्तुत करते हुए नई सदी में अनेक उपन्यास प्रणित हैं। जिनमें ग्रामीण कृषक समस्याओं का समग्र एवं प्रभावी चित्रण देखा जा सकता है। ऐसे उपन्यासों में 'राही मासूम रज़ा' कृत 'नीम का पेड़' उपन्यास विशेष उल्लेखनीय है। इसी संदर्भ में उपन्यासकार ने इस उपन्यास में विकृत राजनीतिक यथार्थ का स्वरूप दिखाई देता है। राजनीति और गबन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इससे राजनीति और प्रशासन की साँठ-गाँठ की वजह से भ्रष्टाचार का व्यापक प्रचलन हो गया है। इस उपन्यास में राजनीतिक पतन का विस्तृत चित्रण है मुसलिम खाँ अपने स्वार्थ हेतु अपने भाई जामिन मियाँ को भी नहीं छोड़ते। रामबहादुर का कत्ल बजरंगी ने किया परंतु मुसलिम खाँ बुधई से झूठी गवाही देने के लिए विभिन्न प्रकार के हथकंडे अपनाकर दबाव डालकर उसे झूठ बोलने पर विवश करते हैं, उसे लात घूँसे मारते हैं और कहते हैं- (पृ.सं.31)

असामी मेरा और गवाही देगा ज़ामिन अली खाँ की तरफ से....बोल रामबहादुर का कत्ल कहाँ हुआ था। बोल......बुधई चुप्पियों में उनका गुस्सा और अपना दर्द बर्दाश्त करता रहा।

क्या करता बुधई, वह तो बंधुआ था। ज़ामिन मियाँ के घर का नमक इतना ज़्यादा खाया था कि उनका रटाया बयान भूल ही नहीं पाया था पर अब मिनिस्टर साहब के लात-घूँसों ने उसे यह समझा दिया कि बयान उसी का याद रखो जिसके गुलाम रहो। सलामती इसी में रहती है बस अपने मुसलिम मियाँ से इतना ज़रुर माँगा कि मदरसा खुर्द से उसकी बीवी दुखिया और लड़के सुखीराम को भी बुला लिया जाए, क्योंकि इधर वो बयान देगा तो उधर उनकी जान की हिफाज़त कौन करेगा? वहाँ तो ज़मींदारी ज़ामिन मियाँ की ही चलती है- सुबह उनकी होती है शाम उनकी होती है।

मुसलिम मियाँ ने उसकी यह बात मान ली और आखिरकार बुधई वह बयान देने पर राजी हो गया जिसकी दरकार थी- "भगवान का हाजिर-नाजिर जान के बोलत हैं कि हम त घरै मा बैयठे रहेन.....दरोगाजी और मियाँ के हुकुम पर हम ऊ बयान दिहिन थे....."

प्रस्तुत प्रसंग से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक क्षेत्र के नेतागण बंधुओं, मज़दूरों और गरीब लोगों से वे सभी काम करवा लेते हैं जो वे चाहते हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि राजनीति के कारण ही सत्य असत्य हो रहा है और असत्य सत्य हो रहा है जो व्यक्ति निर्दोष है उसे सजा हो रही है और बजरंगी जैसे दोषी व्यक्ति खुले आम सिर ऊँचा करके घूम रहे हैं। क्योंकि उनके सिर पर सत्ताधारियों का वरदहस्त है। उपन्यासकार का यही संदेश हैं कि राजनीतिक क्षेत्र के लोगों की ऐसी मानसिकता को दूर करें और बंधुआ मजदूर और निर्धन जनता जैसे समाज के नीचले वर्गों द्वारा सत्य और धर्म के कर्म करवाएँ।

"स्वतंत्र समाज के लिए प्रैस की आज़ादी अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है।" मीडिया किसी भी समाज में एक मज़बूत राजनीतिक कथा शुरू करने के लिए एक शक्तिशाली साधन है। पाठक या प्रेक्षक द्वारा ग्रहित की जाने वाली सूचना प्रत्यक्ष रूप से उनकी विचारधारा पर प्रभाव डालती है। यह जानकारी लोकतंत्र के जीवित रहने और फलने-फूलने के लिए महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है। हालांकि इन दिनों एक चिंताजनक स्थिति यह है कि मीडिया आज किसी वर्ग विशेष के विशिष्ट हितों को पूरा करने में संलिप्त है। मीडिया मालिकों का राजनीति के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध रहते ही हैं, जबकि राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। राजनीति और मीडिया के बीच घनिष्ठता होने के कारणों और परिणाम के रूप में कहा जा सकता है कि क्षेत्रिय राजनीतिक दल भारत की राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। क्योंकि वे बड़े पैमाने पर पहुँच बना सके हैं। स्वामित्व का यह तानाबाना जनता की नज़र में अदृश्य है। यह पत्रकारिता के नैतिक मूल्यों से समझौता करता है। इसी संदर्भ में उपन्यासकार 'मृणाल पांडे' ने अपने उपन्यास 'अपनी गवाही' में कृष्णा नायिका के माध्यम से मीडिया, सरकारी टीवी चैनल की अदृश्य परिस्थितियों से अवगत कराने का भव्य प्रयास किया है। (पृ.सं.94)

"जब सीनियर मैनेजर और राजनेता उसे कॉफी के लिए और बतियाने के लिए बुलाते थे तो उससे बड़े प्रेम से बातें करते थे लेकिन उनकी आँखें कहती थीं- हमने आपको सभी चीजें उपलब्ध कराई हैं, अब हर चीज़ पर सवाल न उठाएँ। आप तो सिर्फ हमारे इस अद्भुत लोकतंत्र पर भरोसा बनाए रखिए।"

इस प्रस्तुत प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास की नायिका कृष्णा एक राष्ट्रीय मीडिया के बदलते स्वरूप को बहुत पास से देखती है और वह अनुभव करती है कि राजनीतिक और आर्थिक फायदों के लिए मीडिया के सहारे कैसे संघर्ष किया जा सकता है और वह अनुभव करती है कि राजनीतिक व्याख्याएँ कितनी बनावटी और नाकामी होती हैं और अधिकांश मामलों में सच्चाई ही बलि चढ़ती है। सत्ताधारी अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट करवा देते हैं कि आपको सभी चीज़ें उपलब्ध कराई जाती हैं अत: आप हमारी इच्छानुसार ही कार्य करें।

इसी उपन्यास से एक और प्रसंग द्रष्टव्य है जिसमें यह दर्शाया गया है कि चुनाव के समय राजनेता अपने पसंदीदा पत्रकारों को सभी सुविधा ऐसे उपलब्ध करवा देते हैं, जिससे उनके ऊपर इतना प्रभाव पड़ता है कि वे भी राजनेताओं की भाषा बोलने लग जाते हैं। "जिसकी सत्ता उसी की भाषा"। (पृ.सं. 114) "किरानी दफ्तरों के बाबू या कम तनख्वाह पर काम करने वाले हिंदी पत्रकारों के रूप में काम करने वाली कृष्णा हो या उसके सहकर्मी, व्यवस्था की नज़रों में इन सबका कोई खास मोल नहीं था। वे पढ़ें या न पढ़ें, कहीं जाएँ या न जाएँ, उनकी कुर्सी को तब तक कोई खतरा नहीं हो सकता था जब तक कि वे दिल्ली में किसी न किसी राजनीतिक ग़ॉडफादर को पकड़े रहें। अपने दोहरे जीवन से लोगों का ध्यान हटाने के लिए वे लोग अपने और बॉस लोगों के वेतन-भत्तों के भारी अंतर का रोना अलबत्ता रोते रहते थे। राजनेताओं, प्रेस और सरकारी दफ्तरों के बारे में उनके पास एक से एक अजीबोगरीब किस्से होते थे और वे बार-बार दोहराए जाते थे।"

समाज के प्रत्येक क्षेत्र में, विशेष रूप से पत्रकारिता के क्षेत्र में राजनीति का हस्तक्षेप सर्वादित होता जा रहा है जिससे समाज का अधिकाधिक अहित ही होने की संभावना है। अभी कुछ दिन पहले ही एक वरिष्ठ पत्रकार को अवैध रूप से जेल में इसलिए डाल दिया गया था क्योंकि उसने राजनेताओं की झूठ का पर्दाफाश किया और अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाई। उसके साथ सरेआम सरासर अन्याय हुआ। जबकि पत्रकारिता लोकतंत्र का अविभाज्य अंग है इसे लोकतंत्र का 'चौथा स्तंभ' भी कहा जाता है।परंतु सच्चाई का आयना सामने लाने पर राजनीतिक उपद्रव उन्हें मानसिक प्रताड़ना देने लगते हैं जो कि बड़ी ही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

राजनेता यानि प्रजा के शासक अपने नागरिकों का ध्यान रखता है तो वह एक कुशल राजनेता कहलाता है। मनुष्य को जीवन में पाँच चीज़ों की आवश्यकता होती है रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वस्थ पर्यावरण। अगर मनुष्य उपर्युक्त उपादानों से तृप्त है तो उसका सकारात्मक प्रभाव समग्र समाज पर

पड़ता है क्योंकि मनुष्य की सुरक्षा एवं उसकी प्रगति के लिए ही शासन तंत्र की व्यवस्था की जाती है। शासक और प्रजा एक दूसरे के पूरक हैं। यदि ये दोनों अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते रहें तो देश निरंतर प्रगति पथ पर अग्रसर होता जाएगा। यदि इन दोनों में से एक भी अपने कर्तव्य पथ से विमुख हो जाता है तो राष्ट्र विकास क्रम स्वयं ही स्थगित हो जाता है। दुर्भाग्य से वर्तमान शासक वर्ग अपने कर्त्तव्यों से विचलित हो रहा है। इनकी स्वार्थ प्रवृत्ति के कारण साधारण जनता, जिसे आम आदमी की उपाधि से अलंकृत किया गया है, का व्यापक शोषण हो रहा है। इसके लिए अपनी दो जून की रोटी जोड़ना भी कठिन हो रहा है। कोई भी साफ स्वच्छ छवि का व्यक्ति राजनीति में नहीं आना चाहता। अधिकांश व्यक्ति राजनीति को मूल्यविहीन मानते हैं। राजनेताओं के भाषणबाजी, झूठे आश्वासनों और वायदे, स्वार्थी दृष्टिकोण, निर्वाचन की कमियाँ, बोट बैंक की राजनीति, राजनीति में धन एवं शक्ति का दुरुपयोग आदि अनेकों ऐसी खामियाँ राजनीति में उत्पन्न हो गई हैं, जिनके कारण आज प्रत्येक व्यक्ति राजनीति से अपने-आपको दूर रखना ही पसंद करता है।

अब हमें यह देखना है कि राजनीति का साहित्य से विशेष रूप से कथा साहित्य से कितना संबंध है और वह सहृदय पाठकों को विडंबनापूर्ण राजनीति से मुक्ति कैसे दिला सकता है। नैतिक मूल्यों के पतन के कारण राजनेताओं के भ्रष्ट व्यक्तित्व से आम जनता जिस प्रकार त्रस्त है उसका चित्रण समसामयिक हिंदी उपन्यासों में स्पष्टत: देखा जा सकता है। विवेच्य उपन्यासों से कुछ प्रसंगों के उदाहरण और उनका विवेचन नीचे प्रस्तुत है-

कोई भी कथाकार राजनीतिक मूल्यों से बचकर नहीं चल सकता। आज की राजनीति विद्रुपताओं से भरी हुई है। अवसरवाद, भाई-भतीजावाद, परिवारवाद, स्वार्थ, धोखा, स्वार्थी गठबंधन, अवसरवादी समझौते, बोट बैंक का लालच आज की राजनीति के प्रमुख मूल्य बन गए हैं। समाचार-पत्रों, टी.वी. चैनलों, इंटरनेट, वाट्सअप, मीडिया के माध्यम से हम प्रतिदिन राजनेताओं की सोच, गतिविधियों व षडयंत्रों से अवगत होते रहते हैं। संसद में होने वाली कार्यवाही पूरे देश को शर्मसार कर देती है। चर्चा के दौरान नेता कुछ अभिव्यक्त करते हैं और उसी मुद्दे पर मत किसी और पक्ष में डालते हैं। उनकी कथनी और करनी पर विश्वास पर नहीं कर सकते।

जब-जब देश में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। साहित्यकार विशेष रूप से कथाकार अपने लेखन के माध्यम से इन स्थितियों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने में और ऐसी स्थितियों से समाज को मुक्त करने की पद्धतियों का प्रस्ताव करता है ताकि सहृदय पाठक कृति का पठन कर विवेकशीलता से आने वाली चुनौतियों का सहजता से सामना कर पाएँ। लेखनी रूपी शस्त्र से मनुष्य सफलता की बुलंदियों को आसानी से छू सकता है। वह किसी भी मुकाम पर पहुँच सकता है। इसी संदर्भ में उपन्यासकार 'चित्रा मुद्गल' ने अपने उपन्यास 'एक ज़मीन अपनी' से हरींद्र और अंकिता के माध्यम से भव्य संवाद प्रस्तुत किया है।– (पृ.सं. 79) हरींद्र,"मैं कहता हूँ, तुम लिखो.....अंकिता" लिखती हूँ.........यानि लिखती तो हूँ।" हरींद्र-लिखने से मेरी मुराद है......देखो, मात्र कभी-कभार स्त्रियों के सामाजिक संघर्ष पर टिप्पणी, या साक्षात्कार कर लेने से बात नहीं बनती। अंकू! बात बनती है किसी राष्ट्रीय मुख्य पत्र में.......राजनीतिक पत्रिका में नियमित स्तंभ लिखने से.....जब व्यवस्था के भीतर जोड़-तोड़ में लगी। निरंकुश शक्तियों पर प्रहारात्मक कटाक्ष हो! उन्हें उधेड़कर रख दिया जाए......."

अंकू, सच्चाई यह है कि आज की कोई भी सामाजिक समस्या सामाजिक न रहकर राजनीतिक हो गई है.....तुम्हें नहीं लगता, वोट की राजनीति पूरे षडयंत्र के साथ रुढ़ियों, संकीर्णताओं, परंपराओं और धर्मांधता को समुदायगत विशेषता और धर्म-निरपेक्षता की आड़ में अक्सर और आवश्यकतानुसार उसकी रक्षक बनने का ढोंग रचाकर, अपना उल्लू सीधा कर रही है। और ये भ्रम जहरीली सड़ांध से जनसाधारण को मुक्त करने, उसे आगे बढ़ाने के बजाय वहीं के वहीं बनाए हुए हैं......."

इस संदर्भ से उपन्यासकार सहृदय पाठकों को आगाह करती है कि वोट की आड़ में राजनेता समाज एवं राष्ट्र की आँखों में धूल झोंककर अपना उल्लू सीधा करते हैं। अगर मनुष्य में तर्कशीलता से स्थितियों का जायजा लेने और उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने में सक्षमता है तो उसे ऐसा (लेखनकार्य) कार्यक्षेत्र को अपनाना चाहिए ताकि वह स्वयं से संतुष्ट हो सके और राष्ट्र का भी हित हो सके। अगर उसकी कलम की धार तेज़ होगी तो वह आर्थिक रूप से भी अपना अस्तित्व एवं समाज में अपनी पहचान बना सकता है। इस उपन्यास की नायिका अंकिता जो बेरोजगार हैं एक ज़मीन के टुकड़े के लिए और अपना छोटा सा घर बनाने के लिए मशक्कत करती है। परंतु वह हर मसले पर अपनी प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से देने में काबिल है। उसका दोस्त हरींद्र उसे मुद्दों के क्षेत्र में लिखने के लिए प्रोत्साहित करता है क्योंके उसे विदित है कि अंकिता व्यवस्था-दोषों के मकड़जाल को तोड़ने का प्रयास कर सकती है ताकि उसके शब्द, शब्द नहीं एक हथौड़े की तरह कूटनीतियों पर प्रहार कर सकें और राष्ट्र को भी चेताया जा सके। हरींद्र के भीतर भी सर्वहारा की ज्वाला सुलगती है और वह भी बेबाकी से लिखता है।

उपर्युक्त प्रसंगों से यही तथ्य स्पष्ट होता है कि जीवन के हर क्षेत्र में राजनीति का अर्थात सत्ताधारियों का डंका बोलता प्रतीत हो रहा है। 21वीं सदी के उपन्यासों में व्यक्त देश की दशा से स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार का सर्प देशवासियों के आदर्शों को डसता जा रहा है। डॉ. महीप सिंह अपने उपन्यास 'अभी शेष है' में हुकुमतों की बदलती प्रक्रिया को फसल की भांति और आम जनता को धरती की भांति मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विवेच्य उपन्यासों में विघटित होने वाले राजनीतिक मूल्यों का व्यापक चित्रण करके उनके विरुद्ध संघर्ष करने और सचेत रहने के लिए सहृदय पाठकों को उपयुक्त उपाय प्रतिपादित करते हुए सृजनात्मक ढ़ंग से अनेक पात्रों, घटनाओं एवं प्रसंगों का चित्रण किया गया है। इससे नि:संदेह वर्तमान समाज का अपार कल्याण संभव हो सकता है।

संदर्भ:

1)डॉ. रणेंद्र: 'ग्लोबल गाँव का देवता' भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली छठा संस्करण 2019

2)डॉ.सुधीर निगम:'धर्मात्मा विभीषण' ज्ञान गंगा मुद्रक भानु प्रिंटर्स, दिल्ली प्रथम संस्करण 2012, पृ.स.-130

3)राही मासूम रज़ा: 'नीम का पेड़' राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2003, पृ.स.31

4)मृणाल पांडे:'अपनी गवाही' राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि.संस्करण 2003, पृ.स.94

5) मृणाल पांडे:'अपनी गवाही' राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि. संस्करण 2003, प्र.स.114

6)चित्रा मुद्गल:'एक ज़मीन अपनी'सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली पाँचवाँ संस्करण 2016, पृ.स.79

7)डॉ.महीप सिंह:'अभी शेष है' किताबघर प्रकाशन नई दिल्ली तीसरा संस्करण 2014,पृ.सं.12

8)ई-पत्रिका

'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' : पर्यावरण चिंतन का महाकाव्य

-डा.अंजू लता
एसोसिएट प्रोफेसर,
हिंदी विभाग,तेजपुर विश्वविद्यालय,
तेजपुर,आसाम

-आलिया जेसमिना
हिंदी विभाग,
तेजपुर विश्वविद्यालय,
तेजपुर,आसाम

आदिवासी उपन्यासों से पर्यावरण चेतना का बहुत गहरा संबंध है। इन उपन्यासों के विषय में जब भी विस्तार से पढ़ा – लिखा जाता है तो उसके केंद्र में पर्यावरण की चेतना मौजूद रहती है। आदिवासी समाज के जीवन के साथ उनके आस-पास की प्रकृति, जीव-जन्तु तथा पारिस्थितिकी का गहरा संबंध होता है। इससे इतर यह समाज अपने जीवन की परिकल्पना नहीं कर सकता है। पिछड़े दिखने वाले इन आदिवासी समाजों का जीवन कई अर्थों में वैज्ञानिक दिखाई देता है। आधुनिक शिक्षा तथा तकनीक के प्रभाव से मुक्त इन आदिवासियों का जीवन प्रकृति के निकट चला जाता है, इसीलिए मुख्यधारा के समाज को इनका जीवन आकर्षित करता है। समय बीतने के साथ आदिवासी जीवन के यथार्थ को मुख्यधारा के साहित्य में काफी अभिव्यक्ति मिलने लगी है। निःसंदेह इस अभिव्यक्ति में आदिवासियों के जीवन से जुड़ी मूलभूत समस्याओं को रेखांकित करने का कार्य किया गया है। प्रकृति संरक्षण पर आधारित आदिवासी जीवन तथा प्रकृति दोहन पर आधारित विकास के मॉडल के बीच लगातार एक द्वंद की स्थिति निर्मित होती रही है। वर्तमान समय में ही नहीं वरन् औपनिवेशिक शासन के दौर में आदिवासी समाज तथा उनसे जुड़े प्राकृतिक संसाधन शासक वर्ग के लिए आकर्षण का केंद्र रहे हैं। इसीलिए ऐसे कानूनों का निर्माण किया गया, जिससे आदिवासी क्षेत्रों में आवागमन सुलभ किया जा सके। औपनिवेशिक शक्तियों के लगातार प्रयासों द्वारा जनजातियों की अलग कोटियाँ बनायी गयीं तथा उनके लिए अलग कानून भी बनाए गये। 1874 में 'द शिड्यूल डिस्ट्रिक एक्ट' लागू किया गया। इसके अंतर्गत बहुत से जिलों को 'अनुसूचित जिलों' का दर्जा दिया गया तथा उन्हें बहिर्वेशित तथा आंशिक रूप से बहिर्वेशित घोषित किया गया। बहिष्कृत क्षेत्रों में उत्तर-पूर्व के क्षेत्र शामिल किये गये तथा आंशिक रूप से बहिष्कृत क्षेत्रों में देश के अन्य भागों के आदिवासी इलाकों को शामिल किया गया।(समाजविज्ञानकोश पृ. 130)I इस प्रकार अंग्रेजों ने ही देश के आदिवासी बहुल क्षेत्रों तथा उन क्षेत्रों में छिपी प्राकृतिक सम्पदा के महत्व को पहचान लिया था। जिसके लिए कालांतर में वन विभाग (1864) की स्थापना की गयी। इन सरकारी संस्थाओं के निर्माण द्वारा सबसे पहले अंग्रेजों नें आदिवासी क्षेत्रों में हस्तक्षेप की योजना बनायी। इस हस्तक्षेप के पीछे की मंशा इस क्षेत्र की प्राकृतिक संपदा पर वर्चस्व निर्मित करना था। आजादी के बाद देश के विभिन्न हिस्सों में भूमि सुधार कानून लागू किये गये लेकिन जंगलों तथा यहाँ रहने वाले आदिवासी समूहों के बीच सरकार के द्वारा किसी प्रकार के सुधार कार्य नहीं किया गया।

1952 में राष्ट्रीय विकास का हवाला देकर जंगलों के उपयोग का फैसला लिया गया। (समाजविज्ञानकोश पृ.131) । यह प्रक्रिया काफी लंबे समय तक चलती रही, जिसके कारण आदिवासी बहुल क्षेत्रों में राष्ट्रीय पार्कों का निर्माण किया गया और वहाँ रहने वाली आबादी के पुनर्वास की व्यवस्था की गयी। इस बीच राज्य के द्वारा कई तरह के कानून बनाए गये और उनको लागू किया जाता रहा। 1970 के बाद आदिवासी क्षेत्रों में राजनैतिक जागरूकता का विकास होता दिखाई देता है, जिसके अनेक कारण थे। इसके पीछे एक कारण देश में आपातकाल का लागू होना है। राज्य की दमनकारी नीतियों ने सामान्य जन को लगातार राजनीति रूप से जागरूक करने का कार्य किया। इसी के प्रभाव में राज्य द्वारा राष्ट्रीय विकास का हवाला देकर जो कानून थोपे गये उनका लगातार विरोध होता रहा। यह विरोध जल, जंगल और जमीन की लड़ाई को विस्तार देता दिखाई देता है। सरकार के द्वारा निर्मित विकास का मॉडल कितना कारगर है, कालांतर में उसका क्या प्रभाव स्थानीय समूहों पर पड़ रहा है, इसके विश्लेषण का काम सरकार का है। सरकार के द्वारा लगातार अवहेलना के शिकार इन समूहों के प्रतिरोध के बाद वन नीति में बदलाव का कार्य किया गया। इसके अंतर्गत स्थानीय समाजों की भूमिका को रेखांकित करने का कार्य किया गया। आदिवासी समाजों की संवेदना, उनके जीवन के प्रश्न, उनकी आवश्यकताएं अवहेलना की शिकार रहीं। इस क्रम में प्रतिरोध को केवल आंदोलनों के माध्यम से दर्ज नहीं किया गया वरन् साहित्य में भी इसकी अभिव्यक्ति आरंभ हुयी। ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दबावों में साहित्य जगत नये आंदोलनों को जन्म देता है। किसी एक साहित्यकार के द्वारा इतिहास में परिवर्तन की धारा नहीं बहती वरन् खास भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के आधार पर साहित्य और इतिहास की दिशा बदलती है। किसी साहित्यिक आंदोलन का विश्लेषण करते समय समूचे परिवेश को ध्यान में रखना आवश्यक है। खासतौर से आदिवासी विमर्शों के दौर में जब दलित, स्त्री और आदिवासी आदि विमर्शों की चर्चा साहित्य में की जाती है तो उस समय अस्मिताओं के समूचे परिवेश की पड़ताल की जानी चाहिए।

जाति, धर्म, संप्रदाय के आधार पर बटे इस समाज के बीच जब किसी खास वर्ग को साहित्य और समाज में स्थान नहीं दिया जाता है तो वह विरोध का स्वर अपनाता है। यह विरोध कई स्तरों पर दर्ज किया जाता है। हिंदी साहित्य में भी आदिवासी साहित्य का उदय प्रतिरोध का साहित्यिक रूप बनकर उभरता है। राज्यों की तरफ से बढ़ते दमन तथा जीवन की मूलभूत सुविधाओं से वंचित आदिवासी समाज दोहरा दंश झेलते हुए मुख्य धारा के समाज में अपना स्थान

निर्मित करने का प्रयास करता दिखाई देता है। इस दमित- शोषित और अवहेलित समूह के प्रतिनिधि बनकर आए आदिवासी साहित्यकारों को कई सामाजिक कारकों ने प्रभावित किया। जन आंदोलनकारियों, संगठनात्मक आयोजनों तथा विविध सम्मेलनों की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सिद्धांत और व्यवहार के स्तर पर आदिवासी साहित्य को परिपक्क बनाने और प्रेरित तथा प्रोत्साहित करने में साहित्यिक और सामाजिक कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। साहित्य के क्षेत्र से बाहर रहे इस वंचित समाज, जिनके जीवन के यथार्थ को साहित्य में स्थान प्राप्त नहीं है, फिर भी ऐसे यथार्थ साहित्य के लिए लेखकों का उत्साह कालांतर में बढ़ता हुआ दिखाई देता है। अनेक सम्मेलनों तथा साहित्यिक अनुष्ठानों ने आदिवासी लेखकों को अपने समाज की अभिव्यक्ति करने के लिए नई उर्जा दी है। भूमंडलीकरण के बाद बदलते आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश ने समाज के सबसे निचले पायदान पर रहने वाले समूहों को अत्यधिक नुकसान पहुँचाया। इस दौर में जिन साहित्यकारों ने अपने समाज के प्रश्नों तथा मूलभूत सुविधाओं से वंचित हो जाने की कहानी कही है, वह निश्चित रूप से इसके कारण और निवारण को साहित्य में ढूढ रहे होंगे । इस दृष्टि से महुआ माजी का उपन्यास "मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ" काफी प्रासंगिक है, जिसमे विकिरण, प्रदूषण और विस्थापन की मार्मिक चित्रण किया गया है । "मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास के विषय में लेखिका स्वयं लिखती हैं कि – "इस जवाल्यमान दीप को तथाकथित विकास की बलिवेदी पर चढ़ाए गये धरती पुत्र और पुत्रियों के नाम अर्पित करने की बात कही है। विकिरण, विस्थापन और प्रदूषण की पीड़ा झेल रहे आदिवासियों की गाथा के रूप में विख्यात यह उपन्यास केवल आदिवासी विमर्श की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण मानव जाति के अस्तित्व की चिंता को समाहित किये हुए है। वर्तमान समय में इस उपन्यास के कई ऐसे पहलू हैं, जो विवेचना की मांग करते हैं। लगभग चार सौ पृष्ठों के इस उपन्यास को तीस अध्यायों में बांटा गया है। आदिवासी जीवन से जुड़ी प्राचीन परंपरा से लेकर वर्तमान समय की समस्याओं को अत्यंत सिलसिलेवार तरीके से व्यक्त करने का कार्य किया गया है। जाम्बीरा के जीवन से आरंभ करते हुए यह कथा परंपरागत आदिवासी जीवन से अवगत कराते हुए भूमंडलीकरण, बाजारवाद आदि के प्रभाव से नष्ट होती प्राकृतिक संपदा तक का सफर तय करती है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह उपन्यास केवल आदिवासी जीवन ही नहीं वरन् समूचे मानव जीवन के अस्तित्व के संकट की कहानी बयान करती है।

आदिवासी साहित्य में रचनात्मकता की दो दृष्टियां दिखाई देती हैं। पहली जो आदिवासी समाजों और प्रकृति के बीच के अंतर्संबंधों को व्यक्त करती है। दूसरी जो इस समूह के साथ होने वाली राजनीति उनकी टेरेटरी के दोहन, शोषण तथा प्रकृति क्षरण को व्यक्त करता है। इन दो दृष्टियों की सहायता से रचनाकार आदिवासी साहित्य के सैद्धांतिक धरातल को निर्मित करने की कोशिश करता है। आदिवासियों के खान-पान, उत्सव विश्वास, आचार-व्यवहार, सौंदर्य-उपचार आदि का सीधा संबंध प्रकृति के साथ है। प्रकृति पर आधारित निश्छल जीवन शैली और कई मायनों में पिछड़े जीवन व्यवस्था को लेखक ने बड़ी ही निपुणता के साथ उभारा है। हो तथा संथाल जाति के जीवन दर्शन के माध्यम से आदिवासी समाज के ताने-बाने को समझने का प्रयास किया गया है। जाम्बीरा अपने पोते का नाम सगेन रखता है, जिसका अर्थ है फुनगी जो जंगल में हरियाली लाती है और आसानी से टूटती नहीं है। उपन्यास मे सिर्फ प्रकृति और आदिवासी समाज के बीच की परस्पर आत्मनिर्भरता ही नहीं दिखाई गयी है बल्कि इनके पारस्परिक संघर्ष का भी चित्रण किया गया है। जंगली जीव - जन्तुओं के खतरे में पल रही आदिवासियों के जीवन की त्रासदी को लेखिका कई स्थानों पर उजागुर करती हैं। वह लिखती हैं कि – "यह सब होता ही रहता है जंगलों में, हमेशा खतरों से खेलना, खूंखार जानवरों से भरे अत्यंत घने जंगल वाले इस भयानक इलाके में, जहां दूर-दूर से जंगली जानवर नहाने आते हैं और जो सारंडा हाथियों का सबसे प्रिय स्थान है, आज जंगली जानवर ना ही भेटाएं तो दलदल ही सही"(मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ पृ. 82) । इन सबके अतिरिक्त जंगली हाथियों के झुंड के आक्रमण से किस तरह मेंजारी और उसके नवजात शिशु की हत्या हो जाती है उसका चित्रण निश्चित रूप से दिल दहला देने वाला है। इस प्रकार की कई ऐसी घटनाएं उपन्यास में चित्रित हैं जो प्रकृति और मनुष्य के बीच के संघर्ष को दर्शाती हैं। इस संघर्ष में कभी मनुष्य की विजय होती है और कभी प्रकृति की। प्रकृति के संरक्षण में जीवन व्यतीत कर रहे आदिवासियों को प्रकृति की सूक्ष्म प्रवृत्तियों का अंदाजा होता है। यही कारण है कि जाम्बीरा, सुकुरमनि, सगेन, चारिबा, मेंजारी, अभिषेक आदि की दृष्टि से प्रकृति की प्रत्येक हलचल, गति, लय, छंद आदि का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। जंगली जानवरों का इतना सूक्ष्म ज्ञान इसका प्रमाण है – जब तक उनके पास शिकार का मांस बचा रहता है, वे दूसरा शिकार नहीं करते हैं। अपने शिकार के मांस को दूसरों से बचाने के लिए क्या कुछ नहीं करते वे।... बाघ की एक एक आदत से वाकिफ है रिमिल उसे पता है, वे कितनी बुद्धिमत्ता, कितनी बारीकी और दक्षता के साथ शिकार करते हैं। (मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ पृ. 62)। उपन्यास के प्रारंभ से ही लेखिका ने जाम्बीरा, रिमिल की सांरडा से मरंग गोड़ा तक की यात्रा को प्रकृति के साथ सामंजस्य के साथ व्यक्त करने की कोशिश की है। जंगली जानवरों के जीवन से जुड़ी महत्वपूर्ण जानकारियों को लेखिका ने उपन्यास की कथावस्तु को प्रकृति और पारिस्थितिकी के निकट लाकर खड़ा कर दिया है। संपूर्णता में यह उपन्यास पर्यावरण विघटन और प्रकृति दोहन की गाथा को चित्रित करता है। मरंग गोड़ा के नीलकंठ (काला) होने का कारण भी यही प्रकृति दोहन से उत्पन्न जहर है। अंधाधुन्ध तरीके से किया गया प्रकृति दोहन मनुष्य के अस्तित्व के लिए संकट उत्पन्न कर रहा है। उसके साथ किया गया अन्याय उसका मुआवजा विभिन्न बीमारियों, आपदाओं तथा बदलते वायुमंडल के रूप में चुकाना पड़ रहा है। मरंग गोड़ा में यूरेनियम की उपस्थिति की जानकारी पाकर बड़ी कम्पनियाँ सरकार के साथ सांठ- गांठ करके यूरेनियम खनन का कार्य आरंभ कर देती हैं। यूरेनियम मिश्रित पत्थरों से शुद्ध यूरेनियम उत्पन्न करने की प्रक्रिया में अल्फा, बीटा और गामा जैसे भयावह किरणों, थोरियम, रेडियम, मैलिबडीनम, बनोडियम तथा आर्सेनिक जैसे विषाक्त तत्वों का तथा रेडॉन जैसे विषाक्त गैस का उत्सर्जन होता है। यह पर्यावरण और मनुष्य दोनों के लिए अत्यंत हानिकारक सिद्ध होता है। ये सभी तत्व अपने संपर्क में आने वाली हवा, पानी और मिट्टी के साथ – साथ छोटे बड़े

जानवर, पेड़-पौधे तथा मछली जैसे छोटे बड़े जानवरों पर भी विकट प्रभाव डालते हैं। मरंग गोड़ा में स्थित टेलिंग डैम के कारण वह पूरा क्षेत्र विषैला हो जाता है। उसके जहरीले पानी के रिसने से पोखरों और तालाबों की मछलियाँ अक्सर मरकर सतह पर आ जाती हैं। इस दुःखद और चिंतनीय दृश्य की भयावहता को व्याख्यायित करते हुए लेखिका ने लिखा है कि – “पहले दिन मरंग गोड़ा में कदम रखते ही उस युवा पत्रकार आदित्यश्री ने देखा था, ढेर सारे औरत, मर्द, बच्चे, बूढ़े एक तालाब में उछल कूद करते हुए हाथ से ही मछलियाँ पकड़ रहे हैं। बड़ा आश्चर्य हुआ था उसे। अपने विडियो कैमरे से शॉट लेते हुए उसने जाना था कि अचानक उस दिन तालाब की तमाम मछलियाँ मर -मर कर पानी की सतह पर चली आयी थीं”। (मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ पृ. 168)। साथ ही उस टेलिंग डेम के ठोस और तरल कचरे के आस-पास की भूमि, जल, हवा, वनस्पति और यहाँ तक की भू-जल भी जहरीला हो जाता है। इसी तरह लगातार युरेनियम एवं लोह खदानों से उत्पन्न तमाम तरह की समस्याओं से जूझते हुए दिखाई पड़ता है। इसका उदाहरण देखें- “जहर खाए व्यक्ति के होठों के कोनों से निकलते फेन-सी यूरेनियम कचरे की पतली धारा आकार एक नाले की मार्फत स्थानीय नदी में गिर रही होती। उसी नदी में, जो आगे जाकर झारखंड की एक प्रमुख नदी सुवर्णरेखा में मिलती थी। और करीब दस हजार वर्ग कि.मी तक लोगों की प्यास बुझाती थी, जिसके जल से लोग अपने खेतों में अनाज और फसल उगाते थे। नहाते धोते थे|"(मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ-183)। इन रेडियो एक्टिव तरंगों के प्रभाव में आकर मनुष्य तथा पर्यावरण के ऊपर भयंकर परिणाम देखे गये। इसकी जानकारी होने के बावजूद आदिवासी क्षेत्रों की जमीनों पर सुरक्षा मानकों का ध्यान रखे बिना खदानों की रचना गई। ऐसा लंबे समय से होता आया है। ना सिर्फ आदिवासी समाजों में वरन कई स्थानों पर जहाँ बिना सुरक्षा मानकों का ख्याल रखे फैक्टरियों की स्थापना कर दी जाती है। मरंग गोड़ा एक उदाहरण है, जिसमें रेडियो एक्टिव प्रभावों से वातावरण को नष्ट किया जा रहा है। आदिवासी बहुल क्षेत्रों में स्थित इन खदानों से उत्पन्न खतरों के विषय में जानकारी देना भी उचित नहीं समझते। इसतरह लेखिका ने मरंग गोड़ा के माध्यम से रेडियो एक्टिव पदार्थों के प्रभावों को विस्तार से समझाने की कोशिश की है। जो ना सिर्फ इस क्षेत्र के वर्तमान को नष्ट कर रही है वरन् उसके भविष्य को भी अंधकारमय करती जा रही है। इन क्षेत्रों में स्त्रियाँ बांझपन की शिकार होती चली जा रही हैं, जन्म लेने वाले बच्चें विकलांग पैदा होते जा रहे हैं। एक अंधकारमय भविष्य की परिकल्पना में लीन मानव सभ्यता लगातार गर्त में जा रही है।

इस उपन्यास में कई स्थानों पर आदिवासियों द्वारा भी प्रकृति हनन की प्रक्रिया को दिखाया गया है, लेकिन लगातार होने वाले खनन और खदानों के निर्माण प्रक्रिया के सामने इनकी इच्छाएं बड़ी निर्दोष और निरीह-सी जान पड़ती हैं। एक तरफ बड़ी -बड़ी कम्पनियां हैं, जो अपने संकुचित स्वार्थ के द्वारा संचालित है वहीं दूसरी तरफ आदिवासियों की चेष्टाएं हैं जिनके पीछें इनका मौलिक प्रयोजन शामिल है। कई स्थानों पर ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं जहाँ मौलिक प्रयोजन नहीं वरन् आदिवासियों की परंपरा- विश्वास, क्षोभ आदि जंगल और पर्यावरण के आड़े आता दिखाई देता है। उपन्यास में एक जगह सामूहिक शिकार का वर्णन हुआ है। यह प्रसंग यूं तो आदिवासियों की संस्कृतिजन्य सौन्दर्य को प्रतिपादित करता है परन्तु शिकार प्रक्रिया का वह बिम्ब कहीं न कहीं आदिवासियों द्वारा जंगल में मचाने वाले उपद्रव को भी दर्शाता है। यद दृश्य कुछ इसप्रकार है -"इस शिकार में इतनी बड़ी संख्या में गांववाले पूरे जंगल में फैल गये थे कि जानवर भी बौखला गए। इधर से भाग कर उधर जाते तो उधर वालों के घेरे में आ जाते और उधर से भागकर इधर आते तो इधर वालों के घेरे में और इसी तरह बौखलाहट में शिकारियों के चंगुल में फंसते ही चले गये। ”(मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ पृ.99)

इस तरह कहीं ना कहीं आदिवासी समाज का क्षोभ और गुस्सा प्रकृति के साथ संघर्ष से जुड़ा हुआ है जिसको लेखिका रेखांकित करने में समर्थ हैं। जंगल में उत्पन्न होने वाले जो संसाधन इनके लाभ के नहीं हैं उसके प्रति इनका कोई लगाव परिलक्षित नहीं होता है। जब सरकार जंगल को काट कर सागवान के पेड़ लगाने लगती है तब आदिवासियों को इसका कोई लाभ नज़र नहीं आता और वह उसे काटने और जलाने लगते हैं। कुछ विशेष पेड़ों के साथ आदिवासियों की आत्मीयता अधिक जुड़ी हुयी है। वह कहतें हैं कि – “इन पेड़ो के साथ ना तो हम आदिवासियों का कोई सांस्कृतिक लगाव है और ना ही कोई आर्थिक लाभ। (मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ ,पृ. 112) I दरअसल आदिवासियों की यह मनोवृति कई सवालों को पैदा करती है। क्या आदिवासियों का प्रकृति प्रेम निजी स्वार्थ से जुड़ा हुआ है। यदि आदिवासियों को जंगल से निकाल दिया जाए तो क्या उनको शिकार तथा जंगल साफ कर खेती करने की प्रवृत्ति से मुक्त किया जा सकता है। यह महत्वपूर्ण सवाल हैं जिनके जवाब तलाशने होंगे। खबरों में यह सुनने को मिलता है कि हाथी के कीमती दांत तथा गैंडे के सींग के लिए उनका शिकार किया जाता है। इन घटनाओं को अंजाम देने वाले आदिवसी समाज के लोग नहीं है वरन् विलास और स्वार्थ से लिप्त सभ्य लोगों की मिलीभगत से ही इन कामों को अंजाम दिया जा सकता है। सभ्य समाजों के लोग पहनावों तथा रहन- सहन में तो आकर्षक हो गये लेकिन उनकी शोषण युक्त मनोवृत्ति लगातार मानव सभ्यता के लिए खतरे का करण बनती दिखाई देती है। राष्ट्रीय उद्यान, अभ्यारण्य आदि के नाम पर आदिवासी मुक्त जंगल तो बना दिये गये लेकिन वहाँ के जीव- जन्तु तथा पारिस्थितिकी कितनी सुरक्षित है यह विचारणीय प्रश्न है। और इन तमाम प्रश्न को ही लेखिका ने इस उपन्यास के कई संदर्भो के माध्यम से उद्दृत करने की कोशिश की है। उत्तर आधुनिकता के इस दौर में हम सभ्य समाज विकास के रफ़्तार में फस गए है पर विकास किसके लिए और किसकी कीमत पर होना चाहिए, यह विचारणीय है। ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ” इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण उपन्यास है, जिसकी मूल कथा विकास के नाम पर कैसी एक भयावह चेहरा हम सबके सामने प्रस्तुत किया गया है।

चेतना किसी भी संघर्ष के लिए प्रारंभिक प्रयोजन है। बिना चेतना लाए हम संघर्ष के लिए आंतरिक रूप से प्रेरित नहीं हो सकते हैं। यह उपन्यास भी आदि से अंत तक संघर्ष की गाथा है। चेतना सम्पन्न समूह का कठोर संघर्ष यहाँ परिलक्षित

होता है। एक ओर लोभ और स्वार्थ के नींद में डूबे हुए जन मानस के विवेक को जगाने का विश्वस्तरीय संघर्ष, दूसरी ओर मरंग गोड़ा को न्याय दिलाने की ललक- दो पाटों के मध्य में चलने वाला यह संघर्ष पर्यावरण नामी डोर के कारण एक दूसरे से जुड़ते हुए जान पड़ते हैं। मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ में चित्रित पर्यावरणी चेतना की बात की जाए तो इस उपन्यास में चित्रित आदिवासियों के प्रकृति प्रेम और प्रकृति हनन के प्रति इनके चिंतापूर्ण दुःख का उल्लेख करना नितांत आवश्यक है। जंगल में पेड़- पौधों को स्याह और उजड़ता हुआ देखकर आदिवासियों केमन में पीड़ा की जो हूक उठती है, वह निश्चय ही उनके पर्यावरणीय चेतना का प्रमाण है। ऐसा हो सकता है कि पर्यावरण सुरक्षा की जरूरत तथा पर्यावरण विघटन के दुष्परिणामों की वैज्ञानिक जानकारी इनके पास ना हो परंतु ईश्वर देवता एवं उनके अस्तित्व के साथ जोड़कर ही सही यह प्रकृति तथा उसके संरक्षण की बात अवश्य सोचते हैं। इस उपन्यास में जाम्बीरा, रिमिल उनके परिवार तथा अन्य अज्ञानी अशिक्षित आदिवासियों के माध्यम से आदिवासी समाज के परंपराजन्य पर्यावरणीय चेतना का स्वर मुखरित किया गया है। इस उपन्यास में पर्यावरण विघटन के दुष्प्रभावों को जान-समझकर उसे रोकने के लिए व्यग्र अनेक व्यक्तियों, संस्थाओं के संघर्ष को दिखाया गया है। ग्रीनपीस (संस्था), जापान में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीयपर्यावरण फिल्म फेस्टिवेल 'जापान के ऐंटी न्यूक्लियर ग्रुप', प्रोफेसर बोयदे जैसे परमाणु वैज्ञानिक, परमाणु ऊर्जा विरोधी डाक्टरों की संस्था, मायासुकि, अरिना, मोमोका जैसे अन्य व्यक्तियों के माध्यम से यह दर्शाने का प्रयास हुआ है कि अंधकार की ओर गतिशील विश्व को सही राह दिखाने के लिए बहुत लोग कठिन संघर्ष कर रहे हैं। पर्यावरण विघटन को लेकर सचेत ये लोग अब पृथ्वी की सम्पूर्ण आबादी को सचेत करने में संघर्षरत है तथा विश्व के पूंजीपतियों, संस्थाओं, सरकारों के अवहेलनामय नजरिये पर अंकुश लगाने के लिए भी प्रयत्नरत है। लेकिन यह उपन्यास यह भी दर्शाता है कि सचेत लोगों के संघर्ष के सामने कितने कठिन प्रत्याह्वान हैं। इनकी सचेतनता भरे आह्वानों, दलित प्रश्न तथा प्रयास व्यवहारिक-स्तर पर शायद ही उतर पाते हैं। पर्यावरण संबंधी चेतना मरंग गोड़ा के युवाओं के भीतर भी उभरती हुई दिखाई देती हैं, जिसका प्रमुख कारण इनके बीच शिक्षा का प्रसार है। शिक्षा का ही प्रभाव है कि सगेन बाहरी कम्पनियों के षणयंत्र को समझ पाता है और इस संदर्भ में एक अनुसंधानात्मक समझ विकसित कर पाता है। आदिवासी समूह के बीच सगेन में आई इस चेतना का प्रसार मरंग गोड़ा के अन्य युवाओं में भी दिखाई देता है। इसको एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है जहाँ सगेन कहता है कि – "सिर्फ तस्वीरें लेने से काम नहीं चलेगा, हमें अपने लोगों को स्वास्थ्य के प्रति जागरूक करना पड़ेगा। रेडियोधर्मिता और विकिरण के खतरों से आगाह करना होगा हमें बाहर से काबिल और पढ़े लिखे लोगों को बुलाना पड़ेगा"।(मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ,पृ.-290) मोआर (मरंग गोड़ाज ऑर्गेनाइजेशन अगेंस्ट रेडिएशन) का गठन इस क्षेत्र में धीरे – धीरे जागरूकता का पहला पायदान बनता है। इस तरह का सांगठनिक और एकजुटीय प्रयास पर्यावरण पर मडंराने वाले खतरे के विरुद्ध लड़ने और उसका समाधान ढूंढने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस क्षेत्र की भयावहता को सामने लाने के लिए मोआर के सदस्य आदित्यश्री के साथ मिलकर एक फिल्म का निर्माण करते हैं। लंबे संघर्ष के बाद मरंग गोड़ा के आम जन में धीरे -धीरे सजगता आती है। यूरेनियम खदानों में सुरक्षा नियमों की अनदेखी तथा उसके दुष्परिणामों को लेकर वहाँ के लोग सवाल उठाना शुरू करते हैं – इस सभा की खासियत यह थी कि मरंग गोड़ा में यूरेनियम खनन आरंभ होने के लगभग बत्तीस- तैंतीस साल बाद पहलीबार विकिरण पर, रेडियोधर्मिता पर, यूरेनियम खनन के दुष्प्रभावों पर, स्वास्थ्य सम्बन्धी सुरक्षा मानकों पर ग्रामीणों की तरफ से सवाल उठाये जाने लगते है।"(मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ पृ. 190)

साहित्यिक दृष्टि से देखा जाए तो इस उपन्यास में चरित्रों तथा पात्रों की बहुलता है। लेखिका ने इनकी विशेषताओं को उभारने के लिए अनेक शैलियों का प्रयोग किया है। यूँ तो सगेन और आदित्यश्री कथानक को लक्ष्य तक पहुँचाने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभातें हैं लेकिन जाम्बीरा, रिमिल, मेंजारी, सुकुमनि, प्रज्ञा, मोमोको, चारिबा जैसे पात्र भी कथा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रकृति और पर्यावरण के प्रति रूचि रखने वाले ये पात्र उसके संरक्षण और संवर्धन के लिए प्रतिबद्ध दिखाई देते हैं। जाम्बीरा, रीमिल और अभिषेक जैसे पात्र प्रकृति की हर लय और गति के जानकार बनकर सामने आते हैं। अभिषेक के मन में प्रकृति और जंगलों के प्रति अत्यंत आकर्षण व्याप्त है। वह कहता है कि – "यह खूंखारपन ही इस जंगल के जानवरों की खूबी है और इसका मुझे गर्व है। जंगल के प्रति दुर्निवार आकर्षण के कारण इस देश के विविध जंगलों की सैर कर चुका हूँ मैं...मगर इस जंगल के जानवरों की तुलना में उधर के जानवर मुझे बिल्कुल सीधे और पालतू लगे"। (मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ पृ-318), वहीं दूसरी तरफ इंग्लैंड से आई शोध-छात्रा प्रकृति के सौंदर्य के प्रति काव्यात्मक नजरिया अपनाते हुए दिखाई देती है। प्रकृति के मायावी सौंदर्य पर मोहित होकर वह कहती है कि – "ऐसा लग रहा है कि जैसे अपने रूप के मायाजाल का विस्तार करके अपने दोनों बांहों को फैलाकर प्रकृति हमें अपनी ओर खींच रही है। ..बंजर कहाँ? देखकर तो लगता है अभी-अभी तो जागी है अलसायी नींद से"।(मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ पृ.-262) प्रज्ञा पर्यावरण विघटन को लेकर भयभीत तो होती है लेकिन इस दिशा में सक्रिय रहने की अपेक्षा वह अपने निजी कामों में अधिक व्यस्त जान पड़ती है। वहीं सगेन और आदित्यश्री यूरेनियम खनन और उसके दुष्परिणामों को लेकर सर्वाधिक सचेत और व्यग्र जान पड़ते हैं। इससे मानव समाज पर पड़ने वाले प्रभाव को लेकर वह अत्यधिक चिंतित जान पड़ते हैं। आरंभ से अंत तक ये चरित्र मरंग गोड़ा के आदिवासियों की लड़ाई लड़ते जान पड़ते हैं। चारिबा दरअसल आदिवासी संस्कृति और परंपरा को लेकर अत्यधिक गर्वान्वित, संवेदनशील और तर्कशील युवती के रूप में सामने आती है। मोमोका एक ऐसा पात्र है जो यूँ तो बहुत कम समय के लिए आती है परंतु पर्यावरण विघटन और उसके दुष्परिणामों को लेकर अत्यधिक आलोचनात्मक नजरिया अपनाते हुए दिखाई देती है। लेखिका एक जगह मोमोका के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए कहती हैं कि – "वह भी हल्की बातों की तुलना में गंभीर मुद्दों पर ही खुद को केंद्रित करना पसंद करती थी। दुनिया भर में सस्ती उर्जा पाने के लोभ में तेजी से

परमाणु संयत्रों की बढ़ती संख्या को लेकर, उसके रख रखाव को लेकर मानवीय स्वास्थ्य और पर्यावरण की सुरक्षा को लेकर चिंता व्यक्त करती है"।(पृ.संख्या-216) इस तरह इस उपन्यास के सभी पात्रों के माध्यम से प्रकृति और पर्यावरणजनित पहलुओं को सफलतापूर्वक उभारने का प्रयास लेखिका ने किया है। इन पात्रों का प्रकृति के प्रति सूक्ष्म सौंदर्यानुभवी दृष्टि, पर्यावरण के शोषण को लेकर पीड़ामयी प्रतिक्रिया तथा प्रकृति पर्यावरण सुरक्षा को लेकर संघर्ष आदि सभी पाठकों को कहीं ना कहीं प्रभावित करती है। ये सारे तत्व मिलकर निष्क्रिय जनमानस के भीतर पर्यावरण संबंधी सक्रियता लाने का प्रयास करती दिखाई देते हैं।

आदिवासी मूल की लेखिका महुआ माझी ने ना सिर्फ आदिवासी समाज के यथार्थ को उजागर किया है वरन् वैश्विक स्तर पर पैदा होने वाले सामाजिक संकट को रेखांकित किया है। यही कारण है कि उपन्यास की भाषा तो खड़ी बोली हिंदी है परंतु जनजातीय शब्दों के साथ-साथ अंग्रेजी और जापानी शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। उपन्यास में गंवईआदिवासी पात्रों की भाषा जनजातीय (हो, संथाली) शब्दों से अधिक प्रभावित है। बोंगा (देवता), जियंग-ततंग (दादी-दादा), अपू(बाबा), होरबोर (जल्दी), तुपु मंडि(बासि भात), हतु (गांव), अढिंग (रसोई) मइ (कुंवारी लड़की) बुरू (पहाड़), किलि(गोत्र), गोनोंग (बधू मूल्य) अंदि सकि (शुभ विवाह) दिउरी (पूजारी) कोवाहोन (बच्चे) ओन्डो (बुड़बक) चौके (मेढ़क) इपिपियुंग (जुगनू) आदि जैसे अनेक जनजातीय शब्दों का अर्थसहित प्रयोग हुआ है। शिक्षित आदिवासी युवक युवतियों की भाषा प्रायः परिनिष्ठित हिन्दी रखी गई है। चूंकि इस उपन्यास का कथानक विकिरण और उसके परिणामस्वरूप होने वाले पर्यावरण विघटन से सम्बन्धित है, यही कारण है कि यहां नाभिकीय 'पावरप्लांट', 'कूलिंग संयंत्र', 'परमाणु संयत्र', रेडियोधर्मिता, युरेनियम माइनिंग, डोजीमीटर, यूरेनियम टेलिंग (परत), ब्लास्टिंग, यूरेनियम अयस्क, वाटर ट्रीटमेंट, प्लांट, आण्विक प्रयोगशाला, वंड मिल जैसे शब्दों का भी बहुलता से प्रयोग हुआ है, जो इस उपन्यास की मूल संवेदना को सार्थक और वैज्ञानिक ढंग से अभिव्यक्ति देने में सहायक हुई है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि उपन्यास की भाषा पात्रों और कथावस्तु के अनुकूल है।

पर्यावरण संरक्षण जैसे विषय पर आधारित होने के कारण इस उपन्यास की कलात्मकता में बाधा आती है। विषय और उद्देश्य की दृष्टि से तो यह कृति पर्याप्त प्रासंगिक है लेकिन गंभीर और नीरस विषय के भार से इसकी कलात्मकता को ठेस पहुँची है। ये वो प्रश्न हैं जिस पर विचार किया जाना चाहिए। निश्चित रूप से विषय वस्तु का चुनाव किसी कृति की अभिव्यंजना तथा शिल्प पक्ष पर पड़ता है। पर्यावरण और वह भी यूरेनियम खनन से संबंधित विविध वैज्ञानिक पक्षों को उजागर करने के कारण कहीं ना कहीं कृति नीरस सी जान पड़ती है। कथानक का विस्तार कहीं-कहीं पर अनावश्यक-सा जान पड़ता है। केवल तथ्यों और घटनाओं के विस्तार के कारण पाठक के ऊपर बोझ-सा मालूम पड़ता है। कहीं-कहीं पर उपन्यास की भाषा बहुत सीधी और सपाट जान पड़ती है। कलात्मकता की कमी लगातार महसूस होती रहती है। यूरेनियम खनन परमाणु संयत्र स्थापना, परमाणु उर्जा का अनुचित प्रयोग- इन सबसे होने वाले पर्यावरण विघटन का बड़ा ही लोमहर्षक वर्णन इस उपन्यास में किया गया है। परमाणु हथियारों के प्रयोग तथा न्युक्लियर आपदाओं के प्रभाव से हम परिचित हैं। समाचार पत्रों में, टी.वी में तरह-तरह के समाचारों के माध्यम से इसकी भयावहता से हम परिचित होते रहते हैं| लेकिन इन्हीं परिघटनाओं को जब किसी फिल्म या साहित्यिक कृति के माध्यम से कलात्मक ढंग से उपस्थापित किया जाता है तब वह हमारे आंखों के साथ ही मनोदृष्टि को भी प्रभावित करती है। इस कृति में वर्णित विकिरण के प्रभावों को पढ़ कर जो लोमहर्षक दृश्य हमारे मन-मस्तिष्क में उभरेगा वह समाचार पत्रों या शोधपत्रों के जानकारी मात्र से सम्भव नहीं। विकिरण, प्रदूषण से जूझते आदिवासियों की कातर आँखें , अबोध शिशुओं की पीड़ामय भंगिमा, सचेत बुध्दिजीवियों की चिन्तामय आकुलता से जोड़कर लेखिका ने पर्यावरण विघटन जैसे नीरस विषय को बहुत ही प्रभावकारी रूप में प्रस्तुत किया है। मनुष्य के शारीरिक, मानसिक पीड़ा, मानव पात्रों के भय-व्यथा मिश्रित भंगिमाओं से ओतप्रोत बिम्बात्मक वर्णन कहीं न कहीं पाठक समाज को इस दिशा में अधिक सचेत करने की अपेक्षा रखता है। अधिक सचेत होने का अर्थ है इस दिशा में गम्भीर चिन्तन मनन करना और यही चिन्तन मनन अन्ततः परिवर्तन का द्वार भी खोलती है। इसप्रकार सहृदयों में पर्यावरण सम्बन्धी सचेतनता लाने की दृष्टि से यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस सन्दर्भ में कृष्णा सोबती ने सही ही इसे ' मानवीय चिन्ताओं की शेल्फ पर एक जरुरी टाइटल कहा है'।

आधार ग्रन्थ:

1. महुआ माजी, मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015

सहायक ग्रन्थ :

1. सं. गुप्ता मनीष कुमार, आदिवासी समाज और हिंदी उपन्यास, अनुसंधान पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, 2017

2.नारखेडे स्वाती(डॉ), हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श, रोली प्रकाशन, कानपुर, 2016

3.सं.गुप्ता रमणिका, आदिवासी शौर्य एवं विद्रोह, सुरभि प्रकाशन, दिल्ली, 2015

4.दुबे अभयकुमार, समाजविज्ञान कोश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

5.www.hindisamay.com/writer/mahuamaaji.

6.आदिवासी ई-पत्र -पत्रिकाएं, अपनी माटी,वर्ष दो, अंक-14, अप्रैल-जून,2014

7.आदिवासी पत्र-पत्रिकाएं–आदिवासी समाज(aadivaasisamaaj.com)आदिवासी

सुशीला टाकभौरे की कहानियों में उत्पीड़न एवं जीवन -संघर्ष

-डॉ.कुलदीप सिंह मीना
असिस्टेंट प्रोफेसर,हिंदी विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर (राज.) मो.9414991400

समकालीन रचनाकारों में सजगता है। ये रचनाकार सामयिक स्थितियों, घटनाओं से ही परिचय नहीं करवाते बल्कि उसे यथार्थ रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनकी रचनाओं में उनका अनुभव कल्पनायुक्त न होकर यथार्थपरक होता है। युग के प्रति उनकी प्रतिक्रिया अनेक दिशाओं मे मुखरित ही नहीं होती अपितु वे अपनी पीड़ा और उसे उपजे आह को संघर्ष में परिवर्तित कर चेतना में अभिव्यक्त करते हैं। समकालीन रचनाकारों की दृष्टि सामाजिक विषमता के अनेक पक्षों को उजागर करने की ओर रही है। उनमें दलित, स्त्री, आदिवासी समाज की विषमताएँ प्रमुख हैं, जो इन वर्गों को उनकी समस्याओं, उनके संघर्ष के साथ चेतना जागृत करने का कार्य करते हैं। समकालीन लेखन में दलित, स्त्री व आदिवासियों की आवाज मुखरित होती है।

इक्कीसवीं सदी के आते-आते हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श साहित्य की मुख्यधारा में अपना स्थान बना चुका है। दलित साहित्य दलित लेखकों की आत्मकथाओं से प्रारंभ होकर कविता, कहानी, उपन्यास व अन्य विधाओं में सशक्त उपस्थिति दर्ज करवा चुका है। दलित साहित्य के रचनाकारों में ओमप्रकाश वाल्मीकी, सूरजपाल चौहान, दयानंद बटोही, डॉ. एन. सिंह, मोहनदास नैमिशराय, अनीता भारती, जयप्रकाश कर्दम, माताप्रसाद गुप्त, मलखान सिंह, रत्नकुमार सांभरिया, तुलसीराम, श्यौराज सिंह बेचैन, शरणकुमार लिम्बाले, कौशल्या बैसंत्री के साथ सुशीला टाकभौरे का नाम प्रमुखता से लिया जाता है।

सुशीला टाकभौरे ने अपनी लेखनी के माध्यम से दलित समाज की दशा, दशा और भविष्य की आशाओं, आकांक्षाओं को व्यक्त किया है। टाकभौरे ने समाज व्यवस्था की आंतरिक दृढ़ता संकल्पशक्ति को अपनी लेखनी के संस्पर्श से अनन्य बना दिया है। सुशीला टाकभौरे अपने लेखन में वर्ण व जाति व्यवस्था के दंश से उपजी त्रासदियों का चित्रण तो किया ही साथ ही ब्राह्मणवाद और सामंतवाद के प्रतिरोध का भी यथार्थ चित्रण किया है। जिससे हीन समझे जाने वाले दलित लोगों में स्वाभिमान की चेतना जागृत हो सके। इतना ही नहीं उन्होंने महिला होने के नाते दलित महिलाओं की कारुणिक स्थिति का चित्रण अपनी कहानियों में किया है।

सुशीला टाकभौरे के चार कहानी संग्रह अनुभूति के घेरे (1997), टूटता वहम (1997), संघर्ष (2006), जरा समझो (2015) प्रकाशित हुए हैं। इन कहानी संग्रहों में प्रकाशित कहानियों में रचनाकार ने दलित जीवन के विविध पक्षों को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है। दलित कहानी के सम्बन्ध मे आलोचकों का अपना अलग-अलग मत रहा है। दलित चिंतक ओमप्रकाश वाल्मिकी का स्पष्ट मत है –"दलित कहानी में दलित अस्मिता का स्वर प्रमुखता से उभरता है। साथ ही जातिवाद के विरूद्ध वह एक घोषणा पत्र भी है।"[1]टाकभौरे अपनी कहानियों में जाति दंश के कड़वे सच का यथार्थ रूप प्रस्तुत करती है। जिसमें छुआछूत, ऊँच-नीच के कारण दलितों को पशुवत मानने की तथाकथित लोगों की मानसिकता को उजागर करती हैं। 'बदला' कहानी में ऐसे तथाकथित सवर्ण लोगों की घटिया मानसिकता की अभिव्यक्ति करती है जों दलितों को अपना गुलाम समझते है। "भंगी की औलाद, छूत, शूद्र, भिखारी, भिखमेंगे----- हमारी दया पर जीने वाले ----------- हमारे टुकड़ों पर पलने वाले --------- आजकल इनको बहुत घमंड आ गया है ----------- बहुत गर्रा गये है --------- संडे ----------- मुसंडे हो गये है ---------- इनको तो गाँव में घुसने नहीं देना चाहिए।"2इस तरह श्रेष्ठ कहे जाने वाले सवर्ण लोग घृणा से भरकर दलित समाज में जातीयता के आधार पर हीन भावना पैदा कर आत्मसम्मान को कुचल देने का प्रयास करते हैं। 'सिलिया' कहानी में भी जाति दंश उभरकर सामने आता है। मालती को जब प्यास लगती है तो सवर्ण लोगों के पानी भरने वाले कुएँ एवं रस्सी, बाल्टी से वो पानी पी लेती है तो एक महिला द्वारा उसका विरोध किया जाता है। इतना ही नहीं उन्हें नीची जाति होने का आभास करवाकर हीनता का बोध कराती है। "अरी बाई, दौड़ो री, जा मोडी को समझाओ। देखो तो मना करने के बाद भी कुएँ से पानी भर रही है, हमारी रस्सी बाल्टी खराब कर दई जानै।"[3]

अब धीर-धीरे समय परिवर्तन के साथ दलितों को अपने होने का अहसास होने लगा है। जैसे-जैसे दलित समाज में शिक्षा का प्रचार-प्रसार होने लगा है, वैसे-वैसे उनमें अपनी अस्मिता को लेकर नई चेतना, ऊर्जा का नवसंचार हुआ है। अपने साथ सदियों से हुए अत्याचार, शोषण के विरूद्ध में एक नई चेतना पैदा हुई है। इसी चेतना को दलित कहानीकारों ने अपनी कहानी की विषयवस्तु बनाकर

दलित समाज को नई दिशा देने का सार्थक प्रयास किया है। दलित चिंतक रूपनारायण सोनकर का मत है "उत्पीड़न, शोषण को दिखाना मात्र दलित लेखक का ध्येय नहीं होना चाहिए। उत्पीड़न शोषण से बाहर निकलने का रास्ता सुझाना, दलित लेखकों का उद्देश्य होना चाहिए।"[5] वहीं इस सम्बन्ध में ओमप्रकाश वाल्मीकि का मत है "दलित कहानी सामाजिक बदलाव के लिए प्रतिबद्ध होती है।"[6] सुशीला टाकभौरे की कहानियाँ इसी सामाजिक बदलाव और उद्देश्य के साथ नव चेतना से लैश नजर आती है। ऐसी कहानियों में संघर्ष, जन्मदिन, बदला, छौआ माँ, नयी राह की खोज प्रमुख हैं। दलित समाज के लोगों में अब धीरे-धीरे शिक्षा पहुँचने लगी है। जिससे उन्हें अपनी अस्मिता का एहसास होने लगा है। 'जन्मदिन' कहानी दलित समाज में उपजी ऐसी ही चेतना को अभिव्यक्त करती है। कहानी का दलित पात्र मुन्ना अपने रिश्तेदार के यहाँ जन्मदिन की पार्टी में जाता है। अपने दलित समाज के लोगों को मैला ढोने का घृणित कार्य करते हुए देखता है तो वह बहुत दुखी होता है, सोचता है कि देश की स्वच्छता की जिम्मेदारी दलित समाज ने उठा रखी है, फिर भी सभ्य सुसंस्कृत सवर्ण समाज में इनकी गिनती नहीं है। मुन्ना अपने समाज के लोगों को इस घृणित कार्य के बारे में समझाता है। जिसे लोग समझते हैं और समाज के पंच पंचायत बुलाकर सर्वसम्मति से मैला ढोने जैसे घृणित कार्य करने से मना कर देते है। "भाईयों, माताओं, बहनों और बेटे-बेटियों, यह पंचायत का फैसला है, कल से कोई भी काम पर नहीं जाएगा। हम हड़ताल करेंगे। एकता और संगठन के साथ हम यह कदम उठायेंगे तभी गाँव वाले हिन्दू महाजनों को समझ में आएगा। ----- हम अपना इंसान होने का अधिकार लेकर रहेंगे -----।"[7]इसी तरह 'बदला' कहानी में दलित लड़के कल्लू को सवर्ण लोग मारते हैं। तब कल्लू के परिवार वालों को पता चलता है तो वहाँ पहुँचते हैं। अब तक चुपचाप तथाकथित सवर्ण लोगों के अत्याचार, शोषण को सहन वाला दलित कल्लू के पिता में अपने बेटे की पिटाई का बदला लेने के लिए दुश्मनों के खिलाफ खड़ा हो जाता है। "सालों ---- तुम्हारी तो, ऐसी की तैसी ---। बहुत इज्जत की है, हमने तुम्हारी। अब देखना हम भी तुम्हें चैन से नहीं रहने देंगे -----। अभी तुमने हमको देखा नहीं है -----। सालों ----- कमीनों ---- डरने वाले को डराते हो ---- तुम्हारी तो ---"।[8] समाज के सबसे हीन व कमजोर माना जाने वाला दलित समाज का एक वर्ग जब अपने साथ हो रहे शोषण और अन्याय के विरूद्ध उठ खड़ा होता है तो उनका साथ देने के लिए दलित समाज के दूसरे वर्गों के लोग खड़े हो जाते हैं। इस तरह की एकता और संगठन से इन उपेक्षित और हेय समझे जाने वाले लोगों के संघर्ष को मजबूती मिलती है। 'बदला' कहानी के पात्र कल्लू के साथ तथाकथित सवर्ण लोग पिटाई कर देते है, उसके पिताजी इनका विरोध करते है तब दलित कहे जाने वाले अन्य समाजों के लोग वाल्मीकि समाज के साथ खड़ा होकर इन दबंगों का प्रतिरोध करते हैं। "जीजा, घबरा मत तू अकेला नहीं है --- हम सब तेरे साथ हैं और वह सबको धक्का देता हुआ कल्लू के बप्पा के पास पहुँच गया।"[9]

सुशीला टाकभौरे की कहानियों की प्रमुख दलित महिला पात्र 'छौआ माँ' है। जो सवर्ण घरों में जा-जाकर सफाई का कार्य करती है। महिलाओं के प्रसव से लेकर दूसरे अन्य सफाई के कार्य करने को नियति द्वारा दिया गया कार्य मानकर करती रही है। लेकिन सवर्णों द्वारा किये जाने वाले जातिगत अपमान के कारण उनके मन में धीरे-धीरे अपनी अस्मिता को लेकर चेतना पैदा हो रही है। 'छौआ माँ' कहानी की पात्र तुलसा जो छौआ माँ की बेटी है। अपने बच्चों को स्वाभिमान से रहने की प्रेरणा देती है। "अपमान भरी इस नरक की जिन्दगी से बाहर निकलो, इन्सान बनकर जीना सीखो।"[10]छौआ माँ की अनुपस्थिति में गाँव वाले उनकी बेटी तुलसा से ये सब सफाई के कार्य करवाना चाहते हैं तो वह उसका विरोध करती है। तब छौआ माँ को नीची जाति होने का एहसास कराते हैं। तब वह इन तथाकथित लोगों की घृणित मानसिकता को समझती है। तब उनके मन आक्रोश के साथ स्वाभिमान की भावना जागृत होती है। "हमको नीच कहो, हम गरीब हैं, हमारे पास धन साधन नहीं है, जई से हमें छोटो कहो हो ---- ? हमें डराओ, धमकाओ हो ---- हमें लाचार बनाकर रखो हो। मगर तुम भी समझ लो, अब छोटो को कम मत समझना। जरा सी चींटी भी हाथी को पछाड़ देती है। हम ऐसे भी गए बीते नहीं हैं। अगर हम अपनी वाली पर आ गये, तो बहुत नुकसान में रहोगे तुम ---- मेरी सेवा को नीच काम कहो हो, हमको नीची जाति का कहो हो। जाओ, अब अपने काम खुद संभालो ------ खुद करो अपने काम।"[11]

दलित समाज के लोग अपने ऊपर थोपी गई इस कुत्सित समाज व्यवस्था के कुचक्र को समझने लगे हैं। अब दलित समाज के लोगों को समझ में आने लगा है कि हमें अधिकार स्वप्न देखने से नहीं मिलेंगे। इसके लिए अन्याय का डटकर मुकाबला कर संघर्ष करना होगा। 'दमदार' कहानी की नायिका सुमन को जब जग्गू पहलवान पकड़कर घसीटने की कोशिश करता है जो सुमन अपनी आत्मशक्ति के कारण उसे परास्त कर देती है। इससे प्रेरणा लेकर अब तक अन्याय और शोषण से प्रताड़ित अन्य स्त्रियाँ पगली व प्रेमलता भी जग्गू पर प्रहार कर अपना प्रतिशोध लेती हैं। "प्रेमलता को बहुत खुशी हुई, जैसे उसने भी जग्गू से अपना बदला ले लिया। कितने महिने हो गए थे, गाँव में उसका सिर हमेशा शर्म से झुका रहता था आज उसने गर्व से सिर ऊँचा उठा लिया। आज वह समझ गई औरतें कभी भी कमजोर नहीं हो सकती। उसने सुमन को देखा, फिर आगे बढ़कर उसने भी जग्गू को एक ठोकर मार दी।"[12]

जाति दंश, शोषण, अत्याचार, अन्याय से पीड़ित दलित समाज में अब

धीरे-धीरे शिक्षा के प्रचार-प्रसार से चेतना जागृत होकर स्वाभिमान की भावना पैदा हो रही है। लेकिन उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर थी। अब धीरे-धीरे सरकारी नौकरियों में आने के साथ-साथ उनका ध्यान रोजगार के अन्य साधनों पर भी जाने लगा है, जिससे वे अपनी आजीविका के साथ अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दिला कर आने वाली पीढ़ियों के सुन्दर भविष्य के सपनों को पूर किया जा सके। 'नयी राह की खोज' कहानी दलित समाज के ऐसे ही परिदृश्य को सामने लाती है। कहानी का पात्र रामचन्द्र अपने समाज के सभी लोगों के बच्चों को पढ़ाने के लिए प्रेरित करते हैं, किंतु स्थिति दयनीय जब हो जाती तब मैट्रिक, बी.ए., एम.ए. तक शिक्षित लड़के-लड़कियाँ भी गाँव शहर की गली मोहल्लों की सड़कों का कचरा साफ करने को मजबूर हो जाते हैं। अब शिक्षित लोगों के समक्ष रोजगार का संकट खड़ा हो गया है। रामचन्द्र जैसे जागरूक लोग जो शिक्षित होने के कारण एक नई चेतना और ऊर्जा से लैश हैं, वो दलित समाज के तमाम शिक्षित युवाओं को अपने-अपने रोजगार, उद्योग-धन्धे स्थापित करने की प्रेरणा देता है। "अब हमारे समाज का भविष्य तभी अच्छा बनेगा जब हम उद्योग से जुड़ेंगे। हमारे बच्चे उद्योगी-व्यवसायी बनेंगे, धन हमारे हाथों में खेलेगा, हम भी लखपति-करोड़पति बनेंगे। हम भी बड़े लोगों, सवर्णों की तरह शान से अपने बंगले और कोठियाँ बनाकर रहेंगे। अपने समाज के नाम के साथ जुड़ा शूद्र शब्द हम खुद अपने हाथों से हटायेंगे। हमारे समाज की महिलाएँ सम्मान के साथ रहेंगी, हमारे बच्चों को खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने-लिखने के खर्च में कभी कोई तंगी नहीं होगी।"13अब दलित समाज अपने साथ सदियों से हुए शोषण, उत्पीड़न के प्रतिरोध के साथ एक नई चेतना के साथ अपने मनुष्य होने का एहसास लेते हुए अपने लिए नये रास्ते चुन रहा है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि समकालीन दलित रचनाकारों की इस सकारात्मक मुहिम ने दलित समाज को नई दिशा दी है। सुशीला टाकभौरे ने अपनी कहानियों के माध्यम से दलित समाज का सदियों से हो रहा शोषण, उत्पीड़न, अन्याय आदि का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। साथ ही सामाजिक बदलाव को स्पष्ट करते हुए अब तक हीन माने जाने वाले लोगों में एक नई ऊर्जा का संचार करते हुए स्वाभिमान की भावना जागृत करने का उपक्रम किया है। जो एक लोकतांत्रिक और समतावादी समाज के निर्माण के लिए आवश्यक है। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दलित कहानीकार सुशीला टाकभौरे ने अपनी आलोच्य कहानियों के माध्यम से विषमतावादी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिए क्रांतिकारी आह्वान के साथ शोषण और अपमान के विरूद्ध मानव मूल्यों को स्थापित करने का सार्थक प्रयास किया है।

संदर्भ –

1.दलित कहानी पर परिचर्चा – अनिता भारती, अन्यथा (सं. कृष्ण किशोर) अंक – 13 पृष्ठ सं. 145

2.बदला (कहानी) – जरा समझो (कहानी संग्रह) – सुशीला टाकभौरे – वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृष्ठ सं. 37

3.सिलिया (कहानी) – टूटता वहम (कहानी संग्रह) – सुशीला टाकभौरे – अनिरूद्ध बुक्स, दिल्ली – 2012 पृष्ठ सं. 57

4.झरोखे (कहानी) – टूटता वहम (कहानी संग्रह) – सुशीला टाकभौरे – अनिरूद्ध बुक्स, दिल्ली – 2012 पृष्ठ सं. 28

5. दलित कहानी पर परिचर्चा – अनिता भारती, अन्यथा (सं. कृष्ण किशोर) अंक – 13 पृष्ठ सं. 149

6.वही – पृष्ठ सं. 145

7.जन्मदिन (कहानी) – संघर्ष (कहानी संग्रह) – सुशीला टाकभौरे – ज्योति लोक प्रकाशन, दिल्ली, 2012 (दूसरा संस्करण) पृष्ठ सं. – 65

8.बदला (कहानी) – संघर्ष (कहानी संग्रह) – सुशीला टाकभौरे – ज्योति लोक प्रकाशन, दिल्ली, 2012 (दूसरा संस्करण) पृष्ठ सं. – 45

9.वहीं

10.छोआ माँ (कहानी) - संघर्ष (कहानी संग्रह) – सुशीला टाकभौरे – ज्योति लोक प्रकाशन, दिल्ली, 2012 (दूसरा संस्करण) पृष्ठ सं. – 75

11.वहीं – पृष्ठ सं. 76

12.दमदार (कहानी) - संघर्ष (कहानी संग्रह) – सुशीला टाकभौरे – ज्योति लोक प्रकाशन, दिल्ली, 2012 (दूसरा संस्करण) पृष्ठ सं. – 135

13.नयीं राह की खोज (कहानी) – संघर्ष (कहानी संग्रह) – सुशीला टाकभौरे – ज्योति लोक प्रकाशन, दिल्ली, 2012 (दूसरा संस्करण) पृष्ठ सं. – 88

ढाई बीघा जमीन : आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में

-डॉ.जयंत बोबडे
सहयोगी प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
श्री शिवाजी महाविद्यालय, परभणी (महा.)

प्रास्ताविक :

भारतीय मूल्यों के साथ चलकर स्त्री विमर्श को देखने की बात करते है तो वे समस्त मूल्य अगर किसी एक लेखिका में गरिमापूर्ण दिखते है वह है मृदुला सिन्हा. उनका समग्र साहित्य भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों से भरा हुआ है. साथ ही वो स्त्री मुक्ति की वकालत भी अपने साहित्य में करते आयी है. ऐसा भी कहा जा सकता है की सिन्हाजी महादेवी वर्मा की साहित्य लेखन परंपरा को आगे बढाने में सक्षम लेखिका के रूप में दिखाई देती है. अपनी अनेक साहित्यिक कृतियों में मृदुलाजी आधुनिकता की बात करती है, जिसमे भारतीय सांस्कृतिक मूल्य भी निहित है. उनके समग्र लेखन की विशेषता रही है की उनमें नयापन तो है लेकिन परंपरा और भारतीय संस्कृति के प्रति गहन लगाव भी है. मात्र उनका लेखन केवल पश्चिमीकरण नहीं है.

मृदुला सिन्हा हिंदी की शीर्षस्थ उपन्यासकार तथा कहानीकार हैं. वर्तमान परिवेश आधुनिकता से भरा हुआ है ऐसे में हमें डर है की इस आधुनिकता ने हमारे धरोहर तथा परंपरा को ही छीन लिया तो? इस दोहरे मानसिकता तथा परिस्थिति में मृदुला सिन्हा की 'ढाई बीघा जमीन' कहानी प्रासंगिक लगती है. प्रस्तुत आलेख में उनकी ढाई बीघा जमीन इस कहानी में समाहित आधुनिकता तथा परंपरा के साथ जोड़कर किया गया मानवीय जीवन का चिंतन प्रस्तुत किया गया है.

महत्वपूर्ण शब्द :

आधुनिकता, परंपरा, वैश्वीकरण, नगरीकरण, निजीकरण, मानसिकता, पॅकेज, बीघा,मायाजाल, औद्योगीकरण, मानवीय संबंध, संपति, LPG आदि.

पध्दति :

प्रस्तुत शोधालेख के लिए विवेचनात्मक अनुसन्धान पद्धति का प्रयोग किया गया है, साथ ही उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहानी का समिक्षनात्मक दृष्टी से विश्लेषण किया है. मूल कहानी, सन्दर्भ ग्रंथों का सहारा लेकर आधुनिकता के कारण मनुष्य के जीवन में आये बदलावों को रेखांकित किया गया है. अंततः निष्कर्ष बिन्दुओं को रेखांकित किया गया है.

उद्देश्य :

१. आधुनिकता की अवधारणा को स्पष्ट करना.
२. मृदुला सिन्हा के व्यक्तित्व तथा कृतित्व को विश्लेषित करना.
३. ढाई बीघा जमीन कहानी के कथ्य को सार रूप में विश्लेषित करना.
४. आधुनिकता के स्वरुप को स्पष्ट करना.
५. आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में ढाई बीघा जमीन इस कहानी का विवेचन करना.
६. वर्तमान समय में सांस्कृतिक तथा परंपरा की बिच निर्माण होने वाले संघर्ष को विश्लेषित करना.
७. वर्तमान समय में मनुष्य के जीवन में आधुनिकता के कारण निर्माण हुए अवरोध तथा समस्याओं को स्पष्ट करना.
८. अंततः निष्कर्ष बिन्दुओ को रेखांकित करना.

मृदुला सिन्हा का व्यक्तित्व एवं कृतित्व :

मृदुला सिन्हा का जन्म श्रीमती अनुपा देवी व बाबू छबीले सिंह के यहाँ २७ नवम्बर १९४२को हिन्दू पंचांग के अनुसार राम विवाह के शुभ दिन बिहार राज्य में मुज्जफरपुर जिले के छपरा गाँव में हुआ. मनोविज्ञान में एम०ए० करने के बाद उन्होंने बी०एड० किया और मुज्जफरपुर के एक कॉलेज में प्रवक्ता हो गयीं. कुछ समय तक मोताहारी के एक विद्यालय में प्रिंसिपल भी रहीं किन्तु अचानक उनका मन वहाँ भी न लगा और नौकरी को सदा के लिये अलविदा कहके उन्होंने हिंदी साहित्य की सेवा के लिये स्वयं को समर्पित कर दिया. उनके पति डॉ॰ रामकृपाल सिन्हा, जो विवाह के वक़्त किसी कॉलेज में अंग्रेजी के प्रवक्ता हुआ करते थे, जब बिहार सरकार में मन्त्री हो गये तो मृदुला जी ने भी साहित्य के साथ-साथ राजनीति की सेवा शुरू कर दी. उनकी रचनाओं की फेहरिस्त लंबी है. इनमें आत्मकथा, जीवनी....साहित्य की सभी विधाएं शामिल हैं. ग्वालियर की राजमाता विजयाराजे सिंधिया की जीवनी–एक थी रानी ऐसी भी, इस पर फिल्म भी बनी. नई देवयानी, घरवास, ज्यों मेहंदी को रंग, देखन में छोटन लगे, सीता पुनि बोली, यायावरी आंखों से, ढाई बीघा जमीन, मात्र देह नहीं है औरत, अपना जीवन, अंतिम इच्छा, परितप्त लंकेश्वरी, मुझे कुछ कहना है, औरत अविकसित पुरुष नहीं हैं, चिंता और चिंता के इंद्रधनुषीय रंग, या नारी सर्वभूतेषु, एक साहित्यतीर्थ से लौटकर.ज्यों मेहंदी के रंग उपन्यास पर तो टीवी सीरियल दत्तक पिता बना. विजयाराजे सिंधिया के जीवन पर राजपथ से लोकपथ पर फीचर फिल्म बनी. बड़ी बात यह थी कि जो भी इनकी रचनाओं पर सीरियल या फीचर फिल्में बनीं सभी नेशनल अवार्ड विनर फिल्म निर्माता गुल बहार सिंह ने बनाई थी. फ्लेम्स ऑफ डिजायर का मृदुला सिन्हा ने अनुवाद किया था. परितप्त लंकेश्वरी का तो मराठी में अनुवाद भी हुआ. विभिन्न विधाओं में ४६ कृतियों की रचना इनके कलम से हुई. २१ शोधकर्ताओं को इनकी कृतियों पर शोध के लिए पीएच.डी की उपाधि मिली. कई राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मान मिले. २०१७ में उनके अमृत महोत्सव पर दिल्ली के कंस्टीट्यूशनल क्लब में भव्य कार्यक्रम हुआ था. वे बहुत बढ़िया गाती थीं. भोजपुरी, मैथिली, हिंदी में गीत गातीं. क्या गला था. जैसा नाम था वैसी ही मृदुल स्वभाव की मृदुभाषी भी थीं. अपने से लोगों को खाना बना कर खिलातीं थीं. मृदुला सिन्हा जेपी आंदोलन से जेपी के कार्यक्रमों से सक्रिय तौर पर ड़ी रहीं. उनके पति डॉ रामकृपाल सिन्हा जनसंघ से जुड़े थे. वे भारत सरकार में मंत्री भी रहे. अटल जी की सरकार के समय रामकृपाल बाबू कार्यालय सचिव थे. इसी कारण वे भी भाजपा से जुड़ीं. देश भर में भाजपा महिला संगठन को खड़ा करने में इनकी बड़ी भूमिका रही. उनकी कुछ रचनाएँ इस तरह से हैं- राजपथ से लोकपथ पर (जीवनी), नई वयानी, ज्यों मेहंदी को रंग, सीता पुनि बोलीं,घरवास (उपन्यास),*यायावरी आँखों से* (लेखों

का संग्रह),*देखन में छोटे लगें* (कहानी संग्रह),*बिहार की लोककथायें -एक* (कहानी संग्रह), *बिहार की लोककथायें -दो* (कहानी संग्रह), ढाई बीघा जमीन (कहानी संग्रह), मात्र देह नहीं है औरत (स्त्री-विमर्श), विकास का विश्वास (लेखों का संग्रह), साक्षात्कार(कहानी संग्रह) आदि. राजनीती के साथ साथ साहित्य लेखन को जारी रखा.

आधुनिकता : अवधारणा एवं स्वरुप :

आधुनिकता का अभिप्राय उस व्यवस्था से हैं, जिसमें ओद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कुछ ऐसे तत्व सम्मिलित हो गये हैं जो प्राचीन परम्पराओं में परिवर्तन ला रहें हैं. आधुनिकता एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का नाम हैं, जिसमें प्राचीन परम्पराओं के स्थान पर नवीन मान्यताओं को स्थान दिया गया है. आधुनिक शब्द अंग्रेजी के शब्द (Modern) का हिन्दी रूपान्तर हैं जिसका अभिप्राय हैं प्रचलन या फैशन जो भी समकालीन हैं अर्थात वर्तमान समय में चलन में हैं वही आधुनिक हैं, चाहें वह अच्छा हैं अथवा बुरा, हम उसे पसन्द करते हैं अथवा नहीं. आधुनिकता का अभिप्राय जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में समकालीन को परम्परागत से अगल समझना है. समाज के अन्तिम से अन्तिम मूल्यों के अनुसार रहने वाली वस्तु को आधुनिक कहते हैं. उस वस्तु के इस प्रकार के रहने के गुण अथवा स्थिति को हम आधुनिकता कहते है. आधुनिकीकरण की प्रक्रिया वैज्ञानिक ज्ञान के विस्तार का सूचक है.

आधुनिकीकरण सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण व तर्क पर आधारित है. सैद्धांतिक तौर पर इसकी शुरुआत यूरोपीय ज्ञानोदय से हुई. आईजनस्टेड के अनुसार ऐतिहासिक रूप से आधुनिकीकरण परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया है जो पश्चिमी यूरोप जैसी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की ओर उन्मुख है. यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण अलग-अलग प्रक्रियाएं है. पश्चिमीकरण मे पश्चिमी प्रतिमान जैसे प्रौद्योगिकी, जीवन शैली, विचार, मूल्य इत्यादि के अनुकरण की प्रवृत्ति विकसित होती है. जबकि आधुनिकीकरण मे पश्चिम के विकसित देशों के अनुरूप सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास की प्रक्रिया के अनुरूप परिवर्तन को समझा जाता है. आधुनिकता को समझने के लिए कुछ विद्वानों को परिभाषाओं प्रस्तुत किया है. निम्न प्रकार से -

अलातास के अनुसार: आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान का समाज मे प्रचार एवं प्रसार होता है जिससे समाज मे व्यक्तियों के स्तर मे सुधार होता है और समाज अच्छाई की तरफ बढ़ता है.

श्मामाचरण दुबे के अनुसार: आधुनिकीकरण एक प्रक्रिया है जो परंपरागत या अर्धपरंरागत अवस्था से प्रौद्योगिकी के किन्ही इच्छित प्रारूपों तथा उनसे जुड़ी हुई सामाजिक संरचना के स्वरूपो, मूल्यों, प्रेरणाओं और सामाजिक आर्दश नियमों की ओर से होने वाले परिवर्तन को स्पष्ट करती है.

डेनियल लर्नर के अनुसार: आधुनिकीकरण परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसका संबंध मुख्य रूप से विचारों एवं मनोवृत्तियों के तरीको मे बदलाव, नगरीकरण मे वृध्दि, साक्षारता का बढ़ना, प्रति व्यक्ति आय का अधिक होना तथा राजनीतिक सहभागिता मे वृध्दि जैसे परिवर्तन से होता है.

सी.ई.ब्लैक के अनुसार: आधुनिकीकरण वह प्रक्रिया है जिससे ऐतिहासिक रूप से उत्पन्न संस्थाएँ तेजी से बदलती हुई नई जिम्मेदारियों के साथ अनुकूलित होती हैं जिसमें वैज्ञानिक प्रगति से जुड़ी अपने परिवेश पर नियंत्रण की क्षमता वाले मनुष्य के ज्ञान मे अभूतपूर्व वृद्धि परिलक्षित होती हैं.

डॉ . योगेन्द्र सिंह के मतानुसार : साधारणतः आधुनिक होने का अर्थ फैशनेबल से लिया जाता है. वे आधुनिकता को एक सांस्कृतिक प्रयत्न मानते हैं जिसमें तर्क संबंधि मनोवृति, दृष्टिकोण , संवेदना , वैज्ञानिक विश्व दृष्टि , मानवता , प्रौद्योगिक प्रगति आदि सम्मिलित हैं .ये आधुनिकता पर किसी एक ही जातीय समूह या सांस्कृतिक समूह का स्वामित्व नहीं मानते वरन् सम्पूर्ण मानव समाज का अधिकार मानते हैं.

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है आधुनिकरण भौतिक बदलाव तथा आचार विचार से संबंधित तो है ही लेकिन अपनी संस्कृति तथा धरोहर के सन्दर्भ में भी संदर्भित है.

आधुनिकता का सम्बन्ध वैश्वीकरण से है. देखा जाये तो प्रारम्भिक अवस्था में वैश्वीकरण ने ही आधुनिकता को पाला - पोसा था. आज वैश्वीकरण का फैलाव और इसका प्रसार बहुत अधिक हो गया है. अब कई नई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का आर्विभाव हुआ है जिसने सम्पूर्ण समाज को अपने आगोश में ले लिया है. कुछ समाजशास्त्री आधुनिक समाज को तकनीकी तंत्र का समाज कहते हैं. आधुनिकता का बहुत बड़ा लक्षण तकनीकी तंत्र है जो वैश्वीकरण , उदारीकरण और निजीकरण (LPG) में है. लेकिन आज इसमें कई मूल्यों का समावेश हो गया है. वैश्वीकरण अपने आप में बहुत बड़ा मूल्य है. यह वैश्वीकरण ही उदारीकरण और निजीकरण प्रोत्साहित करता है. इसीलिये इन सब मूल्यों को हम आधुनिकता के सम्बन्धी कहते हैं. आधुनिकता और LPG एक दुसरे के साथ जुड़े हुए है इसीलिए आधुनिकता से LPG को दूर नहीं किया जा सकता. LPG ने मनुष्य के जीवन में बुनियादी बदलाव लाए है. जिसका प्रभाव संस्कृति, परंपरा, रहन-सहन, भाषा, परिवार, समाज पर पड़ता हुआ दिखाई देता है.

ढाई बीघा जमीन : कथ्य सार :

वैश्वीकरण, नगरीकरण, औद्योगीकरण के वर्तमान युग में गाँव और गाँव की तुलना में खेती-बाड़ी का महत्त्व कम आँका जा रहा है. गाँव और खेती की महानगर, महानगर की पैकेज वाली नौकरी,गाड़ियाँ महत्त्वपूर्ण बन गई हैं. इसी वर्तमान मानसिकता में बदलाव लाने वाली मृदुला सिन्हा की यह कहानी है. रामबाबू की बेटी सुभद्रा ने अपने जीवन में पहले तो गाँव की पुश्तैनी जमीन के महत्त्व को नहीं समझा, लेकिन बेटे मनीष के पैकेज वाली नौकरी पर मंदी के कारण गाज पैकेज गिर आई तो यही 'ढाई बीघा जमीन' बुरे दिनों में संजीवनी बन गई. जहाँ पॅकेजवाले, फ्लैट, गाड़ी खरीदने वाले नवयुवक आत्महत्या करने को मजबूर हो रहे थे तब यही 'ढाई बीघा जमीन' सुखी जीवन जीने का आधार बन गई. यह कहानी शहरीकरण की तुलना में गाँव, गाँव की खेती को जीवन जीने का आधार मानकर वहीं जीवन-जीने के स्रोत ढूँढ़ने को प्रेरित करती है. खेती बेचकर महानगर की ओर भागने वाली नई पीढ़ी को यह कहानी सोचने के लिए मजबूर करती है और शहरीकरण, वैश्वीकरण और औद्योगीकरण के मायाजाल से भारतीयों को बाहर निकालने का सफल प्रयास भी करती है.

ढाई बीघा जमीन : आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में

'ढाई बीघा जमीन' सिन्हा की प्रसिध्द कहानी है. जो समकालीनता को दर्शाती है. रामबाबू इस कहानी के मुख्य पात्र है. रामबाबू अपने गाँव के प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति है. लड़की सुभद्रा की शादी की बात होती है तब वे एक ऐसे लड़के का चुनाव करते है जिसके जिम्मे केवल ढाई बीघा जमीन ही आती है. इस बात हो लेकर रामबाबू हर बार चिंतित होते है की उनका दोस्त चूड़ामणि इस बात को लेकर सारे गाँव में चर्चा तो नही करेगा, की लड़के को रेल में नौकरी है लेकिन केवल ढाई बीघा ही जमींन है. इस सामाजिक दबाव् मनोवैज्ञानिक चिंतन वे कई बार करते है. इस

सन्दर्भ में वे चूड़ामणि को कहते है, "चूड़ामणि, तुम समझने की कोशिश करो. लड़के के सर पर जमींन की औकात तब देखी जाती थी जब उसकी जीविका का साधन मात्र जमींन होती थी. अब तो लड़का नौकरी करता है. जमींन ढाई बीघा हो या सौ बीघा क्या फर्क पड़ता है?" इस बात की सहमती न दर्शाते हुए चूड़ामणि बिटिया को बुरा दिन देखने की ना आए इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करता है. इस परंपरा वादिता के साथ चूड़ामणि अपनी बात कह देता है. इस अवसर पर रामबाबू की आधुनिक दृष्टी स्पष्ट होती है तो चूड़ामणि की पारंपरिक दृष्टी. आधुनिकता को स्वीकारने वाले रामबाबू कई बार चूड़ामणि द्वारा गाँव में इस बात को फ़ैलाने का डर मन में घर कर लेता है. आखिरकार उन्होंने हिम्मत जुटाई और अपनी लड़की की शादी किशोर से कराई.

सुभद्रा और किशोर को दो लड़के होते है. कई सालो तक नौकरी करने के पश्चात् बिच बिच में दोनों अपने गाँव जाया करते थे. सुभद्रा को कई बार अपनी जमीन अपने जिम्मे करने की बात मन में आती है. लेकिन संयुक्त परिवार का पुरस्कर्ता किशोर इस बात को लेकिन गंभीर नही होता की जमींन विभक्त कर लेनी चाहिए. किशोर पत्नी की इस बात को लेकर सिर्फ टालने का ही काम करता है. कई साल गुजरने के बाद सुभद्रा पति से सीतामढ़ी में तबादला करने की बात करती है ताकि वंहा रहकर अपनी खेती कर सके. दो बच्चों की पढाई का बहाना कर अपने भाइयों के सामने बंटवारे का प्रस्ताव रखा. इधर पिता रामबाबू अपने जीवन के अंतिम क्षण गिन रहे थे. ऐसे में वे सुभद्रा से अपने मन की बात करते है, "मेरे मन पर के बोझ़ है. तुम्हारा विवाह तय करते समय मैंने बहुत सोचा. मैं भी ऐसे लड़के से तुम्हारा विवाह नहीं करना चाहता था जिसके सर पर ......" वे वाकय पूरा नही कर पाए. इस पर सुभद्रा ने कहा, "बाबूजी, आपकी बेटी गाँव की अपनी उन हमउम्र बेटियों से ज्यादा सुखी है, जिनके पिता ने मात्र लड़के के सिर पर पचास या सौ बीघा जमींन देखकर विवाह किया. बस आप मेरी चिंता नही करें." इस वाकय से सुभद्रा की अपने पिता के प्रति सहृदयता स्पष्ट तो होती ही है लेकिन साथ ही वे आधुनिकता को स्वीकारते हुए अपने आपको समय के साथ जोड़ना चाहती है.

पिता और पति के मृत्यु के बाद सुभद्रा के बड़े लड़के को रेलवे में नौकरी लग जाती है तो छोटा लड़का सोफ्टवेयर इंजिनीअर बन जाता है. छोटे लड़के को दस लाख का पैकेज था. सुभद्रा ने पैकेज यह शब्द पहली बार सूना. छोटे लड़के की शादी की बात चल रही थी तब सुभद्रा हर किसी को ढाई बीघा जमींन की बात करती थी लेकिन लोग लड़के का पैकेज और उसकी नौकरी को ही पूछते थे. एक जमाना था जब सुभद्रा के पिता किशोर की नौकरी न देखते हुए उसकी पुस्तैनी जमीन के बारे में विचार करते थे लेकिन समय बदल चुका था आज सुभद्रा के लड़के की नौकरी और उसका पैकेज लोग पूछ रहे है. इसका मतलब अधुनिकरण को लोगों ने स्वीकार लिया है. मनीष एक करोड़ का फ्लेट और छह लाख की कार खरीदता है. शादी तय होती है. कुछ महीने में सॉफ्टवेयर जगत में मंदी आ जाती है. इसका असर मनीष की नौकरी पर ही पड़ता है. उसे नौकरी से निकला जाता है. माँ सुभद्रा बहुत परेशान होती है. और बेटे को समझाती है, "कभी सुना था जेवर संपति का शृंगार और विपति का आहार होता है, पर तुम्हारे लिए तो पुश्तैनी जमीन ही विपत्ति का आहार बन रही है. ढाई बीघा जमीन ही है तो क्या तिनके का सहारा".

परंपरा से मिली पुरखो की जमींन कठिन समय पर हमारी जीने की आशा बन जाती है. आधुनिकता के कारण मनीष जैसे लड़के दुनिया के साथ जुड़ कर रहना चाहते है. लेकिन जब वैश्विक स्तर मंदी का कहर बरसता है तब मात्र हमारा गाँव याद आता है. इस कहानी में एक ओर आधुनिकता है तो दूसरी ओर परंपरा का निर्वाह करते हमारी गाँव की पुरखों की जमींन. इसी बिच मनुष्य को इस बात का ध्यान देना आवश्यक है की परंपरा और आधुनिकता के बिच समन्वय स्थापित कर जीवन की राह पर चलना आवश्यक है. इस कहानी की नायिका सुभद्रा दोनों स्तरों पर जीती है. एक तो वो परंपरा का निर्वाह करते हुए दिखाई देती है तो दूसरी ओर आधुनिकता के कारन मनीष के साथ शहर में रहती है. लेकिन वह इन दोनों का मेल कराना भी बखूबी जानती है. आधुनिकता ने मनुष्य के जीवन में बदलाव तो लाये है लेकिन उस आधुनिकता ने मनुष्य को कोरा और थोता भी बनाया है. आधुनिकता के चलते मनुष्य के जीवन में सुखसुविधाए तो आई है लेकिन यह सुख और चैन नही दे पा रही है यह भी वास्तव है.

निष्कर्ष :

'ढाई बीघा जमीन' कहानी में लेखिला 'मृदुला सिन्हा' ये संदेश देना चाहती हैं कि वैश्वीकरण और आधुनिकीकरण के कारण गाँव की नई पीढ़ी गाँव की अपनी जमीन को छोड़कर शहर की ओर आकर्षित होते हैं और अपनी गाँव की अनमोल जमीन के महत्व को नही समझते हैं. लेखिका इस कहानी में ये संदेश देने का प्रयत्न किया है कि भले ही हम आधुनिककरण की दौड़ में शहर की आकर्षित हों, लेकिन गाँव की जमीन और संपत्ति का अपना ही महत्व होता है, और संकट के समय यही जमीन काम आती है. इसलिये हमें अपनी गाँव की संपत्ति आदि का उतना ही ध्यान रखना चाहिये.

सन्दर्भ :

1. ढाई बीघा जमीन: मृदुला सिन्हा, ज्ञान गंगा प्रकाशन.
2. साहित्य सौरभ : डॉ. स्वराजसिंह परिहार, राजकमल प्रकाशन.
3. समकालीन कहानी-युगबोध का सन्दर्भ : डॉ पुष्पपाल सिंह.
4. इक्कीसवी सदी का कथा साहित्य: डॉ. रमेश कुमार, श्री नटराज प्रकाशन.
5. www.prabhasakshi.com
6. www.wikipedia.org.com
7. www.hindisamay.com
8. www.scotbuzz.org
9. www.learnsocio.blogspot.com
10. www.kailasheducation.com

स्त्री विमर्श

इक्कीसवीं सदी की हिंदी कविता में स्त्री अस्मितामूलक प्रश्नों की संवेदना

-डॉ.बलविंदर कौर
असिस्टेंट प्रोफेसर,उच्च शिक्षा और शोध संस्थान,
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद

स्त्री संदर्भ में अस्मितामूलक प्रश्न वास्तव में उसके स्त्री बना दिए जाने के संस्कार से मुक्ति से संबद्ध है। सीमोन-द-बोउवार ने अपनी पुस्तक 'सेकेण्ड सेक्स' में बहुत पहले ही स्त्री पर आरोपित संस्कारों के जैविक, मनोवैज्ञानिक तर्क देकर इस तथ्य को रेखांकित किया है कि "स्त्री पैदा होती नहीं, बना दी जाती है।" [1]अतः कई वर्षों की यात्रा के पश्चात् भी भारतीय और विश्व समाज स्त्री की स्वतंत्रता, मुक्ति एवं सशक्तिकरण की तो बात करता है, परंतु उसे अभी तक मनुष्य इकाई के रूप में स्वीकारने से कोसों दूर है। इक्कीसवीं सदी की कविता में भी इस प्रक्रिया से गुजरते हुए, स्त्री-अस्मिता के मानवी पक्षों पर कई आयामों पर सृजनात्मक लेखन हुआ है। प्रस्तुत आलेख में इन्हीं पर संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

एक मानवीय इकाई के रूप में यदि जनगणना की जाएँ तो स्त्री लगभग आधी आबादी के बराबर है। इसलिए तो सुमन राजे ने 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' सन् 2003 में लिखकर के साहित्य में स्त्री की अस्मिता के प्रश्न को रेखांकित करने का प्रयास किया। इन सबके बावजूद भी उसे इतिहास में सदियों से समाज और परिवार के बीच व्यक्तित्वहीन आंका गया। इक्कीसवीं सदी में स्त्री की दुनिया पितृसत्तात्मक समाज द्वारा तय की गई दुनिया नहीं है। अब उसकी भावनाओं और संभावनाओं की दुनिया काफी बड़ी हो गई है। स्वतंत्रता के पश्चात् जरूर शिक्षा के प्रचार प्रसार, मानवाधिकार, राष्ट्रीय-महिला आयोग, स्त्री सशक्तिकरण के प्रचार प्रसार, स्त्री समर्थित कानूनों ने स्त्री को बड़ा स्वावलंबी, साहसी, कुशल तो आवश्य बनाया है। इस संदर्भ में अर्चना वर्मा लिखती है कि "जब तक स्त्री स्वयं को, अपने समाज को अपनी निजी विशिष्टताओं के संदर्भों को अधिक गहराई से अभिव्यक्त नहीं करेगी तब तक वह पितृसत्ता की नकल में इस अंधी दौड़ और उससे पैदा होने वाली तमाम विकृतियों के विरोध में एक वास्तविक रिश्ते का विकास नहीं कर पायेगी।" [2]

इक्कीसवीं सदी की प्रमुख कवयित्रियों और कवियों ने स्त्री के इस अस्मितामूलक प्रश्नों को सहज, स्वाभाविक, निर्पेक्ष रूप से रेखांकित किया है। गगन गिल, अनामिका, कात्यायनी, नीलेश रघुवंशी, निर्मला पुतुल, सविता सिंह आदि ने स्त्री जीवन की विविध परतों को उकेरने का प्रयास किया है। इनकी शैलियों में कहीं स्वर में तल्खियाँ है तो कहीं संबोधन। आलोचक परमानंद श्रीवास्तव 'कविता में स्त्री : एक' शीर्षक लेख में कहते है कि "गगन गिल, अनामिका, तेजी ग्रोवर, कात्यायनी, निर्मला गर्ग, नीलेश रघुवंशी की कविताएँ स्त्री अनुभव, स्त्री की दुनिया को लेकर हमारे अब तक के ज्ञात तथा प्रकट पूर्वानुमानों को लगभग खारिज़ करने वाली कविताएँ हैं।" [3]

कवियों ने भी परंपराओं की कुरीतियों पर प्रहार करते हुए स्थापित सामाजिक नियमों को तोड़ने की कोशिश की है। स्त्री की इस दशा पर उनकी दृष्टि साफ है कि इसका कारण पुरूष नहीं वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरूषों को लगातार एक पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियाँ उनसे हीनतर है। आलोचक परमानन्द श्रीवास्तव आगे इस बात को रेखांकित करते हैं-"स्त्री विमर्श की सैद्धांतिकी के बाहर जाकर समकालीन कवयित्रियों ने इधर अनुभवों की जो दुनिया रची है, वह न पितृसत्तात्मक समाज के दमन से आक्रांत है, न पर्सनल को पोलिटिकल बनाने की अनिवार्यता ; बल्कि वह उनके सर्वथा निजी हालचाल के भीतर से उभरता हुआ वह आख्यान है जो करूणा के नाम पर भावुकता-पीड़िता न होकर, आत्मविनोद और किसी दूसरी सत्ता के विरुद्ध तीखे व्यंग्य से सजीव है।" [4]

राजेश जोशी जैसे कवि ने सर्वहारा स्त्री के दुख पर कविताएँ लिखी हैं, जो एक तरह से उसकी अस्मिता को दर्शाती है-

"बाहर वह जितनी दिख रही है
इससे उसके सपनों और उसके भीतर मची उथल-पुथल का
अनुमान लगाना नामुमकिन है
उसकी आँखों में असमय चला आया आँसू
उसकी हार का नहीं
उसके गुस्से का बाँध दरक जाने का संकेत है।" [5]

स्त्री स्वतंत्रता, स्त्री आंदोलन, आधुनिक स्त्री का अर्थ क्या ? पुरुष के संबोधन क्या-क्या? हैं- जैसे खुले दिमाग वाली स्त्री के लिए चालू, आईटम, पटाखा, मछली, माल, सेक्सी, अश्लील सेटिंग, एक रात का पार्टनर, दोस्ती प्यार तक ठीक है आदि तथ्य एक तरह से स्त्री को एक वस्तु मात्र दैहिक स्थिति में परिवर्तित कर देने के ही परिणाम है-

"बीवी बनाने लायक नहीं
अपने पैरों पर खड़ी है, तो दुधाऊ गाय
कर लो शादी, देखा जाएगा, आराम से कटेगी
स्त्रियों को बेशर्म कहने से पहले,
पुरुषों को तो शर्म आने से रही?" [6]

उदय प्रकाश की कविताएँ स्त्री के भविष्य के प्रति एक चिंतन प्रस्तुत करती है। औरतें, इस सदी में एक लड़की, पंचनामे में जो दर्ज नहीं हैं, परदा, रात में छड़ गया हारमोनियम आदि कविताओं में इस चिंतन को स्पष्ट देखा जा सकता है-

"हजारों लाखों छुपाती है गर्भ के अँधेरे में

इस दुनिया में जन्म लेने से इंकार करती हुई
वहाँ भी खोज लेती है उन्हें भेदिया ध्वनि तरंगे
वहाँ भी भ्रूण में उतरती है हत्यारी कटार।" [7]

लीलाधर मंडलोई ने स्त्री की निर्भीकता को 'कस्तूरी' कविता में इस प्रकार रेखांकित किया है-

"जली नहीं लेकिन कि वह कस्तूरी थी
आग जो उसके भीतर थी
खिल रही अब भी गाँव में
कि उसका एक बार होना
कितना बार-बार होना है इस धरती पे।" [8]

मंगलेश डबराल ने सामान्य स्त्री की भूमिका को रेखांकित करते हुए कहा है-

"सारा दिन काम करने के बाद
एक स्त्री याद करती है
अगले दिन के काम।" [9]

इक्कीसवीं सदी के कवि चंद्रकांत देवताले स्त्री के यथार्थ को स्पष्ट करते है-

"भूल जा जोर जबर्दस्ती की रात/अंधेरे के हमले को भूल जा बाई
याद कर खेत और पानी का रिश्ता/सब कुछ सहते रहने के बाद भी
कितना दरद लेती हैं धरती/किस-किस हिस्से में कहाँ-कहाँ
तभी तो जनम लेती हैं फसलें/नहीं लेती तो सुख जाती सारी हरियाली
कोयला हो जाते जंगल/पत्थर हो आता कोख तक का पानी
याद मत कर अपने दुःखों को/आने को बेचैन हैं धरती पर जीव
आकाश पाताल में भी अट नहीं सकता/इतना है औरत जात का दुःख
धरती का सारा पानी भी/धो नहीं सकता/इतने है आँसुओं के सुखे धब्बे।" [10]

अतः उन्होंने स्त्री, पत्थर की बेंच, अंधेरा होने पर, रोती हुई औरत, बेटी, सतार आदि में स्त्री जीवन के विविध रूपों को रेखांकित किया है।

ज्ञानेंद्रपति की कविता 'भिनसार' संग्रह की 'लड़की' कविता में शहरी पूँजीपति के स्त्री शोषण का चित्रण है-

"नई घास की तरह मुलायम/यह जो तुम्हारा सीना है
वे इसे अपना तकिया बनान चाहते है/तमाम ऊँची इमारतें जिनकी हैं वे
तुम्हारी बनती गोलाइयों को /अपने मकानों की मुँडेरों की गोलाई में
सुर्खी की तरह मिला लेना चाहते है।" [11]

21 वीं सदी की हिंदी कविता में स्त्री-अस्मिता का स्वर अपने तेवर तथा तीव्र प्रतिरोध के साथ विद्यमान है। नीलेश रघुवंशी स्त्री मुक्ति को उसकी अस्मिता के प्रश्न से जोड़ती है-

"मिल जानी चाहिए अब मुक्ति स्त्रियों को.../आखिर कब तक विमर्श में रहेंगी मुक्ति
बननी चाहिए एक सड़क, चलें जिस पर सिर्फ स्त्रियाँ ही/मेले और हाट-बाजार भी अलग
किताबें अलग, अलग हों गाथाएँ/इतिहास तो पक्के तौर पर अलग
खिड़कियाँ हो अलग/झाँके कभी स्त्री तो दिखे सिर्फ स्त्री ही।" [12]

सुशीला टाकभौरे ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'विद्रोहणी' में दर्शाया है-

"विद्रोहणी बनकर चीखती हूँ/गूँजती है आवाज सब दिशाओं में
मुझे अनंत असीम दिगंत चाहिए/छत का खुला आसमान नहीं
आसमान की खुली छत चाहिए/मुझे अनंत आसमान चाहिए।" [13]

अनामिका के कविता संग्रह कवि ने कहा की पहली कविता स्त्रियाँ में पितृसत्तात्मक समाज में पल रहे स्त्री संबंधी पूर्वग्रहों पर प्रश्नचिंह लगा रही है। एक मानवीय इकाई के रूप में स्त्री लगभग आधी आबादी है। उनकी कविताओं के शीर्षक भी इतने सहज और संवेदी है, जैसे ब्लाऊज, सेफ्टी पिन, जूते, लेडिज़ संगीत, घुँघट के पट खोल रे, घुमंतू, टेलीफोन, खुरदुरी हथेलियां, चुटपूटिया बटन आदि।

अनामिका भी वर्जिनिया वुल्फ की पुस्तक A Room of One's own की तरह स्त्री की अस्मिता का सबसे बड़ा प्रश्न 'घर' को ढूंढ़ती है-

"जिनका कोई घर नहीं होता/जो छूट आने पर
औरत हो जाती है/कटे हुए नाखूनों,
कंघी में फँसकर बाहर आए केशों-सी/एकदम से बुहार दी जाने वाली सारे संदर्भों के पार
मुश्किल से उड़कर पहुंची हूँ,/ऐसी ही समझी-पढ़ी जाऊँ
जैसे! अधूरा अभंग।" [14]

अनामिका की अभिव्यक्ति शैली आम स्त्री जीवन की जीवंत दास्तान है-

"स्वामी जहाँ नहीं भी होते थे/होते थे उनके वहीं पंजे,
मुहर, तौलिए, डंडे/स्टैम्प पेपर, चप्पल जूते,
हिचकियाँ डकारें खर्राटे।" [15]

अनामिका जी ने स्त्री अस्मिता के प्रश्नों को मिथक, लोककथा एवं दंतकथा के माध्यम से एक पूरी स्त्री अस्मिता की प्रक्रिया के सवाल को क्रमबद्ध रूप से रेखांकित किया है-

"ईसा मसीह। औरत नहीं थे/वरना मासिक धर्म। ग्यारह बरस की उमर से
उनको ठिकाए ही रखता/देवालय के बाहर।" [16]

कात्यायनी ने 'कुछ जीवंत कुछ ज्वलंत नारी' नामक शीर्षक लेख में लिखा है-राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी के समर्थन के साथ-साथ पर्दा प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा आदि प्रश्नों पर

सुधारवादी दृष्टिकोण वाली कहानियाँ और उपन्यास बड़े पैमाने पर लिखे गये, लेकिन स्त्री ही स्वतंत्र अस्मिता और पुरूष वर्चस्ववादी सामाजिक संरचना एवं उससे जुड़े नैतिक मूल्यजगत, प्रश्नों की ऐसी साहसिक प्रस्तुति का यहाँ सर्वथा अभाव था। निर्मला पुतुल की प्रसिद्ध कविता इस संदर्भ में दृष्टव्य है-

"तन के भूगोल से परे/एक स्त्री के
मन की गाँठे खोल कर/कभी पढ़ा है तुमने
अगर नहीं!/तो फिर जानते क्या हो तुम
रसोई और बिस्तर के गणित से परे/एक स्त्री के बारे में।" [18]

यहाँ निर्मला पुतुल अपनी जमीन तलाशती बेचैन स्त्री की भावनाओं को शब्दबद्ध करती है। पुरूष प्रधान समाज में स्त्रियों के लिए समान दर्जे की बात करना, बहुत ही कठिन कार्य है। तब ही तो अपनी प्रसिद्ध कविता बराबरी का दर्जा में कवयित्री कहती है-

"उसे जिद है स्त्रियों को मैं बराबर का दर्जा दूँ/यानी ठीक अपनी तरह समझूँ
यह कितना मुश्किल है/ऐसा में कैसे भर पाऊँगा
मुझमें जो ढेर सी दया है उनके लिए
करूणा है अगाध/उसका क्या होगा?" [19]

निर्मला पुतुल स्त्रियों को अपनी एक नई पहचान दिलवाना चाहती है इसलिए तो वे लिखती है-

"स्त्रियों को इतिहास में जगह नहीं मिली/इसलिए हम स्त्रियाँ लिखेंगी
अपना इतिहास/हमारा इतिहास उन/इतिहास की तरह नहीं होगा
जिस तरह लिखे जाते रहे हैं/अब तक इतिहास
हम जून से लिखेंगे अपना इतिहास/हम समय की छाती पर पाँव रखकर
चढ़ेंगे इतिहास की सीढ़ियाँ/और बुलंदियों पर पहुंचकर
फहराएँगे अपने नाम का झंडा/कुछ इस तरह/हम स्त्रियाँ दर्ज कराएँगी
इतिहास में अपना इतिहास।" [20]

स्त्री के सशक्त रूप को अभिव्यक्त करने के लिए स्त्री भाषा ने भी एक अनूठा कार्य किया है। जिस तरह समाज बदला है या बदल रहा है : उसी तरह स्त्री भी बदल रही है और उसकी भाषा भी बदल रही है। भाषा में बदलाव प्राकृतिक से ज्यादा सामाजिक संदर्भो से आता है। हमारा आसपास, तमाम राजनैतिक और सामाजिक संदर्भ या कहें कि आंदोलन स्त्री हो या पुरुष उसकी भाषा की शैली को और सोच को प्रभावित करते हैं। (पत्रिका गवेषणा, स्त्री की भाषा (महादेवी के संदर्भ में, पृ-81) स्त्री भाषा ने अपना एक भिन्न अनुभव संसार रचा है जिसको समाज अब स्वीकार रहा है। अतः इक्कीसवीं सदी में स्त्री कविता की भाषा ही नहीं बल्कि उस संपूर्ण परिवेश को यथार्थ रूप में चित्रित करने वाला परिवेश भी कई रूपों में अभिव्यंजित हुआ है।

अतः भक्त मीरा, महादेवी वर्मा, समकालीन कवयित्रियाँ या फिर आज की इक्कीसवीं सदी का स्त्री अस्मिता लेखन, वास्तव में स्त्री देह के संस्कारित रूप से मुक्ति चाहता है। जब राजेन्द्र यादव जैसे प्रसिद्ध आलोचक स्त्री के संदर्भ में कहते है कि स्त्री, देह की स्वतंत्रता चाहती है, फक होना चाहती है-स्त्री। तात्पर्य की उसकी देह ने ही उस पर पितृसत्तात्मक नियम, कानून, संहिताएँ लादी है और इसलिए वह इस देह को सब कुछ मान लिये जाने के स्थान पर एक मनुष्य रूप में देखें जाने की वकालत करती है। ऐसा कई वर्षो से हो रहा है और इसी प्रक्रिया को साकार बनाते बनाते उसने पितृसत्ता को भी प्रदत्त धारणाओं से भिन्न प्रवृत्तियों सकारात्मक परिवर्तनों को समय-समय पर स्वीकार करने के लिए बाध्य किया है। यह क्रम निरंतर गतिशील है और रहेंगा। इसी कामना के साथ...स्त्री को मानवी बनाने की ओर साहित्य और अन्य कलाओं को अग्रसर होना होगा।

संदर्भ :-

1.(सीमोन –द-बोउवार, अनुवादक, प्रभा खेतान, स्त्री : उपेक्षिता, आवरण पृष्ठ, हिंदी पॉकेट बुक्स प्राइवेट लि. दिल्ली, 1998, प्रथम संस्करण)
2.अर्चना वर्मा, राजेंद्र यादव (सं), औरत उत्तर कथा, पृ-143
3.परमानंद श्रीवास्तव, कविता का उत्तर जीवन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ-174)
4.परमानंद श्रीवास्तव, कविता का उत्तर जीवन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ-174)
5.राजेश जोशी, चाँद की वर्तनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2006, पृ-33)
6.देवेंद्र मिश्रा शर्मा, पृ-238
7.कवि ने कहा-औरतें, उदय प्रकाश, पृ-98
8.कवि ने कहा, लीलाधर, मंडलोई-पृ-74
9.पहाड़ पर लालटेन-मंगलेश डबराल, पृ-21
10.कवि ने कहा : चंद्रकांत देवताले, पृ-54
11.भिनसार, ज्ञानेंद्रपति, पृ-68
12.नीलेश रघुवंशी, पानी का स्वाद, स्त्री-विमर्श, किताब घर प्रकाशन, 2004, पृ-46
13.बेघर सपने-पृ-75
14.कवि ने कहा-अनामिका, पृ-11-12
15.कवि ने कहा-अनामिका, पृ-18
16.कवि ने कहा-अनामिका, पृ-7
17.कवि ने कहा-अनामिका, पृ-7
18.निर्मला पुतुल, नगाडे की तरह बजते शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, 2012, पृ-35
19.बेघर सपने-निर्मला पुतुल-आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा, पृ-104
20.स्त्री चितन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, इलाहाबाद, पटना, पहला संस्करण-2006

नारी अस्मिता के विविध आयाम-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

-डॉ.नीरजा शर्मा
बौद्ध अध्ययन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली

"प्रजार्थ महाभागाः पूजास्थल ग्रहदीपप्तयः।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्तकश्चन।।"[1]- "बृहद संहिता।

स्त्री पुरुष की शरीरार्दध् और अर्धांगिनी मानी गई है तथा श्री और लक्ष्मी के रूप में वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्ति एवं पुंजित करने वाली होती है ।"यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता "[2]को यथार्थ करता भारतीय समाज सदैव से ही स्त्रियों को पूजनीय मानता है। हिंदू समाज में नारी का सम्मान और आदर प्राचीन काल से आदर्शात्मक और मर्यादा युक्त था। उसकी अवस्था पुरुषों के समान थी। वह अपना मनोकूल आत्मविश्वास और उत्थान कर सकती थी। कन्या के रूप में, पत्नी के रूप में ,मां के रूप में ,बहन के रूप में समाज में उनके प्रति स्वाभाविक निष्ठा और श्रद्धा रही है। बहन, बेटी, पत्नी, मां के रूप में नारी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण एवं गौरवशाली रहा है। भारतीय धर्म शास्त्र में नारी सर्वशक्ति संपन्ना मानी गई है तथा वह विद्या यश सौभाग्य का प्रतीक मानी जाती थी। यद्यपि समय के साथ-साथ स्त्री की स्थिति में भी परिवर्तन होते रहे। वैदिक युग में स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व रहा है वह बिना किसी प्रतिबंध के सामाजिक गतिविधियों में सम्मिलित होती थी। शिक्षा ,ज्ञान ,यज्ञ ,रणक्षेत्र सभी में वह निर्विरोध स्वछतापूर्वक ना केवल सम्मिलित होती रहती वरन सम्मानित एवं आदर प्राप्त करती थी।लोपामुद्रा ,विश्ववारा ,सीखता घोषा,सुलभा ,गार्गी ,मैत्री आदि विदुषियो ने अपनी मेधा ,अद्भुत प्रतिभा, विलक्षणता तर्कशक्ति,सूक्ष्म ज्ञान से सम्मान प्राप्त किया था।[3] कालांतर में नारी को वह सम्मान ना मिल सका जो कि वैदिक काल में था। उसकी स्थिति दिन प्रति दिन खराब होती चली गई ।वह नारी शक्ति, जो शक्ति का प्रतीक थी वह अबला कही जाने लगी। विदुषी शब्द तो लगभग खो ही गया था। वह असहाय ,आश्रित दोयम दर्जे की मानी जाने लगी। संभवतः कहीं ना कहीं स्वयं स्त्री ही इसके लिए दोषी थी।

स्त्रियों की दशा किसी भी देश की संस्कृति एवं सभ्यता का मानदंड मानी जाती है। डॉ. वात्स्यायन के शब्दों में स्त्रियों और पुरुषों की सापेक्ष स्थिति किसी भी देश अथवा सभ्यता का मानदंड होती हैं। डॉ अन्तःकरण के कथनानुसार नारी के प्रति सम्मान की मात्रा को समाज की सभ्यता का एक मानदंड माना जाता था।डा रामजी उपाध्याय ने लिखा है कि किसी भी राष्ट्रीय समाज के अभ्युदय के लिए स्त्री और पुरुष दोनों के कृतित्व का समान ही महत्व है। निसंदेह वैदिक आर्यो के बीच नारी की स्थिति इतनी ऊंची थी कि बीसवीं शती में संसार का अधिक से अधिक सशक्त राष्ट्र भी नहीं कह सकता कि उसने नारी को कितना ऊंचा स्थान प्रदान किया है। भारतीय साहित्य में सीता माता से लेकर राजगणिका एवं वेश्या तक क्रमशः उदात्त या अधम चरित्र प्रायश मिलती है। धर्म ग्रंथों में नारी को पुरुष के समान ही स्थान दिया है परंतु कालांतर में अपने को श्रेष्ठ साबित करने के लिए पुरुषों ने धर्म ग्रंथों की व्याख्या को अपनी सुविधानुसार कर दी। महाकवि मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा काव्य में लिखा भी है

"नरकृत सारे शास्त्र बंध हैं नारी को ही लेकर।

अपने लिए सारी सुविधाएं पहले ही कर बैठे हैं नर"।।[4]

वैदिक काल में नारियों की स्थिति उच्चतम स्तर पर थी, परंतु उत्तर वैदिक काल तक आते-आते उसने पराभव होना शुरू हो गया।

प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति

प्राचीन काल में समाज में स्त्रियों को अत्यंत गौरवशाली स्थान प्राप्त था। गृहणी, स्त्री, माता, सहचरी के रूप में वह परिवार से जुड़ी रहती थी। गृहणी के रूप में वह परिवार के सभी सदस्यों का ध्यान रखती थी। संतान का पालन पोषण कर उसे योग्य बनाना उनका दायित्व था। यद्यपि वैदिक काल के पश्चात समाज में स्त्रियों की स्थिति क्षीण हुई थी तथापि यज्ञ अनुष्ठान तथा सामाजिक समारोहों में उनकी अनिवार्यता थी। शिक्षा के क्षेत्र में ब्रह्मचारिणी स्त्रियां भी थी। अनेक स्त्रियां शिक्षिका बन कर जीवन व्यतीत करती थी जो पूर्ण निष्ठा के साथ अपना शिक्षण कार्य करती थी ।ऐसी उपाध्याया कहलाती थी।[5] जो छात्राओं को पढ़ाती थी स्त्री ना केवल शिक्षा वरन ललित कला, नृत्य कला, चित्रकला, सूत काटना, वस्त्र सिलना, गाय दुहना आदि कला में प्रवीण थी। प्राचीन काल में अनेक ऐसी प्रज्ञा संपन्न नारियाँ हुई जिन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचना शैली और काव्य कला से साहित्यिक योगदान किया।[6] मंडन मिश्रऔर शंकराचार्य के मध्य हुए शास्त्रार्थ की निर्णयायिका मंडल मिश्र की पत्नी थी ,जो अपने तर्क में मीमांसा, वेदांत और साहित्य में पूर्णतः निपुण एवं दक्ष थीं।[7]रघुवंश में लिखा है गृहिणी ,सचिव मिथ प्रिय शिष्य ललित कलाविदे।स्त्रियाँ शासन व्यवस्था और राज्य के प्रबंधएवं प्रशासन में भी दक्ष थीं एवं प्रशासन का संचालन भी करती थी। भाष्यकार विज्ञानेश्वर ने छह प्रकार के स्त्रीधन बताते हुए कहा हैं-

पितृ मातृ पति भ्रात दत्रमध्यान्युपागतम।

आधिवेदनिकाद्धज्ज स्त्रीधनं परिकीर्तितं।।[8]

अर्थात पिता, माता ,पति द्वारा दिया हुआ अग्नि की सानिध्य में विवाह के समय कन्यादान के साथ प्राप्त तथा अधिवेदन के निमित्त मिला हुआ धन। विवाह होने के पश्चात स्नेही पूर्वक सास-ससुर आदि से अनेकानेक प्रथाओं में जो धन प्राप्त होता था वह स्त्री धन की श्रेणी में आता था। प्राचीन काल में स्त्रीधन के उदाहरणों से नारी की सामाजिक और आर्थिक दशा का भी ज्ञान होता है साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि विपत्ति काल में अथवा दुर्दिन में कम से कम वह अपना जीवन यापन कर सकती थी। पति या पिता की मृत्यु के पश्चात स्त्री को किसी भी किसी पर भी आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं होती थी।

गणिकाओ के अतिरिक्त राजनर्तकी होती थी जिनका समाज में स्थान अत्यंत उच्च था। भगवान बुद्ध ने भी प्रसिद्ध गणिका आम्रपाली का निमंत्रण एवं आतिथ्य स्वीकार किया था ।[12] लिच्छवियों ने आम्बपाली से कहा सौ हजार काषार्पण लेकर यह भोजन हमें कराने दो ।आम्बपाली ने उत्तर दिया आर्य पुत्रों यदि वैशाली जनपद भी दे दो तभी इस महान भोजन को मैं ना दूंगी।[13] कालांतर में इन्हें नर्तकी रूपजीवा वैश्या देवदासी नामों से जाने जाने जाने लगा। जो मंदिर की सेवा से संबंध कार्य करती थी उन्हें देवदासी कहा जाता था। देव मंदिरों का निर्माण पूजा-अर्चना तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए हुआ था ना कि कामवासना और भौतिक सुख हेतु परंतु कालांतर में देव मंदिर

कामोद्दीन के केंद्र बनते गए तथा उनकी दीवारों पर कामकला के विभिन्न चित्र और आकृतियां उकेरी गई। प्राचीन काल में पर्दा प्रथा का भी कोई प्रचलन नहीं था। 14स्त्रियां स्वतंत्रता पूर्वक कहीं भी जा सकती थीं। सह शिक्षा का व्यवहार स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से उन्मुक्त वातावरण प्रदान करता था ।ऋग्वेद में लिखा है -

सुममंगलरियं वधूरिमा समेत पश्यत ।सौभाग्यमस्यै दस्वायाथास्वित परतेन।।[15]

नवविवाहिता साम्राज्ञी बनकर जाती थी ।विद्वतसभाओं एवं उत्सवों मेलों में स्वतंत्रता पूर्वक भाग लेती थी। नारी के प्रति समाज का व्यवहार कठोर होता चला गया उन्हें हीन एवं निम्न भावना से देखा जाने लगा। अनेकों प्रथाएं जैसे बाल विवाह, पर्दा प्रथा,वेश्यावृत्ति ,विधवा दुर्दशा, तलाक ,दहेज आदि के कारण स्त्री का जीवन अत्यंत संघर्षमय हो गया।

मध्य काल में नारी की स्थिति

मध्य काल में नारी की स्थिति में सर्वाधिक गिरावट आई।[16] मुसलमानों के आगमन के पश्चात सामाजिक राजनीतिक धार्मिक दायरा अत्यंत सीमित हो गया। मुसलमानों की कुदृष्टि के कारण नारी अशिक्षित रही उसे पर्दा करना पड़ा जिसके कारण वह पिछड़ गई। कुल की शुद्धता नारी के सतीत्व की रक्षा और हिंदू धर्म की रक्षा के नाम पर नारी को ऐसे सामाजिक धार्मिक बंधनों में जकड़ दिया गया था कि वह पुरुष की छाया मात्र होकर रह गई और उसका स्वतंत्र अस्तित्व लुप्त हो गया।मुस्लिम आक्रांताओं एवं मुस्लिम शासकों के कारण नारी की स्थिति बद से बदतर होती चली गई। वेश्यावृत्ति पर्दा प्रथा ,सती प्रथा आदि नारियों से जुड़ी विषमताएं समाज में कोढ की भांति लगी हुई थीं।ज्ञानमार्गी कवियों ने विलासिनी ,कामिनी एवं कुलटा नारियों की कड़े शब्दों में आलोचना की है ।कबीर दास के शब्दों में

अन्न न भावे नींद ना आवै गृह बन धरै न धीर रे।

कामिन को बालम प्यारो जो प्यासे को नीर ।।[17]

आधुनिक युग में स्त्री की स्थिति

आधुनिक युग में स्त्री की स्थिति में धीरे-धीरे उन्नति आने शुरु हुई। उसने उन्हें राजनीतिक, व्यावसायिक, वैज्ञानिक, शिक्षा ,कला और खेलकूद के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया। वह नारी जिसे घर की चारदीवारी में मुसलमानों के डर के कारण बंद कर दिया गया था आज वह पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर कार्य कर रही है। यद्यपि हमारा समाज आधुनिकता की होड़ में लगा हुआ है परंतु उसकी मानसिकता रूढ़ियों के पीछे जकड़ी हुई है। दहेज प्रथा, भ्रूण हत्या, बाल विवाह और न जाने कितनी ऐसी प्रथाएं हैं जिसमें असंख्य नारियों की भेंट चढ़ गई। नारी की आधुनिकता एवं स्वच्छता का कदापि अभिप्राय यह नहीं कि वह हमारी संस्कृति एवं संस्कारों से खिलवाड़ करें। स्त्री का जीवन मर्यादित एवं सम्मानित होना चाहिए। संस्कृति के विकास में प्राचीन काल से अपना बहुमूल्य योगदान देती है आवश्यकता है उसे समझने की जिस घर में नारी का अपमान में शोषण होता है वह घर कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। वर्तमान समय में स्त्रियों की स्थिति में काफी बदलाव आए हैं लेकिन फिर भी अनेक स्थानों पर पुरुष प्रधान मानसिकता से पीड़ित हो रहा है इस संदर्भ में युग निर्माता स्वामी विवेकानंद जी का कथन उल्लेखनीय है किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम मापक है वहां की महिलाओं की स्थिति।हमें नारियों को ऐसी स्थिति में पहुंचा देना चाहिए जहां वह अपनी समस्याओं को अपने ढंग से सुलझा सके। हमें नारी शक्ति का उदाहरण नहीं बनना चाहिए। भारतीयों की अपनी समस्याओं को सुलझाने की क्षमता रखती है। आवश्यकता है कि इसी आधार पर भारत के उज्जवल भविष्य की संभावनाएं हैं।

संदर्भ

1.बृहद संहिता 7-5,5

2.मनुस्मृति पंडित रामेश्वर भट्ट अध्याय तीन श्लोक 56 निर्णय सागर प्रेस मुंबई 1922 पृष्ठ संख्या 51।

3.मिश्र जयशंकर प्रसाद प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी ,पटना ,2013 पृष्ठ 365।

4.यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त

5. जातक संख्या 301 संपादक फाउल्स बोल अट्ठारह सौ 77093 कैंब्रिज हिंदी अनुवाद भदंत आनंद कौसल्यायन मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 2012

6.कर्पूर मंजरी राजशेखर कोलकाता 1948

7.अग्रवाल वासुदेव शरण पाणिनि कालीन भारत मोतीलाल बनारसीदास बनारस 1926

8. मिताक्षरा याज्ञवल्क्य स्मृति संपादक जीआर घरपुरे मुंबई 1926 बनारस

9.मिश्र जयशंकर प्रसाद प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी ,पटना ,2013 पृष्ठ 365।

10.महावग्ग दीर्घ निकाय अनुवादक भिक्षु राहुल सांकृत्यायन जगदीश कश्यप भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद लखनऊ 1979 पृष्ठ 128

11.महावग्ग दीर्घ निकाय अनुवादक भिक्षु राहुल सांकृत्यायन जगदीश कश्यप भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद लखनऊ 1979 पृष्ठ 128

12.महावग्ग दीर्घ निकाय अनुवादक भिक्षु राहुल सांकृत्यायन जगदीश कश्यप भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद लखनऊ 1979 पृष्ठ 129

13.महावग्ग दीर्घ निकाय अनुवादक भिक्षु राहुल सांकृत्यायन जगदीश कश्यप भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद लखनऊ 1979 पृष्ठ 128

14.मिश्र जयशंकर प्रसाद प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी ,पटना ,2013 पृष्ठ 288।

15.ऋग्वेद ऋग्वेद सायन भाष्य सहित संपादक एस मैक्स मूलर अट्ठारह सौ 9092 5 भाग वैदिक संशोधन मंडल पुणे 1933 105

16.केएमएफ हिंदुस्तान के निवासियों का जीवन एवं उनकी परिस्थितियां पृष्ठ 174

17.कबीर दास कबीर से हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी ग्रंथ रत्नाकर मुंबई 1942 पृष्ठ संख्या 245

नारी अस्मिता और छिन्नमस्ता उपन्यास

-प्रोफेसर बेवले ए.जे.
शोध निर्देशक, हिंदी विभाग,
मोरेश्वर महाविद्यालय, भोकरदन, जि, जालना
मो 9422737968

प्रस्तावना :

स्त्री सृष्टि की धुरी है। उसके बिना सृष्टि - कर्म असंभव है। स्त्री मातृत्व की साकार मूर्ति है। वह प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ उपहार है। स्त्री को दैवीय गुणों से पुष्ट मानकर देवी के रूप में पूजा जाता है। मनुष्य संस्कृति के आदिम काल में स्त्री-पुरूष दोनों समान रूप से प्रत्येक कार्य में साझेदारी करते थे। 19 वीं सदी में विज्ञान की प्रगति, पूँजीवादी व्यवस्था का विकास, दो महायुद्ध के कारण स्त्री-पुरूष समानता का मुद्दा सामने आने लगा। शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध हो जाने के बाद तो स्त्री की विवेक शक्ति और स्वतंत्र रूप से विचार करने की शक्ति का विकास होने लगा। वह स्वतंत्रता, समता और बंधुता के मूल्यों के आधार पर खुद की ओर तथा अपने परिवेश की ओर देखने लगी। तब उसे इस बात का अहसास हुआ कि उसके साथ अब तक किस प्रकार का अमानवीय व्यवहार हुआ है, उसके सभी मानवाधिकार कैसे छीन लिए गए है। अपने छीन लिए गए मानवाधिकारों की वह माँग करने लगी। स्त्री-पुरूष एकता पर बहस करने लगी। अपनी स्वतंत्रता को, अस्मिता को प्राप्त करने हेतु वह पुरूषसत्ताक व्यवस्था को ललकारने लगी। स्त्री अस्मिता एवं विशर्म को हर व्यक्ति ने अपने-अपने ढंग से स्पष्ट करने की कोशिश की है।

अस्मिता विमर्श :

अस्मिता में अस्तित्व बोध की प्रधानता होती है, अर्थात व्यक्ति और समुदाय समाज में अपनी विशेष अस्मिता को बनाए रखना चाहते है। परिवेश के साथ अलगाव की भावना व्यक्ति में अस्मिता का प्रश्न उठाती है। अत: व्यक्ति समाज में रहते हुए अपनी इच्छानुरूप सुरक्षित एवं सम्मानित जीवन जीना चाहता है। हिंदी शब्दकोशों के अनुसार 'अस्मिता' का अर्थ आत्मश्लाघा, अहंकार, मोह, अपनी सत्ता का भाव, आपा इत्यादी है। 'अस्मिता' का सीधा संबंध पहचान है। इस पहचान के कई रूप हो सकते है। इसमें राष्ट्र, जाति, नाम, क्षेत्र, धर्म, वंश, लिंग, वर्ग, व्यवसाय आदि शामिल होते हैं। यानी अस्मिता व्यक्तिगत भी हो सकती है और सामूहिक भी। हिंदी के प्रसिद्ध साहित्यिक राजेंद्र यादव 'अस्मिता' के बारे में कहते हैं - "अस्मिता जितनी मेरी है, उतनी ही मेरे परिवेश और परंपरा की भी। उसमें वर्ग, वर्ण, क्षेत्र, धर्म, लिंग, परंपराएँ सभी कुछ घुसे और घुले-मिले हुए हैं।"[1] वे अस्मिता को एक मानसिक संरचना के रूप में व्यास्थित करते हुए कहते हैं - "अस्मिता अपनी निजी पहचान के साथ-साथ उस क्षेत्र और समाज के पहचान की भी है जो हमारे संदर्भ तय करते हैं। ये संदर्भ जाति, रंग, वर्ण, नस्ल, क्षेत्र, भाषा, जेंडर, पेशे इत्यादी के रूप में हमारे अंतरंग के हिस्से हैं।"[2] अस्मिता बोध की तभी आवश्यकता पडती है, जब हमारी पहचान पर खतरा हो। तात्पर्य यह कि अगर किसी व्यक्ति या समुदाय के जाति, धर्म, कुल, वंश, राष्ट्र, भाषा, लिंग आदि पहचानों को मिटाने या हीन साबित करने की कोशिश की जाती है तो वह अमुक व्यक्ति या समुदाय इन पहचानों को बचाने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा आंदोलन, साहित्य विचारधारा, कला, इतिहास-लेखन आदि अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। अस्मिता के इस स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए अभय कुमार दुबे लिखते हैं - "यह एक ऐसा दायरा है जिसके तहत व्यक्ति और समुदाय यह बताते हैं कि वे खुद को क्या समझते हैं।"[3] अस्मिता प्राप्ति के संघर्ष की शुरूआत व्यक्तिगत या सामुदायिक तौर पर अपने वंचित, पीडित और प्रताडित होने के अहसास से ही होती है। इसमें अपनी पहचान प्राप्त करना ही सबसे बड़ा उद्देश्य हो जाता है।

अधिकारों से वंचित यह समाज के द्वारा किए गए अन्याय और सदियों से होते आ रहे शोषण के खिलाफ खडा हो जाता है। अस्मिता प्राप्ति के लिए किए गए संघर्ष या प्रयास व्यक्ति ओर समुदाय को जागरूक बनाते हैं और यह जागरूकता उन्हें दिशाहीन होने से बचाती है। अस्मिता प्राप्ति के संघर्ष की शुरूआत अपने वंचित, पीडित और प्रताडित होने के अहसास से शुरू हो जाती है, जिससे अपनी पहचान को प्राप्त करना सबसे बडा उद्देश हो जाता है। अधिकारों से वंचित वह समाज के द्वारा किए अन्याय और सदियों से होते आ रहे शोषण के खिलाफ खड़ा हो जाता है।

हम यह कह सकते हैं कि व्यक्तिगत या सामुदायिक अस्मिता के बोध को जाग्रत करने के लिए किया गया विमर्श ही 'अस्मिता' विशर्म है। अस्मिता जब संकट में होती है तभी विशर्म भी स्थिति उत्पन्न् होती है। उपेक्षित वर्ग को अपनी पहचान को बनाए रखने और अपने दमित-वंचित होने के अनुभव से ऊपर उठने के लिए विमर्श की आवश्यकता पडती है। इस विमर्श के द्वारा ही अपनी पहचान स्थापित करने के लिए किए गए विमर्शों को समन्वित रूप से अस्मिता-विमर्श या अस्मितामूलक विमर्श की संज्ञा दी जाती है। प्रसिद्ध कवयित्री अनामिका अस्मिता-विशर्म के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखती हैं -"ये ही तो मंशा है अस्मिता-विमर्श की जो कभी नहीं बोले, वे बोलें, अपना दु:ख-दर्द कहें ताकि उन अंधों की आँख और बहरों के कान जिनके बारे में बाइबिल में बहुत पले ही लिखा गया है - "Seeing that don't see hearing they don't hear"[4] अर्थात अस्मिता-विमर्श का उद्देश्य उपेक्षित वर्गों की पीडा, दु:ख, उत्पीडन, शोषन इत्यादी से समाज की मुख्यधारा का परिचय करवाना और उन्हें उनका वाजिब हक तथा समाज की

मुख्यधारा में पहचान दिलाना है। अस्मितामूलक विशर्म एक तरफ समाज की मुख्यधारा को उपेक्षित वर्गो को एक सामूहिक अस्मिता के सूत्र में बांधने का कार्य भी करते हैं। यह एक तरह की पहचान या अस्मिता वालों को एकजुट कर, उन्हें संगठित होकर अपने हक के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा भी देता है। इस तरह अस्मिता-विमर्श उन वंचितों को उनकी पहचान दिलवाने का वह आंदोलन है जो इस उपेक्षित वर्ग की समाज की मुख्यधारा के लोगों के साथ चलने के लिए सक्षम बनाएगा। अस्मिता-विमर्श वंचितों को उनके उभरते अस्तित्व का अहसास करवाएगा सत्ता और प्रशासन को भी उसके कर्तव्य की याद दिलाएगा ताकि समाज में प्रत्येक व्यक्ति बिना भेदभाव के उन्नति कर सकेगा।

स्त्री अस्मिता-विमर्श :

स्त्री अस्मिता का प्रश्न वर्तमान चिंतन का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है। जिसने हाशिये पर धकेल दी गयी स्त्री को उठाकर केंद्र में स्थापित कर दिया है। स्त्री अस्मिता का यह प्रश्न स्त्री को अस्मिता और उसके जीवन की महत्वपूर्ण समस्याओं पर टिका है जो परिवार, समाज, धर्म, राजनीति, राष्ट्र, संस्कृति, अर्थव्यवस्था आदि के संपूर्ण परिसीमाओं के पुनर्निर्धारन की मांग करता है। परिसीमाओं का यह निर्धारण स्त्री की अस्मिता का विकास माना जा रहा है। जो उसकी अपनी सामाजिक-राजनीतिक सच्चाइयों से गुजरे बिना संभव नहीं है। बीसवीं सदी के अंत में स्त्री अस्मिता का मुद्दा अपने चरम पर दिखाई देता है। स्त्री को आधी आबादी की संज्ञा दे दिये जाने के बावजूद भी उसके अधिकार वास्तव में उसकी समानता को छू नहीं पाये हैं। स्त्री की अस्मिता और उसके मानवीय अधिकार समाज में उसे मनुष्य की अवधारणा के रूप में स्थापित करते हैं। लेकिन समाज में रूढ समस्याओं एवं स्त्री को दोयम दर्जे की स्थिति के कारण स्त्री आज भी मनुष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। स्त्रीयों ने कभी कुप्रथाओं और रूढिओं से मुक्ति के लिए संघर्ष किया है। तो कभी राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में सहभागी की भूमिका भी निभाई है। स्त्रीयों का अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी पितृसत्ताक व्यवसथा है। पितृसत्ता अगर स्त्रियों को पुरूशों के अधीन रखने के लिए तमाम तरह के बंधनों में जकड देने का नाम है तो स्त्री अस्मिता उन बंधनों से मुक्त होने के लिए विद्रोह करने और स्त्री-पुरूष की समानता के लिए संघर्ष करने का नाम है। स्त्री आज तक समाज में बेटी, बहन और माँ के रूप में ही पहचानी जाती रही है। लेकिन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्त्री इन बंधनों से मुक्त होकर स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में अपनी पहचान कायम रखना चाहती है। यही से प्रारंभ होती है स्त्री की अस्मिता की तलाश व स्त्री अस्मिता का विमर्श है।

छिन्नमस्ता और नारी अस्मिता :

'छिन्नमस्ता' प्रभा खेतान का महत्वपूर्ण नारी केंद्रीत उपन्यास है। इस उपन्यास का कथन नारी के बनते-बिघडते रिश्तों की टकराहटों की दास्तान है। यह उपन्यास भारतीय रूढिग्रस्त समाज की सच्ची तस्वीर है। उच्चवर्गीय, मध्यवर्गीय नारी की अस्मिता को बचाए रखने का लेखिकाने प्रयास किया है। इसमें नारी शोषण का चित्रण है। 'छिन्नमस्ता' शब्द से ही स्पष्ट होता है 'कटा हुआ सिर'। यह उपन्यास सन 1993 में प्रकाशित हुआ। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास की 'प्रिया' में इन पचास वर्षो में नारी में जो परिवर्तन आया वह देखे जा सकते हैं। उपन्यास की प्रिया एक उपेक्षित डरपोक लडकी से सुप्रतिष्ठित व्यापारी और करोडों में खेलनेवाली बन जाती है। अपने पति से तलाक, बच्चों से भी अलगाव और अपनी निजी पहचान की आकांशा किसी पुरूष, किसी पति की छाया से दूर। अत: नारी में स्वाभिमान, अहंकार, अधिकार, नर्णिय लेने की क्षमता पायी जाती है। छिन्नमस्ता में प्रभा खेतान ने प्रिया के माध्यम से समाज में जो स्त्रियों की जर्जर स्थिति है उसको बडे ही सशक्त रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। मारवाडी परिवार में बेटी का पैदा होना दुख का कारण समझा जाता है और वह दुख और भी अधिक हो जाता है जब पैदा होने वाली बेटी चौथे नंबर की हो। प्रिया के पैदा होने पर उसकी दादी कहती है - "आ पडी ऊपर से माया सांवर अभी तो दो ब्याह बाकी है या तीसरी और तैयार होगी। तेरे तो खर्चो कही खर्चो है।"[5] दाई माँ की निराशा भरी बातें यह बताती है कि समाज में स्त्री जो कि स्वयं माँ बेटी, बहु, पत्नी है वह ही बेटी के जन्म पर शोक मनाती है।

'छिन्नमस्ता' यह उपन्यास प्रिया नाम की ऐसी नारी का आत्मकथन है, जो समाज की जर्जर मान्यताओं और जीवन में महत्वपूर्ण माने जानेवाले पुरूषों की आदिम भूख से निरंतर शोषित होते रहने के बावजूद अपने आप में एक अनूठा व्यक्तित्व हे, मूक विद्रोह, और एकदम आदिम किस्म की जिजीविषा के साथ अस्मित्व बचाने रखने के ज्वलंत सवाल के लिए जीती ही नहीं बल्कि अपना एक स्वतंत्र मुकाम बनती है। परिस्थितियाँ उतारू है। अपने घात-प्रतिघातों के साथ उसे तोड देने पर वह भी जिद्दी है टूटती नहीं। बचपन से निरीह होकर जीती आयी प्रिया न जाने कितने आंतरिक संघर्षो को झेल कर उभरती है एक सफल औरत बनकर। पर फिर भी कहीं कहीं वह मसूस करती रही है कि मुझे बाहर निकाल दिया हैं, लेकिन फिर भी उसे पता है कि जीना है, काम करना है, अपनी अलग आइडेन्टीटी के लिये, स्वयं के विकास के लिए। प्रिया का स्व हमेशा से जागृत था, अब वह अनमेल विवाह की असहाय बेडियों से बाहर निकल कर इसे 'स्व' को बिना किसी सहारे के प्रति स्थापित करना चाहती भी और उसने किया।

उच्चवर्गीय मारवाडी परिवार में पाँचवी संतान के रूप में जन्मी प्रिया बचपन उपेक्षित, कुंठित एवं भय से आक्रांत है। नौ वर्ष की अल्पायु में ही उनके पिता का देहांत हो गया और उसका सारा बचपन माँ एवं पिता के प्रेम से वंचित रहा। बचपन से ही प्रिया के जीवन में यातनाओं का दौर सुरू हो गया। हर समय वह हर राह पर सताई जाने वाली प्रिया के शारीरिक शोषण की कहानी उसके परिवार से ही शुरू होती है। प्रिया अपने ही घर में अपने बडे भाई की वासना का शिकार होती है। भाई द्वारा अस्मत खोई बहन का वर्णन करने वाली प्रभा खेतान पहली लेखिका है। प्रभा खेतान कहती है - "सवाल उठता है कि स्त्री जब यौन उत्पीडन पर कुछ कहना चाहती है तो पुरूष व्यवस्था उसका विरोध क्यों करती है? व्यवस्था इतनी आंतरिक क्यों होती है।"6 वह भाई द्वारा किये गए अपराध के बारे में किसी से कुछ नहीं कहती

है क्योंकि दाई माँ उससे कहती है - "सुन बिटिया हमारा कहा मान और जिंदगी में ई सब बात किसी से न कहियों। आपन पति परमेसर से भी नहीं। ऊपर सब समय हमारा साथ रहो। ना बिटिया, हम तोहके छोडकर कहीं नहीं जाऊब।"[7] इस प्रकार प्रिया बचपन में माँ, भाई से प्रताडित और जवानी में प्रो. मुखर्जी को शरीर सौंपकर आत्मग्लानी का अनुभव करती है तो विवाह के बाद पति नरेंद्र से आहत होती है।

प्रिया की शादी करोडपति बाप के इकलौते बेटे नरेंद्र अग्रवाल से होती है। प्रिया अपने जीवन की घिसी-पिटी दिनचर्या से तंग आ जाती है। उसके स्वभाव में चिडचिडापन आ जाता है। प्रिया के लिए अपना स्वयं का व्यवसाय एक संयोग ही बन कर आता है। विदेश जाने का शौकिन नरेंद्र हैण्डीक्राफ्ट के निर्यात के बहाने प्रिया को एक्सपोर्ट का काम करने का एक स्वार्थी अवसर देता है। बस यही से प्रिया के बरसों के कुचले अस्तित्व को पंख लगते हैं। वह स्वयं को खपा डालती है, इस व्यवसाय की बारीकियाँ समझ लेती है और सफलता की उडान उडने को तैयार होती है कि नरेंद्र का अहम आडे आता है.... और वह प्रिया के पंख काटने पर उतारू होकर उससे कहता है - "मुझे पहले ही चिडिया के पंख काट डालने चाहिए थे। पर मैं तुम्हारी बातों में आ गया। तुम्हारे इस भोले चेहरे के पिछे एक मक्कार औरत का चेहरा है।"[8] इस प्रकार नरेंद्र प्रिया के व्यवसाय का विरोध करता है और व्यवसाय को लेकर दोनों के दाम्पत्य जीवन में तनाव निर्माण होता है।

एक बार प्रिया व्यापार के सिलसिले में लंदन जाना था। तब नरेंद्र उसे जाने से मना करता है। नरेंद्र चाहता है कि प्रिया सब काम के लिए बाहर जाती है और अपना काम वह नहीं छोड सकती। अंत में नरेंद्र उसे साफ-साफ कह देता है कि तुम्हें परिवार या व्यवसाय दोनों में से किसी एक को चुनना होगा तो प्रिया व्यवसाय को महत्व देती है। तब नरेंद्र कहता है कि मैं सीरियस हूँ। फिर कहता हूँ यदि आज तुम लंदन गई तो मेरे घर में तुम्हारी जगह नहीं। यह भी साली कोई जिंदगी है, जब देखों तब बिजनेस और यह कहते हुए प्रिया को आगे कहता है कि फिर सुन लो यहाँ मत आना, आओगी तो मैं धक्के देकर बाहर निकलवा दूँगा। फिर भी प्रिया लौटकर आती है क्योंकि उसे अपना घर-संसार बचाये रखना था, किन्तु नरेंद्र किसी भी हालत में उसे घर में नहीं रहने देना चाहता। प्रिया परंपरागत नारी के दर्द को समझती है। अपने पति नरेंद्र को दो टूक जवाब देते हुए वह कती है - "ईमानदारी, वफादारी, प्यार, समर्पण ये शब्द भ्रमजाल हैं। औरत को यह सब इसलिए सिखाए जाते हैं कि इन शब्दों के चक्रव्यूह से कभी नहीं निकल पाए ताकि युगों से चली आ रही आहुति की परंपरा को वह कायम रख सके।"[9] प्रिया दूसरी नारीयों की तरह हाथ पर हाथ रखे बैठे रहना नहीं चाहती। वह आत्मनिर्भर नारी है इसलिए प्रिया अपना अलग ऑफिस और घर बना लेती है। मीना व्यवस्था में उसका साथ देती है। प्रिया अपने पति के घर से कुछ भी नहीं लाती, सबकुछ छोडकर आती है। प्रिया की दूसरी सास तिलोत्तमा जिसे प्रिया छोटी माँ कहती है। उसके साथ अपनी फैक्ट्री स्थापित करती है। छोटी माँ और नीना के साथ प्रिया खुश है, वह अपने काम में पूर्णता महसूस करती है। यहाँ पर प्रिया के माध्यम से नारी अस्मिता स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। परिवार के शोषण से शोषित प्रिया आत्मनिर्भर होकर स्त्री के संकल्प एवं जीवन की अनुठी मिसाल बनती है। लेखिका प्रिया के द्वारा हर नारी को यह संदेश देना चाहती है कि नारी सशक्तिकरण के लिए स्त्री का आर्थिक आत्मनिर्भर होना बहुत आवश्यक है। प्रिया का संघर्ष हर नारी का आत्मसंघर्ष है। अपनों के बीच सभी चुनौतियों का सामना करते हुए साहसी नारी के रूप में प्रिया का चरित्र हमारे सामने प्रखर हो उठता है।

उपसंहार :

छिन्नमस्ता इस उपन्यास में नारी अस्मिता के विविध आयाम, नारी जीवन का तनाव, कुंठा, दांपत्य जीवन की विषगतियों, संघर्ष, आक्रोश, अपनों द्वारा आहत जीवन, नारी जीवन की यातनाएँ आदि का यथार्थ चित्रण किया है। इस उपन्यास में प्रिया अपने बचपन से लेकर विवाह होने तक शोषण की अधिकारी रही है। बचपन में भाई, द्वारा, महाविद्यालय में प्रो. मुखर्जी द्वारा, विवाह के उपरांत पति द्वारा शोषित होती रही। कई संदर्भों में प्रिया अत्याचार शोषण का विरोध भी करती हुई नजर आती है। यह विद्रोह एक या दो साल में घटी घटनाओं का परिणाम नहीं, अपितु बचपन से लेकर वैवाहिक जीवन तक घटी घटनाओं की यह प्रक्रिया है, जो प्रिया को सभी बंधनों को नकारकर अपने आप को मुक्त करके अपने अलग व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए प्रोत्साहित करता है। आज स्त्री शिक्षित एवं स्वावलंबी बन रही है। समाज में अपनी अस्मिता की पहचान बना रही है। वह हर क्षेत्र में अपना एक स्थान कायम कर रही है। प्रभा खेतान की प्रिया की कहानी नारी अस्मिता, आत्मबोध की कहानी है। स्त्री के जीवन राह में आनेवाले हर चुनौतियों के संघर्ष करते हुए अपने लिए नई राह को प्रशस्त करने वाली प्रिया है। इस उपन्यास में प्रभाजी ने स्त्री को कई रूपों में अत्याचार, अन्याय के विरूद्ध संघर्ष करते हुए परिलक्षित कर अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व की पहचान हेतू पुरूष प्रधान समाज से संघर्ष करने की हिम्मत एवं सोच प्रदान करता है।

संदर्भ :

1) हंस - जून 2009, पृ. 09
2) हंस - जून 2009, पृ. 09
3) भारत का भूमंडलीकरण - अभय कुमार दुबे, पृ. 455
4) हंस - जून 2009, पृ. 56
5) छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ. 26
6) छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ. 28
7) छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ. 39
8) छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ. 11
9) छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ. 12

स्त्री लेखन का नया प्रतिमानः स्त्री भाषा

-डॉ.यमुना प्रसाद रतूडी
असिस्टेण्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग ,
ब.ला.जु. राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पुरोला ,
उत्तरकाशी (उत्तराखण्ड)

गत चार-पांच दशकों से हिंदी साहित्य के अंतर्गत जिस अस्मितामूलक विचारधारा ने अपनी विशेष पहचान बनाई है उसमें 'स्त्री विमर्श' महत्वपूर्ण है। स्त्री-मुक्ति की आकांक्षा को केंद्र में रखकर चलने वाले इस विमर्श में सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, पारिवारिक, आर्थिक, दैहिक, यौनिक आदि न जाने कितने ही पायदानों पर स्त्री की अस्मिता, स्वाभिमान तथा उसकी स्वीकार्यता के अनेक प्रश्नों से जूझने का प्रयास किया गया है।

हिंदी साहित्य में बीसवीं शताब्दी के सातवें - आठवें दशक से ही स्त्री विमर्श अपना अस्तित्व बनाने लगा था।1 अपने प्रारंभिक चरण में यह विमर्श पश्चिमी दर्शन एवं सिद्धांतों की छाया में स्वयं को प्रस्तुत करता रहा। किंतु शीघ्र ही इस यथार्थ को स्वीकार किया गया कि भारतीय परिवेश और संस्कृति में जीवन व्यतीत करने वाली भारतीय स्त्री की , उसके स्वप्नों और स्वाभिमान के सच्ची परख और तलाश के लिए पश्चिम के उपादानों का प्रयोग लगभग व्यर्थ है। बीते दो दशकों से हिंदी स्त्री लेखन ने एक नए सशक्त प्रतिमान के साथ अपनी बात रखनी प्रारंभ की है। वह प्रतिमान है - 'स्त्रीभाषा'। स्त्रीवाद जिस भाषा पर सवाल खड़ा करता है वह वास्तव में भाषा में अंतर्निहित सामाजिक शक्ति संबंध को कटघरे में खड़ा करता है। यह सामाजिक शक्ति संबंध ही इस भाषा को जन्म देता है उसमें प्रश्रय पाता है और उसी के माध्यम से आगे प्रसारित होता रहता है।

हिंदी के स्त्री विमर्श को पश्चिम में 'फेमिनिज्म' कहा गया है। फेमिनिज्म अर्थात पश्चिमी नारीवाद में स्त्री अपनी मुक्ति के लिए वर्तमान से विद्रोह या प्रतिवाद करती है। जबकि भारतीय स्त्री विमर्श में नारी सैकड़ों - हजारों वर्षों से परंपराओं की उस कारा को तोड़ने के लिए विद्रोह करती है जिसने पुरुषों के वर्चस्व को जन्म दिया और उत्तरोत्तर उनका पालन पोषण भी किया। पुरुष सत्ता या पितृसत्तात्मकता के दबाव की पड़ताल करते हुए स्त्रीवादी लेखन भाषा पर भी गंभीर सवाल खड़े करता है। प्रश्न सीधा है की पुरुषवादी सोच ने एक ऐसी भाषा की निर्मिति जिसमें स्त्री और उसके व्यक्तित्व को प्रायः अनदेखा किया गया है। अन्य शब्दों में कहा जाए तो भाषा में एक तरह की वर्ण व्यवस्था दिखलाई पड़ती है जिसमें स्त्री के साथ अन्त्यज का सा व्यवहार किया जाता रहा है। इस दृष्टि से भाषा पर सवाल खड़े करना वास्तव में भाषा में अंतर्निहित सामाजिक शक्ति संबंध को कटघरे में रखना है। भाषा के भीतर जन्म लेने वाले इस सामाजिक शक्ति संबंध तथा उसके विस्तार और विकास की जड़ों की तलाश करना स्त्री लेखन के वर्तमान दौर की केंद्रवर्ती धुरी और मुख्य आवश्यकता बनी हुई है। इसीलिए शोध पत्र के प्रारंभ में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि पश्चिम नारीवाद 'फेमिनिज्म' की अपेक्षा भारतीय स्त्री लेखन परंपरा दर परंपरा पुष्ट होती चली गई इसी पुरुषवादी सोच और विचारधारा का प्रतिकार करती है। जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भाषा के भीतर कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में अंतर्निहित है।

पश्चिम में फेमिनिज्म अनेक आंदोलनों के माध्यमों से अपनी यात्रा करता हुआ प्रदर्शित होता है। उदार नारीवादी आंदोलन, उग्र नारीवादी आंदोलन, वामपंथी नारीवादी आंदोलन, उत्तर आधुनिक नारीवादी आंदोलन आदि के माध्यम से पितृसत्तात्मक व्यवस्था, उसके दबाव तथा शोषण की पड़ताल करने का भरसक प्रयत्न किया गया है। इस पड़ताल अथवा विश्लेषण में कहीं अतिवादी तो कहीं उदारवादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। किंतु इतना स्पष्ट कहा जा सकता है कि पुरुष के नकार तथा यौन उच्छृंखलता के आरोप से यह आंदोलन सर्वथा मुक्त नहीं रह पाए हैं।

वहीं दूसरी ओर भारतीय संदर्भ में स्त्री मुक्ति विचारधारा उन रुढ़िगत तथा मृत परंपराओं का विरोध करती है जो स्त्रियों को पुरुषों के अधीनस्थ के रूप में प्रस्तुत करता रहा है। इस संदर्भ में आशारानी ब्होरा कहती हैं कि," पश्चिम में स्त्रियों ने लगभग एक सदी की लंबी अवधि तक अपनी मुक्ति की लड़ाई पुरुषों से मुक्ति के रूप में उनके विरुद्ध खड़ी होकर अपमान झेलकर कर लड़ी। भारत में यह लड़ाई विदेशी दासता व प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध एक साथ लड़ी गई, जिसमें स्त्री-पुरुष प्रतिद्वंदी नहीं सहयोगी थे।"[2]

सन 1949 ईस्वी में 'द सेकंड सेक्स ' जैसी कृति लिखने वाली सिमोन द बोउवार पितृसत्तात्मक समाज की बनी बनाई संरचना पर गहरी चोट करती हैं। उनका प्रसिद्ध कथन है कि "स्त्री पैदा नहीं होती उसे बना दिया जाता है।"[3] सैकड़ों वर्षो से हाशिए पर परिगणित की जाने वाली स्त्री जिसे सिर्फ एक वस्तु की तरह देखा जाता था, इस कथन ने मानो उसकी अस्मिता पर होने वाली बहस को एक वैचारिक आधार प्रदान कर दिया हो। एक स्त्री को स्त्री बनाए जाने के पीछे उन सभी शक्तियों जिनका धर्म, जाति, वर्ण-व्यवस्था तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं के निर्माण में पूर्ण प्रभुत्व अथवा वर्चस्व है, उनकी भूमिका, कुटिलता, प्रक्रिया, चेष्टा एवं अहमवादी सोच को परत दर परत खोलने के संधान में स्त्री-लेखन एक लंबी यात्रा कर चुका है।

यहां 'स्त्री भाषा' पदबंध की मूल संकल्पना को भी समझ लेना आवश्यक है। भाषा संप्रेषण का ही आधार नहीं वरन समाज और संस्कृति की पहचान का भी माध्यम है अर्थात समाज में रहने वाले मनुष्य के जीवन व्यवहार , इच्छा - अनिच्छा , आशा - आकांक्षा आदि के अभिव्यक्ति का सशक्त रूप है। प्रश्न यह है कि क्या यह स्त्री अभिव्यक्ति का भी उतना ही सशक्त रूप है अथवा नहीं ? भाषा का स्त्रीवादी विमर्श इस प्रश्न के वैचारिक धरातल से अपनी बात रखना प्रारंभ करता है कि क्या भाषा में स्त्रियों के जीवन अनुभव को उतनी प्रखरता से प्रस्तुत

किया जा सकता है जितना कि पुरुष के ? स्त्री भाषा का विश्लेषण परंपरागत और प्रचलित भाषा के अध्ययन से ही किया जा सकता है। प्रचलित भाषा के अध्ययन और विश्लेषण से पता चलता है कि इसमें पुरुष की अपेक्षा स्त्री का संसार संकुचित रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्त्री - जीवन से जुड़े शब्दों में एक प्रकार का पूर्वाग्रह है जिसके अंतर्गत स्त्री - अभिव्यक्ति के सभी भाषिक रूप पुरुष की अपेक्षा हीनतर अर्थ व्यक्त करते हैं। कहा जा सकता है कि स्त्री भाषा सैद्धांतिक अथवा वैचारिक आधार पर भाषा के अन्तर्गत लैंगिक विभाजन को स्वीकार करते हुए अनुपस्थित स्त्री की तलाश करता है। इस तलाश में स्त्री को अनुपस्थित बनाने वाले सभी कारकों की गहनता से पड़ताल करते हुए उसके समूल नाश के लिए भी प्रतिबद्ध है। इसके उपरांत भाषा के भीतर स्त्री की अनुपस्थिति उससे संबंधित हीन अभिव्यक्ति आदि के विभिन्न रूपों को परीक्षण करना भी अनिवार्य हो जाता है।

भाषा वैज्ञानिक भाषा को यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की व्यवस्था मानते हैं। साथ ही यह भी कि भाषा एक सामाजिक निर्मिति है। तब यह देखना आवश्यक हो जाता है कि भाषा में समाज के उस वर्ग के शब्द भी हैं जिसमें स्त्रियां भी रहती हैं। शब्दों के बहुतायात में पुरुषों के समकक्ष स्त्रियों और उनकी अभिव्यक्तियों के शब्द संख्या की दृष्टि से समता प्राप्त करते हैं अथवा नहीं ? यदि ऐसी स्थिति नहीं है तो भाषा में यादृच्छिकता की पुनः पड़ताल आवश्यक हो जाती है। यह एक सत्य है कि पुरुषों से संबंधित शब्द भाषा में अधिक हैं।[4] प्रयोग और खोज से जुड़े हुए सभी वाचक शब्द पुल्लिंग है।5

स्त्री भाषा के संदर्भ में दूसरा प्रमुख आधार है - शब्द का अर्थगत आधार। पुरुष केंद्रित भाषा में स्त्रियों से जुड़े हुए शब्द नकारात्मक भाव अथवा हीनतामूलक भाव बोध को ग्रहण किए हुए हैं। सत्ता और शक्ति का स्त्रीत्व के साथ वैरभाव भाषा जगत में साफ़तौर पर देखा जा सकता है। इसके विपरीत सत्ता और शक्ति का संबंध पुरुष से जोड़ा गया। स्त्री के लिए प्रयोग में लाया गया प्रत्येक शब्द किसी न किसी समय बुरे अर्थ को जरूर व्यक्त करता है रहा है अथवा अथवा अपमानित करने वाला ज़रूर होता है।6 यह भी पाया गया है कि स्त्रियों से जुड़े हुए अधिकांश शब्द कामुकता की अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। स्लैंग अर्थात गालियों की भाषा के शब्दों से स्पष्ट है कि न केवल भाषिक अपितु अर्थगत स्तर पर भी स्त्री की सामाजिक मान - मर्यादा, उसके गौरव, स्वाभिमान, प्रतिष्ठा और अस्मिता को सर्वदा ही पुरुष से हीन प्रदर्शित किया जाता रहा है। कुछ और शब्दों और पदबन्धों पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाना आवश्यक है जो उसके अस्तित्व को कामुकता की कोठी से बाहर नहीं निकलने देते-

1. रखैल (पुरुष के लिए सामाजिक अपकर्ष का इस प्रकार का कोई शब्द नहीं मिलता)

2.वह तो पेशेवर है/वह तो पेशेवर खिलाड़ी है। (यह वाक्य स्त्री की कामुक छवि के साथ-साथ उसे सेक्स वर्कर के रूप में प्रस्तुत करता है)

3.माल/चीज/आइटम/मस्त आदि न जाने कितने ही शब्द स्त्री के पुष्ट वक्षस्थलों की सुंदरता के साथ-साथ उसके शारीरिक परिमाण के लिए पुरुष वर्ग में हंसी मजाक तक में कहे सुने जाते हैं।

4.आवारा (पुरुष के लिए यह शब्द लापरवाही जैसे स्थूल निंदात्मक संदर्भ में प्रयोग किया जाता है जबकि स्त्री के लिए उसके पतित आचरण तथा चरित्रहीनता के लिए प्रदर्शित किया जाता है)

5. बाहरवाली (पुरुष के विवाहेत्तर संबंधों के प्रकरण के लिए)

6. श्रीमती/धर्मपत्नी (इस अर्थ में स्त्री किसी की संपत्ति है)

उपरोक्त कतिपय उदाहरणों से समझा जा सकता है कि पुरुष से संबंधित अभिव्यक्तियाँ भाषा का मानक रूप है। इससे भिन्न स्थितियाँ अधीनस्थ भाव रूप लिए हुए हैं। दर्शन के दो शब्दों 'आत्मा' और 'परमात्मा' पर ध्यान देने पर यह भाव स्वतःसिद्ध हो जाता है। परमात्मा (पुल्लिंग) की प्राप्ति ही आत्मा (स्त्रीलिंग) का अंतिम सत्य है। आत्मा का परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग से क्षणिक विचलन भी इसे सांसारिकता (मिथ्या) में उलझाकर रखने के लिए पर्याप्त है। अर्थात आत्मा के समस्त क्रियाकलाप परमात्मा केंद्रित होने चाहिए। जिस प्रकार एक से एक सेवक का कार्य व्यवहार उसके स्वामी के अनुरूप होता है। वास्तव में जब भाषा में अंतर्निहित समाज की बात की जाती है उसमें पुरुष और उसके वर्चस्व की एक बनी बनाई राजनीति दिखलाई पड़ती है। इसीलिए विद्वानों के निष्कर्षों में यह बात समक्ष आती है कि भाषा के नियम स्वाभाविक नहीं है वह बनाए गए हैं। भाषा के नियमों की मूल संकल्पना पुरुष केंद्रिक है।[7]

स्त्री भाषा पर विचार करते हुए प्रायः टैग प्रश्नों का उल्लेख किया जाता है। पुरुष भाषा को आदर्श रूप मानकर स्त्री भाषा को उसका अपभ्रंश अथवा साधारण रूप माना जाता रहा है। कहा जाता रहा है कि प्रायः बातचीत के अवसरों पर स्त्रियों की हिचकिचाहट, संकोची तथा अस्थिर प्रकृति उसे पुरुषों की भाषा की अपेक्षा हीन सिद्ध करती है। जो स्त्री की सामाजिक स्वीकार्यता को भी बाधित करते हैं। हिचकिचाहट और संकोच की इस प्रवृत्ति का परिणाम है - टैग प्रश्न। टैग प्रश्न वे प्रश्न हैं जो किसी वक्ता के द्वारा कहे गए वक्तव्य अथवा कथन के उपरांत कहे या बोले जाते हैं। यह प्रश्न संभवतः भ्रम अथवा संदेह को दूर करने के लिए किए जाते हैं। स्त्रीवादी रचनाकारों तथा चिंतकों ने इसे खारिज करते हुए कहा है कि स्त्री की अपेक्षा पुरुष टैग प्रश्नों का अधिक प्रयोग करते हैं।[8]

स्त्रियों की बहुत अधिक बोलने की प्रवृत्ति भी पुरुषों की चुटीली बहस और व्यंग्य का आधार बनती है। लेकिन अक्सर ही हम अपने आसपास देख सकते हैं कि पुरुषों के समूहों में प्रायः स्त्रियों को बोलने के कम ही अवसर प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं स्त्रियों के समूह में जहां पुरुषों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है वहां भी पुरुषवादी मनोवृत्ति अपने अनुकूल वातावरण तैयार कर बातचीत का मुद्दा तैयार कर लिए जाने की भरसक कोशिश करती है।

स्त्रियों को केवल बोलने से ही चुप नहीं करवाया जाता बल्कि उनके अस्तित्व को सायास अनुपस्थित करने का सामाजिक प्रपंच भी अनवरत कालखंड से चलता रहा है। भाषा के भीतर श्रीमती, धर्मपत्नी आदि शब्द स्त्री को किसी की गृहीता अथवा विवाहित होने की सूचना देते हैं। किंतु विवाह के उपरांत उससे उसका मायके पक्ष का 'सरनेम' छीन लिया जाता है। स्त्रियों के बारे में जानकारियों का स्रोत विवाह के बाद गायब हो जाता है।[9] यह इतिहास से स्त्री को गायब करने का एक

उपयोगी तंत्र है।[10] पुरुष इस उपयोगी तंत्र का भरपूर लाभ उठाता है। विवाह के उपरांत संतति के रूप में लड़की की चाह और उसके न होने पर वंश के समाप्त हो जाने की विचारधारा वास्तव में इतिहास से स्त्री को अनुपस्थित बना देने की एक प्रक्रिया है। सिमोन द बोउवार विवाह तथा मातृत्व को एक भयानक कारा कहती हैं जिसकी जकड़बन्दी से मुक्ति प्राप्त करना स्त्री के लिए आसान नहीं है।[11] दैनिक जीवन व्यवहार में स्त्रियों को अनुपस्थित किए जाने के कतिपय उदाहरण निम्नवत हैं-

परिवार में- पिता (बेटी को) तू तो मेरा बेटा है।

सामाजिक व्यवहार में- सोहन और राकेश लंगोटिया यार (पुरुषवाचक) हैं।

नारों में- हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई

आपस में सब भाई भाई। (बहन नहीं?)

लोकोक्ति मुहावरों में-1. ज़र, जोरू और जमीन जोर की।

नहीं तो किसी और की। (स्त्री को ताकत से प्राप्त करने की मानसिकता का बोध कराने वाला कथन।)

2. औरतों के पेट में बात नहीं पचती। (निंदात्मक अर्थ में)

3. जनानी छुयांल ह्वंदी। (गढ़वाली कहावत)

यहां 'छुयांल' शब्द बातूनी (अधिक बोलने) तथा भेद प्रकट करा देनी दोनों के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि भाषा के भीतर स्त्री-अस्मिता और संदर्भों से जुड़ी शब्दावली पुरुष शब्दावली की अपेक्षा ही निंदात्मक अथवा नकारात्मक अर्थ को प्रस्तुत करने वाली है। भाषा विज्ञान से लेकर व्याकरण तथा समाजशास्त्रीय विश्लेषण से लेकर ऐतिहासिक अध्ययन तक भाषा पितृसत्तात्मकता की कारा से बंधी हुई है। उसी के अनुभवों को व्यक्त तथा साझा करती है। स्त्रीवादी विचारक भाषा पर इस पुरुषवादी जकड़बंदी का तीव्र प्रतिकार कर इसमें स्त्री अनुभव अभिव्यक्ति की संलग्नता के लिए उत्तरोत्तर प्रयासरत हैं। इस संदर्भ में डेल स्पेंडर कहती हैं कि भाषा के संदर्भ में स्त्रीवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत शोध की दिशा का पहला कदम यही होना चाहिए कि स्त्री भाषा को किसी भी संदेह की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए। यह भी कि भाषा के अंतर्गत लिंग भेद के न्यूनतम पचास प्रतिशत अंश को स्त्री दृष्टिकोण से व्याख्या के दृष्टिगत प्रस्तुत किया जाना चाहिए।[12] स्त्रीवादी विचारकों ने भाषा में पुरुष की श्रेष्ठता है के ब्याज से जिस ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है वह है भाषा में पूर्व उपस्थित लिंग बोध की सार्थक चर्चा। भाषा में पुरुष की श्रेष्ठता (जिसे स्त्रीवादी चिंतक 'मिथ' कहते हैं) के झूठे आवरण को हटाने के प्रयास लगातार देखे जा सकते हैं। इक्कीसवीं शती के प्रारंभ के दो दशकों में हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का उदाहरण इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' (सुमन राजे, सन् 2004 ई०) तथा 'हिंदी साहित्य का ओझल नारी का इतिहास' (नीरजा माधव, सन् 2013 ई०) इस दृष्टि को केंद्र में रखकर किए गए प्रयास हैं। उक्त इतिहासों में उस स्त्री की तलाश का प्रयास है जो भाषा और उसके सामाजिक व्याकरण के भीतर चतुराई से अनुपस्थित कर दी गई है। जहां उसके रूप और अस्तित्व को अनुपस्थित बनाया जाना संभव नहीं हो पाया, वहां उससे संबंधित अभिव्यक्तियों का विचलन हीन, निंदात्मक तथा कामुक अर्थ में किया जाने लगा। इस तरह के इतिहास लेखन के प्रयास भाषा में अंतर्निहित सामाजिकता की स्त्रीवादी दृष्टिकोण से नई व्याख्या प्रस्तुत करने में सफल सिद्ध हुए हैं। ये प्रयास स्त्री लेखन के मार्ग को निश्चय ही सफल बनाएंगे, ऐसी आशा की जा सकती है।

संदर्भ :

1. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, डॉ० बच्चन सिंह, वाणी प्रकाशन दिल्ली, पृ.- 141
2. भारतीय नारी : दशा - दिशा, आशारानी ब्होरा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1983 ई., पृ.-27
3. स्त्री उपेक्षिता - सीमोन द बोउवार , प्रस्तुति- प्रभा खेतान (हिन्दी अनुवाद), हिन्दी पाकेट बुक्स, नई दिल्ली
4. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, प्रो० सुधा सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, 2008 ई०, नई दिल्ली, पृ.- 73
5. वही, पृ.- 72
6. युद्ध, ग्लोबल संस्कृति और मीडिया, उत्तर आधुनिक भाषायी खेल, जगदीश्वर चतुर्वेदी, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर, पृ. - 237
7. ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, प्रो. सुधा सिंह, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, 2008 ई०, नई दिल्ली, पृ.- 104
8. वही, पृ.- 71
9. वही, पृ.- 74
10. वही, पृ. - 74
11. जर्मन पत्रकार एलिस श्वाइत्जर द्वारा सिमोन द बोउवार का लिया गया इंटरव्यू, https://m-hindi.webdunia.com/article/hindi-poet-interview/%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E2%80%8D%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A5%80-%E0%A4%AA%E0%A5%88%E0%A4%A6%E0%A4%BE-%E0%A4%A8%E0%A4%B9%E0%A5%80%E0%A4%82-%E0%A4%B9%E0%A5%8B%E0%A4%A4%E0%A5%80-%E0%A4%AC%E0%A4%A8%E0%A4%BE-%E0%A4%A6%E0%A5%80-%E0%A4%9C%E0%A4%BE%E0%A4%A4%E0%A5%80-%E0%A4%B9%E0%A5%88-107070400048_7.html
12. मैन मेड लैंग्वेज, डेल स्पेण्डर, रुटलेट एण्ड केगनपॉल, लंदन - बोस्टन - हेनली, 1980 ई0, पृ०- 36

'रेत' उपन्यास में चित्रित 'स्त्री'

-डॉ. शीतल गायकवाड
हिंदी विभाग (सहायक प्राध्यापक),
शिक्षण महर्षी बापूजी साळुंखे महाविद्यालय,
कराड

भारत देश में घुमंतू जनजातियाँ हर क्षेत्र में व्याप्त हैं। प्राचीन काल से यह अस्थिर एवं असुरक्षित हैं। परंपरागत समाज व्यवस्था एवं गाँव में इन्हे कहीं भी स्थान नहीं मिल पाया। कहीं शारीरिक कला कौशल दिखाकर, नृत्य कर, वन औषधियाँ बेचकर, छोटे-छोटे कामकाज कर, भीख मांगकर यह जनजाति अपना उदरनिर्वाह चलाती है। इनमें से कुछ जनजाति भूख से बेहाल होकर पेट के भूख की आग शांत करने के लिए मजबूरन, चोरी कर अपना पेट भरती हैं। लेकिन स्थिर समाज के लोगों ने उसे गुनहगार साबित किया है। इसलिए हमेशा हीन-दीन, तुच्छता की दृष्टि से इनकी ओर देखा जाता हैं। गाँव के बाहर अज्ञान, रुढी-परंपरा के कारण दैववाद एवं अंधश्रद्धा की शिकार यह जनजाति बन चुकी हैं। स्थिर समाज से मिली अवहेलना, अन्याय, अत्याचार, बलात्कार, छुआछूत आदि को झेलकर यह जनजातियाँ आज भी दिशाहीन भटक रही हैं।

घुमंतू को मराठी में 'भटका' या 'भटके' यह शब्द प्रचलित हैं। जिसका अर्थ हैं, जो हमेशा 'जो हमेशा भटकता है या घुमंतू जीवन यापन करता है।' उसके लिए अंग्रेजी में, 'नोमॅडिक ट्राइब' शब्द प्रचलित हैं। घुमंतू जनजातियों के अध्ययन कर्ता रामनाथ चव्हाण घुमंतू जनजाति की परिभाषा में कहते हैं की, "उपजीविका के लिए पीढी दर पीढी घुमंतू जीवन होने के कारण स्थिर समाज के लोगों से यह समाज अनेक सालों से वंचित रहा है। कहने के लिए अपना गाँव नहीं ऐसी उनकी अवस्था है।"[1]

हमारे देश मे आज घुमंतू, अर्ध-घुमंतू, विमुक्त जनजातियों में लगभग 840 जातियाँ है इसमे भारतीय समाज का सर्वाधिक उपेक्षित और पिछडा वर्ग है। इसमे कालबेलिये, नट, भांड, पारधी, बहुरुपिये, सपेरे, मदारी, कलंदर, बहेलिय, भवैया, बंजारे, गुज्जर, गाडिया लुहार, सिकलीगर, कुचबंदा, रेबारी, बेडिया, नायक, कंजर, सांसी, जैसी सेकडो जातियाँ आती है।

पहले इन जनजातियों को गुनहगार घोषित किया जाता था, लेकिन 1952 में यह गुनहगार कानून रद्द किया गया और 11 एप्रिल 1960 में भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं.जवाहरलाल नेहरू ने महाराष्ट्र के सोलापूर में सेटलमेंट कॉलनी के लोगों को 'विमुक्त' अर्थात 'विशेष रुप से मुक्त' कहकर संबोधित किया। तब से इन गुनहगार जनजातियो कों विमुक्त जनजाति कहॉ जाने लगा। लेकिन भारत स्वतंत्रता के 75 वर्ष बाद भी आज इन घुमंतू जनजातियों की स्थिति बहुत कुछ मात्रा में जैसी की वैसी ही दिखाई देती है, आज भी वह गाँव -गाँव भटकते फिरते नजर आते हैं इनके पास ना ही कोई रोजगार के साधन हैं या ना ही कोई अपनी जमीन। स्थिर समाज व्यवस्था और पुलिस आज भी इनकी ओर गुनहगार दृष्टि से ही देखती हैं। साहित्य की कुछ रचनाओं के माध्यम से जिस प्रकार सर्व प्रथम दलितों ने फुले, शाहू, आंबेडकर जैसे महामानवों की प्रेरणा से अपनी व्यथा-कथा को वाणी देने का प्रयास किया तो धीरे-धीरे उनकी स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। बिलकुल उसी प्रकार आज के समय में कुछ रचनाकार घुमंतू जनजातियों के संदर्भ में लेखनी चला रहे हैं और मानव के अधिकारों की पहचान अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे है। घुमंतू जनजातियों की विभिन्न दशाओं का चित्रण भारतीय साहित्य की विविध विधाओं, कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा आदि विभिन्न प्रकारों में मिलता हैं। हिंदी उपन्यास साहित्य में घुमंतू जनजातियों को लेकर उपन्यास लिखने की शुरुवात सर्व प्रथम रांगेय राघव के 'कब तक पुकारुँ' इस उपन्यास से मानी जाती है। इसके पश्चात मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी', शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष', शरद सिंह का 'पिछले पन्ने की औरते', रामनाथ शिवेंद्र का 'तीसरा रस्ता', भगवानदास मोरवाल का 'रेत' आदि उपन्यासों में भारत के विभिन्न प्रदेशो में विमुक्त आदिवासी जनजातियों की दुःख एवं पीडा को प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत आलेख में भगवानदास मोरवाल के 'रेत' उपन्यास में चित्रित कंजर समाज के स्त्री की विभिन्न समस्याओं को उजागर किया हैं।

भगवानदास मोरवाल का 'रेत' उपन्यास 2008 में राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित है। यह उपन्यास राजस्थान की घुमंतू 'कंजर' जनजाति पर लिखा गया है। कंजर अर्थात काननचर या जंगलों में घुमनेवाला। इनकी 'गाजूकी' नाम की बस्ती है। उपन्यास के केंद्र में है , कमला सदन, जो परिवार की मूखियाँ कमला बुआ के नाम पर रखा गया है। इसी सदन की एक सदस्य रुक्मिणी जो समस्त कंजर स्त्री पात्रों में केंद्र में रखा गया है। लेखक का मुल उद्देश भी उपन्यास की पात्र रुक्मिणी के माध्यम से उसके मनोभावो, उसकी सामुदायिक चेतना और एक समुदाय विशेष का सांस्कृतिक अख्ययन रचना है, इसलिए उपन्यास का सबसे सशक्त और बांधे रखनेवाला चरित्र रुक्मिणी एक तिरस्कृत स्त्री के व्यक्तिगत व सामुहिक प्रतिरोध और आत्मसंघर्ष से अपनी राह बनाती दिखाई देती है। लेकीन इन सबके बावजूद कंजर समुदाय की स्त्रियों के 'देह व्यापार'की कथा ही इस उपन्यास की केंद्रीय विषय वस्तू हैं। इस 'स्वैच्छिक देहव्यापार' के विविध पक्षों को लेखक ने अपने इस उपन्यास की कथा के भीतर बडी ही बारीकी और कलात्मकता के साथ उभरने की कोशिश की हैं।

इस समाज के बारे मे जब भी हम उपन्यास की नजरियेसे देखते हैं तो हमारा ध्यान सबसे पहले यहाँ की स्त्रियों पर जाता हैं। पहली 'भाभी', दूसरी 'बुआ', तिसरी 'खिलावडी' जिसे पुलीस की भाषा में 'रजिस्ट्री' कहा जाता हैं।

भाभी उस स्त्री को कहते हैं जिसका विवाह होता हैं। और वह किसी पुरुष की पत्नी बनकर उसके घर की जिम्मेदारियाँ सांभालती हैं। और बुवा उन स्त्रीयों को कहते हैं जो अपनी मर्जी से देहव्यापार के पेशे में उतरकर, इसकी आमदनी से अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करती हैं। इस बात को लेखक ने बार-बार रेखांकित किया हैं की कंजर समुदाय कि स्त्रियों की स्थितियाँ 'भाभीयों ' की तुलना में बुआओं के अधिक अनुकूल पडती हैं। जब परिवार की सबसे बुजूर्ग कमला बुआ, पिंकी (जो की अभी बच्ची ही हैं) सें यह पुछंती हैं की वह बडी होकर क्या बनेगी ? तो पिंकी कहती हैं की, वह 'बुआ' बनेगी। बुआ बनने के प्रति इस आकर्षण की वजह तब बिलकुल स्पष्ट हो जाती है जब वह कहती हैं की "बुआ रोज अच्छे अच्छे कपडे पहनती हैं। लेटकर टि.व्ही. देखती हैं और बुआ के पास जो अंकल आते हैं न ओ कितना रुपया देकर जाते हैं।"[2] इस प्रकार बचपन से ही बुआ के द्वारा लडकियों कों देह-व्यापार जैसे दृष्कृत्य करनें में आकर्षण उत्पन्न किया जाता हैं।

इस समाज में विवाह और दहेज के नियम कुछ अलग हैं। यहाँ पर वर पक्षवालों को निर्धारित दहेज की रक्कम कन्या पक्ष को देनी पडती हैं। लडकी वालों को नकद के रुप में दहेज मिलता हैं और लडके वालों को सुंदर बुआ पैदा करने के लिए एक साधन। कमला बुआ अपने भतीजे मंगल के लिए पत्नी लाने के साडे तीन लाख रुपये देने को तैयार हो जाती हैं तब वैद्यजी उससे इतने खर्च की वजह पुछते हैं, तब कमला बुआँ कहती है की, "असल बात यह हैं वैद्यजी की छोरी बहुत सुंदर हैं। कम से कम खिलावडी तो अपनी तरह जानेगी।"[3] संतो जब विवाह कर भाभी बन कर घर आती हैं कमला बुआ अपसोस जतातें हुए कहती हैं "क्या मिलता हैं ब्याह करके। जिन्दगीभर खसम और औलाद के साथ-साथ भाभी बन सास, ननंदो की चाकरी ही तो करनी पडती हैं, मरी बुआ बनी रहती तो उमरभर मजे करती... पता नही, इस मरी ने क्या सोचके भाभी बनने का फैंसला किया वरना बुआ बन के उमरभर राणी बनके रहतीं।"[4] लेकिन संतो को बुआ बनना अच्छा नही लगता इसलिए वह भाभी बनती हैं लेकीन फिर भी उसको एक अलग त्रास दी का सामना यहाँ करना पडता हैं। भारतीय समाज व्यवस्था का एक सर्वमान्य तथ्य यह भी हैं की, समाज के निचले, दबे-कुछले उपेक्षित समाज को हमेशा पुलीसयों उसके आतंक तथा शोषण का शिकार होना पडता हैं। शोषण के विविध रुपों का सामना कंजर समाज के लोगों को करना पडता हैं। थानेदार केसर सिंह कंजर स्त्रियों का यौन शौषण करता हैं वह किसीं बचनो नामक स्त्रिको दाटते हुऐ कहता हैं की " कल से तु रोज आना थाने आएगी और बिना नागा सुबह-शाम हजेरी देगी समजी। अगर तुने सही समय पर आकर हजेरी नही दी तो समज ले पुरे छह महिने सडेगी जेल में... उपर से 200 रुपयों का जुर्माना भरना पडेगा वह अलग।"[5] लेखक के अनुसार यह बात सभी कंजर स्त्रियों को मालुम हैं की अपने पुरुषों को हवालात सें छुडवाने के लिए जमानत के नाम पर उनको दरोगाओं के बगल में सोना पडेगा, लेकीन यह किसी को भी नही मालुम की उन्हे हवालात में डाला किस जुर्म में इस प्रकार कंजर और उनकी स्त्रियों कों पोलीस की उत्पीड़न का शिकार होना पडता हैं।

कंजर समुदाय की कुछ स्त्रियां रुक्मिणी और सोशल वर्कर सावित्री बहन के संपर्क में आकर अन्य काम-धंदे करने की कोशिश करती हैं। समय-समय पुनम, वंदना और पिंकी वह शहर ले जाकर उनको राजनिती में शामिल भी करती हैं वहाँ भी मुरली बाबू नाम का नेता सावित्री कें माध्यम सें रुक्मिणी को इच्छा कें विरुद्ध देहीक क्रिडा के लिए मजबुर करता हैं तब कामोन्मत मुरली से रुक्मिणी कहती हैं "बाबु सा, आपने मुझे आज कपट से बुलाया हैं आपकी नियत में खोट हैं। अगर आप मुझे रुक्मिणी खिलावड़ी की तरह बुलवाते, तो मैं खुद ही दौडी चली आती क्योंकी मेरा तो यह धंदा हैं.... और धंदा करने वाली के लिए मेहनत, मजुरी करने वाला भी ग्राहक हैं, आप जैसा इज्जत अब्रुवाला भी।"[6] अंत में रुक्मिणी इच्छा के विरुद्ध चल रही इस कपट जंग में हार नही मानती और मुरली के पेट में काच की बोटल तोडकर घुसेडकर उसे जखमी कर देती हैं। मुरली ही उसे राजनिती में ले आता हैं। राजनिती में आने के बाद रुक्मिणी को महसूस होता हैं की जिस जिंदगी को कंजरियां जी रही हैं वह वास्तविक नरकीय जिंदगी हैं। यदी इससे बाहर निकलना हैं तो देहव्यापार को त्यागकर कानून सम्मत मार्गो को अपनाते हुऐ अन्य व्यवसायों कुटिरोद्योग, लघुद्योग, दस्तकारी जैसे व्यवसायों को चुनना होंगा। रुक्मिणी सक्रीय राजनिती में हिस्सा लेती हैं। उसका तर्क है की यदी पिछडे व उपेक्षित कंजर समुदाय में तरक्की व परिवर्तन लाना है तो उसके लिए सत्ता बेहद जरुरी हैं। रुक्मिणी को 'राज्य युवा जनजाति महिला प्रकोष्ठ' की कमान सोपी जाती हैं।

इस प्रकार भारत की अनेक घुमंतू जनजातिओं में राजस्थान की कंजर इस जनजाति का और प्रमुख रुप से इस जनजाति के स्त्रियों की विभिन्न स्थितिओंका चित्रण मोरवाल जी ने 'रेत' इस उपन्यास में किया हैं। उपन्यास में प्रमुख रुप से, कमला, संतो और रुक्मिणी के अलग-अलग व्यक्तीत्व कों चित्रित किया गया हैं। कमला बुआ बनकर देहिक व्यापार कों महत्व देती हैं तो संतो विवाह कर 'भाभी' बनकर सबकी सेवा करती हैं तो रुक्मिणी देहिक व्यापार, अन्याय-अत्याचार और शोषण से ग्रस्त समाज को बाहर निकालना चाहती हैं। इसके लिए वह स्वयं राजनिती में आकर अपने समाज को कानुन के अधिकारों की पहचान और सभ्य समाज के स्त्रियों जैसा सन्मान अपने समाज के स्त्रियों को दिलाने के लिए प्रयास करती हैं। एक घुमंतू समुदाय की स्त्री होकर भी इस प्रकार का उसका कार्य सराहना के पात्र है। आज आवश्यकता हैं अन्य जनजातियों के स्त्रियों ने रुक्मिणी जैसे स्त्री का आदर्श लेने की।

संदर्भ :

1) चव्हाण रामनाथ-जाति आणि जमाती, मेहता पब्लिशिंग हाऊस, पुणे, तृ.सं. 2000, पृ.43

2) भगवानदास मोरवाल - रेत, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, पृ.2008, संस्करण 2013, पृ.12

3) वहीं, पृ.- 22

4) वहीं, पृ.- 226

5) वहीं, पृ.- 45

6) वहीं, पृ.- 235

कृष्णा अग्निहोत्री की 'और...और...औरत' आत्मकथा में नारी विमर्श

-राकेश वी.भील
सहायक अध्यापक,
श्री कृष्ण प्रणामी आर्ट्स कॉलेज,दाहोद
मो.9714275332

नारी विमर्श पुरूषों के समक्ष स्त्रियों की समानता का वह आंदोलन है, जिसे पहले 'नारीवाद' कहा जाता था। यह पितृसत्तात्मक और लिंगभेद आधारित मूल्यों और मान्यताओं के प्रति विद्रोह है। इसकी शुरूआत अमेरिका में ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य में हुई। नारी विमर्श की जड़ें 18वीं सदी के मानवतावाद और औद्योगिक क्रांति में थी।

भारत में नारी विमर्श अर्थात नारी आंदोलन का प्रारंभ पंडिता रमाभाई और सावित्रीबाई फुले द्वारा हुआ। पंडिता रमाबाई ने स्त्रियों के अधिकार के लिए हिंदू धर्म की रूढिवादिता पर आघात प्रहार किया। स्त्रियों की स्वतंत्रता के लिए आंदोलन धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया। सावित्रीबाई फूले ने स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में स्मरणीय कार्य किए और स्त्रियों के लिए एक अलग स्कूल खोला गया।

हमारे देश में हर जगह पुरूषसत्ता का साम्राज्य चल रहा था, तब स्त्रियों के प्रति हमारा व्यवहार गैर जवाबदारी पूर्ण भी रहा है क्योंकि अभी तक सामंती मानसिकता दूर नहीं हुई। पारिवारिक स्तर पर उनके साथ क्रूर व्यवहार होता है। इतना ही नहीं जो लोग मंचों पर नारी मुक्ति का प्रचार करते हैं, वही लोग अपने घरों में स्त्री के साथ बर्बरता के साथ पक्षपात पूर्ण व्यवहार करते हैं। "भारतीय समाज में हर कदम पर ऐसे तीखे विरोधाभास मौजूद हैं। जिनके कारण स्त्रियों के प्रति हमारा व्यवहार पक्षपातपूर्ण , हिंसक एवं उत्पीड़नकारी रहा है"[1] इसी वजह से भारत में 19वीं सदी के नवजागरण के दौरान नारी विमर्श उच्च और मध्यम वर्ग तक सीमित था। महात्मा फूले ने इसे बहुजन समाज तक पहुंचाया। आज भारत में नारीवाद स्त्री की असमानता का और पितृसत्ता का विरोध करता है।

हिंदी साहित्य में नारी विमर्श साहित्य और वैचारिक लेखन दोनों रूपों में मिलता है। साहित्य के अन्य प्रकारों की तरह आत्मकथा लेखन में भी इसे देखा जा सकता है। महिला आत्मकथाओं में नारी विमर्श का सशक्त चित्रण मिलता है। पितृसत्तात्मक समाज, विवाह की असंगतियां, पति द्वारा शोषण, आत्मनिर्भरता तथा आत्मविकास में बाधक तत्वों से संघर्ष के रूप में यह विमर्श मिलता है। इस संदर्भ में वीणा आलासे का मत है कि, "स्त्री मुक्ति यह शब्द इधर नया है लेकिन यह एक पुख्ता आंदोलन के रूप में खड़ा रहने से पहले स्त्रियाँ तो थी ही। उनमें से कुछ एक प्रतिकूल परिस्थिति में नए युग की आहट सुनी थी। अपनी पद्धति से संघर्ष जारी रखा था लेकिन यह धारा सुप्त थी, यह सुप्तधारा यानी स्त्रियों की आत्मकथाएं।"[2]

हिंदी लेखिकाओं ने अब तक कथा साहित्य के माध्यम से नारी विमर्श को प्रस्तुत किया। लेकिन प्रत्यक्ष उनके जीवन में उन्होंने इन समस्याओं का मुकाबला किया है इससे उनकी आत्मकथाओं में देखना महत्व है। हिंदी लेखिकाओं में से कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'और...और...औरत' दूसरे खंड में नारी विमर्श का व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया है। लेखिका ने अपनी पहली आत्मकथा 'लगता नहीं दिल मेरा' पहला खण्ड है जिसमें भी उन्होंने नारी विमर्श की चर्चा का उल्लेख देखने को मिलता है। 'और...और...औरत' आत्मकथा में लेखिका को नारी होने की बड़ी सजा भुगतनी पड़ी है। विवाह के बाद पति उनके साथ दासी जैसा व्यवहार करता है। वह शराब पीकर उसे गलियाँ देता है। मारपीट करता है। लेखिका पति के ऐसे दुर्व्यवहार के कारण अलग रहने का निर्णय करती है। तब भी उसे समाज और परिवार से प्रताड़ना सहनी पड़ती है। वह कहती है कि "कितना कठिन है एक स्त्री का पूरा जीवन बिना मर्द व प्याररहित जीवन जीना एवं आज भी ऊंची उड़ान के बावजूद स्त्री अस्मिता को समाज ने अपनी मुठ्ठी में कैद कर रखा है। अपने को बहुत सुलझे समझदार हैं एवं स्वयं को आधुनिक कहनेवाले पुरूषों ने भी बिना चढ़ावे के किसी स्त्री की सहायता शायद ही की है। मुझसे तो बड़े पुजारी ही टकराए जो या तो मौन रहे या उनके हाथ बंधे रहे"[3] वह यह महसूस करती है अकेली जीने वाली स्त्री की समाज प्रशंसा नहीं करता। लेखिका अपने जीवन में आनेवाले सभी परिचितों और सदस्यों से स्नेह करती है। औरों को सुख पहुंचाना वह अपना धर्म मानती है। कई बार उन्हें औरों से अच्छे व्यवहार देखने को मिलता है। इस संदर्भ में भी लिखती हैं- "हो सकता है मेरे दु:खों का कारण मेरे स्वयं की आदर्शवादी सोच ही हो जिसे कुछ लोग आत्मप्रशंसा कहेंगे या इसे नाटकीय भी कहा जाए, पर यह औरत जानती है कि आज भी वह स्वयं बंजर बन दूसरों को उपजाऊ रहने की प्रेरणा देती है। भीतर से सिसकती यह औरत रोज तड़पती है और पुन: जीवन की लड़ाई में उतरती है।"[4]

लेखिका यह देखती है कि जीवन में अकेली रहने वाली स्त्री की समाज प्रशंसा नहीं करता, उसकी निंदा ही करना, नारी का सहयोग करना, वर्तमान में भी नारी का अस्तित्व उलझा हुआ है और उसका शोषण किया जाता है। समाज में नारी की होने वाली उपेक्षा का वह हर वक्त खुलकर विरोध करती है और नारी शोषण की निंदा करती है।

आधुनिक काल में भी लेखिका को अत्यंत शोषित समाज से गुजरना पड़ता है और कई सारे दुख सहन करना पड़ता है, इसी शोषित वर्ग, उपभोक्तावादी व्यक्तियों के सामने वह नारी अस्मिता, नारी रक्षा की बातें, नारी आंदोलन का आह्वान करती है। लेखिका अपने ही पति के द्वारा कई बार मारपीट करना, शराब पीना, दासी जैसा व्यवहार करना आदि समस्याओं से जूझती है। इसी वजह से वह अपनी पति के द्वारा शोषण किए जाने का विरोध करती है और उससे अलग हो जाती है। लेखिका समाज और परिवार के ढोंगी रिवाजों का खुलकर विरोध करती है। जो नारी का सम्मान नहीं करता, उसे केवल देह विक्र, दासी समझते हैं उनके संदर्भ में लेखिका लिखती है-" अकेले रहना या स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्माण करना स्त्री

का अपराध तो नहीं जो उसे मात्र यौन संतुष्टि का कारण ही क्यों समझा जाए। लोग ऐसा क्यों सोचते हैं कि अकेली है और मदद मांग रही है तो यौन संतुष्टि ही चाहती है।"[5]

समाज में नारी को केवल देह व्यापार का साधन समझते हैं यदि कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार की सहायता करता है तो वह नारी से यौन संबंध का आग्रह रखता है। लेखिका ऐसे निम्न विचार रखने वाले समाज के पूंजी पतियों, मौका परस्ती वाले व्यक्तियों को लताड़ती है, उस पर क्रोधित होती है ऐसे व्यक्तियों के प्रति आक्रोश उत्पन्न कर विरोध करने का प्रयास देखने को मिलता है। 'और...और...औरत' आत्मकथा में लेखिका ने पति के अलावा अन्य व्यक्तियों के द्वारा भी जिस तरह शोषण किया जाता था। जिसमें वह बताती है नौकरी के दौरान पिता के मित्र ने गंदी नजर से देखने का प्रयास और उनकी ओर खींचने का दुस्साहस प्रयास किया, नौकरी करते समज क्लर्क के माध्यम से परेशान करना, प्रमोशन इन्क्रीमेंट नहीं देना, अपनी पुस्तकों को छपने वाले प्रकाशन उसे रॉयल्टी ना देकर आर्थिक शोषण करना। पति श्रीकांत उसकी रचनाएं अपने नाम पर छापना आदि व्यक्तियों द्वारा किसी न किसी मोड़ पर शोषण किया जाता था।

लेखिका ने अपने जीवन में कई सारी समस्याओं का सामना किया है कि समाज में अकेली रहने वाली स्त्री को स्वतंत्र रूप से जीने नहीं दिया जाता है उसे किसी तरह का कष्ट देने का प्रयास किया जाता है लेखिका ऐसे समाजवादी पुरूषसत्ता को उनकी औकात बताने के लिए हिम्मत जुटाकर ऐसे व्यक्तियों का विरोध करती है और शोषण के विरूद्ध आवाज उठाने के लिए हिम्मत से आगे बढ़ने का प्रयास किया है। अपने व्यक्तित्व, अपनी स्वतंत्र समाज में सभी प्रकार के सम्मान देना, परिवार में बेटी का दर्जा देना, उसे बेटे की तरह रखना आदि विचारों को भी अपनी इस आत्मकथा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। नारी को पुरूषसत्ता का सम्मान में सभी हक देने के लिए लेखिका ने इस आत्मकथा में आवाज उठाई है।

निष्कर्षत: लेखिका ने अपनी आत्मकथा के माध्यम से नारी पर होने वाले अत्याचार, यौन शोषण, आर्थिक शोषण, पारिवारिक शोषण, पुरूषसत्ता समाज के द्वारा किया है। लेखिका ने अपनी आत्मकथा में नारी के शोषण की एवं शोषण के परिणाम स्वरूप नारी की मन:स्थिति का सूक्ष्मता से वर्णन किया है। साथ ही दृढ़ता से शोषण करने वाले पक्ष का विरोध भी किया है। स्त्रियों को भी पुरूष के समान जीने और स्वतंत्र रूप से अपने जीवन में किसी भी शोषण के विरूद्ध आवाज उठाने की शक्ति और उसका डटकर सामना करने, आगे बढ़ने की प्रेरणा देने का प्रयास किया है। कुल मिलाकर आत्मकथा में लेखिका का नारी के लिए समाज में समान अधिकार की मांग करना ही मुख्य उद्देश्य कहा जा सकता है।

संदर्भ :

1. डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र, हिंदी लेखिकाओं की आत्मकथाएं, पृष्ठ - 26
2. वीणा आलासे, तीन आत्मकथा, प्रास्ताविक
3. कृष्णा अग्निहोत्री, 'और...और....औरत', पृष्ठ-21
4. वही-पृष्ठ-25
5. वही- पृष्ठ- 49

स्त्री विमर्श के दायरे में 'बारबाला' का अनुशीलन

-डॉ.मीना सुतवणी
एस.जी.कला,विज्ञान व जी.पी.वाणिज्य महाविद्यालय,
शिवले, मुरबाड़, जि. ठाणे

प्रस्तावना- नारी होने के नाते चल रहे उत्पीड़न के खिलाफ जागृत नारी अस्मिता को लेखिकाओं द्वारा साहित्य के माध्यम से प्रकाशित करना स्त्री-विमर्श के दायरे में आता है। पुरुष प्रधान संस्कृति के संस्कारों से ग्रस्त वर्तमान व्यवस्था में नारी औरों के भरोसे रहने की मानसिकता में नहीं है। अत: वह अपनी आवाज को स्वयं बुलंद करना चाहती है। समाज से मनुष्य के रूप में व्यवहार पाने के लिए वह लालायित है। नारी शोषण के कई रूप विशेषकर लैंगिक शोषण के कई घृणास्पद तथ्य आज सामने आ रहे हैं। लिंग वर्चस्व की भावना इसमें अपनी अहम भूमिका निभाती है। 'बारबाला' आत्मकथा इन तथ्यों को बेबाकी से प्रस्तुत कर वर्तमान समाज को बेनकाब करती है। नारी-अस्मिता के प्रतिमान स्थापित करती है। रचना के शीर्षक से ही जाहीर है कि आत्मकथा बार इंडस्ट्री से संबन्धित महिला की है, जो उस क्षेत्र में कार्यरत प्रत्येक नारी का प्रतिनिधित्त्व करती है। बार इंडस्ट्री में बारबालाओं का कोई संगठन न होने से उनके शोषण की कोई परिसीमा नहीं रही हैं। 2005 में महाराष्ट्र में बार में होनेवाले डान्स पर पाबंदी लगाने से बारबालाओं पर गाज ही गिरी थी। इससे बार मालिक मामूली अंशों में प्रभावित हुए, पर यहाँ काम करनेवाली 35% स्त्रियाँ पूर्णत: बेरोजगार हो गयी थी। फिर यह पाबंदी उनके शोषण के खिलाफ नहीं थी। इस पाबंदी के बाद बारबालाओं ने 'पिक-अप-प्वाइंट', 'फ्री बार साइलेंस सर्विस' आदि स्थानों का सहारा लिया। अवैध कारोबार अबाध गति से चलने लगा, बल्कि भ्रष्ट व्यवस्था के कारण तेजी में आ गया। इससे बारबालाओं की यतनाओं में वृद्धि ही हुई। प्रस्तुत आत्मकथा की केंद्रीय पात्र लेखिका वैशाली हलदनकर भी इन स्थितियों से प्रभावित हुई है। उसीके संघर्षपूर्ण चरित्र का विकास और सम्मानपूर्वक जीने के लिए की जा रही जद्दोजहद आत्मकथा को गरिमा प्रदान करनेवाले तत्व हैं, जिन्हें यहाँ विस्तार दिया गया है।

बीज शब्द - स्त्री-विमर्श परिभाषा, आत्मकथा विधा- संकेत, वैशाली के माता-पिता, उनके पारस्परिक संघर्षपूर्ण संबंध, इन सम्बन्धों के चलते प्रभावित वैशाली का बचपन, विवाहपूर्व जीवन, विवाहोत्तर जीवन, प्रतिष्ठा पूर्वक जीने की ललक, संगीत में रुचि, प्रैक्टिस के बाद रिकार्डिंग के लिए पिता का विरोध, भद्र

समाज से संबद्धता, आर्थिक, सामाजिक तथा लैंगिक शोषण के विविध रूप, स्थितियों से निपटने के लिए कडा संघर्ष, अपने जैसी शोषिताओं के लिए कार्य करने की तत्परता, बार इंडस्ट्री पर महिला राज की कामाना, निष्कर्ष।

मुख्य अंश- पुरुष-प्रधान संस्कृति के संस्कारों से ग्रस्त वर्तमान व्यवस्था में शोषण से मुक्ति के लिए नारी औरों के भरोसे रहने की मानसिकता में नहीं है। "इसीलिए अब वह 'अपनी दृष्टि' से अपने समाज और अपने आप का अन्वेषण कर रही है। इसे ही 'स्त्री-वादी' या 'नारी-वादी' साहित्य कहा जा रहा है।"[1] डॉ. जया परांजपे के अनुसार "स्त्री-विमर्श स्त्री ने स्त्री होने के नाते सहे हुए आघातों से मुक्ति तथा मनुष्य के रूप में व्यवहार कर सकने और उसी प्रकार का व्यवहार पाने के लिए स्त्री की जद्दोजहद की प्रक्रिया है।"[2] यहाँ हमने ऐसी ही प्रक्रिया से गुजरने वाली बार सिंगर वैशाली हलदणकर की आत्मकथा 'बारबाला' के विशेष संदर्भ को चुना है। मराठी में लिखी गयी प्रस्तुत आत्मकथा का हिन्दी अनुवाद कवयित्री तथा समीक्षक पद्मजा घोरपडे ने किया है। वैशाली हलदणकर इस प्रकार की आत्मकथा लिखने वाली एकमात्र बारबाला है, जिसने अपनी अस्मिता को जगाया है। सर्व-विदित है कि आत्मकथा के लिए अस्मिता (सात्विक अहम) बाधक नहीं होती।

'आत्मकथा' आत्म-विज्ञप्ति या आत्मगोपन न होकर तटस्थ रूप से किया गया आत्म-विश्लेषण है। "जब कोई व्यक्ति कलात्मक या रसात्मक स्तर पर उठकर अपने निजी व्यक्तित्त्व के विकास का चित्रण एवं विश्लेषण करता है, तब वह चित्रण एवं विश्लेषण आत्मकथा कहलाता है। कोई बिरला धीर-गंभीर व्यक्ति ही अंतर्मुख होकर तटस्थ रूप से आत्म विश्लेषण कर पता है।"[3] आज बाजरवाद, वैश्वीकरण से साहित्य की अन्य विधाओं की तरह ही आत्मकथा का प्रभावित होना क्रमप्राप्त है। ऐसा होते हुए भी 'बारबाला' रंजन के लिए नहीं है, तो आँखों में अच्छा-खासा अंजन डलवाकर समाज मस्तिष्क में झनझनाहट उत्पन्न करने हेतु है।

प्रस्तुत आत्मकथा की नायिका व्यक्तित्व सम्पन्न जीवन जीने के लिए छटपटाती है, परंतु हमेशा हारती है। जीवन की कशमकश को झेलते हुए उत्पन्न अवगुणों के लिए वह सर्व-प्रथम अपने परिवार को जिम्मेदार ठहराती है, फिर समाज को। उसका मानना है कि यदि उसके माता-पिता में संवाद स्थापित होता, विवाहोपरांत वे उसके अतीत को भूलकर उसे सहारा देते, पति दिलीप समझदारी का व्यवहार करता तो आज उन सबकी जिंदगी सुंदर रूख अपनाती। उसके जीवन में आये सभी पुरुष और पिता, पति, भाई उसे अपराधी, अपवित्र, चालू, वेश्या, रंडी, छिनाल समझते रहे, परंतु उसने अपने अंतस में स्वयं की एक प्रतिमा सँजोकर रखी थी और वह थी एक कलाकार की। उसका स्थितियों के साथ स्वयं को एडजस्ट करना विस्मयकारी है। स्वयं को एडजस्ट करने में उसकी पूरी ताकत लग जाने की स्थिति में आत्मकथा की शैली आत्मकेन्द्री हो जाना स्वाभाविक है। अर्थ-केन्द्री समाज व्यवस्था का तकाजा ही कुछ ऐसा है कि समाज-केन्द्री संवेदनशीलता आज बहुत पीछे छूट गयी है। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन आया है। फिर भी वह अपने जैसी महिलाओं का दुख समझती है और उनके उत्थान के लिए प्रयत्न करने में गौरव अनुभव करती है।

वैशाली के माता-पिता का अन्तर्जातीय विवाह था। पिता राम दिवाडे (बाद में उन्होंने दिवाडकर उपनाम ग्रहण किया) दलित थे और माँ शकुंतला तडसरे देशस्थ ब्राह्मण। जब दोनों में झगड़े होते तो वे जाति का उल्लेख कर एक-दूसरे को नीचा दिखाते। पिता संगीत साधना में तल्लीन हो जाते थे। माँ भी संगीत भक्त थी, परंतु पुरुषी अहंकार पिता को अनुदार बनाए हुए था। बी.बी.सी. लंदन के लिए जब इस दंपति का ऑडिशन हुआ तो पत्नी उसमें उत्तीर्ण हुई और पति अनुत्तीर्ण। श्रीमान दिवाड़े ने रेडियो स्टेशन में ही पत्नी के गाल पर चांटा जड़ दिया, सबके सामने। उस एक चांटे ने वैशाली के बचपन को चकनाचूर कर दिया।

वैशाली हलदणकर बारबालाओं का प्रतिनिधित्व जरूर करती हो पर उसके स्वतंत्र व्यक्तित्त्व के कई पहलू उसे विशेष बनाते हैं। कल्पनातीत हादसों से भरा जीवन जीते हुए भी वह लिखती है- "रोते या शिकायत करते बैठ जाना मेरे स्वभाव में न था। .... जीवन का हर कीमती क्षण मैंने बटोरा। ऐसे अमूल्य क्षण खोने का पछतावा मुझे कभी नहीं हुआ।"[4] दुख, यतनाओं को बर्दाशत करने की अंदरूनी ताकत उसमें तर्कातीत है। झूठ, फरेब से उसे बेहद चीढ़ है। वह नुकीला व्यंग्य करती है और तीखा व्यंग्य समझती है। उधार लेकर खाना उसे पसंद नहीं और अपने कार्य के प्रति वह बड़ी निष्ठावान है। 'बार वाली' का लेबल एक बार लग जाये तो समाज पग-पग पर दुत्कारता है। परंतु पूरी आत्मकथा फ्लैप पर के इसी तथ्य को रेखित करती है कि 'जैसे औरत पैदा नहीं होती बनाई जाती है वैसे ही कोई लड़की बारबाला होती नहीं है, बनाई जाती है।' आशय यह है कि समाज ही उसे बारबाला बनने के लिए मजबूर करता है। बार इंडस्ट्री के घटिया चरित्र लोग अपने आपको सभ्य, सुसंस्कृत समझकर बार में काम करनेवालियों को 'रंडी' से संबोधित करते हैं तो वैशाली का आक्रोश फूट पड़ता है। ऐसे लोगों के विषय में वह लिखती है- "दरअसल रंडियों के पैसों पर ही वे जी रहे थे। उनकी बीवियाँ स्त्रियाँ थी। और हम रंडियाँ? यहाँ डिस्को और पिक-अप-प्वाइंट में लड़कियाँ सप्लाई करने वाले भी इसी घमण्ड के मारे थे। मानो हम पर उपकार करते थे। दरअसल सच यह था कि इन

लड़कियों की जूठन पर वे जिंदा रह रहे थे। लगता था कभी तो किस्मत का पासा उल्टा पड़ जाये। तब देखते ये तथाकथित सभ्य कैसे जीते हैं। कुछ भी कहिए, पुरुषों-पुरुषों की मिलीभगत रहती है। मजबूर, असहाय औरत की मदद करने में इन्हें बड़प्पन लगता है। लेकिन मदद लेते हुए उस स्त्री ने यदि गर्दन ऊपर उठायी कि ये बर्दाश्त नहीं कर सकते। स्त्री यदि अपने हक-अधिकार की भाषा बोले तो ये तिलमिला जाते हैं। फिर उन स्त्रियों की बदनामी, उनकी जिंदगी को बर्बाद करने पर ये तुल जाते हैं। स्त्री यदि कम पैसों में, फोकट में या सचमुच प्यार के कारण इनके साथ जब सोती है तब इन्हें वह मजबूर दिखती है और यदि स्त्री सौदा करने पर उतर आये इनके जैसा ही या पुरुषों को अश्लील बर्ताव करने न दे तब वह स्त्री बुरी, कुलटा, विलेन बनायी जाती है।"[5] बारबालाओं के लैंगिक शोषण का मुख्य कारण उनकी आर्थिक असुरक्षा है।

वैशाली का पूर्व का नाम है चित्रलेखा। बचपन से ही उसकी पेट की भूख अन्यों की तुलना में कुछ ज़्यादा थी। अत: पाँच वर्ष की अवस्था में इसी भूख को मिटाने के चक्कर में वह पड़ोसी भास्कर चाचा के लैंगिक शोषण का शिकार बनी है। चौथी कक्षा तक उसके लिए सब्जी-रोटी लाने वाली सहेली रोहिणी ने भी उसे समलिंगी-लेसबियन का अनुभव दिया है। वैशाली निराश कलाकार पति-पत्नी की, जातीयता के बलि चढ़े बाप की (केवल लड़की है इसलिए) उपेक्षित बेटी है। माँ और पिता में अनबन के कारण जब माँ घर छोड़कर निकल गयी तो वैशाली की जिंदगी बिखर गयी और बचपन खो गया। प्रेम, वात्सल्य की भूखी इस लड़की का इस्तेमाल काइयों ने अपनी लैंगिक भूख को पूरा करने के लिए किया और इसने उनके माध्यम से केवल अपनी पेट की भूख को शांत किया। उस समय यह न पाप-पुण्य समझती थी और न अच्छे-बूरे का फर्क। वह माँ के घर से निकल जाने के बाद बाप और भाई के लैंगिक अत्याचारों से बचने के लिए नाबालिग उम्र में भागकर विवाह की बेदी पर चढ़ी हुई परिणिता है, अल्पवयीन माता है, झुग्गी-झोपड़ी की घरेलू औरत है, गाँव की गरीब औरत है, कपड़े, बर्तन साफ करने वाली घरेलू मजदूरिन है, टीचर है, लाइब्रेरी में काम करने वाली स्त्री है, बारबाला है। परित्यक्ता है, ओशो आश्रम की संन्यासी है, हॉस्पिटल की आया है, प्राकृतिक चिकित्सा आश्रम की कर्मचारी है, किस्मत आजमाने के लिए मस्कत जाने वाली बोल्ड बारबाला है, विधवा है, वह एक बलात्कारित स्त्री है। उसका मानना है कि उसकी सभी यतनाओं का मूल उसके लड़की होने में है। वह लिखती है- "मेरा लड़की होना मेरे लिए शाप था। स्त्री! सृष्टि का वरदान लेकिन मानवी जीवन का शाप। माँ मेरी साँस रुकने तक मेरी पिटाई किया करती थी। दीवार पर मेरा सर पटक-पटक कर मारती थी। हर आठ दिन बाद ललाट पर, सिर पर पिटाई के जख्म उभरते थे। मैं खूब रोया करती थी।"[6] ससुराल में पति, सास, ससूर के अत्याचारों को सहने वाली वैशाली परिवार में उपेक्षित उन्नीस वर्षीय ननद प्रतिभा की शादी किशोर मयेकर नाम के युवक के साथ बड़ी हिम्मत से करा देती है। वह आत्मसम्मान से जीना चाहती है। झुग्गी-झोपड़ी में रहते हुए अपने जीने के साधन जुटाने का प्रयास करती है। पर वहाँ भी उसका आर्थिक शोषण होता है। उससे चुनाव पर्चों का काम करवाकर पार्टी के लोगों उसके एक सौ पैसठ रुपये तक नहीं देते हैं। खादी के साथ ही वर्दी ने भी उसका आर्थिक शोषण किया है। मालवणी की झुग्गी क्र. 19 को वह खून-पसीना एक कर मानो नंदनवन बना देती है। परंतु उसे व्यभिचारी करार देकर पति दिलीप उसे अपने गाँव गोटीवरी भेज देता है। वहाँ के अभावों से तंग आकर जब वह अपने दोनों बेटों के साथ मुंबई लौटती है तो पाती है कि दिलीप ने उसकी सँवारी झोपड़ी नौ हजार में बेच दी है।

विवाह के बाद पति के साथ एकनिष्ठ जीवन जीने की कामना वह करती है। अपनी गृहस्थी को संभालने का भरसक प्रयास करती है, परंतु दिलीप का पुरुषी अनहंकार अपनी हद को पार कर जाता है। और उसके अत्याचारों से आतंकित, प्रेम की प्यासी वैशाली विवाह के बाद पहली बार बिल्डर चड्ढा के संपर्क में आती है। फिर न जाने कितने लोग उसका नाजायज फायदा उठाते हैं। वह एक उपभोग्य वस्तु बन जाती है, दूसरों की वासना पूर्ति का मशीन। हद तो तब होती है जब उसका बड़ा बेटा बबलू मानसिक असंतुलन की अवस्था में उसका बलात्कार करता है। इन सभी अनुभवों का वर्णन वैशाली एकदम तटस्थता से करती है। आत्मकथ को पढ़ते वक्त हम बिल्कुल अपरिचित दुनिया में चले जाते हैं। अलग-अलग स्थानों, बारों और व्यक्तियों के इतने सारे नामों से गुजरते हुए लगता है हम किसी चक्रव्यूह में फँस गये हैं। वस्तुनिष्ठ तरीके से स्थितियों को आँकने वाली वैशाली कला की कद्र करने वाले, मानवीय संवेदनाओं से युक्त और उसकी मजबूरी का नाजायज फायदा न उठाने वाले लोगों के प्रति बेहद संवेदनशील हो जाती है। वह लिखती है- "गरीब लोगों ने मुझे अच्छे अनुभव दिये हैं। गरीबों के पास कुछ नहीं होता। हाँ, एक चीज जरूर होती है, और वह चीज है- इन्सानियत! दुख, गरीबी मनुष्य को सामान्य बना देते हैं और इसीलिए वे सहज, मीठी बात बोल सकते हैं।"[7] सभी जगहों से हारकर जब वैशाली बियर बार में सिंगर बन जाती है, तो सोचती है कि अपनी आभिजात्य संगीत कला के प्रति एकनिष्ठ रहकर न्याय करेंगी। परंतु उसकी वह अपेक्षा भी पूरी नहीं होती, क्योंकि बार में काम करने वाली औरत को तो केवल उपभोग्य चीज ही माना जाता है। वह लिखती है- "पुरुष मानो ताक में ही बैठे रहते थे कि यह औरत है ही इस काम की। इसे

रौंदो, मसलो! इस्तेमाल करो और फेंक दो।"[8] अब जब सिर्फ उपभोग्य चीज बन जाती है तो वह अपने शरीर का उपयोग पैसा कमाने के लिए सहजता से करने लगती है। वैशाली का सफर फ्लैट संस्कृति से झुग्गी-झोपड़ी और बार-संस्कृति की ओर है। फ्लैट हो, झोपड़ी हो, बार हो, ओशो आश्रम हो, हर स्थान पर समाज का कुरूप चेहरा ही सामने आता है। सांप्रदायिक दंगों का भी वह बुरा अनुभव लेती है। आत्मकथा में शरद पिलगाँवकर, सुलभा देशपांडे, अनिल मोहिले, सुप्रसिद्ध गायिका शकुंतला जाधव, सुमन कल्याणपुर, उत्तमराव पाटिल (भीमसेन जोशी के शिष्य) जैसे दिग्गजों के साथ वैशाली के पिता राम दिवाड़े के अच्छे सम्बन्धों का उल्लेख है। लगता है वैशाली अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ इन लोगों को मिलती तो हो सकता था, यह कलाकार वर्ग उसकी कुछ मदद करता। खैर.... ऐसा हुआ नहीं।

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की नजाकत, माधुर्य का अनुभव उसे अत्यल्प मात्रा में मिला, टारजन और अन्य एक दो पुरुषों से। जब दिलीप ने उसे अपने गाँव गोटिवरी भेज दिया तो बहुत से अभाव थे परंतु वहाँ सुंदर प्रकृति ने उसे आनन्द दिया। उसे पुस्तकों ने आनन्द दिया और आदर तथा सम्मान दिया सामाजिक कार्य-कर्त्ता सुश्री वर्षा काले तथा उनके बारबालाओं से संबन्धित आंदोलन ने। वर्षा काले के दरवाजे पर लिखे इस वाक्य से तो उसका मन बाग-बाग हो उठता है कि, 'प्रेम से कहो हम इन्सान है।'

घटना प्रवाह की दृष्टि से प्रस्तुत आत्मकथा का कुछ अंश विखरा हुआ लगता है। वैशाली ने अपने आत्मकथा के मज़मूम को समूची बारीकियों के साथ, एक-एक घटना को ठीक से याद करके बारह सौ पृष्ठों में लिखा था। पूरी गरिमा के साथ इसे सम्पादित करना बड़ा चुनौती भरा कार्य था, जिसे श्री. अविनाश पंडित जी ने बड़ी आत्मीयता और लगन के साथ पूरा किया। सम्पादन के बाद आत्मकथा की पृष्ठसंख्या 200 के करीब है। अत: घटना-क्रम में कुछ अंशों में बिखराव स्वाभाविक है। छाया दातार के अनुसार- फेमिनिज़्म का मतलब ही है वर्ग, जाति, लिंग वर्चस्व (श्रेष्ठता) इन तीनों का निपात कर सही अर्थ में समताधिष्ठित समाज प्रस्थापित करना।[9] वैशाली भी इसी के लिए संघर्षरत है। अंत में वह सम्पूर्ण बार इंडस्ट्री पर महिला राज की कल्पना करती है और चाहती है कि यहाँ की हर महिला को सम्मान मिले। यही उसके चरित्र का विकास है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में लिंग वर्चस्व की भावना के चलते स्त्री शोषित, पीड़ित तथा उपेक्षित है। जीवन में सामान्य संघर्षों के अलावा स्त्री होने के नाते उसे कल्पनातीत शारीरिक, मानसिक और लैंगिक शोषण का सामना भी कई स्थितियों में करना पड़ता है। इससे मुक्ति के लिए वह औरों के भरोसे नहीं रहना चाहती तो अपनी दृष्टि से अपने समाज और अपने आप का अन्वेषण करना चाहती है। वैशाली की जद्दोजहद उसे विशेष बनती है। आत्मकथा जैसी विधा के माध्यम से स्त्री अपने साथ घटित हादसों को बेबाकी से प्रस्तुत कर समाज को बेनकाब कर सकती है। वैशाली इसी विधा का सहारा लेती है। नारी के लिए स्थापित सामाजिक, पारिवारिक वर्जनाओं पर तीखी प्रतिक्रियाएँ देती है। उसका सम्पूर्ण जीवनसंघर्ष 'सभ्य समाज' को कटघरे में खड़ा करता है, कई प्रश्न उपस्थित करता है। वैशाली अपने जैसी स्त्रियों के उत्पीड़न के विरोध में खड़ी होना चाहती है। बार इंडस्ट्री पर महिला राज की कल्पना कर बारबालाओं के उत्थान और सम्मान के लिए वह कटिबद्ध है। यही उसके चरित्र का विकास है, जो आत्मकथा का शीर्ष बिन्दु है।

संदर्भ-

1.हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. माधव सोनटक्के, विकास प्रकाशन, कानपुर, द्वितीय संस्करण 2000 ई., पृ. 435

2.उपलब्धि, महाराष्ट्र हिन्दी परिषद- 13 व अधिवेशन, 27, 28 दिसम्बर 2003, संपादक डॉ. सुरेशकुमार जैन, पृ. 26

3.साहित्य शास्त्र, डॉ. चंद्रभानु सोनवणे, आलोक प्रकाशन, औरंगाबाद, द्वितीय संस्करण- 1992, पृ. 158

4.बारबाला (एक बार सिंगर की आपबीती), वैशाली हलदणकर, अनुवाद- पद्मजा घोरपड़े, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009, पृ. 76

5.वही, पृ. 186, 187

6.वही, पृ. 47

7.वही, पृ. 52

8.वही, पृ. 93

9.स्त्रीमुक्ती चलवल आणि वृत्तपत्रांचा सहभाग, मंगल खिंवसरा, स्वरूप प्रकाशन, औरंगाबाद, प्रथमावृत्ती 2005, पृ. 54

नन्द चतुर्वेदी की कविता में स्त्री चित्रण

-डॉ.विदुषी आमेटा
सह आचार्य एवं शोध निर्देशक,
हिन्दी विभाग,माधव विश्वविदयालय,पिण्डवाडा (राजस्थान)

-संगीता भारद्वाज
हिन्दी विभाग,माधव विश्वविदयालय,
पिण्डवाडा (राजस्थान)

नारी एक ऐसा शब्द है जिस पर मंथन हर काल में सदैव से किया जाता रहा है। नारियों के शोषण, सशक्तीकरण एवं सौन्दर्य पर हिंदी साहित्य जगत में अनुपम उदाहरण देते हुए नारियों पर कई भावों को एक माला में पिरोने का उत्कृष्ट कार्य किया गया है। भारतीय संस्कृति में नारी का महत्वपूर्ण एवं अतुल्य स्थान रहा है। भारतीय संस्कृति में स्त्री और पुरुष ईश्वर की दो समानधर्मी कृतियाँ है। दोनों एक दूसरे के पूरक है। स्त्री-पुरुष मिलकर जीवन की एक महत्वपूर्ण इकाई का निर्माण करते है। हमारी संस्कृति में नारी की शक्ति की महत्ता की इसी बात से पुष्ट होती है कि वह न पुरुष की अनुगामिनी है, अपितु वह पूरक है, उसकी जीवन साथी है, सहधर्मिणी है। इन सबके अतिरिक्त वह पुरुष की जन्मदात्री और उत्पन्ना होने से उसका स्थान पुरुष से भी श्रेष्ठ है। नारियों की महत्ता सम्पूर्ण और सर्वग्राह्य अभिव्यक्ति भारतीय वेदों में वर्णित की है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। वैदिक काल में हमारे समाज में नारी के प्रति बड़ा आदर भाव था। परिवार की प्रमुख संरचना विवाह का उद्देश्य केवल वासनापूर्ति न होकर गृहस्थ-धर्म का पालन, धर्मानुष्ठान, यज्ञ-सम्पादन और दाम्पत्य जीवन द्वारा श्रेष्ठ संतान की प्राप्ति था। घर-गृहस्थी में नारी की प्रधानता थी। परिवार की सभी गतिविधियों के केन्द्र में नारी थी। कन्या में ही धन की देवी लक्ष्मी का निवास माना जाता था।

साहित्य के माध्यम से कवि को समझना बहुत कठिन होता है। उस पर निर्णय और भी कठिन होता है। कवि अपनी सरसरी दृष्टी से देखे हुए बाहरी बदलावों को ही सभ्यता कहता है। कवि कि स्थिति भी बड़ी अजीब होती है। कवि की आवाज लाखोँ लोगों के सीधे हृदय तक पहुँचती है। कवि का सम्बन्ध कला और साहित्य के साथ जुड़ा हुआ होता है।साहित्यकार अपने मन की समझ से शब्दों का रूप देकर अपनी रचनाओं को सम्प्रेषित करता है। कविता मानव व्यक्तित्व का निर्माण करती है। विशिष्ट बहुमुखी प्रतिभा के धनी कवि नन्द चतुर्वेदी का काव्य प्रवाह मानव व्यक्तित्व का निर्माता है।

नन्द चतुर्वेदी की काव्य यात्रा –

कवि नंद चतुर्वेदी जी ने अपने कवि कर्म के लेखन का कार्य ब्रजभाषा में कविता लिखने से प्रारम्भ किया था। अपनी कवि कर्म में प्रतिभा को सही सिद्ध करते हुए उन्होंने कविता के लिए पहला पुरस्कार बारह वर्ष की आयु में ही प्राप्त कर लिया था। उनकी रचनात्मक शैली में कविता का विषय राष्ट्र की स्वाधीनता और सामाजिक-आर्थिक गैर-बराबरियों को रेखांकित करते हुए घनाक्षरी, सवैया, पद, दोहा पदों में उनकी रचनाएँ काव्य जगत में मुखर हुई। हिन्दी (खड़ी बोली) में चतुष्पदियों, गीत से लगाकर अतुकान्त-आधुनिक कविताओं के सृजन का कार्य नन्द चतुर्वेदी जी ने किया। उनके कवि जीवन में 'सप्तकिरण', 'राजस्थान के कवि' (भाग 1), 'इस बार' (अध्यापकों का कविता संग्रह), 'जयहिन्द' (समाजवादी साप्ताहिक) से लेकर 'जनमन', 'जन-शिक्षण', 'मधुमती' तथा चिन्तन-प्रधान साहित्यिक पत्रिका 'बिन्दु' का सम्पादन तक का कार्य प्रभार उन्होंने वहन किया था। इसके अतिरिक्त माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की उच्च कक्षाओं के लिए कहानी तथा गद्य की अन्य विधाओं का संग्रह सम्पादन के कार्य भी उनके द्वारा सुशोभित हुए है। राजस्थान साहित्य अकादमी के लिए प्रान्त के प्रख्यात रचनाकारों पर 'मोनोग्राफ' लेखन का सृजन भी नन्द चतुर्वेदी जी द्वारा किया है।

उनके द्वारा रचित प्रकाशित कृतियाँ में प्रमुख है : गा हमारी जिन्दगी कुछ गा, उत्सव का निर्मम समय, जहाँ उजाले की एक रेखा खींची है, यह समय मामूली नहीं, ईमानदार दुनिया के लिए, वे सोये तो नहीं होंगे (कविता संग्रह), शब्द संसार की यायावरी, यह हमारा समय, अतीत राग (गद्य), सुधीन्द्र (व्यक्ति और कविता), राजस्थान साहित्य अकादमी की पुरोधा शृंखला के अन्तर्गत प्रकाशित कृतियाँ महत्वपूर्ण रही है।

कवि कर्म के कार्य हेतु प्राप्त सम्मानों में प्रमुख है :- राजस्थान साहित्य अकादमी का सर्वोच्च पुरस्कार मीराँ पुरस्कार, के.के. बिड़ला फाउंडेशन द्वारा बिहारी पुरस्कार, लोकमंगल द्वारा मुम्बई पुरस्कार, अखिल भारतीय आकाशवाणी द्वारा श्रेष्ठ वार्ताकार सम्मान आदि है।

साहित्यकार में रूप में इनकी विशेष उपलब्धि के रूप में रहा- छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन के लिए लन्दन यात्रा में राजस्थान राज्य द्वारा भेजे गए प्रतिनिधि मंडल के सदस्य के रूप में सम्मिलित होना।1

नन्द चतुर्वेदी की साहित्य सेवा –

नन्द चतुर्वेदी एक ऐसी विलक्षण प्रतिभा के धनी व्यक्तित्व के साहित्यकार थे। इनका काव्य लेखन का समय आधुनिक काल था। नन्द चतुर्वेदी सत्तर के दशक के उन चुनिंदा बड़े लेखकों की श्रेणी के थे उनका यश, एक बहुत मंद भीनी सुगंधवाली अगरबत्ती की तरह था जो मन्द-मंद जलकर देर तक अपनी सुगंध को प्रसारित कर वातावरण को मधुमादित करती है उसी प्रकार साहित्य में नन्द चतुर्वेदी की कविता मनमोहक करती है। उनकी रचना की प्रासंगिकता और महत्व का हिंदी साहित्य में कविता के माध्यम से कोहरे की भांति अधिक से अधिक गहराता जाता है। नन्द चतुर्वेदी के साहित्य में नारी का जीवन बहुत ही संघर्ष से

विरत के रूप में वर्णन किया गया है। एक साहित्यकार के रूप में उनकी कविता में नारियों के लिए सबसे पहले बाहरी संदर्भो में उसका आंतरिक समय होता है जहां वो जीती है और सांस लेती है, और वही दूसरी और होती है समय की चुनौतियां जिससे वो बिलकुल परे होती है उनके जीवन वे सृजन के बीच अनवरत की स्थिति बनी रहती है, उनकी राह आसान नहीं है उनकी राह में बहुत सी विचार धाराएं एवं दुविधाएं है। इन सब विचारधाराओं एवं दुविधाओं पर उनकी कलम ने बहुत सराहनीय कार्य किया है।[2]

वह भारतीय समाज में मनुष्य की स्थिति और उसके उन्नयन की अभिलाषा के कवि थे । किसी एक शैली या ढंग में रूढ़ न होना ही उन की अपनी नवाचारिता जीवन्तता और जिजीविषा का प्रमाण है ।अपने विश्वास, अपनी आस्था की लौ को उन्होंने कभी मंदा नहीं पड़ने दिया । इसका रहस्य भी शायद नन्द जी की अदम्य-सम्वाद प्रियता और उस 'सामाजिकता' में छिपा हो- जिसकी तरफ इशारा प्रोफ़ेसर अरुण चतुर्वेदी जी और प्रख्यात पत्रकार अनुराग जी ने साक्षात्कारों की उनकी एक किताब 'साहित्य की व्यापक चिताएं' की भूमिका में बड़े सुन्दर ढंग से किया है। कविता और गद्य- दोनों ही में एक सक्षम लेखक की तरह वह कभी भी अपने केंद्र से विचलित नहीं दीखते और बराबर अपने संकल्पों और स्वप्नों का पीछा करते हैं।[3]

साहित्य के पुजारी नन्द चतुर्वेदी के साथ एक विलक्षण बात ये हुई कि उनकी पहली किताब तब छपी, जब वह साठ बरस के हो गए थे- जब कि कविता लिखते हुए, उन्हें तब तक शायद चालीस साल से भी ज्यादा हो चुके थे, आत्म-प्रचार और छपास के इस दौर में प्रकाशन-सम्बन्धी उनकी ये निस्पृहता थोड़ी असामान्य ज़रूर है- पर ये बात सच है । मानव जीवन के साठ साल भारत में सेवानिवृत्ति या साहित्य से लगभग वानप्रस्थ का समय हुआ करता है, यह देखना प्रीतिकर और आश्चर्यजनक दोनों है, कि उनके जीवन के उत्तरार्ध में उनकी एक के बाद अनेक किताबें लगातार आई हैं! पर पहली किताब तब छापी गई, जब षष्टिपूर्ति पर, हम अधिकतर भारतीय लोग ताराप्रकाश जोशी के एक गीत "सांझ हुई चल पंख समेटें" की तर्ज़ पर अवकाश-ग्रहण की मानसिकता के नज़दीक पहुँचने लगते हैं, हिंदी-समाज को एक बार नए सिरे से उनकी बाद की किताबों से एक बहुत अर्थवान लेखक-चिन्तक को और गहरे जान पाने का अवसर मिला है।[4]

नन्द चुतर्वेदी जी की कविता संग्रह "आशा बलवती है राजन्" की कविताओं में आशा – निराशा के मध्य उलझे जीवन का प्रज्वलन के अनेक रूपों को व्यंजित है। इस कविता संग्रह में नारियों पर वर्णित कविताओं में "तुम वृषभानुजा हो ?, करुणा का पाठ, स्त्री होने का डर, कैसे कैसे दिन अम्मा, हुँह.. साली दुनिया, वे बहनें,एवं शायद इन सब कविताओं में नन्द चतुर्वेदी जी ने नारियों के हर रूप की व्याख्या मार्मिक ढ़ग से प्रस्तुत की है।

नन्द चतुर्वेदी नारियों का विशेष सम्मान करते थे । उनका नारियों के प्रति यह सम्मान उनकी कविता में झलकता है -

स्त्री का काम प्रेम करना है
स्त्री का काम दया करना है/स्त्री का काम मोहित करना है
पिटना है/पानी लाना है
पीसना है चक्की/उदास दिनों की
हम स्त्री की प्रशंसा करते हैं/उसके धीरज की
माँ बनने की/कपड़े धोने की
झाड़ू लगाने की/दिन निकल गया है स्त्री के लिए
उठो/रात हो गई है स्त्री के लिए सो जाओ
हमें रंज है तुम वैसी नहीं बनी/वैसी अमरीकन, फ्रेंच, जर्मन
हमें ख़ुशी है हमने तुम्हें वैसी नहीं बनने दिया
तुमने किसी से हँस कर बात नहीं की
जैसा कहा वैसा ही किया
यह वध-स्थल है यही बँधी रही
स्त्री का काम सेवा करना है
स्त्री का काम हँसना है/स्वागत करना है
चाय बनाना है/सोफ़े झाड़ना है
अपने थके बीमार चेहरे को चमकाना है
स्त्री का काम शांत रहना है
कबाड़ख़ाने की चीज़ होना है
पुरानी, टूटी-फूटी/संग्रहणीय
ऐतिहासिक और/देखने लायक़[5]

एक साहित्यकार के रूप में नन्द चतुर्वेदी को स्मरण करे तो सब से पहले तो यही याद आता है उन का मन, कविताओं, गद्य, और वैचारिक लेखों में नारियों के लिए विशेष स्थान है । नारियों के अनेक रूपों में वह माँ के रूप का विशेष सम्मान करते थे।

उनकी कविता करुणा का पाठ की यह पंक्तियाँ इस बात का संकेत है कि वह माँ से कितना प्रेम करते थे –

माँ, मुझे करुणा का अर्थ नहीं आता
बार-बार पूछता हूँ टीचर 'सर' से
वे झुँझलाकर बताते हैं बहुत-से अर्थ
उलझे-उलझे
लेकिन कितना छूट जाता है पीछे
मैं कहता हूँ रहने दें सर/माँ से पूछ लूंगा
वे हँसते हैं/जब अँधेरा टूटने को होता है
कुछ रोशनी में तुम्हारा प्रसन्न मुख देखता हूं
तभी करुणा के सारे अर्थ/ मेरी समझ में आ जाते हैं

सीधे, सरल अर्थ

आशा रहित दिनों में

तुम कठिन शब्दों का अर्थ समझाती हो

किसक क्षातक

पता नहीं माँ तुम किस स्कूल में पढ़ी हो?[6]

नारियों की उपमा में चुने गए शब्दों में जो भाव निहित होते है उन भावों से यह ज्ञात होता है की नन्द चतुर्वेदी के हृदय में नारियों के लिए सदैव श्रद्धा के भाव ही प्रस्फुटित होते है । उनकी कविता किसी सुगंध-वृक्ष की तरह है, उल्लास और उत्सवधर्मिता भी है सब मिला कर नन्द जी की कविता अनजाने या अदृश्य रूप से आज और अभी के जीवन की कविता है- जिसके सारे दृश्य और आमफहम चरित्र परिचित हैं, पर कवि के भीतर का यह रेखांकन कई आकर्षक काव्यात्मक चेष्टाओं से भरा है।

जीवन उनकी कविता की केन्द्रीय-चिंता है : उसके उन्नयन की अखंडित अभिलाषा समेत । परिचित आसपास के दृश्यों में स्मृति की छाया भी इनकी कविताओं में है, और सुखकारी भविष्य की आकांक्षा – निरा समकालिक समय या दुर्दांत वर्तमान तो है ही, इस तरह वह तीनों कालों की कविता एक साथ बन जाती है.... कविताओं में उनकी यह कोशिश 'उत्सव के निर्मम समय' में एक 'ईमानदार दुनिया के लिए' आगे देखने और चलने की कोशिश थी । वह जानते थे- 'यह समय मामूली नहीं', इसलिए उनकी कविता सदा वहां जाने की कोशिश होती थी- जहाँ 'उजाले की एक रेखा खिंची है' । ज़िन्दगी से उन्होंने कहा था- "गा मेरी ज़िन्दगी, कुछ गा!" कविता के माध्यम से ही वह आम लोगों के बारे में सही अनुमान लगा सकते थे- "वे सोये तो नहीं होंगे!" यह 'आशा के बलवती होने का' एक निष्कंप भरोसा था –आखिर तक वही, 'जो बचा रहा' !

'ल्यूमिनस पीक्स' तक पहुँचने के लिए उन्होंने सदा अपने समय की भाषा के ऑक्सीजन सिलेंडर साथ रखे और हम ये दुबारा याद रखें- हर चढ़ाई में अपने गद्य और कविता- दोनों को उन्होंने कभी 'ओब्सोलीट' होने न दिया! यह एक लेखक के रूप में सब के सीखने लायक बात है कि समकालीन बने रहना ही दूसरी तरह आधुनिक होना भी है। परंपरा तब तक अर्थवान नहीं जब तक वह वर्तमान और भविष्य दोनों के शिलालेख पर प्रासंगिक बने रह कर अपने हस्ताक्षर न कर सके .....नन्द बाबू का लिखा, कुछ वैसे ही हस्ताक्षरों की तरह है ....और हम सब रचनाकारों को, जो यहाँ हैं या अन्यत्र हैं उनका समकालीन होने पर सहज प्रसन्नतामिश्रित गर्व है !समय की सीमा को देखते हुए मैं उनकी कविताओंसे उद्धरण नहीं दे रहा- इसलिए कि एक पाठक-प्रशंसक की तरह आप सब उनसे पूर्व-परिचित हैं।

नन्द जी के गद्य में सर्वत्र जो खरापन, तार्किकता और विश्लेषण दिखता है वह उनकी गहरी अविचल और दृढ़ समाजवादी-अंतर्दृष्टि से आया है- उस 'कन्विक्शन' में किसी तरह की आंसू-धकेल भावुकता या राजनैतिक हठवादिता नहीं- सामजिक-औचित्य, वैज्ञानिक-तर्क और मानववादी-विवेक की प्रखर रोशनी है।

"यह हमारा समय" की अपनी भूमिका में नन्द जी ने लिखा था- "गद्य-लेखन के बारे में में यह कहना आवश्यक समझता हूँ कि यह 'स्वतः-स्फूर्त' सर्जना नहीं है, यह अपने बाहरी दबावों की निष्पत्ति है और एक सुतार्किक निष्कर्ष तक पहुँचती यात्रा है । लेकिन यह कहना उचित नहीं है कि गद्य-लेखन 'दोयम दर्जे' की साधना है। अब कविता-भाषा का गद्य-रूप लेना, भाषा की शक्ति का विस्तार और काव्य-भाषा के वर्चस्व की प्रचलित रूढ़ियों को अस्वीकार करना भी कहा जाएगा। " इस पुस्तक में, उनके अनुसार "कई विषयों पर लिखे आलेख हैं जिनमें समय के दबावों, उनको समता और स्वतंत्रता के वृहत्तर उद्देश्यों में बदलने वाले आन्दोलनों की चर्चा है। 'समता' ही केन्द्रीय चिंता है, जिसे अवरुद्ध करने के लिए विश्व की नई पूंजीवादी-शक्तियांअपने 'सांस्कृतिक एजेंडा' केसाथ जुड़ी हुई हैं । दुनिया के लोग अघाए और शुचितों के बीच बाँट दिए गए हैं। लालची मध्यवर्ग अपनी समृद्धि के सपने देखता पूंजीपतियों की मायावी दुनिया का सहचर हो गया है।"[7]

उन्होंने लिखा था- "इस संकलन में उन्हीं सब सन्दर्भों और परम्पराओं को खंगाला गया है जो समता के विचारों और पक्षों को मज़बूत करती हैं। 'धर्म' के उसी पक्ष को बार-बार रेखांकित किया गया है, जो धर्म के स्थूल, बाहरी-कर्मकांड को महत्वहीन मानता है, लेकिन जो संवेदना के उन सब चमकदार पक्षों को शक्ति देता है, जो सार्वजनिक-जीवन को गरिमामय बनाते हैं। "

इन सब आलेखों में नंद जी के कवि-मन पर समकालीन जटिल प्रश्नों की गहरी काली छाया है- पर जिससे मुक्ति पाने का सपना भी इन गद्य-रचनाओं में झिलमिलाता है । खुरदरी वास्तविकताओं और जटिल-सामाजिक-राजनैतिक षड्यंत्रों की खोज-खबर लेते उनके कई गद्य-आलेख, हमें किसी तरह भी हताशा का सन्देश नहीं देते, एक आशावादी, उज्जवल भविष्य के प्रति आश्वस्ति जागते कर्मठ लेखक के मन-मानस का पता बताते लगते हैं। दुहराव का खतरा उठाते भी मैं कहूँगा- अकुंठित-आशावाद ही उनके लेखकीय-चित्त का स्थाई-भाव है।

इसीलिये उन्होंने एक जगह लिखा था- "व्यवस्था के पुनर्निर्माण की आशा अब भी बची है, क्योंकि ये जो बहुत से सपने हैं हैं, वे काल्पनिक नहीं हैं, वे मनुष्य के अस्तित्व की बुनियादी शर्तें हैं, जैसे मनुष्य की स्वाधीनता, जैसे मनुष्य की समता। इनको छोड़ना संभव नहीं है और तब मुझे यह प्रतीत होता है- कि चाहे जितने दिन तक चीज़ें उथल-पुथल होती रहें, लेकिन अंत में समता और स्वाधीनता प्राप्त हुए बिना मनुष्य बच नहीं पायेगा ।" भाषाई-सौष्ठव, हाज़िर-जवाबी और यथावसर व्यंग्यात्मकता, उनके भाषण और सामान्य-चर्चा तक में सहज तौर पर आती थी। वह अपनी बात बड़ी कुशलता और क्रमबद्ध, और रोचक ढंग से रखा करते थे। बोलते समय विषय के अलावा भाषा पर, शब्दों पर उनका अधिकार बड़ा मनमोहक था। एक बेहतरीन वक्ता तो वह थे ही- नंदजी ने इन उपनिषदों में भी अपने वाक्-चातुर्य और बेहतरीन वाग्मिता के अलावा अपनी वैचारिक स्थापनाओं से सुनने वालों को

उत्फुल्ल किया।

डॉ. नामवर सिंह से ले कर अशोक वाजपेयी तक के हिंदी के लगभग सारे बड़े नाम उन गोष्ठियों में आमंत्रित थे। 'विरोधी'-विचारधारा पर साफगोई से टिप्पणियाँ करते वहां वह हमेशा ही की शैली में बहुत प्रगल्भ और चुटीले वक्ता साबित हुए !साहित्य के अखाड़े में स्वभाव से वह बातूनी, उदार और साहसी थे।

"आशा बलवती है राजन!" किताब उनकी कविताओं की अंतिम प्रकाशित पुस्तकों में से है। यह संग्रह, जिन दो दिवंगत और दो जीवित लेखकों को नन्द जी ने 'समर्पित' किया था एक 'शत्रु-लेखक' के लिए यह सम्मान, असामान्य है! जब तक ये किताब बची रहेगी-या हम, उनका यह 'समर्पण' दोनों को उनके अकुंठित प्यार की याद दिलाता रहेगा।

अंत तक लड़ना पड़ता है अपनी निराशाओं से
अंत तक शत्रु अपराजित नज़र आते हैं
मदोन्मत्त एक एक सीधी प्रभुता की चढ़ते
बहुत सी हीन लड़ाइयों में दिन बीत जाते हैं
फिर जब हिसाब मिलाते हैं
पछतावा होता है

इस संग्रह की कविताओं में गहरा निराशा बोध है। संग्रह की शीर्षक कविता भी स्वयं कवि के शब्दों में, "महाभारत के एक जटिल मूल्य क्षरण के प्रसंग की दुखान्तिका से गुजरती है जैसे- सब कुछ अँधेरे में लिपट गया हो जैसे !" लेकिन कवि यह मानने को तैयार नहीं है। वह अगले ही क्षण लिखता है, "किन्तु एक प्रबल मानवीय विश्वास चमकता है 'आशा बलवती है राजन' में." कठोर सच यह है कि इस कविता में मूल्य क्षरण का पाताल ही है, कहीं कोई आशा की किरण भी नहीं है। जिस समाज में सत्य का पाठ पढने वाले हमेशा 'अनादर के ढलानों' पर खड़े हों, वहां एक सत्यवादी के मुख से 'हतो नरो' ऊर्ज्वसित स्वर में और 'कुंजरो वा' कांपते त्रस्त स्वर में ही निकलता है और फिर तो आधे अधूरे युधिष्ठिर को हिमशिखरों में गलने ही जाना होता है, कृष्ण को व्याध के बाण से मारा ही जाना होता है। कविता की अंतिम पंक्तियाँ कुछ यों हैं :

सत्य अब वस्तुओं, विज्ञापनों के
बाज़ार में बिकता है
आत्मा की जल वाली नदी
दुर्दिनों की रेत में विलुप्त हो गयी है
आशा बलवती है राजन !

पाठ के विधान में अंतिम पंक्ति आशा का सन्देश नहीं, व्यंग्य का खड्ग ही लगती है। एकबारगी यह मान लें कि नन्द बाबू ने यह पंक्ति इस कविता विशेष के लिए नहीं बल्कि समूचे संग्रह के लिए लिखी तब भी संग्रह के मूल स्वर के साथ संगति बैठाना मुश्किल है।[8]

'शरीर' उनकी एक अप्रतिम कविता है । उम्र के नवें दशक में वे ही इतने अकुंठ भाव से देह की आकांक्षा और गरिमा को रेखांकित करती कविता लिख सकते थे । इस कविता में वे हमारी घर नामक संरचना, उसमें निर्मित शरीर की अपवित्रता, उससे उपजे डर के दर्शन और तृष्णाओं की अग्नि का ज़िक्र करते हैं, इस पवित्रता दर्शन के पीछे ब्राह्मणत्व के होने को चिह्नित करते हैं। और फिर पौराणिक कथाओं से उठते हाहाकार को दर्ज करते हैं।

बहुत सी घटनाएं थीं
स्त्रियाँ यम के पास जाती थीं हठीली, अडिग
मृत्यु से उठा लिए गए अपने पतियों के शरीर माँगने
देहातीत प्रेम का एक बार फिर देहानंद लेने के लिए
द्रौपदी पाँच-पाँच पतियों को बाँधे रही शरीर से
अनुद्विग्न, प्रसन्न
राम कौन सी सीता के लिए विकल थे
'मृगनयनी' कहते
अघोरी शिव भुवन भर में दौड़ते रहे
पार्वती के ठन्डे, गलते अकिंचन शरीर को
शरीर पर लिए शरीर के लिए
तथागत ने शरीर के लिए ही तो पूछा था
तुम भी एक दिन ऐसी ही हो जाओगी, यशोधरा !
पृथ्वी पर गिरी अचानक, रंगहीन पांखुरी की तरह

और इसके बाद वे कविता में उन नायकों को कठघरे में खड़ा कर देते हैं जो अपनी प्रिया की पुकार को ठुकराकर महान बने। यों ये काम बरसों पहले मैथिलीशरण गुप्त ने भी किया था मगर वहां यशोधरा के प्रति बुद्ध के कर्तव्य का ही हवाला था। वह राष्ट्र निर्माण की कविता थी, यह व्यक्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति की कविता है।[9] नन्द चतुर्वेदी ने भौतिक जगत में देह कि आवश्यकता कर्म और आनंद मात्र के लिए स्वीकार की है। इसे स्त्री या पुरुष के अलग स्वरूपों में देखकर विभाजन की वृत्ति नहीं दिखाई देती।

स्पष्टतः कह सकते है की नन्द चतुर्वेदी एक ऐसे रचनाकार है, जिन्होंने स्त्री को जीवन की रोशनी में आलोकित किया। वे सदैव सम्माज में समतामूलक व्यवस्था के पक्षधर रहे है। इस कारण स्त्री पुरुष की समानता और जीवन संघर्षो काआनंदमयी अवसान ही उनकी सृजनधर्मिता का अंग बन सका है।

1.नन्द चतुर्वेदी
2.हेमंत शेष सम्पादक समीक्षक : बिंदु पत्रिका
3.हेमंत शेष : आशा के आसमान में उमंग की अनकटी पतंग
4.नन्द चतुर्वेदी : 'साहित्य की व्यापक चिंताएं' : पृष्ठ : 24
5.रचनाकार : नंद चतुर्वेदी – स्त्री, प्रकाशन : हिन्दवी के लिए अनुराग चतुर्वेदी द्वारा चयनित

6.आशा बलवती है राजन रचनाकार : नंदचतुर्वेदी प्रकाशन : राजकमल

7.नन्द चतुर्वेदी ; यह समय हमारा है

8.नन्द चतुर्वेदी : आशा बलवती है राजन

9.नन्द चतुर्वेदी : शरीर

स्तावना- नारी होने के नाते चल रहे उत्पीड़न के खिलाफ जागृत नारी अस्मिता को लेखिकाओं द्वारा साहित्य के माध्यम से प्रकाशित करना स्त्री-विमर्श के दायरे में आता है। पुरुष प्रधान संस्कृति के संस्कारों से ग्रस्त वर्तमान व्यवस्था में नारी औरों के भरोसे रहने की मानसिकता में नहीं है। अत: वह अपनी आवाज को स्वयं बुलंद करना चाहती है। समाज से मनुष्य के रूप में व्यवहार पाने के लिए वह लालायित है। नारी शोषण के कई रूप विशेषकर लैंगिक शोषण के कई घृणास्पद तथ्य आज सामने आ रहे हैं। लिंग वर्चस्व की भावना इसमें अपनी अहम भूमिका निभाती है। 'बारबाला' आत्मकथा इन तथ्यों को बेबाकी से प्रस्तुत कर वर्तमान समाज को बेनकाब करती है। नारी-अस्मिता के प्रतिमान स्थापित करती है। रचना के शीर्षक से ही जाहीर है कि आत्मकथा बार इंडस्ट्री से संबन्धित महिला की है, जो उस क्षेत्र में कार्यरत प्रत्येक नारी का प्रतिनिधित्त्व करती है। बार इंडस्ट्री में बारबालाओं का कोई संगठन न होने से उनके शोषण की कोई परिसीमा नहीं रही है। 2005 में महाराष्ट्र में बार में होनेवाले डान्स पर पाबंदी लगाने से बारबालाओं पर गाज ही गिरी थी। इससे बार मालिक मामूली अंशों में प्रभावित हुए, पर यहाँ काम करनेवाली 35% स्त्रियाँ पूर्णत: बेरोजगार हो गयी थी। फिर यह पाबंदी उनके शोषण के खिलाफ नहीं थी। इस पाबंदी के बाद बारबालाओं ने 'पिक-अप-प्वाइंट', 'फ्री बार साइलेंस सर्विस' आदि स्थानों का सहारा लिया। अवैध कारोबार अबाध गति से चलने लगा, बल्कि भ्रष्ट व्यवस्था के कारण तेजी में आ गया। इससे बारबालाओं की यतनाओं में वृद्धि ही हुई। प्रस्तुत आत्मकथा की केंद्रीय पात्र लेखिका वैशाली हलदणकर भी इन स्थितियों से प्रभावित हुई है। उसीके संघर्षपूर्ण चरित्र का विकास और सम्मानपूर्वक जीने के लिए की जा रही जद्दोजहद आत्मकथा को गरिमा प्रदान करनेवाले तत्व हैं, जिन्हें यहाँ विस्तार दिया गया है।

बीज- स्त्री-विमर्श परिभाषा, आत्मकथा विधा- संकेत, वैशाली के माता-पिता, उनके पारस्परिक संघर्षपूर्ण संबंध, इन सम्बन्धों के चलते प्रभावित वैशाली का बचपन, विवाहपूर्व जीवन, विवाहोत्तर जीवन, प्रतिष्ठा पूर्वक जीने की ललक, संगीत में रुचि, प्रैक्टिस के बाद रिकार्डिंग के लिए पिता का विरोध, भद्र समाज से संबद्धता, आर्थिक, सामाजिक तथा लैंगिक शोषण के विविध रूप, स्थितियों से निपटने के लिए कडा संघर्ष, अपने जैसी शोषिताओं के लिए कार्य करने की तत्परता, बार इंडस्ट्री पर महिला राज की कामाना, निष्कर्ष।

मुख्य अंश- पुरुष-प्रधान संस्कृति के संस्कारों से ग्रस्त वर्तमान व्यवस्था में शोषण से मुक्ति के लिए नारी औरों के भरोसे रहने की मानसिकता में नहीं है। "इसीलिए अब वह 'अपनी दृष्टि' से अपने समाज और अपने आप का अन्वेषण कर रही है। इसे ही 'स्त्री-वादी' या 'नारी-वादी' साहित्य कहा जा रहा है।"[1] डॉ. जया परांजपे के अनुसार "स्त्री-विमर्श स्त्री ने स्त्री होने के नाते सहे हुए आघातों से मुक्ति तथा मनुष्य के रूप में व्यवहार कर सकने और उसी प्रकार का व्यवहार पाने के लिए स्त्री की जद्दोजहद की प्रक्रिया है।"[2] यहाँ हमने ऐसी ही प्रक्रिया से गुजरने वाली बार सिंगर वैशाली हलदणकर की आत्मकथा 'बारबाला' के विशेष संदर्भ को चुना है। मराठी में लिखी गयी प्रस्तुत आत्मकथा का हिन्दी अनुवाद कवयित्री तथा समीक्षक पद्मजा घोरपडे ने किया है। वैशाली हलदणकर इस प्रकार की आत्मकथा लिखने वाली एकमात्र बारबाला है, जिसने अपनी अस्मिता को जगाया है। सर्व-विदित है कि आत्मकथा के लिए अस्मिता (सात्विक अहम) बाधक नहीं होती।

'आत्मकथा' आत्म-विज्ञप्ति या आत्मगोपन न होकर तटस्थ रूप से किया गया आत्म-विश्लेषण है। "जब कोई व्यक्ति कलात्मक या रसात्मक स्तर पर उठकर अपने निजी व्यक्तित्त्व के विकास का चित्रण एवं विश्लेषण करता है, तब वह चित्रण एवं विश्लेषण आत्मकथा कहलाता है। कोई बिरला धीर-गंभीर व्यक्ति ही अंतर्मुख होकर तटस्थ रूप से आत्म विश्लेषण कर पता है।"[3] आज बाजरवाद, वैश्वीकरण से साहित्य की अन्य विधाओं की तरह ही आत्मकथा का प्रभावित होना क्रमप्राप्त है। ऐसा होते हुए भी 'बारबाला' रंजन के लिए नहीं है, तो आँखों में अच्छा-खासा अंजन डलवाकर समाज मस्तिष्क में झनझनाहट उत्पन्न करने हेतु है।

प्रस्तुत आत्मकथा की नायिका व्यक्तित्व सम्पन्न जीवन जीने के लिए छटपटाती है, परंतु हमेशा हारती है। जीवन की कशमकश को झेलते हुए उत्पन्न अवगुणों के लिए वह सर्व-प्रथम अपने परिवार को जिम्मेदार ठहराती है, फिर समाज को। उसका मानना है कि यदि उसके माता-पिता में संवाद स्थापित होता, विवाहोपरांत वे उसके अतीत को भूलकर उसे सहारा देते, पति दिलीप समझदारी का व्यवहार करता तो आज उन सबकी जिंदगी सुंदर रूख अपनाती। उसके जीवन में आये सभी पुरुष और पिता, पति, भाई उसे अपराधी, अपवित्र, चालू, वेश्या, रंडी, छिनाल समझते रहे, परंतु उसने अपने अंतस में स्वयं की एक प्रतिमा सँजोकर रखी थी और वह थी एक कलाकार की। उसका स्थितियों के साथ स्वयं को एडजस्ट करना विस्मयकारी है। स्वयं को एडजस्ट करने में उसकी पूरी ताकत लग जाने की स्थिति में आत्मकथा की शैली आत्मकेन्द्री हो जाना स्वाभाविक है। अर्थ-केन्द्री समाज व्यवस्था का तकाजा ही कुछ ऐसा है कि समाज-केन्द्री संवेदनशीलता आज बहुत पीछे छूट गयी है। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन आया है। फिर भी वह अपने जैसी महिलाओं का दुख समझती है और उनके उत्थान के लिए प्रयत्न करने में गौरव अनुभव करती है।

वैशाली के माता-पिता का अन्तर्जातीय विवाह था। पिता राम दिवाडे (बाद में उन्होंने दिवाडकर उपनाम ग्रहण किया) दलित थे और माँ शकुंतला तडसरे देशस्थ ब्राह्मण। जब दोनों में झगड़े होते तो वे जाति का उल्लेख कर एक-दूसरे को नीचा दिखाते। पिता संगीत साधना में तल्लीन हो जाते थे। माँ भी संगीत भक्त थी,

परंतु पुरुषी अहंकार पिता को अनुदार बनाए हुए था। बी.बी.सी. लंदन के लिए जब इस दंपति का ऑडिशन हुआ तो पत्नी उसमें उत्तीर्ण हुई और पति अनुत्तीर्ण। श्रीमान दिवाड़े ने रेडियो स्टेशन में ही पत्नी के गाल पर चांटा जड़ दिया, सबके सामने। उस एक चांटे ने वैशाली के बचपन को चकनाचूर कर दिया। दिवाडकर शास्त्रीय संगीत के आग्रही थे। संगीत में अपने प्राण ढालते थे, फिर भी जो प्रतिष्ठा उन्हें प्राप्त होनी चाहिए थी वह नहीं हुई। जाति कॉम्प्लेक्स और यह अप्रतिष्ठा उन्हें विक्षिप्त बनाने में कारगर हुए।

वैशाली हलदणकर बारबालाओं का प्रतिनिधित्व जरूर करती हो पर उसके स्वतंत्र व्यक्तित्त्व के कई पहलू उसे विशेष बनाते हैं। कल्पनातीत हादसों से भरा जीवन जीते हुए भी वह लिखती है- "रोते या शिकायत करते बैठ जाना मेरे स्वभाव में न था। .... जीवन का हर कीमती क्षण मैंने बटोरा। ऐसे अमूल्य क्षण खोने का पछतावा मुझे कभी नहीं हुआ।"4 दुख, यतनाओं को बर्दाश्त करने की अंदरूनी ताकत उसमें तर्कातीत है। झूठ, फरेब से उसे बेहद चीढ़ है। वह नुकीला व्यंग्य करती है और तीखा व्यंग्य समझती है। उधार लेकर खाना उसे पसंद नहीं और अपने कार्य के प्रति वह बड़ी निष्ठावान है। 'बार वाली' का लेबल एक बार लग जाये तो समाज पग-पग पर दुत्कारता है। परंतु पूरी आत्मकथा फ्लैप पर के इसी तथ्य को रेखित करती है कि 'जैसे औरत पैदा नहीं होती बनाई जाती है वैसे ही कोई लड़की बारबाला होती नहीं है, बनाई जाती है।' आशय यह है कि समाज ही उसे बारबाला बनने के लिए मजबूर करता है। बार इंडस्ट्री के घटिया चरित्र लोग अपने आपको सभ्य, सुसंस्कृत समझकर बार में काम करनेवालियों को 'रंडी' से संबोधित करते हैं तो वैशाली का आक्रोश फूट पड़ता है। ऐसे लोगों के विषय में वह लिखती है- "दरअसल रंडियों के पैसों पर ही वे जी रहे थे। उनकी बीवियाँ स्त्रियाँ थी। और हम रंडियाँ ? यहाँ डिस्को और पिक-अप-प्वाइंट में लड़कियाँ सप्लाई करने वाले भी इसी घमण्ड के मारे थे। मानो हम पर उपकार करते थे। दरअसल सच यह था कि इन लड़कियों की जूठन पर वे जिंदा रह रहे थे। लगता था कभी तो किस्मत का पासा उल्टा पड़ जाये। तब देखते ये तथाकथित सभ्य कैसे जीते हैं। कुछ भी कहिए, पुरुषों-पुरुषों की मिलीभगत रहती है। मजबूर, असहाय औरत की मदद करने में इन्हें बड़प्पन लगता है। लेकिन मदद लेते हुए उस स्त्री ने यदि गर्दन ऊपर उठायी कि ये बर्दाश्त नहीं कर सकते। स्त्री यदि अपने हक-अधिकार की भाषा बोले तो ये तिलमिला जाते हैं। फिर उन स्त्रियों की बदनामी, उनकी जिंदगी को बर्बाद करने पर ये तुल जाते हैं। स्त्री यदि कम पैसों में, फोकट में या सचमुच प्यार के कारण इनके साथ जब सोती है तब इन्हें वह मजबूर दिखती है और यदि स्त्री सौदा करने पर उतर आये इनके जैसा ही या पुरुषों को अश्लील बर्ताव करने न दे तब वह स्त्री बुरी, कुलटा, विलेन बनायी जाती है।"[5] बारबालाओं के लैंगिक शोषण का मुख्य कारण उनकी आर्थिक असुरक्षा है।

वैशाली का पूर्व का नाम है चित्रलेखा। बचपन से ही उसकी पेट की भूख अन्यों की तुलना में कुछ ज़्यादा थी। अत: पाँच वर्ष की अवस्था में इसी भूख को मिटाने के चक्कर में वह पड़ोसी भास्कर चाचा के लैंगिक शोषण का शिकार बनी है। चौथी कक्षा तक उसके लिए सब्जी-रोटी लाने वाली सहेली रोहिणी ने भी उसे समलिंगी-लेसबियन का अनुभव दिया है। वैशाली निराश कलाकार पति-पत्नी की, जातीयता के बलि चढ़े बाप की (केवल लड़की है इसलिए) उपेक्षित बेटी है। माँ और पिता में अनबन के कारण जब माँ घर छोड़कर निकल गयी तो वैशाली की जिंदगी बिखर गयी और बचपन खो गया। प्रेम, वात्सल्य की भूखी इस लड़की का इस्तेमाल काइयों ने अपनी लैंगिक भूख को पूरा करने के लिए किया और इसने उनके माध्यम से केवल अपनी पेट की भूख को शांत किया। उस समय यह न पाप-पुण्य समझती थी और न अच्छे-बूरे का फर्क। वह माँ के घर से निकल जाने के बाद बाप और भाई के लैंगिक अत्याचारों से बचने के लिए नाबालिग उम्र में भागकर विवाह की बेदी पर चढ़ी हुई परिणिता है, अल्पवयीन माता है, झुग्गी-झोपड़ी की घरेलू औरत है, गाँव की गरीब औरत है, कपड़े, बर्तन साफ करने वाली घरेलू मजदूरिन है, टीचर है, लाइब्रेरी में काम करने वाली स्त्री है, बारबाला है। परित्यक्ता है, ओशो आश्रम की संन्यासी है, हॉस्पिटल की आया है, प्राकृतिक चिकित्सा आश्रम की कर्मचारी है, किस्मत आजमाने के लिए मस्कत जाने वाली बोल्ड बारबाला है, विधवा है, वह एक बलात्कारित स्त्री है। उसका मानना है कि उसकी सभी यतनाओं का मूल उसके लड़की होने में है। वह लिखती है- "मेरा लड़की होना मेरे लिए शाप था। स्त्री! सृष्टि का वरदान लेकिन मानवी जीवन का शाप। माँ मेरी साँस रुकने तक मेरी पिटाई किया करती थी। दीवार पर मेरा सर पटक-पटक कर मारती थी। हर आठ दिन बाद ललाट पर, सिर पर पिटाई के जख्म उभरते थे। मैं खूब रोया करती थी।"6 ससुराल में पति, सास, ससूर के अत्याचारों को सहने वाली वैशाली परिवार में उपेक्षित उन्नीस वर्षीय ननद प्रतिभा की शादी किशोर मयेकर नाम के युवक के साथ बड़ी हिम्मत से करा देती है। वह आत्मसम्मान से जीना चाहती है। झुग्गी-झोपड़ी में रहते हुए अपने जीने के साधन जुटाने का प्रयास करती है। पर वहाँ भी उसका आर्थिक शोषण होता है। उससे चुनाव पर्चों का काम करवाकर पार्टी के लोगों उसके एक सौ पैसठ रुपये तक नहीं देते हैं। खादी के साथ ही वर्दी ने भी उसका आर्थिक शोषण किया है। मालवणी की झुग्गी क्र. 19 को वह खून-पसीना एक कर मानो नंदनवन बना देती है। परंतु उसे व्यभिचारी करार देकर पति दिलीप उसे अपने गाँव गोटीवरी भेज देता है। वहाँ के अभावों से तंग आकर जब वह अपने दोनों बेटों के साथ मुंबई लौटती है तो पाती है कि दिलीप ने उसकी सँवारी झोपड़ी नौ हजार में बेच दी है।

विवाह के बाद पति के साथ एकनिष्ठ जीवन जीने की कामना वह करती है। अपनी गृहस्थी को संभालने का भरसक प्रयास करती है, परंतु दिलीप का पुरुषी अनहंकार अपनी हद को पार कर जाता है। और उसके अत्याचारों से आतंकित, प्रेम की प्यासी वैशाली विवाह के बाद पहली बार बिल्डर चड्ढा के संपर्क में आती है। फिर न जाने कितने लोग उसका नाजायज फायदा उठाते हैं। वह एक उपभोग्य वस्तु बन जाती है, दूसरों की वासना पूर्ति का मशीन। हद तो तब होती है जब उसका बड़ा बेटा बबलू मानसिक असंतुलन की अवस्था में उसका बलात्कार करता है। इन सभी अनुभवों का वर्णन वैशाली एकदम तटस्थता से करती है।

आत्मकथ को पढ़ते वक्त हम बिल्कुल अपरिचित दुनिया में चले जाते हैं। अलग-अलग स्थानों, बारों और व्यक्तियों के इतने सारे नामों से गुजरते हुए लगता है हम किसी चक्रव्यूह में फँस गये हैं। वस्तुनिष्ठ तरीके से स्थितियों को आँकने वाली वैशाली कला की कद्र करने वाले, मानवीय संवेदनाओं से युक्त और उसकी मजबूरी का नाजायज फायदा न उठाने वाले लोगों के प्रति बेहद संवेदनशील हो जाती है। वह लिखती है- ''गरीब लोगों ने मुझे अच्छे अनुभव दिये हैं। गरीबों के पास कुछ नहीं होता। हाँ, एक चीज जरूर होती है, और वह चीज है- इन्सानियत! दुख, गरीबी मनुष्य को सामान्य बना देते हैं और इसीलिए वे सहज, मीठी बात बोल सकते हैं।''[7] सभी जगहों से हारकर जब वैशाली बियर बार में सिंगर बन जाती है, तो सोचती है कि अपनी आभिजात्य संगीत कला के प्रति एकनिष्ठ रहकर न्याय करेंगी। परंतु उसकी वह अपेक्षा भी पूरी नहीं होती, क्योंकि बार में काम करने वाली औरत को तो केवल उपभोग्य चीज ही माना जाता है। वह लिखती है- ''पुरुष मानो ताक में ही बैठे रहते थे कि यह औरत है ही इस काम की। इसे रौंदो, मसलो! इस्तेमाल करो और फेंक दो।''[8] अब जब सिर्फ उपभोग्य चीज बन जाती है तो वह अपने शरीर का उपयोग पैसा कमाने के लिए सहजता से करने लगती है। वैशाली का सफर फ्लैट संस्कृति से झुग्गी-झोपड़ी और बार-संस्कृति की ओर है। फ्लैट हो, झोपड़ी हो, बार हो, ओशो आश्रम हो, हर स्थान पर समाज का कुरूप चेहरा ही सामने आता है। सांप्रदायिक दंगों का भी वह बुरा अनुभव लेती है। आत्मकथा में शरद पिलगाँवकर, सुलभा देशपांडे, अनिल मोहिले, सुप्रसिद्ध गायिका शकुंतला जाधव, सुमन कल्याणपुर, उत्तमराव पाटिल (भीमसेन जोशी के शिष्य) जैसे दिग्गजों के साथ वैशाली के पिता राम दिवाड़े के अच्छे सम्बन्धों का उल्लेख है। लगता है वैशाली अपने स्वतंत्र व्यक्तित्त्व के साथ इन लोगों को मिलती तो हो सकता था, यह कलाकार वर्ग उसकी कुछ मदद करता। खैर.... ऐसा हुआ नहीं।

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की नजाकत, माधुर्य का अनुभव उसे अत्यल्प मात्रा में मिला, टारजन और अन्य एक दो पुरुषों से। जब दिलीप ने उसे अपने गाँव गोटिवरी भेज दिया तो बहुत से अभाव थे परंतु वहाँ सुंदर प्रकृति ने उसे आनन्द दिया। उसे पुस्तकों ने आनन्द दिया और आदर तथा सम्मान दिया सामाजिक कार्य-कर्त्ता सुश्री वर्षा काले तथा उनके बारबालाओं से संबन्धित आंदोलन ने। वर्षा काले के दरवाजे पर लिखे इस वाक्य से तो उसका मन बाग-बाग हो उठता है कि, 'प्रेम से कहो हम इन्सान है।'

घटना प्रवाह की दृष्टि से प्रस्तुत आत्मकथा का कुछ अंश विखरा हुआ लगता है। वैशाली ने अपने आत्मकथा के मज़मूम को समूची बारीकियों के साथ, एक-एक घटना को ठीक से याद करके बारह सौ पृष्ठों में लिखा था। पूरी गरिमा के साथ इसे सम्पादित करना बड़ा चुनौती भरा कार्य था, जिसे श्री. अविनाश पंडित जी ने बड़ी आत्मीयता और लगन के साथ पूरा किया। सम्पादन के बाद आत्मकथा की पृष्ठसंख्या 200 के करीब है। अत: घटना-क्रम में कुछ अंशों में बिखराव स्वाभाविक है। छाया दातार के अनुसार- फेमिनिज़्म का मतलब ही है वर्ग, जाति, लिंग वर्चस्व (श्रेष्ठता) इन तीनों का निपात कर सही अर्थ में समताधिष्ठित समाज प्रस्थापित करना।[9] वैशाली भी इसी के लिए संघर्षरत है। अंत में वह सम्पूर्ण बार इंडस्ट्री पर महिला राज की कल्पना करती है और चाहती है कि यहाँ की हर महिला को सम्मान मिले। यही उसके चरित्र का विकास है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में लिंग वर्चस्व की भावना के चलते स्त्री शोषित, पीड़ित तथा उपेक्षित है। जीवन में सामान्य संघर्षों के अलावा स्त्री होने के नाते उसे कल्पनातीत शारीरिक, मानसिक और लैंगिक शोषण का सामना भी कई स्थितियों में करना पड़ता है। इससे मुक्ति के लिए वह औरों के भरोसे नहीं रहना चाहती तो अपनी दृष्टि से अपने समाज और अपने आप का अन्वेषण करना चाहती है। वैशाली की जद्दोजहद उसे विशेष बनती है। आत्मकथा जैसी विधा के माध्यम से स्त्री अपने साथ घटित हादसों को बेबाकी से प्रस्तुत कर समाज को बेनकाब कर सकती है। वैशाली इसी विधा का सहारा लेती है। नारी के लिए स्थापित सामाजिक, पारिवारिक वर्जनाओं पर तीखी प्रतिक्रियाएँ देती है। उसका सम्पूर्ण जीवनसंघर्ष 'सभ्य समाज' को कटघरे में खड़ा करता है, कई प्रश्न उपस्थित करता है। वैशाली अपने जैसी स्त्रियों के उत्पीड़न के विरोध में खड़ी होना चाहती है। बार इंडस्ट्री पर महिला राज की कल्पना कर बारबालाओं के उत्थान और सम्मान के लिए वह कटिबद्ध है। यही उसके चरित्र का विकास है, जो आत्मकथा का शीर्ष बिन्दु है।

संदर्भ-

1.हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. माधव सोनटक्के, विकास प्रकाशन, कानपुर, द्वितीय संस्करण 2000 ई., पृ. 435

2.उपलब्धि, महाराष्ट्र हिन्दी परिषद- 13 व अधिवेशन, 27, 28 दिसम्बर 2003, संपादक डॉ. सुरेशकुमार जैन, पृ. 26

3.साहित्य शास्त्र, डॉ. चंद्रभानु सोनवणे, आलोक प्रकाशन, औरंगाबाद, द्वितीय संस्करण- 1992, पृ. 158

4.बारबाला (एक बार सिंगर की आपबीती), वैशाली हलदणकर, अनुवाद- पद्मजा घोरपड़े, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009, पृ. 76

5.वही, पृ. 186, 187

6.वही, पृ. 47

7.वही, पृ. 52

8.वही, पृ. 93

9.स्त्रीमुक्ती चलवल आणि वृत्तपत्रांचा सहभाग, मंगल खिंवसरा, स्वरूप प्रकाशन, औरंगाबाद, प्रथमावृत्ती 2005, पृ. 54

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ग्रामीण स्त्री जीवन का परिदृश्य

('बेनीमाधो तिवारी की पतोह' उपन्यास के विशेष संदर्भ में)

-बेबी विश्वकर्मा
सहायक प्राध्यापक,
नगाँव गर्ल्स कॉलेज,
असम,मो.9366905919

स्त्री अपने स्वतंत्रता के लिए लंबे समय से संघर्षरत है। नैतिकता, मर्यादा, इज्जत आदि के नाम पर वह सदा छली गई है। लेकिन ये बंधन केवल स्त्री पर लगे हैं, पुरुष पर नहीं। सत्ता की दोहरी मानदंडो की कपट को अब स्त्री समझने लगी है। स्त्री सबलीकरण, स्त्री-स्वतंत्रता के नारे आज हर जगह दिख जाते हैं। अब तक 21वीं सदी के दो दशक गुजर चुके हैं, स्त्री की स्थिति में थोड़ी-बहुत सुधार जरूर हुई है लेकिन उसका सफर अभी भी मंजिल से कोसो दूर है। स्त्री तब भी समाज की दोहरेपन की शिकार थी, आज भी है। फर्क इतना है कि अब स्त्री के पारंपरिक विशेषताओं में कुछ आधुनिक विशेषताएँ भी जुड़ गए हैं। अब स्त्री का स्मार्ट, शिक्षित होना जरूरी है लेकिन उस पर नियंत्रण अभी भी पुरुषवादी समाज का है, वह कामकाजी हो सकती है लेकिन घरेलू और पतिव्रता होना उसके चरित्र की शुचिता और आदर्श पत्नी, बहू और माँ होने का प्रमाण-पत्र है। दुनिया की आधी आबादी अभी भी इन शर्तो पर घुट-घुट कर या फिर इसे ही अपना भाग्य-सौभाग्य मानकर जी रहीं हैं। मधुकर सिंह का उपन्यास 'बेनीमाधो तिवारी की पतोह' एक ऐसी ही स्त्री की गाथा है जिसके जीवन का कई दशक पितृसत्ता के पुर्वाग्रहों से ग्रस्त्त वातावरण में बिना निषेध बीत जाती है। लेकिन हरिहर के प्रयास और ससुर बेनीमाधो तिवारी की स्वार्थसन्निहित प्रोत्साहन से विधवा पतोह के रंगहीन जीवन का नया रंगीन अध्याय प्रारम्भ होता है। सुनन्दा के मन में नव अंकुरित अस्तित्व की चेतना उसके पर लगे सपनों को आसमानी ऊंचाई देती है। तिवारी की पतोह ग्रेजुएट है लेकिन सुशिक्षित होकर भी घर के चारदीवार में कैद रहने के लिए अभिशप्त है। तिवारी जी उसे शहर में रखना नहीं चाहते, नौकरी नहीं करने देते, मनपसंद किताबें पढ़ने नहीं देते। निरंतर संघर्ष के लिए उसे गाँव में छोड़ दिया जाता है। ताकि उसके मन में भटकाव पैदा न हो सके। लेकिन जब अपनी सत्ता कायम करने का जुनून तिवारी पर सवार होता है तो अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए सुनन्दा को घर से बाहर जाने की छूट देते हैं। उसे आंगनवाड़ी सेविका बनाने की योजना करते हैं। सुनन्दा अपने जीवन में आए नए परिवर्तन को लेकर अत्यंत उत्साहित रहती है। वैचारिकता की नई दुनिया में वह चहकती हुई प्रवेश करती है। सुनन्दा का आत्मजागरण समूचे गाँव के कायापलट का कारण बनता है। सुनन्दा सालों से पिंजरे में कैद पक्षी को मिली मुक्ति की अधीर उड़ान भरती है। स्वत्वबोध का पहचान और अधिकारों का ज्ञान उसके व्यक्तित्व को साहसी और प्रखर बनाता है। कोई भी बाधा उसके परों में लगें मुक्ति की जद्दोजहद को रोकने का सामर्थ्य नहीं रखता। गाँववालों द्वारा दिये गए तानें, अपमान, रुकावटों को चीरती हुई वह अपना मुकाम हासिल करती है। आंगनवाड़ी की सेविका बनती है साथ ही ग्राम पंचायत की प्रथम महिला प्रमुख की कुर्सी साहस और ईमानदारी के साथ हासिल करती है। पुरुषवादी और जातिवादी व्यवस्था के आचार संहिता का अतिक्रमण कर 'युवनीति' के नाट्यमंडली में योगदान करती है तथा नाटकों के जरिए दुष्टचक्रों का पर्दाफाश कर समाज में जागृति और समरसता लाने का भरसक प्रयास करती है।

हमारा समाज पुरुषसत्तात्मक है और स्त्री दोयम दर्जे की नागरिक। संसार के संसाधनों पर, यहाँ तक स्त्री पर भी मूल अधिकार पुरुष का है। चाहे वह पिता, भाई, पति, ससुर अथवा परिवार के वरिरष्ठ व्यक्ति के रूप में हो। स्त्री को क्या कब और कितनी मात्रा में मिलेगी इसका निर्णय भी पुरुष लेता है। इसीलिए तो स्त्री स्वतंत्रता और अन्य अधिकारों को लेकर समाज में दोहरापन दिखता है। स्वतंत्रता की चाह रखनेवाली स्त्रियों के प्रति समाज में घृणा और अविश्वास भर दिया गया है। राजेंद्र यादव लिखते हैं- "वे पुशंचली, कुलटा, छिनाल, रंडी, पतिता इत्यादि के नाम से सजा की अधिकारीणी हुई। इस स्वतंत्रता की सजा मौत होती है"[1] हमारे समाज में पुरुष को श्रेष्ठ और स्त्री को इतर दर्जा दिया जाता है। वह चाहता है कि स्त्री निष्क्रिय रहें और उसके विचार भी। परिणामस्वरूप स्त्री और पुरुष के लिए दोहरे नियम बनाए गए। पुरुष एक से तीन-चार शादियाँ करने की छुट रखता है। पत्नी के जीते जी विवाह के वादों को ठुकराता है लेकिन पति के मृत्यु के बावजूद स्त्री को उन वादों का भार उठाना पड़ता है। पति नामक संरक्षण के छूटने के पश्चात यह मान लिया जाता है कि उस विधवा की कोई आशा-आकांक्षाएँ शेष नहीं रहेगी। रूढ़िवादी नीति-नियम, ताने, अवज्ञा और अपमान उसके जीवन को दुर्वह कर देता है। किसी सामाजिक धार्मिक कार्यक्रम में उसकी भागीदारी को अपवित्र, अशुभ ठहराया जाता है। पुरुषवर्चस्ववादी समाज स्त्री जीवन की स्वाभाविक गति को रोकने की तमाम प्रपंच रचता है। सुनन्द सोचती है – "विधवा होने के बाद उसके सारे सपने मर गए हैं या मार दिए गए हैं। कुछ पढ़ने की इच्छा भी होती तो यह जालिम श्वसुर इतना ज़ालिम था कि शहर में अख़बार तक देखने नहीं देता था। पढ़ने के लिए कुछ मांगनेपर गीता रामायण सामने रख देता। उपन्यास कहानी में मन रमाती तो यही जालीम श्वसुर डांट देता कि यह सब पढ़ना तुम्हारे लिए जुर्म है...बहक नहीं जाऊँ इसीलिए अशिक्षा, जहालत और भूख के बीच गाँव में डाल दिया गया।"[2] भावना कम जनमना तो मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। तो फिर क्या किसी की साथ की चाह, किसी की प्रेम सहानुभूति की तलब केवल पुरुष मन की उपज हो सकती है? स्त्री मन की नहीं? लेकिन पुरुषोचित मूल्य, नैतिकता स्त्री से जड़-सम बनने की अपेक्षा रखती हैं। समाज जैसा कहे स्त्री ठीक उसी भांति यंत्रोवत व्यवहार करती जाए। उपन्यासकार ने स्त्री-दमन की इस पहलू को मंदता से लेकिन बेहद सटीकता से प्रस्तुत किया है। वर्षो से अकेलेपन की बोझ ढोती सुनन्दा हरिहर के अप्रत्याशित प्रोत्साहन, प्रशंसा, सहानुभूति पाकर खिल उठती है। जैसे उसके बंजर ज़मीन पर अधीर अपेक्षित वर्षा की दो बूंदें अचानक टपक पड़ी हो - "बहूको चाहना शब्द बहुत मीठा लगा।...चुपचाप खड़ी होकर उसके शब्दों पर गौर कर रही थी। तिवारी जी नहीं होते तो पूछती उसमें और कौन-कौन-सी योग्यताएँ हैं।"[3] सुनन्दा का यह

क्षणिक आकर्षण उसके जीवन का विरानापन और किसी अपने को संग पाने की चाह की उपज है। उसकी यह तलाश भूनेसर महतो में अपनी मंजिल पाती है। सुनन्दा विधवा है ऊपर से ब्राह्मण कन्या तो दूसरी ओर भूनेसर सवर्ण भी नहीं है। उन दोनों का वैवाहिक संबंध ब्राह्मणवादी और पुरुषवादी संकीर्णता से प्रदूषित समाज के सत्ता के लिए एक चुनौती है। इसीलिए उनको तोड़ने के लिए, कमजोर करने के लिए, समाज से बहष्कृत करने के लिए अनेक प्रयास और प्रपंच किए जाते हैं। लेकिन व्यर्थता ही उनके हाथ लगता है। समाज के जिस अन्यायपूर्ण व्यवस्था को खत्म करने की जी-तोड़ प्रयास सुनन्दा और भूनेसर कर रहे है, उससे बहष्कृत होने का भय भला उन्हें किस प्रकार दुर्बल बना सकती है!

समय की गतिशीलता हमें अपने विचारों को भी प्रगतिशील बनाने की मांग करता है। एक समाज और देश सही मायने में तभी समर्थ समृद्ध बनेगा जब उसकी स्त्रियाँ समाधिकार की अधिकारिणी होंगी। उपन्यासकर मधूकर सिंह इस बात को समझते हैं इसीलिए चर्चित उपन्यास के अनेक प्रसंगों में वे लैंगिक समानता की मांग रखते हैं जिसके तर्क में भारत के स्वर्णिम अतीत का (जिसके गौरव गान में अपरिमित साहित्य की रचना की जा चुकी है,)हवाला देते हैं। तिवारिपुर का ग्रामीण समाज पूरी तरह मध्यकालीन जड़ संस्कारों से ग्रस्त है। जातिगत भेद-भाव, स्त्री दमन, गरीबों का शोषण, अफसरवर्गों का भ्रष्टाचार यहाँ चरमोत्कर्ष पर है। इसीलिए स्त्रियों का मर्दों के साथ बैठकर नाटक देखना गांववालों के लिए मर्यादा नष्ट और धर्म भ्रष्ट करने के समान है। लेकिन सुनन्दा इसके विरुद्ध तर्क देती हुई कहती है- "भगत सिंह महान देशभक्त थे। उनसे नारी को शिक्षा मिलती है। औरतों को भी वह नाटक देखने की अनुमति होनी चाहिए। ...रानी लक्ष्मीबाई भी तो मेरी तरह विधवा बहू थी। उन्होने अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर दिए। समय बदल रहा है बाबूजी। औरत को साथ जोड़कर चलना होगा।"iv स्त्री की इच्छा-आकांक्षा, विचार और निर्णय सभी पर पुरुष एकाधिकार चाहता है। मान-मर्यादा, चरित्र और नैतिकता की कसौटी के कठघरे में स्त्री ही मुजरिम ठहराई जाती है। यह कितना हास्यापद लगता है कि गाँव का दागी गुंडा रंगीला जो खुद अब्बल दर्जे का लफंगा है, जिसके आशियाने में देह व्यापार, ताड़ीखाना, जुआ, ऐय्याशी जैसे कुकर्म हर शाम चलते रहते हैं,वह भरी सभा में स्त्रियों को नैतिकता की पाठ पढ़ाने की हिम्मत रखता है- "बंद करो यह नक्सलाइट गाना?...गाँव की बहू-बेटियों का रास्ता खराब होगा? वही चोर-डाकू बनेंगे?"v लेकिन उसकी यह धमकी स्वत्व हासिल करने की राह पर निकल पड़ी स्त्रियों को पस्त नहीं कर पाता। हरिकिसुनी रंगीला सिंह के प्रत्युत्तर में कहती है – ''हमारे जिन हाथों में सुहाग की चूड़ियाँ हैं, उन्हीं हाथों में हँसुआ-खुरपी भी रखते हैं''[vi]

मधुकर सिंह ने चर्चित उपन्यास में स्त्री पात्रों के नामउद्घातन में विशेष ध्यान दिया है। उपन्यास का नामकरण और स्त्री पात्रों के संबोधन स्त्री-अस्मिता से जुड़ी एक अहम बिन्दु पाठक के समक्ष लाती है। पारंपरिक रूप से तय की गई स्त्रीत्व की अवधारणा परिवार को स्त्री का सर्वस्व मानती है। स्त्री जीवन की धुरी उसका परिवार है जिसके इर्द-गिर्द वह आजीवन खपती रहती है लेकिन विडम्बना यह है कि न वह घर-परिवार उसका अपना बन पाता है और न ही उसका पहचान अपना रह जाता है। जिस घर में वह जन्म लेती है, अपना मानकर उसे प्रेम से संवारती है वहाँ उसे 'पराया धन' कहा जाता है। शादी के बाद मायका पीछे छुट जाता है लेकिन ससुराल उसे पूरी तरह अपना नहीं पाता क्योंकि आखिर में वह घर उसका थोड़े न है उसके पति का है। जिसकी समृद्धि के लिए वह खुद को होम करती है वहीं से उसे बात-बेबात पर घर से निकल जाने की, बेघर करने की धमकी दी जाती है। चर्चित उपन्यास में सुखदेव तिवारी की पतोह बासमती के साथ भी यही होता है। ससुरालवालों ने बासमती को अपने अधीन, अपने बेटे के अधीन रहनेवाली एक तुच्छ जीव से बढ़कर नहीं समझा। वरना जिसके साथ सालों एकसाथ एकछत के नीचे गुजारा वही परिवारवालें उसका नाम तक नहीं जानते। यह दरअसल उसके अस्तित्व को नकारना है। भला घर के वस्तुओं का नाम कौन जानता है? उनका तो बस उपयोग होता है और पुराने होने पर फैंक दिये जाते है। घर की तरह स्त्री का पहचान भी पराया होता है। वह पहचानी जाती भी है तो किसी ओर के सहारे, या तो किसी की माँ है, बहू है, बेटी है या पत्नी है। इन रिस्तों के बीच स्त्री की वेयक्तिकता दम तोड़ देती है। स्त्री का पहचान केवल उसके रिस्तें बनकर रह जाते हैं। चर्चित उपन्यास में स्त्री पात्रों का परिचय पाठकों से सर्वप्रथम किसी-न-किसी की पतोह के रूप में होती है। रेखांकन योग्य बात यह है कि जैसे ही पात्रों में आत्मजगरण की चेतना समाती है वे अपने नाम से संबोधित होतीं हैं जो उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व का परिचायक है। उन पर थोपी गई पुरुष आश्रित छवि का निषेध है। बेनीमाधो तिवारी द्वारा नाम पूछे जाने पर हरिकिसुनी कहती है – ''ससुराल में बेटी का नाम नहीं होता। वह सिर्फ फलाना बहू या फलां की माय होती है। बाबा वैसे मैंने अपना नाम पहले ही बता दिया है- लगनराम की पतोह।''[vii]जब वह रंगीला सिंह के स्त्री विरोधी टिप्पणी का सशक्त विरोध करने का साहस दिखाती है, उपन्यासकार उसके नाम का का खुलासा करते है – ''वह बुदबुदाई, हरिकिसुनी''।[viii]

पुरुषवादी मानसिकता के शिकार लोगों के लिए स्त्री मात्र एक भोग्य वस्तु है जिसकी देह तो है पर चेतना नहीं। पटककर, गिराकर निर्मम छेड़खानी करते हुए जिस तरह एक खिलौना के साथ खेला जाता है, पुरुष भी स्त्री के साथ ठीक उसी प्रकार का व्यवहार करता है। खिलौना यदि अत्यंत प्रिय हो तो कुछ समय तक मालिक का प्रेम पाता है लेकिन उसकी अंतिम नियति तो कूड़ेदान में फैंका जाना ही है। एक खराब हो चुके खिलौने की भांति समय आने पर स्त्री भी फैंकी जाती है। समाज के दृष्टि में स्त्री का देह सर्वोपरि है। उसका सर्वोत्तम अस्त्र उसका देह है जिसके सहारे वह पुरुष को लुभाती है। स्त्री मानस का अवमूल्यन तो होता रहता है परंतु स्त्री के देह पर भी उसका खुद का अधिकार नहीं होता। स्त्री देह जाति, धर्म, वंश, परिवार के सम्मान का प्रतीक है। स्त्री की पवित्रता पुरुष का अभिमान है। स्त्री देह पर लगा कलंक इन मर्यादाओं पर चोट पहुंचाता है। इसीलिए पुरुष द्वारा बलात्कृत होने पर यह मान लिया जाता है कि स्त्री का सर्वस्व लूट गया। लेकिन यहाँ भी अपराधी स्त्री ही ठहराई जाती है। यह स्त्री की गलती थी कि उसने अपने कुल की मान-मर्यादा का खयाल नहीं रखा, ढंग के कपड़े नहीं पहने, अकेली बाहर निकली, अधिक मुसकुराई, जरूरत से ज्यादा वाचाल बनीं, चंचलता दिखाई और पुरुष को लुभाया। पुरुष के तो फितरत में ही है बहकना, स्त्री को ही खुद को नियंत्रण में रखना चाहिए। बंधन में रहना चाहिए। इस तरह के भांति-भांति के बेतुके तर्क देकर अंत में सजा की अधिकारिणी स्त्री को ही बनाया जाता है। पीढ़ित दोषी बनती है और पुरुष विजय का उल्लास मनाता है। चर्चित उपन्यास में सुखदेव तिवारी के घर में नसे में धुत कुछ सिपाही घुसकर उसके बहू के साथ बलात्कार की अपचेष्टा करते हैं। बहू भयभीत

होकर अपने बचाव के लिए रोने चिल्लाने लगती है तो सुखदेव उसका जबड़ा दबाते हुए कहता है – "ज़ोर से मत रो-धो, हल्ला से अपनी बदनामी होगी"।[९] इस तरह के अनेक घटनाएँ हमारे आस-पास आए दिन घटित होती रहती हैं। लोकलाज के भय से ऐसे घटनाओं को दबाया जाता है जो अपराधियों के कूमंसा को बढ़ावा देता है। यदि केस फाइल कर भी दिया जाए तो समाज का कड़वाहट, संदेह और हिराकत भरी दृष्टि, मीडिया का टी.आर.पी स्टंट, वकीलों के शर्मनाक टिप्पणियाँ और चरित्र पर उठाए सवाल पीढ़ित को अकल्पनीय यातना देती है। "भारत जैसे देश में क्या मेडिकल जांच, पुलिस तहक़ीक़ात और सुनवाई के दौरान जख्मों पर नमक छिड़कने जैसे बेहूदा, अप्रासंगिक, तर्कहीन व बेतुके सवाल क्या और विद्रूपता अख़्तियार नहीं कर लेंगें?...उसे पहले अपने सच्चरित्र होने का प्रमाण पेश करना पड़ता हैं, जहां विरोधी पक्ष के वकील उसके पिछले सम्बन्धों तथा पूर्व घटनाओं का सहारा लेकर उसे चरित्रहीन कुलटा बताने के प्रयास में लगे होते हैं लेकिन न्याय की इस लंबी प्रक्रिया में उसे भीड़ के बीच कितनी ही बार उघाड़ा जात है"।[१०]

एक चीनी कहावत है- "पुरुष को शिक्षित करो तो एक जन विकसित होता है पर स्त्री को शिक्षित करो तो पूरा वंश शिक्षित होता है। इसे हम इस तरह भी कह सकते हैं कि स्त्री को सही तरह मुक्ति दो तो पूरा वंश मुक्त होता है"।[११]i चर्चित उपन्यास में सुनन्दा का आत्मजगरण समूचे गाँव के उद्धार का कारण बनता है। सुखदा के लगातार प्रोत्साहन से ही बेनीमाधो तिवारी ब्राह्मणवादी संस्कारों को जो उन्हें मनोविकार के हद तक कुंठित कर चुका था, को त्यागने में सफल होते हैं। सुनन्दा का नेतृत्व गाँव की स्त्रियों का मनोबल बढ़ाता है। सदियों से जकड़ी हुई पुरुषसत्ता की जंजीर को तोड़कर वह पुरुषनिर्मित अनीतिपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध बुलंद होती हैं।

चर्चित उपन्यास में पुरुषवादी संस्कारों में दीक्षित लोगों के कुंठित विचार और स्त्री के प्रति शोषणकारी, भोगवादी मनोवृत्ति को उपन्यासकार ने कई प्रसंगों में पाठक के समक्ष रखा है। पुरुषतांत्रिक समाज में ही प्रत्येक स्त्री का जन्म और पोषण होता है। बचपन से ही उसे पुरुषस्वीकृत व्यवहार करने की सीख दी जाती है। स्त्री मानस का अनुकूलन कुछ इस प्रकार होता है कि स्त्री विरोधी नियमों को ही वह परम सत्य मान बेठती है और दुर्भाग्यवशतः जाने-अनजाने स्त्री शोषण की सह-अपराधिनी भी बनती है। उपन्यास में बेनीमाधो की भौजी भी इस नाते गुनेहगार ठहरती है। वह सुनन्दा को पुरुषनिर्मित मूल्यों की पालन की हिदायत देती है – "ध्यान रहे बहू कि पाँव कहीं उच-नीच नहीं फीसले। बड़े हिसाब से पाँव रोपना खतरा तब बढ़ता है जब विधि-विधान लांघकर औरत पुरुष की बराबरी करने लगती है। अपनी जाति-बिरादरी में विधवा की दूसरी शादी वर्जित है"।[१२]

स्त्रीत्व का एक निश्चित दारा बनाकर प्रत्येक स्त्री को उस कसौटी में खड़ा करना अन्यायपूर्ण है। चर्चित उपन्यास के पात्र इन दक़ियानूसी नियमों का अतिक्रमण करते हुए सत्ता की छद्म के विरुद्ध लड़ती हैं और अस्मिता रक्षा तथा स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए निरंतर संघर्षरत हैं। स्त्री के व्यक्तित्व के विकास को अवरोध करती पुराने संकीर्ण गलियों को त्याग वह अपने नए सफर पर चल पड़ती हैं जिसका रास्ता भी वह खुद चुनती हैं और मंजिल भी। बहू/वस्तु से व्यक्ति बनने की उसकी उत्कट चाह में वह सारे जोखिमों को, समाज के तानें, अपनों की अवज्ञा और विश्वासघात सब कुछ झेल लेती है लेकिन हौसला नहीं खोती। उपन्यासकार ने चर्चित उपन्यास में सामाजिक समता की कामना करते हुए स्त्री जागरण को जन-जागरण और जन-आंदोलन का माध्यम बनाया है।

संदर्भ :

i) राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृ 16
ii) मधुकर सिंह, बेनीमाधो तिवारी की पतोह, पृ 14-15
iii) वही, पृ 14
iv) वही, पृ 24
v) वही पृ, 40
vi) वही, 40
vii) वही, पृ 41
viii) वही 41
ix) वही, पृ 74
x) कमलेश कटारिया, नारी जीवन : वैदिक काल से आज तक, पृ 70
xi) मृणाल पाण्डेय, स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति तक, पृ 10
xii) मधुकर सिंह, बेनीमाधो तिवारी की पतोह, पृ 44

सहायक ग्रंथ सूची

1) कमलेश कटारिया, नारी जीवन : वैदिक काल से आज तक, निकिता प्रकशन गृह, जयपुर 2013
2)नमिता सिंह, स्त्री प्रश्न, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017
3)पुशपाल सिंह, 21वीं शतीं का हिन्दी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
4)मधुकर सिंह, बेनीमाधो तिवारी की पतोह, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2016
5)मृणाल पाण्डेय, स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति तक, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

वर्तमान समय में नारी की स्थिति

-डॉ.पूजा शर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर,हिंदी,
वीमेन कॉलेज गांधी नगर,जम्मू कश्मीर

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय नारी की स्थिति में क्रांतिकारी बदलाव आया। वह घर की चारदिवारी से बाहर निकलकर देश के बहुआयामी विकास में अमूल्य योगदान देने लगी। आज हमारे देश की नारियां राजनितिक सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और शैक्षिक सभी क्षेत्रो में आगे बढ़ रही है। सादियो से शोषित एवं पददलित नारी पुरूष प्रधान समाज के प्रभाव से मुक्त होकर आर्थिक राजनैतिक और सामाजिक दासता से निकलकर स्वछच्छंद जीवन का विकास करने की सुविधाएं प्राप्त कर रही है। आज विश्व में स्त्री कहीं भी किसी भी क्षेत्र में पुरष से पीछे नहीं है बल्कि कई क्षेत्रों में वो उससे आगे बढ़ चुकी है। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रश्न उठता है कि इतना सब होने के पश्चात भी आज स्त्री की दशा क्यों नहीं सुधर पाई ? इसका सब से बड़ा कारण है पुरुष सत्ता और उसकी स्त्री के प्रति नकारात्मक मानसिकता। हम ने स्त्री सुरक्षा और सशक्तता के लिए हरसंभव प्रयास किया परंतु हमारी मानसिकता अभी भी कहीं न कहीं पौराणिक रूढयों और परंपराओं से जुड़ी हुई है जिसका खामियाजा अभी तक स्त्री भुक्त रही है।

बीज शब्द : स्त्री के बदलते जीवन मूल्य , सभ्य स्त्री , समय और समाज के सामने विपरीत परिस्थितियों में भी खड़ी स्त्री , रूढयों और पौराणिक जर्जर मान्यताओं और परंपराओं में बंधी स्त्री और पुरुषवादी मानसिकता का शिकार स्त्री।

विस्तार: भारतीय समाज में नारी को दोयम दजेर् का नागरिक माना जाता रहा है। हमारे देष में नारी की स्थिति सदा एक जैसी नहीं रही। इसमें समय.समय पर परिवतर्न होते रहे हैं। नारी ने वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक अनेक उतार.चढ़ावों को वहन करते हुए अपने अस्तित्व को बनाये रखा। " समाज के आधार ही नर और नारी हैं।इनके बिना सृष्टि का आगे बढ़ पाना असंभव है। अन्यथ्य फिर भी इस सत्य के पश्चात भी समाज में पुरुष का अस्तित्व तो प्रतिबिंबित होता है और इसके विपरीत स्त्री को भी पुरुष प्रधान समाज में निम्न दृष्टि से देखा जाता है।"[1]जहां वैदिक काल में नारी की स्थिति सुदृढ़ थीए परिवार तथा समाज में उन्हें सम्मान प्राप्त था किन्तु मध्य काल में नारी की स्थिति दयनीय होती गई। मुगल शासनए सामन्ती व्यवस्थाए विदेशी आक्रमणों तथा शासकों की विलासितापूणर् प्रवृति के कारण नारी को मात्र उपभोग की वस्तु समझा जाने लगा। इसी समय समाज में बाल विवाहए पदार् प्रथाए बहुविवाह, अशिक्षा जैसी कुरीतियां फैल गई जिससे नारी दीन.हीन बनकर रह गई। भारत में कुछ समाजसेवियों जैसे राजा राममोहन रायए दयानन्द सरस्वतीए केषवचन्द्र सेन ने नारी उत्थान के लिए अनेक कदम उठाए। उनके प्रयासों के फलस्वरूप ही समाज में नारी के विरुद्ध फैली कुरीतियों पर कुछ हद तक रोक लगी। नारियों में एक तरह से अपने अधिकारों के प्रति जागरुकता आई और नारी शिक्षा की मांग की जाने लगी।

वर्तमान समय मे शिक्षा के बढ़ते प्रचार-प्रसार ने नारी उत्थान के कई मार्ग प्रशस्त किए।" समय बदला समाज में चेतना आई और स्वयं स्त्री मुखर हुई। शिक्षा बढ़ी पुरानी गढ़ता टूटी , सरकारी योजनाएं बानी। नारी के उत्थान को लेकर और व्यक्तिगत संस्थाएं भी आगे बढ़ी जिसका नतीजा आज हमारे सामने आया है और जागृति की एक लहर पूरे भारतवर्ष में दौड़ गई आर्थिक दबाव ने भी लड़कियों को काम करने की अनुमति दी और लड़कियों का हौंसला बढ़ाया इस औरत पर जो स्वतंत्र भारत में सांस लेती है उनका जन्म 1947 के बाद होता है वह कैसे अपनी सारी जंजीरें तोड़ती और उड़ान भरती है। वह पड़ी लिखी है घर बाहर के जीवन में अपने को साधती है और एक नई औरत बन अपना प्रकाश फैलाती है।"[2]आज नारी घर.परिवार को संभालने के साथ.साथ कायर् क्षेत्र में भी पुरुषों के बराबर अपनी भागीदारी दे रही है। आज स्त्रियों ने शैक्षिक राजनीतिकए सामाजिकए आथिर्कए धामिर्कए खेलकूदए विज्ञान आदि क्षेत्रों में नए कीतिर्मान निमिर्त किए हैं। आज वे पूणर् आत्मविष्वास के साथ चुनौतिपूर्ण क्षेत्र में भी अपनी योग्यता का लोहा मनवा रही है। राजनीति के क्षेत्र में आज पुरुषों के साथ.साथ महिलाएँ भी उच्च पदों पर आसीन हैं। देष की पहली महिला प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने भी महिलाओं के लिए हर तरह से राजनीति के द्वार खोल दिए थे। उनके पष्चात देष के सबसे उच्चतम पद पर श्रीमती प्रतिभा पाटिल,देश की तीन सुरक्षा सेनाओं की मुखिया यानि रक्षा मंत्री के पद पर भी श्रीमती निमर्ला सीतारमण की नियुक्ति भी इस बात की ओर संकेत करती है कि आज समाज में नारियों के प्रति दृष्टिकोण बहुत हद तक बदल चुका है। इतना ही नहीं मीरा कुमार, श्रीमती सुषमा स्वराज, सोनिया गांधीए मायावती, बसुन्धरा राजे, ममता बनर्जी,शीला दीक्षित आदि महिलाएं भी राजनीति के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाए हुए हैं। बैंकिगं के क्षेत्र में अरुन्धती भट्टाचार्य ने भी प्रथम महिला अध्यक्ष के रूप में अपनी सेवाएं दीं। खेलकूद के क्षेत्र में सानिया मिजाए ज्वाला गुट्टाए सायना नेहवालए मिताली राजए पीण्वीण् संधू आदि ने वतर्मान समय में नये कीतिर्मान स्थापित किए हैं। आज महिलाओं की भागीदारी से साहित्यिक जगत भी अछूता नहीं रहा है। साहित्य के क्षेत्र में पुरुष साहित्यकारों के साथ.साथ महिला साहित्यकारों ने अपनाा योगदान देकर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है। वतर्मान में कृष्णा अग्निहोत्री, मृदुला गर्ग, नासिरा शर्मा, मनु भण्डारी, मैत्रेयी पुष्पा,मनीषा कुलश्रेष्ठ आदि लेखिकाओं ने उत्कृष्ट रचनाएं देकर साहित्य जगत में अपनी एक अलग पहचान बना ली है। नारी ने अपनी मेहनत व सघर्ष के बल पर जो मुकाम हासिल किए हैं उनसे सिनेमा जगत भी अछुता नहीं रहा है। आज महिलाओं को केन्द्र में रखकर बहुत सी फिल्में बनाई गई हैं। "चक दे इण्डिया",दंगल, मैरीकाम जैसी फिल्मों में नारी प्रधान विषयों को उठाकर उनके

स्वतंत्र व्यक्तित्व को उभारा गया है। इस तरह से महिलाओं पर केन्द्रित इन फिल्मों को प्रस्तुत करना कोई संयोग मात्र नहीं है बल्कि ये आज के समाज की सच्चाई है। जहां महिलाओं को पुरुषों से कम नाआंक कर उन्हें भी समाज में बराबरी का अधिकार देने की ओर एक पहल है।

आज नारी आथिर्क रूप से तो स्वावलम्बी हो चुकी है , रोज़गार के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों को कड़ी प्रतिस्पर्धा दे रही है किन्तु सुरक्षा तथा सम्मान की दृष्टि से अभी भी शोषित हो रही है। आज भी स्त्रियों के साथ छेड़छाड़ व बलात्कार की घटनाएं घटित हो रही हैं। दिल्ली में घटित निभर्या बलात्कार की घटना ने पूरे देष को झकझोर कर रख दिया था। उसके खिलाफ जगह.जगह पर लोगों द्वारा अपराधियों के खिलाफ विरोध प्रदषर्न किए गए और सरकार से महिलाओं की सुरक्षा को लेकर देष में सख्त से सख्त कानून लागू करने की मांग की गई। “ स्त्री सुरक्षा आज बेहद महत्वपूर्ण मामला बन चुका है. बदलते समय की जरूरतों को देखते हुए स्त्रियों का घर से निकलना जरूरी हो चुका है लेकिन इस असुरक्षापूर्ण माहौल को देखते हुए ना जाने कितनी लड़कियां बेहतर कॅरियर की उम्मीद को अलविदा करके घरों में बैठ जाती हैं जबकि उनके पास योग्यता की कोई कमी नहीं होती. ना जाने कितनी लड़कियां दुर्दांत हत्यारों की आकांक्षाओं की भेंट चढ़ जाती हैं और हम गूंगे-बहरे बन कर उन पर हो रहे अत्याचार को देखते रहते हैं.

हर बात सरकार के भरोसे नहीं छोड़ी जा सकती है बल्कि जरूरत है समाज की मनोदशा में बदलाव की. कोई मसीहा नहीं उतरेगा हमारी रक्षा के लिए बल्कि हमें स्वयं कदम उठाने होंगे अपनी सुरक्षा के लिए. लेकिन ऐसा समाज भी किस काम का जहाॅ सुरक्षा की चिंता हो अपितु समाज तो ऐसा होना चाहिए जहाॅ हर कोई अपने आप को सुरक्षित महसूस करे. एक ऐसा समाज होना चाहिए जहाॅ लोग दूसरों के हितों की खातिर स्वयं के हितों की बलि चढ़ाने में गर्व का अनुभव करें. समाज का चरित्र निर्माण तमाम अन्य बातों से ज्यादा महत्वपूर्ण है. आदर्श नैतिक संहिता की शिक्षा बच्चे-बच्चे में कूट-कूट कर भरी हो ताकि फिर कभी किसी अरुणिमा को अपनी टांग ना गंवानी पड़े. ये अरुणिमा आपके या हमारे किसी के भी घर की हो सकती है इस बात ख्याल रहे तो फिर शायद कुछ बदलाव संभव है.”[3] अब सरकार ने पुराने जुवेनारल कानून 2000 को बदलते हुए नये जुवेनारल जस्टिस ;चिल्ड्रेन केयर एंड प्रोटक्षनद्ध बिल को 2015 को लागू किया। इस कानून के अंतगर्त यदि कोई भी किशोर जिसकी आयु 16 से 18 साल तक के बीच है और वह किसी जघन्य अपराध में शामिल है तो उस पर कड़ी से कड़ी कायर्वाही की जा सकेगी। इतना ही नहीं बेटियों को समानता का अधिकार दिलाने के लिए प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी द्वारा बेटी बचाओए बेटी पढ़ाओ नामक योजना की शुरूआत 22 जनवरीए 2015 को की गई। यह योजना समाज में लड़कियों के महत्व के बारे में लोगों को जागरुक करने के उद्देष्य से शुरू की गई ताकि समाज में लड़कियों को लेकर लोगों की विचारधारा को सकारात्मक रुख दिया जा सके।

भले ही सरकार द्वारा नारी सुरक्षा या सम्मान को लेकर तरह.तरह के कानून या योजनाएं बनाई गई हैं किन्तु यह बात भी सत्य है कि जब तक पुरुषों की विकृत मानसिकता नहीं बदलेगी तब तक समाज में नारी सुरक्षित नहीं रह सकती “ बेहद कठिन होता है लोकापवाद से दो दो हाथ कर किन्ही अबूझ तहखानों।में बंद सचाई को मुक्त करना उतना ही कठिन है रूढयों को अपदस्त कर नई संकल्पनाओं को आकार देना या शायद वैचारिक जागृति का एक व्यापक व्यापक जनांदोलन चलाकर रुढ़ियों को समाप्त किया जा सकता है लेकिन कितनी देर ? रूढ़ियाँ मर कर भी अपनी स्मृतियों को ओझल नहीं होने देती । वह स्मृतियों को बीज बनाकर अपने को जिलाये रखती हैं । और कटटरपंथी प्रतिगामी ताक़तों की ज़मीन को सींच कर उन बीजों को वहां रोप देती हैं तो क्या कुछ भी नश्वर नहीं? कुछ भी परिवर्तनीय नहीं? ”4। हमारे समाज में बचपन से ही लड़का.लड़की के पालन.पोषण में भेदभाव देखने को मिलता है। लड़कियों को सहनषीलता की मूतिर् तथा संस्कारषील बनने की षिक्षा दी जाती है। जबकि लड़कों को लड़कियों से उच्चतर आंक कर उन्हें मनमाना रवैया अपनाने की छूट दी जाती है। जब बचपन से ही उनमें विभाजन का यह बीज अंकुरित कर दिया जाता है तो बड़े होने पर यह भेदभाव और प्रबल हो जाता है और जब पुरुषों में स्वयं को उत्कृष्ट समझने की भावना घर कर जाए तभी वह स्त्रियों पर अत्याचार करना या पोषण करना अपना अधिकार समझने लगते हैं। अतः आरंभ से ही लड़का.लड़की को समान अधिकार व प्यार से पोषित किया जाना चाहिए जिससे किसी के मन में किसी प्रकार की उच्चतर एवं निम्नतर समझने की भावना उत्पन्न न हो।

निष्कर्ष और सुझाव:

परिवतर्न के इस दौर में नारी की भूमिका में बदलाव हो रहा है। नारी परम्परागत रूढ़ियों को तोड़कर अपने अस्तित्व के निमार्ण हेतु सशक्त होकर आगे बढ़ रही है तथा पुरुषों के साथ हर क्षेत्र में कंधे से कंधा मिलाकर देश और समाज की प्रगति में अपनी भूमिका अदा कर रही है। परन्तु समाज का सशक्त विकास तभी संभव है जब स्त्री.पुरुष समान रूप से भागीदार बनेंगे। इसके लिए आवश्यक है कि वह दोनों ही एक दूसरे की महत्त्व को समझते हुए अपना जीवनयापन करें। स्त्री पुरुष को अपना प्रतिद्वंदी न समझें और पुरुष भी स्त्री को मात्र देहिक आपूतिर् का साधन न समझे बल्कि उसे भी समाज का एक आवष्यक अंग समझकर सम्मान दे।

संदर्भ:---

1.डॉ. सुधीर मालिक , लेख ..भारतीय समाज में हो रही भ्रूण हत्या एक कलंक , पुस्तक 21वी सदी में महिला सुरक्षा समस्या और चुनोतियाँ, सं. डॉ. निशु कुमार , डॉ. नीतू गुप्ता , पृ.140

2.नासिरा शर्मा, लेख, सत्ता विमर्श और साहित्य , पुस्तक ..सत्ता विमर्श और साहित्य , सं. डॉ. विपिन गुप्ता, पृ.13

3.https://www.jagran.com/blogs/socialissues/need-to-change-of-social-attitude-towards-women/

4.रोहिणी अग्रवाल , लेख ..स्त्री प्रश्न और प्रतिबद्धता का सवाल , पुस्तक..सत्ता विमर्श और साहित्य , सं. डॉ. विपिन गुप्ता, पृ.19

अनामिका की कविता में स्त्री पक्षधरता

-डॉ.उषस पी.एस.
सहायक प्राध्यापक,उच्च शिक्षा और शोध संस्थान,
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा,एरणाकुलम,
केरल-682016,

जब से साहित्य रचा गया तब से लेकर आज तक विशेषकर कविता में स्त्री के यत्र तत्र वर्णन मिलते है।यह द्यातव्य है कि आज़ादी के बाद साहित्य की विविध धाराओं में काफ़ी परिवर्धन हुआ हैं।वैसे भी साहित्य का केन्द्र मानव बन गया था ।कविताओं में स्त्री को केन्द्र में रखकर उसकी मनोदशा व मनोभावनाओं को लेकर कविताएं लिखी जाने लगी था ।सन १९७० से १९८० तक का समय साहित्य के क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन का समय था। क्योंकि उस समय नारी की वैचारिकता पश्चिम के अनेक नारीवादी आन्दोलनों से प्रभावित हुई थी । फ़लतः कई स्त्री रचनाकारों ने स्त्री के स्वत्व को पहचानने तथा उनको अपने सामाजिक हकों व दायित्वों से अवगत करके समाज की मुख्यधारा में लाने हेतु साहित्य के माध्यम से अभूतपूर्व प्रयास किया गया। परिणामतः समय के नब्ज को पहचानकर सहज रूप में काल का साक्षात्कार करने वाली कविताएं साहित्य के क्षेत्र में उभरने लगी।जिनमें हिन्दी कवयित्री अनामिका का स्थान शीर्षस्थ हैं।

हिन्दी कविता के क्षेत्र में युगान्तकारी परिवर्तन स्त्री विमर्श के आगमन के साथ हुआ है।अपनी अनुभूतियों को कविता में शब्दबद्द करके स्त्री समुदाय को सोचने केलिए विवश करनेवाली कवयित्री अनामिका,समकालीन स्त्री विमर्श के अग्रदूत कही जा सकती है। विभिन्न प्रकार के सामाजिक बेडियों व दासता से स्त्री समुदाय को अवगत करके,उसे अपने अधिकार व हक के प्रति जागरूक कराना उनके लेखन का मुख्य लक्ष्य रहा हैं। यहां मैं "कवि ने कहा ,अनामिका की चुनी हुई रचनाएं ' के आधार पर कवयित्री की स्त्री पक्षधरता पर विचार करने का प्रयास कर रही हूं।

कवयित्री अनामिका की कविताओं की खासियत यह है कि वे परम्परा द्वारा दी गयी उसूलों,मान्यताओं,मूल्यों का संरक्षण करते हुए,अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व व पहचान बनाना तथा अपना होने का अहसास दिलाना चाहती हैं।साथ ही वे समाज में पुरुष की तरह समान दर्जा पाना चाहती है। अनामिका की कविताएं नारी की इस बदलती मानसिकता व सोच को पारिभाषित करने का प्रयास करती हैं।आज का सामज अनगिनत समस्याओं से घिरा हुआ हैं। स्त्री भी इन समस्याओं से अछूता नही रह सका । स्त्री के प्रति समाज का शोषण आज भी सुरसा के मुंह की भांति लंबी होती जा रही हैं।स्त्रियां,बेजगह,डाक टिकट जैसी कविताओं में कवयित्री पुरुष सत्ता के विरुद्ध अपना प्रतिशोध को अभिव्यक्त करती है । परमानंद श्रीवास्तव का कहना हैं कि"अनामिका के अनुभवों की दुनिया अनगढ विस्तार में तमाम हदें लांघ जाती है। कभी कभी उनकी बीहडता चुभने से अधिक चिढाती नज़र आती है। खासकर पुरुष सत्ता के वर्चस्व को वह अधिक चुनौती देती हैं"।[1]

आज की नारी अपने अस्तित्व को खोना नही चाहती है। वह कभी कभी पुरुष सत्ता से ,उनके स्वामीत्व से अपना विरोध या प्रतिरोध करना चाहती हैं। " स्त्री की लडाई पुरुष के प्रति नही है, बल्कि उस विचारधारा के प्रति है, जो अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,आंचल में हैं दूध और आंखों में पानी"वाली कातरता को और पुरुष के दृष्टिकोण को चुनौती देता है।"[2] 'इस लिए वह पुरुष के प्रति,अपने परिवार के प्रति प्रतिशोध को निराहार रहकर दिखाना चाहती हैं । और वह इसी आकांक्षा के साथ रहती हैं कि पति आकर उसे मनवा ले। किन्तु कवयित्री कहती है कि -

" फिर एक रात/गिन्न गिन्न नाचता माथा
पकडे पकडे जा पहुंचती वे चौक तक
और धीरे धीरे खुद काढकर
खाती बाजी रोटियां
थोडा सा लेकर उधार नमक आंखों
का"(अनामिका- पतिव्रता)[3]

पुरुष,स्त्री को व्यक्ति के रूप में देखने जानने में असफ़ल हो जाता हैं।कभी वह स्त्री की संवेदनाओं को जानने का प्रयास तक नही करता हैं। वह मात्र उसे वस्तु समझ लेता हैं।किन्तु स्त्री तो विकट परिस्थिति में भी अपने दुख दर्द के साथ समझौता करने के लिए तैयार होती हैं।वह अपनी पारिवारिक प्रतिबद्धता को ही महत्व देती हैं।इसके लिए वह अपने अहं से ऊपर उठकर धरती तक क्षमाशील बनती हैं।अपनी संवेदनारूपी नमक के सहारे रोटियां खाती हैं। अत: स्त्री शतुर्मुर्ग की तरह विलक्षण शक्तिसंपन्न है।" नारी धैर्य और स्नेह की प्रतिमूर्ति होती है।इसलिए वह जीवन में आनेवाली समस्याओं से विचलित नही होती है।"[4] स्त्री अपने पति से जीवन की नक्शा बदलनेवाली बात सुनना पसंद करती है।स्त्री करुणा ,क्षमा की प्रतिमूर्ति है।इस लिए वह संघर्ष के समय में भी अपनी स्त्रीत्व की शक्ति से अपने पति की रक्षा ही करती हैं।इस प्रकार कलियुग की पत्नियां अपने पतिव्रता धर्म को बखूबी निभाती हैं ।वह बार बार मरने में रुचि नही रखती । क्योंकि मरकर भी शतुर्मुर्ग की तरह अपने अस्तित्व को बनाए रखने की शक्ति उनमें निहित है।

पुरुष को समान रुप से देखते समय भी कवयित्री स्त्री अस्तित्व को पुरुष सत्ता से अलग रखना चाहती हैं।'डाक टिकेट' नामक कविता में वे इस बात को स्पष्ट कहती हैं-

"बच्चे / उखाडते है/डाक टिकट
पुराने लिफ़ाफ़ों से जैसे-
वैसे ही आहिस्ता आहिस्ता
कौशल से मैं खुद को/हर बार करती हूं तुमसे
अलग"(अनामिका-डाक टिकट)[५]

एक दूसरे के प्रति प्रेम विश्वास और समर्पण ही पति पत्नी संबंध का आधारशिला है,वही हर रिश्ते को मजबूत बनाता है।यहां कवयित्री स्त्री को अलग नजरिये से देखने का प्रयास करती है।और कहती है कि पुराने लिफ़ाफ़े से जिस प्रकार कौशल से डाक टिकट बहुत ध्यान देकर आहिस्ता से अलग करता है उसी प्रकार वे भी खुद को पति से आलग रखने का प्रयास करती है।यहां कवयित्री पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री के अस्तित्व को बचाने की बात करती है। यह कार्य उतना आसान तो नही है। इसलिए वह आगे कहती है कि-

"मेरे किनारे फ़ट जाते कभी कभी/,कुछ न कुछ
मेरा तो
निश्च्य ही/ सटा हुआ रह जाता है/तुमसे"

अत:यह कविता स्त्री की सहनशीलता व श्रेष्ठता का परिचायक है। अनामिका जी की कविताओं में नारी अस्मिता के साथ साथ नारी के विभिन्न भावों,गुणों का सामंजस्य भी देखने को मिलता है।उनमें आग ,पानी और मिट्टी का गुण मौजूद है। इस लिए वे कहती है कि-

" औरतों को डर नही लगता/कुछ भी कह जाने में
उनको नहीं होती शर्मिन्दगी/मानने में
कि उनमें/पानी है, मिट्टी भी।
पानी और मिट्टी इन दोनों में से किसी का
ओर छोर नही होता।" (अनामिका-चिटठी लिखती हुई
औरत)[६]

स्त्री तो ईश्वर का वरदान इसलिए कि वह पानी की तरह जलन में भी ठंठक प्रदान करती है।पानी तो निराकार और तरल है।जिस बर्तन में डालता है,उसी के अनुसार आकार ग्रहण करने की अद्भुत क्षमता उनमें है।किसी भी तरह की परिस्थितियां पानी केलिए बाधा नही है।वह हमेशा गतिशील रहता है।और मिट्टी में उर्वरता शक्ति है।आतप,वर्षा,प्रकृति की विकट परिस्थितियां सब कुछ सहने की शक्ति है।सबको अपने में समाहित करने की क्षमता है।अत: वह क्षमाशील भी होती हैं।इसलिए वह अपनी संवेदनाओं को ,चाहे प्रतिरोध ही क्यों न हो, व्यक्त करने में कोइ संकोच या शर्मिन्दगी महसूस नही करती।

औरत की जिन्दगी अनेक प्रकार के संघर्षों से भरापुरा है।उसे हर पल नए नए संघर्षों का सामना करना पडता है। कभी कभी वह चाहकर भी अपनी इच्छा मृत्यु का वरण भी नही कर पाती है।क्योंकि अपने कोख से जन्मी बच्चों के प्रति मां की ममता और तडप वाणी के परे है। उनके लिए वह सूली पर चढने के लिए भी तैयार रहती है।इस बात को कवयित्री "मरने की फ़ुरसत" नामक कविता के माद्यम से कहती है कि अगर ईसा मसीह स्त्री होती तो-

"बेथलहम और येरुशलम के बीच
कठिन सफ़र में उनके
हो जाते कई तो बलात्कार/और उनके दुधमुंहे बच्चे
चालीस दिन और चालीस रातें/जब काटते सडक पर,
भूख से बिलबिलाकर मरते/एक-एक कर- ईसा को फ़ुरसत नहीं मिलती
सूती पर चढ जाने की भी!"(अनामिका-मरने की फ़ुरसत)[७]

अत: स्त्री की महिमा ईश्वर से भी बढकर है।वह जिन्दगी की कठिन सफ़र अकेली सूली पर चढकर काटती है। रामायण की सीता माता का जीवन भी बहुत संघर्षपूर्ण था।जब किसी धोबी ने सीता माता पर लांछन लगाया तो राम ने भी अपनी मर्यादा का पालन करने हेतु गर्भवती माता सीता का परित्याग किया था।उस समय माता सीता भी गर्भवती होने के कारण अपने पति राम के व्यवहार के विरोध में आकर प्राण त्याग नही किया बल्कि उन्हें सही समय का,यानी लव कुश के तीरों के लक्ष्य भेद के आने तक इंतजार करना पडा।

"मरने का फ़ुरसत भी /कहां मिली सीता को
लव कुश के /तीरों के/ लक्ष्य भेद तक?"[८]

इस प्रकार स्त्री, पुरुष सत्तात्मक समाज के हर प्रकार के शोषणों,आतंकों को ,अपने बच्चों की जिन्दगी के लिए सहन करती है।अत: स्त्री सहनशील है।उसका जीवन संघर्षपूर्ण एवं व्यस्तता से परिपूर्ण है।

हमारे समाज में ऐसी बहुत सी गृहस्थियां है जो अपने घर में रहकर पति के आदेशानुसार उनकी सेवा में अपना जीवन व्यतीत करती है।ऐसी स्त्रियां पुरुषों के हर प्रकार के आतंक झेलकर अपने को हंसमुख रखती है।ये स्त्रियां घर से बाहर जाकर नौकरी तो करती ही नहीं।किन्तु वे हर पल अपने पति को प्रसन्न रखने के लिए सतत प्रयास करती रहती हैं।बाहरी दुनिया के संघर्षों से अनभिग्य इनका जीवन भी घर से बाहर जाकर काम करनेवाली नारियों से भिन्न नही है।कवयित्री का कहना है कि ऐसी औरतों में भी पुरुष के विरुद्ध हथियार उठाने की इच्छा होती।

"एक सीमा पार कर लेने के बाद मन में आयेगा /एक दम ही उठा लें गाडींव जैसा कुछ।'

फ़िर भी स्त्री अपने परिवार के लिए समझौता करने के लिए भी तैय्यार हो जाती है।कवयित्री कहती है-

" गाल फुलाकर,सिर झुकाकर,
घोटती हुई थूक/नाक –आंखों से पानी
इमली का छलकाती/खाये ही जाती हैं
शाम से सुबह तक वे/खूब मिर्चीदार गालियां-
ऊपर से थप्पड,धूंसे,डांट,ताने
बोनस में-- /बाई वन गेट वन फ्री-

और ज्यादातर तो सैंपल से मुक्त बंटी-

बस यों ही!

जैसे कि फ़ाइव स्टार के संग पेप्सी,/वैसे ही गाली के संग घूसे –

क्या फ़र्क पडता है जी/बचपन से यही सिखाते आए है-

फ़ूलों के संग होते है कांटे,/दुधारू गाय की लताड भली/

रोटी जो देता है।"(अनामिका-गालियां सुन लेने का शील)[६]

हमारे घरों में यह देखने को मिलता है कि कमाऊ व्यक्ति की बातों का बडी आदर के साथ पालन किया जाता है।यहां अनामिका जी कुछ सामाजिक तथ्यों के माद्यम से स्त्री के सोच विचार को उजागर करने का प्रयास किया है। साथ ही कमाऊ पुरुषों की मानसिकता पर भी प्रकाश डाला है। कमाऊ पुरुष घर का काम संभालनेवाली पत्नी की मेहनत को नही देखता है। उसके संघर्ष,पीडा व समर्पण को नज़रअंदास करते है।पुरुष की मानसिकता यह है कि स्त्री घर बैठे सब तरह का सुख भोग रही है। और पुरुष बाहर जाकर संघर्ष कर रहा है।पुरुष हमेशा स्त्री को कामचोर सिद्ध करना चाहता है। इस स्थिति में स्त्री भी यही सोचती है कि नौकरी न करके पुरुष के साथ जीवन बिताना है।टंके लात या गालियां सुनने में कोई आपत्ति नहीं है।क्योंकि फ़ूलों के संग कांटे भी होते है।क्योंकि जीवन को सुन्दर बनाना है तो पति पत्नी की एक दूसरे के प्रति समर्पण्ता,समझौता जरूरी है।

कुल मिलाकर यह कह सकते है कि अनामिका की कविताओं में स्त्री,पारिवारिक होकर भी अपने स्वत्व के लिए हमेशा संघर्षशील रहती है।वे स्त्री पुरुष की समानता के पक्षधर कवयित्री हैं।उनकी स्त्रियां पुरुष सत्तात्मक समाज के शिकार होने के साथ साथ अपने स्वत्व को बनाए रखने की धाढस भी दिखाती हैं।अत: उनकी स्त्री पक्षधरता का आधार उनकी मानवीयता व स्त्री संवेदना है।

संदर्भ :

१ . परमानंद श्रीवास्तव,कविता का उत्तर जीवन,पहला संस्करण, पृ.सं-१८८

२. परमानंद श्रीवास्तव,कविता का उत्तर जीवन,पहला संस्करण,२००४-पृ.सं-१८०

३.अनामिका -कवि ने कहा ,अनामिका की चुनी हुई कविताएं-पृ.सं १९

४. डां.प्रीति त्रिवेदी,अलका सारावगी की विविध कृतियों में नारी विमर्श,चिन्तन प्रकाशन,२०१४

५ अनामिका-कवि ने कहा,अनामिका की चुनी हुई कविताएं –पृ.सं.३६

६ वहीं. पृ.सं-१०२

७ वहीं –पृ.सं-७७

८ वहीं-पृ.सं-७८

९ वहीं -पृ.सं-७२

'थेरीगाथा' में चित्रित स्त्री जीवन की वैयक्तिक समस्याएँ

-संजय यादव

पूर्वोतर पर्वतीय विश्वविद्यालय,

शिलांग,793022 मेघालय

मो.9899879831

प्रस्तावना :

नारी का योगदान विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के निर्माण में रहा है। किसी भी राष्ट्र की संस्कृति का मुख्य मापदंड भी नारी की स्थिति ही रही है। स्त्रियों की स्थिति में युग के अनुरूप परिवर्तन देखा जा सकता है। वैदिक युग से लेकर पूर्व मध्य युग तक उनकी स्थिति में आरोह-अवरोह की स्थिति बनी रही है तथा उनके अधिकारों में भी निरंतर परिवर्तन तथा परिवर्धन होते रहे हैं।

प्राचीन भारतीय परंपरा एवं संस्कृति में स्त्रियों की स्थिति अत्यंत उन्नत एवं परिष्कृत थी। वैदिक काल से लेकर ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ तक कन्या का वेदाध्यन, उपनयन संस्कार से प्रारम्भ होता था। स्त्रियाँ वेदों का अध्ययन तथा मंत्रोच्चारण भी करती थीं। " पूर्व वैदिक काल में लोपामुद्रा, विश्वावारा, सिकता तथा घोषा आदि अनेक विदुषी स्त्री कवियों ने वैदिक मंत्रों की रचना भी की थी।"[1]

पालि का 'थेर' शब्द संस्कृत के 'स्थविर' शब्द से निकला है। इस प्रकार 'थेरगाथा' शब्द 'स्थविरों' अर्थात् वृद्ध, पुराने या प्राथमिक बौद्धों के गीतों का बोधक है। इसी प्रकार प्राथमिक बौद्ध साधिकाओं के गीत 'थेरी गाथा' कहलाते हैं। "[2]

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन के अंतर्गत स्त्रियों की तत्कालीन स्थिति को समझने हेतु 'थेरीगाथा' एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इन गाथाओं में भिक्षुणियों ने अपने वास्तविक जीवन का चित्रण किया है। भिक्षुणियों ने अपने जीवनानुभवों को काव्यमय रूप में प्रस्तुत किया तथा इन्हीं काव्यमय रूपों के संकलन को 'थेरीगाथा' कहा गया। 'थेरीगाथा' बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत त्रिपिटक में सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय के नवें खंड के रूप में संकलित एक ग्रंथ है। इस ग्रंथ में तिहत्तर भिक्षुणियों के आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति है। इसमें पाँच सौ बाईस (किन्हीं - किन्हीं संस्करणों में पाँच सौ चौबीस) गाथाएँ हैं , जो सोलह निपातों में विभक्त हैं।

" अत्यंत संगीतात्मक भाषा में, आत्माभिव्यंजनात्मक गीतिकाव्य की शैली के आधार पर, अपने जीवनानुभवों को व्यक्त करते हुए यहाँ बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन को गाया है।"[3]

बीज-शब्द : थेरीगाथा, वैयक्तिक, निजता, स्वायत्तता, स्वतंत्रता, समानता, आत्मगौरव बोध

मुख्य अंश : 'थेरीगाथा' के अंतर्गत भिक्षुणियों के वैयक्तिक जीवन से संबंधित यथार्थ का चित्रण है। "इन भिक्षुणियों ने, इन थेरियों ने,वासना की जड़ को तोड़ डाला था, हृदय मूल से दाहक तृष्णा - तंतुओं को उखाड़ कर फेंक दिया था, उनके समस्त मल नष्ट हो गए थे,

क्योंकि उन्होंने अशुचि, दुर्गंधमय और व्याधियों से भरे शरीर का ध्यान किया था, उसे एकाधिक बार अशुभ भावना की दृष्टि से देखा था।"[4]

जब यह भिक्षुणियाँ भिक्षुणी संघ में प्रवेश प्राप्त करती हैं, तब वह अपने उन्मुक्त कंठ से अपने यथार्थपूर्ण पूर्वानुभवों को काव्य के माध्यम से उद्घाटित करती हैं। उदाहरणस्वरूप- निजता एवं स्वायत्तता, स्वतंत्रता एवं समानता, आत्मगौरव बोध आदि भाव उनके वैयक्तिक जीवन का बोध कराते हैं। जो उन्हें भिक्षुणी संघ में आने से पूर्व प्राप्त नहीं थे।

"मुत्ताथेरी अपनी स्वतंत्रता के विषय में कहती है -

सुमुत्ता साधुमुत्ताम्हि, तीहि खुज्जेहि मुत्तिया।/उदुक्खलेन मुसलेन , पतिना खुज्जकेन च।

मुत्ताम्हि जातिमरणा, भवनेत्ति समहता" ति ll"[5]

(मैं सुमुक्त हो गयी। भली प्रकार से विमुक्त हो गयी।

तीन टेढ़ी वस्तुओं से मैं भली विमुक्त हो गयी। ओखली से, मूसल से और अपने कूबड़ स्वामी से। मैं अच्छी मुक्त हो गयी, किंतु इससे भी एक और महानमुक्ति मुझे मिली, मैं आज जरा और मरण से ही मुक्त हो गयी। मेरी भव रज्जु ही कट गयी!)

मुत्ता यहाँ अपनी स्वतंत्रता को फलीभूत होते हुए देखती है कि किस प्रकार वह पारिवारिक जीवन तथा कुबड़े स्वामी से मुक्त हो गयी जो उसके योग्य नहीं था।

मुत्ता अपना स्वायत्त भाव अगली काव्य पंक्तियों के माध्यम से प्रकट करते हुए कहती है कि वह विमुक्ति प्राप्त कर ही राष्ट्र का अन्न खायेगी। वह कहती है-

"मुत्ते मुच्चस्सु योगेहि, चन्दो राहुग्गहा इव।

विप्पुमुत्तेन चिन्तेन, अनणा भुन्ज पिण्डके " ति ll"[6]

(मुत्ता तू मुक्त हो जा। राहु के ग्रहण से मुक्त हुए चंद्रमा की तरह, तू सब श्रृंखलाओं से मुक्त हो जा। विमुक्ति प्राप्त चित्त के द्वारा ऋण चुकाकर ही तू राष्ट्र का अन्न खा।

सुमंगलमाता अपने दारिद्र्यमय जीवन से स्वतंत्र होने के पश्चात् अपने अनुभवों का वर्णन करते हुए कहती है-

"सुमुत्तिका सुमुत्तिका, साधुमुत्तिकाम्हि मुसलस्स।

अहिरिको मे छत्तकं वा पि, उक्खलिका मे देड्डुभं वा" ति ll"[7]

(पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी, आज उससे मुक्त हुई ! मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे - छोटे भोजन पकाने के बर्तन जिनके बीच में मैं मैली कुचैली बैठती थी और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों से भी तुच्छ समझता था, जिन्हें वह अपनी आजीविका के लिए बनाता था।)

सुमेधा मंतावति के माता- पिता उसे धन एवं ऐश्वर्य का मोह दिखाते हैं किन्तु वह इन्हें त्यागकर इस संसार से अपने आपको स्वतंत्र करते हुए प्रव्रज्या ग्रहण करने की बात कहती है -"अथ ने भणति सुमेधा, मा एदिसिकानि भवगतसारं।

पब्बज्जा वा होहिति, मरणं वा मे न चेव वारेय्यं" ॥[8]

(माता -पिता द्वारा धन एवं ऐश्वर्य का मोह दिखाने पर वह कहती है कि यह नहीं हो सकता। इस भव में सार वस्तु कुछ भी नहीं है। मैं या तो प्रव्रज्या लूंगी या फिर मेरा मरण ही होगा। इसके अतिरिक्त मुझे कुछ और वरण नहीं करना है।)

भद्दाकुण्डलकेसा अपने आत्मगौरव बोध का वर्णन प्रस्तुत पंक्तियों के माध्यम से करती है -

"चिण्णा अंगा च मगधा, वज्जी कासी च कोसला।

अनणा पण्णासवस्सानि, रट्ठपिण्डं अभुजंहं" ll[9]

(उस समय तब से लेकर मैं लगातार पचास वर्ष तक अंग, मगध, वज्जी, कोसल जनपदों में घूमती रही हूँ, इस इतने समय तक कर्ज़ (उपकार) मुक्त (अर्हत) ही मैंने राष्ट्र का अन्न खाया है।)

" बौद्ध भिक्षुणियाँ निराशावादिनी नहीं हैं। उन्हें अपने शास्ता का यह वचन स्मरण है कि ' स्त्री होना दुःख है' , परंतु दुःख के अतिक्रमण का मार्ग भी उन्हें ज्ञात है। उनमें पीड़ा है, परंतु पीड़ा की आसक्ति नहीं है। नारी जीवन की दुःखांत गाथा उनमें से अनेक के जीवन में है, परंतु उसके ऊपर शांति का उन्होंने साक्षात्कार किया है।"[10]

'थेरीगाथा' के अंतर्गत विभिन्न भिक्षुणियों ने अपने वैयक्तिक जीवन संबंधी समस्याओं का चित्रण यथार्थपूर्ण ढंग से किया है। मुत्ताथेरी भिक्षुणी संघ में प्रवेश करने के पश्चात् अपनी स्वतंत्रता तथा स्वायत्तता की चर्चा करते हुए कहती है कि मैं जरा और मरण से मुक्त हो गयी अर्थात् वह सभी सांसारिक समस्याओं से मुक्त हो जाती है, जहाँ आम जनमानस वृद्धावस्था तथा मृत्यु से भयभीत रहता है वहीं वह अब इनसे मुक्त हो चुकी है। वह स्वायत्त होकर ही राष्ट्र का अन्न खाने का वर्णन करती है, साथ ही उसे आत्मगौरव का बोध भी होता है।

सुमुत्तिका अपने दरिद्रतायुक्त जीवन से मुक्ति का चित्रण करती है तथा वह कहती है कि मैं गृहस्थ जीवन व्यतीत करते समय अत्यंत दरिद्रता का जीवन व्यतीत कर रही थी, मेरे वस्त्र भी स्वच्छ नहीं रहते थे तथा साथ ही मेरे पति के समक्ष मेरा कोई मूल्य नहीं था। सुमेधा अपने राजसी जीवन से स्वतंत्र होकर भिक्षुणी संघ में प्रवेश करने हेतु अपनी सभी इच्छाओं का त्याग कर देती है। भद्दाकुण्डलकेसा आत्मगौरवबोध का अंकन करते हुए कहती है कि उसने कर्ज़मुक्त होकर राष्ट्र का अन्न खाया है तथा आत्मनिर्भरयुक्त जीवन व्यतीत किया है।

निष्कर्ष : अंततः यह कहा जा सकता है कि 'थेरीगाथा' के अंतर्गत समाज के विभिन्न वर्गों से आयी भिक्षुणियों का चित्रण है, उनके भिक्षुणी संघ में प्रवेश के कारण भले ही भिन्न हो सकते हैं किन्तु उद्देश्य एक ही था - निर्वाण की प्राप्ति। यदि हम इनके प्रवेश के कारणों के अंतर्गत इनकी वैयक्तिक समस्याओं की ओर दृष्टिपात करें तो हम पाएंगे कि उनके जीवन में निजता एवं स्वायत्तता, स्वतंत्रता एवं समानता, आत्मगौरव बोध जैसे मूल्यों की न्यूनता दिखाई देती है, यह मूल्य उन्हें भिक्षुणी संघ में आकर प्राप्त होते हैं, जिनके माध्यम से वह अपने जीवन में उत्कृष्टता के उच्च शिखर पर पहुँच पाती हैं।

संदर्भ :

1. मिश्र,उर्मिला प्रकाश, प्राचीन भारत में नारी, पृ.2 , मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2012.
2. वर्मा, धीरेंद्र (सं.), हिन्दी साहित्य कोश, पृ.283,
3. उपाध्याय, भरत सिंह, वस्तुकथा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1967.
4. वहीं, आमुख
5. कश्यप, भिक्षु जगदीश, खुद्दकनिकाय, पृ.405, नव नालंदा महाविहार, 2017.
6. वहीं, पृ.403
7. वहीं, पृ.407
8. वहीं, पृ.461
9. वहीं, पृ.419
10. उपाध्याय, भरत सिंह, वस्तुकथा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1967.

'शिवमूर्ति' की कहानियों में स्त्री स्वर की अभिव्यक्ति

-चन्द्रावती
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
लखनऊ

हम जिस सामाजिक परिवेश में रहते हैं, वहाँ दो समुदायों को विशेषतौर पर सत्ता और शिक्षा की दुनिया से परे रखा गया है। एक स्त्री तो दूसरे दलित। स्त्री चिंतन, स्त्री के लिए पुरुष के समान ही बिना किसी लैंगिक भेदभाव के साधिकार चाहता है। हिन्दी जगत की सुप्रसिद्ध रचनाकार महादेवी वर्मा का मत है "हमें न किसी की जय चाहिए, न किसी की पराजय, न किसी की प्रभुता चाहिए, न किसी का प्रभुत्व। केवल अपना वह स्थान, वह स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परन्तु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी।"[1]आधुनिक काल में स्त्री जीवन के अनछुए पहलुओं पर भी चर्चाएं होने लगीं। स्त्री विषयक समस्याओं को समय-समय पर लेखन के माध्यम से कई अन्य लेखकों द्वारा व्यक्त किया जाता रहा है। आज जबसमूची दुनिया एक विश्वबाजार के रूप में तब्दील हो चुकी है, तो यह गहन सर्वेक्षण का विषय बन जा रहा है कि महिलाओं की भागीदारी का स्तर क्या है।

आज जहाँ महिलाओं को हर स्तर की स्वतंत्रता प्राप्त हुई है। वहीं समाज की पुरानी मान्यताएं, धारणाएं उसकी स्वतंत्रता के पथ में बाधक बनी हुई हैं। इधर बीच महिलाओं की स्थिति में बहुत बदलाव आया है। वह शिक्षित के साथ-साथ जागरूक हुई हैं। और उच्च स्थानों पर अपना स्थान बनाने में सफल हुई है। भारत की आबादी का आधा हिस्सा गाँवों में बसर करता है। ग्रामीण महिलाओं की स्थिति पहले जैसी ही यथावत बनी हुई है। शिवमूर्ति अपनी कहानियों में इन्हीं ग्रामीण महिलाओं को स्थान देते हैं। अब तक कथा-साहित्य में स्त्रियों की दशा को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है लेकिन, शिवमूर्ति ने स्त्रियों की वेदना को न सिर्फ उद्घाटन किया अपितु, वेदना से निपटने का उचित समाधान समाज के सामने रखते हैं। ग्रामीण महिलाओं को हर तरह के शोषण का शिकार बनना पड़ता है। शिवमूर्ति की कहानियाँ 'केशर कस्तूरी' 1991 (कसाईबाड़ा, अकालदण्ड, सिरी उपमा जोग, भरतनाट्म, तिरियाचरित्तर) तथा 'कुच्ची का कानून' संग्रह 2014 (ख्वाजा ओ मेरे पीर!, बनाना रिपब्लिक, कुच्ची का कानून, जुल्मी) सदियों से संतप्त महिलाओं की पीड़ा को उजागर करती है।

कहानी 'कसाईवाड़ा' में ग्राम पंचायत के चुनाव के पहले होने वाली 'वोट बैंक' की राजनीति में दलित महिला 'शनीचरी' का सबकुछ छिन जाता है। गाँव का उच्चवर्गीय 'परधान' धरम-करम के बहाने सामूहिक विवाह का आयोजन कर शनीचरी की बेटी सहित अन्य दलित लड़कियों का सौदा कर देता है। शनीचरी विरोधस्वरूप परधान के दरवाजे पर धरना देकर बैठ जाती है। इस आस में की उसके साथ न्याय होगा। वहीं गाँव का 'लीडर' जो पहले परधान फिर 'एम. एल. ए' बनने का ख्वाब रखता है। शनीचरी की मदद का प्रलोभन देकर एक दिन धोखे से अपढ़ शनीचरी का दस्तखत जाली कागजातों पर करा लेता है। उसकी दो बीघा जमीन अब लीडर के नाम हो चुकी थी। यहाँ शनीचरी हर तरह से प्रताड़ित होती है। कभी न्यायवस्था से तो कभी पितृसत्तात्मक व्यवस्था से । अन्य महिलाओं के साथ-साथ 'परधानिन' और 'लीडराइन' भी पितृसत्ता की गुलाम हैं। वह समय-समय पर अपना रोष प्रकट करती दीखती हैं। परधानिन बड़बड़ाती है- "ई गाँव लंका है। इहाँ लंकादहन होवेगा। रावन तू ही हो। लीडर बना है भिभीखन। तोहरे दुनो के चलते गाँव का सत्यानाश होवेगा। होई रहा है। बहिन-बिटिया बेंचो। हमहूँ क बेंचि लेव। रुपया बटोरो।"[2]

लीडराइन भी अपने बाँझ होने का जिम्मेदार अपने पति को ठहराती है। ''धोखेबाज, बेईमान। तुम्हारे ही पाप के कारण मेरी कोख नहीं फल रही है।''([3])शनीचरी जब परधान के दरवाजे से नहीं हटती तो परधानिन के हाथों जहर वाला दूध जबरन पिलाकर उसकी हत्या भी कर देते हैं। स्थिति त्रासदपूर्ण हो चुकी है। सुबह से दोपहर हो गई लेकिन, उसकी लाश को ठिकाने लगाने कोई नहीं आगे बढ़ता। एक गीदड़ उसे घसीटता हुआ अरहर के खेत तक ले जाता फिर भाग जाता। परधान चाहता है कि गीदड़ शनीचरी के मुर्दा शरीर को जंगल की तरफ लेकर जाकर खा जाए तो उनके दिल को सुकून मिले वरना बेकार का पचड़ा बना रहेगा। अन्त में गाँव का ही 'अधरंगी', जिसे लोग पागल भी बुलाते हैं। अनाथ विधवा बूढ़ी शनीचरी को खटिया में लादकर घसीटते हुए ले जाकर उसकी ही झोपड़ी उजाड़कर चिता बनाकर दाह-क्रिया कर देता है।

समाज में महिलाओं की स्थिति सदैव दोयम दर्जे की रही है। विशेषतौर पर दलित महिलाओं को अन्य महिलाओं की अपेक्षा अधिक जहालत झेलनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में अगर वह न्याय व्यवस्था से न्याय की आस रखतीं हैं, तो या तो वह आर्थिक रूप से सशक्त न होने के कारण चुप मारकर बैठ जाती हैं। या फिर पुलिस व्यवस्था के लोगों के उल्टे पुल्टे सवालों से, जो उन्हें और अधिक जलील करते हैं, घबराकर हाथ में हाथ धरे बैठने को मजबूर हो जातीं हैं। कहना न होगा कि जहाँ सवर्ण महिलाएँ घर की चारदिवारी में शोषित होती है, वहीं दलित महिलाओं को चौतरफा अत्याचार सहन करना पड़ता है। ग्राम पंचायतों के क्रूरतम रूपों से लेखक पाठक को रूबरू कराते हैं। गांवों में आज भी उच्च वर्ण सदैव निम्नवर्ण पर हावी हुआ दिखता है। ऐसे में महिलाओं की स्थिति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

सिकरेटरी भी पंचायती व्यवस्था का ही अंग होता है। लेखक ने सरकारी कर्मचारी के माध्यम से कहानी 'अकालदण्ड' में दिखाते हैं कि, किस प्रकार दुर्भिक्ष के समय हो रहे बंदरबाट व महिलाओं का शोषण किया जाता रहा है। स्त्रियों के बारे में कहा गया है कि किशोरावस्था में उसे पिता-भाई के संरक्षण में, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए। एक स्त्री के पास एक पुरुष का होना अनिवार्यता बन गई, वरना कोई दूसरा पुरूश पहले से ही घात लगाये बैठा है। स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व को पुरुष वर्ग कभी स्वीकार नहीं पाया है।

सुरजी एक खूबसूरत गरीब महिला है। अकाल की वजह से उसका पति बाहर कमाने गया है। वह झोपड़ी में अपनी बूढ़ी सास के साथ दुर्भिक्ष की मार झेल रही है। उसकी दप-दप जलती रूप-राशि को दुर्दिन की मार भी कम न कर पाई। सिकरेटरी उसे सौन्दर्यवस्तु के रूप में उपयोग करना चाहता है। अनेकोंनेक प्रलोभनों को सुरजी ठुकराकर सम्मान, इज्जत की रोटी चाहती है। वहीं इस अकाल में गाँव की तमाम महिलाएँ और लड़कियाँ 'धर्मतंत्र' की भेंट चढ़ गई। सेवाधर्म के बहाने विधवा ब्राह्मणी 'सरजूपारी चाची' 12-13 लड़कियों को अयोध्या ले जा रहीं। जो बड़े-बड़े धर्माचार्यो, मठाधीशों की सुविधा का सामान बन गई हैं। वहीं गाँव की कुछ महिलाएँ, लड़कियाँ शहर के बाबुओं, कर्मचरियों, दफ्तरों में झाड़ू-पोंछा करके अपनी चाल-चलन बदलने को विवश हैं। लेकिन सुरजी इस पूरी व्यवस्था का उल्लंघन करके स्वाभिमान से जीना चाहती है। वह सिकरेटरी का विरोध कर जता देना चाहती है कि विपत्ति की मारी हर स्त्री बिकाऊ नहीं है। सिकरेटरी उसे पाने के लिए चाल चलता है लेकिन, उसकी हर चाल को सुरजी नाकामयाब करके रख देती है। एक बार तो साध के ऐसा लात का धक्का मारती है कि सिकरेटरी का दाँत टूट जाता है। "मुँह का खून थूकते और माथे पर का खून धोती के छोर से पोंछते बाहर निकल गए हैं सिकरेटरी बाबू! पस्त! परास्त!"[4] छल, बल का भरपूर प्रयोग कर लेने के बाद सिकरेटरी अपनी हार का बदला लेने के लिए 'रंगी बाबू' को आगे करता है। अब सुरजी की सहन शक्ति जवाब दे जाती है। उसके प्रतिशोध की ज्वाला अब भड़क उठती है। "अन्दर का दृश्य

बड़ा भयानक है। सिकरेटरी बाबू पलंग पर नंग-धड़ंग पड़े छटपटा रहे हैं। सुरजी ने हंसिए से उनकी देह का नाजुक हिस्सा अलग कर दिया है और पिछवाड़े के रास्ते भागकर अंधेरे में गुम हो गई है।"[5] उसका प्रतिशोध एक दिन के अत्याचार की न थी। शिवमूर्ति ने 'अकालदण्ड' के माध्यम से परदे के पीछे से होने वाले सभी कुकृत्यों को उजागर किया है। धर्म-धार्मिक लोगों ने भी दुर्दिन की स्थिति का लाभ उठाया। पेट की आग ने महिलाओं को हर स्तर का शोषण सहने को विवश किया। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि धर्म से ही कुरीतियाँ उत्पन्न होती हैं। बाद में यही कुरीतियाँ स्त्रियों के पैरों में जंजीरे लगाने का कार्य करती रही हैं। समाज के ढर्रावादी मान्यताओं ने महिलाओं के लिए नियम निश्चित किये जो असामानता पूर्ण रहे हैं।

यहाँ मुझे अनायास ही दस्यु सुंदरी फूलन देवी का स्मरण आता है। अपने बलात्कार का प्रतिशोध लेने के लिए वह खुद हथियार उठाती है। बलात्कारियों को लाइन में खड़ा कर गोलियों से भून देती है। खुद के लिए, अपने हक, न्याय के लिए आगे बढ़ती है। जहाँ समाज में आये दिन ऐसी घटनाएँ होती रहती है वहाँ 'सुरजी' तथा फूलन देवी जैसी महिलाएँ एक नये संस्कृति को जन्म देती हैं। ये वो महिलाएं हैं जिन्हें पता था कि यह सामंती समाज उन्हें न्याय नहीं दिला पाएगा। स्त्रियों को अपनी ऊर्जाशक्ति को पहचानना होगा। जिस दिन वे अपने सम्पूर्ण प्राणावेग से काम लेंगी सबकुछ बदल कर रखदेंगी।

पितृसत्तात्मक समाज ने अपने अनुकूल शास्त्रों की रचना की। उसमें भी स्त्रियों के लिए रूढ़िगत आदर्शों को पालन करने की बात की गई है। और जो भी स्त्री इन आदर्शों को मानने से इंकार कर देती है उसको तरह-तरह की यातनाएँ देने का भी विधान तय कर दिया गया है। 'तिरियाचरित्तर' कहानी की मुख्य स्त्री पात्र 'विमली' नौ साल की उम्र से ही माँ-बाप का सहारा बन ईंट-भट्ठे पर मजदूरी कर स्वाभिमान से रहती है। कोई आसान काम नहीं था उसका ईंट भट्ठे पर मजदूरी करना। जमाने भर की बातें सुननी सहनी पड़ी है। कितने ही पुरुषों की नजर है उस पर। वैसे ये बातें अब भी गाँवों की हवा में है। कोई भी महिला कार्य के लिए जब-जब घर के बाहर निकलती उसे तमाम तरह की उपाधियों से नवाज दिया जाता है। कुलटा है बदचलन है आदि। विमली के साथ भी यहीं होता है। उसके ससुर को पता चलता है कि वह मेला देखने गई है। मतलब उसका आचरण खराब हो रहा जिसके चलते विमली के ससुर को लगता कि उसकी बहु उसकी नाक कटवा रही। वह विमली का गौना कराकर ले गया। विमली का पति बाहर कमाने गया तो लौटा ही नहीं था। और यहाँ विमली जो मायके में सुरक्षित थी आज अपने ही ससुर विसराम के कुकृत्यों की भेंट चढ़ जाती है।

"धोखा! छल! कहाँ-कहाँ से किन-किन खतरों से बचाती आयी थी वह पराई अमानत कितने बीहड़ \ कितने जंगल \ कितने जानवर \कितने शिकारी! और मुकाम तक पहुँचकर भी लुट गई वह। मेंड़ ही खेत खा गई छल से ! ऐसी बेहोश कर देने वाली नींद आई कैसे\[6]

उसे नहीं पता था कि कल रात जो प्रसाद वह खाई थी.उस प्रसाद में ससुर विसराम ने नशीली दवा मिलाई थी। ईश्वर के नाम का प्रसाद बड़े ही श्रद्धा से खाई थी पर, ईश्वर ने तो उसका साथ दिया ही नहीं। क्या इस बात से इंकार किया जा सकता है कि आज जितने भी कुकृत्यों को अंजाम दिया जा रहा वो धर्म-ईश्वर के नाम का सहारा लेकर नहीं किया जा रहा। वर्तमान में ऐसी असंख्य घटनाएँ है, जहाँ मंदिर, श्मशान जैसी जगहों पर बलात्कार जैसे जघन्य अपराधों को अंजाम दिया जाता है। लेखक यहाँ खाप-पंचायत, ऑनर-कीलिंग जैसी समस्याओं से रूबरू कराते हैं। सामंती व्यवस्था और पुरातन रूढ़ियों ने ग्रामीण महिलाओं का हमेशा मान-मर्दन किया है। विमली को उस अपराध की सजा दी जाती है जो उसने किया ही नहीं। वह इसका कड़ा विरोध करती है "मुझे पंचायत का फैसला मंजूर नहीं। पंच अंधा है। पंच बहरा है। पंच में भगवान का 'सत' नहीं है। मैं ऐसे फैसले पर थूकती हूँ- आ-क्- थू..! देखूँ कौन माई का लाल दगनी दागता है।"[7]

आखिरकार न्याय पितृसत्ता की भेंटचढ़ जाता है। मर्दवादी पंचायत ने विमली के माथे पर अपने कुकर्मो, चरित्र हीनता तथा अपने तिरियाचरित्तर होने के दाग को टांक देता है। शिवमूर्ति ने पुरुषों के ऊपर तिरियाचरित्तर का टैग दिखाकर बरसों पुरानी कहावतों को, मिथकों को तोड़ा है। जो कहते आ रहें कि तिरियाचरित्तर स्त्रियों को ही आता है।

ओमप्रकाश बाल्मीकि का कथन द्रष्टव्य है "तिरियाचरित्तर आज के ऑनर कीलिंग से है। पंचायत अब देवमंदिर और पंच अब परमेश्वर नहीं रह गये, उसकी जगह उनका वहशीपन नजर आने लगा। पंचायती व्यवस्था दलितों और स्त्रियों के लिए अभिशाप है।"[8]

पिछले कई वर्षों से स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आया है। वह अब पहले से अधिक मुखर स्वर में, अपने पर हो रहे अन्यायों के प्रति सतर्क हुई है। 'विमली' जब 'कुच्ची का कानून' में 'कुच्ची' के रूप में आती है तो अधिक तर्क व न्यायिक दाँवपेंचों के साथ। वह दूसरे के बीज से अपनी कोख में रखकर वारिस जनना चाहती है। उसका यह निर्णय बिल्कुल धारा-विपरीत था। मातृशक्ति की स्थापना की बात भला पितृशक्ति के गले की फाँस कैसे न बनता। पुरुष वर्ग की यह पंचायत एक बार फिर से 'विमिली' की तरह 'कुच्ची' को भी लील लेने को जमा हुई। लेकिन कुच्ची भले ही अशिक्षित है लेकिन, वह समाज में हो रहे बदलावों को ही नहीं समझ रही थी बल्कि पंचायती व्यवस्थाओं व गावों की राजनीति पर भी उसकी पकड़ कम नहीं।

जैसा कि हमेशा से होता रहा है जब कोई महिला विधवा हो या कुंवारी हो और वह माँ बनने वाली हो। ऐसी स्थिती में या उनके घर-परिवार के लोग मार काट देते है या फिर वो खुद आत्महत्या कर लेती हैं। समाज उनके लिए कोई अन्य रास्ता छोड़ता ही नहीं। बहुत सारे रेप-बलात्कार की घटनाओं को मात्र इसलिए पुलिस में दर्ज नहीं कराया जाता क्योंकि पीडित को घिनौने व बददत्तर सवालों से जलील किया जाता रहा है। लेकिन 'कुच्ची' भरी सभा में बारी-बारी से दागे जा रहे सवालों का तर्कपूर्ण जवाब देती है। जिसका काट किसी के पास नहीं। बीज लेने का कारण भी समाज के समक्ष रखती है। "मुझे जरूरत लगी महराज। मेरा आदमी तो एक बार मरकर फुरसत पा गया लेकिन बेसहारा समझकर हर आदमी किसी न किसी बहाने मुझे रोज मार रहा था। मैं मरते-मरते थक गई तो जीने के लिए अपना सहारा पैदा कर रही हूँ।''[9]

कुच्ची सभा में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का सिर्फ विरोध ही नहीं करती बल्कि समूचे परिवेश की मानसिकता को बदल देने को विवश करती है। उससे प्रेरित हो एक महिला अपनी बात पंचायत में रखती है जो ध्यातव्य है "बड़ा मुद्दा तो कोख पर हक का मुद्दा है। औरत का हक हिस्सा मारने वाले ऋशि मुनि कबके मर मरा गये लेकिन उनका बनाया फंदा अभी भी औरतों के गले में फंसा हुआ है। वक्त आ गया मरे हुओं का कानून मरे हुओं के साथ दफन कर दिया जाए। ऐसा कानून बने जिससे हम भी जिंदा लोगों की तरह जिंदा रह सकें।"[10] स्त्री का उसकी कोख पर स्वायत्तता एक ज्वलंत मुद्दा है। शिवमूर्ति महिलाओं की बदलती स्थिति व समाज की मानसिकता के बदलावों की उद्घोषणा सी करते दिखते हैं। निश्चित ही यह आने वाले समय की दस्तक है। यह हवा का झोंका अब तीव्र गति पकड़ेगी और सबकुछ बदलकर रख देगी।

स्वतंत्रता पश्चात् महिलाओं को आगे बढ़ाने के लिए अनगिनत नीतियों का निर्माण किया गया। लेकिन गाँवों की स्थिति में खास परिवर्तन नहीं हुआ। लोग अब भी पुरानी परंपराओं से ही परिचालित हैं। जिसका उदाहरण शिवमूर्ति की कहानी 'भरतनाट्यम्' है। जहाँ लड़कियों के जन्म को अभिशाप माना जाता है तथा वंश का वारिस आज भी बेटे को ही माना जाता है। इसी मानसिकता के चलते नैरेटर की पत्नी अपने जेठ से संबंध बनाती है। मानवीय संवेदनाओं का विखंडन जितना पहले था आज कम नहीं। बेटे की चाह में बेटियों को मारा जाता रहा है। बेटे की चाह में लगातार कई बेटियाँ हो जाती है फिर वयस्क होने से पहले ही उसकी शादी कर भारमुक्त तो हो जाते हैं। लेकिन छोटी-छोटी बच्चियों की जिंदगी नरक बन जाती है। क्योंकि उनकी शादी काने, लूले, लंगड़े, बेरोजगार, चरित्रहीन व्यक्ति से कर दी जाती है। 'केशर-कस्तूरी' कहानी की 'केशर' तथा 'सिरी उपमा जोग' की 'लालू की माई' ऐसी ही स्थितियों-परिस्थितियों में जीवन जीने को अभिशप्त है। 'केशर' दूसरी शादी के प्रलोभन को ठुकराकर उसी जीवन को बनाने के लिए संघर्ष करती हैं। वहीं 'लालू की माई' अपने बेरोजगार पति को घर के कार्यों से मुक्त कर खुद सब सम्हालती है जिससे वह पढ़कर नौकरी कर सके। उसका पति ए.डी.एम. बनते ही मुश्किल दिनों की

हमसफर को छोड़ उड़ जाता है। वह पति से शिकायत नहीं करती। त्याग के बदले मिले तिरस्कार को सहज सहन कर जाती है। लालू की माई प्रगतिशील तथा संघर्षशील महिला है। वह दिन-रात लगकर घर, खेतीबाड़ी, बच्चे ही सिर्फ नही संम्हाल रही थी बल्कि अपने पति का निर्माण भी कर रही होती है। क्या एक आदमी के वश की बात होती है. कि वह एक साथ इतने सारे काम भी करे और चुल्हा जलाकर परिवार के लिए भोजन भी तैयार करे। कहा जा सकता है कि पुरुष की सफलता के पीछे औरत का हाथ होता है। लेकिन क्या वह सफल पुरुष के लिए अधिक समय तक श्रद्धेय बनी रह पाती है। लालू के पिता को अपनी कामकाजी पत्नी तब देवीस्वरूपा लगती थी। लेकिन अब वह शहर में रहता है, शहर में नौकरी करता है तो वही देवीस्वरूपा पत्नी अशोभनीय लगने लगती है। यहाँ शिवमूर्ति पुरुषों की मानसिकता को सवालों के घेरे में खड़ा करते हैं। मानवीय संवेदनाओं का टूटना, रिश्तों की जकड़न, पारिवारिक विघटन के जिम्मेदार अधिकतर पढ़े-लिखे सभ्य लोग ही रहे हैं। लालू के पिता को अपने पत्नी बच्चों से कोई मतलब नहीं रह जाता है। ऐसे पुरुष चाहे किसी भी वर्ग से हो, उनकी फितरत में धूर्तता, मक्कारी व अवसरवादिता जैसे दुर्गण आवश्यक रूप में देखने को मिल जाते हैं। इसीलिए बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर ने कहा था कि मुझे पढ़े-लिखे लोगों ने धोखा दिया। स्वतंत्र भारत के गांवों में आज भी न जाने कितनी लालू की माई होगी जो ऐसी त्रासद् पूर्ण स्थितियों में जीवन यापन कर रही होंगी।

महादेवी वर्मा का कथन "यदि वह विद्वान पति की इच्छानुकूल विदुषी नहीं तो उसका स्थान दूसरी को दिया जा सकता है, यदि वह सौन्दर्योपासक पति की कल्पना के अनुरूप अप्सरा नहीं तो उसे अपना स्थान रिक्त कर देने का आदेश दिया जा सकता। इस विषय में उसके 'क्यों' का उत्तर देने को गृहस्वामी बाध्य नहीं, समाज बाध्य नहीं, धर्म भी बाध्य नहीं।"[11]

समाज ऐसी विद्रूपताओं से भरा पड़ा है। 'ख्वाजा ओ मेरे पीर' में नैरेटर की 'मामी' का जीवन 'लालू की माई' के जीवन से अधिक भिन्न नहीं है। दोनों का संघर्ष लगभग एक सा ही है। नैरेटर की मामी पति के बिना तमाम तरह के झंझावातों से संघर्ष करती जीवन गुजार देती है।

कहानी 'जुल्मी' की 'कोइली' पितृसत्तात्मक व्यवस्था की आँच में झुलसी हुई है। अपने झूठे गौरव के चक्कर मे या कहिए पितृशक्ति के अभिमान में जुल्मी पति और ससुर उसे ले जाने से इंकार कर देते हैं। क्योंकी वह अपने मन से मायके चली जाती है।

"कौने कसुरवा ना, जुल्मी कौने कसुरवा ना। चित से हमका देहना उतारी, जुल्मी कौने ना।"[12]

वर्तमान संदर्भ में देखें तो 1970 की इस कहानी की घटना अब क्रूरतम रूप में दिखाई देती है। जहाँ संविधान में महिलाओं को वर चुनने से लेकर हर तरह की स्वतंत्रता प्रदान की गई है। वहीं मान्यताओं का पोषक समाज अपने ही विधान का पालन करता है। मनपसंद शादी को समाज आज भी स्वीकार नहीं करता। अगर गैर बिरादरी है तो किसी एक का मरना तय रहता है। आज भी कई ऐसी जगहें हैं जहाँ महिलाओं के रहन-सहन, बोली-भाषा पुरुष ही तय करता है।

पुरानी रूढ़ियों में जकड़ा भारतीय समाज क्या ऐसे में विकसित देश बन सकता है। गैर-बराबरी, महिलाओं के प्रति निरंकुश धारणा को समय के साथ बदलना होगा। नारी की आवाज नारों में ही समाहित हो गई। "मनुष्य ने आत्महनन के जितने भी कार्य किये उनमें स्त्री का उपनिवेशीकरण सबसे गहरी और मारक कारवाई थी।[13] आज अति आवश्यक है कि लोग पुरानी रुढ़ियों को त्यागकर समानता स्थापना में सहयोग करें।

निष्कर्षत: शिवमूर्ति महिलाओं के जीवन से सम्बंधित उन सभी मुद्दों को कहानियों में रेखांकित करते हैं जो हर स्त्री का मौलिक अधिकार होना चाहिए। शिवमूर्ति ने वही लिखा है जो उन्होंने जिया है। उनकी सभी कहानियाँ उनके सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। वे अपने स्त्री जाग्रति सम्बन्धी चेतना से समाज को बदलाव की ओर ईशारा करते हैं। स्त्री-विरोधी परम्परागत व्यवस्था पर चोट करते हैं। प्रगतिशील, आधुनिक सोच वाली महिला की छवि को समाज के सामने उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। कहानी की स्त्रियाँ अपने हक-हुकूक के लिए निरन्तर संघर्ष करती रहती है। जीवन के प्रति आत्मविश्वास का जज्बा लिए समय और समाज का सामना करते आगे बढ़ती हैं। आवश्यकता है स्त्रियाँ शिक्षित हों बौद्धिक बने ताकि अपने व औरों के अधिकारों और कर्तव्यों का बोध हो। जिससे उनका चहुँमुखी विकास हो क्योंकि, उनके विकास से संपूर्ण राष्ट्र का हित होगा। पुरुष वर्ग को भी चाहिए कि स्त्रियों को अपना उपनिवेश नहीं बल्कि सहगामिनी के रूप में साथ लेकर चले। ग्रामीण समाज को अब नये जीवन मूल्यों के साथ नये आदर्शों के साथ आगे आना होगा। दमन व दमित की भावना को त्यागकर समाज को नई दिशा व दशा तय करने में अपना सहयोग देना होगा। ग्राम पंचायतों के पक्षपातपूर्ण रवैये से मुक्त होकर ही कार्य करना होगा ताकि समाज की महिलाएं सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि क्षेत्रों में सफल बनकर पुरुष वर्ग का साथ दें सकें। बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर ने स्त्रियों के हित के लिए संविधान में हर तरह के अधिकार दिये हैं। ग्रामीण महिलाओं के अशिक्षित होने के कारण इन अधिकारों का कोई मोल ही नहीं बन पाता। इसलिए ग्राम पंचायतों का यह दायित्व होना चाहिए कि हर स्त्री तक शिक्षा पहुँचे। लोग जितना शिक्षित और जागरूक होंगे पुरातन पंथी रूढ़ियाँ उतनी ही समाप्त होगीं।

संन्दर्भ-

1.वर्मा, महादेवी, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, पंचम संस्करण- 2019, पृ0 23-24।

2.शिवमूर्ति , केशर कस्तूरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007 पृ0 21।

3.वही, पृ०-23

4.वही, पृ0-34।

5.वही, पृ०- 51

6.वही, पृ०-110

7.वही पृ०-122

8.नवले, संजय, वंचितों के प्रवक्ता शिवमूर्ति, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2015, पृ०-137

9.शिवमूर्ति, कुच्ची का कानून, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ०-118

10.वही, पृ०-138

11.वर्मा, महादेवी, 2019, पृ०-34

12.शिवमूर्ति, 2017, पृ०-152

13.राजकिशोर, स्त्री-पुरुष कुछ पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004, पृ०-14।

8.नवले, संजय, वंचितों के प्रवक्ता शिवमूर्ति, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2015, पृ०-137

9.शिवमूर्ति, कुच्ची का कानून, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ०-118

10.वही, पृ०-138

11.वर्मा, महादेवी, 2019, पृ०-34

12.शिवमूर्ति, 2017, पृ०-152

13.राजकिशोर, स्त्री-पुरुष कुछ पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004, पृ०-14

भगवानदास मोरवाल के उपन्यास 'वंचना' में अभिव्यक्त नारी विषयक विचार

-संजयकुमार शर्मा,
विभागाध्यक्ष,स्नातकोत्तर अध्ययन केंद्र,
कला,वाणिज्य व विज्ञान महाविद्यालय,तळोदा
मो.7588100199

-परेश रामकृष्ण सननसे
भारत संचार निगम लि.,
महाप्रबंधक कार्यालय,जलगांव
मो.7588100199

उपन्यास, साहित्य की वह सशक्त विधा है जिस से मानव जीवन, उसके परिवेश तथा पात्रों का चित्रण इस प्रकार किया जाता है कि पाठक इसे पढ़ते समय स्वयं को ही इस उपन्यास का एक पात्र समझ कर जीने लगे। किसी भी लेखक की पहली और सबसे बड़ी कोशिश यही रहती है कि वह अपने पात्रों के माध्यम से सामाजिक जटिलताओं और विकृतियों पर प्रकाश डाल पाए और इसी श्रेणी के उपन्यासकार है भगवानदास मोरवाल।

मोरवाल जी अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीय नारी की अस्मिता की पहचान और समस्याओं को अभिव्यक्त करते है। अपने उपन्यासों में वे नारी के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक हालातों से जुड़ी समस्याओं पर प्रकाश डालते है।

यह उपन्यास वर्तमान स्थिति में पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की दयनीय अवस्था तथा बलात्कार जैसे जघन्य अपराध करने के पश्चात भी अपने आप को कानुन के शिकंजे से बचा कर समाज में घुमने वाले पुरुषप्रधान समाज का सत्य सामने लाता है।

मोरवाल जी का यह उपन्यास वर्तमान स्थिति में पुरुषप्रधान समाज में नारी की दशा को दर्शाता है। 'वंचना' की कथा में बलात्कार की शिकार स्त्री की स्थिति और पीड़ा को व्यक्त करने और अदालती कारवाई के नाम पर इस घिनौने अपराध करने वाले अपराधियों को बचाने के लिए किये जाने वाले तमाम कानूनी दाँव-पेच और प्रयास दिखाये गये है। इस माध्यम से मोरवाल जी समाज में स्त्री के प्रति झलकती पुरुष प्रधान मानसिकता का पर्दाफाश करने का प्रयास करते हुए दिखायी देते है।

'वंचना' की संपूर्ण कथा बलात्कार की ऐसी घटनाओं का संकलन है, जो पुरुषवादी विचारधारा की शिकार स्त्री के जीवन की अलग अलग स्थितियाँ और यह घिनौना अपराध करने वाले पुरुष वर्ग द्वारा अपने आप को बचाने हेतु चलाएं जाने वाले हथकंडों पर प्रकाश डालती है।

यह उपन्यास अनेक सामाजिक कु-प्रथाओं के कारण अनेक अनकही यातनाओं को चुपचाप सह रही बदनसीब स्त्रियों को अभिव्यक्त करता है, चाहे वे किसी भी धर्म की हो या जाति की।

इस उपन्यास में चित्रित पहली ही घटना बाल-विवाह जैसी कुप्रथा की शिकार सदानंद की पत्नी से संबंधित है। इस घटना में सदानंद बाईस-तेईस वर्ष का है। छह फुट का लम्बे चौड़े शरीर वाले सदानंद का 15 वर्ष की नाजुक सी दुल्हन के साथ जबरदस्ती का शारीरिक संबंध दर्शाया गया है, जिसमें दुल्हन पहली ही रात में दम तोड देती है।

"जीजा, ऐसे कैसे दहेज – हत्या का मामला बन जाएगा?'

फिर इस मुसीबत से कैसे पार पाया जाए विष्णु?' सज्जन सिंह ने पपड़ा गए होंठों पर जीभ फेरते हुए पूछा।"[1]

इस संभाषण से हमें यह ज्ञात होता है कि घर में दुल्हन की रक्त में सनी मृत देह पड़ी हुई है। ऐसी स्थिति में बजाय किसी डॉक्टर को बुलाने या प्राथमिक ईलाज कराने या मौत की पुष्टि करने के, कानुनी दांव पेच के लिए तैयारी करने की और अपराध से बच निकलने की तैयारी, यह भावना यहां दिखायी देती है। यहां घर के बड़े बुजुर्ग के मन में, मृत स्त्री किसी की बेटी है, एक स्त्री है इस मानवी संवेदना का अभाव दिखायी देता है।

इस घटना के प्रत्येक पहलू का मोरवाल जी ने अपने उपन्यास में अत्यंत सुक्ष्मरूप से वर्णन कर अपने पाठकों के सामने पुरी घटना का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। मोरवाल जी ने वर्तमान समाज में नारी की अवस्था एक लाश के अलावा कुछ और नहीं है इस वास्तविकता से पाठकों को और समाज को इस उपन्यासके माध्यम से अवगत कराना चाहा है।

"मैंने क्या खून-खराबा कर दिया। थोड़ी-सी ही तो जबरदस्ती की थी ... और फिर आप ने ही तो कहा था कि पहली रात ही बिल्ली मारनी चाहिए, नहीं तो वह बेकाबू हो जाएगी।"[2]

इस संवाद से सदानंद का अपरिपक्व मन और दुल्हन के अपरिपक्व शरीर के विषय में पता चलता है। 'बिल्ली मारने' की समाज द्वारा प्रदत्त मानसिकता तथा अपने हाथ से अपराध होने की भावना का अभाव सदानंद की संवेदनहीन एवं क्रूर मानसिकता का परिचय देती है।

भारतीय समाज में बलात्कार केवल सामाजिक कुरीतियों या पुरूष के अहं से नहीं जुडा दिखता है, अपितु इसके पीछे जातिगत मानसिकता दिखायी देती है।

"कानूनी अपराध तो है पर उस रामकरन को कौन समझाता। बल्कि वह सुनते ही चिंघाड़ा कि एक कुम्हारी मुझे समझाएगी कानून। ऐसे कानून मेरे जेब में पड़े रहते हैं।"[3]

यहाँ साथिन के रूप में सफाई, परिवार नियोजन, लड़कियों की शिक्षा, दहेज, भृण-हत्या तथा बाल-विवाह जैसे विषयों पर जागरूकता अभियान चलाने वाली जानकी का रामकरन को उसकी बारह वर्षीय बेटी गीता का विवाह न करने के लिए समझाना ठाकुर रामकरन को जातिगत अहंकार के कारण बुरा लगता है और इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेता है। इन सभी बातों का बड़ा ख़ामियाजा जानकी को भुगतना पड़ता है जो स्त्री की वंचना की एक और कहानी बयान करता है। यहां जातिय प्रतिष्ठा का नशा ठाकुर रामकरन पर इस तरह हावी होता है कि, इसके कारण वो जानकी की आबरू तार तार कर देने जैसा अपराध कर बैठता है।

"मरे जज ने अपने फैसले में कहा कि इज्जतदार और बड़ा आदमी किसी का, वो क्या कहते हैं बलात्कार कर ही नहीं सकता। दूसरा, यह कहा कि कोई मरद अपने किसी सगे-सबंधी के आगे ऐसा काम नहीं कर सकता। कोई अगड़ी जाति का मरद किसी छोटी जाति की औरत के साथ ऐसा काम नहीं कर सकता। कोई अगड़ी जाति का मरद किसी छोटी जाति की औरत के साथ इसलिए ऐसा गलत काम नहीं कर सकता क्योंकि वह मैली होती है। सबसे मजेदार बात तो उस जज ने यह कही कि मोहनलाल अपनी औरत की इज्जत लुटते हुए देख नहीं सकता"[4]

यहाँ पुलिस को रिश्वत दे कर अपनी नाबालिग बेटी का गैरकानुनी विवाह करने के पश्चात जानकी के पति को पीट पीट कर बांध दिया जाता है और उसी के सामने उसकी पत्नी जानकी के साथ रामकरन और सज्जनसिंह बारी बारी से अपना मुँह काला करते है। वे पैसे के बल पर पुलिस को जेब में कर लेते है और जानकी को गवाह नहीं मिलने देते, साथ ही जानकी गरीब एवं दलित होने के कारण भी उसे गवाह नहीं मिलता। तब जज के मतानुसार इज्जतदार और बड़े आदमी ऐसा काम नहीं करते और विविध युक्तिवादों के माध्यम से बलात्कार के पिछे की जातिगत व्यवस्था का प्रभाव तथा पुरूष जाति की मानसिकता प्रखर रूप से दिखायी देती है। इस मानसिकता और जातिव्यवस्था पर प्रकाश डालने का प्रयास मोरवाल जी द्वारा किया गया है।

"विष्णु जी, बुरा मत मानना एक बात कहूँ, अति की भी एक सीमा होती है।"[5] यह वाक्य बलविंदर के बारे में कहां गया है, जो घुमंतू जाति की लड़की वाले मामले में बच जाने पर हैवान बन जाता है और दोबारा एक मुसलमान लड़की सबीना को भगा ले जाता है। इस मामले में कोर्ट बलविंदर उर्फ़ बल्लू को दस वर्ष की सजा सुनाता है पर ब्रज नंदन ठाकुर उपरी अदालत में बड़ी आसानी से रूबीना की उम्र अठारह वर्ष से अधिक और घटना उसकी सहमति हुई है ऐसा सिद्ध कर देते हैं। इसी संदर्भ में बलविंदर जैसे अपराधी को छुड़ाने के बाद ब्रजनंदन ठाकुर का यह कथन सामाजिक संतुलन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण संकेत लगता है। वे यहां स्पष्ट करते है कि मानव-स्वभाव है कि यदि किन्हीं कारणों से किसी अपराधी को उचित दंड नहीं दिया जाता है तो उसकी

अपराधी मनोवृत्ति बढ़ती जाती है।

"वकील की इस दलील पर नाजिम के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। फिर भी हिम्मत जुटाते हुए बोला, 'यह तो कानून की मनमरजी हो गई वकील साब। इसमें एक औरत की मरजी या नामरजी का कोई मतलब ही नहीं रह गया। सब मर्द के अख़्तियार हो गया। औरत, औरत ना रह के जैसे अपने शौहर की जायदाद हो गई।"[6]

यहाँ इस्लाम को मानने वालों द्वारा सुविधानुसार शरिया कानून या भारतीय संविधान अथवा सरकारी कानूनों को मानने की एक विसंगति दर्शायी गयी है। जैसे रूखसत बी और रहमत की बेटी समीना के निकाह के बाद कई वर्षों तक उसका पति के लापता होने की स्थिति में शरई कानून के अनुसार समीना को दूसरा निकाह करने का अधिकार नहीं है। दूसरी शादी करने के बाद यदि पहला शौहर उस स्त्री पर अपना दावा पेश करता है तो अधिकार पहले शौहर का ही होगा। दुर्भाग्यवश समीना का दूसरा निकाह नाजिम से होने के पश्चात उसका पहला शौहर आसिफ लौट आता है, पर दूसरा पति नाजिम उसे छोड़ना नहीं चाहता, चाहे उसे शरई अदालत से ले कर सरकारी अदालत तक कहीं भी जाना पड़े। वकील का नोटिस मिलने पर दूसरे दामाद के साथ रहमत वकील से मिलने जाते है, जो साफ़-साफ़ कहता है कि मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम के अलावा किसी भी हालत में मुस्लिम विवाह रद्द नहीं किया जा सकता। अदालत से तलाक लिए बिना दूसरा निकाह जुर्म है। जहां नाजिम का मानना है कि इस कानून में औरत की मर्जी या नामर्जी का कोई मतलब नहीं रह जाता। सभी मर्द के अख़्तियार हो गया। औरत, औरत न रह कर जैसे अपने शौहर की जायदाद हो गई।

इस घटना के माध्यम से मोरवाल जी मुस्लिम समाज में नारी की दशा पर प्रकाश डालते है, जहां केवल मर्दों की ही मरजी पूछी जाती है और औरत को जायदाद की तरह एक से दूसरे के हवाले कर दिया जाता है, जैसे वो कोई इंसान न हो कर एक वस्तु है। यहाँ मोरवाल जी ने मुस्लिम समाज की पुरूषवादी मानसिकता पर प्रकाश डाला है।

"दफ़ा 497 औरत की आजादी को ख़त्म करती है"।[7]

यहां भारतीय दंड संहिता की धारा 497 का संदर्भ देते हुए यह कहां गया है कि, इस धारा के अनुसार जहाँ कोई औरत अपने शौहर की रजामन्दी के बिना, किसी ग़ैर-मर्द के साथ हमबिस्तर होने की हिमाकत करती थी और इस बात का पता उसके शौहर को लग जाता था तो उस ग़ैर-मर्द को इस दफ़ा के अनुसार सीधे-सीधे पाँच साल की सजा होती थी। परंतु सुप्रीम कोर्ट ने यह कह कर इसे ख़त्म कर दिया कि जिनाह अपने आप में कोई जुर्म नहीं है, क्योंकि औरत मर्द की जायदाद नहीं है।

मोरवाल जी ने कानून की धाराओं का संदर्भ देते हुए यहाँ यह स्पष्ट किया है कि आज की नारी की स्थिति सुधारने में न्याय व्यवस्था ने अहम भुमिका निभाई है और पुरूषवादी विचारधारा पर प्रहार किया है।

"पता नहीं कौन-सा बल्लू उसमें छिपकर बैठा हो और मौका मिलते ही उसे झपटकर अन्दर खींच ले।"[8]

यहां बलविंदर उर्फ़ बल्लू सात-आठ वर्ष की लड़की मुन्नी को अपनी हवस का शिकार बनाता है तथा उसकी हत्या कर देता है। परंतु चंचला अपने बेटे बल्लू के मोह में उसको बार-बार बचाने का प्रयास करती है। इस बार भी निचली अदालत में बल्लू के इस जघन्य और हैवानियत भरे कृत्य को देखते हुए उसे फाँसी की सज़ा दी जाती है। परंतु हाईकोर्ट में अपील करने पर उसकी फाँसी उम्र कैद में बदल दी जाती है। उम्र कैद का यह फैसला सुनते ही चंचला बौरा जाती है और जमकर जश्न मनाती है। ऐसे माता-पिता और ब्रजनंदन ठाकुर जैसे वकील ही बल्लू जैसे अपराधियों को बचा कर उन्हें बढ़ावा देते हैं। इस घटना के बाद ठाकुरों की इस सुनसान हवेली के सामने से गुज़रते हुए अब लोगों को और ज़्यादा डर लगने लगा है। विशेषकर मोहल्ले की लड़कियों और औरतों ने शाम होनी के बाद ही नहीं, दिन में भी वहाँ से आना-जाना बन्द कर दिया। उन्हें यह भय रहता है कि, पता नहीं कौन-सा बल्लू उसमें छिपकर बैठा हो और मौक़ा मिलते ही उसे झपटकर अन्दर खींच लेगा।

यहाँ मोरवाल जी ने ऐसे अभिभावकों से भरे समाज पर प्रहार किया है, जो अपने बच्चों को अपराधी होने के बाद भी उसे बचाकर उसके अन्दर पनपते अपराधी को एक प्रकार से प्रोत्साहन देते हैं। समाज के ऐसे घटकों के कारण बेटीयाँ खुले आम घुमने में भी भय का अनुभव करती है।

"जैसे ही पब्लिक प्रॉसिक्यूटर ने जज की इस घोषणा का, अपने मुवक्किल रूबीना और उसकी माँ को उनकी भाषा में बुझे हुए स्वर में अंग्रज़ी का तरज़ुमा करते हुए बताया कि बलविन्दर अपील जीत गया है, रूबीना की माँ फफककर रो पड़ी। एक पल के लिए उसे लगा जैसे न्यायाधीश की यह घोषणा, उसकी बेटी के साथ-साथ उसकी देह पर हुई विजय की मर्दवादी उद्घोषणा है।"[9]

अपने उपन्यास की इस घटना में मोरवाल जी एक बेटी की माँ की व्यथा अभिव्यक्त करते है। यहाँ जिंदा देह की ताप का खून मुँह को लग चुका बलविंदर द्वारा सबीना नामक एक मुसलमान लड़की को भगा कर ले जाता है, जिस के लिए लोअर कोर्ट बहला-फुसला कर भगाने और बलात्कार के जुर्म में बलविंदर को दस साल की सज़ा सुनाती है। लेकिन एक बार फिर ब्रज नंदन ठाकुर बड़ी आसानी से इस समूची घटना में रूबीना की उम्र अठारह से अधिक और उसकी सहमति सिद्ध कर देते है। कोर्ट की सभी दलीलें सुनने के बाद रूबीना की माँ को लगने लगता है कि न्यायाधीश की यह घोषणा जैसे उसकी बेटी के साथ साथ उसकी देह पर भी हुई विजय की मर्दवादी उद्घोषणा है।

इस प्रकार से मोरवाल जी ने सदानंद, सज्जन सिंह, जानकी कुम्हारिन उर्फ साथिन, बलविंदर, रूबीना, जया, अपराजिता, तारा तथा मुन्नी आदि विविध पात्रों तथा घटनाओं के माध्यम से समाज में होनेवाली बलात्कार जैसी घिनौनी घटनाएं तथा उससे जुड़ी हुई कानूनी कारवाईयों और उनके पिछे की जातिगत व्यवस्था तथा आर्थिक जोर पर खेले जाने वाले दांव पेचों पर प्रकाश डाला है। साथ ही साथ भारतीय समाज में जातिगत ऊँच नीचता का नैतिकता पर पड़ता गहरा प्रभाव भी दिखाया गया है, जिस कारण पीड़िता को न केवल शारीरिक अपितु सामाजिक यातनाओं का भी सामना करना पड़ता है।

एक ओर 'बेटी बचाओ – बेटी पढ़ाओं' का नारा देता समाज और दूसरी ओर उसी बेटी पर जब अत्याचार होता है, तो उसी को सामाजिक और आर्थिक स्तर से नाप तोल कर देखने वाला समाज है। समाज की यही मानसिकता अपराधी को कानुनी कारवाई से बचाव के लिए सहायक सिद्ध होती है। इन सभी विषयों पर मोरवालजी ने विविध घटनाओं के माध्यम से प्रकाश डाला है।

इस प्रकार भगवानदास मोरवाल ने अपने उपन्यासों के माध्यम से समाज में फैली कु-प्रथाओं, नारी समस्याओं, सामाजिक, राजनीतिक और गैर सरकारी संगठनों के नाम पर समाज सेवा की आड़ में होनेवाले भ्रष्टाचार तथा गरीबों के शोषण आदि समस्याओं पर प्रकाश डाला है। साथ ही समाज में उपस्थित नारी विषयक समस्या जैसे बेमेल विवाह, इस कारण स्त्री के होने वाले शोषण तथा जातिगत समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है। मोरवाल जी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से मुस्लिम समाज में धर्म की आड़ में हो रहे स्त्री के मानसिक तथा दैहिक शोषण को समाज के सामने रखा है तथा समाज में चल रहीं अन्य कु-प्रथाओं पर कड़ा प्रहार किया है। इस प्रकार भगवानदास मोरवाल ने अपने 'वंचना' उपन्यास में नारी विषयक विचार व्यक्त कर समाज में जागरूकता फैलाने का कार्य किया है।

संदर्भ :

1. 'वंचना' – भगवानदास मोरवाल, प्रथम संस्करण 2019, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली – 110 002, पृष्ठ सं. 12

2.वहीं, पृष्ठ सं. 13

3.वहीं, पृष्ठ सं. 54

4.वहीं, पृष्ठ सं. 56

5.वहीं, पृष्ठ सं. 148

6.वहीं, पृष्ठ सं. 120

7.वहीं, पृष्ठ सं. 120

8.वहीं, पृष्ठ सं. 210

9.वहीं, पृष्ठ सं. 148

10.वहीं, पृष्ठ सं. 120

आजादी की ईबारत :'जननायक टंट्या भील'

आदिवासी विमर्श

-डॉ.जगत सिंह मण्डलोई
भेरुलाल पाटीदार शास.स्नात. महाविद्यालय.
महू,मो.9893251867

शोध सारांश-

केन्द्र सरकार के संस्कृति मंत्रालय के अधीन संचालित "राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठित संस्थान कलकत्ता" द्वारा देष के केन्द्रीय पुस्कालयों में पुस्तकें उपलब्ध कराई जाती है। संदर्भित पुस्तकों एवं नेशनल लाइब्रेरी ऑफ ऑस्ट्रेलिया की लाइब्रेरी में टंट्या भील के साहसिक विद्रोह तथा ब्रिटिष शासनकाल में वीर शहीद, श्री टंट्या भील के संदर्भ में लिखे गये पत्रों, कवियों व लेखकों के अनुसार अंग्रेजों में टंट्या भील के नाम का कितना खौफ छाया हुआ था। टंट्या भील ने दूर-दूर तक फैले अंग्रेजी हुकूमत के शोषक शासन तंत्र को जमकर चुनौती दी। अंग्रेजों के गले की हड्डी बन चुका था तो वह गरीबों का मसीहा भी था। टंट्या भील ने अपने जीवन काल में आजादी की पटकथा गढ़ चुके थे। टंट्या भील जाति धर्म से ऊपर जनपक्षधरता, उदारता, दुस्साहस मानवीयता से ओतप्रोत थे। वीर शहीद टंट्या भील का जन्म गोंडी ग्राम भाषा के लोक गीत "अपलो दाऊ तंट्या दादाना, संक्रांततित बारा दियाना, आता जन्म मावा तंट्याना, सब गनगोतुनेका व्हेताना। ऐका आपल्या देव तंट्याचा, जन्म संक्रांती चा बारवा दिवस राही वेदना माई जीवनिचा, 26 होता दिवस जन्माचा" के अनुसार 26 जनवरी 1842 को जन्म खण्डवा जिले के पंधाना तहसील के ग्राम बढ़दा में पिता श्री भाऊसिंहजी और माता श्रीमति जिवनी के यहाँ हुआ था।

महामानव, रॉबीन हुड्ड से विष्व विख्यात, क्रांतिवीर, गरीबों के मसिहा, जननायक वीर शहीद, श्री टंट्या भील ने भारत की आजादी की ईबारत रची है। आजादी की ईबारत को समझने से पहले उनके जीवन के संघर्ष के इतिहास को समझना अतिआवष्यक है।

खानदेश एवं मालवा के सभी ज्ञात भील मुखियाओं से भिन्न, एक ऐसा भील योद्धा, खण्डवा और निमाड़ क्षेत्र में उभरा, जिसकी जनपक्षधरता, उदारता, दुस्साहस के किस्से, संचार के सीमित साधनों के युग में भारत और भारत की सीमाओं के बहार दुनिया में गूँजते रहे। नेशनल लाइब्रेरी ऑफ ऑस्ट्रेलिया की लाइब्रेरी में टंट्या भील के साहसिक विद्रोह खासकर मेलबर्न के 'लीडर' और सिडनी के 'वर्ल्ड न्यूज' में छपे धारावाहिक, जो टंट्या भील के साहसिक कारनामों से संबंधित थे। गरीबों के प्रति मानवीय और उदार नीतियों के कारण उसे सराहा गया। इस प्रतिष्ठित भील नायक को यद्यपि सारे के सारे ब्रिटिश दस्तावेज 'कुख्यात डकैत' के नाम से संबोधित करते है मगर उसके चारित्रिक आदर्शों की भूरि-भूरि प्रशंसा भी करते हैं। ब्रिटिश इंडिया के वायसराय ने मंच भारत सचिव को लिखे अपने पत्र Times, of India, 1 May 1886 में उसकी ख्याति का उल्लेख किया था।

महामानव, रॉबीन हुड्ड के नाम से विश्व विख्यात, जननायक, क्रांतिवीर, वीर शहीद टंट्या भील का जन्म गोंडी ग्राम भाषा के लोक गीत "अपलो दाऊ तंट्या दादाना, संक्रांततित बारा दियाना, आता जन्म मावा तंट्याना, सब गनगोतुनेका व्हेताना। ऐका आपल्या देव तंट्याचा, जन्म संक्रांती चा बारवा दिवस राही वेदना माई जीवनिचा, 26 होता दिवस जन्माचा" के अनुसार सक्रांत के बारह दिन बाद अर्थात 14 जनवरी को सक्रांत के 12 दिन बाद 26 जनवरी 1842 को जन्म खण्डवा जिले के पंधाना तहसील के ग्राम बढ़दा में पिता श्री भाऊसिंहजी और माता श्रीमति जिवनी के यहाँ हुआ था। टंट्या भील ने बचपन में ही पिता से लाठी-गोफण, तीर-कमान चलाने का प्रशिक्षण लेकर महारत हासिल कर ली थी।

जब साहूकारों व जमीदारों ने अंग्रेजों की मदद से उसे पकड़वाने की साजिष रची तो वह अपने अन्य साथियों के साथ मिलकर अंग्रेजी शासन के खिलाफ सन् 1857 की क्रांति के बाद गौरिला युद्ध शैली से युद्ध करता रहा।

जून 1858 की झाँसी की लड़ाई में महारनी लक्ष्मीबाई के वीरगति को प्राप्त हो जाने के बाद अंग्रेजों का अधिकार झाँसी पर हो गया तब तात्या टोपे को वहाँ से भागना पड़ा। निमाड़ के दो महान क्रांतिकारी एक टंट्या भील और दूसरा भीमा नायक से मिले। दोनों ही पूर्व तथा पष्चिम् निमाड़ के भील रणबांकुरे थे। टंट्या भील ने तात्या टोपे को गुरू षिवा बाबा से सबसे पहले मिलवाया। तात्या टोपे महाराष्ट्र की और बढ़ना चाहते थे किन्तु ब्रिटिश शासन के दबाव के चलते यह सम्भव नहीं हो पा रहा था तब टंट्या भील ने तात्या के हमशक्ल नारायणराव भागवत को बांसवाड़ा के जंगलों की और रवाना कर सकुषल महाराष्ट्र पहुँचा

दिया।

ST. James's Gazette, 23 September 1889 के अनासार अँग्रेज कहते कि टंट्या अचानक गायब हो जाने वाला और अचानक प्रकट हो जाने वाला ऐसा डकैत था, जो स्थानीय निवासियों के मस्तिष्क में दैवीय ताकत का आनंद देता था।

पोखर के पास भुईफल गाँव के जमींदार हिम्मत पाटिल था। हिम्मत पाटिल और षिवा पाटिल दोनों रिष्तेदार थे। हिम्मत पाटिल के पुलिस से अच्छे सम्बन्ध थे। हिम्मत पाटिल के इषारे पर षिवा पाटिल के चोरी और उठाईगीरी के झूठा आरोप में टंट्या भील को 1871 में गिरफ्तार कर न्यायालय मुकदमा 411 में हिम्मत पाटिल के झूठी गवाही से दो साल की सश्रम करावास की सजा हुई। बाद में सेशन कोर्ट ने निचली अदालत के फैसले को रद्द कर दिया।

शिवा पाटिल ने फिर थाने में टंट्या भील के खिलाफ चोरी की झूठी शिकायत दर्ज कराई। पुलिस ने टंट्या भील को पकड़ कर ले गई। कोर्ट में हिम्मत पाटिल ने एक बार फिर झूठी गवाही दी और निचली अदालत ने 1873 में एक साल की कठोर सजा सुना दी। टंट्या भील को सेंट्रल जेल नागपुर भेज दिया गया।

टंट्या भील हीरापुर गाँव में बीवी-बच्चों सहित मजदूरी करने लगा। जहाँ उनकी दोस्ती बिजनिया से हुई। बिजनिया स्वभाव से बड़ा क्रूर, देखने मे भयानक और करले पहाड़ के समान बड़ा बलवान था। इसी बीच 1878 में हीरपुर के पास बारी गाँव में चोरी के शक में टंट्या भील और बिजनिया को गिरफ्तार करने आई पुलिस से बिजनिया की हाथापाई हो गई। चोरी का आरोप तो सिद्ध नहीं हुआ पर हाथापाई के जुर्म में तीन-तीन महिने की सजा हुई। टंट्या भील को जबलपुर तथा बिजनिया को खंडवा जैल भेज दिया गया। इन घटनाओं ने टंट्या भील को विद्रोही बनने को मजबूर किया। उसने तय किया कि अब ब्रिटिष अर्थात अंग्रेज क्षेत्र में नहीं रहेंगे।

सरदार पाटिल, षिवा पाटिल और हिम्मत पाटिल का रिश्तेदार था। सरदार पाटिल के बेटे मोहन को टंट्या की खोज में जंगल भेजा जहाँ मोहन टंट्या के पास जाकर रोने लगा कि मेरे घरवाले मेरे साथ ठीक बर्ताव नहीं करते हैं। आप घर चलकर उन्हें समझा दो। टंट्या चला गया जहाँ पुलिसवाले घात लगाये बैठे थे। 24 दिसम्बर 1878 को टंट्या भील को खण्डवा जैल भेज दिया गया। टंट्या भील ने खुली कचहरी में झूठी गवाही देने वाले हिम्मत पाटिल को चुनौती दी थी कि-

"पाटिल दाजी, म्हारो नाँव टंट्यो छे, मख पहीचाणी ल्यों। आज तो धोखासी मख फँसाई दीयो पण याद राखजो, म्हारो नाँव टंट्यो छे,"

उसी रात 12 बजे टंट्या भील और अन्य 10 भील साथी 15 फुट दिवार फाँदकर सुरक्षा घेरे को तोड़ते हुए भाग गये। भागते हुए टंट्या भील ने पुलिसवालों को ललकारते हुए कहा कि- " टंट्या भील अपने साथियों को लेकर जा रहा है, जिसने माँ का दुध पिया हो, वह मुझे पकड़े।" तब टंटया सतपुड़ा के जंगलों का बागी बन चुका था।

06 अप्रेल 1879 को टंट्या भील अपने कुछ साथियों के साथ खण्डवा बाजार की ओर जा रहे थे । रास्ते में पनाली नदी के पास एक बैलगाड़ी उनकी ओर आ रही थी। टंट्या भील के साथियों को हथियारों से लैस देखकर बैलगाड़ी में शादी का समान छोड़कर सरदार और रामजी दोनों भाग गये। बैलगाड़ी में जो माल था उसे टंट्या भील ने अपने साथियों में बाँट दिया। यह टंट्या भील की पहली लूट थी।

17 जनवरी 1980 को टंट्या भील और उसके साथी छेगाँव के पास हरास्वाड़ा में गहरे रंग के कोट और लाल पगड़ी में थे। गाँव वालों को पुलिस दल का भ्रम हुआ। टंट्या ने पुलिस के रूप में प्रभावशाली लोगों के घरों की तलाशी ली और एक बनिया को लूटा। फरवरी 1880 के अंत में इब्राहिम बेग जैसे ऑफिसर को निमाड़ में विशेष ड्यूटी पर गुप्त रूप से टंट्या को पकड़ने की जिम्मेदारी दी गई जो जासूसी टीम का इंस्पेक्टर था। किन्तु टंट्या भील इनके हाथ भी नहीं आया।

1880 के आसपास सूखा पड़ा। खण्डवा के माल-मवेशी और गरीबों पर आपदा आ गई। सरकार निमाड़ के लोगों की कोई मदद नहीं करती थी। साहूकार ज्यादा कीमत पर अनाज बेच रहे थे। ऐसे समय पर टंट्या ने अनाजों को लूटकर गरीबों गाँव वालों को बाँट दिया।

गरीब व असहाय लोगों में यह विष्वास हो गया था कि टंट्या भील के होते हुए कोई भूखा नहीं सोयेगा। वह गरीब कन्याओं का विवाह भी कराता था जिससे उनकी संताने उन्हें मामा कहती थी। यहीं से टंट्या भील "टंट्या मामा" के नाम से विख्यात हुए।

1880 में टंट्या को गिरफ्तार करने का इनाम 500/- पाँच सौ रूपये घोषित किया था जिसे जुलाई 1882 में बढ़ाकर 1,000/- एक हजार रूपये कर दिया गया। इसके अलावा होल्कर दरबार ने अपनी और से 500/- पाँच सौ रूपये इनाम की घोषणा की थी। इस प्रकार कुल इनाम राषि 1,500/- एक हजार पाँच सौ रूपये हो गई थी।

धार के महाराज ने सेंट्रल इंडिया, गर्वनर जनरल के ऐजेंट को टंट्या भील को पकड़ने के लिए इनाम के 1,000/- एक हजार रूपये ब्रिटिश सरकार को दिये।

1882 में पुलिस ने टंट्या भील के रिश्तेदारों, समर्थकों और उससे संबंध रखने वाले हर प्रकार के लोगों को खण्डवा में बुलाया। उन्हें टंट्या भील को पकड़ने हेतु पता बताने का प्रलोभन दिया। उनमें से बीस लोगों को इस काम के लिए चयनित

किया गया और बाकी को छोड़ दिया गया। बीस लोगों ने पता लगााकर बताया कि टंट्या भील होल्कर महाराज के क्षेत्र में पड़ने वाले गाँव तिनसिया में रह रहा है। पुलिस वहाँ के मालगुजार के माध्यम् से तिनसिया की ओर चल पड़ी। रास्ते में पता चला कि मालगुजार चुपके से गायब हो गया और उसने टंट्या भील को बता दिया। टंट्या भील अपने साथियों के साथ भाग गया।

1883 में एक ब्राहमण सिपाही ने एक बार कुछ मुसाफिरों से बातचीत में कहा कि उसने टंट्या भील की दयालुता के बारे में सुन रखा है। वह उसकी तलाश में है। वह मिले तो उससे बेटी की शादी के लिए मदद माँगे। यह सुन मुसाफिरों में से एक ने पूछा कि बेटी की शादी के लिए कितने पैसे की जरूरत होगी। सिपाही ने कहा 500/- पाँच सौ रूपये। यह सुन उस मुसाफिर ने अपने दूसरे सहायक को इशारा किया कि वह सिपाही को 1,100/- ग्यारह सौ रूपये दे। सिपाही ने पैसा पाते ही समझ लिया कि यही टंट्या भील है। उसके बाद उसने पुलिस की नौकरी छोड़ दी। इससे पता चलता है कि टंट्या भील हर जाति और धर्म के गरीबों कीमदद करता था।

कैप्टन डोनाल्ड रॉबर्टसन द्वारा 17 जुलाई 1883 को सचिव टु द चीफ कमिश्नर सेट्रल प्रॉविंस को लिखे पत्र के अनुसार टंट्या भील को पकड़ने की इनाम की राशि 2,250/- रूपये हो गई। इन सबके बावजूद पुलिस वाले टंट्या भील को पकड़ने में कोई रूचि नहीं दिखा रहे थे। यह देख ब्रिटिष सरकार यूरोपीय या यूरो-एषियाई अधिकारियों की नियुक्ति कर रही थी। चीफ कमिश्नर ने टंट्या भील को नहीं पकड़ पाने के लिए प्रशासन से माफी माँगी।

मेजर बोई ने पुलिस प्रशासन, मध्य प्रांत की 1883 की रिपोर्ट में लिखा कि टंट्या भील को इतिहास में रॉबिनहुड्ड की तरह जाना जाएगा।

आई. जी. ने 1 अक्टूबर 1885 के प्रस्ताव द्वारा निमाड़ पुलिस बल को एक बार फिर मजबूत करने के लिए 3 हेड कॉन्स्टेबल, 50 कॉन्स्टेबल और 30 सवार तैनात करने, उन्हें 1 नवम्बर से 15 रूपये प्रतिमाह वेतन देने की सिफारिष की। उन्होनें ईसरी प्रसाद को 50 भील कार्प्स के साथ अपने साथ रखने का अनुरोध किया। 15 अक्टूबर को प्रस्ताव स्वीकार कर कहा गया कि डिप्टी कमिष्नर निमाड़ और डिस्ट्रिक्ट सुपरिन्टेंडेंट ऑफ पुलिस निमाड़ सीधे होल्कर के अधिकारियों के संपर्क में रहेंगे। 23 नवंबर 1885 को चीफ कमिष्नर ने टंट्या, बोंदरिया, भावल्या, ठाकुर नुकर, फुलसिंह और रेंकू को पकड़ने वाले को इनाम और उसके पिछले अपराधों के लिए क्षमादान देने की घोषणा की। घोषणानुसार टंट्या भील को पकड़ने की इनाम राषि बढ़ाकर 3,000/- रू. और होशंगाबाद जिले के नांदगाँव में 1,000 बीघा जमीन की मालगुजारी के हक देना तय कर दिया।

मि. क्रॉस्थवेट को एक साल 1885-1886 के लिए बर्मा से बुलाकर सेंट्रल प्रॉविंस का चीफ कमिश्नर बनाया गया। सरकार का अनुमान था कि उनका बर्मा का अनुभव टंट्या भील को पकड़नें में सहायक होगा । मगर उससे कोई लाभ नहीं मिला। वह वापस बर्मा चले गये।

टंट्या भील को पकड़ने की खतरनाक सेवा की जरूरत पड़नें पर कुछ पुलिस वाले नौकरी छोड़ देते और कुछ बीमार होकर अस्पताल में भर्ती हो जाते थे।

1886 में स्पेषल कमिश्नर फॉर द रिप्रेशन ऑफ डकैती, सेंट्रल प्रॉविंस मि. एच. सी. ई. वार्ड ने हर गाँव और जिले में पुलिस बलों की व्यापक तैनाती की। ईसरी प्रसाद ने सभी पुलिस अधीक्षकों से विचार-विमर्स कर टंट्या भील की रसद की आपूर्ति लगभग असंभव कर दी। इस प्रकार बैतूल, होशंगाबाद और निमाड़ से टंट्या भील को हटना पड़ा।

कमिश्नर नर्मदा डिवीजन ने 15 अप्रेल 1887 को आई. जी. पुलिस सेंट्रल प्रॉविंस को यह स्वीकृति दी कि अगर कोई बंजारा टंट्या को जिंदा या मुर्दा गिरफ्तार करेगा या कराएगा तो उसे 1,000 जानवरों को पाँच वर्ष तक चराने हेतु चरागाह मुफ्त उपलब्ध कराया जायेगा। इस पेशकश का उन जिलों में व्यापक प्रचार-प्रसार कराया किन्तु सफलता हाथ नहीं आई।

इंस्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस परेषान थे कि आखिर टंट्या भील पकड़ में क्यों नहीं आ रहा है \ उन्होंने दो अच्छे इंस्पेक्टरों को इस तथ्य का पता लगाने के लिए व्यापारी भेष में होषंगाबाद, बैतूल, खण्डवा और इंदौर क्षेत्रों में भेजा। दोनों इंस्पेक्टरों ने लौटकर इंस्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस को रिपोर्ट प्रस्तुत की वह इस प्रकार थी- "सतपुड़ा विंध्य की पट्टी में हम घूमें और पाया कि टंट्या की इलाके पर पकड़ है। किसान, अदिवासी लोगों में उसका बड़ा सम्मान है। यहाँ के लोग उसे भगवान मानते हैं। इसलिए वे पुलिस की मदद नहीं करते। टंट्या पर जान निछावर करने वाले बहुत से युवक हैं।"

टंट्या भील की ख्याति इतनी फैल चुकी थी कि 8 अगस्त 1887 को रेलवे इंस्टीट्यूट खण्डवा के एक सांस्कृतिक कार्यक्रम में मि. असीम ने "टंट्या भील" नामक गीत सुनाया था।

बंबई से ब्रिटिष इंस्पेक्टर भेजने का निर्णय लिया गया। एक इंस्पेक्टर बंबई से ट्रेन के प्रथम श्रेणी डिब्बे में चला। जब ट्रेन महू पातालपानी रेलवे स्टेषन रूकने के लिए धीमी रफ्तार में थी, तभी दो कुली डिब्बे में चढ़े। सामान लेकर छावनी में चलने की इजाजत माँगी। उन्होंने इजाजत दे दी। चलते चलते कुली ने उन्हें जंगल के अंदर लेकर चला गया तब उसने साहब का हथियार छीनकर कहा- 'मैं ही टंट्या

भील हूँ।' साहब उससे हथियार माँगने के लिए बढ़े और वह उन्हें दौड़ाता हुआ गायब हो गया। साहब मजबूर होकर लौट आए थे। उन्हें यकीन नहीं हो रहा था कि टंट्या ने उन्हें जिन्दा छोड़ दिया।

मई 1889 में मेजर ईसरी प्रसाद को दूसरी बार टंट्या के विरूद्ध अभियान में लगाया। टंट्या का एक मित्र गणपत जो होल्कर क्षेत्र के बाणेर का रहने वाला था। ईसरी प्रसाद ने गणपत राजपूत को सरकार का भेदिया नियुक्त किया। गणपत राजपूत ने टंट्या को रक्षाबंधन के दिन अपने घर बुलाया और 7 अगस्त 1889 को पुलिस को खबर कर दी कि 11 अगस्त रक्षाबंधन के दिन टंट्या घर पर आने वाला है। गणपत ने टंट्या और उसके 6 साथियों की अच्छी खातिरदारी की। 6 साथियों को चालाकी से दूर कर दिया और टंट्या भील को रात्रि में आराम (सोने) के लिए कहकर बंदूक अलग रख दी। गणपत ने इसारे से पुलिस को बुला लिया जो पड़ोस के घर में छीपे थे। पुलिस घर में घुसी और सोते हुए असहाय टंट्या भील को दबोच लिया।

ब्रिटिश पुलिस खंडवा की अदालत में अभियोग चलाना चाहती थी। चीफ कमिश्नर के सचिव, एल. के. लॉरी ने 26 अगस्त 1889 के आदेश द्वारा टंट्या को रिमांड पर ले लिया और जबलपुर जेल के जज के सामने पेष करने को कहा गया।

28 अगस्त 1889 को टंट्या को ट्रेन द्वारा इन्दौर से खंडवा होते हुए जबलपुर जेल ले जाया गया। हर स्टेशन पर आदिवासियों व गरीबों का हुजूम अपने बहादूर टंट्या भील की एक झलक पाने के लिए व्याकुल था।

कई अँग्रेज अधिकारी टंट्या के खिलाफ थे। इसलिए 19 अक्टूबर 1889 को सेषन जज लिंडसे नील ने टंट्या भील को फाँसी की सजा सूना दी। सजा सुनकर जहाँ गरीब और भील समुदाय रोने लगा था, वहीं अँग्रेज खुश थे।

कमिश्नर ने टंट्या भील को फाँसी देने का दिन 4 दिसम्बर 1889 तय कर दिया। टंट्या भील को अपनी पत्नी और बच्चों से भी नहीं मिलने दिया। 3 दिसम्बर 1889 की रात्रि में ही जबलपुर शहर तीर-धनुषों से लैस भीलों से घिर गया था। भीड़ को देखते हुए सुबह 4 दिसम्बर को टंट्या भील को जेल के अंदर ही फाँसी दे दी गई।

टंट्या भील को फाँसी देने के बाद उसकी लाश को पातालपानी महू के जंगलों में फैक दिया। जहाँ ट्रेन के हादसे होने लगे। इससे टंट्या भील की मूर्ती की स्थपना की गई। मूर्ती स्थल पर आज भी ट्रेनें रूक कर टंट्या भील को सलामी देती है।

पत्रकार एवं स्वाधीनता संग्राम सैनानी से जगदीश विद्यार्थी ने दिन-दुखियों के इस जुझारू जन नायक के प्रभावी कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में लिखा है कि "होल्कर राज्य और सी. पी. (पुराने मध्य प्रांत) के पर्वतीय भूभाग याने निमाड़ के साथ मालवा का पठार होशंगाबाद, बैतुल, पड़ोसी महाराष्ट्र तक उसकी धाक थी।" टंट्या भील यदि ब्रिटिश शासन तंत्र के लिये एक आतंक का प्रतिक था तो वहीं वह औरोतों, बेबस-बच्चों, असहाय व गरीबों का मददगार तथा उसका रक्षक भी था। टंट्या भील ने अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाई और सेठ-साहूकार व जमींदारों को लूटकर, वह धन गरीबों में बाटा।

श्री जगदीश विद्यार्थी के अनुसार "कमजोर वर्ग के शोषण और जुल्म के खिलाफ पौखर से शुरू हुई उनके संघर्ष की कहानी का पटाक्षेप 11 वर्ष के बाद 11 अगस्त 1889 की रक्षा-बंधन के दिन उसकी मुह बोली बहन के पति की धोखेबाजी के कारण बणेर (खरगौन) के पास हुआ।

स्वराज संस्थान भोपाल के संचालक श्री श्रीराम तिवारी ने लिखा है "अत्यंत साधारण परिवार का एक सामान्य सदस्य अपने युवाकाल में अदम्य इच्छा शक्ति, संकल्प, जीवट और मानवीय करूणा से ओत-प्रोत होकर युगांतकारी संघर्ष कर सका। इसी विषेषता ने टंट्या भील को इतिहास पुरूष बना दिया। "

संदर्भ -

1."बाबा भांड-टंट्या भारत का पहला भील क्रांतिपुत्र" अनुवाद निशिकांत ठकार एवं राधकृष्ण पेपरबैक्स में पहला संस्करण: 2012, राधकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 7/13, अंसारी रोड़, दरियागंज नई दिल्ली-110002।

2."भील विद्रोह" सुभाष चन्द्र कुशवाह, प्रकाशक- हिंद युग्म सी-31, सेक्टर 20, नोएड़ा (उ. प्र.)प्रथम संस्करण 2021 ISBN 978-81-953061-0-7

3.पुस्तक "आदीवासी विद्रोह" विद्रोह परंपरा और साहित्यिक अभिव्यक्ति की समस्याएँ (विशेष संदर्भ-संथाल 'हूल' और हिन्दी उपन्यास), लेखक केदार प्रसाद मीणा।

4."स्वाधीनता आन्दोलन का स्वर्णिम इतिहास" लेखक शंकर बाम, ISBN नं.81-88462-18-7 संस्करण वर्ष-2005, प्रकाशक -संजीव प्रकाषन 3613, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

5.पुस्तक "मध्य प्रदेष में स्वाधीनता आन्दोलन का इतिहास" लेखक-गोपीनाथ कालभोर, गौरी प्रकाशन मन्दिर, मकान नं. 430, छोटू बैण्ड के ऊपरी मंजिल चाँदपोल बाजार, जयपुर-302001 ISBN नं. 81-89684-05-1 संस्करण 2012

मराठी आदिवासी काव्य में स्त्री जीवन

-डॉ.संतोष गिरहे
सहायक प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग,
राष्ट्रसंत तुकड़ोजी महाराज नागपुर विश्वविद्यालय,
नागपुर मो.9421971832

सारांश :

मातृसत्तात्मक व्यवस्था में आदिवासी महिलाओं का स्थान स्वतंत्र रहा है। वह अपने परिवार में मुखिया की भूमिका का निर्वहन करती थी लेकिन समय के साथ हुए परिवर्तन एवं पितृसत्ता के प्रभाव के कारन आदिवासी स्त्री भी अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व खो गयी। आज आदिवासी कवि, चिंतकों के केंद्र में आदिवासी जीवन का यथार्थ है। इस चिंतन से स्त्री भी अछूती नहीं रही, उसकी भी पीड़ा को कवियों ने कविता का विषय बनाया है। उसके जीवन संघर्ष को व्यक्त किया है। प्रस्तुत लेख में मराठी आदिवासी स्त्री का जीवन संघर्ष के स्वरूप को समजा जा सकता है।

बीज शब्द :

आदिवासी संस्कृति, अस्मिता, अस्तित्व, सामाजिक, सभ्यता, स्वतंत्र, प्रतिरोध, स्त्री जीवन, दशा, रक्षा, आत्मनिर्भर, सजग, पितृसत्ता, व्यवस्था, छल-कपट, परित्यक्त, शोषण, मातृसत्तात्मक, भुखमरी, वन कानून, इत्यादि।

विस्तार :

भारत में प्राचीन काल से ही आदिवासी समुदायों में मातृसत्तात्मक कुटुंब पद्धति रही है। आज भी उसका अस्तित्व है। आदिवासी जीवन जंगलों पर निर्भर रहा है और वे जंगल से प्राप्त वन संपदा से ही जीवनयापन करते हैं। उनकी संस्कृति मातृ प्रधान होने के कारण अधिकांश देवताओं के नाम भी स्त्रियों के नाम पर देखें जा सकते हैं। आदिवासी समुदायों में स्त्री को परिवार में प्रथम स्थान दिया जाता है। 'गोटुल' परंपरा में स्त्री को अपना जीवन साथी चुनने का अधिकार है। विवाह के बाद आदिवासी स्त्री अपने पति के साथ संघर्ष करती हुई दिखाई देती है। आदिवासी समुदायों में दहेज़ देने की प्रथा नहीं है। प्रत्येक स्त्री को तलाक़ और पुनर्विवाह करने का अधिकार है। प्राचीन काल से ही इस समुदाय में मातृसत्ता की प्रधानता होने के कारण सतीप्रथा का प्रचलन नहीं रहा। हालांकि, समय के साथ मातृसत्तात्मक व्यवस्था में कई बदलाव हुए हैं। प्राचीन काल से लेकर अब तक अवधि में आदिवासी महिलाओं की ओर देखने का दृष्टिकोण बदला है। उनका शोषण होने लगा, पितृसत्ता हावी हो गयी परिणाम स्वरूप स्त्री के अस्तित्व पर मर्यादा आने लगी। आज आदिवासी स्त्री दहशत के साये में जी रही है। जंगल में बाघों से न डरने वाली आदिवासी महिला साहूकारों और अधिकारियों से डरती नजर आती है। उनका मानसिक, आर्थिक और यौन शोषण किया जा रहा है। भूख, भुखमरी, वन कानून, अज्ञानता और गरीबी से वह तंग आकर आधुनिक और उन्नत सुखवादी संस्कृति के भ्रम की शिकार हो रही हैं। मराठी साहित्य में आदिवासी महिलाओं की सुंदरता, जीवन संघर्ष का चित्रण किया गया है। संघजा मेश्राम मराठी साहित्य में स्त्री जीवन के संदर्भ में कहती हैं कि- "मराठी साहित्य में आदिवासी महिलाओं का चित्रण असंस्कृत, असहाय, बलात्कार, परित्यक्त प्रतीत होता है, जबकि चित्रकला में आदिवासी महिला को स्वतंत्र, स्वच्छंद, मुक्त, अर्धनग्न दिखाया गया है, दोनों स्थितियों में अंतर भले ही हो लेकिन मैं इन दो प्रकारों को अत्याचार ही मानूंगी।"[१] आदिवासी महिलाएं आज भी अपने पूर्वजों के साथ अपनी संस्कृति को जी रही है। आज सामाजिक एवं वैचारिक परिवर्तन होने के बावजूद आदिवासी महिलाओं के लेखन को व्यापक रूप से नहीं पढ़ा जाता है। कुछ आदिवासी कवि, लेखक दिखाई देते हैं। जिन्होंने अपने लेखन में आदिवासी महिलाओं के संघर्ष को दर्शाया है। आदिवासी महिलाओं के दर्द और पीड़ा को अपने शब्दों में व्यक्त किया है। आदिवासी कवि भुजंग मेश्राम कहते हैं-

"गवताच्या भाऱ्याला खुपसलेला इळा काढला की
काटा काढल्यावर सांडणाऱ्या रगतारमाणं
एकेक आठवणींच्या थेंब पडते टपटप"[२]

इस पंक्ति के माध्यम से हम समझ सकते हैं कि आदिवासी स्त्री का जीवन खून से बहनेवाले प्रवाह जैसा है। वह पारिवारिक जिम्मेदारी को संभालते-संभालते थक जाती है। उसके सामने कई प्रकार की उलझने हैं, वह विकत परिस्थितियों का सामना करती है। उसका यह संघर्ष जन्म के साथ ही शुरू होता है। आदिवासी कवि वाहरु सोनवणे कहते हैं-

"स्त्री पुरुषांची सावली /जाते मागे मागे
पावलावर पाऊल टाकत/माणुसकीचं स्वतंत्र अस्तित्व
नाकारलं व्यवस्थेन/तेव्हापासून डुबक्या खात
ती वाहत आली आहे/गुलामगिरीच्या पुरात /इतपर्यंत"[३]

जिस व्यवस्था ने मानवता के स्वतंत्र अस्तित्व को नकारा है, उस व्यवस्था में डूबती हुई स्त्री की परछाई पुरूष के पीछे बहती नजर आ रही है। वह गुलामी की अवस्था में जीवन यापन करती है। आज आदिवासी महिला बदलाव का सामना कर रही है, वह आत्म-जागरूक हो रही है। जब से उसने पढ़ना-लिखना शुरू किया है तब से उसे अपने आस-पास का विश्व नजर आ रहा है। वह इस व्यवस्था के खिलाफ़ संघर्ष कर रही है, लड़ती रही है। वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रही है। जिन व्यवस्था ने आज तक उस पर अन्याय-अत्याचार किया है, उनके खिलाफ़ उसका संघर्ष जारी है। बाबाराव मडावी कहते हैं-

"लेकरे माझी उपाशी /निघाले मुक्तीच्या वाटेने
स्त्री जन्मा तुझी/अशीच का कहाणी
हात लावू नका माझ्या पिलाला /झाली मी सिंहीणी"[४]

आदिवासी महिलाओं का शोषण क्यों हो रहा हैं? उनकी उपेक्षा क्यों हो रही है, उसका गुनाह क्या है? जो उसे इन यंत्रणाओं से गुजरना पड़ रहा है। उन्होंने कितना अन्याय और अत्याचार सहा है लेकिन हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि हर चीज का अंत भी होता है। स्त्रियों के शोषण अब का प्रतिरोध करना होगा, जोरदार विरोध करना होगा। कुसुम आलम आशावादी हैं कि आज की आदिवासी स्त्री आत्म मग्न नहीं है, वह क्रांति व विद्रोह के गीत गा रही है किसी भी प्रकार की समस्याओं का हल खोज रही है। वह आंदोलन में सक्रिय है, शिक्षा का महत्त्व समझ रही है। आत्मनिर्भर हो रही है, वह अब अपने भाग्य के सहारे नहीं बैठती। कवयित्री कहती हैं-

"हे कमलयनी /तुझे योवान के साथ तुझे आग भी प्रज्वलित करनी है
वेदना की उस करुण वाणी से गीत गाना है /विद्रोही मंगल गाना।" [५]

जन्म से ही आदिवासी स्त्री विकट परिस्थितियों का सामना करती आ रही हैं, उसके पास उतना समय नहीं है कि उन स्थितियों से हार मानकर रोती बैठें, भले ही आज परिस्थिति उसके अनुकूल न हो, परिवार में आदिवासी महिलाओं की स्थिति गौण हुई हो। उन स्थितियों का प्रतिकार करना होगा। आदिवासी महिलाओं का पुरुषों द्वारा किये जाने वाले शोषण का हृदय विदारक चित्रण आदिवासी कवि करते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ देख सकते हैं-

"तो तडातडा मारायचा थपडा /दणाणा मारायचा गुद्दे
झिंज्या हालवत म्हणायचा /तू तं पायाखालची वहाण
बाय म्हणजी पायताण ! तुला काय अधिकार?
माय वो तूच सांग मी वं कोणाची?" [६]

उक्त पंक्तियों में युवती अपनी माँ से प्रश्न पूछती है। वह आप को क्यों पिटता है? आप को जूता क्यों समझता है? सच बताओं मैं किसकी हूँ? आज एक आदिवासी स्त्री का अपने परिवार में हर स्तर पर शोषण हो रहा है। फिर भी आदिवासी मां ने अपनी बेटियों को जो कुछ भी सहा है, उसके खिलाफ आवाज उठाने का संबल प्रदान करती है। प्रश्न करना सीखाती है। उसको मालुम है कि शर्म के मारे मुहँ छुपाने का यह समय नहीं है अपितु आँख से आँख मिलाकर बात करने का समय है। अब तक वह सीधी-सादी, सहज किसी भी प्रकार के छलकपट से अंजान थी। व्यवस्था का षड्यंत्र उसे कभी समझ ही नहीं आया, वह फंसती ही चली गयी, झूठ-फरेब के झांसे में आ गयी लेकिन वह अब सजग हो रही है, अपने सामर्थ्य से परिचित हो रही है। यही कारण है कि आदिवासी कवि सक्षम, किसी भी प्रकार के छल-कपट को पहचानने वाली स्त्रियों का चरित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। मसलन उक्त पंक्तियाँ देख सकते हैं-

"टिमटिमत्या ठिणग्यांच्या ज्वाला व्हा /
या सांस्कृतीच्या विकृतीची धिंड काढा
ढोंगी मुर्दे पाडा." [७]

इस कविता प्रतिरोध के स्वर मुखर हुए हैं। कवि सीधे व्यवस्था से चुनौती देता है। हम देखते आ रहे हैं कि आदिवासी महिलाओं की कई पीढ़ियाँ अन्याय और उत्पीड़न का शिकार हुई हैं, उनके जीवन में अंधेरा था। आदिवासी कविता में स्त्री की समग्र पीड़ाओं के साथ उसके सक्षम स्वरूप का भी चित्रण हो रहा है। स्त्री को भी अब लग रहा है कि सचेत होना चाहिएँ, बुद्धिमान होने की जरूरत है ताकि समाज में सम्मान के साथ जीवन जीया जा सकें। आदिवासी स्त्रियों को लगता है कि अपराधियों को जवाबदेह ठहराया जाना चाहिए। व्यवस्था से आंख मिलानी चाहिए। अब उसे इस बात का अहसास हो रहा है कि वह आज भी उपेक्षित है। कभी परिवार में उसका सम्मान होता था, परिवार के सभी सूत्र उसी के हाथ में थे लेकिन आज उसका सम्मान कही गूम हो गया है। उसके प्रति समाज का रवैया नहीं बदला है।

हम आज़ादी का अमृत मोहत्सव मनाने जा रहे हैं लेकिन आज भी आदिवासी समाज सामाजिक-आर्थिक शोषण से मुक्त नहीं हुआ है। कानून भले ही आदिवासियों की रक्षा के लिए हैं किंतु कानून की रक्षा करने वाले ही आदिवासियों का शिकारियों के रूप में आकर शोषण कर रहे हैं। इस प्रकार की स्थिति बदलनी हो तो आदिवासियों को संगठित तरीके से अपनी आवाज उठाने की जरूरत है। आदिवासी महिलाओं को सचेत होकर इस स्थिति का सामना करना होगा। अपनी संस्कृति के सार्थक बिंदुओं को पुन: व्याख्यायित करना होगा, आदिवासी कवि संपूर्णता के साथ आदिवासी जीवन का चित्रण कर रहे हैं। आदिवासी कवयित्रियों ने भी स्त्री की कथा-व्यथा को अपनी कविता का विषय बनाया है। हमने देखा कि आदिवासी कविता में प्रखर, संघर्षरत, लड़वैया स्त्री का स्वरूप देखने को मिलता है। आदिवासी बालिकाएं जो दिन भर ढोल-नगाड़ों पर निराई करती थीं, अब उनकी हाथों में कलम आई है, आदिवासी स्त्री सावित्री की भांति सारे कष्ट भुलाकर, चांदनी रात में हाथों में कुदाल लिए हुए संघर्ष कर रही है। अपने अस्तित्व की पहचान करा रही है। अपने अस्तित्व की तलाश के बहाने अपने गौरवशाली इतिहास का महिमामंडन करके अन्याय और अत्याचार करने वालों को सवाल कर रही है। उसके प्रतिरोधी स्वरूप को कविता में देखा जा सकता है। आदिवासी कवियों ने समग्र रूप में आदिवासी स्त्री के जीवन दर्शन का चित्रण किया है।

संदर्भ :

1.मेश्राम, संघजा, व रा. मुटाटकर. (सं.).(1991). आदिवासी साहित्यातील स्त्री जीवन हाकारा. पुणे : महाराष्ट्र मानव विज्ञान परिषद पुणे.

2.मेश्राम, भुगंग. (1995). उलगुलान. औरंगाबाद : साकेत प्रकाशन.

3.सोनवणे, वाहरु. (2006). गोधड. पुणे : सुगावा प्रकाशन.

4.मडावी, बाबाराव. (2009). पाखरं. यवतमाळ : प्रियंका प्रकाशन.

5. रोंगटे, तुकारण. (2007) (सं.) मुरारकर, रामचंद्र. आदिवासी साहित्य : नियतकालिकातील : ठाणे . डिंपल पब्लिकेशन.

6.वाघमारे, प्रतिमा. (डिसेंबर 2002). आदिवासी स्त्रीत्वाच्या स्पंदनोंदी, 'म्होरकी'. पुणे : सुगावा प्रेरणा विशेषांक.

7.चांदेकर, कृष्णकुमार. (1999). पतुसा. अमरावती : नभ प्रकाशन.

हिंदी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी जीवन प्रथाएँ

-डॉ.राजेंद्र घोडे
सहायक प्राध्यापक,
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे-411007

शोध सारांश :

आदिवासी समाज की अपनी भाषा, साहित्य और परंपरा है। जिसमें न कोई छल-कपट है और नही ऊँच-नीच का भेदभाव। किंतु पिछले कुछ सदियों से इन पर कभी अंग्रेजों के तो कभी धर्म और राजनीति के विभिन्न हमले हुए है। आज भारत देश आर्थिक विकास के पथ पर तेज गति से आगे बढ़ता जा रहा है। भारत के हर हिस्से और वर्ग के चेहरे पर विकास की झलक देखी जा सकती है। इनके बावजूद भी आज आदिवासी समाज हजारों साल पुरानी अपनी परंपराओं के साथ जी रहा है। आज भी आदिवासी समाज जंगलों में किसी तरह से अपना जीवन-यापन कर रहा है। किंतु 20 वी सदी से औद्योगिकरण और शहरीकरण के नाम पर उनके जमीन-जंगल को नष्ट किया जा रहा है। इसके बावजुद भी आज के उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्विकरण के युग में आदिवासी समाज अपनी आस्था, भाषा, कला, रुचि, परंपरा, गीत, नृत्य और अतीत की कई 'सांस्कृतिक परंपराओं' से जुड़ा हुआ है। जिसकी जानकारी साहित्य के माध्यम से हमें हो रही है।

संकेताक्षर :- संस्कृति, रीति-रिवाज, प्रथाएँ , श्रद्धा, अस्तित्व, अनुभूति, संघर्ष, शोषण, भेदभाव, लोकतंत्र आदि।

आदिवासी उपन्यासों में केवल आदिवासियों के रहन-सहन, खान-पान, संस्कृति, परंपरा मूल्य और त्यौहारों का ही चित्रण नहीं मिलता बल्कि उनके संघर्ष एवं साहस का भी चित्रण हमें उपन्यासों में दिखाई देता है। पिछले दो दशकों से आदिवासी साहित्य की धार पैनी हो गयी है। जगह-जगह आदिवासी विमर्श की चर्चाएँ हो रही हैं। "वरुन के बेटे' इस उपन्यास के माध्यम से नागार्जुन ने खुरखुन के माध्यम से तत्कालीन आदिवासियों के अभावग्रस्त जीवन का चित्रण किया है। खुरखुन के घर का चित्रण करते हुए उन्होंने कहा है- 'पुआन पीछे थे कोने में उन पर फटी-पूरानी बोरी बिछी थी, एक जवान लड़की और नंग-धडंग बच्चे सोये पड़े थे। ओढ़ना के नाम पर कथरी-गुदंडी के दो-तीन छोटे-बड़े तुकडे उन शरीरों को जहाँ-तहाँ से ढक रहे थे, दूसरे कोने में चूल्हा-चौका। तीसरे में अनाज रखने के कुंड और कुठले। चौथा कोना खाली। छप्पर के बाँसों से दसियों छिक्के लटक रहे हैं। मछलियाँ पकड़ने और फँसाने के औजार भीत की खुंटियों से टंगे थे।"[1] इस तरह उपन्यासकार ने आदिवासी मलाही-गोंढियारी के मछुओं के जीवन को चित्रित किया है। इसी तरह 'कब तक पुकारु' इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने जरायम पेशा जाति के पीड़ाओं का यथार्थ चित्रण किया है। समाज का सर्वथा उपेक्षित वर्ग जरायम पेशा करनटों के जीवन-दर्शन का समग्र चित्रण करनेवाली यह एकमात्र कृति है इस उपन्यास में सुखराम की चार पीढ़ियों की कथा के माध्यम से उनके रीति-रिवाज विश्वास, परंपराओं के चित्रण के साथ उनके दु:ख दर्द, पीड़ाओं को उजागर किया है। जरायम पेशा आदिवासी लोग आजीविका के खेल-तमाशा, नाचना-गाना एवं शिकार आदि पर निर्भर रहते हैं। इसलिए सामंती व्यवस्था के दबाओं में करनटनियों पर अधिकारी वर्ग खुले आम अत्याचार करते हैं। इस उपन्यास में सौनो कहती है- दुनिया में हमारी कोई इज्जत नहीं। हमें जब चाहे पुलिसवाले पकड़ लेते हैं। राजा के सलाहकार हमारी औरतों को ले जाते हैं। हम चोर समझे जाते हैं।"[2] इस प्रकार आदिवासी समाज पर अन्याय होता है।

संजीव के 'धार' उपन्यास में भी आदिवासी जीवन संघर्ष और शोषण का चित्रण हुआ है। इस उपन्यास के केंद्र में आदिवासी नारी मैना है। संथाल आदिवासी किस प्रकार भूख से बेहाल है इसका चित्रण उपन्यास की नायिका मैना करती है। वे कहती है- "धन्न मनाऊँ रेल की कंपनी का कि बछड़ा-बकरा कट जाता है। और हमको भोज खाने को मिल जाता। धन्न मनाऊँ रेलवई पुलिस का हमको सिलतोड़ी कटाता हमरा बहिण बेटी माँ के साथ रंडीबाजी करता कि हमको दू-चार पैसा भेज जाता।"3 पेट की आग बुझाने के लिए संथाल आदिवासी अपनी जान जोखिम में डालकर कोयले की खानों में उतरते है इसके बाबजूद भी मिल मालिकों और पुलिस के अत्याचार का शिकार उन्हें होना पड़ता है। इस तरह ठेकेदार भी आदिवासियों को धमकाकर उनका आर्थिक, शारीरिक और लैंगिक शोषण करते हैं। संजीव के 'जंगल जहाँ शुरु होता है' इस उपन्यास में थारु जनजाति एक ओर सेठ साहुकारों के शोषण से प्रताड़ित है तो दूसरी ओर डाकुओं की कुरीतियों से। इस सबके अलावा उन्हें पुलिस के अन्याय और अत्याचार भी सहने पड़ते है। इस

उपन्यास में बिसराम जो कि अपनी दुलारी की मृत्यु से बेहाल है। काकू को परशुराम को खाना बना देने के जुर्म में थानेदार की मारपीठ की शिकार बनती है। इतना सब कुछ होने के बावजूद भी ये लोग इन गैर कानूनी करतूतों के खिलाफ आवाज तक नहीं उठा सकते। बिसराम की खेती जमींदारो ने हड़प ली ओर भैंस को ठेकेदार ने पकड़ रखा है। बिसराम के माध्यम से लेखन ने तमाम खेतिहार मजदूरों की टीस को इस प्रकार व्यक्त किया है- "पहले चीनी मिले बंद हुई फिर खेत बंधक हुए भैंस गई, मेहरारु मरज सेज पर और बेटी को साँप ने डसा हैं।"[4] कितनी भयानक स्थिति है। यह दुनिया का असली चेहरा है। जो जितना कमजोर है गरीब है उसको ज्यादा दबाया जाता है। इस पर जुल्म किए जाते हैं। क्योंकि जुल्म करनेवाला जानता है कि इनकी तरफ से आवाज उठानेवाला कोई नहीं है।

'सावधान! नीचे आग है' इस उपन्यास में संथाल आदिवासियों की मानसिकता, देवी-देवता, खान-पान, पूजा, रीति-रिवाज, परंपरा, पर्व, त्यौहार, बलि प्रथा, पंचायत आदि का चित्रण दिखाई देता है। इस उपन्यास में लोकगीत और लोकनृत्य के माध्यम से संथाल आदिवासियों की संस्कृति उभरकर आयी है इसलिए शर्मा मंगर से कहते हैं- आदिवासी औरतें सर पर एक गमका रख लेंगी जो पीठ के नीचे तक फैला होगा चाहे वे कोयला ही क्यों न हो रही है। दूसरी देशवाली औरतों में ये चीज आपको नहीं मिलेगी। आदिवासी संस्कृति अन्य संस्कृति से बेहत्तर थी भले ही वे साँवले और आर्य गोरे।"[5] इस प्रकार इस उपन्यास में आदिवासी संस्कृति का दर्शन हमें मिलता है। इस देश में आज भी आदिवासियों के अनेक गाँवों में मूलभूत सुविधा भी नहीं है। रोजगार की समस्या तो हर जगह दिखाई देती है। आदिवासीयों के अनेक गाँवों में लोग अपनी जीविका के लिए या अपनी पेट के लिए जंगलों में चारा तलाशते हैं। इस स्थिति का चित्रण हमें जंगल के फूल' उपन्यास में दिखाई देता है। एक सरकारी अधिकारी गौडों का गाँव खाली देखने पर पूछता है तब उसका नौकर जवाब देते हुए कहता है- "यहाँ यही होता है हुजूर। सारी रियासत के बहुत से गाँव कई दिन से खाली पड़े रहते हैं। यहाँ के मर्द और औरतें जंगल चले जाते हैं। पेट के लिए चारा तलाशते हैं हुजुर। यहाँ खाने का ठिकाना कहाँ हैं?"[6] इस तरह आदिवासियों की समस्याओं का दर्शन हमें मिलता है।

सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व का पूरा आदिवासी समाज समृध्द है। आदिवासी सांस्कृतिक परिधि के अंतर्गत लोकनृत्य, वाद्य, संगीत आदि का समावेश होता है। इस संस्कृति को 'सूरज किरण की छाँव' इस उपन्यास में उपन्यासकार ने बस्तर की गोंड आदिवासी संस्कृति को व्यापक रूप में चित्रित किया है- सबसे पहले मैदान के आखिरी कोने में खड़े दल ने अपने ढोल जोर-जोर से पीटे। रंग-बिरंगे कपड़े और सिर पर जंगली भैंस के सींग पहले बैंगा आदिवासी निराले थे। औरतें केवल कमर में लाल कपड़ा लपेटे थी। जवान-बूढ़ी उमर की औरते थी वहाँ और सभी की छाती खुली थी। कौड़ियों की माला और पैंट में कड़े पहने आदमियों के हाथ में हाथ डाले वह दल आगे बढ़ा उनके बीच ढोलिए भी थे।"[7] इस प्रकार आदिवासी संस्कृति का दर्शन हमें अनेक उपन्यासों में देखने को मिलता है।

इस तरह हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन और प्रथाओं का दर्शन हमें दिखाई देता है। हर एक उपन्यास में उनका जीवन संघर्ष, पीड़ा, यातना के माध्यम से दिखाई देता है| इसके बावजूद भी उनकी परंपरा, रीति-रिवाज, रुढ़ियाँ इनके माध्यम से उनके संस्कृति का भी दर्शन होता है। आदिवासी समाज की परंपरा अन्य समाजों या जनजाति में से अलग है| इसी कारण आदिवासी संस्कृति की अलग पहचान है| आदिवासियों की बोली-भाषा, रहन-सहन, स्थन-पान, वेश-भूषा आदि में अन्य समाजों की अपेक्षा अंतर दिखाई देता है| इसीलिए इस परंपरा और संस्कृति को सुरक्षित रखना आवश्यक है|

संदर्भ :-

1. आदिवासी साहित्य विविध आयाम- संपा. डॉ. रमेश कुरे, विकास प्रकाशन कानपुर-2013, पृ. क्र. 132
2. हिंदी में आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन- प्रो. बी. के. कलासवा, मयुर प्रकाशन दिल्ली- 2009, पृ. क्र. 70
3. धार-संजीव- राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2018, पृ. क्र. 138
4. हिंदी में आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन- प्रो. बी. के. कलासवा, पृ. क्र. 82
5. सावधान! नीचे आग है- संजीव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण -2018, पृ. क्र. 122
6. हिंदी में आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन- प्रो. बी. के. कलासवा, मयुर प्रकाशन दिल्ली 2009, पृ. क्र. 80
7. आदिवासी साहित्य विविध आयाम- संपा. डॉ. रमेश कुरे, विकास प्रकाशन कानपुर 2013, पृ. क्र. 166

आदिवासी विमर्श

-रोहिणी सालवे
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे-411007

इक्कीसवीं सदी के साहित्य में विविध विमर्शों की काफ़ी चर्चा होती आई हैं। इन विमर्शों में दलित विमर्श, नारी विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श, मुस्लिम विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि का समावेश हैं। 'विमर्श' का अर्थ विचार विवेचन या परीक्षण से लिया जाना अपेक्षित होता हैं। यहाँ आदिवासी विमर्श पर प्रकाश डालने पर एक बात स्पष्ट होती हैं, कि साहित्य में आदिवासियों का होनेवाला शोषण तथा भेदभाव दर्ज किया हैं। आदिवासी से तात्पर्य, प्राचीनकाल से जंगलों में बसनेवाली मनुष्यजाति हैं। भारतीय संविधान में अनुसूचित जनजाति के रूप में आदिवासी जनसमुदाय का समावेश किया हैं। एक विश्लेषण के अनुसार, " भारत में अनुसूचित जनजातियों में से कुल ७१ प्रतिशत जनसँख्या छह राज्यों में निवास करती हैं। सन १९९१ की जनसँख्या के आधार पर भारत में अनुसूचित जनजातियों की कुल जनसँख्या ६.७८ करोड़ हैं।"[१] आदिवासी समाज की अपनी स्वतंत्र संस्कृति देखि जाती है। यह अपना समूह बनाकर रहते है, इनकी अपनी बोली होती है। उपजीविका के लिए ये समाज वनों पर निर्भर रहता है। गोंड, वारली, संथाल, बंजारा, मिझो, नागा, आदि अनेक जनजातियाँ महाराष्ट्र, झारखण्ड, बिहार, आंध्र आदि इलाकों में पायी गई है परन्तु आज इस समाज की दयनीय स्थिति कपरिचय करते हुए जयश्री जी लिखती है- " एक अनुमान के अनुसार अमेजोन के गहरे जंगलों के भीतर आज भी पच्चास से ज्यादा आदि मानवों के कबीले है, जिनका हमारी तथाकथित सभ्य दुनिया से कोई संपर्क नहीं...होता तो आज वे भी नहीं होते..."[2]

आदिवासी समाज में विविध कलारूप देखे जाते है। इनकी भाषा, खान-पान, रहन-सहन, आदि.में इनकी विशिष्ट संस्कृति के दर्शन होते है और यही इनकी पहचान है। आदिवासी जनसमुदाय जल, जंगल और जमीन को आत्मा मानकर अपनी जिंदगी इसी के बीच जीता आया है। इनका जीवन एक जिज्ञासा का विषय रहा है। आअज भी आदिवासी समाज बिजली, अस्पताल, शिक्षा जैसी मूलभूत सुविधाओ से वंचित दिखाई देता है। बड़ी विडम्बना की बात है, कि कुछ स्वार्थी लोग, भ्रष्ट शासन व्यवस्था इनका जल, जंगल और जमीन भी हथियाना चाहते है। बाजारवाद के नाम पर सदियों से आदिवासियों के साथ लूट का खेल खेला गया है। इक्कीसवी सदी की युवा साहित्यकार जयश्री रॉय अपने उपन्यास 'साथ चलते हुए' में आदिवासियों के जीवन की त्रासदी संवेदना के साथ व्यक्त करती है। उपन्यास का नायक कौशल तथा नायिका अपर्णा के जीवन की अपनी-अपनी त्रासदी है। कौशल इस त्रासदी से निकलना चाहता है और सामाजिक कार्यो में जुट जाता है। उसके इस कम में अपर्णा भी जुट जाती है। कौशल आदिवासियों के हक्क की लड़ाई लढता है। इस श्रमिक, सच्चे, भोले-भाले, अशिक्षित लोंगो के सर पर मौत मंडराती दिखाई देती हैं। कई बार इन्हें नक्सली घोषित कर नष्ट किया जाता है। जयश्री जी लिखती है- " धरती की यह आदिम संताने सभ्यता और विकास के दोहरे पाठ में घुन की तरह पिसती जा रही है।"[३]

वैश्वीकरण के इस दौर में आदिवासी समाज आज भी विकासयात्रा में जुड़ नहीं पा रहा है। सबसे बड़ी शोकांतिका यह रही है, कि विभिन्न ठेकेदारों, सरकारी यंत्रनाओ के बीच इस समाज का शोषण किया जा रहा है। इसमें भी सबसे ज्यादा मार आदिवासी स्रीयों को झेलनी पड़ी है। "साथ चलते हुए" की सकालो कहती है, "गरीबों का कोई सच्चा हमदर्द नहीं... फिर वह प्रशासन के लोग हो, पुलिस हो, पूंजीपति या यह नक्शलवादी, हमें तो हर तरफ से मरना है... पुलिस लॉकअप में भी उसका बलात्कार होता है और अपने तथाकथित कामरेडों, गरीबों के हमदर्दों द्वरा भी... काल ही एक ग्यारह वर्ष की बच्ची का हमल गिराया गया था, वह भी जंगल में, इतना खून बहा की मर गई... ट्रेनिंग दिलवाने की बात करके उठा ले गये थे यही लोग, अब कहिए..."[४]

आदिवासी समाज और आदिवासी स्रीयों के अस्तित्व का प्रश्न आज भी एक गंभीर संकट के रूप में आदिवासी विमर्श के माध्यम से उपस्थित होता आया है।

हिन्दी साहित्य में संजीव, रनेद्र, रमणिका गुप्ता, महुआ माजी, निर्मला पुत्तुल आदि. कई साहित्यकारों ने इस विषय को लेकर अपनी लेखनी चलाई है। निर्मला पुत्तुल जी एक आदिवासी समाज में जन्मी स्री है, आदिवासी समाज का दु:ख दर्द अपनी कविता के माध्यम से अत्यंत संवेदना के साथ निर्मला जी अभिव्यक्त करती जाती है-

"तुम्हारें हाथों बने पत्तल पर भरते है पेट हजारों
पर हजारों पत्तल भर नहीं पाते तुम्हारा पेट
कैसी विडम्बना है, कि
जमीन पर बैठ बुनती हो चटाइया
और पंखा बनाते टपकता है,

ISSN-2321-1504 Nagfani No. UTTHIN/2010/34408

तुम्हारे करियाये देह से टप...टप...पसीना..."[५]

प्रस्तुत कविता मात्र कविता न होकर स्री जीवन की पीड़ा अभिव्यक्त करती एक संवेदनशील कविता है। यह स्री हर काम में पुरुषों का हाथ बटाते हुए दोहरे शोषण का शिकार होती जाती है। साहित्य के माध्यम से आदिवासी वर्ग के प्रति पाठक के मन में संवेदना जगाने का कार्य साहित्यकारों ने किया है, साथ ही आदिवासियों का जीवन जीने का संघर्ष अत्यंत सजीवता के साथ अभिव्यक्त किया है।

निष्कर्ष –

आदिवासी समाज तथा संस्कृति अत्यंत प्राचीन है। आज भी इन लोंगो तक मूलभूत सुविधाएँ पहुच नहीं पा रही है। अनेक सरकारी योजनाए आज भी इन गरीब और परिश्रमी लोगों तक पहुच नहीं पाती। संपत्ति के नाम पर इनके पास जल, जंगल और जमीन ही है परन्तु ये प्राकृतिक संपत्ति हथियाने का प्रयास भी ठेकेदारों, कंपनियों तथा सरकारी व्यवस्था द्वारा हर बार किया गया है। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत चीजों के लिए भी आदिवासी समाज को आज तक संघर्ष करना पड़ा है। देश की भ्रष्ट व्यवस्था के कारण इस समाज के अस्तित्व पर ही बहुत बड़ा प्रश्नचिहन लगा हुआ है। भारत की इस प्राचीन संपत्ति को बचाने का कार्य आज अनेक सेवाभावी संस्थाएं तथा साहित्य के माध्यम से किया जा रहा है। आदिवासियों के जीवन का अध्ययन करते हुए एक बात स्पष्ट होती है, कि ये लोग आज भी जंगल के किसी कोने में झाड़ू , चटाईयां बुनते, महुआ के फूलों को चुनते दरिद्रता से भरा जीवन जी रहें है। आदिवासी स्री का शोषण तो सदियों से खुले आम होता आ रहा है। इन लोगों को उनका हक्क और अधिकार दिलाने का कार्य आज विभिन्न माध्यमों से हो रहा है। आदिवासी विमर्श आदिवासियों के जीवन पर प्रकाश डालने का महत्वपूर्ण कार्य करता आया है , जिसपर सोचने के लिए पाठक बाध्य हो जाता है।

सन्दर्भ –

१. समाजशास्त्र विश्वकोश, सं. हरिकृष्ण रावत, पृ.- ३१४

२. फुरा के आंसू और पिघला हुआ इन्द्रधनुष, जयश्री रॉय, पृ. २५

३. साथ चलते हुए, जयश्री रॉय, पृ. ४९

४. वही, पृ. १४३-४४

५. नगाड़े की तरह बचते शब्द, निर्मला पुत्तुल

जनजातियों की सामाजिक अवधारणा और रीति-रिवाज

-शीतल कुमार चौके

सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र,
रानी दुर्गावती, शा.महा., परसवाडा

जनजातियों जीवन के अध्ययन-क्रम में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके अंचल में अनेक युगों से जनजातियों की सांस्कृति परम्परायें, उनके जीवन की आसाधारण धारणायें सुरक्षित हैं। जनजातियों की अनेक जातियाँ उनके रीति-रिवाज एवं उनमें प्रचलित लोक विश्वास सहज ही शोध की जिज्ञासा उद्बुद्ध करते है। जनजातियों का मूल स्थान कहाँ है, यह विवाद का विषय है। मूल जातियों के आधार पर भी इनकी परंपरा निर्धारित करना कठिन है।

डी.एन. मजूमदार के शब्दों में उनके आदिम लोगों के विषय में कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती , जो पूर्व ऐतिहासिक काल में इस देश में आये। भारत में पूर्व ऐतिहासिक काल में मनुष्यों के अस्थि-पंजर का भी ठीक से अध्ययन नहीं हुआ है।

भारतीय समाज में विभिन्न जनजातियों का पाया जाना हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। आधुनिक युग की खोज उपभोगवाद पर आधारित है। किन्तु आदिम इतिहास के संदर्भ में आदिम जनजातीय का अध्ययन करना भी आधुनिक समाज की आवश्यकता है। ये आदिवासी जनजाति जंगलों में निवास करती है, जंगल ही इनका जीवन है तथा आधुनिकता की चकाचौंध से कौसो दूर है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि ये जनजाति अपने जंगली वातावरण में ही मदमस्त जीवनयापन करने के लिए बनी है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और मानवीय विकास का चक्र निरन्तर चलता रहता है। समाज का कर्तव्य है कि समाज का प्रत्येक प्राणी सुखी-सम्पन्न जीवन-यापन करें। इस हेतु सरकार ने विभिन्न प्रकार की योजनाओं का क्रियान्वयन किया है। वर्तमान परिवेश में आदिवासी जनजाति समूदाय का विकास सरकार की प्रमूखता है।

देश के सम्पूर्ण विकास में सभी समूदाय का सहयोग आवश्यक है, किसी एक समूदाय को छोड़कर देश का समग्र विकास नहीं किया जा सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व की अनेक मानव जातियों ने विकास का कदम एकसाथ रखा जिसमें से कुछ मानव जातियों ने अपना विकास परिष्कृत रूप से किया और आधुनिक प्रजातियों में आ गये। किन्तु आधुनिक युग में अनेक आदिम जाति विलुप्त हो गईं या विलुप्ति के कगार पर है, किन्तु भारतीय आदिम जनजाति ने अपने आपको विपरीत परिस्थितियों में भी जीवित रखा है जो कि भारतीय जनजातियों की

प्रमूख विशेषता है।

भारत में सबसे पहले ज्ञात जनजातियों समूह की भूमिका को निश्चित करने के लिए हमें सर्वप्रथम इनकी पृष्ठभूमि के रूप में सिंधु घाटी सभ्यता के पतन तथा आर्यो के आगमन का संयुक्त पुनर्निक्षण करना होगा भरत भूमि पर सिंधु सभ्यता एक प्रमाणिक क्रमिक उद्विकास की देन है। किन्तु अ प्रवासियों व विदेशीयों द्वारा भारत में स्थापित उपनिवेश का प्रश्न एक महत्वपूर्ण तथ हो सकता है। इस सभ्यता का अचानक उद्भव एवं लगभग विस्फोटक विकास तथा इसकी स्वतः स्फूर्ति विद्त के अनेक कारण हो सकते हैं। इसमें एक कारण सिंधुघाटी की अनुकूल परिस्थितियाँ हो सकती है। भूमि के अत्यधिक अर्वराशक्ति के कारण जनसंख्या में तेजी से विकास हुआ हो सकता है।

अंग्रेजों ने इनके निवास स्थलों पर अतिक्रमण किया तो ये सीधे-सादे आदिवासियों ने अंग्रेजी सत्ता के विरूद्ध अपने परम्परागत हथियारों (तीर-धनुष, भाले) से लड़ाई लड़ी। ''बिरसा मूण्डा'' आदिवासी समूदाय ने आजादी की लड़ाई में नेतृत्व किया और अपनी साहसिक प्रवृत्ति का परिचय दिया। ये आदिवासी और जनजातियाँ जंगलों, नदी, नालों और जंगली जानवरों के बीच सदियों से सहचर करते आ रहे हैं। यदि कोई इनके क्षेत्रों में अतिक्रमण करें तो ये सीधे-सादे आदिवासी भी उग्र हो उठते हैं।

जनजातियों में सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक विकास की कोई खास होड़ भी नहीं है, इसी कारण इस समूदाय में सदियों बाद भी विकासात्मक परिवर्तन देखने को नहीं मिलता है। ये जनजाति अपने परिवार, समाज में ही खुश या सुखी-सम्पन्न है। ऐसा लगता है कि ये दूसरे समूदाय या समाज के लोगों से मिलना ही नहीं चाहते हैं, और कोई समाजशास्त्री इसके बारे में अध्ययन करना चाहता है, तो ये अपने इतिहास के बारे में जानते ही नहीं हैं या अपने बारे में कुछ बताना ही नहीं चाहते हैं। वर्तमान में ये जनजाति अत्यंत पिछड़ी, गरीब, अभावग्रस्त और मूख्यधारा से विमूख है। भारतीय समाज में किसानों, दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों और जनजातियों का एक ऐसा विशाल समूह हमेशा से विद्मान रहा है, जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीति और सरकारी योजनाओं से हमेशा से ही वंचित और विकास से विमूख रहा है। सरकार ने पहले तो इन वंचित समूहों के विकास हेतु कोई खास योजना ही नहीं बनाई और यदि वर्तमान में इन समूहों को मूख्य धारा से जोड़ने की योजना बनाई भी गई तो सरकारी योजनाओं का समूचित लाभ ये समूह नहीं उठा पा रहे हैं।

जनजातियों के विकास का अध्ययन मानव जाति के विकास का ही अध्ययन है। ये प्राचीन जनजाति जिनकी अस्पष्ट भाषा व आधी-अधूरी जीवन-शैली है, ये जनजातियाँ छोटे झोपड़ों, कबीलों व जंगलों में निवास करती है। जिनका अपना कोई लिखा हुआ इतिहास नहीं है। सीधा-सरल जीवन-यापन इनकी विशेषता है। ये तीर-धनुष-भाले और कम पहने हुये कपड़ों से अपनी पहचान स्वयं बताते हैं। इनका खान-पान कंद-मूल व शिकार किये हुये पक्षी व जन्तु हैं। जादू-टोना, अंध-विश्वास, बलि आदि परम्परायें इन जनजातियों में आज भी कायम है। आर्थिक उपार्जन के लिए कोई निश्चित व्यवसाय नहीं है, कृषि, पशुपालन और मधुमक्खी के शहद इनके प्रमूख आर्थिकोपार्जन के साधन के रूप में विकसित हुए हैं।

''जनजातियों का अजायबघर'' और मध्यप्रदेश को ''जनजातियों का घौंसला'' कहा जाता है। सामान्यतः मध्यप्रदेश में बसी जनजातियों के नाम जनसंख्या की अधिकता का क्रम-गौड़, भील, कोल, कमार, उरांव सहरिया है। इस प्रकार जनसंख्या की दृष्टि से सहरिया जनजाति का क्रम छटवाँ है। 18 सहरिया जनजातिः- सहरिया जनजाति मध्यप्रदेश की प्रमूख जनजातियों में से एक है। इनका समूचित विकास करना म.प्र. सरकार की प्रमूखता है। सहरिया मूलतः म.प्र., राज्य के गुना, शिवपुरी, दतिया, ग्वालियर, अशोकनगर, मूरैना, भिण्ड, श्योपुर, सागर, दमोह, विदिशा, टीकमगढ़ पाई जाती हैं।

अतः अन्य सामाजिक समूहों के साथ उनका अंतःसंबंध और बदलते आधुनिक जीवन में उनकी नियंत्रणकारी योग्यताओं से जुड़े कुछ मूदे हैं। इस इकाई में हमारे लिए जनजातीय समूदायों, जनजातीय समुदायों की विशेष जीवन शैली की जानकारी और उनकी चिंताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, ताकि समूदाय के विभिन्न विकास प्रयासों के माध्यम से उन्हें दूर किया जा सके।

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद, आपः जनजातीय समूदायों को परिभाषित कर सकेंगें और उनका वर्णन कर सकेंगें जनजातीय समूदायों की सामाजिक और आर्थिक विशेषताओं को समझ सकेंगें और उन्हें स्पष्ट कर सकेंगे; वि-अधिसूचित जनजातियों ;कमदवजपपिमक जतपइमेद्ध और यायावर (धुमंतु) जनजातियों ;दवउंकपब जतपइमेद्ध के बीच अंतर स्पष्ट कर सकेगें और वि-अधिसूचित समूदायों सहित जनजातीय समूदायों की प्रमूख चिंताओं का उल्लेख कर सकेंगे।

व्यवस्था को तोड़ने का काम सबसे पहले ब्रिटिश शासकों द्वारा किया गया। रेलवे, सड़क, कार्यालय, निवास स्थल, स्कूल, कालेज इत्यादि के लिए जनजातीय भूमि का अधिग्रहण किया गया। उन्होंने जमीन के बाद जनजातीय आय के दूसरे साधन जंगल को अपने अधिकार में लिया। परंपरा के अनुसार जनजाति लोग जंगल के राजा थे। शासकों ने उन्हें अपना दास बना लिया। उन्हें अंग्रेज पदाधिकारियों की अनुमति से जंगल में प्रवेश करने दिया जाता था। जंगल के राजा हमारे जनजातीय बंधुओं को जंगल श्रमिक के रूप में जीवन जीने के लिए बाध्य किया गया। उन शासकों द्वारा जनजातीय क्षेत्रों में जमींदार, ठेकेदार, प्रशासक, पुलिस, महाजन, सूदखोर इत्यादि

द्वारा शोषण तथा उत्पीड़न करवाया गया।

जनजातीय समाज में अशिक्षा व्याप्त है। अशिक्षा के कारण उनके बीच कई प्रकार की कुरीतियाँ प्रचलित हैं, उदाहरण के लिए डायन, ओझा, भूत-प्रेत इत्यादि मे ं विश्वास। कई महिलाओं को डायन बतलाकर उन्हें प्रताड़ित किया जाता है तथा जान से भी मार डाला जाता है। बीमारी का इलाज डाक्टर से न कराकर वे ओझा-गुणी के पास जाते हैं। ओझा-गुणी द्वारा ही किसी महिला के बारे में डायन संबंधी सूचना देकर समाज में तनाव पैदा कर दिया जाता है। अशिक्षित होने के कारण विकास योजनाओं में उनकी भागीदारी नहीं हो पाती है अथवा वे शोषित हो जाते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में धर्म निरपेक्ष संविधान के आधार पर शासन व्यवस्था स्थापित की गई। सभी मानवजातीय समूहों को विकसित करने का अवसर प्रदान किया गया। पिछड़े मानव जातीय समूहों के लिए संवैधानिक सुरक्षा के साथ-साथ आर्थिक विकास के प्रयास भी किए गए। आर्थिक विकास के लिए कई प्रकार की योजनाओं का सूत्रीकरण किया गया तथा उन्हें क्रियान्वयन भी किया गया। लेकिन जनजातीय विकास की दिशा में आशा के अनुरूप सफलता नहीं प्राप्त हुई है तथा जनजातियों को विकसित बनाने के लिए अभी भी बहुत कुछ करना है। जनजातीय विकास के प्रयास को मुख्यतः दो भागों-(क) ब्रिटिश शासनकाल में जनजातीय विकास तथा (ख) स्वतंत्र भारत में जनजातीय विकास-में विभाजित कर अध्ययन किया जा सकता है।

जनजातियों में सामाजिक परिवर्तन समाजशास्त्रियों के आकर्षण और अध्ययन का विषय प्रारम्भ से ही रहा है। परन्तु परिवार की प्रमुख इकाई के श्रम युक्त और अभाव ग्रस्त जीवन शैली की ओर समाज शास्त्रियों की निगाह कम ही रही है। समाज वेत्राओं द्वारा जनजातीय समाज के विभिन्न पहलुओं पर किए गए शोध अध्ययनों से प्रेरित होकर अध्ययन कर्ता ने जनजातीय में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन का लक्ष्य बनाया। सामाजिक परिवर्तन के क्रान्ति के इस युग में जब तेजी से पारम्परिक मूल्य परिवर्तित हो रहें है। परिवर्तन की प्रभावी भूमिका पुरुषों में दिख रहा है। जनजातियों की स्थिति दोयम ही नजर आ रही है। वे चाहें सामान्य वर्ग से हो, पिछड़ा वर्ग से हो या अन्य वर्ग से अनुसूचित जाति, जनजाति समुदाय में यह स्थिति और भी दयनीय है।

जनजातियों के विकास एवं व्यावसायिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर अध्ययन विशद रूप में पाया जाता है। इसमें त्वरित सर्वेक्षण और कल्याणकारी प्रशासनिक नीतियों को बनाने के लिये किये अध्ययनों का प्रमुख स्थान है। राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल करने की दृष्टि से आयोजन केन्द्रित अध्ययन तीसरी उपधारा रही है। जनजातीय समाज में पहली बार महिलाओं में एक गतिशील, प्रगोन्मुख इकाई में प्रकट हुई है। शिक्षा के नवीन अवसरों एवं नौकरियों और आधुनिक प्रक्रियाओं ने इन्हें आगे एवं अपने विकास के प्रति सचेत और प्रयत्नशील बनाया है।

जनजातीय शब्द अपने में असीम, अनुपम और अद्भुत इतिहास सँजोये हुये है, इसका उच्चारण करते ही पुरातन जातियों की एक झलक सामने आ जाती है। आधुनिक युग की चकाचौंध से दूर, आधुनिकता की कृत्रिम और जटिल व्यवहार शैली से असंयुक्त और आज के भौतिक वैभव एवं भोगवादी जीवन से अपरिचित, एकान्त और शान्त प्रकृति की गोद में रहने वाली जनजातियों के लोग आज भी अपनी परम्पराओं से युक्त अपनी मार्यादा और संस्कारों से पुष्ट सामाजिकता का परिचय देते हैं। इनकी अपनी विशिष्टतायें हैं, इनके अपने संस्कार है तथा इनकी अपनी जीवनशैली है। गोंड, बैगा, कोल, पनिका और अगरिया रेवांचल में वास करने वाली प्रमूख जनजातियाँ हैं। इन जनजातियों की धार्मिक परम्परायें, सामाजिक रीति-रिवाज शताब्दियाँ से चली आ रही हमारी सांस्कृतिक धरोहर हैं, जो अब शहरीकरण की आड़ में विकृत सी होती जा रही है। इस जनजातीय समाज में नृत्य, संगीत गायन और वादन का विशेष महत्व है।

सामूदायिक स्तर पर सांस्कृतिक एवं धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप खाद्य पदार्थो का निर्धारण किया जाता है, जो व्यक्ति के स्वास्थ्य की दशा का निर्धारण करती है। अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत निवास करने वाली जनजातियों के प्रमूख खाद्य पदार्थ जौ, चना, मटर, मेड़ो, कुरथी, सांवा, कोदो, अरहर, चावल, गेहूँ, कन्दमूल फल, महुआ आदि हैं। परम्परागत झूम खेती के द्वारा वे कुछ खाद्य पदार्थो का जैसे गेहूँ, चावल, कोदो, सांवा आदि का उत्पादन कर लेते हैं।

आधुनिक सभ्य समाज में निजी स्तर पर शराब बनाना वैधानिक रूप से निषिद्ध है। परन्तु विकास के साथ-साथ शराब एवं अन्य मादक द्रव्यों का सेवन निरन्तर बढ़ता जा रहा है। सभ्य समाज के अन्तर्गत वैयक्तिक तनाव कुण्ठा एवं सामाजिक-आर्थिक जटिलताओं के कारण व्यक्ति मादक द्रव्यों का सामान्यतः सेवन करने लगता है। मादक द्रव्य वस्तुतः स्वास्थ्य के लिये हानिकार होते हैं और व्यक्ति की पारिवारिक तथा आर्थिक संरचना पर भी विरोधी प्रभाव डालते हैं।

आधुनिक स्वास्थ्य सुविधाओं को अपनाने में आदिवासी शिक्षा की तुलना में भी पीछे है। आज भी स्वास्थ्य सम्बन्धी उनके विचार अंध-विश्वास एवं धर्म के नियमों से नियंत्रित होते हैं। केवल अस्वस्थता की चरम सीमा आने पर ही वे अपने धार्मिक आदेशों की सीमा लांघने के लिए विवश होते हैं और अस्पताल अथवा डॉक्टर के पास जाते हैं। आदिवासियों में कोई भी बीमारी अथवा प्राकृतिक प्रकोप हो उसके वे दो ही कारण मानते हैं, एक, ग्राम्य देवी, देवता क्रुद्ध हो गये हैं जिनकी नाराजगी के कारण आपत्ति आ जाती है। दूसरे जादू-टोना, भूत और टोटका उनकी बीमारियों के

कारण हैं। आदिवासी सामाजिक व्यवस्था में अस्वस्थता के इन दोनों कारणों को दूर करने के उपाय किये गये हैं और उन उपायों को कार्यरूप देने के लिए गाँव में अलग-अलग विशेषज्ञ व्यक्ति नियत होते हैं। देवी-देवताओं को संतुष्ट करके उन्हें शान्त कराने का काम पंडा का होता है। शान्ति कायम करने की एक निश्चित पद्धति है। अनिष्टकारक और आसुरी शक्तियों से गाँव को सुरक्षित रखने के लिए बलि पूजन का वार्षिक कार्यक्रम किया जाता है। ये लोग विश्वास करते हैं कि ऐसा करने से चेचक, हैजा आदि बीमारियों से भी बचा जा सकता है।

जादू-टोना, टोटका आदि बीमारियों के दूसरे प्रमूख कारण हैं। जादू और टोना तो यहाँ आम बात है और प्रबुद्ध आदिवासी भी इनके करिश्में को स्वभावतः मानता हैं इनका आदिवासी डॉक्टर बैग कहलाता है। अस्वस्थ होते ही बैगा से सम्पर्क किया जाता है और वह अपनी नियत फीस लेकर झाड़-फूँक वास्तव में यातनापूर्ण प्रक्रिया है। इनके साथ ही वह गुनिया जंगली औषधियों का भी प्रयोग करके मरीज को ठीक करने का प्रयत्न करता है।

जनजातियों में स्वास्थ्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार निहायत जरूरी है। चूँकि अधिकतर जनजातियाँ अनपढ़ हैं। अतः स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा हेतु दृश्य श्रव्य उपकरणों की सहायता ली जानी चाहिए, ताकि अच्छे ढंग से उन्हें जानकारी दी जा सके। चिकित्सा एवं स्वास्थ्य संबंधी कार्यो के लिए केन्द्र तथा राज्य सरकारों और स्वयं सेवी संस्थाओं द्वारा विशिष्ट रूप से सम्मिलित उपाय किये जाने चाहिए ताकि स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं का निराकरण किया जा सकें।

संदर्भ :-

1.डॉ. प्रमीला कुमार, 1983, मध्यप्रदेश एक भौगोलिक अध्ययन, म.प्र., हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।

2.डॉ.नदीम हसनैन,1992, जनजातीय भारत, जवाहर पब्लिशर्स एवं, डिस्ट्रीव्यूटर्स, नई दिल्ली 110016।

3.डॉ. शिवकुमार तिवारी एवं डॉ. श्री कमल शर्मा, 2000, मध्यप्रदेश की जनजातियॉ समाज एवं व्यवस्था, म.प्र.हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।

4.डॉ. हरिश्चन्द्र जोशी, भारतीय जनजातियॉ, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर राजस्थान।

5.प्रो. विजय शंकर उपाध्याय एवं डॉ. गया पाण्डेय, 2002, जनजातीय विकास, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।

आदिवासी समाज और उसका हिंदी कविता से अंतर्संबंध

-वेद प्रकाश सिंह

आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज-211002 मो.9044657081

प्रस्तावना -

समाज एक ऐसा परिवेश है जो विभिन्न प्रकार के सूत्रों से जुड़ा हुआ है। चाहे वह प्राचीनतम समाज रहा हो जिसमें वैदिक समाज,इस्लाम समाज,जैन, हिंदू ,बौद्ध, सिख और पारसी इत्यादि हैं। चाहे वह वर्तमान इक्कीसवीं सदी का आधुनिक समाज हो,आज मानव लगातार उन्नति करते हुए तमाम विकास के चरणों को पार करता हुआ नए दौर में पहुंच चुका है इन तमाम प्रगतिशील और आधुनिक होते विश्व के सामने तमाम विभिन्न ज्वलंत प्रकरण हैं,जिनका समाधान करना अति आवश्यक है।आज इतना सामाजिक,बौद्धिक और वैज्ञानिक उन्नति हो जाने के बावजूद भी मानव जाति का एक बड़ा हिस्सा लगातार अपनी जड़ों से कटता जा रहा है। तमाम प्रयासों के बावजूद भी उस ओर किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हो रहा है, या यूं कहें कि उनकी लगातार उपेक्षा की जा रही है। विकासवादी मानव जाति ने सामाजिक-राजनैतिक विमर्शों में गैरहाजिर आदिवासी या वनवासी समाज ही मूलतः समाज के मूल निवासी हैं। विकासवाद के समर्थक लगातार प्रगतिशीलता की बात करते रहे हैं जिससे इन मूल निवासियों को पलायन करने पर मजबूर होना पड़ा है। आदिवासी समाज लगातार विकासवादी मानव के हमलों और शोषण का शिकार हो रहा है, लेकिन इक्कीसवीं सदी में लगातार हो रहे विकास तथा औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप बढ़ते नगरीकरण, पूंजीवाद, उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के इस दौर में आदिवासी समाज के समक्ष उनकी सुरक्षा का अस्तित्व का बड़ा संकट पैदा हो गया है। आदिवासी मानव के समक्ष सुरक्षा ही नहीं बल्कि, अस्तित्व का भी संकट अत्यंत भयावह है। आदिवासी समाज में जहां मानवता अभी भी जीवित है, जहां सामुदायिकता है, जो अभी भी वर्ग भेदी खांचों में नहीं बंटा है। आदिवासी समाज की वर्तमान दशा यह है कि विकासवादी व उपभोक्तावादी मानव सभ्यता अपने स्वार्थवश उसे पूर्णतः मिटा देना चाहती है।

विषयवस्तु -

आदिवासी समाज, भारतीय समाज या कहें कि हिंदू समाज के रीति रिवाजों से काफी अलग है। यह समाज प्रारंभ से ही अलग समाज में अपना जीवन

बसर करने वाला एक विशेष वर्ग है। आज आदिवासी समाज को जल, जंगल और जमीन से लगातार बेदखल किया जा रहा है, जिसको वह परम पूजनीय और अपने आश्रय का स्रोत मानता रहा है। इस संदर्भ में गुलशन बानो लिखती हैं - " यह आदिवासी समाज आदिमयुग से वनों, जंगलों में निवास करने के कारण वनवासी कहलायें। भारत में यह आदिवासी जनजाति के रूप में जाने जाते हैं। आदिवासी विभिन्न राज्यों और देशों में मौजूद हैं। यह समाज जिनकी संस्कृति, रीति- रिवाज, परंपराएं, रहन-सहन अलग-अलग प्रदेशों में रहने के बावजूद भिन्न-भिन्न होते हुए भी सभी 'जनजाति' शब्द में समाहित हो जाते हैं। आदिवासी समुदाय पेड़, प्रकृति और जंगलों के बीच ही स्वयं को जुड़ा हुआ महसूस करता है,किंतु वैश्वीकरण के इस दौर में आदिवासी समाज के सामने अपने अस्तित्व का संकट लगातार गहराता जा रहा है। उन्हें जल, जंगल और जमीन से काटने का भरपूर प्रयास किया जा रहा है। किसी समाज को जबरन जबरन मूल स्थान, मूल भाषा, मूल पहचान और मूल स्थिति से अलग किया जाता है तो समाज में असुरक्षा की भावना पनपती हैं। स्वयं के प्रति, स्वयं का अस्तित्व को बचाएं रखने को वह लगातार संघर्ष करता है सीमा के बाद आंदोलन का स्वरूप ले लेता है। इसी आंदोलन में वह अपने शोषण के प्रति विरोध भी दर्ज करता है।"[1]

वर्तमान दौर में यह बात भी गौर करने वाली है आज आदिवासी और आदिवासी समाज, जो लगातार वैश्विक पूंजीवाद, बाजारवाद और दोहन की नीतियों के कारण अपनी संस्कृति, सभ्यता और परंपराओं से लगभग कट चुका है। वह अपना स्थान कहां निर्धारित कर पाता है, क्योंकि यह समाज लगातार अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत है। रमणिका गुप्ता लिखती हैं-"जहां कोयला है, मायका है, मैग्नीशियम, ऑक्साइड अथवा यूरेनियम है, वही आदिवासी भी हैं। कोयले की खदानें हजारों एकड़ में फैली हैं, जमीन के ऊपर भी और जमीन के नीचे भी। जहां मायका, मैग्नीज, बॉक्साइड या यूरेनियम है, वहां भी खदानें जमीन के अंदर-बाहर तक दूर-दूर तक चली गई हैं। उन जमीनों पर बसने वाले लोग कौन थे या कहां गए हैं वे लोग, क्या करते हैं किसी से नहीं पूछा गया ना ही इसके बारे में किसी को पता है, लाखों लोग उजड़ गए हैं खदानों में और लाखों बेघर हो गए हैं डैमो में, जिनकी अस्सी प्रतिशत जनता आदिवासी है, वह विस्थापित होकर चल दिए शहरों की ओर और कर गए अपनी भाषा, संस्कृति और जड़ों से कूच। कल का किसान आज यहां कोयला चोरी पर जिंदा है या बड़े शहरों में मजदूरी की यायावर जमात बनकर जी रहा है। भूमि का मालिक भूमिहीन हो गया है। खेतिहर,मजदूरों जो दूसरे की जमीन जोतते थे, उनकी दुर्गति हुई। जमीन नहीं बची तो किसानों खेतों में मजदूरी करेगा, वह पहुंच गया कर्नाटक, पंजाब, हरियाणा और लहलहा उठे पंजाब, हरियाणा और कर्नाटक के खेत। उजड़ गया बिहार, झारखंड, बंगाल, उड़ीसा व उत्तर प्रदेश का पूर्वी हिस्सा या मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ इत्यादि राज्यों का आदिवासी बहुल इलाका।"[2]

आदिवासियों को भारत में जनजातीय लोगों के रूप में पहचान मिली है। आदिवासी मुख्य रूप से भारतीय राज्यों खासकर उड़ीसा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, गुजरात महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, बिहार, झारखंड और पश्चिम बंगाल में अल्पसंख्यक रूप में जबकि मिजोरम, मेघालय, नगालैंड जैसे पूर्वोत्तर राज्य में बहुसंख्यक हैं। इन आदिवासी जनजातियों को भारतीय संविधान की पांचवी अनुसूची के अंतर्गत मान्यता प्राप्त है। आदिवासी अत्यंत सहज होते हैं, इनका जीवन यापन जितना दुरुह है, उतना ही सहज होता हैं इनका व्यवहार। इनके जीवनशैली की प्रमुख विशेषता यह है कि ये बहुत संगठित होते हैं, परंतु सीधा-साधा व्यापार और जीवन होने के बावजूद भी मुख्यधारा के समाज द्वारा लगातार इनका शोषण जारी है। हिंदी साहित्य में आदिवासी लेखन पर दृष्टि डाली जाए तो हम पाते हैं कि आदिवासियों के समाज और जीवनशैली के विषय में लेखन की नींव 'भक्तिकालीन काव्य' में ही पढ़ चुकी थी। यह अलग बात है कि तब इसके विषय में बहुत थोड़ा लिखा गया था। हिंदी लेखन खासकर कविता के क्षेत्र में इक्कीसवीं सदी में कहीं जाकर आदिवासी समाज मुख्य विषय के रूप में सामने आता है। भारत की प्राचीन परंपरा में आदिवासी जनजीवन की पहली झलक तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में ही दिखाई पड़ती है। चित्रकूट प्रवास के दौरान श्रीराम का मान-सम्मान कोल,भील इत्यादि आदिवासी जनजातियों द्वारा करते हुए मानस में दिखाया गया है,यथा- "यह सुधि कोल किरातन्ह पाई/हरषे जनु नवनिधि घर आई/कंदमूल फल भरि-भरि दोना/चले रंक जनु लुटन सोना"[3]

वीर भारत तलवार अपनी पुस्तक 'झारखंड के आदिवासियों के बीच' में लिखते हैं- "यह दुर्भाग्य की बात है कि आदिवासियों से अनजान लोग उनके प्रति बहुत गलत धारणाएं रखते हैं और उन्हें असभ्य और जंगली समझते हैं और जब उनके संपर्क में आते हैं तो उनके साथ ऐसा ही व्यवहार भी करते हैं यह तथाकथित सभ्य समाज की असभ्यता, अहंकार और कूपमंडूकता है। उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि न सिर्फ मुंडा बल्कि भारत की अधिकांश बड़ी आदिवासी जनजातियां सभ्य है, सुसंस्कृत हैं, उनकी अपनी विशेषताएं हैं और जो कई अर्थों में सभ्य समाज के मूल्यों से कहीं अधिक स्वस्थ और प्रगतिशील हैं। उन्हें जंगली कहना तो बिल्कुल ही मूर्खतापूर्ण है क्योंकि भारत की लगभग पौने चार करोड़ आदिवासी जनसंख्या का लगभग नब्बे प्रतिशत हिस्सा खेतिहर है।"[4]

उद्देश्य -

आदिवासी हिंदी कविताओं में जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति सबसे ज्यादा हो रही है। नगाड़े की तरह बजते शब्द (निर्मला पुतुल),अंगोर, जड़ों की

ज़मीन (जसिंता केरकेट्टा), बाघ और सुगुना मुंडा की बेटी (अनुज लुगुन), जंगल पहाड़ के पाठ (महादेव टोप्पो) आदि कविता संग्रहों की कविताओं में चित्रित आदिवासी समाज का दर्द, उनकी जीवनशैली, उनकी व्यथा अपने चरम पर दिखलाई पड़ती है। निर्मला पुतुल की कविता 'क्या तुम जानते हो' में आदिवासी समाज की स्त्रियों की अस्थिरता और उनके सुख-दुख को दर्शाते हुए वे लिखती हैं-"क्या तुम जानते हो/पुरुष से भिन्न/ एक स्त्री का एकांत/घर प्रेम और जाति से अलग/एक स्त्री को उसकी अपनी जमीन/के बारे में बता सकते हो तुम?/बता सकते हो सदियों से अपना घर तलाशती स्त्री को/उसके घर का पता? ।"[5]

आदिवासी स्त्री की बेचैनी मनोभाव को बड़ी ही संजीदगी से निर्मला पुतुल अपनी कविताओं में चित्रित करने में सफल हुई हैं। कवयित्री बतलाती है कि किस प्रकार आदिवासी लड़की अपने समाज से जुड़ी हुई होती है और अपने विवाह पर अपने पिता से उसी प्राकृतिक समाज में जाने की बात करती है, इसको निर्मला पुतुल अपनी कविता 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा' में लिखते हुए कहती हैं-"चुनना ऐसा वर,/जो बजाता हो बांसुरी सुरीली/और ढोल-मांदल बजाने में भी हो पारंगत/बसंत के दिनों में ला सके जो रोज/मेरे जूड़े के खातिर पलाश के फूल"[6]

विकास के नाम पर विनाश विस्थापन और पूंजीवादी सभ्यता के पैरों तले दबे आदिवासी समाज की इस प्रकार की तमाम समस्याओं पर कवि अनुज लुगुन भी व्यापक प्रकाश डालते हैं। उनकी कविता में आदिवासियों के आश्रय स्थल का दोहन, उनकी वन संस्कृति से उनको बेदखल किए जाने का दर्द सचित्र मिलता है। अपनी कविता 'अघोषित उलगुलान' में कवि लिखता है-"लड़ रहे हैं आदिवासी/अघोषित उलगुलान में/कट रहे हैं वृक्ष/माफियाओं की कुल्हाड़ी से/ और बढ़ रहे हैं कंक्रीटों के जंगल/दांडू जाए तो कहां जाए/कटते जंगल में/या बढ़ते जंगल में?"[7]

आदिवासी समाज के मुख्यधारा का समाज पिछड़ा और असभ्य मानता रहा है और अभी भी यह प्रक्रिया अनवरत चल रही है इसी को ध्यान में रखकर महादेव टोपी भी लगातार अपनी लेखनी चलाते हैं, आदिवासी समाज से जुड़ाव होने के कारण भी उनका दृष्टिकोण व्यापक है, वह आदिवासी समाज, संस्कृति, वहां के लोगों को लगातार जागरुक करते हैं और अपने सहअस्तित्व और सहजीविता के अधिकारों के प्रति भी अपनी कविता 'कविताएं मेरी ना पढ़े आप' में मुख्यधारा के समाज पर करारा व्यंग्य करते हैं। कविता लिखते हुए कवि कहता है-"अगर आप पहाड़ों को,/एक कोण से/एक विशेष दृष्टिकोण से/देखने के हैं अभ्यस्त/वहां के पेड़ों, लताओं,फूल-पौधों,वनस्पतियों,औषधियों/नदियों,झरनों, पशु पक्षियों, तितलियों, कीट-पतंगों,को मानते हैं जंगल/वहां के लोगों को,अभ्यारण का पशु/उन्हें देखने की अपनी स्थिति में/कर नहीं सकते कोई परिवर्तन/ मेहरबानी कर,मेरी कविताएं हैं न पढ़े तब आप"।[8]

आदिवासी कविताओं पर बात करते हैं अगर इसी क्रम को आगे बढ़ाएं और जसिंता केरकेट्टा की बात करे जो अपनी पत्रकार छवि के कारण आदिवासी समाज में एक युवा कार्यकर्ता के तौर पर लगातार आदिवासियों को उनके हक और अधिकारों के प्रति जागरूक करती रहती हैं। झारखंड से लेकर जर्मनी तक उनके इन कार्यों की गूंज सुनाई पड़ती है। अपने अधिकारों की बात जब कोई आदिवासी करता है तो साम्राज्यवादी नीतियां उसका विध्वंस करने का प्रयास करती हैं, बिना किसी अपराध के उसको अपराधी घोषित कर दिया जाता है।इसी को लेकर जसिंता अपने कविता संग्रह "जड़ों की ज़मीन" की एक कविता 'मेरा अपराध क्या है' में लिखती हैं-"मेरा अपराध क्या है?/ इतना ही पूछा था सालेन ने/जवाब में बस आई थी/कमरे में एक धांय की आवाज/मारा गया था झोपड़े के अंदर वह/यह जाने बिना की/उसका अपराध क्या था"।[9]

आदिवासी समाज विकास के नाम पर विस्थापन के कारण लगातार क्षोभ और आक्रोश में है। विकास के नाम पर हो रहे विस्थापन का मूल कारण लगातार पूंजीवादी शक्तियों का उदय माना जाता है। इसको लेकर जसिंता बतलाती हैं कि किस प्रकार सरकारें लगातार विकास का लालच देकर आदिवासियों की जल, जंगल, जमीन और उनकी समृद्ध संस्कृति का क्षरण कर रही है। इसी मुद्दे पर प्रकाश डालते हुए जसिंता अपनी कविता 'विकास की धूल' में लिखती हैं-"सपने दब जाते हैं हर रात/अचानक रौंदकर निकल गए/किसी ट्रक के नीचे/तब अपने हिसाब से आकर/जीवन की कीमत तय करती है/ऊंची बोलियां/रफा-दफा हो जाती हैं/इस झमेले में कई जिंदगियां"।[10]

आदिवासी समाज की बुनियादी सवालों और मुद्दों को लेकर लगातार आदिवासी हिंदी कवि बात कर रहा है। इसी क्रम में हरिराम मीणा भी एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप में अपने अलग अंदाज में आज के इंसान से पूछते हैं कि हमारी इंसानी उच्चता को क्या हो गया है और आखिर एक मानव होते के नाते आज हम किस जगह अपने को स्थापित कर रहे हैं। अपने काव्य संग्रह 'सुबह के इंतजार में','बिरसा मुंडा की याद में', 'सरदार सरोवर में डूबा आदिवासी भविष्य' 'सभ्यता के साथ टूटती आस्थाएं' ऐसी कविताओं में कवि लगातार मनुष्यता पर जोर देता है,अपनी सभ्यता और अपने समाज को बचाने की बात इन कविताओं में मिलती हैं। 'सभ्यता के साथ टूटती आस्थाएं' में हाशिए पर आ चुके आदिवासी समाज की बेचैनी साफ देखी जा सकती है। कवि लिखता है-"ओंको बोंकी/जो हजारों सालों का बुढ़ापा नहीं कर सका/वह कर दिखाएगा इक्कीसवीं सदी का शैशव/तुम्हें क्या

पता ओंको बोंकी/कि पहली बार आई है/आखिर गियर में यह पृथ्वी"।[11]

'सुबह के इंतजार में' कविता संग्रह की एक अन्य कविता 'खत्म होती हुई एक नस्ल' में भी कवि आदिवासी समाज और जीवन में नष्ट होती उनकी संस्कृति और उस पर लगातार बढ़ रहा है वर्चस्ववादी दबाव को रेखांकित करता है-"हमें पता नहीं/हम बंदर की औलाद है/या भगवान की मंसा/मगर,पैदा आदमजात ही में हुए/नहीं छेड़ी हमने हिफाजती मुहिम/......मौसमों के खिलाफ"[12]

निष्कर्ष -

उपरोक्त संदर्भों के आधार पर हम कह सकते हैं कि आदिवासी हिंदी कविता का उसके समाज से प्रगाढ़ संबंध होता है, क्योंकि आदिवासी समाज हमेशा से सहजीविता और सहअस्तित्व की वकालत करता रहा है। आदिवासी समाज का मूल दर्शन प्रकृतिवाद से प्रेरित है, जो मनुष्य की श्रेष्ठता के दावे को नहीं मानता बल्कि सृष्टि की हर रचना को बराबर महत्व देता है। आदिवासी विश्वदृष्टि के अनुसार दुनिया में कुछ भी असुंदर नहीं मानता। समता पर आधारित आदिवासी समाज जैसे-जैसे बाहरी लोगों के संपर्क में आता है, उसमें बाहरी समाज के दुर्गुण भी प्रवेश करते जाते हैं। पिछले कई दशकों से आदिवासी समाज में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया भी तेज हुई है जिसके फलस्वरूप आदिवासी समाज में विभिन्न प्रकार की गैर-बराबरी ने घर कर लिया है। आज आदिवासी स्त्री उसी तरह शोषण झेलती है जिस तरह कोई अन्य स्त्री। कुल मिलाकर आदिवासी समाज पर एक बड़ा सांस्कृतिक हमला हुआ है। अपने इलाकों से विस्थापित आदिवासी जब शहरों की झुग्गियों या कच्ची बस्तियों में रहता है तो आदिवासी पड़ोस के अभाव में वह अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा से कट जाता है। उसके सौंदर्य के प्रतिमान बदल जाते हैं। उसका खान-पान रहन-सहन गीत भाषा सब कुछ बदल जाता है। पिछले कई सालों से हिंदुत्व की चपेट से भी आदिवासी खुद को नहीं बचा पाया है। सिंगबोंगा की जगह राम, कृष्ण, विष्णु और शिव ने ले ली है। अपनी संस्कृति से काटे जा रहे हैं आदिवासी समाज के समक्ष अपनी पहचान बचाने का गंभीर संकट पैदा हो गया है। आज जब देश का आदिवासी समाज चौतरफा समस्याओं और चुनौतियों से घिरा हुआ है तो जरूरत है किस बारे में गंभीर विचार किया जाए और सही समझ का विकास किया जाए। पिछले कुछ वर्षों से नियमगिरि में चल रहे वेदांता विरोधी आंदोलन को सांकेतिक तौर पर देखा जा सकता है। एक तरफ वेदांता जैसी ताकतवर कंपनी और दूसरी ओर आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व का सवाल। सवाल सुप्रीम कोर्ट के दखल से नियमगिरि की आदिवासी सभ्यता बच गई। इससे सबक मिलता है कि अगर सरकार सकारात्मक कदम उठाए तो आदिवासियों को बचाया जा सकता है। आदिवासी भाषा-साहित्य में आदिवासियों का पारंपरिक ज्ञान और और विश्वदृष्टि भरी पड़ी हुई है,जो खास तो है ही,एक वैकल्पिक ज्ञान परंपरा का जीवंत दस्तावेज भी है,इसलिए उसे बचाया जाना बेहद जरूरी है।

संदर्भ -:

1. आदिवासी जीवन, संस्कृति, संघर्ष और हिन्दी साहित्य , संपादक- डॉ. सत्यपाल शर्मा, टीकम चन्द्र मीना, प्रोगेसिव बुक सेंटर , वाराणसी, प्रथम संस्करण 2015, पृष्ठ 15
2. वही, पृष्ठ 16
3. रामचरितमानस (अयोध्या कांड) गोस्वामी तुलसीदास, गीता प्रेस, पृष्ठ 413
4. झारखंड के आदिवासियों के बीच, वीर भारत तलवार, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण 2008, द्वितीय संस्करण 2012, पृष्ठ 33
5. नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, संपादक- अशोक सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण 2005, पृष्ठ 7
6. वही, पृष्ठ 52
7. लोकप्रिय आदिवासी कविताएं, वंदना टेटे, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2020, पृष्ठ 172
8. जंगल पहाड़ के पाठ,महादेव टोप्पो, अनुज्ञा बुक्स पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017, द्वितीय संस्करण 2021, पृष्ठ 66
9. जड़ों की ज़मीन, जसिंता केरकेट्टा, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018, पृष्ठ 30
10. अंगोर, जसिंता केरकेट्टा, आदिवाणी प्रकाशन, कोलकाता, प्रथम संस्करण 2016, पुर्नमुद्रण 2019, पृष्ठ 82
11. सुबह के इंतजार में, हरिराम मीणा, अक्षर शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 30
12. वही, पृष्ठ 3

आदिवासी समाज के विविध रंग एवं हिन्दी कहानी

-रत्नेश कुमार
हिन्दी विभाग,
इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय,
अमरकंटक(म.प्र.) मो.6386819215

सारांश : इस शोधपत्र में आदिवासी समाज के विभिन्न पक्षों को हिन्दी कहानियों के माध्यम से समझने का प्रयास हुआ है। आदिवासियों के जीवन दर्शन एवं वर्तमान में आ रही इसमें चुनौतियों को इन कहानियों में वर्णन मिलता है। जिसके कुछ अंशों को लेख में शामिल किया गया है। इन कहानियों के माध्यम से आदिम समाज की उस आत्मा को चित्रित करने का प्रयास किया गया है, जिसे वर्तमान सभ्यता मिटाकर अपने ही विनाश का पौधा रोप रही है। आदिवासी जीवन के सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि पहलुओं की पड़ताल इन कहानियों की संवेदना से करने का प्रयास हुआ है। इन बिन्दुओं से आदिवासी स्त्री एवं बच्चों की मनःस्थिति को समझने की कोशिश इस लेख में शामिल है। आदिवासी जीवन दर्शन एवं पर्यावरण संकट पर एक दृष्टि डालना शोधपत्र का एक अंश है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत शोधपत्र विभिन्न कहानियों के सहारे आदिवासी अस्तित्व की मिटती रूपरेखा एवं उसके कारण उभर रही चेतना को सूक्ष्मता से अंकित करने का प्रयास करता है।

बीज शब्द : आदिवासियत, सहभागिता, समतावादी, पूँजीवाद, भौतिकवाद, अन्धविश्वास, अंचल, प्रकृति, विस्थापन आदि।

आदिवासी समाज की रचनाधर्मिता विविधतापूर्ण है। आदिवासी प्राचीनकाल से ही देश के मुख्य समाज से इतर वन एवं पर्वतों में रहते आए हैं। उनके जीवन जीने का ढंग प्राकृतिक नियमों पर आधारित है। इसकी झलक उनके समाज एवं संस्कृति में भी दिखती है। आदिवासी समाज आदिम समतावादी मूल्यों का संरक्षक है। आदिवासियों में सम्पत्ति की अवधारणा व्यक्तिगत न होकर सामाजिक है, जिसकी रक्षा करना पूरे समुदाय का नैतिक कर्तव्य है। गाँव के समस्त निर्णय वहाँ बसने वाले लोगों द्वारा किए जाते हैं। प्रकृति के अंचल में बसे आदिवासियों के गाँवों में भारत की आत्मा निवास करती है। आदिवासी समाज की यह सहजता एवं सहभागिता उन्हें जीवन जीने की डोर से बाँधे रहती है। ऐसी आदिवासी बस्ती का चित्र 'वाल्टर भेंगरा तरुण' कहानी 'विकल्प' में देखा जा सकता है – "सुन्दरपुर – चालीस पचास परिवारों का एक मध्यवर्गीय आदिवासी बहुल गाँव। शांत, स्वच्छ और शालीन भी। जहाँ तक उसे याद पिछले कई वर्षों में किसी के साथ कभी भी कोई झगड़ा – झंझट हुआ हो। गाँव के लोग एक दूसरे की मदद करते। जन्म – मरण में पूरा गाँव एकजुट हो जाता। इस कारण यहाँ के बच्चे संस्कारों से जुड़कर अपनी पढ़ाई – लिखाई में भी पीछे नहीं रहते।"[1]

आदिवासी समाज में संगीत एवं नृत्य जीवन जीने के विशिष्ट अंग हैं। आदिवासियों की जीवनशैली इनके बगैर अधूरी है। जीवनरूपी सुख – दुःख की बेला में संगीत एवं नृत्य हमेशा से आदिवासियों के सहचर रहे हैं। इन्हें अपनाकर आदिवासियों ने अपने जीवन के हर पहलू को जीवन्त बनाया है। आदिवासी समाज के त्यौहार , मेले , युवागृह आदि में इसे देखा जा सकता है। आदिवासियों की आर्थिक संरचना भी जीवन की उत्सवधर्मिता में गुँथी हुई है। प्रकृति के साथ गहराई से तादात्म्य रखने वाला आदिवासी समाज प्राकृतिक नियमों के अनुरूप अपने जीवन को संगीतमय बनाए रखता है। 'मंगल सिंह मुण्डा' की कहानी 'साल पत्ते का दोना' में आदिवासियत के इस पहलू का सुन्दर चित्रण किया है। इस कहानी में आदिवासी अंचल की दैनिक परिचर्या का वर्णन कुछ इस प्रकार है – "क्या बच्चे, क्या बूढ़े, क्या युवतियाँ पौ फटते ही वन – गीत गाते हुए, जंगल की ओर कूच कर जाते हैं। कोई मधुरस लूटने, कोई हल – हेंगा लाने तो कोई साल पत्ते तोड़ने ... और दोपहर होते – होते राह पर नाले में नहा – धो कर घर आते।"[२]

आदिवासी समाज का जीवन प्राचीनकाल से ही प्रकृति पर निर्भर रहा है। ऐसे में मौसम की विपरीत स्थिति आदिवासियों के लिए संकट बन जाती है। वर्तमान में जंगलों का बड़े स्तर में विनाश प्रकृति की संरचना को नष्ट कर रहा है। भारत में समय – समय भीषण अकाल आते रहे हैं, जिनकी चपेट में अनगिनत मौतें हुई। स्वतंत्रता पश्चात भी खाद्यान संकट भारत में बना हुआ है। हरित क्रान्ति जैसी योजनाओं का आदिवासियों को उचित फायदा नहीं मिला। देश में मौजूद आर्थिक विषमता भी इस संकट को खत्म नहीं होने दे रही है। आदिवासी समाज अकाल एवं महामारियों के कठिन दौर को आज भी नहीं भूला है। ये स्मृतियाँ उनके साहित्य में जगह – जगह परिलक्षित होती हैं। आदिवासी अंचल में फैले अकाल की घटना का बहुत ही सृजनात्मक विवरण 'एलिस एक्का' की कहानी 'धरती लहरायेगी ... झालो नाचेगी ... गायेगी' में हुआ है। कहानी ने बालमनोविज्ञान का सहारा लेकर यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। बालिका झालो अपने समाज में आए अकाल से चिंतित है। अकाल की भयावहता को सोचकर वह अपने साथियों के साथ खेलती भी नहीं है। वह निरंतर अपने समाज को पुनः खुशहाल देखने के विचारों में खोयी रहती है। उसके इस करुणामयी व्यवहार को ननकु के कथन से समझा जा सकता कहता है – "मैं जानता हूँ झालो कब गायेगी और नाचेगी। जिस दिन भूख मिट जायेगी – जिस दिन हमारी धरती धान के पके बालों से लहरायेगी – उस दिन झालो नाचेगी और गायेगी। उस दिन उसकी स्वर – लहरी हवा में लहरायेगी – वह पहाड़ों से टकरा कर आकाश में गूँज उठेगा – सबके हृदय झंकृत हो उठेंगे , सब नाच उठेंगे

तब – धरती थिरक उठेगी।" [३]

बाह्य समाज का सम्पर्क आदिवासियों के जीवन में नए आयामों को जन्म देता है। इसके सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रभावों को परिलक्षित किया जा सकता है। वर्तमान में बाह्य समाज की धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक नीतियाँ आदिवासियों के जीवन को विभिन्न ढंग से प्रभावित कर रही हैं। वैसे तो इन नीतियों ने आदिवासी समाज को पंगुता की हालत में ही अधिक लाया है, लेकिन बाह्य विचारों के कुछ प्रभाव आदिवासी समाज को नई दिशा देने में भी सहायक हुए हैं। इसे कई आदिवासी कहानियों में भी देखा जा सकता है। 'रोज केरकेट्टा' की कहानी 'प्रतिरोध' में इसके एक आयाम की सफल अभिव्यक्त हुई है। वैसे तो आदिवासी समाज में लिंग के आधार पर लड़का एवं लड़की में भेद नहीं किया जाता रहा है, लेकिन कहानी में वर्णित भालूबासा एवं राजाबासा गाँव के लोग अपने इस दर्शन से दूर हो चुके हैं। इन गाँवों की लडकियाँ घरों में अपने भाइयों से अधिक काम करने के बावजूद अपने साथ होने वाले दोयम दर्जे के बर्ताव से परेशान हो जाती हैं। शहर में वनोत्पाद बेचने के क्रम में वे वहाँ की लड़कियों को खेलते – कूदते देखती हैं, जिसका प्रभाव उन पर भी पड़ता है। वे सब आपस में पैसे मिलाकर फुटबाल लाती हैं और गाँव में खेलना शुरू कर देती हैं। इस तरह वे पितृसत्ता के रूढ़िगत विचारों को चुनौती दे देती हैं। उनके इस साहसिक कार्य की सराहना करते हुए एक आदिवासी बुजुर्ग कहता है कि - "हम लोगों ने भी ध्यान नहीं दिया, ज़माना बदल गया है, हमें भी अपना व्यवहार बदलना पड़ेगा। ये लोग शहर जाती हैं, प्रतिदिन देखती हैं कि लड़कियाँ पढ़ती हैं, पढ़ाती हैं। शहर से कुछ अच्छा सीखकर आती हैं तो अच्छी बात है, हमारा गाँव आगे बढ़ेगा।" [४]

पूँजीवादी सोच वर्तमान में आदिवासियों की सामूहिकता को क्षरित कर रही है। भौतिकवादी संस्कृति अनेक आदिवासियों को अपनी ओर आकर्षित कर रही है। ऐसे आदिवासी अपने समाज के बारे में न सोचकर स्वयं के हित तक ही सीमित हो जाते हैं। आदिवासियों के बीच फैल रही इस व्यक्तिवादी सोच का शोषणकारी शक्तियाँ अपने हित में प्रयोग कर रही हैं। आदिवासियों की सामूहिक चेतना टूटने से उन्हें उनके संसाधनों में कब्जा करना आसान हो जाता है। अपने समाज की इस स्थिति से चेतनशील आदिवासी वर्ग चिंतित है। वह जानता है कि बहुत जल्द यह स्थिति पूरी आदिवासियत को मिटा देगी। लेकिन अपने समाज की इस विकृति को मिटाने में वह अपने को असमर्थ पा रहा है। इस विसंगति का चित्रण 'पीटर पौल एक्का' ने 'तुम्हीं कहो कहाँ जायें' कहानी में शिबू के माध्यम से बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। शिबू का गाँव अपने आस – पास के जंगलों को खो चुका है। ठेकेदार रातों – दिन उसके ही समाज के लोगों से चंद पैसों के लालच में वहाँ के पेड़ कटवा रहे होते हैं। शिबू अपने लोगों की खो चुकी आदिवासियत से परेशान है। रोजी – रोटी के अभाव में वह भी मिट रही आदिवासियत का गवाह मात्र बनकर रह जाता है। अपने समाज में बदल रहे सम्बन्धों से वह बेहद हताश हो जाता है – "तब कैसी खुली - खुली बस्तियाँ थीं। सुख - दुख में एक साथ लोग जी लेते थे। आत्मीयता में बंधे रिश्ते थे। अब तो जीवन की लड़ाई हर कोई एक – दूसरे से कटकर अलग, अकेला ही लड़ने लगा है। देखते – ही - देखते सब कुछ कैसा बदल गया था।" [५]

भौतिकवादी सोच आदिवासी स्त्रियों की गरिमा का क्षरण कर रही है। जो आदिवासी समाज हजारों वर्षों से लैंगिक आधार पर भेदभाव का निषेध करता आया है, आज वहाँ डायन जैसी अमानवीय प्रथा लगातार बढ़ती जा रही है। यह अंधविश्वास स्त्री अधिकारों एवं मानवीय मूल्यों का हनन कर रहा है। किसी विधवा या अनाथ लड़की को परिवार एवं समाज के धूर्त लोग डायन घोषित करके उसकी हत्या कर देते हैं। इससे अनाथ की संपत्ति पर उनका कब्जा हो जाता है। इस अमानवीय प्रथा के घिनौने रूप को कई कहानीकारों ने अपनी कहानियों की विषयवस्तु बनाया है। 'डॉ. कृष्ण चन्द्र टूडू' ने अपनी कहानी 'एक बित्ता जमीन' के माध्यम से डायनप्रथा की क्रूरता का नग्न चित्रण पाठकों के समक्ष रखा है। कहानी में सरला का अनाथ होना उसके परिवार वालों को खटकने लगता है। समाज उसे माता – पिता का उत्तराधिकारी नहीं स्वीकृत करता है। परिवार के लोग उसे मारकर जमीन पर कब्जा करना चाहते हैं। गाँव के अन्य सदस्य भी उसे डायन मानकर उसे मारने को उत्सुक होते हैं। वे सभी मिलकर निःसहाय सरला को मारने की कोशिश करते हैं। वे उसे मरा हुआ समझकर तालाब में फेंक देते हैं, पर संयोग से उसकी जान बच जाती है। इस अंधविश्वास के कारण आदिवासी स्त्री जीवन में आ रही विकृति को सरला के कथन से समझा जा सकता है – "मैं लड़की हूँ न ! मेरा तो कोई जन्मस्थल हो ही नहीं सकता न। मेरी कोई जमीन नहीं हो सकती। इसलिए मुझे मरना चाहिए न। मुझे मारने वाले, मेरी यह गत बनानेवाले कोई और नहीं, मेरे अपने गोतिया हैं। इन्हें पकड़ने से क्या होगा ? ये हमारे समाज का नियम है, हमारी परम्परा है, जिसके कारण मेरा यह हाल हुआ है।" [६]

आदिवासी जीवनशैली सरलता एवं सहजता की प्रतिपूर्ति है। बाह्य समाज की चालाकियों से वह अनजान है। विभिन्न साहूकार एवं ठेकेदार आदिवासी अंचलों में जाकर मालामाल बन गए हैं। वे आदिवासियों की उपज को सस्ते दामों में खरीदकर खुद बड़ा मुनाफा कमाते हैं। चेतना के अभाव में आदिवासी उनके कर्जदार भी बन जाते हैं, जिससे उनकी गुलामी की जंजीर और भी सुदृढ़ हो जाती है। आदिवासी इलाके में काम करने वाले सरकारी अधिकारी भी आदिवासियों का शोषण करके अपना व्यतिगत हित ही साधते नजर आते हैं। नतीजन आदिवासी समाज की विसंगति ही उनके जीवन का पर्याय बनकर रह जाती है। शिक्षा एवं जागृति के अभाव में वे अपने गुनाहगारों की पहचान भी करने में असमर्थ हैं। आदिवासियों के उत्थान के लिए प्रारम्भ की गई सरकार की योजनाओं के दुरुपयोग का अंदाजा भालचंद्र जोशी की कहानी 'पहाड़ों पर रात' की विषयवस्तु से लगाया जा सकता है। इस कहानी में आदिवासियों के नाम मिले कर्ज को अधिकारीगण अपने सगे – सम्बन्धियों को फायदा पहुँचाने में उपयोग करते हैं। आदिवासी समाज की यह स्थिति बेहद दयनीय है – "...इन आदिवासियों को भी कहाँ खबर है कि ये तकलीफों में हैं। उन्हें क्या मालूम कि इनके घर, बैल, बकरी, भैंस या बैलगाड़ी जो

कर्ज में मिली हैं। इन बैल, भैंस के बदले किन – किन लोगों के घर विदेशी साँड़ियाँ, टेपरिकार्डर और टी .वी. पहुँच गए। इन्हें क्या मालूम कि गाँव में बन रही सड़क के पैर निकल आए हैं और शहर पहुँच कर मकान की शक्ल में किसी नाम से तैयार हो चुके हैं।"[७]

आदिवासी लड़कियों की तस्करी आज के समय की क्रूर दास्तान बन चुकी है। अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर बाह्य समाज के लोग आदिवासी लड़कियों को शहरों में बेंच देते हैं। जहाँ शहरी भेड़िए उनकी अस्मिता लूट लेते हैं। विभिन्न एन.जी.ओ. एवं रिसर्च कार्य भी ऐसी शर्मनाक वारदातों को सफल बनाने में लगे हुए हैं। अपने समाज की इस दुर्गति से चेतनशील आदिवासी वर्ग में आक्रोश की लहर है। 'उर्मिला शुक्ल' की कहानी 'साल वनों के साये' ऐसी ही विषयवस्तु पर आधारित है। सुदीप्ति दिल्ली से आकर सतपुड़ा के आदिवासियों के बीच उनकी जीवनशैली पर अध्ययन करती है। लेकिन वह एहसास करती है कि वहाँ के आदिवासी उसके साथ सहज महसूस नहीं करते। दरसल सुदीप्ति से पूर्व कई लोग उनके बीच रिसर्च के बहाने आकर उनकी लड़कियों को तस्करी में भेज चुके होते हैं। इसीलिए हमेशा से शांत रहने वाले इन आदिवासियों के मन में सुदीप्ति विद्रोह की दबी चिंगारी को महसूस करती है। शहर से किसी प्रकार भागकर आयी ज्योति के क्षत विक्षत शरीर को देखकर उनमें मन में बाह्य लोगों के प्रति और भी गुस्सा बढ़ जाता है। इसीलिए वे सुदीप्ति के पास अपनी लड़कियों को जाने से रोकने हैं। आदिवासी स्त्रियों के साथ बाह्य समाज द्वारा किए जा रहे इस व्यवहार पर सुदीप्ति सोचती है कि – "महानगरों और अरब देशों में सक्रिय देह तस्करी का गिरोह यहाँ तक आ पहुँचा है। वह भी रिसर्च की आड़ लेकर ...। शायद इनके (आदिवासियों) के बीच रहने के सबसे आसान तरीके हैं रिसर्च और एन.जी.ओ.। मौजूदा दौर में रिसर्च वैसे भी आसान तरीका है। अगर इसमें कोई महिला शामिल हो, तब तो शक की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती।"[८]

विस्थापन की समस्या वर्तमान में आदिवासी समाज की अस्मिता का विनाश कर रही है। विकास के नाम पर आदिवासी अंचलों का अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है। आदिवासियों को उनकी पैतृक भूमि से जबरन विस्थापित किया जाता है। इससे उनकी जीवन संस्कृति नष्ट हो रही है। जंगलों की कटाई एवं पहाड़ों के खनन से आदिवासी अंचलों का प्राकृतिक संतुलन नष्ट होता जा रहा है। आदिवासियों के जीवन - यापन के पारंपरिक स्रोत खत्म होने से उनका अस्तित्व संकट में है। अपने समाज की विनाश लीला का आदिवासी आज प्रत्यक्ष गवाह बनता जा रहा है। उसका पूरा जीवन मूलभूत सुविधाओं से भी मोहताज हो चुका है। 'राधाकृष्ण' की कहानी 'कानूनी एवं गैर कानूनी' आदिवासी अस्तित्व के संकट का बहुत मार्मिक चित्रण करती है। सरकारी हस्तक्षेप के कारण सोना पाहन जैसे लोग अपनी पैतृक भूमि में ही पराए हो गए। जंगल की कटाई उन्हें बहुत पीड़ा देती है। सोना पाहन आदिवासी अस्मिता को नष्ट करने वालों पर कटाक्ष करता है, जिसके उत्तर सभ्य समाज के पास नहीं है - "जिन जंगलो में जाकर वह लकड़ी काटता था वहाँ अब लकड़ी काटने को किसी को इजाजत नहीं। वहाँ बहुत से मजदूर आए हुए हैं और दनादन बाँस, बल्ले और वृक्षों का सफाया कर रहे हैं। कोट – पतलून पहने हुए लोग आँखों में चश्मा चढ़ाकर इस काम का मुआइना करते हैं। जंगल कटवाते हैं और समझते हैं कि बहुत बड़ा काम कर रहें हैं।"[९]

निष्कर्ष : आदिवासी जीवन के विविध रूप इन कहानियों में बहुत ही सजीवता से चित्रित हुए हैं। आदिवासी समाज के इन पक्षों को विभिन्न कहानियों के माध्यम से समझने का प्रयास आदिवासी विमर्श को नई दिशा प्रदान करता है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था से बदल रहे आदिवासी समाज की विसंगति इन कहानियों में वर्णित हुई है। इनके अध्ययन से आदिवासी समाज की मनःस्थिति को भी समझने में सफलता मिलती है। बाह्य लोगों के प्रभाव से आदिवासी समाज में हो रहे परिवर्तनों को ये कहानियाँ बड़ी ही बेबाकी से प्रस्तुत करने में समर्थ हुई है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज के बहुरंगी आयामों का चित्रण करने में इन कहानियों का अमूल्य योगदान है।

संदर्भः-

1.विकल्प, वाल्टर भेंगरा तरुण, विकल्प, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली 2020, पृ. 9

2.हड़द सुकु (तीता लौकी), मंगल सिंह मुण्डा, साल पत्ते का दोना, झारखण्ड झरोखा, राँची 2013, पृ. 88

3.एलिस एक्का की कहानियाँ, सं. वंदना टेटे, धरती लहरायेगी ... झालो नाचेगी ... गायेगी, एलिस एक्का, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 2015, पृ. 71

4.बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ, रोज केरकेट्टा, प्रतिरोध, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली 2017, पृ. 34

5.परती जमीन, पीटर पौल एक्का एस. जे., तुम्हीं कहो कहाँ जायें, सत्य भारती प्रकाशन, राँची, पृ. 92

6.लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ, सं. वंदना टेटे, एक बित्ता जमीन, डॉ. कृष्ण चन्द्र टुडू (हिन्दी अनुवाद – सोने कुमार हेम्ब्रम), प्रभात प्रकाशन, दिल्ली 2017, पृ. 48

7.नींद के बाहर, भालचंद्र जोशी, पहाड़ों पर रात, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली 1998, पृ. 106

8.वागर्थ, अंक - 299, 16-30 सितम्बर 2020, साल वनों के साये, उर्मिला शुक्ल, पृ. 88

9.वाड्मय, आदिवासी कहानी अंक, सं. एम. फ़ीरोज अहमद, जुलाई – सितम्बर 2015, कानूनी और गैर कानूनी, राधाकृष्ण, पृ. 106

विविध विमर्श

भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी भाषा और साहित्य: पाठयक्रम के विशेष संदर्भ में

-प्रोफेसर बळीराम धापसे
अध्यक्ष, हिंदी विभाग एवम् अनुसंधान केंद्र,
विनायकराव पाटील महाविद्यालय,वैजापुर,
जि.औरंगाबाद(महाराष्ट्र)

आधुनिक समाज व्यवस्था को किस घटना ने सबसे अधिक प्रभावित किया होगा तो वह है भूमंडलीकरण। वैसे भूमंडलीकरण यह निरंतर चलनेवाली प्रक्रिया है। परंतु आज की तारीख में मनुष्य जाति इससे सबसे अधिक प्रभावित है। सोवियत रूस के पतन और भारत में आर्थिक उदारीकरण को स्वीकार करने के बाद भूमंडलीकरण ने जो गति पकड़ी है, वह देखते ही बनती है। शायद ही जीवन का कोई क्षेत्र हो जिसे भूमंडलीकरण ने प्रभावित न किया हो। यहाँ 'भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी साहित्य :पाठयक्रम के विशेष संदर्भ में' इस विषय पर प्रकाश डालेंगे। विषय की और अधिक स्पष्टता के लिए इसे छ: शीर्षको में विभाजित किया जा सकता है -

क) भूमंडलीकरण से तात्पर्य ख) विश्वबाजार की मांग ग) भूमंडलीकरण से प्रभावित छात्र घ) भूमंडलीकरण और हिंदी साहित्य का पाठयक्रम ड)परिवर्तित पाठयक्रम से संभावित परिणाम च) उपसंहार

भूमंडलीकरण से तात्पर्य :आज जिसे हम भूमंडलीकरण कहते हैं उसका प्रारंभ भारत में अंग्रेजों के आगमन से ही 19 वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में हुआ था। अंग्रेजों की उपनिवेशवादी नीति में भूमंडलीकरण के बीज दिखाई देते हैं। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के हारने से अंग्रेजों की सत्ता भारत में सुस्थिर हुई तो भूमंडलीकरण की प्रक्रिया और भी अधिक मुखर हुई। 1857 से स्वतंत्रता प्राप्ति तक कमोबेश मात्रा में हमने भूमंडलीकरण का सामना किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात 1991 तक यह प्रक्रिया धीमी रही। परंतु सोवियत रशिया के पतन और तत्कालीन प्रधानमंत्री पी. व्ही. नरसिंहाराव एवं अर्थमंत्री मनमोहन सिंह के आर्थिक उदारीकरण की नीति के फलस्वरूप भूमंडलीकरण ने जो गति पकड़ी वह थमने का नाम नहीं ले रही है।

उपनिवेशवाद का ही दूसरा नाम भूमंडलीकरण है, जिसके पीछे आर्थिक लाभ उठाने की सोची समझी राजनीति है। विश्व व्यापार संघटन (WTO), अंतरराष्ट्रीय अर्थनिधि (IMF) और विश्व बैंक (WB) ऐसी संस्थाएँ हैं, जो भूमंडलीकरण को बढावा देती हैं। इन सभी संस्थाओं पर दुनिया के धनी देशों का वर्चस्व है। उदा. अमरीका, इंग्लैण्ड, कॅनडा, फ्रान्स, जर्मनी एवं जापान आदि। पश्चिमी देश भूमंडलीकरण को आज अपनी संस्कृति के उदात्तीकरण के साधन के रूप में विकसित कर रहे हैं। उसमें भी अमरीकी संस्कृति का प्रभाव काफी है। हम सिर्फ भारत की ही बात करें तो अमरीकी संस्कृति से प्रभावित भूमंडलीकरण ने भारत में ऐसी भ्रम की अवस्था तैयार की है जिससे भारतीय लोगों की धारणा बनती जा रही है कि भारतीय संस्कृति और परंपरागत नैतिक मूल्यों को त्यागे बिना आप विकास नहीं कर सकते। इसके कारण भारतीय संस्कृति एवं नैतिक मूल्यों के प्रति आनेवाली पीढी उदासीनता का भाव प्रकट करती है। पारंपरिक ग्रामीण जीवन के प्रति मोह भंग भूमंडलीकरण का ही परिणाम है। भूमंडलीकरण से एक नई उपभोक्तावादी संस्कृति का निर्माण हो रहा है।

भूमंडलीकरण का सबसे ज्यादा प्रभाव संयुक्त परिवार और समाज की सांघिक शक्ति पर पड़ा है। स्त्री के प्रति आदर और सम्मान की भावना में गिरावट आ रही है। भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा आधार मीडिया है। और मीडिया के कारण हमारे मौलिक यथार्थ समाप्त होते जा रहे हैं ,क्या अच्छा है, क्या बुरा है यह जानने की मनुष्य की सद्सद्विवेक बुद्धि मीडिया छीन रहा है।

भूमंडलीकरण का प्रभाव मनुष्य के संपूर्ण जीवनशैली पर पड़ता है। जैसे रहन-सहन, खान-पान,विचार, कला संस्कृति और साहित्य आदि। भूमंडलीकरण का प्रभाव मानव के मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय पर भी पड़ा है। संक्षेप में हम कहें तो भूमंडलीकरण के कारण पूरे विश्व की एक संस्कृति बनती जा रही है। वह विश्व को एक घेरे में, एक वृत्त में, एक सूत्र में बाँधना चाहता है। एक विशिष्ट जीवनशैली का निर्माण करना चाहता है जो सर्वव्यापी है, वैश्विक हो, Globle हो।

भूमंडीकरण के दौर में मनुष्य जाति के कई चीजों को भी पाया है। सूचना प्रौद्योगिकी, विभिन्न भौतिक सुविधाएँ, प्रत्येक चीज एवं विचार को लेकर सोचने का एक नया दृष्टिकोण भूमंडलीकरण की ही देन है। भूमंडलीकरण के कारण संपर्क शक्ति का जबरदस्त विकास हुआ है। हिंदी के प्रचार-प्रसार में मीडिया ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। साथ ही मीडिया के कारण हिंदी की ओर अभिमुखता बढी है। परंतु यहाँ यह भी बात महत्वपूर्ण है कि मीडिया से हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार जिस गति से हो रहा है उतना साहित्य का नहीं है। भाषा तो विकसित हो रही है, साहित्य नहीं। इसी क्षेत्र ने रोजगार की कई संभावनाओं को निर्माण किया है। आवश्यकता है भूमंडलीकरण को सकारात्मक दृष्टिकोण से समझने और स्वीकारने की। भूमंडलीकरण यह कोई नई चीज नहीं है। अगर हम यह बात ध्यान रखें कि 'सभी पुरानी चीजें निरर्थक नहीं होती और सभी नई चीजें सार्थक नहीं होती तो भूमंडलीकरण के दौर में हम अपने आपको अच्छी तरीके से समायोजित (Adjust) कर सकते हैं। हमें भूमंडलीकरण की तरफ एक अवसर, एक चुनौती के रूप में देखने की आवश्यकता है।

विश्वबाजार की मांग :भूमंडलीकरण ने प्रत्येक बात की तरफ सोचने का एक नया दृष्टिकोण दिया है। सद्यस्थिति में कौन सी चीज आज महत्त्वपूर्ण है और कौन-सी नहीं है यह विश्व बाजार तय करता है। बाजार में जिस वस्तु की मांग अधिक है, वहाँ प्राप्त करना आज आवश्यक हो गया है। इस बाजारवाद का परिणाम हिंदी साहित्य पर भी पड़ा है। हिंदी भाषा एवं साहित्य आज ऐसे पाठ्यक्रम एवं सृजन की मांग करता है जिससे भूमंडलीकरण के दौर में वह टिक सके। उस साहित्य एवं पाठ्यक्रम में फायदा एवं रोजगार की संभावनाएँ होना आवश्यक हो गया है। इसी के परिणाम स्वरूप हिंदी के प्राचीन साहित्य की उपेक्षा कर एक नए प्रकार के साहित्य एवं पाठ्यक्रम की मांग अब उठने लगी है, उदाहरण के तौर पर आज के विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों को ही ले तो दिखाई देगा कि पाठ्यक्रम का साहित्यिक की अपेक्षा प्रयोजन मूलक व्यावसायाभिमुख हो जाना इसी को द्योतक है।

भूमंडलीकरण से प्रभावित छात्र :भूमंडलीकरण से सबसे अधिक

प्रभावित वर्ग युवा वर्ग है। और युवा वर्ग की सबसे बड़ी समस्या रोजगार है। छात्र आज ऐसी शिक्षा पाना ही नहीं चाहता जिसमें रोजगार की संभावनाएँ न हो। छात्रों के इस व्यावसायिक दृष्टिकोन के कारण साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में काफी गिरावट आई है। कुछ साल पहले साहित्य पढ़नेवालों की संख्या तुलना में आज वह लगभग आधी रह गई है। भूमंडलीकरण ने रोजगार के जो अन्य माध्यम उपलब्ध कराएँ है, उनकी तरफ ही आज के छात्र आकार्षित हो रहे हैं। कई शिक्षा संस्थानों में छात्र साहित्य इसलिए पढ़ते हैं क्योंकि वह अनिवार्य रूपमें पढाया जाता है।

भूमंडलीकरण और हिंदी साहित्य का पाठ्यक्रम:पिछले कुछ सालों में हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम में जो तेजी से बदलाव आया है वह एक चर्चा का विषय है। भूमंडलीकरण के दौर मे पाठ्यक्रम साहित्यिक कम असाहित्यिक ज्यादा हो रहा है, हिंदी के मध्यकालीन साहित्य की तो जैसे जान-बूझकर उपेक्षा की जा रही है। कबीर सूर, तुलसी और जायसी जैसे कवि पाठ्यक्रम की दृष्टि से अनुपयोगी माने जाने लगे हैं। सद्यस्थिति में भारत में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मार्गदर्शक तत्वों के अनुसार लगभग सभी विश्वविद्यालयों के पाठयक्रमों में थोड़े बहुत अंतर से एकसमानता आ गई है। इन पर नजर डालें तो यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है, जैसे-1) कार्यालयी, वैज्ञानिक, तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी क्षेत्र में हिंदी 2) संचार माध्यम और विज्ञापन क्षेत्र में हिंदी 3) हिंदी की प्रयोजनीयता में अनुवाद की भूमिका 4) अनुवाद सिद्धांत 5) अनुवार व्यवहार 6)जनसंचार माध्यम स्वरूप विकास का सामान्य परिचय 7) पत्रकारिता का स्वरूप विकास 8) जन-संपर्क और विज्ञापन 9) मीडिया लेखन: लेखन और व्यवहार 10) दृश्य-श्रव्य माध्यम।

कई पाठ्यक्रमों में तो साहित्य को ही निकाला जा रहा है। उदाहरण के लिए डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद के वाणिज्य अध्ययन मंडल ने द्वितीय भाषा के रूप में पढाई जाने वाली हिंदी और मराठी दोनों को निकालकर उसके बदले वाणिज्य शाखा से संबंधित एक और विषय रखा है। यह सिलसिला अगर इसी तरह चलता रहा तो अगली बारी अब विज्ञान शाखा से संबंधित द्वितीय भाषा की है। इसे रोकना आज आवश्यक हो गया है। वाणिज्य एवं विज्ञान शाखा से संबंधित लोग मानने लगे है कि भाषा और साहित्य की कोई आवश्यकता नहीं है और है भी तो ऐच्छिक रूप में, उसे अनिवार्य विषय के रूप में रखने की आवश्यकता नहीं है।

परिवर्तित पाठ्यक्रम से संभावित परिणाम:भूमंडलीकरण के प्रभाव के कारण हिंदी साहित्य एवं पाठ्यक्रम में जो तेजी से बदलाव आया है उसके कुछ परिणाम भी हमारे सामने आये है। साहित्य मनुष्य को मनुष्य बनने की शिक्षा देता है। समृद्ध भारतीय सांस्कृतिक परंपरा एवं नैतिक मूल्यों से परिचित कराता है। समस्याओं से लड़ने की शक्ति देता है। मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति को लेकर संवेदनशील बनाता है। साहित्य को पढ़ने से मनुष्य की चिंतन और कल्पनाशक्ति का विकास होता है, जिससे वह रचनात्मक कार्य कर सकता है, परंतु प्राचीन साहित्य का विरोध कर भूमंडलीकरण से ओतप्रोत पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित साहित्य एवं पाठ्यक्रम थोपा जा रहा है, और कहीं-कहीं तो साहित्य को ही पाठ्यक्रम से निकालने की बात चल रही है। ये भूमंडलीकरण की अंधी दौड में शामिल होना है। पाठ्यक्रम को व्यावसायाभिमुख बनाने की बात तो अच्छी है परंतु प्राचीन साहित्य को (उसमें भी कबीर, सूर, तुलसी और जायसी के साहित्य को) उसमें से निकाल देना उचित न होगा, कबीर, सूर, तुलसी, मीराबाई, जायसी जैसे कवि और विचारक जिन्होंने अपना संपूर्ण जीवन समाज सुधार में लगाया, ऐसे पाठ्यक्रम को हटाना पैरों पर कुल्हाड़ी मार लेने के समान है। परंपरा और नैतिक मूल्यों से हटकर मनुष्य भौतिक विकास तो कर लेगा परंतु सुखी होने की संभावना कम लगती है। वर्तमान स्थिति में डाक्टर, इंजिनियर, वकील बनने की अपेक्षा मनुष्य बनने की सर्वाधिक आवश्यकता है। भूमंडलीकरण के दौर में उपभोक्तावादी संस्कृति से लथपथ व्यक्ति को संबोधित करते हुए मराठी में एक सूक्ति लिखी गई है, 'अरे माणसा, कधी होशिल रे माणुस जो समय के साथ चलेगा, परिस्थितिनुरूप अपने आपको ढालेगा वहीं टिक पायेगा यह बात तो सही है। परंतु काल और परिस्थिति के अनुरूप बनने की चाह में हम अपने मूल अस्तित्व को ही मिटा दे यह उचित नहीं है। इस पर और अधिक विचार-विमर्श की आवश्यकता है।

उपसंहार : हिंदी जगत में सामान्यतः पाठ्यक्रम से ही साहित्य की पहचान नयी पीढी को होती है। पाठ्यक्रम से भक्ति काव्य हटाने से नयी पीढ़ी उसे पढ़ नहीं पायेगी और साहित्य को ही हटाने की बात करेंगे तो वह नयी पीढ़ी भारत की महान सांस्कृतिक परंपरा और नैतिक मूल्यों से कट जाएगी। और आगे चलकर हमें एक ऐसी पीढी का सामना करना पड़ेगा जिसका और भारतीय संस्कृति का शायद ही कोई संबंध हो। साहित्य संस्कारों की शिक्षा देता है। व्यक्ति की चिंतन एवं कल्पनाशक्ति को बढ़ावा देता है। हम देखते है कि समाज में अच्छी बातें अनिवार्य रूप से सिखानी पढ़ती हैं। व्यक्ति उसे स्वैच्छिक रूप से बहुत कम सीखता है। साहित्य के बारे में भी यही बात है, जो हमें छात्रों को अनिवार्य रूप से सिखाना है। साहित्य को क्यों पढना चाहिए यह बात भी अब पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने की आवश्यकता है। पाठ्यक्रम को व्यावसायाभिमुख जरूर होना चाहिए ताकि साहित्य समय और परिस्थिति के अनुरूप बदलकर अपना अस्तित्व बनाए रखें परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें से भारतीय संस्कृति और नैतिक मूल्यों की शिक्षा देनेवाले साहित्य को हटाएँ। दोनों में सामंजस्य- समन्वय की आवश्यकता है। कई विश्वविद्यालयों में हिंदी के पाठ्यक्रम को हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य और प्रयोजनमूलक हिंदी आदि विभाजित रूप में जाता है। इसमें भी समन्वय की आवश्यकता है। हिंदी भाषा वाला छात्र हिंदी भाषा तो जान लेगा साहित्य नहीं जान पाएगा। साहित्य पढनेवाला छात्र साहित्य तो जान लेगा पर भाषा के संरचनात्मक रूप से अपरिचित होगा। संक्षिप्त रूप से ही क्यों न हो तीनों को एक साथ पढ़ाने की आवश्यकता है ।सार रूप में अंत में इतना ही कहा जा सकता है कि साहित्य को नकारने और पाठ्यक्रम से भक्तिपरक साहित्य को हटाने की बात भूमंडलीकरण की अंधी दौड़ में शामिल होना है। भूमंडलीकरण के अनुरूप साहित्य को अवश्य ढालें परंतु उसमें सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों की भी रक्षा हो। नहीं तो आनेवाली पीढ़ी के साथ, मानवता के साथ नैतिक धरातलपर हम जाने अनजाने अन्याय कर बैठेगें इस पर गंभीरता से विचार करने की आज आवश्यकता है।

संदर्भः

1) मीडिया लेखन सिद्धांत और व्यवहार- डॉ.शरदचंद्र मिश्र
2) संचार माध्यमों में हिंदी का प्रयोग- डॉ. लक्ष्मीकांत पाण्डेय
3) आधुनिक विज्ञापन- डॉ. प्रेमचंद पतंजलि
4) दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली का स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम
5) जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर का पाठ्यक्रम
6) डॉ. बा. आं. म.विश्वविद्यालय, औरंगाबाद का पाठ्यक्रम
7) डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद के वाणिज्य शाखा का द्वितीय वर्ष का व्दितीय भाषा का पाठ्यक्रम

सामाजिक विज्ञान विषय के पाठ्यक्रम में उत्पन्न शिक्षकों की समस्याओं एवं उनके कारणों का अध्ययन

-डॉ.महेश कुमार शर्मा

प्रस्तावना -

''शैक्षिक अनुसंधान के विष्व ज्ञानकोष के द्वारा इसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि ''यह विषय इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, अर्थषास्त्र का एक मात्र योग नहीं है वस्तुतः यह विषय इन विषयों से अध्ययन सामग्री प्राप्त करता है। मगर यह उसी सामग्री को ग्रहण करता है जो वर्तमान तथा दैनिक जीवन सम्बन्धों को स्पष्ट करती है- सामाजिक विज्ञान किसी विषय का सूचक न होकर एक क्षेत्र का सूचक है।''

19 वीं शताब्दी में एक समय था जब विषय विषेष को एक सीमा क्षेत्र में बांधने की परम्परा का विकास हुआ था। उस समय सामाजिक विज्ञान का भी विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित नामकरण व सीमांकन कर उसे अलग-अलग रूपों में देखा जाने लगा था, मगर विषय सामग्री में ये एक-दूसरे के पूरक ही थे। इन सभी का अध्ययन ही हमें मानव व समाज के अध्ययन में सक्षम कर सकता था परन्तु अपने आप ये पूर्ण विषय थे जिनका अध्ययन उच्च स्तर की षिक्षा में ही सम्भव था। अतः उच्च प्राथमिक व माध्यमिक स्तर तक इन सब का अध्ययन जिस क्षेत्र के अन्तर्गत किया जाने लगा उसे सामाजिक अध्ययन के नाम से जाना जाने लगा ये सभी सामाजिक विज्ञान परस्पर एक अन्तर्सम्बन्ध से बधे हुए है एवं परस्पर एक दूसरे के पूरक भी है।

अध्ययन का महत्व:-

अमेरिका इतिहास सभा ने 1934 में विद्यालयों में सामाजिक विज्ञान विषय पढ़ाने की अनुसंषा की थी इसके अनुसार- ''सामाजिक विज्ञान से बालकों को निकटतम् मानवीय सम्बन्धों को समझाकर विश्व के समस्त मानव जाति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की षिक्षा दी जा सकती है।'' वर्तमान वैज्ञानिक प्रगति ने मानव के जीवन को जहाँ सुखमय बनाया हैं वहीं जनसंख्या विस्तार ने अनेक समस्याओं को भी जन्म दिया है जैसे- पर्यावरण से जुड़ी समस्याएं, प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, घटता जल स्तर, घटती आवसीय धरती, घटती वन सम्पदा आदि इन सभी समस्याओं का यथोचित हल ही मानवीय सभ्यता को नष्ट होने से बचा सकता है। जिसके लिए मानव जाति के ह्रदय में इनके प्रति सकारात्मक संवेदनाओं का होना आवश्यक है। जिसके लिए बाल्यकाल से ही बालक के ह्रदय में इन संवेदनाओं को जन्म देना होगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब षिक्षा-नीति पर विचार किया गया तो कोठारी आयोग द्वारा इसे उद्देष्य की पूर्ति के लिए प्राथमिक स्तर से माध्यमिक स्तर तक सामाजिक विज्ञान विषय की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया इस संदर्भ में (स्कूल बोर्ड ऑफ विक्टोरिया) सामाजिक अध्ययन समिति के प्रकाशन में लिखा है- ''सामाजिक विज्ञान में हम मनुष्य के जीवन का अध्ययन स्थान विषेष के साथ जुड़ी समस्याओं व परिस्थितियों के अनुसार करते हैं। अतः हम उन सभी विषयों को इस अध्ययन में सम्मिलित करते जो हमें उन परिस्थितियों और समस्याओं को समझने में सहायता करता कि मनुष्य किस प्रकार उन समस्याओं का हल निकालता है। मनुष्य की वर्तमान समस्याओं की सम्पूर्ण जानकारी प्रदान करना ही इस विषय का प्रमुख लक्ष्य है।''

अध्ययन का औचित्य:-

शिक्षा नीति कि तार्किक दलीलों ने सामाजिक विज्ञान विषय को शिक्षा के महत्वपूर्ण स्तर (प्राथमिक से उच्च माध्यमिक) पर एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में तो स्थापित कर दिया और प्रबल सैद्धान्तिक स्वरूप भी प्रदान कर दिया मगर इसके व्यवहारिक पक्ष और शिक्षण व्यवस्था पर उतनी गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया जिसका परिणाम विषय की भूमिका पर स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है।

सामाजिक विज्ञान विषय एक समग्र विषय के रूप में जिस स्तर पर पढ़ाया जाता है उस स्तर पर इसके व्यवहारिक पक्ष को प्रबल करना ज्यादा महत्वपूर्ण है। क्योंकि माध्यमिक स्तर पर अध्ययन करने वाले बालक प्रायः किशोरावस्था के होते हैं और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस अवस्था को एक महत्वपूर्ण अवस्था माना जाता है। क्योंकि इस अवस्था में सांवेगिक अस्थिरता के कारण उनमें समाजीकरण की प्रक्रिया कई दिशाओं में प्रवाहित होती है अतः उन्हें सृजनात्मक और सकारात्मक दिशा में अग्रसर करना आवष्यक होता है। इस दिषा में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है सामाजिक अध्ययन विषय यह विषय बालक के व्यवहारिक पक्ष को प्रबल करता है। अतः आवश्यकता है इस विषय की शिक्षण व्यवस्था में सुधार करने की।

अभी तक अध्ययनों के अवलोकन से यह तथ्य उभरकर सामने आया कि ''सामाजिक विज्ञान विषय के पाठ्यक्रम में उत्पन्न शिक्षकों की समस्याओं एवं उनके कारणों का अध्ययन'' शीर्षक पर अध्ययन नहीं हुआ है इसलिए शोधकर्ता ने इस अध्ययन को प्राथमिकता दी।

समस्या कथन:-

''सामाजिक विज्ञान विषय के पाठ्यक्रम में उत्पन्न षिक्षकों की समस्याओं एवं उनके कारणों का अध्ययन''

अध्ययन के उद्देश्य:-

1.सामाजिक विज्ञान विषय पढ़ाने वाले सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के षिक्षकों की समस्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करना।

2.सामाजिक विज्ञान विशय पढ़ाने वाले सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के षिक्षकों की समस्याओं के कारणों का तुलनात्मक अध्ययन करना।

अध्ययन की परिकल्पनाएँ:-

1.सामाजिक विज्ञान विशय पढ़ाने वाले सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के षिक्षकों की समस्याओं में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।

2.सामाजिक विज्ञान विशय पढ़ाने वाले सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के षिक्षकों की समस्याओं के कारणों में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।

परिसीमन:-

प्रस्तुत अध्ययन चूरु जिले में कक्षा 9 तक सामाजिक विज्ञान विशय पढ़ाने वाले शिक्षकों तक सीमित रखा गया है।

शोधविधि:-

प्रस्तुत अध्ययन में सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है क्योंकि अनुसंधान की यह एक वैज्ञानिक विधि है। इस विधि द्वारा प्राप्त निश्कर्श वैध एवं विष्वसनीय होते हैं।

अध्ययन में प्रयुक्त उपकरण:-

सामाजिक विज्ञान विशय से उत्पन्न षिक्षकों की समस्याओं एवं उनके कारणों की अध्ययन मापनी:-

षोधकर्ता ने अपने षोधकार्य मंे स्वनिर्मित मापनी का उपयोग किया है।

अध्ययन में प्रयुक्त सांख्यिकी:-

प्रस्तुत षोध अध्ययन में प्रयुक्त सांख्यिकी मध्यमान ;डद्ध प्रमाणिक विचलन ;ैक्द्ध एवं क्रांतिक अनुपात मान ;ब्ण्त्ण् टंसनमद्ध की गणना की गयी है।

समंकों का सारणीयन एवं विष्लेशण:-

प्रस्तुत शोधकार्य में अनुसंधानकर्ता ने संकलित एवं व्यवस्थित आंकड़ों का विश्लेषण जिस प्रकार किया है, उसका परिकल्पनानुसार विवरण निम्न प्रकार है -

सारणी संख्या - T.IV.1

सामाजिक विज्ञान विषय पढ़ाने वाले सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के शिक्षकों की समस्या मापनी के प्राप्तांकों के मध्य मध्यमान अंतर की गणना

शिक्षक	संख्या (N)	माध्य (Mean)	मानक विचलन (S.D.)	क्रांतिक अनुपात (CR.Value)	सार्थकता स्तर	
					.05	.01
सरकारी	50	75.24	9.83	3.74	सार्थक अन्तर है।	सार्थक अन्तर है।
गैर-सरकारी	50	67.54	10.83			

df=$(N_1$-1)+$(N_2$-1) = 50+50-2=98)

विष्लेशण:-

उपर्युक्त सारणी में गणना द्वारा प्रराप्त मान तालिका मान से अधिक है। इस आधार पर परिकल्पना को अस्वीकृत किया जाता है। अर्थात् सामाजिक विज्ञान विशय पढ़ाने वाले सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के षिक्षकों की समस्या मापनी में सार्थक अंतर है।

सारणी संख्या -T.IV.2

सामाजिक विज्ञान विषय पढ़ाने वाले सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के शिक्षकों की समस्याओं के कारणों की मापनी के प्राप्तांकों के मध्य मध्यमान अंतर की गणना

शिक्षक	संख्या (N)	माध्य (Mean)	मानक विचलन (S.D.)	क्रांतिक अनुपात (CR.Value)	सार्थकता स्तर	
					.05	.01
सरकारी	50	63.6	9.88	0.32	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
गैर-सरकारी	50	62.86	12.51			

df=$(N_1$-1)+$(N_2$-1) = 50+50-2=98)

विश्लेषण:-

उपर्युक्त सारणी में गणना द्वारा प्रराप्त मान तालिका मान से कम है। इस आधार पर परिकल्पना को स्वीकृत किया जाता है। अर्थात् सामाजिक विज्ञान विशय पढ़ाने वाले सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के शिक्षकों की समस्याओं के कारणों की मापनी में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

शैक्षिक उपयोगिता:-

वर्तमान युग प्रतियोगिता परीक्षाओं के माध्यम से स्वयं की श्रेष्ठता

स्थापित करने का है। ऐसे में इन परीक्षाओं का 60 प्रतिशत पाठ्यक्रम सामाजिक अध्ययन विषय पर आधारित होता है, जो इस विषय की शैक्षिक स्तर पर महत्वपूर्ण स्थिति का तार्किक आधार है। ऐसे में अगर माध्यमिक स्तर पर इस विषय के पाठ्यक्रम पर समुचित ध्यान नहीं दिया जाने के कारण बहुत से योग्य एवं प्रतिभावान विद्यार्थी इस दौड़ में पिछड़ जाते हैं और कुसमायोजन का षिकार हो जाते हैं। ऐसी षैक्षिक व्यवस्थाओं के चलते प्रस्तुत शोध के प्राप्त निष्कर्ष शिक्षाव्दिों का ध्यान इस ओर आकर्षित करने में सफल हो सकेगा और अगर इस शोध के आधार पर षिक्षा विभाग, अध्यापक वर्ग, शिक्षार्थी, अभिभावकों में थोड़ी भी सजगता आती है तो शोधकर्त्री के द्वारा किए गए प्रयास की सार्थकता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि चुप रहकर कुसमायोजन का शिकार होने से अच्छा है सोयी व्यवस्था पर उग्रता और आक्रोष प्रकट करना है, जिसमें कम से कम बुद्धिशील प्राणी इस क्षेत्र में सोचने के लिए मजबूर हो जायें।

प्रस्तुत शोध का प्रमुख उद्देश्य ये ही है कि विषय की उपयोगिता को देखते हुए विद्यालय स्तर इसकी शिक्षण व्यवस्था पर विभाग एवं समाज का ध्यान आकर्षित किया जावें एवम् सुधार की ओर व्यवहारिक कदम बढ़ाया जावें।

शिक्षा, समाज एवं राष्ट्र उत्थान के क्षेत्र में निरन्तर उर्ध्वगामी विकास हो इसके लिए आवष्यक है कि षिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान के माध्यम से षिक्षकों से जुड़ी विभिन्न समस्याओं का पहचान कर उनके कारणों एवं तथ्यों की खोज की जाये। शोधकर्त्री को आषा ही नहीं अपितु पूर्ण विष्वास है कि प्रस्तुत शोध कार्य से विद्यालय, समाज, घर-परिवार सभी स्तरों पर सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास सम्भव होगा।

संदर्भ :

1.अग्रवाल एवं यशवन्ती गौड:भावी शिक्षक एवं शिक्षा तकनीकी, पृ. सं.- 42-43

2.चौधरी, कमलेश, फेजाबाद मण्डल के ग्रामीण माध्यमिक विद्यालयों में भूगोल शिक्षण-एक स्थित सर्वेक्षण पी. एच. डी. शोध, (शिक्षा) वी.एच. यू.- 1986.

3.आचार्य हरिवंश तरूण: सफल शिक्षण की सामान्य विधिया, शिक्षण विधि के आधार भूत सिद्धान्त, शुभ्रदा प्रकाशन, शाहदरा-दिल्ली, पेज- 18 - 20

4.भटनागर, सुरेश: आधुनिक शिक्षा और समस्याएँ,

5.आस्थाना, आर.: भूगोल का अध्यापन, आगरा: लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, 1979

6.वही

वैश्विक धरातल पर आतंकवाद : मानवता के समक्ष एक गम्भीर चुनौती

-डॉ.पवार राजू सीताराम

एसोसिएट प्रोफेसर, संरक्षणशास्त्र विभाग,

आर.सी.पटेल कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय,

शिरपुर जि.धुलिया-425405 मो.9822651742

प्रस्तावना :-

वैश्विक धरातल पर आतंकवाद सृष्टि के निर्माण के साथ अवतरीत नहीं हुआ है। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति को बांटने की मानसिकता, आर्थिक वर्चस्व को कायम रखने में तथा उसे बनाये रखने में वर्चस्व वाद की लालच का परिणाम है। आतंकवाद बीसवीं सदीका हिंसक एवं अमानवीय कृत्य साबित हुआ भय एवं बल की राजनीती से निर्माण हुआ आतंकवाद जहाँ एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर वर्चस्व कायम करने के लिये घुसपैठीयों को माध्यम बनाने की नियत से सुरुवात कुछ आतंकवाद को बीज खाद एवं पानी उपलब्ध कराने वाले देश को भी इसका इन हद्सो के बाद अमेरिका का आक्रोशित होना स्वाभाविक था। पुरे विश्व को सकते में डालने वाले अमेरिका पर डर का माहोल बन गया दुनिया का सबसे बडा देश जिसकी सुरक्षा को सिधी चुनौती मिली आज पुरी दुनिया आतंकवादी गतिविधीयों से त्रस्त है ओर एक सामान्य व्यक्ति से लेकर अमेरिका जैसे बाहुबली राष्ट्र इससे भयभयीत ओर अव्यवस्थित हो गया हर तरफ राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय सभा संमेलन ओर संगठ्नो में आतंकवाद के विरोध में स्वर जिस गति से बढते जा रहे है, उससे अधिक गति से उसका काला साया चारों तरफ फैलता जा राहा है। आतंकवाद का अर्थ है हिंसा के द्वारा लोगों को आतंकित करना ओर अपनी जायाज–नाजायाज मांग मनवाने के लिये चुनी हुई सरकारों के खिलाफ हिंसा का प्रयोग करना अथवा हिंसा के माध्यम से किसी काम को करना या करवाना है। वैश्विक परिदृश्य में दो महायुद्धों में तथा शीत युद्ध की समाप्ती के बाद आतंकवाद बृहद स्तर पर एक बहुआयामी परीघटना के रूप में समय-समय पर विभिन्न राष्ट्रों के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षितीज पर उदधृत हुआ जिसकी कार्य शैली में राजनीति तथा शक्ति परिधी में समय नुसार विश्व के सामने मानवता के समक्ष एक गम्भिर चूनौति है, जिसका प्रभाव पुरी मानव जाति के समक्ष खडी है।

उद्देश्य :-

१. वैश्विक धरातल में आतंकवाद का भय मानवता के समक्ष एक गम्भीर चुनौति का अध्ययन करना।

२. वैश्विक धरातल पर आतंकवाद की गतिविधियों का एवं तंत्र का अध्ययन करना।

३. वैश्विक शान्ति के लिये आतंकवाद के कारण, परिणाम, उपाय एवं विभिन्न राष्ट्र व्दारा किये प्रयासो का अध्ययन करना।

परिकल्पना :-

१. २१ वीं सदी में आतंकवाद का अंतर्राष्ट्रीयकरण हो गया जिससें मानवता के समक्ष चुनौति का नया आयाम सामने आया है।

२. विश्व में कट्टरपंथीय शक्तियाँ कभी भी लोकतांत्रिक नही हो सकती जिसके लिये पुरी दुनिया को खतरे में डाल दिया है।

३. आतंकवाद किसी एक देश की समस्या नही है बल्कि, इसने वैश्विक चुनौति का रूप धारण कर लिया है।

शोध प्रक्रिया और प्रविधि :-

प्रस्तुत शोध अध्ययन "वैश्विक धरातल पर आतंकवाद : मानवता के समक्ष एक गम्भीर चुनौती" विषय चयन में प्रथम ,व्दितीय साहित्य संसाधन एवं ग्रंथ अन्य सामग्री का प्रयोग किया है तथा किसी शोध की अनुसंधान विधी उसकी महत्वपूर्ण प्रक्रिया होती है इसका विश्लेषण एवं विस्तृत वर्णन याथाचीत प्रस्तुत किया गया है।

मौलिक शब्द सामग्री :-

प्रस्तुत शोध अध्ययन "वैश्विक धरातल पर आतंकवाद : मानवता के समक्ष एक गम्भीर चुनौती" में आंतकवाद, विश्व समुदाय, अखिल मानव जाति के सामने भय एवं चुनौती जसै अति महत्वपूर्ण शब्दों का चयन किया है। जिससे प्रबुद्ध पाठकों एवं शोधकर्ताओं को नवीन तथा मौलिक सामग्री प्रदान करेगा एवं महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

पुर्ववर्ती शोध कार्य एवं मौलिकता :-

मेजर जनरल विनोद सहगल जिन्होंने "अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद" इस ग्रंथ में आज आतंकवाद की जडें पुरे विश्व में फैल चुकीं है विश्व में शायद कोई ऐसा देश होगा जिस पर आतंकवाद की काली छाया न पडी हो तथा जो पुरी तरह शांत एवं सुरक्षित है। आतंकवाद एक वाद के रूप में भले ही बहुत बाद में स्थापित हुआ हो पर इसके बीज हजारो वर्ष पहले ही पड चूके थे इसका यथार्थ वर्णन किया है। मानचंद खंन्डेला "अंतर्राष्ट्रीय आतंकवादी" इस ग्रंथ में आतंकवादी गतिविधियों को रोकने का सवाल है उसे तिरस्कार, प्रतिहिंसा और भ्रामक प्रचार के माध्यम से नही रोका जा सकता है इसलिये बडी व छोटी राजनैतिक आर्थिक और सामाजिक समस्या के निदान के लिये वार्ता, वस्तुनिष्ठ सोच और तर्क को स्वीकार करने की आवश्यकता है। इसके लिये आतंकवादयों को नीचा दिखाने की जरुरत नही है बल्कि उसे बराबर बिठाने की जरुरत है। वैश्विक धरातल पर आतंकवाद : मानवता के समक्ष एक गम्भीर चुनौति इस विषय पर ज्यादा से ज्यादा शोध की आवश्यकता है। अखिल मानव जाति के सामने एक गम्भिर चुनौति है इस विषय पर जितना भी अध्ययन किया जाय वह कम है इसलिये इस विषय पर अध्ययन करने का मेरा प्रयास है।

विषय विवेचन :-

अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद ११ सितम्बर २००१ के बाद से विश्व के सामने आया बाद में सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा प्रस्ताव संख्या १३७३ के अनुच्छेद द्वारा पुष्ट किया गया। अधिकतर मामलों में आतंकवाद की जडे राजनीती के दामन में हि मिलेगी। आज आतंकवाद हमारे लिये संकट का वाहक और हमारे प्राणों का ग्राहक बना हुआ है। वैश्विक परिदृश्य की बात करे तो वर्तमान में आतंकवाद किसी न किसी रूप में सम्पूर्ण विश्व में अपनी पैठ बढाता जा रहा है। सायबर आतंकवाद, सूचना आधरित आतंकवाद तथा वैज्ञानिक आतंकवाद के विविध रूपो में आज बढता हुआ दिखाई देता है। जिसका उद्देश्य सभ्य समाज को नष्ट करना और राज्य की सुरक्षा व्यवस्था को ध्वस्त करना है। आतंकवाद इस तरह से अपनी नितियों को केंन्द्र में रखकर कारवाही करता है। प्रथम के तहत कौशल्य पूर्ण उपयोग जैसे कि एक बम विस्फोट हजारों भाषणों व प्रचार-प्रसार से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर इस ओर अधिक से अधिक लोगों का ध्यान आकर्षित करता है। दूसरी तरह से ये आतंकवादी अपनी मांग या मांगों की मान्यता और वांछित लक्ष्य की पूर्ति पूर्ण परिवर्तन आजादी और स्वतंन्त्रता या क्रांति हेतू प्रयास करते है। कभी आतंकवाद सांम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद व भाषावाद के रूप में वर्गीकृत होकर नस्लवाद का रूप धारण कर लेता है। आतंकवाद एक ऐसी विचारधारा है जो अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये बल प्रयोग में विश्वास करती है, ऐसे बल प्रयोग प्राय: विरोधी वर्ग के लोभदल या संघ बनाकर जाती समाज और देश में अपने राजनैतिक स्वार्थ के पूर्ती के लिये गैर कानुनी ढंग से हिंसात्मक साधनों का सहारा लेकर समुदाय या संप्रदाय को भयभयीत करने और उस पर अपनी प्रभुता स्थापित करने का प्रयास करते है। तालिबान की अफगान में ताजपोशी से विश्व पर जो सबसे बडा खतरा मंडरा रहा है धर्म प्रेरित या धार्मिक आतंकवाद बढने का। वैसे भी समकालीन विश्व में आतंकवाद का सर्वाधिक लोकप्रिय रूप धर्म प्रेरित आतंकवाद ही है। इसके समर्थक आतंकी हिंसा को धार्मिक आदेश या कर्तव्य के रूप में देखते है। यहाँ धर्म इनके द्वारा किए गए हिंसक घटनाओं को वैचारिक स्तर पर वैधता देने का कार्य करता है। धार्मिक कट्टरता,रुढिवादिता और चरमपंथी विचारों को बढावा देते हुए जिहाद (तथाकथित पवित्र धार्मिक युद्ध) के नाम पर आतंकी गतिविधियों उचित ठहराया जाना धार्मिक आतंकवाद है। इसके तहत इस्लाम खतरे में है और उसके शुद्धिकरण की आवश्यकता है जैसे विचार देकर इस्लामिक साम्राज्य की स्थापना और उसकी प्रतिष्ठा स्थापित करने पर आतंकी समूहों द्वारा जोर दिया जाता है। इसके साथ ही इस्लामोफोबिया जैसी धारणा को मजबुती देने की कोशिश की जाती है। अलकायदा, लश्कर-ए-तैयबा, बोकोहराम, अलशबाब, आइएसआइएसआइ जैसे आतंकवादी संगठन धार्मिक आतंकवाद को इन्ही मान्यताओं के आधार पर बढावा देते है। मोरक्को, अल्जीरिया और फिलीपींस जैसे देशों में इसी आधार पर इस्लामिक गौरव की पुर्नबहाली के नाम पर जिहाद को बढावा दिया जाता है। यहां इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि नाइजीरीया, सोमालिया, अल्जीरिया, मोरक्को, यमन, लेबनान जैसे देशों में सक्रिय

आतंकी संगठन कल को तालिबान के तर्ज पर सत्ता पर काबिज होने का प्रयास कर सकते है I अफगाण में तालिबान की ताजपोशी से इस बात की भी आशंका बढ गई है कि आतंकी गतीविधियों के लिए अब आतंकी संगठन भूमि पर कब्जा करणे के प्रयासों से पीछे नही हटेंगे I जिस तरह यमन के हूती विद्रोहियों ने राजधानी साना समेत कई भागों पर कब्जा कर यमन सरकार समेत सउदी अरब का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया था उसी प्रकार इस्लामिक स्टेट ने इराक और सिरिया के महत्वपूर्ण इलाकों पर कब्जा किया है I तालिबानी नेटवर्क और आइएसआइएसआइ खोरासान ने अफगान के हिस्सों को कब्जे में लेकर दुनिया के तमाम आतंकी संगठनों को यह संदेश दे दिया कि वे भी सत्ता पर काबिज हो सकते है I

अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर व्याप्त आतंकवाद का एक प्रमुख कारण कुछ विकसित राष्ट्रों की दादागीरी भी है। जिसके समाधान का सबसे सहज उपाय है कि विकासशील एवं अविकसित राष्ट्र संगठीत होकर उनका विरोध करे। अब तो सभी की आँखे अफगान में हुई तालिबान और आइएसआइएस खोरासान की हुकुमत कब्जे में लेकर दुनिया के तमाम आतंकी संगठनों को यह संदेश दे दिया कि वे भी सत्ता पर काबिज हो सकते हैं। आज आतंकवाद का गहन अध्ययन करना सभी देशो के लिये अनिवार्य विषय बन गया है। आतंकवाद एक ऐसी समस्या है जिसका प्रभाव दुनिया के नक्शे पर ऐसा कोई देश नही है जिस पर न पडा हो। हर देश में आतंकवाद ने कोई न कोई घाव जरूर छोडा है। आतंकवाद का कोई मुखौटा नही है बल्कि एक चेहरा है। क्रूर और डर इस चेहेरे की तमाम परते है। हिंसा इस्की भाषा है तबाही इसके दस्तावेज है। मानवता के इतिहास के लाखो सुनहरे पन्नों में कुछ काले पन्ने भी है इन्हीं काले पन्नों को आतंकवाद कहते है।

उपाय :-

आतंकवाद से निपटने के लिये जनता को जागृत रहना होगा अगर लोग जागृत रहें और देश तथा समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी को समझे तो कोई भी आतंकवादी अपनी गतविधियों को अंजाम नही दे सकेगा।

आतंकवाद के उन्मूलन के लिये इसकी जडो पर प्रहार करना होगा। इसके लक्षणों से लडने से कोई फायदा नही होगा। आतंकवादी संगठ्नों के अर्थतंत्र तहस-नहस करना होगा क्योंकी कोई भी संगठन धन के बिना ज्यादा दिनों तक नही टिक सकता।

विश्व का प्रत्येक देश अपनी सेना के तीनों अंगों नभ,थल और जल पर निगरानी रखे।

इजराईल पेरू जैसे देशों से सहयोग प्राप्त करे जिन्होंने आतंकवादियों से निपटने के लिये सुपरफाईल तकनीकें विकसित कर ली है।

अमेरिका जैसे देशों से सबक ले जहाँ सुरक्षा व्यवस्था बाकायदा उद्दोग का रूप ले चुकी है जहाँ से आतंकवादी रोधी तकनीकों की आपूर्ति पुरी दुनिया को की जाती है।

विश्व भर में आतंकवाद न पनपने देने व उनका पता लगाने के लिये सरकारी व गैर सरकारी संगठन बनाये जाने चाहिये।

खुफिया विभाग को एकदम चुस्त दुरुस्त किया जाये सभी एकत्रित सूचनाओं का गृह मंत्रालय व्दारा सही तरीके से विश्लेषण आवश्यक है।

निष्कर्ष :-

आज लगभग सारा विश्व आतंकवाद की आग में झुलस रहा है। विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली देश अमेरिका से लेकर अफगनिस्थान में हुए तालिबानी हुकुमत और युरोप से भारत तक हर तरफ राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आतंकवाद के विरोध के स्वर जिस गति से बढते जा रहे,उससे अधिक गति से इसका काला साया चारों तरफ फैलता जा रहा है। विगत कुछ वर्षो से मुसलमान कट्टरपंथी सम्पूर्ण विश्व में इस्लाम का परचम लहराने के नाम पर गैर मुसलमान समुदायों पर प्राणघातक हमले कर रहे है। जेहाद के भू-मंडलीकरण की प्रक्रिया बडी तेजीसे चल रही है इस्लामिक आतंकवाद तथा कट्टरपंथीय विश्व को चुनौति दे रहा। अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद की समस्या के निवारण का एकमात्र उपाय है 'अहिंसा'। अत: आतंकवादीयों का हृदय परिवर्तन अहिंसा व्दारा ही किया जा सकता है।

संदर्भ :-

1. मे.जनरल विनोद सहगल, (2004) 'अंर्तराष्ट्रीय आतंकवाद 'प्रभात प्रकाशन दिल्ली।

2. हैरी हैण्डरसन,(2006) 'ग्लोबल टैरिज्म', जैको पब्लिशिंग हाउस मुंबई।

3. मानचंन्द खंण्डेला,(2002),' अंतर्राष्ट्रीय आतंकवादी' अविष्कार पब्लिकेशन्स जयपूर।

4. फाडिया बी.एल.(2004) 'अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा।

5. बी.पी.सिंह,सेहगल (1995) 'ग्लोबल टैरिज्म' दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स नई दिल्ली।

6. त्रिपाठी मधुसूदन(2008)'राष्ट्रीय एकता और आतंकवाद 'ओमेगा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली।

7. डॉ.यादव वीरेंद्र सिंह (2011)' वैश्विक धरातल पर आतंकवाद: ओमेगा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली।

8.https://www.livehindustan.com/international/story-how-taliban-won-kabul- again- in-afghanistan-after-20-years-know-full-story-in-10-dates-4382921.html

9.https://www.jagran.com/news/national-turmoil-in-afghanistan-the-deepening-crisis-of-global-terrorism-taliban-negative-functioning-jagran

10. डॉ.देवळाणकर शैलेंद्र,' दहशवादाची वाढती जागतिक दहशत' महाराष्ट्र टाईम 3 एप्रिल 2016.

आधुनिक भारत में किसान आंदोलन का उद्भव एवं विकास का ऐतिहासिक अध्ययन

-डॉ. अंजू बाली पाण्डे
एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
डी.ए.वी.पी.जी.कॉलेज, देहरादून

सारांश-

आधुनिक भारत में साम्राज्यवादी व्यवस्था के उद्भव एवं विकास के तहत भारतीय कृषि व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किये गये। स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था प्रारंभ की गयी और पूरे देश की भू राजस्व नीति को बदलकर महालवाड़ी व्यवस्था, रैयतवाड़ी व्यवस्था, जमींदारी व्यवस्था, मद्रास में भूमिकर व्यवस्था तथा बंबई में भू धृति पद्वति को लागू किया गया, जिससे भारतीय किसानों का शोषण किया जा सके। समय दर समय इन पद्धतियों के शोषणात्मक स्वरूप के विरूद्ध किसानों में असंतोष पैदा होना प्रारंभ हुआ जो कालांतर में अनेक किसान आंदोलनों का कारण बना। इसी सिलसिले में 1855-56 ई0 में संथाल जनजाति किसानों का आंदोलन प्रारंभ हुआ, इस आंदोलन का नेतृत्व दो भाईयों सिद्धू तथा कान्हू ने किया, 1856 ई0 में इस आंदोलन को ब्रिटिश सरकार द्वारा कठोरता से दबा दिया गया। कालांतर में अवध तथा उत्तर प्रदेश के किसानों ने आंदोलन किया, यह आंदोलन उस समय आरंभ हुआ जब लॉर्ड कर्जन ने किसानों की भूमि के स्वामित्व के अधिकार को समाप्त किया। इसके खिलाफ किसानों ने व्यापक आंदोलन किये प्रतिफल 1859 ई0 में बंगाल किराया अधिनियम की धारायें अवध प्रदेश में लगाने से अंग्रेज सरकार को मनाही करनी पड़ी। साम्राज्यवादी व्यवस्था की दमनकारी नीति के कारण भारत में समय दर समय आंदोलनों का सिलसिला प्रारंभ हो गया। इसी के तहत 1860 ई.में बंगाल में नील किसानों ने आंदोलन प्रारंभ किया। 1875 ई. में दक्षिण के किसानों ने विद्रोह किया, इसके अलावा पंजाब के किसानों ने 1900 ई. में आंदोलन किया, जिसे कालांतर में महात्मा गाँधी तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने समर्थन दिया। इसी के तहत चंपारण विद्रोह, मोपला विद्रोह, खेड़ा आंदोलन आजादी के बाद महेन्द्र सिंह टिकैत का किसान आंदोलन और वर्तमान में देश के सभी राज्यों के किसानों को नेतृत्व प्रदान करने का कार्य राकेश टिकैत के द्वारा दिल्ली के चारों कोनों पर किया जा रहा है। किसान आंदोलन आजादी से पूर्व स्वतंत्रता संग्राम का एक सशक्त स्तंभ माना जाता रहा है और दूसरी तरफ आजादी के बाद भारतीय लोकतांत्रिक मूल्यों की सुरक्षा के लिए तथा किसानों की अपनी समस्याओं को उठाने का सशक्त मंच बन गया है।

बीज शब्द- आधुनिक भारत, किसान, आंदोलन

प्रस्तावना-

आधुनिक भारत का इतिहास 1757 ई0 के प्लासी युद्ध से आरम्भ होता है। इसी समय भारत में उपनिवेशवाद की अवधाराणा का उद्भव हुआ जो 1858 ई0 तक जारी रहा। इस दौर में अनेक किसान आंदोलन हुये बावजूद इसके किसानों का सर्वांगींण विकास अधूरा छूट गया। इसके बाद 1858 ई0 से 1947 ई0 तक आधुनिक भारत का इतिहास साम्राज्यवादी इतिहास के नाम से जाना जाता है, इस दौर में भी अनेक किसान आंदोलन हुये लेकिन किसानों के दर्द को समाप्त नहीं किया जा सका। भारत के इतिहास में 15 अगस्त एक अहम दिवस रहा है, जिसमें आजादी की प्राप्ति के बाद भी राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में अहम भूमिका अदा करने वाला किसान अपने को ठगा महसूस कर रहा है। अकाल, बाड़, सूखा आदि आपदाओं से त्रस्त किसान अपनी फसल को कैंसे बचाये यह एक अहम सवाल था और है। फसल उत्पादन के बाद भी उसका उचित दाम नहीं मिलना भी किसानों की व्यथा को बढ़ा देता है। प्रस्तुत अध्ययन में 1855 ई0 से लेकर 2021 ई0 के मध्य किसान आंदोलनों का क्रमशः विश्लेषण शोध पत्र में किया गया है।

भारत आंदोलन का सदियों से भूमि रहा है, यह आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों में रचनात्मकता के प्रतिबिम्ब के रूप में विकसित हुआ है। प्राचीन भारत में जैन धर्म और बौद्ध धर्म आंदोलन तात्कालिक समाज में व्याप्त व्याधियों, सामाजिक व्याधियों को समाप्त करने के लिए किया गया। मौर्यकाल में अषोक प्रियदर्षी के द्वारा धम्म की अवधारणा से जनमानस को जोड़ने के लिए व्यापक वैचारिक, सांस्कृतिक और धार्मिक आंदोलन के रूप में नेपाल, श्रीलंका, मालदीव, चीन, तिब्बत तक व्यापक आंदोलन छेड़ा गया। इतना ही नहीं मध्यकालीन भारतीय इतिहास में भक्ति आंदोलन, सूफी आंदोलन के साथ साथ अनेक सामाजिक एवं धार्मिक आंदोलनों को विकसित किया गया। इन सभी आंदोलनों का एक मात्र लक्ष्य यह था कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था को आध्यात्मिकता एवं भौतिकतावाद के मध्य समन्वय स्थापित कर समाज को सुसंस्कृत ढंग से रचनात्मकता की अवधारणा से जोड़ा जा सके।

आधुनिक भारत के इतिहास में धार्मिक एवं सामाजिक आंदोलन के रूप में ब्रह्म समाज के द्वारा चलाया गया सामाजिक आंदोलन और तात्कालिक

सामाजिक त्रुटियों से कैसे मुक्त किया जाये इसके लिए देवेन्द्र नाथ टैगोर, सत्येन्द्र नाथ टैगोर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, सहजानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, ईष्वरचन्द्र विद्यासागर, राजा राम मोहन राय आदि के द्वारा सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन चलाये गये। इसी दौर में समाज का सबसे उपेक्षित वर्ग किसान आंदोलन का भी सिलसिला आरम्भ हुआ, जो 21वीं सदी के दूसरे दषक में दिल्ली के चारों मुहानों पर किसानों का करीब नौ महीने से एकत्रित होना है, और वर्तमान में जंतर मंतर में तीन मांगो को वापस लेने के लिए अहिंसक ढंग से आंदोलनरत हैं। सवाल उठता है कि वैचारिक दृश्टिकोण से आंदोलन किसे कहते हैं\ सबसे पहले जनता आंदोलन षाष्वतता का प्रतिबिम्ब नहीं है, बल्कि यह सनैः सनैः समाज में उभरे हुए असंतोश के विरूद्ध अहिंसक रास्ते से अपनी मांगो की पूर्ति के लिए अस्तित्ववादी व्यवस्था के समक्ष समाज में व्याप्त नियामकों का विरोध करना होता है। यह अवधारणा उद्विकासवादी अवधारणा के समीप खड़ी होती है, जो समाज में परिवर्तन को क्रमिकता के आधार पर देखता है, सरलता से कठिनता की ओर परिवर्तन को आत्मसात करता है, एकरेखीय परिवर्तन से बहुरेखीय परिवर्तन की ओर हामी भरता है। साथ ही इसकी मान्यता है कि, जब किसी वस्तु का एक बार अस्तित्व बन जाता है तो उसका अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता है, केवल उसके स्वरूप में परिवर्तन होता है और उसके अंतर्वस्तु में कोई बदलाव नहीं होता है। इस सच्चाई के साथ उद्विकासवाद के साथ ही सामाजिक आंदोलन भी यह स्वीकार करता है कि, सभी के लिए मानव की मानसिक एकता के बीच संतुलन की अपरिहार्यता होती है। इससे स्पश्ट है कि आंदोलन की अवधारणा अहिंसावादी दृश्टिकोण पर ही टिका हुआ है, इस अवधारणा को सषक्त करने का श्रेय महात्मा गाँधी के षब्द सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के मौलिक वैचारिक दृश्टिकोण पर आधारित है, जैंसे गाँधी जी के द्वारा षुरू किया गया असहयोग आंदोलन की व्यापकता और सच्चाई के दौरान 1922 ई0 में चौरी-चौरा कांड की घटना के परिणामस्वरूप गाँधी जी के द्वारा असहयोग आंदोलन को वापस ले लिया गया क्योंकि यह आंदोलन हिंसा का पर्याय बन गया था। गाँधी जी के इस निर्णय से कांग्रेस के तात्कालिक बड़े बड़े नेताओं ने गाँधी जी की आलोचना की लेकिन गाँधी जी का स्वतंत्रा आंदोलन जनमानस के योगदान के कारण सफल रहा। उनकी मान्यता थी कि हिंसा के द्वारा आंदोलन के गरिमामय स्वरूप को ठेस नहीं पहुँचने दें।

आधुनिक भारत में किसान आंदोलन उद्भव एवं विकास-

आधुनिक भारत में उपनिवेषवादी और साम्राज्यवादी अंग्रेजी राज्य का आय का सबसे बड़ा स्त्रोत भारतीय कृशि व्यवस्था था। यह व्यवस्था परंपरागत कृशि तकनीकों पर आधारित थी, लेकिन 1793 ई0 में लार्ड कार्नावालिस के द्वारा स्थायी बंदोबस्त की प्रणाली के माध्यम से कृशि व्यवस्था में नवीनतम प्रषासनिक ढाँचे के निर्माण ने प्राचीन कृशि तकनीकी को बदल दिया जिसके कारण भारतीय किसानों में असंतोश की ज्वाला फूटी। नवीनतम भू घृति ;स्दक ज्मदनतमद्ध व्यवस्था ने नए प्रकार के भूपतियों को जन्म दिया। भारत में जहाँ सामाजिक संस्तरीकरण का प्रमुख आयाम वर्ण व्यवस्था है, इस नवीनतम व्यवस्था से भारतीय समाज में नए वर्गों का उदय हुआ। इसी दौरान सरकारी कर तथा जमींदारों का भाग अत्यधिक होने के कारण कृशक, साहूकारों और व्यापारियों के चंगुल में फँस गये, प्रतिफल 19वीं शताब्दी में किसानों की अशांति विद्रोहों द्वारा प्रकट होने लगी, जिसका मुख्य लक्ष्य सामन्तशाही बंधनों को तोड़ना और इनसे निजात पाने का सिलसिला आरम्भ हुआ। किसानों की मांग में दखिलकार (Occupancy) अधिकार और भाटक के स्थान पर धन का निष्चय करना था।

किसान व कृशक शब्दावली का प्रयोग सर्वप्रथम मौर्य सामा्रज्य के सबसे शक्तिशाली राजा अषोक प्रियदर्षी के द्वारा 'सीता' रूपी शब्दावली से उद्भव माना जाता है, सीता शब्द का जब प्रयोग किया गया और परती पड़ी खेती, जंगलों व पहाड़ों को समतल कर नयी खेती करने की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया, उसका व्यापक प्रभाव किसानों की आर्थिक स्थिति सुधार पर पड़ा। इसकी देखभाल के लिए सीताध्यक्षों की नियुक्ति की गयी। इस संदर्भ में उत्तराखण्ड के कालसी परिक्षेत्र में स्थित शिलालेख तथा प्रयागराज में अशोक के अभिलेखों के माध्यम से हमें ज्ञात होता है। कोई भी आंदोलन अस्तित्ववादी व्यवस्था और अस्तित्ववादी नियामकों के असंतुलन के कारण विकसित होता है। कृशि आंदोलनों का विकास भारत में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में बार बार दुर्भिक्ष पड़ने, बाढ़ आने के बाद किसानों से कर उगाही के कारण विकसित हुआ। एक तरफ जमींदारों के माध्यम से उपनिवेषवादी व्यवस्था के संचालक ईस्ट इंडिया कम्पनी के द्वारा कृशकों पर मालगुजारी भरने का दबाव था और दूसरी तरफ दुर्भिक्ष के कारण भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में भूखे पेट का संकट जटिल हो गया था। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत के विभिन्न भागांे में 24 छोटे-बड़े दुर्भिक्ष पड़े, जिसमें 2 करोड़ 85 लाख से अधिक कृशकों की मृत्यु हुई। इस संदर्भ में 1876-78 ई0 के बीच, 1896-97 ई0 के बीच तथा 1899-1900 ई0 के बीच भारत में भीशण दुर्भिक्ष पड़े। सूखे तथा अकालांे से भारतीय ग्रामीण समुदाय की आत्मनिर्भरता की चुनौती बड़ गयी, बड़े-बड़े अमीर से लेकर छोट-छोटे कृशक समूहों के साथ प्रषासकीय वर्गों की कमर भी टूट गयी। 1880 ई0, 1898 ई0 तथा 1901 ई0 के इन अकालों से निपटने के लिए तीन आयोगों का गठन किया गया, आयोगों ने अपना मूल उद्देष्य राहत कार्यों के माध्यम से परोपकार करना नहीं बल्कि संपत्ति की संस्था को कैंसे बनाए रखा जाये और कैसे सुरक्षित रखा जाये को सर्वोपरी बनाया।

इससे पूर्व 1856 ई0 में संथाल विद्रोह मानभूम, बड़ाभूम, हजारीबाग, मिदनापूर, बाँकुरा, तथा वीरभूम में विकसित हुआ संथालों का यह विद्रोह बंगााल तथा उत्तरी भारत के सभ्य संभ्रात लोगों के विरूद्ध था, परंतु जब उन्होंने महसूस किया कि अधिकारी वर्ग भी उनकी रक्षा के बजाय षोशण करने के पक्षधर हैं तो दो भाईयों सिद्धू तथा कान्हू के नेतृत्व में बिगुल बजाया गया कि ''वे देष को अपने आधिकार में ले लेंगे और अपनी सरकार को स्थापित करेंगे'' उन्होंने भागलपुर तथा राजमहल के बीच रेल व्यवस्था को भंग किया, डाक-तार व्यवस्था को अवरूद्ध किया। संथालों ने कंपनी राज्य की समाप्ति तथा अपने सूबेदार के राज्य आरंभ की घोशणा की। मेजर बर्रो के अधीन एक अंग्रेजी सेना को अपमानजनक मात खानी पड़ी, परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने भारी कठोरता पूर्ण ढंग से इस आंदोलन को दबा दिया।

इसके ठीक बाद भारत का पहला स्वतंत्रता आंदोलन या सिपाही विद्रोह 1857 ई0 में हुआ जिसमें किसानों ने अवध तथा पष्चिम उत्तर प्रदेष में जमीदारों की कठोरता को दरकिनार करते हुए सामन्तशाहों से हाथ मिलाते हुए विदेशी हुकूमत उखाड़ फैंकने के लिए आंदोलन चलाया प्रतिफल लार्ड कैनिंग ने भूमि में स्वामित्व के अधिकारों को समाप्त कर दिया और उन किसानों को दंडित करने की व्यवस्था की जिन्होंने विद्रोह में भाग लिया था। 1857 ई0 के बाद भूमिकर व्यवस्था अवध के तालुकदारों से की गई और उनकी अधिकतर भूमि वापस दे दी गई, इस व्यवस्था से तालुकदारों की स्थिति और मजबूत हो गई। दखिलकारों के अधिकारों की अवहेलना की गई और अवध के मुख्य आयुक्त ने 1859 ई0 में बंगाल किराया अधिनियम की धाराएँ अवध प्रदेष में लागू करने की मनाही कर दी।

किसानों के अनेक आंदोलन हुए एक बड़ा आंदोलन बंगाल में निम्न खेतिहरों द्वारा 1860 ई0 में किया गया, यह विद्रोह अंग्रेज भूपतियों के विरूद्ध था। इस विद्रोह में विद्रोहियों को जमींदारों, साहूकारों, धनी किसानों तथा नील किसानों जैसे सभी ग्रामीण वर्गों की सहानुभूति प्राप्त थी। देखते ही देखते यह आंदोलन जैसोर, फुलना, राजषाही, ढाका, दिनाजपुर, मालदा तथा बंगाल के अन्य क्षे्त्रों में फैल गया। 1860 ई0 में नील आयोग गठित किया गया तथा इस पर सुझाव 1862 ई0 के अधिनियम (4) में उल्लेखित किए गये, यह आंदोलन बिहार तथा उत्तर प्रदेष के कई भागों में फैला हुआ था।

इसके बाद पष्चिम भारत के किसानों ने अपनी विभिन्न मांगों को लेकर 1875 ई0 में आंदोलन किया, यह विद्रोह मूल रूप से मारवाड़ी तथा गुजराती साहूकारों के विरूद्ध चला। सिरूर तालुका में 1874 ई0 में यह आंदोलन तब प्रारंभ हुआ जब एक मारवाड़ी साहूकार कल्लूराम ने बाबा साहब देषमुख के विरूद्ध 150रूपये के ऋण के लिए बेदखली का आज्ञापत्र जारी किया। 1875 ई0 में संपूर्ण पुणे जिले, अहमदनगर में भारी जन विद्रोह प्रारम्भ हुआ। इस विद्रोह को दबाने के लिए सेना व पुलिस की मद्द लेनी पड़ी, सरकार ने दक्कन उपद्रव आयोग का गठन किया किसानों की दुर्दषा को दूर करने के लिये 1879 ई0 में कृशक राहत अधिनियम को बनाया गया, जिससे दीवानी विधि संहिता की धाराओं को प्रतिबंधित किया गया। इस अधिनियम के माध्यम से किसानों को ऋण न लौटाने पर गिरफ्तार और जेल में किसानों को नहीं भेजा जा सकता था इससे पूरे देष में किसानों के आंदोलन से अव्यवस्था का माहौल बन गया। इसी बीच वर्श 1900 ई0 में पंजाबी कृशकों का असंतोश तथा 'पंजाब भूमि अन्याक्रमण अधिनियम' ;स्ंदक ।सपमदंजपवद ।बज 1900द्ध लागू किया। 1895 ई0 से ही भारत सरकार ने प्रांतीय सरकारों के माध्यम से कृशि भूमि के स्थानांतरण पर रोक लगा दी थी। 1896-97 ई0 तथा 1899-1900 ई0 के अकालों से पंजाब की जनता त्रस्त थी, इसी बीच 'पंजाब भूमि अन्याक्रमण अधिनियम 1900 ई0 एक प्रयोग के रूप में पारित किया गया जिसका उद्देष्य था कि, यदि यह अधिनियम पंजाब में सफल होता है तो समस्त भारत में इसे लागू किया जायेगा। इस अधिनियम के माध्यम से पंजाब को तीन श्रेणियों में बाँटा गया जैंसे- कृशक कानून द्वारा स्थापित किये कृशक, जो कृशक नहीं थे पर इनका भूमि में विषेश लगाव था तथा षेश जनसंख्या जिसमें साहूकार, महाजन आदि को षामिल किया गया। इसमें प्रथम वर्ग के लोगों को दूसरे तथा तीसरे लोगों के हाथ भूमि बेचने व गिरवी रखने की अनुमति नहीं थी। किसान आंदोलन के बदलते तेवर तथा स्वरूप के साथ भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस का जुड़ना भी आंदोलन को तीव्र कर दिया। भारतीय राश्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 ई0 के बाद से ही कांग्रेस कृशकों की मौलिक समस्याओं को लेकर संवेदनषील और संचेतनषील थी। कांग्रेस की मान्यता थी कि उपनिवेषवादी एवं साम्रज्यवादी व्यवस्था में कृशकों के षोशण की प्रकिया तेज हुई। कांग्रेस की मान्यता थी कि, भारत एक निर्धन देष है जो गाँवों में बसता है, परन्तु निर्धनता को समाप्त करने का जो सुझाव इन ताकतों के द्वारा दिये जाते थे वे भारतीय लघु कुटीर उद्योगों के साथ साथ परंपरागत कृशि व्यवस्था को भी चरमरा रहे थे।

1793 ई0 में जो स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था लार्ड कार्नावालिस के द्वारा जारी किया गया जिसे संपूर्ण भारत में लागू किया गया वह एक सकारात्मक पहल के रूप में देखा जा सकता है, लेकिन इसे भारतीयकृत नहीं किया गया। इससे किसानों को भारी हानि उठानी पड़ी, कार्नावालिस के स्थायी बंदोबस्त के फलस्वरूप भारत के कुटीर उद्योग को भारी धक्का लगा और औद्योगीकरण की प्रकिया ठहर गयी। कांग्रेस ने कभी भी भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में मुजारों ;ज्मदंदजेद्ध के हितों की रक्षा के लिए कानून बनाने की माँग को समर्थन नहीं दिया। प्रख्यात इतिहासकार रमेष चन्द्र दत्त ने एक खुला पत्र लार्ड कर्जन के नाम भारत में आये अकालों के संदर्भ में लिखा, इस पत्र से यह स्पश्ट होता है कि, साम्राज्यवादी व्यवस्था शड़यंत्र के तहत

भूपतियों के हित की बात करती है और किसानों के हित को अनदेखी करता है। इस पत्र के संदर्भ में लार्ड कर्जन ने संज्ञान लेते हुए कहा कि सरकार ने मुजारों के हित की कांग्रेस की अपेक्षा अधिक सेवा की है। इस विशय पर रमेष चन्द्र दत्त ने किसी भी प्रकार का प्रत्युत्तर नहीं दिया कि, किसानों के आंदोलनों को महात्मा गाँधी ने भी समर्थन किया तथा आंदोलन को राजनैतिक दिषा देकर स्वतंत्रता संग्राम में इसे एक अचूक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया। गाँधी जी की सक्रियता ने न केवल किसान आंदोलन की राजनीति को धारदार बनाया अपितु स्वतंत्रता संग्राम के आंदोलन में कृशक समाज को जोड़कर आंदोलन को भारतीय ग्रामीण परिक्षेत्रांे तक फैलाया, इसका उदाहरण चंपारण तथा खेड़ा सत्याग्रह को माना जा सकता है।

उत्तरी बिहार के तीन कठिया से चंपारण आंदोलन की षुरूआत गाँधी जी ने की, यूरोपीय नील उत्पादक नील कृशकों को विभिन्न प्रकार से उत्पीड़ित करते थे, यह उत्पीड़न ठीक उसी प्रकार से होता था जैंसे पूर्व में बंगाल में था। महात्मा गाँधी और डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने कृषकों की वास्तविक स्थिति का आकलन किया और अहिंसात्मक असहयोग के लिए जनमानस को अभिप्रेरित किया, प्रतिफल बिहार की सरकार ने गाँधी जी को गिरफ्तार करके जून 1917 ई0 में जाँच समिति को नियुक्त किया, इसमें गाँधी जी को एक सदस्य के रूप में नामित किया गया फलस्वरूप चंपारण कृषिअधिनियम पारित हुआ और नील उत्पादकों द्वारा विशेष प्राप्ति बंद कर दी गयी लेकिन जमींदार वसूली करते रहे और साहूकारों द्वारा अधिक ब्याज लेने का सिलसिला जारी रहा।

खेड़ा सत्याग्रह बंबई सरकार के विरूद्ध 1918 ई0 में आरंभ हुआ, यह आंदोलन मूलतः तब प्रारंभ हुआ जब बसंत ऋतु में खेड़ा की फसले नश्ट हो गयी थी। समूचे महाराश्ट्र में सूखे का प्रकोप आया हुआ था परिणामतः कृशि को भारी हानि पहँुची थी, इस समय बंबई सरकार ने कृशकों पर दबाव डाला कि तत्काल भूमि कर जमा करें। हांलाकि भूमिकर नियमों मे यह स्पश्ट किया गया था कि यदि फसल 25ः कम हो गयी हो तो भूमिकर में पूर्णतः छूट दी जायेगी लेकिन सरकार इसे मानने को तैयार नहीं थी। महात्मा गाँधी ने कृशकों को संगठित किया और सभी वर्गो का समर्थन हासिल किया प्रतिफल बंबई के किसानों ने गाँधी जी के नेतृत्व में एक बड़ा आंदोलन और सत्याग्रह आरंभ किया जिसमें बड़ी संख्या में किसानों को गिरफ्तार किया गया। यह आंदोलन जून 1918 ई0 तक चलता रहा अन्ततः सरकार को गाँधी जी और सत्याग्रहियों की माँग को मानना पड़ा। इस संदर्भ में जुडिथ ब्राउन ने लिखा है कि "यह आंदोलन जरूर सफल रहा लेकिन बंबई सरकार ने कुछ किसानों से कर वसूली कर ली थी, चंपारण और खेड़ा आंदोलन की सफलता के बाद किसानों के आत्मविष्वास में भारी बढ़ोत्तरी हुयी और वे स्वतंत्रता संग्राम के आंदोलन में भी अपनी भूमिका ढूंढते रहे"।

1921 ई0 में केरल के मालाबार तट पर मोपला विद्रोह हुआ, यह आंदोलन दक्षिण भारत विषेशकर केरल राज्य के मुस्लिम पट्टेदारों जिन्हें कनामदारों के नाम से भी जाना जाता है के द्वारा प्रारंभ किया गया। केरल के दक्षिण मालाबार के खेतिहरों को वेरूमपट्मदार के नाम से भी जाना जाता था लेकिन प्रायः अधिकांष लोग इन्हें मोपला भी कहते थे। इनका संबंध हिन्दुओं की निम्न जातियों से था जो कालान्तर में मुसलमान बन गये थे तथा कुछ अरबी मुसलमानों के वंषज थे जो 8वीं, 9वीं सदी में मालाबार तट पर बस गये थे। 19वीं सदी में मोपलाओं की कृशि षिकायत बड़ गयी, खासकर अत्यधिक मालगुजारी, पट्टेदारी की असुरक्षा, नवीनीकरण के दौर में अधिक धन की माँग और समय समय पर जमींदारों की वसूली के विरूद्ध आवजें उठने लगी थी। 1836 ई0 से 1894 ई0 तक दक्षिण मालाबार में कुल 22 आंदोलन हुए जिसमें विद्रोहियों ने कई पुलिस कर्मियों, सरकारी अधिकारियों तथा हिन्दू जमींदारो की हत्या कर दी थी। 1921 ई0 के मोपला विद्रोह के दो कारण थे, मोपलाओं पर जमींदारों का अत्याचार तथा फिरंगी सरकार की खिलाफत विरोधी नीतियाँ। अप्रैल 1920 ई0 में मालाबार जिला कांग्रेस कमेटी ने मंजेरी में एक सभा का आयोजन किया और किसानों के विद्रोह का समर्थन किया तथा भूघृति के कानूनों में सुधार की माँग की, तत्पष्चात् काजीकोड तथा कई अन्य स्थानों पर किसानों की बड़ी-बड़ी सभाएँ हुयी और किसान सभा का गठन हुआ।

1920 ई0 के दषक में बंगाल, पंजाब तथा उत्तर प्रदेष में किसान सभा का गठन आरम्भ हुआ, 1928 ई0 में आन्ध्र प्रांतीय रैयत सभा तथा 1936 ई0 में अखिल भारतीय किसान सभा का गठन हुआ। आन्ध्र प्रदेष के जमींदारों के जुल्म के विरूद्ध किसानों ने आंदोलन प्रारंभ किया, 1937 ई0 में किसान सभाओं ने जगह जगह पर सत्याग्रह किया प्रतिफल स्वतंत्रता संग्राम में इन आंदोलनों का बहुत अधिक महत्व बड़ा। इसी दौर में तेभागा आंदोलन 1946-51 ई0 में जोतदारों, साहूकारों, व्यापारियों, जमींदारों तथा निजाम के अधिकारी वर्ग के विरूद्ध हुआ।

महाराश्ट्र के बंबई में आदिवासियों के द्वारा वर्ली लोग जंगल के ठेकेदारों, साहूकारों, व्यापारियों तथा निजाम के विरूद्ध संगठित हुए। 1945 ई0 में इस आंदोलन को पुलिस के दमनचक्र का षिकार होना पड़ा और आंदोलनकारी साम्यवादी चिंतन के समीप आ गये। आजादी के बाद और जमींदारी उन्मूलन अधिनियम के बावजूद किसानों के हक व हकूक के लिए किसान आंदोलनरत रहे, जिसमें 1980 ई0 के दषक में महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में लाखों किसानों ने दिल्ली के बोट क्लब पर आंदोलन किया।

वर्तमान 2020 ई0 का किसान आंदोलन और सरकार की नीतियाँ-

लगभग एक साल से किसान दिल्ली के चारों ओर तीन कानूनों को वापस

लेने के लिए आंदोलनरत थे, इस दौरान किसान और सरकार के बीच कई दौर की बातचित असफल हुयी, परन्तु किसी भी प्रकार का संतोशजनक उत्तर सरकार से न मिलने के कारण किसान लगातार आंदोलनरत रहे। इस दौरान किसानों को जनमानस की भावनाओं का समर्थन प्राप्त हुआ। किसी भी क्षेत्र में जब कोई व्यक्ति अच्छा प्रदर्शन करता है ता उसको पुरस्कार से सम्मानित किया जाता है, लेकिन जब किसान अच्छी/अधिक फसल उगाता है तो उसका लाभ/दाम कम हो जाता है, यही किसान का दुर्भाग्य है।

वर्तमान सरकार द्वारा तीन कृषि विधेयकों को लेकर किसान लगातार आंदोलनरत रहे, इनमें किसान उपज व्यापार एवं वाणिज्य (संवर्द्धन और सुविधा) विधेयक 2020, मूल्य आश्वासन और कृषि सेवाओं पर किसान (सशक्तिकरण और संरक्षण) समझौता विधेयक 2020, आवश्यक वस्तु संशोधन विधेयक 2020, शामिल थे। एक साल से लगातार किसान नेता राकेश टिकैत और अन्य किसान नेताओं के नेतृत्व में चलने वाले किसान आंदोलन को आखिरकार सफलता मिली और शीतकालीन सत्र के पहल दिन 29 नवम्बर 2021 ई0 को विवादित तीन कृषि कानूनों को निरस्त करने से सम्बन्धित, 'कृषि विधि निरसन विधेयक 2021' , को लोकसभा में बिना चर्चा के पारित कर दिया गया। इस प्रकार लगभग एक साल बाद तीन विवादित कृषि कानूनों को सरकार ने निरस्त कर दिया।

विश्लेषण करने से निष्कर्ष निकलता है कि भारत जैंसे देश में लाखों छोटे असंगठित किसान हैं, जिन्होंने कृषि उत्पादन तथा कोरोना महामारी के दौरान देश की अर्थव्यवस्था को सहारा दिया है, और पूर्व में भी अर्थव्यवस्था को सहारा दिया है। सवाल यह है कि मजबूत व्यवस्था तथा प्रक्रिया के बिना खुले बाजार में इन लाखों असंगठित छोटे किसानों के भारी नुकसान की जवाबदेही किसकी होगी।

सकारात्मकता यह है कि, वर्तमान में किसानों के कल्याण के लिये भारत सरकार द्वारा 'प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि योजना' चलायी जा रही है जिसके अंतर्गत सीमान्त और छोटे किसानों को कृषि कार्यों के लिये वित्तीय सहायता प्रदान करना इस योजना का मुख्य उद्देश्य है, योजना के अन्तर्गत लघु सीमांत परिवारों को प्रति वर्ष 6000 रू0, जिसमें तीन किश्तों को चार चार माह में दिया जाता है शामिल है।

उद्देश्य-

1. आधुनिक भारत में किसान आंदोलन पर अध्ययन का सबसे बड़ा उद्देश्य है कि समाज का भरण-पोषण करने वाला समुदाय आज भी अपने आप को ठगा हुआ महसूस करता है। असंतोष के इसी कारण के परिणामस्वरूप आजादी के पहले और आजादी के बाद राष्ट्रीय विकास की मुख्य धारा से जुड़ने के लिए किसानों को अनेक आंदोलनों का साहरा लेना पड़ा है।

2. स्वतंत्र भारत में किसानों ने अपने उत्पादन की प्रक्रिया को समय दर समय परिवर्तित कर उत्पादन को बढ़ाने का सफल प्रयास किया है। इसके बावजूद कभी इनके उत्पाद को जला दिया जाता है और कभी बीच बाजार में फेंक दिया जाता है, क्योंकि आधुनिक अन्नागार आज भी किसानों से बहुत दूर हैं। इसका अध्ययन करना भी शोध का प्राथमिक उद्देश्य है।

3. सरकार और किसान के बीच संवादहीनता की स्थिति ने किसानों को झकझोर कर रख दिया है। लम्बे समय से किसान पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पश्चिम उत्तर प्रदेश समेत देश के अन्य राज्यों में सरकार द्वारा पारित किसान विरोधी बिल को वापिस लेने के लिये आंदोलनरत है। इस संवादहीनता का तथ्यपरक अध्ययन करना शोध पत्र का प्रमुख उद्देश्य है। शोध पत्र के माध्यम से किसानों के शोषण और किसान विरोधी बिल की कमियों और सबल पक्ष का समुचित अध्ययन करना शोधपत्र का प्रमुख उद्देश्य है।

निष्कर्ष-

भारत में किसान एक बहुत बड़ी शक्ति है। इनके पास परंपरागत किसान शैली से अलग हटकर आज बौद्धिक शक्ति, चिंतन शक्ति, संपदा शक्ति और कृषी आधुनिकीकरण शक्ति विद्यमान है। अध्ययन से स्पष्ट है कि आज भी किसानों की संख्या अन्य व्यवसायों से जुड़ी आबादी से बहुत अधिक है। आजादी से पहले फिरंगियों के खिलाफ आवाज उठाने वाला यह किसान, स्वतंत्रता संग्राम में आवाज उठाने वाला किसान आज अपने आपको ठगा महसूस कर रहा है प्रतिफल आंदोलन करना उसकी नीयति बन गयी है।

संदर्भ :-

1. अमर उजाला, 29,30 दिसंबर, देहरादून संस्करण
2. देसाई, ए.आर., 'पिजेन्ट स्ट्रगल इन इंडिया', ऑक्सफौर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1979
3. ग्रोवर, बी.एल. व यशपाल, 'आधुनिक भारत का इतिहास', एस. चन्द एण्ड कं0 लि0, नई दिल्ली, 2001
4. नटराजन, एल. 'पिजेन्ट अपराइजिंग इन इंडिया (1850-1900)', पिपुल्स पब्लिसिंग हाउस, बंबई
5. शुक्ल, रामलखन, 'आधुनिक भारत का इतिहास', प्रकाशक हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2000
6. सेन, एस. 'एग्रेगीयन रिलेसन्स इन इंडिया (1793-1947)', पिपुल्स पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली

इक्कीसवीं सदी में गांधी की बुनियादी शिक्षा दर्शन की उपादेयता

-डॉ.मृदुला शर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर,
सुबोध महिला शिक्षण प्रशिक्षण महाविद्यालय,
सांगानेर, जयपुर

महात्मा गांधी के कर्मयोग को मानवता का दर्शन कहें तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जिस पर उन्होंने प्रकाश नहीं डाला हो। उनके जीवन दर्शन की सम्पूर्णता उनकी शिक्षा योजना में परिलक्षित होती है। गांधी ने सर्वशिक्षा के साथ-साथ सर्वांगीण विकास की शिक्षा प्रणाली जिसमें स्वरोजगार को बढ़ावा मिलता हो को देने पर बल दिया। गांधी की शिक्षा पद्धति को नई तालिम के माध्यम से समझा जा सकता है। नई तालीम का तत्कालीन विचार ग्रामीण एवं शहरी भारत के विकास को देखकर गांधी जी द्वारा प्रतिपादित किया गया। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था को भी देखा जाए तो कमोवेश गांधी के बुनियादी शिक्षा सिद्धांत को प्रत्येक शिक्षा नीति में अपनाने पर तो बल दिया गया लेकिन व्यवहारिक रूप में इसे चरितार्थ नहीं किया जा सका। गांधी ये जानते थे कि देश की उन्नति के लिए व्यवस्था का स्वदेशी और स्वराज के अनुपात में होना आवश्यक है तभी देश अथवा राष्ट्र का विकास संभव है।1 औपनिवेशिकता की विचारधारा से यदि राष्ट्र और समाज को मुक्त करना है तो शिक्षा व्यवस्था को भारतीय विचारों के अनुकूल स्थापित करना होगा तभी आत्मनिर्भरता की प्राप्ति संभव है। पराधीन राष्ट्र और औपनिवेशिकता से परिपूर्ण विचारधारा किसी देश की अल्प समय के लिए तो फायदा पहुंचा सकती है लेकिन इसके दूरगामी परिणाम सदैव राष्ट्र के पतन की ओर उन्मुख होते हैं। इन सभी बातों को गांधी ने अपने शैक्षिक चिंतन मनन में स्थान प्रदान करते हुए नई तालीम अथवा बुनियादी शिक्षा दर्शन के अंतर्गत मातृभाषा शिक्षण के साथ-साथ स्वरोजगारपरक शिक्षा जिसे कुछ हद तक व्यवसायिक शिक्षा भी कह सकते हैं पर बल दिया। प्रो. रजा ने उस समय की औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति के ढांचे के बारे में विश्लेषण करते हुए लिखा की यह न केवल अप्रासंगिक थी बल्कि विभाजनकारी एवं राष्ट्र के विकास से कहीं अधिक दूर थी।''[2]

गांधी जी ने स्पष्ट किया कि मनुष्य अपनी चेतना के कारण संसार का सर्वश्रेष्ठ चेतनशील प्राणी है उसके शरीर में आत्मा का निवास होता है। मानव के आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास के लिए शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने अनेक प्रयोग किये थे और देश के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा योजना तैयार की थी। गांधी जी का शिक्षा दर्शन केवल राष्ट्रीय सीमाओं में ही नहीं बंधा था। गांधी जी ने अपने समय की पुस्तकीय संकुचित, सैद्धान्तिक और परीक्षा प्रधान शिक्षा में सुधार हेतु अनेक सुझाव दिये थे और अन्त में 1937 में एक राष्ट्रीय शिक्षा योजना प्रस्तुत की थी जिसे बेसिक शिक्षा कहते हैं।[3]

गाँधी जी का शिक्षा दर्शन केवल राष्ट्रीय सीमाओं में ही नहीं बंधा नहीं था। गाँधी जी ने अपने समय की पुस्तकीय संकुचित सैद्धान्तिक और परीक्षा प्रधान शिक्षा में सुधार हेतु अनेक सुझाव दिये थे और अन्त में 1937 में एक राष्ट्रीय शिक्षा योजना प्रस्तुत की थी जिसे बेसिक शिक्षा अथवा आधारभूत शिक्षा के नाम से जाना गया।

महात्मा गाँधी का शिक्षा दर्शन प्रयोग उनके अनुभव पर आधारित था। एक ओर महात्मा गाँधी जी की शिक्षा का राष्ट्रीय दृष्टिकोण था जिसमें वे शिक्षा का प्रयोग देश की आजादी की लड़ाई के लिए करना चाहते थे और दूसरी और उनका मानवतावादी दृष्टिकोण था जिसके द्वारा वे मानवीय सरोकारों से युक्त समाज एवं राजनीति की रचना करना चाहते थे 1920-21 के असहयोग आन्दोलन में महात्मा गाँधी ने शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के ऊपर विशेष दायित्व डाला और उन्हें स्कूल तथा कालेज छोड़ने का आह्वान किया। महात्मा गाँधी केवल विघटनकारी, विध्वसंक दृष्टिकोण नहीं रखते थे उनका दृष्टिकोण रचनात्मक था इसलिए उन्होंने अंग्रेजी हुकूमत द्वारा चलाई गई अनुपयोगी शिक्षा के विकल्प के रूप में राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना का आन्दोलन चलाया और देश में कई ऐसे राष्ट्रीय विद्यापीठ स्थापित किये।4 महात्मा गाँधी ने कहा कि ''केवल विद्यार्थियों की सहायता से ही स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है और उन्हीं के दुर्बलता के कारण हम लोग विदेशी हुकूमत के गुलाम हैं। अन्य किसी बात का जनता और शासकों पर इतना प्रभाव नहीं होगा जितना कि एक दिन में विद्यार्थियों के स्कूल और कालेज छोड़ देने से।''[5] अर्थात विद्यार्थियों को यह समझना चाहिए कि यदि गुलामी से मुक्ति पाना है तो आन्दोलन में भाग लेने के लिए आगे आना ही होगा।

इस कारण गाँधी पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने विद्यार्थियों को स्कूल, कॉलेज छोड़ने का आवाहान कर ठीक नहीं किया। विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेना चाहिये या नहीं, यह अत्यन्त ही विवादास्पद प्रश्न था किन्तु वास्तविक स्थिति यह थी कि शिक्षा जीवन की एक सामाजिक प्रक्रिया है इसलिए राजनीति से उसी तरह अलग नहीं रह सकती जिस तरह राजनीति से धर्म एवं आर्थिक व अन्य समस्याएं अलग नहीं रह सकती। गाँधी जी आध्यात्मिक होते हुए भी राजनीति से अपने को अलग नहीं रख सके। उनके लिए राजनीति धर्म, शिक्षा सब कुछ एक दूसरे से जुड़े हुये थे वास्तव में शिक्षा को विद्यार्थियों तथा शिक्षकों की राजनीति से अलग रखने की बात यदि मान ली जाय तो कभी कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन, समाज एवं राजनीति में हो ही नहीं सकता क्योंकि समाज का एक बहुत बड़ा भाग विद्यार्थियों एवं शिक्षकों का होता है। उनकी सहभागिता के बिना सामाजिक परिवर्तन होना अत्यन्त कठिन है। यदि 18 वर्ष की आयु के व्यक्ति को राजनैतिक अधिकार दिया जा सकता है तो उन्हें राजनीति से उदासीन कैसे रखा जा सकता है। इसलिए गांधी

जी द्वारा विद्यार्थियों का आह्वान उचित एवं तार्किक था।6

गांधी जी द्वारा समय समय पर राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक क्षेत्रों में विचारों का प्रतिपादन किया गया जिसका सार समाज के सभी वर्गों को विशेषतः विद्यार्थियों को अपनी स्वदेशी विचारधारा के साथ जोड़ना था। क्योंकि विद्यार्थी ज्ञान अर्जित करने के उपरांत यदि सामाजिक उन्नति के लिए कार्य नहीं करेगा तो उन्नत और आत्मनिर्भर भारत का निर्माण सम्भव नहीं हो पायेगा।[7] अंग्रेजी शिक्षा पद्धति तत्कालीन परिस्थितियों में एक विशेष वर्ग को तो फायदा पहुंचा सकती है लेकिन यह भारत की उन्नति में सहायक नहीं है। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान शैक्षिक परिवेश के अंतर्गत राजनीति के समावेश को गांधी ने महत्व प्रदान किया। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें तो गांधी के विचार इस संदर्भ में प्रासांगिक प्रतीत होते हैं।[8]

महात्मा गांधी के जीवन एवं चिन्तन का प्रमुख योगदान उनका बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम था। बुनियादी शिक्षा का कार्यक्रम उनके आत्म चिन्तन एवं व्यवहार का परिणाम था। महात्मा गाँधी बुनियादी शिक्षा के माध्यम से एक ऐसा स्वावलम्बी व्यक्ति समाज एवं राज्य की रचना करना चाहते थे, जो किसी भी प्रकार के आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रभुत्व से मुक्त हो महात्मा गाँधी ने जब बुनियादी शिक्षा का यह कार्यक्रम प्रस्तुत किया उस समय अंग्रेजी शासन का आर्थिक शोषण था।[9]

जनसाधारण को यह भ्रम है कि गाँधी जी के शिक्षा दर्शन और वर्धा शिक्षा योजना में कोई अन्तर नहीं है इसमें सन्देह नहीं कि वर्धा शिक्षा योजना उनके शिक्षा दर्शन का अभिन्न अंग है किन्तु इस एक योजना ही माननी चाहिये। उनके शिक्षा दर्शन का पर्याय नहीं समझ लेना चाहिये। रूसो की तरह गाँधी जी ने वर्धा शिक्षा योजना में बालकों को केन्द्रिय स्थान प्रदान किया।रूसो की ' एमिल' के अध्ययन के बिना ही उन्होंने बाल केन्द्रित शिक्षा दर्शन का विकास किया। बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए शारीरिक श्रम युक्त हस्तकौशल केन्द्रित शिक्षा को ही सर्वोत्तम साधन माना है। वे लिखते हैं कि मैं तो बच्चों की शिक्षा का आरम्भ उसे कोई उपयुक्त दस्तकारी सिखाकर अर्थात जिस क्षण से उसकी शिक्षा शुरू होती है, उसी क्षण से उसे कुछ न कुछ नया सृजन करना सिखाकर ही करूंगा। मैं मानता हूं कि इस पद्धति द्वारा मन और आत्मा का उच्च से उच्चतर विकास किया जा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि जो उद्योग धन्धे आज केवल अन्यत्र सिखाएं जाते हैं वे वैज्ञानिक ढंग से सिखाये जायें। यानि बच्चों को यह समझाया जा कि कौन सी क्रिया किस लिए की जाती है। इस चीज को में थोड़े आत्मविश्वास के साथ लिख रहा हूँ क्योंकि इसकी पीठ पर मेरे अनुभव का बल है।[10] यहीं गाँधी जी के शिक्षा दर्शन का निष्कर्ष है। वे सम्पूर्ण शिक्षा को व्यावसायिक, शारीरिक क्रियाओं से सम्बन्धित करना चाहते थे और पूरे पाठयक्रम को व्यावसायिक प्रशिक्षण में चारों ओर व्यवस्थित करना चाहते थे। श्री महादेव देसाई ने उनकी इसी धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'इसका अभिप्राय शारीरिक श्रम की शिक्षा से साहित्यिक शिक्षा की पूर्ति करना नहीं है अपितु शारीरिक श्रम की शिक्षा को साहित्यिक और बौद्धिक शिक्षा का साधन बनाना है।'[11]

गाँधी जी हस्तकौशल के माध्यम से शिक्षा को व्यस्थित कर इसे स्वावलम्बी भी बनाना चाहते थे क्योंकि वे समझते थे कि भारत जैसे निर्धन देश में सबके लिए शिक्षा तभी सम्भव होगी जब यह स्वावलम्बी होगी। वर्तमान में 29 जुलाई, 2020 को प्रतिपादित नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में स्वावलम्बन और आत्मनिर्भरता की भावना के समन्वय के आधार पर उन्नत भारत के निर्माण का विचार प्रतिपादित किया गया है। शिक्षा व्यवस्था के स्वावलम्बन से न केवल राष्ट्र और सयमाज का विकास होता है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी ये देश की प्रगति का सूचक है। बुनियादी शिक्षा योजना रोजगार के साथ-साथ स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न करती है और यह श्रम उपादेयता की शिक्षा के भार और व्यय को वहन करने में भी विद्यार्थी को सक्षम बनाती है।[12] इस सम्बन्ध में गांधी लिखते हैं कि ''जो दस्तकारियों बालकों की सिखायी जायेगी वे उनसे किसी प्रकार का उत्पादन कार्य कराने की मंशा से नहीं बल्कि उनकी बुद्धि के विकास करने के ख्याल से सिखाई जाएगी। इनमें कोई शक नहीं कि अगर सरकार 7 से 14 वर्ष के बच्चों की पढ़ाई को अपने हाथ में ले और उत्पादक कार्यों द्वारा उनके शरीर और मन का विकास करें तो यह पाठशालाएं अवश्य ही स्वालम्बी बन जायेगी। अगर वे स्वावलम्बी नहीं बन सकती तो मैं कहूंगा कि या तो पाठशालाएं ही नहीं है, या इनमें पढ़ाने वाले शिखक निरे बेवकूफ है।[13] आगे वे कहते है "बालक राज्य से कुछ पाते है उसका कुछ हिस्सा राज्य को वापस देने का तरीका उन्हें सिखाकर शिक्षा को स्वावलम्बी बनाना ही उनका मुख्य उद्देश्य था।''[14] बुद्धि के विकास का मुख्य साधन हाथ पैर की शिक्षा होनी चाहिये जिस कारण वे इस निर्णय पर पहुंचे कि हस्तकौशल के बिना बुद्धि का दुरूपयोग हो रहा है। हमारे लड़कों को कुछ पता ही नहीं चलता कि स्कूल छोड़ने के बाद उनको क्या करना होगा।[15] सच्ची शिक्षा तो वही कहीं जायेगी जो बालक की आध्यात्मिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों को प्रकट और उसका विकास करती हो। यदि उन्हें ऐसी शिक्षा मिले तो यह बेकारी के विरूद्ध एक बीमा होगा। हिन्दुस्तान के गाँवों की आवश्यकताओं को देखते हुए अगर हम गाँवों की शिक्षा को अनिवार्य बनाना चाहते है तो वह शिक्षा स्वावलम्बी ही होनी चाहिए। 14 वर्ष की उम्र में अर्थात 8वीं तक की पढ़ाई समाप्त करने के बाद जब बालक स्कूल से निकले तो उसमें कुछ कमाने की शक्ति उसमें आ जानी चाहिए। आज भी निर्धन वर्ग के विद्यार्थी गांधी के द्वारा प्रतिपादित शिक्षा योजना का पालन करते हुए प्रतीत होते हैं।[16]

उनके मन में यह ख्याल होता है कि अगर हम अपने माँ बाप के साथ काम न करेगें तो वे क्या खायेगें और क्या हम खिलायेगें\ इसी तरह सरकार सात साल की उम्र में बालक को अपने नियंत्रण में शैक्षिक दृष्टि से ले और उसे कमाऊ बनाकर वापस माँ-बाप को सौंप दें। इस तरह से शिक्षा व्यवस्था को स्वावलम्बी बनाकर आर्थिक लाभकारी बनाया जा सकता है।17 यह आवश्यक है कि प्रत्येक बालक को शिक्षा योजना उद्योग और हस्तकौशल के माध्यम से प्रदान की जाए। इससे बालक के मष्तिष्क, शरीर, साहित्य और कलाभिरूचि के विकास को बढ़ाया जा सकता है। बालक जो कारीगरी सीखेगा, उसका वह प्रयोग भी करेगा। प्राथमिक शिक्षा को मुफ्त, लाज़मी और असरदार बनाने का और कोई तरीका नहीं है। इसमें तो कोई शक

नहीं कि आजकल की जो प्राइमरी तालीम है वह एक फंदा है भ्रम है.... कुल मिलाकर देखा जाए तो मालूम होता है कि किसी एक या अनेक उद्योगों की शिक्षा लड़कों की शिक्षा लड़कों और लड़कियों के सर्वतोमुखी विकास का अच्छे से अच्छा साधन है इसलिए सारी पढ़ाई उद्योग की शिक्षा के साथ पास बैठाई जानी चाहिये। इस कल्पना के अनुसार जो प्राथमिक शिक्षा दी जायेगी वह कुल मिलाकर अवश्य स्वालम्बी होगी। हो सकता है कि पहले या दूसरे साल की पढ़ाई तक वह पूरी स्वावलम्बी न भी बने।[18]

आत्मनिर्भरता के अतिरिक्त सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना जागृत करना गाँधी जी के शैक्षिक विचारों की दूसरी निजी विशेषता है हस्तकौशल के माध्यम से शिक्षा द्वारा वे बालक को भौतिक और सामाजिक पर्यावरण की प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रत्यक्ष अनुभव प्रदान करना चाहते थे।[१९] वे कभी भी नहीं चाहते थे कि बालको को क्रियाहीन बातावरण में केवल शाब्दिक सूचनाएं ग्रहण करने का अवसर दिया जाय विद्यालयों के क्रियात्मक वातावरण में बालकों को प्रयोग अनुभव और अन्वेषण का अवसर देना चाहते थे। इसलिए सीखे और कमाओं का सिद्धान्त अपनाकर बालक के हाथ और मस्तिष्क के साथ ही उसे शिक्षित करना चाहते थे जिससे वह एक सफल और अच्छा नागरिक बनकर समाज की विकृत मनोवृत्ति को समाप्त करने के लिए अपनी बुद्धिजीविता का प्रयोग कर सके।[२०] अतएव उद्योग के माध्यम से श्रम का महत्व समझाना चाहते थे और शारीरिक और मानसिक समानता लाना चाहता थे। उन्होंने लिखा है ''हमें अपनी शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने है मस्तिष्क की शिक्षा हाथों द्वारा होनी आवश्यक है यह क्यों समझा जाय कि मस्तिष्क ही सब कुछ है, हाथ और पैर कुछ नहीं है जो अपने हाथों को प्रशिक्षित नहीं करते जो शिक्षा को यान्त्रिक रूप में ग्रहण करते हैं उनमें जीवन का मधुर संगीत उदार न हो और उदार शिक्षा वह नहीं जो तकनीकि न हो अर्थात ऐसी शिक्षा जो तकनीकी न हो पूर्ण शिक्षा नहीं है।''[२१]

निष्कर्षतः यह कहना उचित होगा कि गांधीजी का शिक्षा-दर्शन उनके जीवन-दर्शन या नैतिक, सामाजिक और आर्थिक दर्शन से अलग नहीं समझा जा सकता। जिस प्रकार जीवन के विभिन्न क्रियाकलापों को विभाजित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार उनके शिक्षा-दर्शन को जीवन-दर्शन से अलग नहीं किया जा सकता। यही एक मूल बात ऐसी है जो गांधी को अन्य महापुरूषों से अलग रखती है, क्योंकि जिस समग्रता से गांधी ने जीवन को देखा, उस समग्रता से अन्य किसी ने नहीं देखा। गांधी के शिक्षा दर्शन का सार विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया के आधार पर नैतिक और शोषण विहीन शिक्षा जो व्यावसायिकता के दर्शन पर आधारित हो देना मुख्य उद्देश्य था। गांधी की शिक्षा में आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन के सिद्धान्त को यदि स्वतंत्रता के बाद भारतीय शिक्षा पद्धति में अपनाया जाता तो निश्चित रूप से भारत आज जिस दौर में है उससे कहीं अधिक आत्मनिर्भर और विकसित होता। नई शिक्षा नीति 2020 कमोवेश गांधी की बुनियादी शिक्षा और आत्मनिर्भरता के दर्शन का वर्तमान परिवेश में परिवर्तित स्वरूप है।

सन्दर्भ

1.जोशी, शंभु मिथिलेश, गांधी दृष्टि के विविध आयाम, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, 2020, पृष्ठ 63

2.उपरोक्त, पृ. 65

3.नागर पुरूषोत्तम, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 2013, पृष्ठ 408

4.वर्मा, श्रीराम, भारतीय राजनीतिक विचारक, कॉलेज बुक सेंटर, जयपुर, 2019, पृष्ठ 398

5.हरिजन, 18 जनवरी 1942

6.यंग इंडिया, 2 जुलाई 1931

7.चतुर्वेदी, मधुकर श्याम, प्रमुख भारतीय राजनीतिक विचारक, कॉलेज बुक हाऊस, 2006, पृष्ठ 311

8.एम.के.गांधी, द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, माई एक्सपेरीमेंट्स विद टुथ, अहमदाबाद, 1956, पृष्ठ 239

9.मिश्रा अनिल दत्त, फंडामेन्टल्स आूफ गांधीज्म, मित्तल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ 22

10.गाँधी, मो.क., टू वर्डस न्यू एजूकेशन, नवजीवन प्रकाशन हाऊस, अहमदाबाद, 1953, पृष्ठ 36

11.सम्पूर्ण गांधी वाड्मय, खण्ड-टप्प्प्, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, 1962, पृष्ठ 22-23

12.एम.के. गांधी, सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका, प्रथम संस्करण, एस. गणेशन, मद्रास 1928, पृ. 173

13.ठाकुर गौरीकांत, महात्मा गांधी फिलॉसफी ऑफ सत्याग्रह, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, 1988, पृष्ठ 3

14.वही, खण्ड XVIII 1965, पृष्ठ 133

15.एम.के. गांधी, हिंद स्वराज और इंडियन होमरूल, द्वितीय संस्करण, नवजीवन, अहमदाबाद, 1958, पृ. 79

16.वर्मा, वी.पी.,द पॉलिटिकल फिलॉस्फी ऑफ महात्मा गांधी एण्ड सर्वोदय, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, चतुर्थ संस्करण, 1980-81, पृष्ठ 162

17.वही, पृष्ठ 166-167

18.मिश्रा, अनिल दत्त, फंडामेन्टल्स ऑफ गांधीज्म, मित्तल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ 22

19.वर्मा, श्रीराम, प्रमुख राजनीतिक विचारक, कॉलेज बुक सेंटर, जयपुर, पंचम संशोधित संस्करण, 2019-20, पृष्ठ 413

20.एम.के. गांधी, सत्याग्रह, नवजीवन अहमदाबाद, 1954, पृष्ठ 40

21.सम्पूर्ण गांधी वाड्मय, खण्ड XIV, पृष्ठ 254 और 268

माध्यमिक स्तर पर सांस्कृतिक दृष्टि से स्वदेशी और पाश्चात्य पाठ्यक्रम का अध्ययन

-डॉ.रामावतार
सहायक प्राध्यापक,
शिक्षा संकाय उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान (मानित विश्वविद्यालय),
गाँ.वि.म.सरदारशहर,(राजस्थान)
मो.9351046809

मुख्य शब्दः - संस्कार और आचरण, स्वदेशी और पाश्चात्य पाठ्यवस्तु, शिक्षा व्यवस्था, पादरी और कुलीन वर्ग, औपनिवेशिक सत्ता, वन्य समाज, कृषक और चरवाहे,

प्रस्तावना- मनुष्य जन्म के समय सजीव प्राणी मात्र होता है, धीरे-धीरे विभिन्न आयामों में उसका विकास होता है और एक नवजात अपने शैश्वकाल की अवस्था से बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और आगे की अवस्थाओं में बढ़ता है, परन्तु अकेले इन अवस्थाओं के मार्ग में विचरण से ही जीवन सम्पादित होने वाला नहीं है। एक बालक, समाज के लिए उचित संस्कारों से परिमार्जित व्यक्ति बने, समाज में नये उत्पाद प्रस्तुत करते समय, अपनी विरासत्कालीन संस्कृति व सभ्यता को मान्स में रखें, ताकि वह समाज के लिए एक आदर्श व्यक्ति बन कर अभिप्रेरणा का स्रोत बन सके। शिक्षा व्यवस्था से किसी समाज में आकांक्षानुरूप नागरिक तैयार करने की योजना का क्रियान्वयन किया जाता है। उसके लिए मार्गदर्शन-निर्देशिका की आवश्यकता होती है, यह मार्गदर्शन-निर्देशिका उस शिक्षा व्यवस्था का पाठ्यक्रम होता है, जिसमें भावी आकांक्षाओं को मद्देनजर रखते हुए वर्तमान वांछित सामाजिक प्रतिमानों को सहेज कर रखना, सिखाये जाने की पृष्ठभूमि तैयार की जाती है, ये प्रतिमान होते हैं- संस्कार और आचरण। शिक्षा और शिक्षाक्रम मानव जीवन के विभिन्न आयामों से जुड़ा हुआ प्रक्रम है,क्योंकि जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति एक सजीव प्राणी मात्र होता है, धीरे-धीरे उसका शारीरिक, मानसिक और सामाजिक तथा सांवेगिक विकास होता है, और समाज सम्मत सांस्कृतिक मूल्यों और प्रतिमानों को सीखता है। शिक्षा व्यवस्था में विभिन्न आयु, स्तरानुसार पाठ्यक्रम***(Guide-line)*** निर्धारित कर उसे सीखाया जाता है।

आज समाज, वैश्विक स्तर के साझा मंच पर स्थापित है, और पाश्चात्य तथा पूर्वात्य राष्ट्रों का आपसी समझौतों द्वारा जीवनशैली के प्रत्येक आयाम में शिक्षा के माध्यम से भविष्योन्मुख पाठ्यक्रम और पाठ्यवस्तु के सहारे वर्तमान को समझने के लिए अत्तीत को जानकर भावी आंकाक्षाएँ तय करने हेतु प्रत्येक समाज की विद्यालयी और उच्च शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाता है, जिससे वर्तमान पीढ़ी के संस्कार और सभ्यता की संस्कृति को परिमार्जित किया जा सके। मानव किसी भी काल, देश और सभ्यता में रहता है, लेकिन उसकी जीवनयात्रा में बहू-सांस्कृतिक आयाम और घटक उसे प्रभावित करते हैं।

जिससे वह अपने आपको परिमार्जित कर अच्छे संस्कारों को व्यवहार में सामान्यीकृत करता है। ये संस्कार आगामी पीढ़ियों में स्थानांतरित होते हैं, और एक श्रंखला बनकर किसी सभ्यता विशेष के सांस्कृतिक आयामों में प्रकाशित/प्रदर्शित होते हैं। स्वदेशी समाज ने प्राचीन काल से वर्तमान तक की सभ्यताओं में अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। सभ्यताएँ विलुप्त हुई परन्तु सांस्कृतिक आयाम उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होते चले आये हैं, आज स्वदेशी समाज में पाठ्यवस्तु के माध्यम से सुसंस्कृत भावी नागरिक तैयार करने की आकांक्षा को पूरा करने के लिए वर्तमान में प्रचलित माध्यमिक स्तर के सामाजिक विज्ञान विषय के पाठ्यवस्तु में विभिन्न सांस्कृतिक आयामों को उल्लेखित किया गया है, जिसमें स्वदेशी और पाश्चात्य पाठ्यवस्तु प्रमुख हैं।

आवश्यकता एवं महत्व-

प्रस्तुत शोधकार्य की आवश्यकता अनुभव की गई कि जब स्वदेशी समाज में वैदिक युग से आज तक शिक्षा व्यवस्थाऐं परिवर्तित होती रही हैं, जिससे सूक्ष्म-सूक्ष्म परिवर्तन आते रहे और इन परिवर्तनों ने समाज की सांस्कृतिक विरासत को किस प्रकार और कितना प्रभावित किया? को जानने तथा प्रभावों और परिवर्तन कालों में प्रचलित व्यवस्थाओं में शिक्षालयों का स्वरूप, संरचना, प्रशासन और पाठ्यवस्तु क्या था? और तात्कालिक परिस्थितियों में उसकी उपादेयता क्या थी\ कोई सत्ता समाज में जब अपनी विचारधारा का प्रसार करना चाहती है, तो वह किस प्रकार की पाठ्यवस्तु लागू करती है?

मुगलों के विध्वंसात्मक स्वरूप को अंग्रेजों ने बढ़ाया और स्वदेशी समाज की सांस्कृतिक विरासत को गर्त में धकेल दिया जिसको जानने और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी वह विषयवस्तु जो अपने शांत स्वरूप में पाठ्यक्रम निर्धारकों द्वारा शिक्षा व्यवस्था में शामिल की जा रही है, जो हमारी सांस्कृतिक दृष्टि से अनुपयुक्त है को जानने और विश्लेषित किये जाने के लिए इस शोधकार्य की आवश्यकता अनुभव हुई।

अध्ययन का औचित्य-

विद्यालय, पाठ्यवस्तु और शिक्षक एक शिक्षा व्यवस्था में तीन शीर्ष होते है, जिनके बीच प्रभाव क्षेत्र में संस्कारों का परिमार्जन होता रहता है और समाज में एक नया सांस्कृतिक स्वरूप तैयार होता रहता है। वैदिक युग से ही स्वदेशी समाज में शिक्षा व्यवस्था निर्धारित थी, तथा विभिन्न आयामों वाली शिक्षा प्रदान करने का निश्चित प्रारूप था। यद्यपि शिक्षार्थी गुरू आश्रमों में आवासीय शिक्षा लेते थे, परन्तु

ए. एलिन (2010) ने ''सामाजिक समरसता, बहुसांस्कृतिकवाद और वैश्विकीकरण'' शीर्षक पर पी-एच.डी. स्तरीय शोधकार्य किया। शोध के निष्कर्ष के रूप में पाया कि सामाजिक समरसता और बहूसांस्कृतिकवाद के मुख्य तथ्य बहुलतावादी रूप (बहुमतवादी) लोकतंत्र, कानून राज्य, मानवाधिकार आदि माने गये। वर्तमान वर्षों में विशेषकर इस अवधारणा पर चर्चा रही कि सामाजिक

समरसता की बहुसांस्कृतिकवाद में महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

Vladislav Dekalov, Grigoryeva Kristina & Uskova Dinal (2017) ″Cultural Experts and Communicative Capitalism: Transformation of Communicative Practices″ Conclusion- Cultural experts become independent actors on the Internet and take part in attention distribution processes, which determine communicative practices applied.

Vladislav Dekalov, Grigoryeva Kristina & Uskova Dinal (2017) ″Cultural Experts and Communicative Capitalism: Transformation of Communicative Practices″ Conclusion- Cultural experts become independent actors on the Internet and take part in attention distribution processes, which determine communicative practices applied.

माध्यमिक स्तर की पाठ्यवस्तु का अध्ययन-

समाज		
प्रथम एस्टेट	द्वितीय एस्टेट	तृतीय एस्टेट
पादरी वर्ग	कुलीन वर्ग	व्यवसायी, व्यापारी , अदालती, कर्मचारी, वकील किसान और कारीगर), (छोटे किसान, भूमि –हीन मजदूर, नौकर)

1. फ्रांस में समाज के लोग बंटे हुए थे, परिणामतः आर्थिक स्तर भी अलग-अलग थे, प्रथम एस्टेट के पादरी और कुलीन वर्ग सम्पन्न था, और उनको विशेषाधिकार प्राप्त थे इसके विपरीत तीसरे एस्टेट के लोगों को अनेक कर चुकाने पड़ते थे, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति बदत्तर हो रही थी।

2. कर प्रणाली के कारण आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं थी सभी लोग भयग्रस्त थे।

3. उच्च वर्ग का धीरे-धीरे सर्वहाराकरण हो रहा था।

सांस्कृतिक दृष्टि से पाठ्यवस्तु का अध्ययन

पाठ्यपुस्तक का नाम	इकाई / उपइकाई का नाम	अध्ययन का आयाम / घटक
भारत और समकालीन विश्व–1	1. फ्रांसिसी क्रान्ति 2. यूरोप में समाजवाद एवं रूसी क्रान्ति	भौगोलिक ऐतिहासिक

1. सामंतो का शासन एवं शोषित जीवन होने के बावजूद भी बौद्धिक वर्ग को संरक्षण एवं दार्शनिकों का सम्मान था।

2. किसानों और मजदूरों का सामंतो द्वारा शोषण किया जा रहा था, खेतीहर जमीन को औद्योगिक भूमी में परिवर्तित किया जा रहा था।

स्वदेशी पाठ्यवस्तु का अध्ययन.

	स्वदेशी पाठ्यवस्तु
भौगोलिक	1. भारत में राष्ट्रवाद, शिल्कमार्ग, अन्तर राष्ट्रीय मार्ग 2. भारत के वन और औपनिवेशिक वन प्रबंधन

1. प्राचीन काल में भारत से पश्चिमी सभ्यताओं को मसाले, रेशमी-वस्त्र, मलमल, ऊन और अन्य उपयोगी वस्तुओं का निर्यात होता था।

2. औपनिवेशिक सत्ता स्थापित होने के कारण वनों और कृषि कार्यों को नियंत्रित किया गया जिसके कारण वन्य समाज, कृषक और चरवाहों को आजीविका की समस्या का सामना करना पड़ा।

पाश्चात्य पाठ्यवस्तु का अध्ययन

आयाम	पाश्चात्य पाठ्यवस्तु
भौगोलिक	1. यूरोप, फ्रांस, चीन, पुर्तगाल रूस का भौगोलिक स्वरूप 2. अन्तर्राष्ट्रीय रेशम मार्ग

1. यूरोपीय देशों के लोग तंगहाली में थे, अतः रोटी, कपड़ा, आवास की व्यवस्था जुटा पाना मुश्किल था, इसलिए रोजगार के नये अवसरों की तलाश में जहाजों में सवार होकर पूर्वात्य महाद्विपों के लिए निकल पड़े।

2. इंग्लैण्ड में भी औद्योगीकरण से पूर्व ग्रामीण जीवन-शैली थी।

3. सत्ता के विकेन्द्रीकरण की आधुनिक संकल्पना फ्रांस की क्रान्ति से वर्तमान स्वरूप में आयी।

4. अफ्रिका, इण्डोनेशिया और वियतनाम भी भारत की तरह पाश्चात्यों के उपनिवेश थे।

सम्प्राप्तियाँ-

18वीं सदी में फ्रांसिसी समाज तीन एस्टेट में बंटा था- तीसरे एस्टेट के सभी लोगों को कर चुकाना होता था। जॉन लॉक ने अपने 'टू ट्रीटाइजेज ऑफ गवर्नमेंट' में राजा के दैवीय और निरंकुश अधिकारों के सिद्धान्त का खंडन किया था और जिन जैक रूसो ने अपने 'सामाजिक समझौता' में जनता और उसके प्रतिनिधियों में अनुबंध पर आधारित सरकार का प्रस्ताव रखा। मॉन्टेस्क्यू ने 'द स्पिरिट ऑफ द लॉज' नामक रचना में सरकार के अन्दर

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच सत्ता विभाजन किया।

1918 से 1919 में रूसी साम्राज्य के ज्यादातर हिस्सों पर सामाजिक क्रान्तिकारीयों (ग्रीन्स) और जार-समर्थकों (व्हाइट्स) का ही नियंत्रण रहा। उन्हें फ्रांसिसी, अमेरिकी, ब्रिटिश और जापानी टुकड़ियों का भी समर्थन मिल रहा था। बॉल्शेविकों की शासन संचालन व्यवस्था से यूरोप की समाजवादी पार्टियाँ बहुत सहमत नहीं थी।

आर्थिक संकट के दौरान लोग बेचैन और भयग्रस्त थे। मध्यम वर्ग और वेतनभोगियों को सर्वहाराकरण का भय था, सन् 1889 में ऑस्ट्रिया में जन्म हिटलर का बचपन और युवावस्था बेहद गरीबी में गुजरी थी। हिटलर की नस्ली सोच चार्ल्स डार्विन के प्राकृतिक चयन की अवधारणा तथा हर्बर्ट स्पेंसर के 'अति जीविता' सिद्धान्त पर आधारित थी। नात्सी विचारधारा के माध्यम से बार-बार अवगत करवाया जाता था, कि औरतें बुनियादी तौर पर मर्दों से भिन्न होती हैं। औरत-मर्द के लिए सम्मान अधिकार का संघर्ष गलत है। यह समाज को नष्ट कर देगा।

निष्कर्ष-

1. फ्रांस में समाज के लोग बंटे हुए थे, परिणामतः आर्थिक स्तर भी अलग-अलग थे, प्रथम एस्टेट के पादरी और कुलीन वर्ग सम्पन्न था, और उनको विशेषाधिकार प्राप्त थे इसके विपरीत तीसरे एस्टेट के लोगों को अनेक कर चुकाने पड़ते थे, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति बदत्तर हो रही थी।

2. कर प्रणाली के कारण आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं थी सभी लोग भयग्रस्त थे।

3. उच्च वर्ग का धीरे-धीरे सर्वहारीकरण हो रहा था।

4. निरंकुश और दैवीय शासन प्रणाली के विरुद्व क्रान्ति की लहर गाँव-गांव और देहातों में जागिरदारों के विरूद्ध फैल गई।

सुझावः-

अध्यापको के लिए सुझाव-

1.अध्यापकों को पाठ्यचर्या के पाठ्यवस्तु में संकलित सांस्कृतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के प्रयास करने चाहिए।

2.अध्यापक अपने अनुभव और संकलन द्वारा स्वदेशी पाठ्यवस्तु को स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहिए।

3.अध्यापक द्वारा उत्कृष्ट भाषा शैली के माध्यम से पाठ्यवस्तु को स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहिए।

अभिभावकों के लिए सुझाव-

1.अभिभावक बालकों में सांस्कृतिक दृष्किोण विकसित करने का हर संभव प्रयास करें।

2.अभिभावकों द्वारा बालकों में स्वदेशी सांस्कृतिक दृष्टिकोण विकसित करने के लिए, उचित अवसर उपलब्ध करवाये जाने चाहिए।

3.अभिभावकों द्वारा स्थानीय और स्वदेशी सांस्कृतिक अवसरों में बालकों की सहभागिता का प्रयास किया जाना चाहिए।

विद्यार्थियों हेतु सुझाव-

1.अभिभावकों के साथ सांस्कृतिक उत्सवों में भाग लेना चाहिए।

2.विद्यार्थियों को सांस्कृतिक दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास करना चाहिए।

3.विद्यार्थियों को स्वदेशी और पाश्चात्य पाठ्यवस्तु की मूल अवधारणा समझने के प्रयास करने चाहिए।

4.विद्यार्थियों द्वारा विभिन्न सांस्कृतिक आयामों को समझने का प्रयास करना चाहिए।

भावी शोध हेतु सुझाव-

1.माध्यमिक स्तर पर सांस्कृतिक दृष्टि से स्वदेशी पाठ्यवस्तु का अध्ययन करना।

2.माध्यमिक स्तर पर सांस्कृतिक दृष्टि से पाश्चात्य पाठ्यवस्तु का अध्ययन करना।

3.माध्यमिक स्तर पर स्वदेशी एवं पाश्चात्य पाठ्यवस्तु का तुलनात्मक अध्ययन करना।

4.माध्यमिक स्तर पर सांसकृतिक दृष्टि से विषयवस्तु का अध्ययन करना।

5.माध्यमिक स्तर के पाठ्यक्रम का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करना।

संदर्भ :-

1.त्यागी, जी.एस.डी., पाठ्क, पी.डी.(2008).भारतीय शिक्षाकी सम-सामयिक समस्याएँ. आगराः विनोदपुस्तक मन्दिर.

2.शर्मा, शारदा (2009). भारत में शिक्षा का विकास. वाराणासीः रवि प्रकाशन.

3.भटनागर, सुरेश. कुमार,संजय एवं सक्सैना, अनामिका (2007). भारत में शिक्षा व्यवस्था का विकास. मेरठः आर.लाल.बुक डिपो.

4.अग्निहोत्री, रवीन्द्र (2008). आधुनिक भारतीय शिक्षाः समस्याएँ और समाधान. जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी.

5.शेखावत, श्यामसुन्दर (2005).भारत में शैक्षिक व्यवस्था का विकास.जयपुरः श्री कविता प्रकाशन. 06

6.वर्मा, अजय कुमार (2009). भारत में शिक्षा का विकास. वाराणसीः विजय प्रकाशन मन्दिर

7.दीक्षित,सोमदत्त (2015, सितम्बर). श्रीगुरूजीका छाया पंडित दीनदयालजी. विद्या भारती प्रदीपिका. नई दिल्लीः नारायणा इण्डस्ट्रियल एरिया फेज 1 अंक-04 39

8.भटनागर, अवनीश (2014,दिसम्बर).बाजारीकरण से शिक्षा को कैसे मुक्त करें. विद्या भारती प्रदीपिका. नई दिल्लीः नारायणा इण्डस्ट्रियल एरिया फेज 1 अंक-01 31

9.भारतीय शिक्षा शोध पत्रिका(2001, जनवरी-जून). लखनऊः निरालानगर, सरस्वती कुँज. अंक-01, 115-116

10.अध्यापक साथी (2005) Vol. 01 No. 4 Page No. 32&40

11.शिक्षक अन्तर्दृष्टि (जनवरी-अप्रेल 2015). वर्ष-2 अंक 4-5 पृ.स. 23-25

12.शाही,आशुतोषकुमार http;//hdl.handle.net/10603/171244 p.247

13.चौधरी, राधाकृष्णन (1985) ''प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास'' पटना. भारतीय भवन.

समाज और संस्कृति का अंतःसंबंध

-डॉ.मीना
एसेसिएट प्रोफेसर,हिंदी विभाग,
गार्गी कॉलेज,दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

संस्कृति समाज की निर्मिति में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। किसी भी समाज का आधार वहां की संस्कृति होती है। संस्कृति जीने का एक ढ़ंग है। वास्तव में किसी भी समाज का प्रारूप उसकी सांस्कृतिक पहचान का ही प्रतिफलन होता है। जो संस्कृति कोमलता , प्रेम , दया का प्रसार करती है , वहां समाज में भी उसी प्रकार की भावुकता और संवेदना अधिक पाई जाती है। जबकि जहां संस्कृति में कठोरता , श्रम , युद्ध के लिए स्थान होता है , वहां उसी के अनुरूप समाज भी युद्ध प्रिय , अक्खड़ बन जाता है। स्पेंगलर ने संस्कृति पर विचार करते हुए माना है कि प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशिष्टता होती है। उसकी एक आत्मा और अभिव्यक्ति की एक विशिष्ट शैली होती है जो समाज के आचारों विचारों में झलकती है ।

देखा जाए तो विशाल फलक है संस्कृति का और इसे शब्दों में बांधना जरा कठिन है। मौटे तौर पर संस्कृति का तात्पर्य कुछ इस प्रकार के प्रश्नों से है , मनुष्य कैसे अपना जीवन निर्वाह करता है , कैसे जीविकोपार्जन करता है , वह कैसे-कैसे मकान में रहता है व किस प्रकार अपनी बुद्धि का उपयोग करता है , कैसे और कौन-कौन सी वस्तुएँ वह तैयार करता है , बनाता है या पैदा करता है। उसमें कितना ज्ञान है , वह अपने साथियों , सहयोगियों व परिजनों तथा समाज-परिवार में कैसा व्यवहार करता है , उसका रहन-सहन कैसा है , वह अपने समय का उपयोग कैसे करता है इत्यादि। [1]

संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषाएं –

'संस्कृति' शब्द जितना बहुप्रयुक्त है और जितना हमारे जीवन में घुल-मिला है , इसका अर्था जानना उतना ही कठिन है ' जो वस्तु हमारी आँखों के अधिक निकट होती है , उसे देख पाना कठिन ही होता है।' कुछ विद्वान सुसंस्कारों के समूह को संस्कृति कहते है तो कुछ इसका संबंध वेश-भूषा , भाषा , कला आदि से मानते हैं ' संस्कृति से हम चिरपरिचित हैं , किन्तु उसके स्वरूप से हमें पूर्ण परिचय नही है। संस्कृति क्या है ? और उसका निर्माण कैसे होता है ? आदि प्रशन हमारे सामने उपस्थित होते हैं तो उन पर दृष्टि डालते हुए इसके अर्थ को जानेंगें -

संस्कृति शब्द 'कृ' धातु पर आधारित है। इसके पूर्व 'सम' उपसर्ग और कृति के योग से संस्कृति शब्द बनता है , जिसका मूल अर्थ 'साफ या परिष्कृत करना' है। पाणिनी के नियमानुसार सम उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से भूषण अर्थ में सुट के आगम और क्तिन प्रत्यय के योग से संस्कृति शब्द बनता है ' सम+कृति= संस्कृति – इस अन्वय में समगति का द्योतक है यह अत्यंत महत्वपूर्ण उपसर्ग है निरूक्त कार यास्क ने सम को सर्वव्यापक के अर्थ में लिया है – समित्येकी भाव (1.3.15 निरूक्त) की कृति संस्कृति है। बिना समेकित भाव के संस्कृति नही होती ' [1] हिन्दी शब्द सागर में संस्कृति के शुद्धि , सफाई , संस्कार , सुधार , मानसिक विकास , सजावट , सभ्यता , शाइस्तगी आदि अर्थ बताए गए हैं। [2]

हिन्दी में यह शब्द अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है , जो कि 'कल्टिवेट' से व्युत्पन्न है। इसका संबंध कृषि से जुड़ता है। डॉ. प्रसन्न कुमार आचार्य का मत रेखांकनीय है। वे लिखते हैं कि कल्टिवेशन का अर्थ कृषि है। भूमि की प्राकृतिक अवस्था को परिष्कृत करना ही कृषि का उद्देश्य है। कृषि की विभिन्न पद्धतियों द्वारा भूमि का परिष्कार किया जाता है रोड़े कूड-कर्कट और घास-तिनके हटाकर भूमि शुद्ध की जाती है , जिससे भूमि उर्वरा बनती है । भूमि की भांति मनुष्य की मानसिक और सामाजिक अवस्थाएं भी विकसित हुआ करती हैं। [3] 'संस्कृति' शब्द में संस्कार का भाव निहित है। व्यक्ति का परिवेश , आचार-विचार सब मिल कर उस पर बीज रूप में जो संस्कार डालते हैं , वही कालांतर में उस व्यक्ति और उन व्यक्तियों से बनने वाले समाज की संस्कृति के रूप में फलीभूत होते हैं। [4]

डॉ. भगवत शरण उपाध्याय ने संस्कार शब्द से इसकी व्युत्पत्ति मानी है। संस्कार से तात्पर्य है कच्ची धातु को शुद्ध करना , उसे धो-पोंछकर , कांट-छांटकर , रगड़कर पालिश कर चमका देना। अर्थात वस्तु में संशोधन करना , परिष्कार करना और उत्तम बनाना । इसी प्रकार मनुष्य को जो आदिमकाल से ही संस्कारहीन रहा है उसके शरीर और मन का सर्वागीण संस्कार उसे सुसंस्कृत बनाता है। [5]

संस्कृति की असंख्य परिभाषाएं प्रकाश में आ चुकी है। ए. एल . कोबर ने इन परिभाषाओं का एक पृथक ग्रंथ ही प्रकाशित करवाया है। ये परिभाषाएं मानव शास्त्र ,समाज शास्त्र , मनोविज्ञान आदि विभिन्न क्षेत्रों के भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं , इनमें कुछ परिभाषाएं इस प्रकार है।

रामधारी सिंह दिनकर 'संस्कृति के चार अध्याय' के अंतर्गत संस्कृति पर चर्चा करते हुए बताते हैं –"असल में संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है और यह

तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं...........संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है।"[6]

वासुदेव शरण अग्रवाल - "संस्कृति मनुष्य के भूत , वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है , हमारे जीवन का ढ़ंग हमारी संस्कृति है।"[7]

सुमित्रानंदन पंत – " संस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूँ जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म – स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व चेतना शिखर का प्रकाश और समदिक जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छायाएं गुम्फित हैं। उसके भीतर अध्यात्म , धर्म, नीति तथा व्यवहारों का सौन्दर्य भी एक अन्तर सामंजस्य ग्रहण कर लेता है।"[8]

टी.एस.इलियट का कहना है – "संस्कृति शब्द से मेरा आश्य एक स्थान में रहने वाले विशेष व्यक्तियों के समुदाय के रहने के ढ़ग से है उनके सामाजिक आचार-विचार , स्वभाव , आदत , रिवाज , कला सबमें संस्कृति के दर्शन होते हैं यद्पि हम सुविधा के लिए इन सब गुणों एवं व्यापारों के समूह को संस्कृति कह देते हैं पर वास्तविक रूप में यह संस्कृति नही संस्कृति के अंग हैं जिस प्रकार शारीरिक अंगों का समूह मानव नही , अपितु मानव इन सबके अतिरिक्त भी कुछ और है , उसी प्रकार संस्कृति भी रीति-रिवाज, रहन –सहन , कला ,धार्मिक विश्वास आदि क्षेत्रों में सीमित नही हो सकती।"[9]

राहुल सांकृत्यायन –एक पीढ़ी आती है , वह अपने आचार-विचार , रूचि-अरूचि, कला –संगीत , भोजन-छाजन या किसी और दूसरी आध्यात्मिक धारणा के बारे में कुछ स्नेह की मात्रा अगली पीढ़ी के लिए छोड़ जाती है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी और आगे बहुत- सी पीढ़ियां आती-जाती रहती हैं और सभी अपना प्रभाव या संस्कार अगली पीढ़ी पर छोड़ती जाती है। यही प्रभाव संस्कृति है।[10]

टाइलर –"संस्कृति अपने भीतर ज्ञान,विश्वास, कला , नैतिक विधि-विधान , रीति-रिवाज तथा अन्य इसी प्रकार की शक्तियों को समाहित किए हुए है , जिन्हें मनुष्य एक समाज का सद्स्य होने के नाते ग्रहण करता है।"[11]

हम देखते हैं कि संस्कृति परम्परा से प्राप्त होती है और नित नए-नए अनुभवों से युक्त होकर अपना संवर्द्धन करती चलती है। मनुष्य समाज में रह कर ही संस्कृति को सीखता और संप्रेषित करता है। संस्कृति मानवीय जीवन का अभिन्न अंग है। यह संस्कृति ही है जो मनुष्य को शेष प्राणी जगत से विशिष्ट कोटि का स्थान प्रदान करती है। दूसरे शब्दों में , पशु से मानव तक की यात्रा संस्कृति के मार्ग से ही तय होती है। कहा जा सकता है कि जो जितना संस्कृत है , वह उतना ही मानव है।"[12]

महान वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्सटाईन का यह कहना विशेष अर्थ रखता है - "वह व्यक्ति की संस्कृति ही है जो उसकी आत्मा को मांझकर दूसरों के उपकार के एवज उसे नम्र और विनम्र बनाती है। संस्कृति ही आत्मा के बाह्य सौंदर्य को विकसित करती है। संस्कृति की कमी ही व्यक्ति को कुरूप और विकृत बना देती है।

संस्कृति एक समग्र समाज की कारयित्री अथवा निर्मात्री प्रतिभा होती है जो व्यक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त होती है , कार्यक्षम होती है ,क्रियाशील होती है। सचमुच वही संस्कृति , जो व्यक्ति- चरित्र का गठन करती है उसे अद्वितीय रूप देती है। फिर उसी व्यक्ति में से बहती हुई पूरे समाज का अभिषेक करती है। यही संस्कृति की सृजनशीलता है।

पं. जवाहर लाल नेहरू ने संस्कृति की अनेक परिभाषाओं से परेशान हो कर एक महत्वपूर्ण बात कही है , "संस्कृति कुछ ऐसी चीज है जो बुनियादी और अंतर्राष्ट्रीय है।" यह जो दूसरा शब्द है अंतर्राष्ट्रीय तो स्पष्ट ही यह कहता जान पड़ता है कि संस्कृति अपनी व्याप्ति में सार्वभौम है ! वह सब मानवों की है , मात्र किसी एक मानव समूह या दल या व्यक्ति से उसका संबंध नही है।

ये जो इतनी परिभाषाएं दी है कि संस्कृति को समझने की परन्तु कितना कठिन है संस्कृति को शब्द देना। शब्द कोश देखेंगे तो और भी परिभाषाएं मिल जाएंगी जैसे , "संसार- भर में जो भी सर्वोतम बातें जानी या कही गयी उनसे अपने आप को परिचित करना संस्कृति है।" हमें ऐसा लगता है कि 'संस्कृति' एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ हम समझते तो हैं पर उसे भाषा के माध्यम से व्याख्यायित नही कर पाते। भाषा यहां अपंग हो जाती है क्योंकि वह शब्द अपने में इतना कुछ संजोए है कि शब्द देकर हम उसे सीमित कर देते हैं , बांध देते है या कहें कि निर्देशित कर देते हैं और उसका परिणाम यह होता है कि अर्थ की सहजता सीमित ही रहती है।" 13

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कृति मनुष्य के व्यवहार को न केवल प्रभावित करती है अपितु प्रतिबिंबित भी करती है। संस्कृति को व्यक्त करने के अनेक साधन हैं यथा – भाषा , शिक्षा और संगीत। जहां मनुष्य है , वहां संस्कृति का निवास है। व्यक्ति जाने-अनजाने अपनी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष क्रियाओं द्वारा अपनी संस्कृति को दर्शाता है । भारतीय व्यक्ति को विदेश जाकर किसी तमगे को लटकाकर यह दर्शाने की आवश्यकता नही होती। हमारी वेश भूषा से लेकर माथे पर लगी हुई एक बिंदी हमारी संस्कृति को दर्शा देती है। संस्कृति स्वयं से अपनी पहचान कराने की शक्ति का नाम है। आज जब हम संस्कृति के हजारों वर्ष पुराने होने पर गौरवांवित होते हैं तो उसका आधार यह नही कि उसके स्थायित्व और उसके मूल्यों को हमने महसूस किया है। महसूस ही नही बल्कि उसके मूल्यों को जिया है।

संस्कृति के भेद –

काल के पैमाने पर संस्कृति के तीन भेद बताए गए है - शाश्वत , युगीन

और क्षणिक। शाश्वत संस्कृति प्रकृति द्वारा संचालित काल अर्थात संवत्सर से पर्वों-त्योहारों में व्यक्त होती है। दूसरी है युगीन संस्कृति यह राज्य व्यवस्था और राजकीय प्रश्रयों के समानान्तर विकसित होती है। तीसरी है क्षणिक संस्कृति , यह बाज़ार के तीव्र परिवर्तनों से प्रभावित रहती है। यही उपभोक्ता संस्कृति कही जाती है। इस पर देशी-विदेशी उत्पादों का असर पड़ता है। अज यही सबसे अधिक भूमंडलीकृत हुई है।" [14]

हम यह भी देखते है कि संस्कृति का प्रयोग प्राय: किसी दूसरे से जुड़कर होता रहा है जैसे धर्म या जाति से आर्य –संस्कृति , हिन्दू-संस्कृति , मुस्लिम-संस्कृति , बौद्ध-संस्कृति , जैन-संस्कृति , आदिवासियों की संस्कृति , देश या स्थान से जोड़ें तो पूर्व की संस्कृति , पश्चिम की संस्कृति ,रूसी संस्कृति , भारतीय संस्कृति,चीनी संस्कृति , जापान की संस्कृति ,मिश्र की संस्कृति , यूनान की संस्कृति। जितने देश , जितने खण्ड , उतनी ही संस्कृति , काल से जोड़कर भी हम इस शब्द का अध्ययन करते हैं जैसे आदि मानव की संस्कृति , मध्यकालीन –संस्कृति , आधुनिक युग की संस्कृति।" [15]

संस्कृति एक देश से दूसरे देश की , एक जाति से दूसरी जाति की , एक समुदाय से दूसरे समुदाय की , एक कुटुंब से दूसरे कुटुंब की , यहां तक की एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की भी पृथक हो सकती है और यह संस्कृति सदा अच्छी हो ऐसा नहीं , बुरी हो ऐसा भी नही , बुरी और अच्छी दोनों भी हो सकती है। "[16] जब हर संस्कृति एक स्वतंत्र कार्यात्मक ईकाई है ,तो न तो किसी संस्कृति को श्रेष्ठ कहा जाना चाहिए और न हीन , न तो महत्वपूर्ण और न महत्व रहित।

मनुष्य संस्कृति का सहारा लेता है क्योंकि संस्कृति मनुष्य को जोड़ती है , तोड़ती नही क्योंकि वह दूसरों के लिए जीने की प्रेरणा में से रूप लेती है। संस्कृति में समाज कल्याण और आध्यात्मिक जीवन की प्रगति की भावना भी सन्निहित रहती है। संस्कृति व्यक्ति और समाज को निरन्तर आगे बढ़ाने के लिए प्रेरित करती है। भौतिक जीवन देश काल से प्रभावित होता है , परन्तु संस्कृति देश काल से अनुप्राणित होते हुए भी इससे निरपेक्ष रहती है और सतत उच्च मानवीय मूल्यों की प्रसारिका का दायित्व निभाती है। समाज विशेष की संस्कृति को सामाजिक आचार-विचार , गीत-संगीत-नृत्य , कल-साहित्य ,रीति-रिवाज , व्रत-पर्वोत्सव, नीति-धर्म, अध्यात्म-कला आदि के माध्यम से सहज ही जाना जा सकता है।" [17]

समाज की अवधारणा -

समाज शब्द संस्कृत के दो शब्दों सम् एवं अज से बना है। सम् का अर्थ है इक्ट्ठा व एक साथ अज का अर्थ है साथ रहना। इसका अभिप्राय है कि समाज शब्द का अर्थ हुआ एक साथ रहने वाला समूह। व्यक्तियों के समूह के एक स्थान पर एकत्रित हो जा ने मात्र से ही समाज नही बनता अपितु इसके लिए आपसी सहयोग एवं सुव्यवस्था की भी आवश्यकता होती है। जलसे , जुलूस , रेलवे स्टेशन , बस स्टैंड , बाज़ार , धार्मिक स्थल अथवा किसी दंगे फसाद आदि के लिए एकत्रित भीड़ को हम समाज नही कह सकते। भीड़ किसी घटना विशेष में एक साथ भाग लेती हैं। इनका अस्तित्व अस्थाई होता है। कुछ समय के बाद ये बिखर जाते हैं। समाज के लिए विचारों की, एक सोच की जरूरत होती है जो सामाजिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेती है और राजनीतिक मुद्दों पर अपना मत रखती है , और समय-समय पर उसमें परिवर्तन करने के लिए संघर्ष भी करती है।

समाज तो एक ही होता है ; और उसमें रहने वाले लोग नाना धर्मों , नाना जातियों , नाना रूचियों ,नाना आचारों और विचारों के होते हैं। सही-सही कहें तो विभिन्न संस्कृतियों , बहुरंगियों रूचियों , अनेक जातियों , अनेक दृष्टिकोणों वाले मनुष्यों की आन्तरिक संघटना तत्त्वत : एक है और इस तात्त्विकता को उद्धावित तथा उद्धासित कराने का काम संस्कृति का है। [18]

समाज की परिभाषा विद्वानों ने भिन्न भिन्न रुप में की है। कुछ मुख्य परिभाषाएं इस प्रकार है -

टालकाट पार्सन्स के शब्दों में - समाज को पुनः मानवीय संबंधों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। जो साधन तथा साध्य के संबंध द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न होते हैं। वह चाहे वास्तविक हो या प्रतिकात्मक।

मैकाइवर और पेज--- ने समाज को थोड़े अधिक स्पष्ट रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार समाज रीतियों तथा कार्य प्रणालियों की अधिकार तथा पारस्परिक सहयोग की अनेक समूहों और विभागों की मानव व्यवहार के नियंत्रण और स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है इस सतत परिवर्तनशील व्यवस्था को हम समाज कहते हैं।

लापियर--- महोदय द्वारा प्रस्तुत परिभाषा अपने में संक्षिप्त भी है और स्पष्ट भी। उनके शब्दों में समाज से तात्पर्य व्यक्तियों के समूह से नहीं अपितु समूह के व्यक्तियों के बीच होने वाली अंतर्क्रिया की जटिल व्यवस्था से है। [19]

प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु के कथनानुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के बिना नही रह सकता। वह समाज का एक अंग है , सद्स्य है।उसका विकास समाज में ही संभव है। यह भी निर्विवाद सत्य है कि मानव जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त समाज पर ही अपनी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आश्रित रहता है।

समाज एक से अधिक लोगों के समुदाय को कहते हैं जिसमें सभी व्यक्ति मानवीय क्रियाकलाप करते है। मानवीय क्रियाकलाप में आचरण, सामाजिक सुरक्षा

और निर्वाह आदि की क्रियाएं सम्मिलित होती है। समाज लोगों का ऐसा समूह होता है जो अपने अंदर के लोगों के मुकाबले अन्य समूहों से काफी कम मेलजोल रखता है। किसी समाज के अंतर्गत आने वाले व्यक्ति एक दूसरे के प्रति परस्पर स्नेह तथा सहृदयता का भाव रखते हैं। दुनिया के सभी समाज अपनी एक अलग पहचान बनाते हुए अलग-अलग रस्मों-रिवाज़ों का पालन करते हैं।

समाज के अंतर्गत अनेक पक्ष आते हैं। धर्म , आचार-विचार , विश्वास, रीति-रिवाज तथा परम्पराएं समाज का अभिन्न अंग है। प्रत्येक समाज का जीवन , उसका रहन- सहन ,उसका चिंतन , उसके आदर्श और जीवन- मूल्य और उसका समस्त परिवेश –सामाजिक ,बौद्धिक तथा नैतिक –संस्क्रित की सीमा के अंतर्गत आते हैं , किंतु यह सब कुछ किसी समाज को एक समान स्तर का सहज ही उपलब्ध नही हो जाता। इसे कोई समाज युगों के तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी के प्रयत्नों से अर्जित करता है। इस अर्जन की प्रक्रिया ने ही संस्कृति को जानने-समझने के सूत्र दिए हैं।" [20]

मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। मनुष्य ने अपने लम्बे इतिहास में एक संगठन का निर्माण किया है। वह ज्यों-ज्यों मस्तिष्क जैसी अमूल्य शक्ति का प्रयोग करता गया, उसकी जीवन पद्धति बदलती गयी और जीवन पद्धतियों के बदलने से आवश्यकताओं में परिवर्तन हुआ और इन आवश्यकताओं ने मनुष्य को एक सूत्र में बाधना प्रारम्भ किया और इस बंधन से संगठन बने और यही संगठन समाज कहलाये और मनुष्य इन्हीं संगठनों का अंग बनता चला गया। बढ़ती हुई आवश्यकताओं ने मानव को विभिन्न समूहों एवं व्यवसायों को अपनाते हुये विभक्त करते गये और मनुष्य की परस्पर निर्भरता बढ़ी और इसने मजबूत सामाजिक बंधनों को जन्म दिया।

समाज से व्यक्ति की महत्ता कम नही होती बल्कि बढ़ती है क्योंकि व्यक्ति अपनी निजता में सार्थक नही होता , दुसरे से अपने संबंधों में ही अपने को पहचानता है और अपने तथा दूसरे के लिए अर्थात समाज के लिए सार्थक होता है। इसलिए जीना है तो संग रह कर ही जिया जा सकता है और मनुष्य जीना चाहता है , मरना नही। इसलिए संस्कृति का प्रभाव व्यापक होता रहता है। समाज , देश, अंतत: विश्व , सब उसके प्रभाव की व्याप्ति में आ जाते है।" [21]

समाज और संस्कृति –

समाज का निर्माण होते ही उसमें संस्कृति जन्म लेती है , पलती है और पनपती है। समाज के बिना संस्कृति की सत्ता संभव नही। जिस प्रकार किसी संस्कृति के लिए समाज का होना अनिवार्य है उसी प्रकार समाज के लिए संस्कृति का। दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। दोनों साथ-साथ जन्म लेती हैं तथा साथ-साथ पनपती हैं " प्रत्येक समाज की संस्कृति , उसकी कला , दर्शन व धर्म , शिक्षा व विज्ञान , फिल्मों व समाचार पत्रों , रेडियो व टेलीविजन , सामाजिक रीति-रिवाज , राजनीतिक संस्थाओं और आर्थिक संगठनों के माध्यम से व्यक्त होती है।" [22]

संस्कृति का विकास समाज में ही संभव है। समाज के अंतर्गत कुटुंब , वैवाहिक संबंध , जाति ,वर्ण-व्यवस्था , आश्रम-व्यवस्था , विभिन्न संस्कारों का समावेश होता है। समाज में ही मनुष्यकी पारस्परिक सहयोग , सद्भावना और सामंजस्य की भावना का विकास होता है। जन्म के मनुष्य सामाजिक प्राणी के रूप में नही रहता , किन्तु संपर्क और संगति से उसका मानवता की ओर विकास होता है और उसको सुसंस्कृत बनाने में समाज का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। [23]

टोनी थवेट्स – संस्कृति पर विचार करते हुए इसे समाज के अस्तित्व की आवश्यकता मानते हैं। उनके मतानुसार यूं तो समाज में अर्थ राज्य शिक्षा, न्याय सभी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है। पर इन सबके बावजूद किसी समाज को उसकी सांस्कृतिक पहचान के आधार पर ही जाना जा सकता है।वह उदाहरण देते हैं कि हम यदि एक समाज के स्वरूप की कल्पना करें जिसके पास धन हो , राज्य न हो , कामगार न हों .... आदि। ये कल्पनाएं अनंत हो सकती है पर इनके बिना भी समाज का कोई न कोई रूप हमारे समक्ष अवश्य रहेगा पर यदि किसी समाज की कल्पना उसकी संस्कृति के बिना की जाए तो उस समाज का अस्तित्व ही नही रहेगा। [24]

बेनेड्रिक रथ के अनुसार "संस्कृति का अर्थ विचारों और कार्यों द्वारा निर्मित जीवन –पद्धति है। प्रत्येक समाज की संस्कृति में कुछ ऐसी विशेषताएं होती हैं जो सामान्यतया दूसरे प्रकार के समाज में नही पाई जाती। समाज के व्यक्ति वहां की संस्कृति को स्वीकार करके क्रमश: अपने अनुभव को अधिकाधिक समृद्ध करते जाते हैं और इस प्रकार वे पहले की अपेक्षा समाज विशेष के व्यवहार को विकसित करते हैं।" [25]

भारत विविधताओं का देश है। इस विविधता भरे प्रागण में विविध जाति व धर्मों के फूल खिले हुए हैं। हमारे देश की संस्कृति इतनी व्यापक है कि बिना किसी भेदभाव के सभी को समान मानकर विकसित होने पर बल देती है। भारतीय उपमहाद्वीप में जिस प्रकार हजारों भाषाएँ हैं उसी प्रकार कई संस्कृतियाँ और समाज भी हैं। यह संस्कृतियाँ धर्म और जातियों में बंटी हुई हैं, ये धर्म, जातियाँ अपनी-अपनी संस्कृति को सबसे प्राचीन और श्रेष्ठ बनाने में लगी हुई हैं। यह एक विकसित संस्कृति और समाज की विशेषता मान सकते हैं, जहाँ हजारों भाषाऐं, समाज और धर्म एक साथ रहते हैं। विष्णु प्रभाकर ने भी समाज, संस्कृति और शिक्षा के संदर्भ में कहा है कि "शिक्षा वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा वयस्क होता हुआ व्यक्ति समूह के जीवन और संस्कृति में प्रवेश करता है।" अब सवाल यह उठता है कि क्या वर्तमान शिक्षा प्रणाली हमें वह संस्कार दे पा रही है जिसके लिए हमें विश्व में जाना जाता है। अगर वर्तमान

शिक्षा प्रणाली हमें वह संस्कार नहीं दे पा रही है तो हमें इस शिक्षा को आगे बढ़ाना चाहिए, या नहीं ? क्योंकि जब किसी व्यक्ति या समाज का मूल्यांकन किया जाता है तो शिक्षा और भाषा से अधिक संस्कार और संस्कृति को परखा जाता है। जिससे उस समाज और देश को पहचान प्राप्त होती है। यह घटक ही समाज और संस्कृति से गहन संबंध को परिलक्षित करते हैं। [27]

जिस तरह एक सुंदर बगीचा तभी सुंदर कहलाता है जब तरह-तरह के फूल उसमें खिले हों और प्रत्येक फूल को पर्याप्त मात्रा में धूप ,हवा , पानी प्राप्त हो सके । एक फूल की डाल सूख जाने पर जिस तरह वो बगीचा अधूरा हो जाता है , उसी प्रकार भारतीय संस्कृति भी विविधवर्णी संस्कारों का मिश्रण है । कहने का अर्थ यही है संस्कृति कहते ही जिस विशाल समुदाय की तस्वीर हमारे सामने आ जाती है , वही मिलकर ही संस्कृति को व्यक्त करती हैं। [28] जिस समाज की संस्कृति के अर्थ की क्षति हो तो वहां अराजकता और अपराध को प्रश्रय मिलता है। कर्म की दिशा भूल जाती है और मनुष्य आत्मघात की ओर बढ़ता है , विकृति और विनाश की ओर बढ़ता है। अत: संस्कृति ही एक ऐसा माध्यम है जिससे हम किसी व्यक्ति विशेष व समाज के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करते हैं।

संस्कृति का पौधा बेहद नाजुक होता है। अनेक यत्नों और सावधानियों के बाद ही वह किसी समाज में फलता- फूलता है। उसके लिए व्यक्ति का अभिमान , राष्ट्र का अभिमान और कौम का अभिमान , सबको तिलांजलि देनी पड़ती है। मानव जाति जिस दिन संस्कृति के महत्व को समझेगी उसी दिन वह अपनी आत्मा के साथ साक्षात्कार करने के योग्य हो सकेगी। संस्कृति न तो भौगोलिक सीमा बंधनों को महत्व देती है और न राजनीति को ही। संस्कृति तो अखिल मानवता की सम्मिलित पूँजी है।" [29]

संदर्भ-

1 . संस्कृति के संदर्भ – कमलेश माथुर , पोइन्टर पब्लिशर्स , जयपुर , 2005 , पृ.-1
2 . संक्षिप्त हिन्दी सागर – सं. रामचंद्रवर्मा , पृ – 844
3. संस्कृति और सौन्दर्य- डॉ. रामसजन पाण्डेय , संजय प्रकाशन , 2006 , पृ – 2
4. भाषा , साहित्य और संस्कृति – विमलेश कांति वर्मा , मालती , ओरियंट लाँग्मैन प्राइवेट लिमिटेड , 2007 , पृ – 389
5. कबीर-काव्य के सांस्कृतिक स्रोत – डॉ. विनीता कुमारी , साहित्य सहकार , 2001, पृ – 15 , 16)
6 भाषा , मीडिया और संस्कृति – डॉ. मंजु मुकुल , डॉ. हर्षबाला शर्मा , श्री नटराज प्रकाशन ,2006 , पृ 24
7 कला और संस्कृति – वासुदेवशरण अग्रवाल ,पृ – 1
8 संस्कृति के चार अध्याय , दिनकर , पृ – 653
9 भाषा , मीडिया और संस्कृति –डॉ.मंजु मुकुल , डॉ. हर्षबाला शर्मा , श्री नटराज प्रकाशन , 2006 , पृ 24
10 . बौद्ध संस्कृति – राहुल सांकृत्यायन , पृ – 3
11. कबीर-काव्य के सांस्कृतिक स्रोत – डॉ. विनीता कुमारी , साहित्य सहकार , 2001, पृ – 15 , 16
12. भाषा , साहित्य और संस्कृति – विमलेश कांति वर्मा , मालती , ओरियंट लाँग्मैन प्राइवेट लिमिटेड , 2007 , पृ – 390
13. जन , समाज और संस्कृति – विष्णु प्रभाकर , शब्दकार प्रकाशन , 1986 , पृ 22 , 23
14 . संस्कृति पत्रिका , डॉ. प्रमोद कुमार दुबे – संस्कृति का अर्थ, 2008 , पृ.1
15. जन , समाज और संस्कृति – विष्णु प्रभाकर , शब्दकार प्रकाशन , 1986 , पृ 23
16. संस्कृति पत्रिका , सितम्बर-अक्टूबर , 1960 , पृ. 15
17. भाषा , साहित्य और संस्कृति- डॉ. मुकेश अग्रवाल , पचौरी प्रकाशन , 2008 , पृ. 422
18. संस्कृति और सौन्दर्य- डॉ. रामसजन पाण्डेय , संजय प्रकाशन , 2006 , पृ – 17
19. https//hindivibhaagl.blogspot.in
20. भाषा , साहित्य और संस्कृति – विमलेश कांति वर्मा , मालती , ओरियंट लाँग्मैन प्राइवेट लिमिटेड , 2007 , पृ – 389
21. जन , समाज और संस्कृति – विष्णु प्रभाकर , शब्दकार प्रकाशन , 1986 , पृ. 24
22. विश्व बाज़ार में हिन्दी – महिपाल सिंह ,देवेंद्र मिश्र , वाणी प्रकाशन , पृ .115, 116
23. कबीर-काव्य के सांस्कृतिक स्रोत – डॉ. विनीता कुमारी , साहित्य सहकार , 2001, पृ – 24
24. भाषा , मीडिया और संस्कृति – डॉ. मंजु मुकुल , डॉ. हर्षबाला शर्मा , श्री नटराज प्रकाशन ,2006 , पृ 24
25. भाषा , साहित्य और संस्कृति – विमलेश कांति वर्मा , मालती , ओरियंट लाँग्मैन प्राइवेट लिमिटेड , 2007 , पृ – 390
27 वही
28. भाषा , मीडिया और संस्कृति – डॉ. मंजु मुकुल , डॉ. हर्षबाला शर्मा , श्री नटराज प्रकाशन ,2006 , पृ 56, 57
29. जन , समाज और संस्कृति – विष्णु प्रभाकर , शब्दकार प्रकाशन , 1986 , पृ. 29

हाशिये के सामाजिक परिवर्तन के लिए दूरस्थ शिक्षा

-डॉ.अमित राय
एसोसिएट प्रोफेसर,क्षेत्रीय केंद्र,
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ,वर्धा

भूमिका - सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा एक प्रमुख माध्यम के रूप में स्थापित हुई है। 1966-78 के शिक्षा आयोग ने अवलोकित किया कि "राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ज्ञान,गुणों व्यक्तित्व और मूल्यों को संपूर्णतया में परिवर्तित करने की आवश्यकता है। प्रत्येक सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रमों की बेहतरी के लिए जो भारत का वास्तविक लक्ष्य हैं उसके लिए यह आधार है.........यदि यह परिवर्तन बड़े पैमाने पर बिना हिंसक क्रांति के प्राप्त किया जाना है तो उसके लिए केवल और केवल एक ही माध्यम है वह है शिक्षा"। दूरस्थ शिक्षा और वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में अंतर करते हुए यहाँ यह देखने की कोशिश की गयी है कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में हाशिये पर पड़े लोगों की के लिए वैकल्पिक शिक्षा के क्या माध्यम हो सकते हैं,ड्राप आउट दर को रोकने के कौन से प्रयास हमारी शिक्षा व्यवस्था में शामिल हैं या जनजातीय शिक्षा के उन्नयन के लिए वैकल्पिक मॉडल क्या हो सकता है, इस दिशा में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर क्या प्रयास किये गए हैं और स्थानीय स्तर पर इन प्रयासों का क्या लाभ हुआ है। इस लेख के माध्यम से उपस्थित आंकड़ों के विश्लेषण के आधार पर यह जानना दिलचस्प होगा कि दूरस्थ शिक्षा के वैकल्पिक माध्यमों के लिए स्थानीय स्तर से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर क्या प्रयास किये जाने चाहिए।

उद्देश्य- इस लेख के माध्यम से जानने की कोशिश की गयी है कि क्या वर्तमान औपचारिक शिक्षा व्यवस्था विशेषाधिकारों को तोड़ने,शोषण मिटाने और समाज के कमजोर तबकों के लिए अवसरों को उपलब्ध करने में सहायता कर सकती है ? एक वैकल्पिक माध्यम के रूप में क्या दूरस्थ शिक्षा बेहतर व्यक्ति और बेहतर समाज बना सकती है ?

विषय वस्तु- पांचवां अखिल भारतीय सर्वेक्षण उद्घाटित करता है कि 1986 में 2.72 करोड़ बच्चे कक्षा 6 से 8 में नामांकित थे जो संबंधित वय समूह का केवल 48.64 प्रतिशत ही था। अन्य 2.88 करोड़ बच्चे स्कूल छोड़ चुके थे। उसी वर्ष कक्षा दस के स्तर पर केवल 1.5 करोड़ बच्चे नामांकित हुए और 2.3 करोड़ बच्चों ने स्कूल छोड़ा,जबकि 1981 में नामांकन का प्रतिशत गिरकर 51.79 प्रतिशत रहा और 1986 में 48.5 प्रतिशत। यह सर्वेक्षण यह भी चित्रित करता है कि वर्तमान औपचारिक विद्यालय व्यवस्था जेंडर असमानता,जाति असमानता,ग्रामीण-शहरी और क्षेत्रीय विभाजन अभिभाषित करने में पर्याप्त रूप से अयोग्य रही है। 1986 में कक्षा 6 से 8 में कुल लड़कियों का,अनुसूचित जाति (एस.सी.) और अनुसूचित जनजाति (एस.टी.) की लड़कियों का नामांकन का प्रतिशत क्रमशः 38.07%,14.69% व 4.9% था। कक्षा 9 से 10 में एससी और एसटी की लड़कियों का नामांकन का प्रतिशत 11.14% व 3.9% रहा। दूसरी ओर 66.98% शहरी बच्चों के मुकाबले 48.69% ग्रामीण बच्चे ही स्कूल पहुँचने में सक्षम हुए। आज जो महत्वपूर्ण प्रश्न है वह यह है कि प्रत्येक 100 छात्र जो कक्षा एक में नामांकित होते हैं उनमें से केवल 5 या 6 ही कक्षा 10 तक पहुँच पाते हैं। यह नवंबर 1991 को गोवा में आयोजित स्कूली शिक्षा बोर्ड समिति की अखिल भारतीय वार्षिक मीटिंग जो "सबको शिक्षा" के राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति में मुक्त शिक्षण व्यवस्था के दखल की भूमिका के तृतीय चरण के रूप में बुलाई गयी थी उसकी पृष्ठभूमि के विपरीत था। अब प्रश्न उठता है कि एक वैकल्पिक माध्यम के रूप में क्या दूरस्थ शिक्षा बेहतर व्यक्ति और बेहतर समाज बना सकती है ?

दूरस्थ शिक्षा एक व्यवस्था है जो "भूले हुए लाखों लोगों" के लिए समर्पित है। मुक्त शिक्षा जनजातियों के बीच सही सामाजिक मूल्यों को व्यक्तित्व को और आदतों को विकसित करना प्रारंभ करती है। एक व्यक्ति जो दहेज़ प्रथा का,बच्चों के शोषण की निंदा करता है और महिलाओं की शिक्षा का समर्थन करता है उसमें वांछनीय सामाजिक मूल्य हैं। लघु परिवार के प्रतिमान में विश्वास और उनका अभ्यास,शिक्षा और रोजगार में पुरुषों और महिलाओं के बीच समानता भी सामान रूप से वांछनीय है। हमारे देश की तरह जहाँ अन्न उत्पादन की बहुपरतों के बावजूद गरीबी और कुपोषण है,वहां पोषण और संपूर्ण खुराक के बारे में जानकारी देना अधिक आवश्यक है,कमजोर सफाई प्रबंध,असुरक्षित पानी पीना और आवश्यक स्वच्छता की ओर ध्यान न देना खासकर जो कमजोर तबका है और गंदी बस्तियों में रहते हैं उनके बच्चों में,संक्रमित बीमारियों के सामान्य कारण हैं। यद्यपि इन बीमारियों की उत्पत्ति गरीबी में है,उनमें स्वास्थ्य शिक्षा की कमी और नागरिक जानकारी का अभाव भी योगदान करने वाले कारक है। कई विषमताओं के मुकाबले हमारी पूरी आर्थिक और सामाजिक विकास की उपलब्धि या तो निम्न हो गयी है या बहुत पतली होकर फ़ैल गयी है,यह बढ़ती जनसंख्या और उसके फलस्वरूप बढ़ती मांगों के साथ कदम मिलाकर चलने में सक्षम नहीं है,इसलिए जनजाति शिक्षा में जनसंख्या शिक्षा कार्यक्रमों को सर्वोच्च प्राथमिकता में अपनाने की जरुरत है। शिक्षा का यह दृश्य विधान निश्चित रूप से मुक्त शिक्षण व्यवस्था को लुभाएगा खासकर उनको ; जो जनजातियाँ कभी स्कूल नहीं गयीं हैं ; जो जनजातियाँ स्कूल छोड़ चुकीं हैं ; जिन जनजातियों के बेरोजगार युवा जो रोजगार की खोज में हैं,ऐसी व्यवस्था जनजातियों की महिलाओं और उनके सरदारों को शिक्षा का अनुयायी बनाएंगी।

अनुयायी गण की जटिलता देते हुए और दूरवर्ती रहने वाली जनजातियों की इसकी आवश्यकता के मद्देनजर औपचारिक व्यवस्था की

असफलता देते हुए यहाँ फरवरी 1992 के योजना आयोग के द्वारा मुक्त शिक्षा के संदर्भ में कोर ग्रुप की रिपोर्ट को पुनः कहना प्रासंगिक होगा "मुक्त शिक्षण व्यवस्था में आठवीं योजना के लक्ष्यों 'सबको शिक्षा' को पूरा करने के लिए शिक्षा के व्यवसायीकरण के लिए श्रम व रोजगार के लिए प्रशिक्षण हेतु और ग्रामीण जनसंख्या के स्व- रोजगार के लिए जबरदस्त संभावनाएं हैं" इसलिए भारत की दुर्भर अनुसारक जनजातियों की शिक्षा सख्त औपचारिक संरचना के विस्तार से रातों रात नहीं पायी जा सकती बल्कि समकालिक,सांस्कृतिक,नयी और तन्य संरचना और गुणों पर आधारित कार्यक्रमों को शामिल करके ही केवल पायी जा सकती है। इस तरह के नए कार्यक्रमों के कई सामाजिक लक्ष्य हो सकते हैं जैसे- पर्यावरणीय सजगता ; रोजगार के लिए प्रशिक्षु में व्यावसायिक गुणों का विकास करना या स्वरोजगार के लिए;स्वास्थ्य के आवश्यक सिद्धांतों के बारे में प्रोत्साहित करके जैसे स्वास्थ्य विज्ञान,शिशु देखभाल,पोषण और परिवार नियोजन ; समकालिक,सामाजिक,आर्थिक,वैज्ञानिक और तकनीकी विकास को अभिव्यक्त करके और अंततः अध्ययन ; लेखन और संख्यात्मकता के आधारभूत गुणों को बताकर।

जनजातीय किसानों की सहायता में दूरस्थ शिक्षा-क्रियात्मक आधुनिकीकरण के लिए एक प्रस्ताव-

दूरस्थ शिक्षा जनजातीय लोक को उनकी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए एक सही मार्ग प्रशस्त कर सकता है,उनको मूल्योंमुख कर सकता है। उनकी सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान में प्रगति ला सकता है उनके अवकाश के समय का सही उपयोग कर सकता है,उनकी व्यवसायिक वृद्धि और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण उनका वैज्ञानिक मानस तैयार कर सकता है। कृषि की पुरानी विधियों को आधुनिक कृषि विधियों से बदलने की आवश्यकता को,दृश्य शिक्षण पाठ के नेटवर्क के माध्यम से बताया जा सकता है,कृषि को बेहतर सामाजिक कार्यकर्ताओं के समूहों के साथ सामाजिक परामर्श में भागीदारी करके दीर्घकालिक बनाया जा सकता है और बढ़ाया जा सकता है।

जनजातियों की महिलाओं की शिक्षा,वंचित और युवाओं के लिए शिक्षा को यदि मुक्त विश्वविद्यालय द्वारा निश्चित किया गया तो ऐसा करना,परिवार कल्याण के कार्यक्रमों,ऊर्जा संरक्षण,वननाशन की सुरक्षा,स्वास्थ्य देखभाल,प्रतिरक्षा और बच्चों के सामाजीकरण के लिए गति प्रदान करेगा। यदि मुक्त विश्वविद्यालय द्वारा समुदाय नेतृत्व विकास और सहभागी संचार कार्यक्रमों को विकसित किया जाता है तो सहकारी महत्त्व साथ में कार्य करने की अनुभूति और प्रगतिशील दृष्टिकोण निर्मित होगा। चूँकि अधिकतर जनजातियाँ वनों पर आधारित रहीं हैं,अशिक्षित हैं,कृषि श्रमिक हैं,समय की जरुरत है कि इनका व्यवसायिक आधुनिकीकरण किया जाए,इन प्रस्तावों के माध्यम से निम्नलिखित मुद्दों पर विचार की जरुरत की तलाश की जा सकती है जैसे - मुक्त विश्वविद्यालय व्यवस्था और कार्यक्रमों जो कमजोर तबके के लोगों खासकर जो युवा हैं अनौपचारिक घटक हैं उनके बीच के संयोजन की पहचान करना ; कृषि श्रमिकों के विकास और अन्य दक्ष श्रमिकों के विकास से संबंधित इलाकों की पहचान करना ; जनजातियों के लिए,दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रमों को लागू करने के लिए मुक्त शिक्षण व्यवस्था के उपयुक्त प्रशासनिक संरचना तैयार करना ; जनजातियों की आवश्यकताओं के लिए एक छत्र मुक्त शिक्षण व्यवस्था में उपयोगी भूमिका अदा कर सकें ऐसे कई विभागों,स्वैच्छिक संगठनों और राज्य युवा निदेशालयों और निरंतर शिक्षा की सटीक भूमिका की खोज करना।

जब एक बार राजनीतिक कार्यसमिति के द्वारा इन सांस्थानिक योजनाओं के आकार के बारे में समुचित उत्तर प्राप्त हो जाते हैं तब स्वास्थ्य,स्वच्छता,पोषण,परिवार कल्याण,जनसंख्या शिक्षा,वन संरक्षण, संख्यात्मकता और साक्षरता के शैक्षणिक पैकेजों को मुक्त विश्वविद्यालयों के हुनर (गुण) विकास के प्रामापीय पाठ्यक्रम के द्वारा तैयार और वितरित किये जा सकते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यशवंत राव चव्हाण महाराष्ट्र मुक्त विश्वविद्यालय के द्वारा महाराष्ट्र के किसानों के लिए दस कृषि आधारित पाठ्यक्रमों का सफलतापूर्वक कार्यान्वयन हुआ है। राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय के द्वारा शर्मिका विद्यापीठ के माध्यम से व्यावसायिक पाठ्यक्रम सफल हुए हैं। आजीविका शिक्षा और शिक्षण संस्कृति की ओर के अपने दोहरे उद्देश्य के साथ भारतीय एग्रो इंडस्ट्रीज फेडरेशन के जनजातीय शिक्षा कार्यक्रम सफल हुए हैं और इसके पहले अशिक्षित,गरीब,ग्रामीण और जनजातीय लोगों के लिए हुनर आधारित व्यावसायिक शिक्षा में दूरस्थ शिक्षा की क्षमता का सामुदायिक पोलीटेक्निक की सफलता के रूप में हमारे पास चमकता प्रमाण है। मुक्त विश्वविद्यालय इन शैक्षणिक विकास कार्यक्रमों को तैयार करने,उनके प्रशासन और मानिटरिंग के लिए एक संसाधन संस्था के जैसे कार्य करते हैं। ये एजेंसियां जो मुक्त विश्वविद्यालय के साथ संचार कर सकतीं हैं वे निम्नलिखित हैं : लक्षित जनसंख्या के पास स्थित निरंतर शिक्षा और युवा विभाग,सरकार के सभी विकासशील खंड,विभाग के रूप में आई.टी.डी.ए. (इंटीग्रेटेड ट्राइबल डेवलपमेंट एजेंसी) के राजस्व से एनकेप्सुलेट करके निवेश का प्रबंध कर रहे हैं। राज्य की जनजातीय शोध संस्था राज्यस्तरीय मुक्त विद्यालय/विश्वविद्यालय के साथ सहयोग करके अकादमिक समन्वयक संस्था के रूप में कार्य करती है।

"मुक्त शिक्षण" पर अंतर्राष्ट्रीय अनुभव

ब्रिटिश ओपन यूनिवर्सिटी किसानों के लिए अपनी निरंतर शिक्षा कार्यक्रमों के तहत खाद्य उत्पादन,महामारी और व्याधि प्रबंधन जैसे कुछ पाठ्यक्रम संचालित करती है। चीन का केंद्रीय कृषि रेडियो टेलीविजन विद्यालय जो सबसे बड़े राष्ट्रीय दूरस्थ शिक्षा संस्थानों में से एक है वह किसानों के लिए कृषि में आधुनिक शोध विकास हेतु कार्यक्रम संचारित कर रहा है। सेनेगल में रेडियो शैक्षणिक कार्यक्रम को प्रोत्साहित किया गया जिसमें राष्ट्रपति को पत्र लिखकर किसान अपनी भावना की प्रतिक्रया देते हैं,यह पत्र राष्ट्रपति सेनेगर को रेखांकित रहता है जिन्होंने परिणामतः मूंगफली उत्पादकों को दी जानेवाली कीमतों के मानकों को सख्ती से लागू किया था और किसानों के कर्ज को रद्द करने के लिए बीजों की खरीद,कृषि यंत्रों

और उनकी पूर्ति को संकुचित किया है।

पाकिस्तान का अलामा इकबाल मुक्त विश्वविद्यालय (ए.आई.ओ.यू.) उसके अधिकतर अशिक्षित किसानों के लिए ट्रेक्टर के रखरखाव में क्रियाशील शैक्षणिक कार्यक्रम संचालित करता है जो अपवादस्वरूप काफी प्रचलित हुआ। ए.आई.ओ.यू. की साक्षरता को प्रमुखता देने की क्रियाशील शिक्षा की रणनीति ने साबित किया है कि सामाजिक सजगता के कार्यक्रम रसोईघरों में साफ़ सफाई और स्वच्छता को बेहतर कर सकते हैं,उदाहरण के लिए कुछ गाँवों में पहली बार ईंटों की नालियों का निर्माण हुआ है। यह साफतौर पर स्पष्ट है कि वहां एक समालोचना इस बात को लेकर शुरू होती दिख रही है कि रहने के तौर तरीकों का बढ़ना केवल उच्च निजी आय का मसला नहीं है।

कम विकसित देशों में कई संख्या में दूरस्थ शिक्षण संस्थाएं हैं जैसे ए.आई.ओ.यू. (पाकिस्तान),कोलंबिया के जबेरियाना में मुक्त विश्वविद्यालय,राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय वेनेजुएला,सुकोथिया थम्माथिरात मुक्त विश्वविद्यालय,थाईलैंड । कोस्टारिका में स्टेट यूनिवर्सिटी और ईरान के मुक्त विश्वविद्यालय ने हाल ही में उनके अशिक्षित ग्रामीण लोगों के लिए कला आधारित शिक्षा की शुरुआत की है।

निष्कर्ष

कई संस्थाओं द्वारा उनके ग्रामीण युवाओं के लिए विषय से संबद्ध पाठ्यचर्या की सीमा तैयार की गयी है उसका क्षेत्र व्यापक है। पूरे भारतीय प्रायद्वीप की जनजातियों की जीवन शैली की विविधता को देखते हुए यद्यपि इन्हें दो प्रमुख क्षेत्रों में वर्गीकृत किया गया है।

इन दोनों क्षेत्रों को चिन्हित कर जनजातियों के बीच वृहद व्यवसायिक समूहों के लिए क्रियाशील शिक्षा, पूरे जनजातीय समुदाय के लिए सामान्य ज्ञान की शिक्षा को लागू किया जा सकता है, शिक्षा संबंधी कार्यक्रमों की कई प्रकृति हो सकती है : किसानों,पशुधन,मछलीपालन श्रमिकों के लिए कार्यक्रम,संवैधानिक अधिकारों के लिए जनजातियों के बीच के समूह नेताओं के लिए कार्यक्रम,पंचायतीराज में सहभागिता और सामुदायिक विकास कार्यक्रम,समुदाय के लिए स्वास्थ्य और पोषण पर कार्यक्रम,सामुदायिक शिक्षा,गृह विज्ञान और परिवार नियोजन,समाजसेवियों के लिए कार्यक्रम,स्वैच्छिक सेवा संगठन और युवा जनसंख्या के लिए सामान्य शिक्षा कार्यक्रम और क्रियाशील साक्षरता और संख्यात्मकता के आधार पर कार्यक्रम इत्यादि। उपर्युक्त कार्यक्रमों को विभिन्न स्तरों पर संगठन बनाकर क्रियान्वयन किया जा सकता है : मुक्त विश्वविद्यालयों द्वारा गिरिजन सहकारियाँ समाकलित जनजातीय विकास प्राधिकार (आई.टी.डी.ए.) कार्यालय,ग्राम पंचायतें और कई स्वैच्छिक संगठनों को शैक्षणिक पैकेज के लिए "दूरवर्ती केंद्र" के रूप में उपयोग में लाना चाहिए और विकसित किया जाना चाहिए।

राज्य के स्तर पर जनजातीय शिक्षा निदेशालय को दूरवर्ती खोलने के लिए जनजातीय कल्याण मंत्रालय के अंतर्गत संस्थापित करने की जरुरत है। मुद्रण और श्रव्य-दृश्य पैकेज को विकसित करने के लिए ऑडियो विजुअल रिसर्च केंद्रों के साथ स्टेट ओपन यूनिवर्सिटी के समन्वय को और अधिक निर्भर बनाना चाहिए।

जनजातीय शोध संस्थाएं और प्रमुखतया राज्य मुक्त विद्यालयों के साथ सामंजस्य होना चाहिए। जनजातियों के बीच प्रथम पीढ़ी के शिक्षित,स्वैच्छिक संगठनों के प्रतिबध्ध कार्यकर्ता,जनजाति क्षेत्रों के कार्यकर्ता और जनजातियों के विकास के लिए संबद्ध ईमादार स्थानीय कर्मचारियों की पहचान की जा सकती है और दिन प्रतिदिन सामाजिक मार्गदर्शन के लिए "सहभागी परामर्शदाता" के रूप में तैयार किया जा सकता है। आई.टी.डी.ए. को मध्यस्थ स्तर का विस्तार और प्रबोधक प्राधिकृत बनाया जा सकता है।

समय बदलता है इसलिए औजार भी,तकनीकियाँ भी ; और तो और विचार और आवश्यकताएं भी। तीव्र गति से प्रगतिशील मानव समाज क्रम में सफल होने की कुंजी इसी में है कि "आज की समस्याओं का मुकाबला केवल आज के हथियारों से करना होगा बजाय बीते हुए कल के हथियारों से"।

संदर्भ

1. रोजर लुईस,1984),ओपन लर्निंग इन एक्शन,तकनीक शिक्षा समिति,लंदन.

2.देसाई.ए.आर.,1967),सोशल चेंज एंड एजुकेशन पॉलिसी इन सोशियोलोजी ऑफ़ एजुकेशन इन इण्डिया,एनसीईआरटी,नई दिल्ली.

3.कॉलबी.एन.बक्शीशसिंह,अंसारी),स्टडीज इनडिस्टेंस एजुकेशन, ए. आई. यू.,इग्नू,नई दिल्ली.

4.कूम्ब पी.एच.,1976),न्यू पथ टू लर्निंग फॉर रूरल चिल्ड्रन एंड यूथ,यूनिसेफ,न्यूयार्क.

5.चिटनिस सीमा,1978),एजुकेशन ऑफ़ द शेड्यूल्ड कास्ट एंड शेड्यूल्ड ट्राइब्स इन महाराष्ट्र,अलाइड पब्लिशर्स,नई दिल्ली.

6.चंद्रा अरविंद और शाह,1987),नॉन फॉर्मल एजुकेशन फॉर आल,स्टर्लिंग प्रकाशन,नई दिल्ली.

7.होम्माडी ए एच,1990),ओपन यूनिवर्सिटी,इन्डियन बिब्लियोग्राफिक्स ब्यूरो,दिल्ली.

8.नील माइकल डब्ल्यू.,1981),एजुकेशन ऑफ़ अडल्ट एट ए डिस्टेंस द ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस,लंदन.

9.एजुकेशन फॉर आल-ए फ्रेमवर्क ऑफ़ एक्शन टू मीत बेसिक लर्निंग नीड्स-डिक्लेरेशन ऑफ़ वर्ल्ड कांफ्रेंस ओं एजुकेशन फॉर आल 5-9 मार्च 1990,जोमतीन,थाईलैंड.

हिंदी पत्रकारिता एक चुनौती

-डॉ.साधना
एसोसिएट प्रोफेसर,
गुलाब सिंह हिन्दू स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
चान्दपुर-स्याऊ (बिजनौर)-246725

भाषा मानव समाज के भावो व विचारों को सम्प्रेषित करने का सशक्त माध्यम है तथा पत्रकारिता समाज की प्रतिदिन की गतिविधियों का लेखा जोखा व दशा और दिशा को उद्घाटित करने का सफल माध्यम। वस्तुतः पत्रकारिता का प्रमुख कार्य समाज के दोहरे व्यक्तित्व के पीछे छिपे यथार्थ को उजागर करना है। सफल व लोकप्रिय पत्रकारिता का मूल कारण पत्रकार का वह व्यक्तित्व है जो उसकी सजग बुद्धि, ज्ञान, निष्पक्षता, सत्यनिष्ठा, अनुभवशीलता, सम्वेदनशीलता व तर्कशक्ति का आईना है। कहा भी गया है - 'कलम बड़ी तलवार तोप से '। अर्थात एक पत्रकार का सबसे बड़ा हथियार उसकी वह कलम है जो उपरोक्त सभी विशेषताओं पर खरी उतरती हो।

पत्रकारिता आधुनिकता की एक विशिष्ट उपलब्धि है। आधुनिकता उस सांस्कृतिक संचेतना का नाम है जिसने वैज्ञानिक आलोक से मानवीय धरातल के विभिन्न स्तरों को उजागर किया। भारत में आधुनिकता का प्रवेश नवजागरण के साथ हुआ।"[1] भारतीय नवजागरण के पुरस्कर्ता ज्येष्ठ प्रतिनिधि राजा राममोहन रॉय थे। जब भारतवासी ब्रिटिश सरकार की अनुदारता से पीड़ित थे। तब राजा राममोहन रॉय ने जिस सुधारवादी आन्दोलन का सूत्रपात किया। वह नवीन सुधारकों व विचारकों का वैचारिक अवलम्ब पाकर निरंतर विकासमान हो उठा। पत्र प्रकाशन की मूल दृष्टि को स्पष्ट करते हुए राजा राममोहन रॉय ने लिखा था -'मेरा उद्देश्य मात्र इतना ही है कि जनता के सामने ऐसे बौधिक निबन्ध प्रस्तुत करूँ जो उनके अनुभव को बढाएँ और सामाजिक प्रगति में सहायक सिद्ध हों। मैं अपनी शक्ति भर शासकों को उनकी प्रजा की परिस्थितियों का सही परिचय देना चाहता हूँ और प्रजा को उनके शासकों द्वारा स्थापित विधि-व्यवस्था से परिचित कराना चाहता हूँ ताकि शासक जनता को अधिक से अधिक सुविधा देने का अवसर पा सकें और जनता उस उपायों से अवगत हो सके, जिनके द्वारा शासकों से सुरक्षा पायी जा सके और अपनी उचित माँगे पूरी करायी जा सकें।"[2] किन्तु सरकार समाचार पत्रों के प्रति इतनी शंकालु थी कि मामूली से कारणों पर भी सांघातिक प्रहार करने को उद्यत रहती।श्3 इस दमन नीति से क्षुब्ध हो कर अपने पत्र ष्बंगाल गजटष् में राजा साहब ने लिखा था कि भारत के किसी निवासी के लिये, जो सरकारी भवन की देहरी लाँघने में भी समर्थ नही हो पाता, पत्र-प्रकाशन के लियें सरकारी आज्ञा प्राप्त करना दुस्तर कार्य हो गया है। खुली अदालत में हलफनामा दाखिल करना कम अपमानजनक नहीं, फिर लाइसेंस जब्त करने का खतरा सिर पर सदा झूला करता है। ऐसी दशा में पत्र का प्रकाशन रोक देना ही उचित है।श्4 इस प्रकार अंग्रेजी सरकार की अनुदारता से भारतीय मानस पीड़ित हो गया और येन केन प्रकारेण पराधीनता से मुक्ति की आतुरता जनमानस को आलोड़ित करने लगी।

इसी संक्रमण काल में भारतीय पत्रकारिता का जन्म और विकास हुआ था। भारतीय नवजागरण का पहला अनुभव बंगाल ने किया था, बंगाल की खाड़ी से ही भारत में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। स्वभावतः भारतीय पत्रकारिता की जन्मभूमि बंगाल है और हिन्दी पत्रकारिता का जन्म और विकास कलकत्ता में ही हुआ। कलकत्ते की नींव 1690 में पड़ी थी। 19वीं शती में नौकरी-धन्धे के उद्देश्य से पश्चिमोत्तर प्रदेश से अनेक हिन्दी भाषी यहाँ आ गये थे। उनमें कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे भी थे जो आधुनिक चेतना को धीरे-धीरे ग्रहण कर रहे थे। हिन्दी समाज को आधुनिकता से सम्प्रक्त करने की महत्वाकांक्षा उनके मन में उठ रही थी। परिणाम हुआ हिन्दी के प्रथम (साप्ताहिक) पत्र ष्उदन्तमार्तण्डष् का प्रकाशन।"[5]

इस प्रकार आधुनिक युग ने बंगभूमि को यह अवसर दिया कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास में वह महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ सके।"[6]

इस प्रकार पण्डित जुगल किशोर शुक्ल द्वारा प्रकाशित 'उदन्तमार्तण्ड" से ही भारत में हिन्दी पत्रकारिता का उद्भव होता है। इन्द्रचन्द रजवार के अनुसार-भारतीय संदर्भो में पत्रकारिता की वास्तविक शुरूआत 1826 में हिन्दी प्रथम समाचार पत्र "उदन्तमार्तण्ड" के प्रकाशन के साथ मानी जाती है। कारण अंग्रेजी पत्रकारिता की केन्द्रीय सोच व्यवसायिक अधिक थी, और जो वैचारिक थी भी, तो वह भारतीय जनमानस को पश्चिम अर्थात यूरोप के आचार-व्यवहार, रहन-सहन और वहाँ की संस्कृति से प्रभावित करना था। इसके विपरीत हिन्दी पत्रकारिता का ध्येय उसके जन्म से ही जनसामान्य के दुखदर्दो को अभिव्यक्ति देना और उसमें स्वतंत्र चेतना का विकास करना था।"[7]

स्पष्ट है कि एक महत् इच्छा और ऊँचे आदर्श को लेकर हिन्दी के इस प्रथम पत्र का प्रकाशन हुआ था। प्रति मंगलवार को प्रकाशित होने वाला यह पत्र सरकारी साहाय्य के अभाव तथा पर्याप्त ग्राहकों की कमी के कारण अधिक दिनों तक प्रतिकूलता से न लड़कर 4 दिसम्बर 1827 को हमेशा के लिये अस्त हो गया। 4 दिसम्बर के अन्तिम अंक में सम्पादक ने लिखा था-

"आज दिवस लौं उग चुक्यौं मार्तण्डउदन्त
अस्ताचल को जात है दिनकर दिन अब अन्त।"

कहना न होगा की पण्डित जुगल किशोर शुक्ल ने ये पंक्तियाँ बड़ी व्यथा के साथ लिखी होंगी। यह भी कुछ विचित्र संयोग है कि हिन्दी पत्रकारिता के उदय के साथ ही आर्थिक संकट का अशुभ ग्रह उसके साथ लग गया, जिसकी कुदृष्टि हिन्दी पत्रकारिता पर सदैव लगी रही।"[8]

वस्तुतः समाचार पत्र का पहला उद्देश्य जनता की इच्छाओं, विचारों को समझना और उन्हे व्यक्त करना है। दूसरा उद्देश्य जनता में वांछनीय भावनाओं

को जाग्रत करना है। तीसरा उद्देश्य सार्वजनिक दोषों को निडरता पूर्वक प्रकट करना है।"[9]

इस प्रकार पत्रकारिता का क्षेत्र सरल नही वरन् उस युद्धक्षेत्र की तरह है जहाँ सार्वजनिक दोषों से निरन्तर युद्ध करना होता है। युद्धक्षेत्र में पूरी निडरता और हिम्मत के साथ खतरों का सामना करने वाले सैनिक की तरह ही एक पत्रकार भी अपने मिशन की सफलता हेतु सामाजिक, राजनैतिक हर प्रकार के खतरों से खेलता है। यहाँ पर जेम्स मैकडोनाल्ड की धारणा का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। जेम्स के अनुसार- श्पत्रकारिता को मैं रणभूमि से अधिक बड़ी चीज मानता हूँ। यह कोई पेशा नही, बल्कि पेशे से भी ऊँची चीज है। यह एक जीवन है, जिसे मैने स्वेच्छापूर्वक समर्पित किया है।"[10]

स्पष्ट है कि हिन्दी पत्रकारिता की पृष्ठभूमि में वह सभी विषमताँए सर उठा रही थी, जो अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार तथा पाश्चात्य संस्कृति के भारत पर प्रभुत्व के कारण उत्पन्न हो रही थीं। फलस्वरूप भारतीय जनमानस कहीं परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ता जा रहा था। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनमानस की कमजोरी को समझ प्रजा के परितोष के लिए महारानी विक्टोरिया द्वारा की गयी एक घोषणा, जिसमें आश्वासन भी था, के बाद भी सरकार की व्यवहारिक नीति पूर्ववत ही बनी रही। ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीयों का शोषण जारी रहा। श्समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता पर पुनः प्रहार हुआ और 13 जून 1857 ई0 को प्रेस सम्बन्धी एक कानून (गैगिंग एक्ट) बना पत्रों की स्वाधीनता कुण्ठित कर दी गयी।"[11]

श्रीमती एनी बेसेन्ट के शब्दों में उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय लोग आस्तिकता और नास्तिकता के बीच झटके खा रहे थे। आधिभौतिकता की बाढ़ के मारे राष्ट्र का जीवन विश्रृंखलित हो गया था। अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग हक्सले, मिल और स्पेंसर के अनुयायी हो रहे थे, किन्तु अपने साहित्य का उन्हें कोई ज्ञान नही था। वे अपने अतीत से घृणा करते थे, अतः भविष्य के विषय में उनका कोई विश्वास नही था। वे अन्धे होकर अंग्रेजों के तौर तरीकों की नकल कर रहे थे एवं अपने कला-कौशल और शिल्प का विनाश करके अंग्रेजी असबाबों से अपना घर सजा रहे थे। राष्ट्रीय जोश का उनमें लेश भी नही था। राष्ट्रीय जीवन की गति बताने वाली कोई भी क्रिया दिखायी नही पड़ती थी एवं यह सन्दिग्ध था कि भारतीय राष्ट्र के हृदय में कोई धड़कन भी शेष है या नहीं "[12]

ऐसे समय में अंग्रेजों के अत्याचार से व्यथित होकर अंग्रेजों के प्रति सहानुभूति रखने वाले ब्रहमानन्द केशवचन्द्र सेन ने इंग्लैण्ड की एक सभा में कहा था - श्तुम मैनचेस्टर के लाभ के लिये और यहाँ (इंग्लैण्ड) की किसी जाति की समृद्धि के लिये भारत को अधिकृत नही रख सकते और न तो उन व्यापारियों के फायदे के लिये ही जो भारत में आकर स्थान-परिवर्तन करने वाले पक्षियों की तरह रहते हैं और कभी उस देश में स्थायी अभिरूचि नहीं लेते क्योंकि ऐसा वे कर ही नहीं सकते। वे दिन गये और अब कभी आने वाले नहीं हैं, जब लोग संगीन के बल पर भारत को अधिकृत करने की बात सोचा करते थे। यदि इंग्लैण्ड इस देश के लाखों व्यक्तियों की जातीयता को नष्ट कर इसकी दिव्य पुरातनता की अग्नि और प्राचीन देशभक्ति के भावावेग को शमित कर, इसे दलित करने का उद्देश्य रखता है और यदि भारत पर शासन करने का इंग्लैण्ड का उद्देश्य केवल धन कमाना है तो, मैं यही कहूँगा कि ब्रिटिश राज्य को इसी क्षण ध्वस्त कर दो।"[13] यह वाणी उस भारतीय महापुरूष की है जो इंग्लैण्ड को अपना (यानि आधुनिक भारत का) राजनीतिक और बौद्धिक गुरू मानता था, पाश्चात्य भाव और विचार के प्रति जो एक हद तक सम्प्रक्त था।"[14] केशव चन्द्र सेन उन नेताओं में से थे, जिन्होने राष्ट्रीयता और राजनीति को विशिष्ट धरातल दिया था।

वस्तुतः स्थितियाँ भारत के विषम थीं, किन्तु भारतीयों ने अपनी हिम्मत और साहस का परिचय देते हुए जनमानस को जाग्रत करने के लिये उनमें स्वाभिमान, स्वत्व तथा स्वतंत्रता का भाव पैदा किया। यह समय हिन्दी पत्रकारिता के लिये चुनौती भरा था। इस का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि -ऐसे में भरतीय जनसामान्य की रक्षा करने वाला कोई नही था। सबसे बड़ी विडम्बना तो यह थी भारतीय जनता को लूटने में अंग्रेजों के साथ भारत के ही कुछ राजा, महाराजा व साहूकार पढे लियें लोग मिले हुये थे। यहाँ यह कहावत - ' घर का भेदी लंका ढावे' बिल्कुल सटीक लगती है।

ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण समय में जुगल किशोर सरीखे लोगों के प्रयास से भारतीय जनता में नया जोश पैदा हुआ और उन्होने समझ लिया कि पत्रकारिता ही एक ऐसा हथियार है जिसके द्वारा शोषणकर्ताओं से लोहा लिया जा सकता है। कम्पनी राज का विरोध करते हुए दुनिया के सबसे बड़े राजनीतिक छल का मुकाबला करने के लिये हिन्दी पत्रकारिता का विकास होता चला गया। लोकमानस में प्रबुद्धता जाग्रत करने के लिये हिन्दी पत्रों और साहित्यकारों का योगदान अविस्मरणीय रहेगा। इस तरह हिन्दी पत्रकारिता ने देश और समाज के लिये वह भूमि तैयार की, जिससे वह क्षण-प्रतिक्षण प्रबल से प्रबलतम होती हुई आज निरन्तर प्रवाहमान है।

सन्दर्भ

1. कृष्ण बिहारी मिश्र-हिन्दी पत्रकारिता, पृ0 27।
2. हेमेन्द्र प्रसाद घोष: द नयूजपेपर इन इण्डिया पृ0 25-26।
3. वही, पृष्ठ 39।
4. कमलापति त्रिपाठी: पत्र और पत्रकार, पृ0-92।
5. कृष्ण बिहारी मिश्र-हिन्दी पत्रकारिता, पृ0 29।
6. जवाहर लाल नेहरू, डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृ0 260।
7. इन्द्रचन्द्र रजवार, पत्रकारिता सिद्धांत और व्यवहार, पृ0 21।
8. कृष्ण बिहारी मिश्र-हिन्दी पत्रकारिता, पृ0 29।
9. अखिलेश मिश्र-पत्रकारिता-मिशन से मीडिया तक, पृ0 86।
10. वही, पृष्ठ 82।
11. कृष्ण बिहारी मिश्र-हिन्दी पत्रकारिता, पृ0 82।
12. रामधारी सिंह दिनकर-संस्कृति के चार अघ्याय, पृ0 475।
13. दृष्टव्य, स्टडीज इन बंगाल रेनेसा, पृ0 88-89।
14. दृष्टव्य, Western Influence in Bangal Literature Priyaranjan Sen, Page-93.

कन्नड और हिन्दी अनुवाद : एक विश्लेषण

(यू.आर.अनंतमूर्ति के कहानियों के हिंदी अनुवाद के विशेष संदर्भ में)

-डॉ.रेशमा एल.नदाफ
उप निदेशक राजभाषा अनुभाग,
कर्नाटक केंद्रीय विश्वविद्यालय, कडगंची,
कलबुरगी-585367 मो.9620952219

भूमिका

कन्नड़ और हिन्दी दोनों भारतभूमि की भाषाएं होने पर भी दोनों भाषाएं भिन्न भाषा परिवारों से निकलती हैं। कन्नड़ द्रविड परिवार की भाषा है तो हिन्दी भारोपीय परिवार से निकली आर्य परिवार की भाषा है। कन्नड़ भाषा साहित्यिक भाषा के रूप में हजार वर्षों से भी पहले से विकसित है। परंतु हिन्दी भाषा का विकास आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी के रूप में आधुनिक काल में ही हुआ है। हिन्दी की बोलियां अधिक होने से उसके भाषा स्वरूप को समझना आसान नहीं। हिन्दी से कन्नड़ या कन्नड़ से हिन्दी में अनुवाद करते समय दोनों भाषाओं के स्वरूप को जानकर उसमें जो विशिष्टताएं और विषमताएं हैं, उनकी ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

बीज शब्द: यू.आर. अनंतमूर्ती, कहानी साहित्य, अनुवाद, ध्वनि, रूप, वाक्य रचना, शैली, शब्दावली, अर्थ, पर्यायवाची, विश्लेषण।

अनंतमूर्ति कन्नड़ के प्रसिद्ध साहित्यकारों में जाने जाते हैं। कन्नड़ के अलावा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी आपकी कहानियों, उपन्यासों की चर्चा होती रही है। इन्होंने अपनी कहानियों, उपन्यासों एवं आलोचनात्मक लेखों से कन्नड़ साहित्य एवं संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया है। युगीन समस्याओं को भली भांति समझकर अपने साहित्य में इन्होंने नवीन व्याख्या ही कर डाली है। अनंतमूर्ति के उपन्यास साहित्य का अनुवाद हिंदी, बंगला, तेलुगु, तमिल, उर्दु, मलयालम, उड़िया, गुजराती, मराठी, कोंकणी आदि भाषाओं में हुआ है। इसके अलावा उनके उपन्यास साहित्य का अनुवाद पाश्चात्य भाषाओं जैसे अंग्रेजी, फ्रांसिसी, रशियन, हंगेरियन, कझाक एवं जर्मन आदि भाषाओं में हुआ है।यह अत्यन्त आवश्यक है कि मूल रचना के साथ ही साथ, मूल लेखक के साहित्य संबंधी एवं साहित्येतर विचारों को जानना अनुवादक के लिए अनिवार्य है। अत: मूल रचना के साथ ही साथ मूल लेखक के संस्कृति - संबंधी विचारों का अनुवाद होना भी बेहद आवश्यक है। यू. आर. अनन्तमूर्ति के नाटक, आलोचना और कविताओं को छोड़कर सारी रचनाएँ हिन्दी में अनूदित हुई हैं। इस संदर्भ में उनके साहित्य को आमूलाग्र समझने के लिए उनके संस्कृतिपरक आलोचनात्मक साहित्य का अनुवाद करने की आवश्यकता महसूस हुई।

यू. आर. अनन्तमूर्ति के कथा संग्रह:

1.	प्रश्ने	1963
2.	मौनी	1972
3.	आकाश मत्तु बेक्कु	1981
4.	सूर्यन कुदुरे	1995
5.	एंदेंदू मुगियद कथे	1955
6.	घटश्राद्ध	2008

यू. आर. अनंतमूर्ति के कहानी संग्रह एवं उनका हिन्दी में अनुवाद :

कन्नड़(मूल)	हिन्दी (अनूदित)
1.येंदेदू मुगियद कथे	कभी न समाप्त होने वाली कहानी
2.कविय पौर्णिमे	कवि की पूर्णिमा
3.ताई	माँ
4.पंजरद गिणी	पिंजडे का तोता
5.हुलिय हेंगरलु	शेर की दया
6.वंदु हिन्नुड़ि	उपसंहार
7.खोजराज	खोजराज
8.प्रकृति	प्रकृति
9.प्रश्ने	प्रश्न
10.कार्तीक	कार्तिक
11.प्रस्त	सुहागरात
12.घटश्राद्ध	घटश्राद्ध

कन्नड़ हिन्दी अनुवाद की समस्याओं पर विचार करते समय दोनों भाषाओं की ध्वनिपरक, रूपपरक, वाक्य रचना परक और शैली परक समस्याओं पर दृष्टि डालना संगत है।

1.ध्वनिपरक समस्या :

हिंदी और कन्नड़ भाषाओं के बीच ध्वनिपरक समस्या खासकर लिप्यंतरण में होती है, क्योंकि दोनों भाषाओं में ध्वनि-संकेत संस्कृत भाषा पर आधारित होने पर भी संपूर्ण नहीं है। हिन्दी में कुछ ध्वनियों के लिए संकेत नहीं है जैसे- 'ए' और 'ओ' के ह्रस्व रूप के लिए लिपि संकेत नहीं है। 'ळ' ध्वनि का उपयोग हिन्दी में नहीं है। इसलिए 'ळ' की जगह 'ल' कर दिया जाता है। अतः इन ध्वनियों के लिप्यंतरण में समस्या उठती है। वैसे ही उच्चारण की समस्याएं भी लिप्यंतरण में बाधक है। जैसे नहीं शब्द में अंतिम अनुस्वार का उच्चारण नहीं होता। उसी को कन्नड़ में लिप्यंतरण किया जाय तो 'नहीम' उच्चारण करना पड़ता है।

हिन्दी में संयम लिखा जाता है, उच्चारण में 'सय्यम' होता है। कन्नड़ में यह बात नहीं। अतः कन्नड़ में ध्वनि संकेत और लिपि संकेत में अंतर नहीं है।

1.रूपपरक समस्या :

कन्नड़ में कारक विभक्ति प्रत्यय कहलाते हैं- कन्नड़ में सात विभक्ति प्रत्यय हैं। हिन्दी में आठ कारक हैं। कन्नड़ में कर्ता और कर्म के साथ वाक्य में विभक्ति प्रत्यय लगते हैं। निश्चित प्रत्यय लगाने में कोई कठिनाई नहीं होती। हिन्दी के समान विभक्ति प्रत्यय लगाने पर क्रिया में विशिष्ट परिवर्तन भी नहीं होता। हिन्दी में कारकों के प्रयोग के नियम होते हैं। एक विशिष्टता होती है

जैसे- 'ने'

इसके प्रयोग में विशिष्ट नियम का पालन करना पड़ता है।

सीता ने फल खाये। (हिंदी)

सीतेयु हण्णुगळन्नु तिंदळु। (कन्नड़)

कन्नड़ में कर्ता लिंग के अनुसार बदलता है।

जैसे- रामनु बंदनु। राम आया।

सीतेयु बंदळु। सीता आयी।

हिन्दी में 'का' संबंधकारक के प्रयोग में विशिष्टता है। कन्नड़ में संबंधकारक का संबंध केवल जिस शब्द से जुड़ जाता है, उससे होता है। हिन्दी में उसका संबंध कारक के आगे के शब्द से होता है।

जैसे –

कन्नड	हिंदी
रामन सहोदर	राम का भाई
रामन सहोदरी	राम की बहन
रामन सहोदरु	राम के भाई
रामन सहोदर तंदे	राम के भाई के पिता

अतः कन्नड़ हिन्दी अनुवाद में कारक के प्रयोग की ओर अधिक ध्यान देना पड़ता है।

•कन्नड़ में सर्वनामों के लिंग और वचन का पता सर्वनाम से ही लग जाता है। जैसे -

पु.) अवनु - वह, इवनु - यह

स्त्री) अवळु - वह, इवळु-यह

नपु.) अदु -वह, इदु-यह

•हिन्दी में केवल वह और यह सर्वनाम से उसके लिंग वचन का पता नहीं लगता।

यह गाती है। यह कौन जाता है?

यह गाता है। वह कौन गाती है?

•परंतु सर्वनाम के साथ 'ने' जोड़ने से क्रिया कर्ता को छोड़कर कर्म के अनुसार बदलती है। तब सर्वनाम के लिंग वचन केवल प्रसंग या संदर्भ के आधार पर ही जाने जा सकते हैं।

जैसे- उसने मेरी बात सुनी होती तो ऐसा न होता।

सामान्यतः कहावतों में यह समस्या उठती है, क्योंकि वहां न संदर्भ का पता रहता है न प्रसंग का।

जैसे - उसकी जूती उसी के सर। (हिंदी)

अवन/ अवळ मेट्टू अवन/ अवळ तलेगे। (कन्नड़)

2.वाक्य-रचना और शैली परक समस्या :

अंग्रेजी की तुलना में कन्नड़ और हिन्दी वाक्य-रचना में अधिक समानता है। परंतु 'ने' और का, के, की कारकों के विशिष्ट प्रयोग के कारण वाक्य-रचना का क्रम टूट जाता है।

जैसे –

रामनु काड़िगे होदनु। (कन्नड़)

राम वन गये। (हिंदी)

रामनु रोट्टियन्नु तिंदनु। (कन्नड़)

रामने रोटी खायी। (हिंदी)

•कन्नड़ में भी हिन्दी के समान केवल प्रत्यक्ष उक्ति है। परोक्ष उक्ति नहीं है। परंतु वाक्य-रचना क्रम कन्नड़ में बदल जाता है। कन्नड़ में वाक्य के अंत में 'अंतहेळिद' (ऐसा कहा) 'अंते' (कहा जाता है) आदि का प्रयोग होता है।

जैसे- नाळे बरूत्तेवेंदु अवरू हेळिदरू। (कन्नड़)

उन्होंने कहा कि कल आयेंगे। (हिंदी)

अवरू ऐंदु बरूत्तारंते? (कन्नड़)

वे कब आते हैं। (उन्होंने कब आने की बात कही।) (हिंदी)

•कन्नड़ में सभी शब्द को दुहराते हैं। हिन्दी में दुहराते समय पुनरूक्ति होती है जैसे पानी-पानी, भाई-भाई। कन्नड़ में उस शब्द में थोड़ा परिवर्तन करके बोला जाता है।

जैसे-नीरू-गीरू, बंदरे-गिंदरे, यहां गीरू या गिंदरे का कोई अर्थ नहीं होता। इस प्रकार का प्रयोग हिन्दी में नहीं है। यह कन्नड़ शैली की विशिष्टता है। कन्नड़ की देखादेखी पानी - वानी जैसा प्रयोग हिंदी में चल पड़ा है।अनंतमूर्ति के कहानी साहित्य के अनुवाद में वाक्य के स्तर पर निम्नलिखित समानताएँ और असमानताएँ देखने को मिलती हैं।

उदाहरण के लिए -

1)"अक्क हारिकोंड बाविय नीरू बेड''1

इस वाक्य का अनुवाद हिन्दी में इस प्रकार हुआ है-

"यह कुआँ नहीं चाहिए"।[2]

कन्नड़ के वाक्य में कुएँ के पानी से मनाही की गई है। लेकिन हिन्दी अनुवाद में कुएँ को ही मना किया गया है। यह वाक्य इस तरह होता तो सटीक होता।

"इस कुएँ का पानी नहीं चाहिए"।

2) 'एंजलेले हेक्कक्कू वल्लदे बीदी नाई बिद्कोंडिरोउ - चावडीले वंद थरा गोगरीता''।[3]

इस वाक्य का अनुवाद हिन्दी में इस प्रकार हुआ है-

"जूठी पत्तलें चाटना छोड़कर पालतू कुत्ते की तरह खाली पड़े ओसारे में बैठे अजीब सी आवाज़ निकालकर हमारे घर में तो रस्सी खोलकर भैंसे भी बाहर नहीं निकली''।[4]

यहाँ हिंदी अनुवाद कन्नड़ के वाक्य से मेल नहीं खाता।

"जूठी पत्तल चाटना छोड़कर पालतू कुत्ते ओसारे में आजीब सी आवाज में चीखते पड़े रहते।''

यह इस प्रकार होना चाहिए था।

3) "हेरळन्नेत्ति एदेय मेले इळी बिट्टळु''।[5]

यह कन्नड़ का वाक्य है इसका अर्थ है ''वेणी को उठाकर वक्ष पर लटका दिया'' किंतु उपर्युक्त वाक्य का अनुवाद इस प्रकार हुआ है-

"उसने गले की चेन साड़ी से बाहर निकालकर''।[6]

यहाँ हेरळु का अर्थ वेणी (चोटी) है गले की चेन नहीं।

4) "गगनद नीलियल्ली मुगिल संकेतगळल्ली देवरु बरेद प्रकृतिय अमर काव्यवन्नु गुरूतिसुव तनकऊ बदुकु उळियालिल्ल''।[7]

इस वाक्य का हिन्दी में इस प्रकार अनुवाद हुआ है।

"गगन की नीलिमा में, क्षितिज के संकेतों में, भगवान के लिखे प्रकृति के अमर काव्य को पहचान पाने तक का जीवन ही नहीं मिला"।[8]

इस वाक्य में काफी समानताएँ दिखाई देती हैं। अनुवाद स्तर पर सटीक लग रहा है।

3.शब्दावली तथा अर्थपरक समस्या :

वास्तव में अनुवादकों के लिए यह एक विशिष्ट समस्या है। खासकर भारतीय भाषाओं के बीच में जब अनुवाद का कार्य चलता है। तब इस प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। सभी भारतीय भाषाओं में- आर्य और द्रविड़, संस्कृत के शब्द अधिक प्रचलित हैं। परंतु उन शब्दों में अर्थ उत्कर्ष, अर्थोपकर्ष, या अर्थ संकोच होता रहता है। इन परिवर्तनों को जाने बिना प्रयोग करने से अनुवाद सफल नहीं होता।

जैसे:

अ.क्र.	संस्कृत	हिन्दी	कन्नड
1	सचिव	सचिव (कार्यदर्शी)	सचिव (मंत्री)
2	मंत्री	मंत्री(कार्यदर्शी)	मंत्री(मिनिस्टर)
3	अभिमान	गर्व	अभिमान(गौरव,स्वाभिमान)
4	उपन्यास	उपन्यास(Novel)	उपन्यास (भाषण)
5	साध्य	साध्य (लक्ष्य)	संभव

संदर्भ -* 9

कन्नड़ भाषा प्रदेश में घर से निकलते समय 'आऊँगा' शब्द का प्रयोग करते है। क्योंकि 'जाऊँगा' शब्द का उस संदर्भ में प्रयोग करना अशुभ माना जाता है। पंरतु हिन्दी प्रदेश में 'आऊँगा' शब्द इस संदर्भ में नहीं चलता है।यू.आर. अनंतमूर्ती जी की कहानियों के अनुवाद में शब्दावली और अर्थ स्तर पर विश्लेषण करेंगे तो निम्नलिखित बिंदुओं पर ध्यान जाता है।

शब्द के स्तर पर :

- प्रश्ने-प्रश्न (कहानी):

प्रश्ने के अनुवाद में शब्द के स्तर पर समानताएँ और असमानताएँ देखने को मिलती हैं।

जैसे: मुस्संजे - मुँह अँधेरे

उसी प्रकार निम्नलिखित अनुवाद देखेंगे तो ध्वनि में थोड़ी सी समानता देखने को मिलती है।

जैसे : गायवाद – घायल

जीरिगे-जीरा

उपर्युक्त शब्द में ध्वनि की समानता देखी जा सकती है।

हुलि - शेर 'हुलि' का अर्थ हिन्दी में बाघ होता है। लेकिन इस कहानी में हुलि शब्द के लिए शेर शब्द का प्रयोग किया गया है। शेर को कन्नड़ में सिंह कहते हैं। अनुवाद में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग यथा प्रकार किया गया है। क्योंकि संस्कृत के तत्सम शब्दों को एक ही अर्थ में विभिन्न भाषाओं में प्रयोग में लाए जा सकते हैं।

जैसे:

कन्नड़	हिंदी
भ्रमे	भ्रम
चतुर्दशी	चतुर्दशी
तीर्थयात्रे	तीर्थयात्रा
असह्य	असह्य
सुख	सुख

बाह्य शून्य	बाह्य शून्य
तृप्ति	तृप्ति
वंशपारंपर्य	वंश-परंपरा
उत्साह	उत्साह
अनंत	अनंत
प्रेम	प्रेम

दूसरी जगह हिन्दी अनुवाद में शब्द होने के बावजूद अंग्रेजी शब्द दिया गया है। हालाँकि अंग्रेजी का शब्द रखना कोई गलत विषय नहीं है। किन्तु जब प्रचलित शब्द हमारे पास है तो उस शब्द को रखना चाहिए।

जैसे : जिरळे - कॉकरोच

जिरळे के लिए हिन्दी में तिलचट्टा शब्द का प्रयोग किया जा सकता था।

अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग भी किया गया है।

जैसे : धग-धगने - दपदप

कुछ शब्द थोड़े बहुत अंतर के साथ समान ध्वनि के हैं। जो कन्नड़ और हिन्दी दोनों में प्रयोग में लाए जा सकते हैं।

जैसे : अग्गिष्टिके - अँगीठी

- कार्तीक – कार्तिक (कहानी) :

कार्तिक के अनुवाद में शब्द के स्तर पर समानताएँ और असमानताएँ देखने को मिलती हैं।

अनुवाद में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग यथा प्रकार किया गया है।

जैसे : उदासीन – उदासीनता

भय – भय

सुख दुख – सुख दुख

मुंडासु के लिए पगड़ी शब्द सटीक बैठता है। लेकिन फैंटा शब्द का प्रयोग हिन्दी में किया गया है।

जैसे : मुंडासु - फैंटा

- पंजरद गिणी - पिंजडे का तोता (कहानी) :

पंजरद गिणी के अनुवाद में शब्द के स्तर पर समानताएँ और असमानताएँ देखने को मिलती हैं। कुछ शब्द भिन्न प्रकृति के भी होते हैं जिनको देखकर यह नहीं लगता कि वे पर्यायवाची भी हो सकते हैं।

जैसे : सुटलु - उत्पत्ति

अनुवाद में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग यथा प्रकार किया गया है।

जैसे : बोधिवृक्ष - बोधिवृक्ष

वर्ष - वर्ष

कौमुदि - कौमुदी

एकांत - एकांत

पर्वत - पर्वत

कुछ शब्द थोड़े-बहुत अंतर के साथ समान ध्वनि के हैं। जो कन्नड़ और हिन्दी दोनों में प्रयोग में लाए जा सकते हैं। उनका प्रयोग इस कहानी में हुआ है।

जैसे : चंद्र - चाँद

माये – माया

रंगुरंगिन - रंगारंग

मंटप - मंड़प

- नाते रिश्ते के शब्दों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है। यू.आर. अनंतमूर्ती जी की कहानियों में प्रयोग में लाये गये नाते-रिश्ते के शब्द निम्नलिखित हैं। उनका हिंदी रूप भी नीचे दिया जा रहा है जो अनूदित कहानियों में आये हैं:

अ.सं.	कन्नड़	हिंदी
1.	मावय्या	मामा
2.	अक्क	दीदी
3.	मगळे	बेटी
4.	अप्पय्य	पिताजी
5.	अम्म	माँ
6.	अज्जी	दादी
7.	अज्ज	दादा
8.	मरिमग	पड़पोता
9.	मोम्मग	पोता
10.	हेंडति	पत्नी
11.	सोसे	बहू
12.	अण्ण	भाई
13.	अत्तिगे	भाभी

4. पर्यायवाची की समस्याएँ :

वाक्य में पद का बहुत महत्व होता है। साथ ही प्रत्येक पद की स्थिति और उसके प्रयोग का भी महत्व होता है। जिस प्रकार वाक्य किसी अनुच्छेद का सहज अंग होता है उसकी प्रकार वाक्य में भी प्रत्येक शब्द अपने अर्थ में महत्वपूर्ण होता है। अनुवादक के पास हो सकता है कि मूल कृति में प्रयुक्त शब्दों के उपयुक्त पर्याय हों। प्रत्येक भाषा में अनेक ऐसे शब्द भी होते हैं जिनको हम प्रायः पर्याय समझ लेते हैं। कृति में प्रयुक्त शब्द की मूल आत्मा को समझकर अनुवादक को उसके लिए उपयुक्त शब्द चुनना चाहिए। शब्द की शक्ति प्रयोग में ही निहित होती है।आदर्श पर्याय तो बहुत ही

कम होते हैं जिनका अर्थ एक दूसरे के पूर्णतः समान होता है। व्यवहार में इन सब पर्यायों में निकटता तो होती है, पर अर्थ की समानता कम होती है।

उदाः कोमल, मृदु, मृदुल, मुलायम, नाजुक, नरम (नर्म), सुकुमार सभी का भाव एक समान होते हुए भी प्रयोग से अर्थ भिन्नता स्थापित हो जाती है।

प्रखर, तीक्ष्ण, तथा कुशाग्र के रूप भिन्न भावों में हिन्दी में मिलते हैं जो शायद दूसरी भाषा में न हों।

दुःख, दर्द, विषाद और शोक का जितना स्पष्ट अर्थ हिन्दी में है उतना अन्य भाषाओं में शायद न हों। फिर भी इस श्रंखला में कष्ट, क्लेश, पीड़ा, यातना, वेदना, व्यथा, यंत्रणा आदि शब्दों को बढ़ाया जा सकता है।

प्रयोग तथा संदर्भ भेद से ही अर्थ भेद निश्चित होता है। अर्थ संकेत पर भारतीय परंपरा में पर्याप्त विवेचन मिलता है। अर्थ तत्व में शब्द शक्तियों अभिदा, लक्षणा, व्यंजना का विशेष महत्व है।

वाक्य में पदों का विशेष महत्व होता है। सामान्यतः हिन्दी में 'पद' और 'शब्द' में भेद कर दिया जाता है। वाक्य में प्रयुक्त होने पर शब्द ही पद है, पर हिन्दी में संस्कृत जैसा भेद नहीं होता। हिन्दी के वाक्य में प्रत्येक शब्द की स्थिति और उसके प्रयोग का भी महत्व है। जिस प्रकार वाक्य किसी अनुच्छेद का सही अंग होता है उसी प्रकार वाक्य में भी प्रत्येक शब्द अपने अर्थ में महत्वपूर्ण होता है। मूल लेखक के पास पर्याप्त पर्याय होते हैं जिसमें से छाँटकर वह उपयुक्त शब्द रखने का प्रयास करता है। अनुवादक के पास भी अपनी भाषा में पर्याप्त पर्याय हो सकते हैं जिनमें उसे चुनाव करना होता है। प्रत्येक भाषा में अनेक ऐसे शब्द होते हैं जिनको प्रायः पर्याय समझ लिया जाता है। रचना में प्रयुक्त शब्द की मूल आत्मा को समझकर अनुवादक को उपयुक्त शब्द चुनना चाहिए। मूल कृति में प्रयुक्त शब्द के भाव को दूसरी भाषा में संप्रेषित करने की भरपूर कला अनुवादक में होनी चाहिए। ऐसे पर्याय तो बहुत कम होते हैं जिनका अर्थ एक दूसरे से पूर्णतः समान हो।

उपसंहार :

आज के समाज में भाषा एक सशक्त माध्यम के रूप में उभर रही है। भाषा संप्रेषण का साधन है। भाषा के बिना आज कोई भी कार्य संपन्न नहीं होता। इसलिए भाषा पर हमेशा से ही शोध होते रहे हैं। भाषा एक संपत्ति है। परिवेश के अनुसार वह भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है। मनुष्य-मनुष्य के बीच संपर्क स्थापित करने वाला साधन भाषा है, लेकिन अनेक भाषाओं के कारण हम एक दूसरे से संपर्क भी नहीं कर पाते। भाषा के साथ उस प्रदेश की संस्कृति, जन-जीवन, आचार-विचार जुड़े रहते हैं। एक भाषा प्रदेश के व्यक्ति को दूसरी भाषा जानने के लिए उस भाषा प्रदेश की संस्कृति को आचार-विचार को समझना जरूरी है। दूसरी भाषा की विशेषता को जानने के लिए अनुवाद का सहारा लेना पड़ता है। इसीलिए हम देखते हैं कि विश्व में जितना भी मूल लेखन हुआ है उसका अनुवाद किसी न किसी भाषा में देखने को मिलता है, जिससे हम उस भाषा समाज की संस्कृति से परिचित होते हैं। इस तरह भावनाओं का आदान होता है। इस लेख में भी हम देखते हैं कि डॉ. यू.आर. अनंतमूर्ती के कहानी साहित्य का अनुवाद हिंदी में किया गया है। उसका भाषिक विश्लेषण करने का एक छोटा सा प्रयत्न किया गया है।

संदर्भः

1.ऐदु दशकद कथेगलु (कहानी संग्रह) - प्रश्ने (कहानी) यू.आर. अनंतमूर्ति -पृ.सं. 104

2.घटश्राद्ध (कहानी संग्रह) प्रश्न (कहानी) मूल - यू.आर. अनंतमूर्ति, अनूदित- बी. आर. नारायण - यू.आर. अनंतमूर्ति - पृ. सं. 84

3.ऐदु दशकद कथेगलु (कहानी संग्रह) -हुलिय हेंगरलु (कहानी) यू.आर. अनंतमूर्ति - पृ. सं. 47

4.घटश्राद्ध (कहानी संग्रह) शेर की दया (कहानी) मूल - यू.आर. अनंतमूर्ति, अनूदित- बी. आर. नारायण - यू.आर. अनंतमूर्ति - पृ. सं. 35

5.ऐदु दशकद कथेगलु (कहानी संग्रह) – कार्तीक (कहानी) - यू. आर. अनंतमूर्ति पृ. सं. 136

6.घटश्राद्ध (कहानी संग्रह) – कार्तिक (कहानी) मूल - यू.आर. अनंतमूर्ति, अनूदित- बी. आर. नारायण - यू.आर. अनंतमूर्ति - पृ. सं. 119

7.ऐदु दशकद कथेगलु (कहानी संग्रह) - कविय पूर्णिमे (कहानी) - यू. आर. अनंतमूर्ति पृ. सं. 27

8.घटश्राद्ध (कहानी संग्रह) - कवि की पूर्णिमा (कहानी) मूल - यू.आर. अनंतमूर्ति, अनूदित- बी. आर. नारायण - यू.आर. अनंतमूर्ति - पृ. सं. 15

9.अनुवाद-कार्यदक्षता अनुवाद – कार्यदक्षता भारतीय भाषाओं की समस्याएँ – सृजन संपादन डॉ. महेंद्रनाथ दुबे – पृ.सं. 92

देशज व्यक्तियों के अधिकार और विस्थापन

-डॉ.चित्रा माली
क्षेत्रीय केंद्र,महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,वर्धा,
IA-290,एकतान,साल्टलेक सेक्टर-3 कोलकाता-97
मो.9422905721

भूमिका – जब कहीं विकास और मानव अधिकारों की बात एक साथ की जाती है तब विस्थापन और देशज व्यक्तियों की समस्याओं खासकर उनकी संस्कृति,आजीविका रहन सहन जीवन शैली और उनकी धरोहरों के सहेजने की प्रश्न पर बात करना जरुरी हो जाता है। पिछले कुछ वर्षो में जिस विकास के मॉडल को हमने अपनाया है उसके चलते इस तरह की समस्याएं आये दिन हमारे समक्ष उपस्थित होतीं रहीं हैं और उनके समाधान का रवैया भी एक जैसा होता रहा है और बड़ी कम्पनियों के उद्देश्यों के पूर्ण होने के साथ ही उनकी समस्याओं को भुला दिया जाता रहा है। इस लेख में ऐसे ही लोगों की समस्याओं को अकादमिक तरीके से देखने समझने की कोशिश की गयी है ताकि इसे मुख्य विमर्श में शामिल किया जा सके।

विषय वस्तुः देशज या मूलवासियों के अधिकारों पर विमर्श की शुरुआत 1977 में जिनेवा में हुए गैर सरकारी संगठनों के सम्मेलन में हुई थी। इसके बाद पूरी दुनिया के देशों का ध्यान । संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा 1992 को मूलवासियों का अंतरराष्ट्रीय वर्ष घोषित किया गया। तत्कालीन संयुक्त राष्ट्र संघ के अध्यक्ष बुतरस घाली ने कहा कि मूलवासियों के अधिकारों का संरक्षण ही मानवाधिकारों की कसौटी होगा। मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की अवधारणा में प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत अधिकार पर अधिक जोर दिया गया है जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक अधिकार मिल सकें। मानवाधिकारों के विस्तार और विकास ने सामुदायिक और सामूहिक अधिकारों के संरक्षण की ओर भी मानवाधिकारवादियों का ध्यान आकर्षित किया। एरिका आइरिन ए. डेज ने तो यहां तक कह दिया कि स्वयं संयुक्त राष्ट्र संघ का भविष्य आंतरिक उपनिवेशीकरण से मूलवासियों की मुक्ति पर निर्भर करता है। 1993 में वियना में आयोजित मानवाधिकारों के सम्मेलन में मूलवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकृति प्रदान की और यह भी स्पष्ट किया कि आत्मनिर्णय का अभिप्राय महज इतना है कि वे अपने तौर तरीकों से जीवनयापन कर सकते है। किसी अलग राष्ट्र या राज्य के निर्माण से इन अधिकारों का कोई संबंध नहीं है। ऐंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के मुताबिक भारत में 461 जनजातीय समुदाय रहते हैं। भारत के संदर्भ में अगर मूलवासी या देशज व्यक्तियों के अधिकारों की बात की जाए तो भारत द्वारा हमेशा संयुक्त राष्ट्र संघ में जनजातियों को भारत का मूलवासी या आदिवासी मानने का आधिकारिक रूप से विरोध किया जाता रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के देशज व्यक्तियों के लिए बनाए गए कार्यदल में भी भारत सरकार के द्वारा तर्क दिए गए हैं कि अगर जनजातियों को देशज माना जाएगा तो देश में कुछ और जातियों के द्वारा भी देशज जाति होने का दावा किया जाएगा। भारत सरकार ने कई अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी जनजातियों और मूलवासियों के सवाल को उठाया है और ये भी कहा है कि आदिवासी (ट्राइब) और देशज (इंडिजीनस) शब्द पर्यायवाची शब्द नहीं है। एक तर्क यह भी दिया जाता है कि भारत की जनजातियां अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया के मूलवासियों से भिन्न है क्योंकि कई हजारों साल पहले से कई समुदायों का आगमन लगातार भारत में होता रहा है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सी जनजातियां वहां की मूलवासी या देशज है। कई लोग इन तर्कों को न मानकर इन्हीं जनजातियों को देशज जातियों का दर्जा दिलाने की लगातार हिमायत करते हैं ताकि उनके मानवाधिकारों की रक्षा की जा सके। देशज श्रेणी में आने से अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी इनके अधिकारों के हनन को रोका जा सकता है साथ ही भारत पर भी इनके अधिकारों के लिए दबाव बनाया जा सकता है। भारतीय संविधान में भी इन जनजातियों को उनकी आबादी के अनुसार आरक्षण का प्रावधान किया गया है। इन्हें भी अनुसूचित जातियों की तरह सरकारी नौकरियों,शिक्षण संस्थानों और राजनीति में अलग से निर्वाचन क्षेत्रों में उम्मीदवारों के रूप में चुनाव लड़ने का आरक्षण प्रदान किया गया है। भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की पहचान की प्रक्रिया एक ही है। साथ ही ब्रिटिशर के द्वारा जिन नीतियों का इस्तेमाल किया था उन्हीं का अनुसरण भारतीय सरकारों के द्वारा भी किया गया है। भारतीय संविधान के भाग तीन में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है जो पूर्व में सात तथा बाद में छह भागों में विभाजित किए गए हैं। 1978 में 44 वें संविधान संशोधन के द्वारा संपत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की श्रेणी से हटा दिया गया है। यह अधिकार प्रारंभ से ही विवादों के घेरे में था। इसको हटाने के बाद यह उम्मीद की जा रही थी कि संपत्ति के केंद्रीकरण को रोका जा सकेगा। लेकिन छत्रपति सिंह जैसे विद्वान यह मानते है कि यह कदम आदिवासी समुदाय के पक्ष में नहीं है क्योंकि इस अधिकार की समाप्ति से आदिवासियों के जल,जंगल,जमीन और संसाधनों पर अधिकार को सरकार के द्वारा अधिग्रहित किया जा सकता है और इसके लिए वे न्यायालय की शरण भी नहीं ले सकेंगें। वर्तमान समय में उनके विस्थापन को भी इससे जोड़कर देखा जा सकता है और इसके पूर्व के विस्थापन को भी इसमें शामिल किया जा सकता है। आदिवासी समुदाय या अनुसूचित जनजातियों के लिए इनकी विशिष्ट भाषा,संस्कृति और परंपरा के अधिकार को बनाए रखने के लिए मौलिक अधिकारों में अनुच्छेद 29 व 30 जो अल्पसंख्यक समुदाय के अधिकारों के संरक्षक से संबंधित है इनका भी उसमें समावेश किया गया है। अनुच्छेद 29 में अपनी विशिष्ट भाषा,लिपि,संस्कृति,को बनाए रखने का

अधिकार है। उसी के साथ अनुच्छेद 30 में अपनी भाषा आधारित शिक्षण संस्थाओं का निर्माण और शिक्षा ग्रहण करने के अधिकार को शामिल किया गया है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 15 का (4),अनुच्छेद 16(4),अनुच्छेद 46,अनुच्छेद 164(1),अनुच्छेद 330,अनुच्छेद 337,अनुच्छेद 334,अनुच्छेद 243,अनुच्छेद 371,अनुच्छेद 350,अनुच्छेद 244,अनुच्छेद 275। इन सभी अनुच्छेदों में अनुसूचित जनजातियों के अधिकारों के संरक्षण का प्रावधान किया गया है। भारतीय संविधान की पांचवी व छठी अनुसूची में अनुसूचित जनजातियों व जनजातीय क्षेत्रों के भूमि अधिग्रहण के लिए कुछ कानून नियम बनाए गए हैं ताकि उनके अधिकारों का संरक्षण किया जा सके। इसी के साथ जनजातीय सलाहकार परिषद और स्वायत्तशासी परिषद का प्रावधान भी किया गया है,लेकिन ये नाकाफी साबित हुए हैं और जल,जंगल और जमीन के अधिकारों का हनन लगातार जारी है। सरकारों द्वारा इन जनजातियों के लिए जो प्रावधान किए गए हैं उनसे इनकी विशिष्ट संस्कृति,भाषा,परंपरा का संरक्षण किया जाना है और साथ ही इनका विकास कर इन्हें मुख्य धारा से जोड़ने का कार्य भी है किया जाना है जो आपस में विरोधाभास लिए हुए है। इन्हें स्वयत्तता भी प्रदान करना है और उन्हें लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी शामिल करना है जो बहुत आसान कार्य नहीं है। नब्बे के दशक के बाद जनजातियों के कल्याण और विकास की परियोजनाओं के बजाय सशक्तिकरण की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। 73 वें और 74 वें संविधान संशोधन के तहत इन जनजातियों को राजनीतिक आरक्षण दिया गया ताकि यह विकास की प्रक्रिया में सहभागी हो सकें। जनजातीय बहुल इलाकों में उत्तर पूर्व के मिजोरम, नागालैंड, मेघालय, अरूणाचल प्रदेश,असम में इनकी बहुसंख्यक आबादी है। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश, राजस्थान,ओडिशा,गुजरात,महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश,छत्तीसगढ़,बिहार,झारखंड और अंडमान निकोबार में भी जनजातियों की अधिक संख्या है। विकास के नाम पर चलाई जा रही महत्वाकांक्षी परियोजनाओं जिसमें रेल्वे ट्रेक,सड़कें, बड़े बांधों का निर्माण,स्पेशल इकोनॉमिक जोंस (एसईजेड्स) परमाणु संयंत्र एवं पनबिजली उद्योगों की स्थापना आदि के लिए आदिवासियों और निम्न तबकों का भारी संख्या में विस्थापन को देखा जा सकता है। इन परियोजनाओं के कारण 80 लाख से अधिक आदिवासी समुदाय के लोगों को विस्थापन का दंश झेलना पड़ रहा है। विस्थापितों की कुल संख्या में से चालीस प्रतिशत से अधिक आदिवासी समुदाय के लोग हैं। प्रति 10 लोगों में से एक आदिवासी समुदाय का व्यक्ति जो इस विकास के लिए बलिदान दे रहा है। यह विस्थापन जल,जंगल और जमीन के लिए होता रहता है। इन विस्थापनों से संघर्ष और आंदोलनों की शुरुआत भी होती है जिसमें कई आंदोलनों को शामिल किया जा सकता है जैसे नर्मदा बचाओ आंदोलन, बोधगया का भूमि आंदोलन,पोटका आंदोलन, आणविक संयंत्र के लिए भूमि अधिग्रहण के खिलाफ महाराष्ट्र के जैतपुर में आंदोलन,वेदांता कंपनी द्वारा बॉक्साइट खनन के खिलाफ ओडिशा के नियमगिरि का आंदोलन,एसईजेड्स के खिलाफ पश्चिम बंगाल के नंदीग्राम का आंदोलन आदि, इसके अतिरिक्त अन्य कई संघर्षों और आंदोलनों को भी इसमें शामिल किया जा सकता है खासकर जिन्हें विकास विरोधी और नक्सलियों से प्रभावित भी बताया जाता रहा है। 1986 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने विकास के अधिकार का घोषणा पत्र स्वीकार करते हुए कहा था कि यह एक ऐसा अधिकार है जिससे किसी भी व्यक्ति को वंचित नहीं किया जा सकता है। इसी घोषणा पत्र के अनुच्छेद 2 में यह उल्लेखित है कि विकास का केंद्रीय बिंदु मानव है और वह विकास की प्रक्रिया का सक्रिय सहभागी और उसके लाभों को भोगने वाला भोक्ता भी होना चाहिए। यही बात एक व्यक्ति और व्यक्तियों के समूह या कहें विशिष्ट समुदायों पर भी लागू होती है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी समूह की कीमत पर किसी दूसरे समूह का विकास वास्तविक विकास की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। क्योंकि उसके केंद्र में मानव की संकल्पना ही नहीं है साथ ही साथ इस विकास से आने वाली पीढ़ियों के अधिकारों का भी हनन है जो अन्याय समझा जाना चाहिए। इसे सनातन न्याय (इंटरजनरेशनल जस्टिस) कहा जाता है। क्योंकि उन्हें अपनी संस्कृति,परंपरा से भी विमुख किया जाता है और विस्थापित हो भटकने के लिए मजबूर किया जाता है। जिससे वे अपने देशज ज्ञान को आने वाली पीढ़ी को हस्तांतरित भी नहीं कर पाते है। जब भी किसी बड़ी परियोजना के लिए विस्थापन होता है तो यह अवश्य कहा जाता है कि जनहित में किया जा रहा है,इसके साथ ही यह तर्क भी दिया जाता है कि विकास के लिए थोड़ा विनाश आवश्यक है। विस्थापन महज अपनी भूमि से अलग होना नहीं है जिसे सरकारी मुआवजे की राशि से भरा जा सके। खासकर आदिवासियों के लिए भूमि सिर्फ एक आर्थिक वस्तु न होकर संस्कृति है जिससे वह जुड़ाव महसूस करते हैंऔर उसी से वे अपनी पहचान बनाते हैं। एलेक्सा एक्का ने आदिवासी जीवन-दर्शन एवं भूमि से उनके नजदीकी रिश्ते की व्याख्या करते हुए कहा है कि सिर्फ भूमि की ऊपरी परत ही नहीं,बल्कि भूमि का आंतरिक भाग,उसके जल स्त्रोत,खनिज तथा भूमि पर स्थित जंगल,पेड़ पौधे,जीव जंतु,पक्षी सभी उनके हैं। अस्तित्व से जुड़ी आवश्यकताएं एवं जीवन निर्वाह का आधार तो भूमि के द्वारा प्रदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति के साथ उनका सहजीवी संबंध भी रहता है।भूमि केवल एक आर्थिक संपत्ति नहीं है बल्कि वह सामुदायिक अस्मिता से जुड़ी हुई है। भूमि से जुड़ाव के अलग अलग पहलू है जो जीविका, सुरक्षा, अतीत,सामाजिक सम्मान,पूर्वजों की संपत्ति, पर्यावरण समरूपता व सहजीविता जैसे रुपों को अपने में समेटे हुए हैं। 19 वीं शताब्दी के प्रारंभ से विकासात्मक परियोजनाओं का जन्म हुआ,इसी के जन्म के साथ विस्थापन की शुरुआत हुई जो आज तक अनवरत जारी है। परियोजनाओं से प्रभावित क्षेत्रों एवं विस्थापित लोगों के बीच किए गए विभिन्न अनुसंधानों और सर्वेक्षण से यह निष्कर्ष निकलकर सामने आए हैं कि इन परियोजनाओं के दुष्प्रभाव महिलाओं और बच्चों पर अधिक पड़ता है। सरकार के द्वारा जब भी किसी भूमि का अधिग्रहण कराया जाता है तो वह जनहित के नाम पर अधिग्रहित कराई जाती है लेकिन इतने वर्षों बाद भी जनहित शब्द को परिभाषित नहीं किया गया है। भूमि अधिग्रहण एक्ट 1894 जो अंग्रेजों के द्वारा बनाया गया था उसे 100 वर्षों बाद 1994 में संशोधित किया गया जिसमें जनहित के नाम पर भूमि अधिग्रहण कर सकने वाली कई और

कंपनियों के नामों को सूची में शामिल कर लिया गया। जिससे अधिक से अधिक जनहित के लिए भूमि का अधिग्रहण किया जा सके। पुनर्वास का मूल उद्देश्य विस्थापितों को उनके पूर्व के जीवन स्तर से उच्च जीवन स्तर उपलब्ध कराना है। पुनर्वास नीति के मसौदे में विस्थापितों को उनकी संस्कृति, परंपरा एवं ग्रामीण संरचना के आधार पर पुनर्स्थापित करने का प्रावधान है। इसी के साथ विस्थापितों के लिए अल्पकालिक रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने का प्रावधान भी है। जमीन के बदले जमीन का प्रावधान भी है या बाजार मूल्य के अनुसार मुआवजा देने का प्रावधान भी रखा गया है। नीति-निर्माताओं ने स्वीकार किया है कि विस्थापितों में भूमिहीन किसानों,कलाकारों, नाई, बढ़ई,कुम्हार, जुलाहे,व्यपारी व अन्य ऐसे लोग भी हैं जो पूर्णतः ग्रामीण संरचना पर निर्भर होते हैं और इन परियोजनाओं से पूरी तरह उजड़ जाते हैं।(रिहैबिलिटेशन पॉलिसी एंड लॉ इन इंडिया:ए राइट टू लाइवलीहुड पृष्ठ 40) मुआवजे का अधिकार केवल पट्टा मलिकों को ही है भूमिहीन किसान,आदिवासी या अन्य गरीब लोगों के लिए इस नीति में कोई प्रावधान नहीं है। (रिहैबिलिटेशन पॉलिसी एंड लॉ इन इंडिया:ए राइट टू लाइवलीहुड पृष्ठ 40) जमीनी हकीकत कुछ और ही है,कुछ परियोजनाओं में तो विस्थापितों के लिए आवासीय जमीन तक नहीं है, अल्पकालिक रोजगार भी दूर की बात है, ऐसी स्थिति में विस्थापित परिवारों को एक हजार रुपए प्रतिमाह देने का प्रावधान है। (रिहैबिलिटेशन पॉलिसी एंड लॉ इन इंडिया:ए राइट टू लाइवलीहुड पृष्ठ 45 व 95) पुनर्वास नीति का निर्माण भी पितृसत्तात्मक सोच के तहत किया गया है वो भी उस समुदाय के लिए जिसमें महिलाएं मुख्यधारा समाज की महिलाओं से कहीं अधिक सशक्त और स्वतंत्र है। जमीन के बदले जमीन या मुआवजे की राशि घर के पुरुष को दी जाती है,उसके न होने पर बड़े लड़के को,लड़की या परिवार की अन्य महिलाओं को नहीं दी जाती जिससे स्थितियां और भी जटिल हो जाती हैं| विस्थापन के साथ साथ जीवनयापन के लिए भी संघर्ष करना होता है। विकास की इस पूरी प्रक्रिया में आदिवासी समुदाय के मौलिक अधिकारों का हनन लगातार होता रहा है। पुनर्वास नीति के मसौदे के उल्लंघन के प्रमाण भी मौजूद है। भूमि अधिग्रहण कानून के क्षेत्र और पुनर्वास नीति में और भी विस्तार की आवश्यकता है। अगर कोई व्यक्ति विस्थापित न होना चाहे और वह अपनी जमीन अपनी जड़ों से जुड़ा रहना चाहे तो उसके लिए भी प्रावधान होना चाहिए न कि उसे जबरन विस्थापित किया जाए। क्योंकि एक व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षण भी राज्य की जिम्मेदारी है। अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी यह स्वीकार किया गया है कि वैश्विक पर्यावरण की चुनौतियों के लिए आदिवासियों के देशज ज्ञान परंपरा से ही निजात पाई जा सकती है। इसलिए विकास की प्रक्रिया और परियोजनाओं में खासकर उनके प्रदेशों से संबंधित विकास में इन समुदायों की सहभागिता को अनिवार्य किया जाना चाहिए। जिससे पर्यावरण संरक्षण और सतत विकास की अवधारणा फलीभूत हो सके। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विकास की परिभाषा को भी परिवर्तित किया गया है जो पहले सकल राष्ट्रीय आय या सकल राष्ट्रीय उत्पाद थी,अब उसे सकल राष्ट्रीय कल्याण GNW कहा जाता है और इसे ही विकास की कसौटी माना जाने लगा है।

निष्कर्ष - भारत में आज भी नीति निर्माताओं के लिए विकास की कसौटी राष्ट्रीय आय या राष्ट्रीय उत्पादन ही है जिसे बदला जाना आवश्यक है जिससे राज्य कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को साकार किया जा सके। संयुक्त राष्ट्र संघ की मानव कल्याण की दृष्टि से आदिवासियों के विस्थापन को देखा जाना चाहिए| हमारे नीति निर्माता,आदिवासियों के हितों को मुआवजे की आर्थिकी से परखते है जबकि नैतिकी आर्थिकी का समावेश किया जाना चाहिए जो संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा मानव विकास का आधार है। आदिवासियों की भाषा,विशिष्ट संस्कृति, परंपरा तथा देशज ज्ञान का संरक्षण इसी आधार पर किया जा सकता है।

संदर्भ

1.भारत सरकार(1989).अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त की रिपोर्ट.39 वीं रिपोर्ट. नई दिल्ली.

2.माई नीति(2007).दिस इज ऑवर होमलैंड. अ कलेक्शन ऑफ ऐसेज ऑन द बिट्रेयल ऑफ आदिवासी राइट्स इन इंडिया. इक्वेशन्स.बंगलुरू. इंडिया

3.सव्यसाची(1998).ट्राइबल फ़ॉरेस्ट-ड्वेलर्स ऐंड सेल्फ रूल:द कांस्टीट्यूएन्ट असेम्बली डिबेट ऑन द फिफ्थ एंड सिक्स्थ शेड्यूल. इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट. नई दिल्ली.

4.बविस्कर अमिता.(सम्पा.)कांटेस्टेड ग्राउंड्स.ऐसेज ऑन नेचर.कल्चर एंड पॉवर. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी. नई दिल्ली.

5.डिनाले.सुजैना बी.सी.(1992).डिसकोर्सेज ऑफ एथनिसिटी कल्चर एंड प्रोटेस्ट इन झारखंड.नई दिल्ली. सेज पब्लिकेशन.

6.शिवा वंदना(2012).मेकिंग पीस विद द अर्थ:बियॉन्ड रिसोर्स. लैंड ऐंड फ़ूड वार्स.वुमन अनलिमिटेड:ऐन एसोसिएट ऑफ काली फ़ॉर वुमन.नई दिल्ली.

7.दुबे अभय कुमार.अनुसूचित जनजातियां.समाज विज्ञान विश्व कोष (2013).अभय कुमार दुबे.(सम्पा.)खण्ड 1.पृष्ठ संख्या 20

8.तिवारी कनक.भारतीय संविधान - 4 समाज विज्ञान विश्व कोष(2013).अभय कुमार दुबे.(सम्पा.) खंड 4.पेज 1262

9.डॉ. शर्मा ब्रह्मदेव(2001).पांचवीं अनुसूची. सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट .नई दिल्ली.

10.गुआ सुमित(1999).एनवायरनमेंट एंड एथनिसिटी इन इंडिया. केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.केम्ब्रिज.

11.तिवारी कनक.भारतीय संविधान - 4 समाज विज्ञान विश्व कोष(2013).अभय कुमार दुबे.(सम्पा.) खंड 4.पेज 1262

मीडिया का चेहरा और चरित्र

-डॉ.शीतल प्रसाद महेन्द्रा
सह आचार्य हिन्दी,
राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
बांदर सिन्दरी, (अजमेर),राजस्थान

किसी ने ठीक ही कहा है कि आजकल मीडिया लगता दीये के साथ है पर है हवा के साथ । आज का मीडिया अपने कार्यों से लोकतंत्र के चोथे पाये का ख़िताब खोता जा रहा है क्योंकि आजकल सनसनीखेज और प्रायोजित पत्रकारिता का प्रचलन ज्यादा हो रहा है । सनसनीखेज या पीत पत्रकारिता (Yellow Journalism) उस पत्रकारिता को कहते हैं जिसमें सही समाचारों की उपेक्षा करके सनसनी फैलाने वाले समाचार या ध्यान-खींचने वाले शीर्षकों का बहुतायत में प्रयोग किया जाता है। इसे समाचारपत्रों की बिक्री बढ़ाने का घटिया तरीका माना जाता है। पीत पत्रकारिता में समाचारों को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया जाता है, सनसनी फैलायी जाती है, या पत्रकारों द्वारा अव्यवसायिक तरीके अपनाये जाते हैं। लगातार यह प्रयास हो रहा है कि संदेश कुछ अलग तरीके से कैसे प्रकाशित प्रसारित हो। इस होड़ ने प्रयोग को बढ़ावा दिया है, जिससे समाचारों के प्रस्तुतीकरण का तरीका थोड़ा रोचक जरूर लगता है, लेकिन यह बनावटी है। इसके पीछे होने वाले तथ्यों के तोड़ मरोड़ और सनसनीखेज बनाने की प्रवृति ने कई विकृतियों को जन्म दिया है, जो पीत पत्रकारिता के दायरे में आता है।

वैश्वीकरण के बाद जिस तरीके से समाचारों के प्रस्तुतीकरण का तरीका बदला है और बदलता जा रहा है। इसने कई सवाल खड़े किए हैं। ऐसा नहीं है कि ये सवाल सिर्फ आज से जुड़े हैं। पहले भी थे और भविष्य में भी होंगे, लेकिन इसकी गंभीरता को अब महसूस किया जाने लगा है। कई स्तर पर इस मुद्दे को लेकर बहस जारी है। हर समाचार संगठन यह दावे के साथ कहता है कि वह स्वस्थ पत्रकारिता का पोषक है और समाचार प्रस्तुतीकरण के क्षेत्र में होने वाले सारे प्रयोग पत्रकारिता के सिद्धांतों और आचार संहिता को ध्यान में रखकर किया जा रहा है, लेकिन सच्चाई यह है कि पत्रकारिता ने एक नया चोला पहन लिया है, जो सिर्फ व्यवसाय की भाषा समझता है। इसके लिए नए नए तरीके ढूढे गए हैं। हर तरीका जाने अनजाने में पीत पत्रकारिता को बढ़ावा देता है।

सूचना क्रांति के इस दौर में इंफोटेनमेंट और एडुटेनमेंट किसी भी समाचार संगठन की संपादकीय नीति का अहम हिस्सा बन गया है। तकनीकी रूप से इंफोटेनमेंट कहने का अर्थ सूचना को मनोरंजन के साथ और एडुटेनमेंट का अर्थ शिक्षा को मनोरंजन के साथ प्रस्तुत करना है। इसने समाचारों में घालमेल की स्थिति उत्पन्न कर दी है। सूचना, शिक्षा और मनोरंजन का ऐसा घोल तैयार किया गया है, जिसमें समाचार और विचार के बीच फर्क करने में परेशानी हो रही है। सूचना और मनोरंजन के संयोजन में तथ्यों के तोड़ मरोड़ की प्रक्रिया ने पत्रकारिता के मूल सिद्धांतों को ही चुनौती दे दी है। इन प्रवृतियों के बीज पीत पत्रकारिता में निहित हैं।

बाजारवादी ताकतों ने पत्रकारिता को मिशन की जगह व्यापार का स्वरूप प्रदान कर दिया। इसे ध्यान में रखते हुए कई बड़े राजनीतिक और व्यावसायिक घरानों का पत्रकारिता के क्षेत्र में आगमन हुआ, जिनका मुख्य उद्देश्य जनसेवा न होकर समाज और सत्ता पर नियंत्रण बनाए रखना है। उन्हें यह भली भांति मालूम है कि पत्रकारिता एक ऐसा जरिया है जिससे जनसमूह में पैठ बनाई जा सकती है। उन्होंने जनसमूह को आकर्षित करने के लिए उनकी रुचियों को बदलने का प्रयास किया, जो पीत पत्रकारिता के तरीकों से ही संभव हुआ। आजकल यू –ट्यूब अधिकतर समाचार चेनल सनसनी फेलाने के लिए ही फोटो और शीर्षक का प्रयोग करतें है यहाँ तक कि गूगल न्यूज़ पर भी शीर्षक मनभावन या सनसनी फ़ैलाने वाले ही आ रहे हैं।बदलते पत्रकारीय परिदृष्य में प्रबंधन ने तथ्यों को तोड़ने मरोड़ने, समाचार को सनसनीखेज बनाने, चटपटी कहानियां प्रस्तुत करने और भड़काऊ चित्रों को प्रकाशित प्रसारित करने को संपादकीय नीति का हिस्सा बना दिया। संपादकों पर ऐसा करने का दबाव डाला गया। धीरे-धीरे पीत पत्रकारिता समाज में अपनी जड़ें मजबूत करता गया। पत्रकारिता की साख बनाए रखना हमेशा से चुनौतीपूर्ण रहा है, क्योंकि इसमें निम्न सिद्धांतों का पालन करना अत्यंत जरूरी होता है- 1. यथार्थता, 2. वस्तुपरकता, 3. निष्पक्षता, 4. संतुलन, 5. स्रोत।

एक पत्रकार के लिए समाचार प्रस्तुतीकरण के दौरान संतुलन का ध्यान रखना अत्यंत जरूरी होता है। यदि वह किसी एक पक्ष को ध्यान में रखकर काम कर रहा है तो वह पूर्वाग्रह से ग्रसित है। इसका तात्पर्य है कि किसी एक पक्ष को फायदा पहुंचाने और दूसरे पक्ष की छवि बिगाडऩे के लिए वह तथ्यों के साथ खेल रहा है और समाचार को तोड़ मरोड़ कर पेश कर रहा है, जो पीत पत्रकारिता है। स्रोत एक अहम जरिया है जो इस बात की पुष्टि करता है कि कोई घटना सही मायने में (कब, कहाँ, क्या, कौन, कैसे और क्यों) घटित हुई है। आज की पत्रकारिता में बिना स्रोत के भी समाचार लिखे जा रहे हैं। उनका चुनाव भी राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को ध्यान में रख कर किया जा रहा है। यह पत्रकारीय सिद्धांतों के खिलाफ है और पीत पत्रकारिता को बढ़ावा देता है। समाचार पत्रों ने प्रसार संख्या और टीवी की टी.आर.पी बढ़ाने के लिए हर हथकंडे अपनाए। विभिन्न तरीकों से पत्रकारों को अपनी ओर खींचने का प्रयास किया गया और कुछ अलग कर दिखाने की नसीहत दी गई।

पीत पत्रकारिता का भयावह रूप तब देखने को मिला, जब न्यूयार्क वर्ल्ड और न्यूयार्क जर्नल ने अमेरिका और स्पेन के बीच युद्ध को हवा दी। दोनों पत्रों ने इसे प्रसार संख्या बढ़ाने और राष्ट्रीय स्तर पर अपना प्रभुत्व कायम करने के अवसर के रूप में लिया। लगातार ऐसे समाचारों का प्रकाशन हुआ, जिसने युद्ध को अवश्यंभावी बना दिया। पीत पत्रकारिता की औपचारिक शुरुआत का यह दौर

आने वाले समय के लिए एक खतरा बन गया। प्रथम विश्वयुद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध में भी पत्रकारिता का जमकर दुरुपयोग हुआ। जनसमूह को अपने पक्ष में करने के लिए संदेशों के साथ खिलवाड़ आम बात रही। इसके लिए पत्रकारिता के सभी साधनों पर नियंत्रण कर कई देशों को युद्ध करने पर मजबूर किया गया, जबकि कई देशों पर युद्ध थोपा गया। यह दौर आगे भी चलता रहा।

भारत में 1975-77 के दौरान आपातकाल लागू हुआ, जिससे देश में राजनीतिक भूचाल आ गया। इसने पत्रकारिता को भी प्रभावित किया। सत्तासीन दल ने पत्रकारीय स्वतंत्रता को कुचलने का प्रयास किया। इसने पत्रकारिता के राजनीतिक दुरुपयोग का अहसास कराया। जिन पत्रकारों ने इस परिस्थिति में सरकार के समक्ष हथियार डाले, वे उनके कोपभाजन से बचे रहे, लेकिन जिन्होंने इसका विरोध किया, उन्हें इसका खामियाजा भुगतना पड़ा। यहां से पीत पत्रकारिता के पनपने का दौर शुरू हुआ। सरकार के समक्ष घुटने टेकने वाले पत्रकारों ने खुद को बचाने के लिए पत्रकारीय मापदंडों से खिलवाड़ किया। राजनीतिक दबाव में कैसे पत्रकारिता बिखरी, आपातकाल इसका बेहतरीन उदाहरण रहा, हालांकि कुछ पत्रकारों ने इसका जबर्दस्त प्रतिरोध किया। 70-80 के दशक में पंजाब केसरी, मनोहर कहानियां, सत्यकथा, और नूतन कहानियां जैसी पत्र पत्रिकाओं ने लगातार ऐसे प्रयोग किए, जिन्हें पीत पत्रकारिता की श्रेणी में रखा जा सकता है। इन्होंने प्रसार संख्या बढ़ाने के लिए अपराध, सेक्स और मनोरंजन को विशेष तवज्जो दी। भडक़ाऊ तस्वीरों के साथ अपराध के समाचारों के प्रस्तुतीकरण ने एक खास पाठक वर्ग को बहुत आकर्षित किया। इससे इनकी प्रसार संख्या में काफी इजाफा हुआ। इस दौरान बड़े पैमाने पर होने वाली गंभीर पत्रकारिता ने पीत पत्रकारिता को हावी नहीं होने दिया। बाद में अन्य माध्यमों द्वारा ट्रिपल सी फार्मूला (क्रिकेट, क्राइम और सिनेमा) अपनाए जाने के कारण पत्रकारिता में पीत का समावेश होता चला गया।

इस दौरान की पत्रकारिता पर रॉबिन जेफ्री के अध्ययन में यह बात सामने आई कि आपातकाल के तुरंत बाद तक पत्र पत्रिकाओं के प्रसार में खासा इजाफा नहीं हुआ था। 1976 तक 80 लोगों को एक समाचार पत्र के साथ संतोष करना पड़ रहा था, लेकिन 1996 तक 20 लोगों पर एक समाचार पत्र निकलने लगा। इस क्षेत्र में चौगुना इजाफा हुआ। जेफ्री ने इसे भारत में मुद्रण क्रांति की संज्ञा दी है। छपाई की आधुनिक तकनीक के कारण समाचार पत्रों के रंग रूप में बदलाव आया। ऑफसेट प्रेस ने प्रसार संख्या बढ़ाने में बड़ा योगदान दिया। सजावट पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। स्थानीयता संपादकीय नीति का हिस्सा बन गया। इस कारण भाषायी पत्र पत्रिकाओं का विकास हुआ, जिसने 90 के दशक तक प्रसार के मामले में अंग्रेजी पत्र पत्रिकाओं को पीछे छोड़ दिया, जिससे प्रसार संख्या और विज्ञापन को लेकर जबर्दस्त प्रतियोगिता शुरू हुई। यहां से पीत पत्रकारिता ने अपना पांव पसारना शुरू किया। इस समय तक टीवी और रेडियो एक माध्यम के रूप में स्थापित हो चुके थे, लेकिन दोनों माध्यमों पर सरकारी नियंत्रण का असर साफ झलक रहा था। 1977 में आपातकाल के बाद जब जयप्रकाश नारायण ने दिल्ली में रैली का ऐलान किया तो दूरदर्शन ने रैली को कथित तौर पर असफल दिखाने का प्रयास किया। इसके लिए दूरदर्शन ने पूरी ताकत झोंक दी। कैमरे उन्हीं जगहों पर लगाए गए थे, जहां लोग कम दिखाई दे रहे थे। रात के प्रसारण में दूरदर्शन ने इस रैली को असफल साबित कर दिया, लेकिन पत्र पत्रिकाओं ने अपने कवरेज से इसकी पोल खोल दी। जयप्रकाश नारायण को लाखों लोगों को संबोधित करते हुए दिखाया गया। इन्हीं भूमिकाओं के कारण दूरदर्शन पर सरकारी भोंपू का ठप्पा लग गया। पीसी जोशी समिति ने भी अपनी रिपोर्ट में दूरदर्शन की भूमिका को सही नहीं बताया। उन्होंने कहा कि यह असली भारत का चेहरा नहीं दर्शाता। देश के विकास की तस्वीर बदलने में यह महती भूमिका निभा सकता है, हालांकि मनोरंजन के मोर्चे पर दूरदर्शन के कार्यक्रमों में साफ सुथरापन नजर आया। हमलोग, बुनियाद, रामायण और महाभारत जैसे कार्यक्रमों ने समाज को एक स्वस्थ संदेश दिया, जिसमें पीत जैसी कोई बात नहीं थी।

वैश्वीकरण का असर भी भारतीय पत्रकारिता पर साफ दिखा, जब पश्चिमी देशों में प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों की नकल की गई। 1995 में जीटीवी ने इंडियाज मोस्ट वांटेड नामक कार्यक्रम के जरिए अपराध जगत से जुड़ी समाचारों का प्रसारण शुरू किया। यह पूरी तरह ब्रिटेन और अमेरिकी टीवी चैनलों में प्रसारित होने वाले कार्यक्रम की नकल थी। भारतीय दर्शकों ने इसे काफी पसंद किया। इसे भांपते हुए एक के बाद एक चैनल इस तरह के कार्यक्रमों की कड़ी में जुड़ गए। सनसनी और क्राइम रिपोर्टर जैसे कार्यक्रमों ने सनसनाहट पैदा कर दिया। यह चैनलों की मजबूरी भी रही कि उन्हें 24 घंटे कुछ न कुछ प्रसारित करते रहना है। प्रसारण भी ऐसा हो, जो टीआरपी, विज्ञापन और दर्शक बनाए रखे, इसलिए उन्होंने पश्चिमी देशों के कई कार्यक्रमों की नकल करने में भी कोई गुरेज नहीं की। आज जीटीवी, एनडीटीवी, आज तक, स्टार न्यूज, सहारा, सीएनबीसी, सीएनईबी, पी सेवन, टाइम्स नाउ, इंडिया टीवी और इंडिया न्यूज सहित सैकड़ों ऐसे चैनल हैं, जो ऐसा कर रहे हैं। इस रूझान का नकारात्मक प्रभाव यह हुआ कि हर कार्यक्रम को मसालेदार और सनसनीखेज बनाने का दबाव बढ़ता गया। समाचार मूल्य पर मनोरंजन मूल्य हावी हो गया। इसके अलावा ब्रेकिंग न्यूज, सबसे तेज, सबसे पहले की हड़बड़ी में मीडिया ने कई भारी भरकम भूलों को अंजाम दिया। कई बार गैर जिम्मेदाराना और आपत्तिजनक प्रकाशन प्रसारण ने तो पत्रकारिता पर लगाम लगा ने की बहस नए सिरे से छेड़ दी।

बीसवीं सदी के अंत तक जनसंचार के सशक्त माध्यम के रूप में न्यू मीडिया का आगमन भी हुआ, जिसने आते ही अपनी उपस्थिति दिखा दी है। आज जिस न्यूज पोर्टल पर नजर डालिए, उसमें समाचार लिंक के अलावा कई ऐसे लिंक हैं, जो सेलिब्रिटी और सेक्स से जुडे हैं। कई चटपटी खबरें आसानी से मिल सकती हैं। ये लिंक भी ऐसे होते हैं, जिसमें एक के बाद एक कई समाचारों को पाठक पढ़ सकता है। वीडियो देखने की सुविधा भी उपलब्ध होती है। न्यूज वेबसाइट का एक कोना ऐसा भी होता है, जिसमें मॉडलों और सेलिब्रिटी की हजारों तस्वीरें होती हैं। इसके अलावा भी कई तरह की लिंक होती हैं, जो सूचनात्मक हैं, लेकिन जिस तरीके से एक वेबसाइट को सजाया जाता है, उससे यह साफ प्रतीत होता है कि कुछ प्रमुख समाचारों को छोडक़र ज्यादातर जोर मॉडल और सेलिब्रिटी वाले भाग पर है। टाइम्स ऑफ इंडिया और नवभारत टाइम्स इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, जिसका अनुसरण

अन्य न्यूज पोर्टल भी कर रहे हैं।

पीत पत्रकारिता के उदाहरण

1999 में कारगिल युद्ध के दौरान सभी चैनलों को इस युद्ध का लाइव प्रसारण करने का मौका मिला। इन चैनलों के मालिकों को यह अवसर कुछ उसी प्रकार दिखाई दिया, जैसा कि 1990 में खाड़ी युद्ध के लाइव प्रसारण से सीएनएन इंटरनेशनल चैनल अमेरिका में स्थापित हो गया था। कुछ अलग करने की होड़ में एक भारतीय टीवी चैनल के पत्रकार ने गंभीर भूल कर दी। जिस कारण चार भारतीय जवानों को जान से हाथ धोना पड़ा। ऐसा माना गया कि टीवी पत्रकार के कैमरे की उपस्थिति से ही पाकिस्तानी सेना को इस बात का अंदाजा लगा कि एक खास बटालियन की तैनाती किस दिशा में है। इस गैर जिम्मेदाराना रिपोर्टिंग से यह दुखद घटना हुई। ऐसी कई घटनाएं हैं जो साफ दर्शाती हैं कि सारे सिद्धांतों और आचार संहिता को ताक पर रखकर काम किया गया। 2008 में मुंबई पर हुए आतंकी हमले के दौरान भी पत्रकारों ने एक के बाद एक कई गंभीर गलतियां कीं, जिसने पत्रकारिता की भूमिका पर सवाल खड़े किए और इसके नियमन के लिए कई कानूनों पर विमर्श करने पर मजबूर किया।

सन् 2001 में अचानक मीडिया में मंकी मैन छा गया। इस समाचार की जांच पड़ताल किए बिना समाचार समूहों ने लगातार इसका प्रकाशन प्रसारण किया। दिल्ली के पास स्थित गाजियाबाद के कुछ लोगों के कहने पर एक स्थानीय समाचार पत्र में यह समाचार छपा कि एक अदृष्य शक्ति ने रात को लोगों पर हमला किया, जिसे बाद में दिल्ली के अन्य समाचार पत्रों ने भी छापा। यहाँ तक कि Times of India और The Guardian में भी यह खबर छपी। कुछ ही दिनों के भीतर ऐसे समाचार पिछड़े इलाकों से आने लगे। टीवी चैनलों ने भी इस मौके को खूब भुनाया। कुछ लोगों के माध्यम से यह साबित करने का प्रयास किया गया कि मंकी मैन को देखा गया है। इससे जुड़े रोचक किस्से गढ़े जाने लगे। हर शाम एक नई कहानी का प्रसारण होने लगा, जिसमें कोई दावा करता कि मंकी मैन चांद से आया है तो कोई कहता कि मंगल ग्रह से। एक चैनल ने तो एनिमेशन के जरिए इस कथित मंकी मैन का चित्र ही बना डाला और टीवी पर बताया कि अपने स्प्रिंगनुमा पंजों से मंकी मैन एक साथ कई इमारतें फांद लेता है। इससे जुड़ी कई कहानियाँ साथ-साथ चलने लगीं। करीब एक महीने बाद यह खबर बासी हो गई, क्योंकि इसमें कोई ऐसा साक्ष्य सामने नहीं आया जिससे यह साबित हो कि कोई मंकी मैन जैसी कोई चीज है। जैसे जैसे लोगों की रूचि इसमें घटने लगी, मीडिया भी अन्य कहानियों को ढूढ़ने में व्यस्त हो गया। मंकीमैन अचानकक हीं गुम सा हो गया। इस प्रकार समाचार पत्रों से शुरू हुए पीत पत्रकारिता को टीवी चैनलों ने भुनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। बाद में दिल्ली पुलिस की रिपोर्ट में इन सभी बातों को एक सिरे से खारिज कर दिया गया। जो जानकारी सामने आई, वह काफी रोचक थी। जानकारी के मुताबिक मंकी मैन का सारा हंगामा निचली बस्तियों में हो रहा था, जहाँ बिजली की भारी कमी रहती थी। गर्मी के दिन थे और एकाध जगह वास्तविक बंदर के हमले पर जब मीडिया को मजेदार कहानियाँ मिलने लगी तो वह भी इसे बढ़ावा देकर इसमें रसलेने लगा। लोग भी देर रात पुलिस और मीडिया की मौजूदगी की गुहार लगाने लगे। नतीजन रात भर गुल रहने वाली बिजली अब भरपूर मजे से कायम रहने लगी और गर्मी का मौसम सुकून मय हो गया। इस सुकून की तलाश में ही मंकीमैन खूब फलाफूला और कहानी की तलाश में घूम रहे पत्रकारों का लोगों ने इस्तेमाल किया।

साल 2001 में अमेरिका पर हुए आतंकी हमले के बाद पत्रकारिता की भूमिका से जुड़े दो पहलू सामने आए। पहला यह कि अमेरिका में वर्ल्ड ट्रेड सेंटर और पेंटागन पर हुए हमले के दौरान अमेरिकी समाचार समूहों के कवरेज में एक परिपक्वता नजर आई। इस हमले की रिपोर्टिंग के दौरान ऐसी कोई बचकाना हरकत नहीं की गई कि जिससे यह लगे कि मीडिया माहौल को और बिगाड़ रहा है या फिर राहत कार्य में किसी प्रकार की बाधा पहुंचा रहा है, लेकिन मुंबई पर हुए हमले के दौरान भारतीय समाचार समूहों ने जिस तरीके से इसका कवरेज किया, इसने हर स्तर पर एक बहस छेड़ दी।

9/11 मीडिया का दूसरा पहलू तब सामने आया जब हमले के बाद राहत से जुड़े सारे कार्य पूरे हो गए। अमेरिका ने आतंक के खिलाफ जंग का ऐलान किया और वैश्विक स्तर पर इसके लिए कूटनीतिक प्रयास तेज कर दिए। इस दौरान कई समाचार समूहों को हमले के लिए माहौल बनाने का काम सौंपा गया। ऑपरेशन एंडयोरिंग फ्रीडम के नाम से अमेरिका ने अफगानिस्तान में छिपे आतंकियों पर हमला किया। फिर ऑपरेशन इराकी फ्रीडम के नाम से इराक पर हमले हुए। कहने का साफ मतलब है कि वैश्विक स्तर पर अपने पक्ष में माहौल बनाने के लिए अमेरिका ने समाचार समूहों के जरिए हर तरह के हथकंडे अपनाए यह वैश्विक स्तर पर राजनैतिक दबाव बनाने का तरीका है। अगर विरोधी टीवी चैनलों ने अमेरिका के इस प्रयास में खलल डालने की कोशिश की तो वह उन पर हमले कराने से भी गुरेज नहीं किया। इसका बेहतरीन उदाहरण इराक युद्ध के दौरान अल जजीरा चैनल पर किया गया हमला है। असल में अफगानिस्तान हमले के समय से ही अल जजीरा चैनल ने वहां हो रही जान माल की क्षति का लाइव प्रसारण किया, जो काफी भयावह था। इस प्रसारण को उसने इराक हमले के दौरान भी जारी रखा, जिससे कई देशों में अमेरिका के खिलाफ माहौल तैयार होने लगा। अमेरिका सहित यूरोप में विरोध के स्वर तेज होने लगे। इस कारण अमेरिका ने अल जजीरा के नेटवर्क को ध्वस्त करने का प्रयास किया, ताकि ऐसा कोई कवरेज न हो, जिससे अमेरिका के अभियान में परेशानी खड़ी हो।

2003 में एक कार्टून प्रतियोगिता के माध्यम से पीत पत्रकारिता की स्थिति का पता चला। दिल्ली की एक गैर सरकारी संस्था सौवे फाउंडेशन की ओर से आयोजित कार्टून प्रतियोगिता का विषय था (व्हाट मेक्स न्यूज)। इसमें बड़ी तादाद में पत्रकारों ने हिस्सा लिया। प्रतियोगिता के दौरान सबसे ज्यादा वह कार्टून सराहा गया, जिसमें टीवी का एक पत्रकार बलात्कार की शिकार एक युवती के सामने कैमरामैन से कहता है कि काश ! इस घटना के कुछ विजुअल मिल जाते। यह कार्टून मौजूदा समय की पीत पत्रकारिता की वास्तविकता बताता है।

2005 में भारतीय टीम के तत्कालीन कप्तान सौरव गांगुली और कोच ग्रेग चैपल के बीच विवाद शुरू हुआ। यह विवाद इतना बढ़ा कि देशभर में एक बड़ी

खबर बन गया। हर तरफ चैपल के पुतले जलाए जाने लगे। यह कोई नई बात नहीं है कि एक टीम में कुछ मुद्दो को लेकर कोच और कप्तान के बीच मतभेद होते हैं। शुरुआती दौर में यह सामान्य मतभेद की तरह ही सामने आए, जिसे विचार विमर्श के जरिए सुलझाया जा सकता था, लेकिन समाचार समूहों ने इसे ऐसी हवा दी कि यह भारत बनाम आस्ट्रेलिया बन गया। हर समाचार पत्र और टीवी चैनलों के पत्रकार ने इससे जुड़ी हर बातों का प्रकाशन प्रसारण किया। उल्लेखनीय है कि भारत में क्रिकेट किसी अन्य मुद्दों से ज्यादा महत्व रखता है। ऐसे में लोगों का इसमें विशेष रुचि रखना सामान्य बात है। इस स्थिति को भांपते हुए समाचार समूहों ने विभिन्न तरीकों से लीक हुई सूचनाओं को गांगुली बनाम चैपल करके प्रस्तुत करना शुरू कर दिया, जिससे देश में चैपल विरोधी लहर चल पड़ी। चैपल की भी कुछ हरकतों ने पत्रकारों को मुद्दे को उछालने का भरपूर मौका दिया। समाचार समूहों के लगातार कवरेज से ऐसा माहौल बन गया कि उन्हें इस्तीफा देकर जाना पड़ा।

2008 में एक और दुखद घटना तब हुई, जब आतंकवादियों ने मुंबई पर हमला कर दिया। करीब तीन दिनों तक ऐसा प्रतीत हुआ कि आतंकियों के खिलाफ कमांडो कार्रवाई के साथ साथ सभी टीवी चैनल भी एक मिशन पर हैं। खासकर कमांडो कार्रवाई के दृश्य और हड़बड़ी में लोगों तक पहुँचाए गए संदेशों ने कई सवाल खड़े किए। आतंकी हमले के दौरान कई बार इस तरह के दृश्य देखने को मिले, जिसमें सेना के जवानों को अहम स्थानों पर मोर्चा संभालते दिखाया गया। एटीएस प्रमुख हेमंत करकरे, एसीपी अशोक आम्टे और विजय सालस्कर को तैयार होते दिखाया गया, जो कवरेज का हिस्सा नहीं होना चाहिए था, क्योंकि यहां कई लोगों की जिंदगियां दांव पर थीं। इस दौरान आतंकी भी अपनी साजिश अंजाम देने के लिए पाकिस्तान स्थित अपने आकाओं के संपर्क में थे। ऐसे में बार-बार इन दृश्यों को दिखाने से सवाल उठना लाजिमी था। इस हमले में एटीएस प्रमुख सहित तीन आला अधिकारी शहीद हो गए और आतंकियों से मुठभेड़ भी करीब तीन दिनों तक चलती रही। टीवी चैनलों के इस तरह के कवरेज को न तो नैतिक रूप से सही ठहराया जा सकता है और न ही सुरक्षा के दृष्टिकोण से। यही कारण है कि मुंबई आतंकी हमले के बाद सरकार और न्यायालय को हस्तक्षेप कर कहना पड़ा कि ऐसे दृश्य न दिखाएं, जिससे सेना की कार्यवाही को फायदा होने के बजाए नुकसान हो और जन समूह में गलत संदेश जाए।

संकट की घड़ी में समाचार समूहों पर दोहरी जिम्मेदारी होनी चाहिए। पहला सतर्कता के साथ कवरेज करना और दूसरा उसका सही तरीके से प्रस्तुतीकरण करना, लेकिन सबसे तेज बनने के चक्कर में टीवी चैनलों की संवेदनहीनता और गैरजिम्मेदाराना रवैया साफ नजर आया। यह संकट का समय था और खबरों को भुनाने के बजाए उसे परिपक्वता के साथ प्रस्तुत किया जाना चाहिए था। इस दौरान ज्यादातर समाचार समूह पूर्वाग्रह से ग्रसित तब नजर आया, जब सभी ने होटल ताज और ओबेराय के बाहर जमावड़ा लगा दिया। इस दौरान छत्रपति शिवाजी टर्मिनल की सुध किसी ने नहीं ली, जहां 47 लोग मारे गए थे। यह कवरेज असंतुलित नहीं तो और क्या था। इससे साफ लगता है कि चैनलों की नजर में होटल ताज और ओबेराय में गए विदेशी और उच्च वर्ग के लोगों के जान की कीमत ज्यादा थी, जबकि छत्रपति शिवाजी टर्मिनल में मारे गए लोगों की कम। हद तो तब हो गई, जब होटल से छुड़ाए बंधकों के पीछे पत्रकार कैमरे और माइक लेकर दौड़ने लगे। भय के इस माहौल में उन्हें तंग करना कितना सही था। ऐसे में स्वाभाविक है कि टीवी चैनलों के कवरेज पर सवाल खड़े होंगे।

आरुषि हत्याकांड के रूप में एक और दुखद घटना घटित हुई। ऐसी ऐसी कहानियां गढ़ी गई, जिसने पुलिस और सीबीआई को भी दिग्भ्रमित किया। चूंकि यह उस समय की एक बड़ी घटना थी, जिसे लोग जानना चाहते थे। इस बात को भांपते हुए टीवी चैनलों ने हरबार एक नए आयाम के साथ आरुषि से जुड़ी हरबातों का घंटों प्रसारण किया। समाचार पत्र भी इस मामले में पीछे नहीं रहे। कभी आरुषि तो कभी हेमराज तो कभी तलवार दंपति। इन सभी से जुड़ी कहानियों के कारण देश भर में अन्य सभी मुद्दे गायब हो गए।

2011 में कुछ ऐसा ही वाकया सामने आया, जो अब तक पश्चिमी देशों में होता रहा है। एक नवोदित मॉडल ने यह कहा कि यदि भारतीय क्रिकेट टीम विश्व कप जीतती है तो वह नग्न हो जाएंगी। समाचार समूहों को तो जैसे मनचाहा समाचार मिल गया। यह तुरंत हर न्यूज पोर्टल, टीवी चैनलों और समाचार पत्रों में आ गया। विश्व कप में हार जीत के फैसले पर कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसे में शायद मॉडल ने भी यह नहीं सोचा होगा कि भारतीय क्रिकेट टीम ही विश्व कप जीतेगी। सस्ती लोकप्रियता बटोरने के लिए उसने यह कह दिया। समाचार समूहों को भी ऐसे मौके का इंतजार था, इस बयान को हर स्तर पर प्रकाशित प्रसारित किया गया, लेकिन भारतीय टीम के जीतने पर मॉडल गुम सी हो गई। खराब स्वास्थ्य का हवाला देकर उन्हें अस्पताल में भर्ती होना पड़ा। इसमें एक बात तो खुलकर सामने आयी कि पत्रकारिता का किस हदतक इस्तेमाल हो रहा है।

कई समाचार समूहों के एक अनोखे प्रयोग ने पीत पत्रकारिता के चरम का बोध कराया है। उनका मानना है कि यदि किसी अपराध का भंडाफोड़ करना है तो अपराधियों के ही तरीकों को अपनाकर समाचार प्रकाशित प्रसारित करने में कोई गुरेज नहीं करना चाहिए। इसने एक खतरनाक प्रवृति को जन्म दिया है। खासकर ऐसे खबरों के प्रकाशन प्रसारण के लिए स्टिंग ऑपरेशन का सहारा लिया जाता है, लेकिन कई बार यह पत्रकारों के लिए जी का जंजाल बन जाता है, जब वह खुद अपराधी की तरह कटघरे में खड़े हो जाते हैं। तहलका पत्रिका की रिपोर्टिंग के तरीके कुछ ऐसे ही रहे हैं, जिसे बाद में कुछ अन्य टीवी चैनलों ने भी अपनाने का प्रयास किया। यह इतनी खतरनाक प्रवृति है, जिसमें एक पत्रकार अपराधी की भूमिका में नजर आता है।

यह हमेशा से होता रहा है कि चुनाव जीतने के लिए कोई दल किसी भी हद तक जाने को तैयार रहते हैं। इसके लिए वे पानी की तरह पैसा बहाते हैं। उन्हें यह भी पता है कि सबसे पहले समाचार समूहों को प्रभावित करना जरूरी है, क्योंकि इनकी पहुंच एक विशाल जनसमूह तक होती है। इस कारण पिछले कुछ वर्षों के दौरान हुए चुनावों में एक नए तरह की पत्रकारीय विचलन का पता चला है, जो पेड न्यूज के रूप में सामने आया है। इसमें कोई दल चुनाव के दौरान अपने पक्ष में समाचार

प्रकाशित करने के लिए करोड़ों रुपए एक समाचार समूह को देते हैं, जिसके बाद वह समाचार समूह पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर दल विशेष के पक्ष में समाचार पेश करता रहता है। इस दौरान एक पत्रकार को वो हर सुविधाएं देने का वादा किया जाता है, जिसकी वह कल्पना नहीं कर सकता। हर चुनाव के दौरान ऐसा लुक छिपकर किया जा रहा है। इसके साथ साथ एडवर्टोरियल का चलन बढ़ा है, जिसका मतलब एक विज्ञापन को समाचार के रूप में प्रकाशित करना है। यह एक ऐसा तरीका है, जिसमें पाठकों के लिए यह समझना मुश्किल हो जाता है कि यह समाचार है या विज्ञापन। इसका मुख्य उद्देश्य पाठकों को भ्रम में रखकर उत्पाद की बिक्री बढ़ाना या फिर अपने संदेश से उन्हें जबरन अवगत कराना है। हालांकि इसे रोकने के लिए प्रयास हो रहे हैं, लेकिन फिलहाल ये अपर्याप्त हैं। ऐसे में पत्रकारिता में पीत का स्तर किस हद तक पहुंच चुका है, इस बात का अंदाजा लगाया जा सकता है।

टीवी चैनलों के आगमन के बाद पत्रकारों की गैरजिम्मेदाराना गतिविधियों में लगातार इजाफा हुआ। आचार संहिता होने के बावजूद उसकी अवहेलना की गई। खासकर मुंबई पर हुए आतंकी हमले के बाद नियामक संस्थाओं के गठन पर गंभीरता से विमर्श शुरू हो गया। ऐसे किसी भी पहल का सभी समाचार समूह यह कहकर पुरजोर विरोध करते रहे हैं कि यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर हमला है। हजारों की ?ड्ड[;?ा में मौजूद इन समाचार समूहों के विरोध को सरकार नजरअंदाज नहीं कर सकती, इसलिए वह भी फूंक-फूंक कर कदम रख रही है। कई ऐसे कानून पर गंभीरता से चर्चा हो रही है लेकिन जब तक ये कानून अस्तित्व में नहीं आ जाते, तब तक कुछ नहीं कहा जा सकता।

चंदा समिति, नैयर समिति, वर्गीज समिति, जोशी समिति और प्रधान समिति ने भी पत्रकारिता के क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए, जिसमें कुछ पर अमल भी किया गया, लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुझाव पत्रकारों के प्रशिक्षण की लगातार अनदेखी होती रही है। पत्रकारिता के दौरान कई बार पत्रकारों विशेषकर नवोदित को यह समझ नहीं रहता कि वे क्या कर रहे हैं? उनकी इस गैरजिम्मेदाराना कार्य से पीत पत्रकारिता को किस स्तर तक बढ़ावा मिलेगा और समाज को इससे कितना नुकसान होगा? मीडिया की हड़बड़ाहट ने इस स्थिति को और विकट बना दिया है। एक के बाद एक भूल हो रही है। ऐसे में यदि समय-समय पर प्रशिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था की जाए तो इससे सर्वाधिक फायदा पत्रकारिता को ही होगा। पत्रकारों को उनकी जिम्मेदारियों को अहसास कराने से स्वनियमन को बढ़ावा मिलेगा, जिससे धीरे-धीरे पीत पत्रकारिता समाप्त हो सकती है । पत्रकार किसी भी राजनीतिक और आर्थिक दबाव से मुक्त होकर काम करेंगे। स्वनियमित होने से किसी भी स्तर पर ऐसा कोई कानून बनाने की जरूरत नहीं पड़ेगी, जिस पर अभी लगातार बहस हो रही है। इस दिशा में प्रयास करते हुए कई समाचार समूहों ने मिलकर न्यूज ब्रॉडकास्टिंग एसोसिएशन (एनबीए) का गठन किया है, जिसका मुख्य कार्य टीवी चैनलों में होने वाले किसी भी गैर जिम्मेदाराना गतिविधियों पर नजर रखना है। यह एक सराहनीय प्रयास है, लेकिन इस प्रयास के प्रभाव के बारे में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे पहले भी नियामक संस्थाओं के गठन के बाद गलती होती रही हैं और अब भी हो रही हैं। इसका सीधा समाधान है स्वनियमन। यदि इस मोर्चे पर समाचार समूह और पत्रकार खरे नहीं उतरते तो नियामक संस्थाओं का गठन करना अवश्यंभावी हो जाता है और इस के जरिए पत्रकारीय सिद्धांतों और आचार संहिताओं का सख्ती से अनुपालन कराना ही अंतिम विकल्प रह जाता है।

प्रोपेगेण्डा में भी एक युद्ध की तरह चालें चली जाती है जो भी किया जाए, शत्रु या विरोधी के लिए इतना अप्रत्याशित हो कि वह हैरानी या परेशानी में निष्क्रिय हो जाए। प्रोपेगेण्डा में दो अन्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का लाभ उठाया जाता है। एक है संयुक्तिकरण का जिसे अंग्रेजी में rationalization कहते है इसका मतलब है कि हम बहुत से फैसले तो अपने मन में छिपे हुए झुकावों के कारण पहले कर लेते हैं और फिर प्रकट करते समय या उनको कार्य रूप देते हुए उनके समर्थन में युक्तियां तलाश कर लेते है शादी ब्याह से लेकर चुनावों में मत देने तक के फैसले अक्सर हम अपने मन की गहराइयों से निकली प्रेरणाओं से प्रभावित होकर पहले कर लेते हैं, इसके बाद अपने फैसलों को सिद्धान्तों, आदर्शो और नैतिक मूल्यों या सांस्कृतिक अभिरूचियों के आधार पर युक्तियुक्त सिद्ध करते हैं। प्रोपेगेण्डा में सफलता उसी को मिलती है जो जनता के अवचेतन मन की छिपी प्रेरणाओं का लाभ उठा सके।

साहित्य, कला, संस्कृति से लेकर राजनीति तक सभी क्षेत्रों में खोखलेपन ने कब्जा जमा लिया है। अब सारी गतिविधियां उपयोगितावाद के सिद्धांतों के मद्देनजर तय की जा रही हैं। ये सारी गतिविधियां खंड-खंड हैं, बिखरी हैं। इसमें आलोचना और अनुसंधान का अभाव है। प्रभावी व्यक्ति बार-बार नई चीजों के आस्वाद में निवेश कर रहा है जबकि नई से नई चीजों को आस्वाद लेने की प्रवृत्ति बेहद खतरनाक है।

संदर्भः

1.जेफ्री आर, भारत की समाचार पत्र क्रांति, भारतीय जनसंचार संस्थान, दिल्ली

2. https://timesofindia.indiatimes.com/indians-attacked-by-monkey-man/articleshow/334569671.cms

3.https://www.theguardian.com/world/2001/may/18/lukehard ing

4.https://www.hindustantimes.com/entertainment/poonam -pandey-tweets-another-risque-video/story- kFjKLkJajop9a QK6O0cyjO.html

5. लोकमत या जनमत निर्माण की विशेषताएं एवं सिद्धांत, https:// www.scotbuzz.org/2017/05/lokamat-ya-janamat -nirman.html 10- 5- 2017

अध्यापकों की जीवन संतुष्टि का विद्यार्थियों की संवेगात्मक स्थिरता पर पडने वाले प्रभाव का अध्ययन

-डॉ.सुनीता यादव
प्राचार्या,बाबा खेतानाथ महिला शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, मीटेडा,बहरोड,अलवर(राज)मो.9460131403

प्रस्तावना-

जीवन सन्तुष्टि एक तरीका है यह सब व्यक्ति जानते हैं कि उसका जीवन कैसा चल रहा है। वे कैसा महसूस करते हैं कि भविष्य कहाँ जा रहा है। इस जीवन को सुख सम्पदा में मापा गया है एवं भाव विचारों की दूसरों के प्रति सहमति, प्राप्त उद्देश्य, स्वयं विचार, दिन प्रतिदिन जीवन जानने की स्वयं क्षमता रखना ये सब जीवन संतुष्टि में निर्धारित करते हैं। ये सब हर एक के जीवन की अनुकूल स्थिति है।

बालक अपने अध्यापक का अनुकरण करता है जैसा अध्यापक सिखायेगा वैसा ही बच्चा सीखेगा। अध्यापक की जीवन सन्तुष्टि अगर उच्च होगी तो बालक पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। शिक्षक जब जीवन से सन्तुष्ट होगा तभी वह सक्रिय भूमिका निभायेगा। सम्पूर्ण जीवन की योग्यताओं और गुणों का आनन्द लेने में यदि वह स्वयं को सक्षम पाता है तो वह अपने व्यावसायिक उद्देश्यों पर ध्यान देगा। इस प्रकार एक व्यक्ति की जीवन सन्तुष्टि उसके जीवन के उद्देश्यों पर निर्भर करती है जिसको वह चुनता है। विद्यार्थी को अपने संवेगों को भली-भाँति नियन्त्रित करने में सक्षम होने हेतु शिक्षक का सद्व्यवहार, मार्गदर्शन एवं सहयोग आवश्यक है। जिसके लिए शिक्षक को इस प्रकार से सक्षम होना होगा कि वह बालकों के संवेगात्मक व्यवहार को नियंत्रित कर सके एवं उन्हें तथा उनके जीवन को समुचित दिशा प्रदान कर सके।

अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व-

टाइम्स ऑफ इण्डिया में दिनांक 15.5.2012 को प्रकाशित समाचार के अनुसार भारतीय विद्यार्थियों में आत्महत्या करने की प्रवृत्ति बहुत तेजी से बढ़ रही है। सन् 2000 में किशोर विद्यार्थियों की आत्महत्या करने की दर जहाँ 6 प्रति लाख थी वही 2012 में यह बढ़कर 11 प्रति लाख हो गई। आत्महत्या करने के कारणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण परीक्षा परिणामों में उत्तम प्रदर्शन न करना, परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित न कर पाना, भावात्मक अस्थिरता तथा माता-पिता, शिक्षकों एवं साथियों से अपेक्षित प्रेम एवं सहयोग न मिलना तथा विभिन्न प्रकार की अपेक्षाओं से पीड़ित होना है।

प्रश्न यह उठता है कि ये समस्यायें दिनों दिन बढ़ती क्यों जा रही है\ इसका कारण कहीं शिक्षक तो नहीं, क्या शिक्षक अपने जीवन के प्रति सन्तुष्ट है\ यदि ऐसा है तो विद्यार्थियों में संवेगात्मक स्थिरता क्यों नहीं हो पा रही या फिर अध्यापक ही अपने जीवन से सन्तुष्ट नहीं है। इन सब कारणों को जानने के लिए ही शोधकर्त्री ने ''अध्यापकों की जीवन संतुष्टि का विद्यार्थियों की संवेगात्मक स्थिरता पर पड़ने वाले प्रभाव'' का अध्ययन करने हेतु शोध कार्य किया।

अध्ययन के उद्देश्य-

उच्च प्राथमिक स्तर के अध्यापकों की जीवन सन्तुष्टि का विद्यार्थियों की संवेगात्मक स्थिरता पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।

शोध विधि-

प्रस्तुत शोध में सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है।

न्यादर्श-

प्रस्तुत अध्ययन में राजस्थान प्रान्त के अलवर जिले के ग्रामीण क्षेत्र में स्थित राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालयों में अध्यापनरत 30 महिला एवं 30 पुरूष (कुल 60) अध्यापकों एवं इन विद्यालयों में अध्ययनरत 1200 बालक एवं 1200 बालिकाओं (कुल 2400) का यादृच्छिक विधि से चयन किया गया।

उपकरण-

प्रस्तुत अध्ययन में निम्न उपकरणों का प्रयोग किया गया है-

1. जीवन सन्तुष्टि मापनी- डॉ. प्रमोद कुमार एवं डॉ (श्रीमती) जयश्री ध्यानी द्वारा निर्मित मानकीकृत परीक्षण
2. बालकों की संवेगात्मक स्थिरता परीक्षण- डॉ. (कुमारी) ए. सेन गुप्ता एवं डॉ. ए. के. सिंह द्वारा निर्मित मानकीकृत परीक्षण।

सांख्यिकी-

उपकरणों के माध्यम से संग्रहित किये गये प्रदत्तों का सारणीय किया गया तत्पश्चात मध्यमान, मानक विचलन एवं टी-परीक्षण का उपयोग प्रदत्तों का विश्लेषण करने हेतु किया गया।

विश्लेषण एवं व्याख्या-

परिकल्पना-1 उच्च प्राथमिक स्तर के अध्यापकों की उच्च एवं निम्न जीवन सन्तुष्टि का विद्यार्थियों की संवेगात्मक स्थिरता पर सार्थक प्रभाव नहीं पाया जाता है।

तालिका संख्या- 1

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	टी–अनुपात	स्वीकृत / अस्वीकृत
उच्च जीवन सन्तुष्टि वाले अध्यापकों के विद्यार्थियों की संवेगात्मक स्थिरता	1200	11.29	3.13	3.93	अस्वीकृत
निम्न जीवन सन्तुष्टि वाले अध्यापकों के विद्यार्थियों की संवेगात्मक स्थिरता	1200	10.74	3.59		

तालिका- 1 के विश्लेषण से स्पष्ट है कि जिन अध्यापकों की जीवन सन्तुष्टि उच्च है उन अध्यापकों के विद्यार्थियों की संवेगात्मक स्थिरता का मध्यमान उच्च एवं जिन अध्यापकों की जीवन सन्तुष्टि निम्न है उन अध्यापकों के विद्यार्थियों की संवेगात्मक स्थिरता का मध्यमान निम्न पाया गया तथा इन मध्यमानों में स्पष्टतः सार्थक अन्तर पाया गया। जिससे स्पष्ट होता है कि अध्यापकों की उच्च एवं निम्न जीवन सन्तुष्टि का विद्यार्थियों की संवेगात्मक स्थिरता पर सार्थक प्रभाव पड़ता है।

परिकल्पना- 2 उच्च प्राथमिक स्तर के अध्यापकों की उच्च एवं निम्न जीवन सन्तुष्टि का छात्रों की संवेगात्मक स्थिरता पर सार्थक प्रभाव नहीं पाया जाता है।

तालिका संख्या- 2

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	टी–अनुपात	स्वीकृत/ अस्वीकृत
उच्च जीवन सन्तुष्टि वाले अध्यापकों के छात्रों की संवेगात्मक स्थिरता	600	11.44	3.01	2.89	अस्वीकृत
निम्न जीवन सन्तुष्टि वाले अध्यापकों के छात्रों की संवेगात्मक स्थिरता	600	10.89	3.50		

तालिका- 2 के विश्लेषण से स्पष्ट है कि जिन अध्यापकों की जीवन सन्तुष्टि उच्च है उन अध्यापकों के छात्रों की संवेगात्मक स्थिरता का मध्यमान उच्च एवं जिन अध्यापकों की जीवन सन्तुष्टि निम्न है उन अध्यापकों के छात्रों की संवेगात्मक स्थिरता का मध्यमान निम्न पाया गया तथा इन मध्यमानों में स्पष्टतः सार्थक अन्तर पाया गया। जिससे स्पष्ट होता है कि अध्यापकों की उच्च एवं निम्न जीवन सन्तुष्टि का छात्रों की संवेगात्मक स्थिरता पर सार्थक प्रभाव पड़ता है।

परिकल्पना- 3 उच्च प्राथमिक स्तर के अध्यापकों की उच्च एवं निम्न जीवन सन्तुष्टि का छात्राओं की संवेगात्मक स्थिरता पर सार्थक प्रभाव नहीं पाया जाता है।

तालिका संख्या- 3

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	टी–अनुपात	स्वीकृत/ अस्वीकृत
उच्च जीवन सन्तुष्टि वाले अध्यापकों की छात्राओं की संवेगात्मक स्थिरता	600	11.15	3.25	2.75	अस्वीकृत
निम्न जीवन सन्तुष्टि वाले अध्यापकों की छात्राओं की संवेगात्मक स्थिरता	600	10.60	3.67		

तालिका- 3 के विश्लेषण से स्पष्ट है जिन अध्यापकों की जीवन सन्तुष्टि उच्च है उन अध्यापकों की छात्राओं की संवेगात्मक स्थिरता का मध्यमान उच्च एवं जिन अध्यापकों की जीवन सन्तुष्टि निम्न है उन अध्यापकों की छात्राओं की संवेगात्मक स्थिरता का मध्यमान निम्न पाया गया तथा इनके मध्यमानों में सार्थक अन्तर पाया गया। जिससे स्पष्ट होता है कि अध्यापकों की उच्च एवं निम्न जीवन सन्तुष्टि का छात्राओं की संवेगात्मक स्थिरता पर सार्थक प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष-

1. उच्च प्राथमिक स्तर के अध्यापकों की उच्च एवं निम्न जीवन सन्तुष्टि का विद्यार्थियों की संवेगात्मक स्थिरता पर सार्थक प्रभाव पाया जाता है।
2. उच्च प्राथमिक स्तर के अध्यापकों की उच्च एवं निम्न जीवन सन्तुष्टि का छात्रों की संवेगात्मक स्थिरता पर सार्थक प्रभाव पाया जाता है।
3. उच्च प्राथमिक स्तर के अध्यापकों की उच्च एवं निम्न जीवन सन्तुष्टि का छात्राओं की संवेगात्मक स्थिरता पर सार्थक प्रभाव पाया जाता है।

सन्दर्भ :

1.माली, राजकुमार (2009): ''सांवेगिक सन्तुलन और छात्र'', नई शिक्षा, अगस्त, 2009, पृ. सं. 13-15

2.रैबान मोटोनू एवं अन्य (2013): जर्नल ऑफ एक्सपेरियशियल साइकोथैरेपी, मार्च-2012,वॉल्यूम16,इश्यू-1,पृ.3-12 www.web.ebscohost. com

3.बैटुकबीवा, बी. डी. (2013): कज़ाख नेशनल पैडागोगिकल यूनिवर्सिटी, कज़ाकिस्तान। www.idosi.org/mejsr/mejsr13(4)13/18pdf

4. प्रशान्त कुमार (2013): इण्टरनेशनल जर्नल ऑफ एजुकेशन एण्ड इंफोर्मेशन स्टडीज़, वोल्यूम-3, नं. 1, पृ. सं. 7-11 www.ripublication.com

----

समाज पर सामाजिक माध्यमों का प्रभाव

-डॉ.जी. शांति
असोसिएट प्रोफेसर,हिंदी विभाग,
अविनाशिलिंगम इन्स्टिटयूट फॉर होम साइन्स
एण्ड हायर ऐजुकेशन फॉर वुमेन, कोयम्बतूर-641043

-आर. अरुणा
हिंदी विभाग,
अविनाशिलिंगम इन्स्टिटयूट फॉर होम साइन्स
एण्ड हायर ऐजुकेशन फॉर वुमेन, कोयम्बतूर-641043

सोशल मीडिया लोगों के बीच सांप्रदायिक बातचीत है जिसमें वे आभासी समुदायों में सूचनाओं और विचारों का निर्माण, साझा या आदान-प्रदान करते हैं। सामाजिक होना मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता और गुण बन गया है। संचार, अभिनव और आश्चर्यजनक मनोरंजन में शानदार विकास ने सूचना तक पहुंच और उन लोगों के लिए आवाज प्रदान करने की क्षमता प्रदान की है जिन्हें कभी नहीं सुना गया था। लोग हमेशा किसी न किसी तरीके से खुद को समाज से जोड़ना चाहते हैं। पहले के दिनों में संचार के साधन सीमित थे। लोग सामाजिकता बनाए रखने के लिए एक - दूसरे के स्थानों पर जाने, बड़ी सभाओं, क्लबों, पार्कों और अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों में बैठकें करने तक सीमित थे।

अब समय बदल गया है। लोगों ने व्यस्त जीवन और भौगोलिक दूरी और आर्थिक चिंताओं में वृद्धि के कारण अपने सामाजिक जीवन को कम कर दिया है। प्रौद्योगिकी के आगमन के साथ, सोशल नेटवर्किंग वेबसाइटों और अनुप्रयोगों ने दुनिया में एक क्रांति की शुरुआत की है। यह वास्तव में आभासी समुदायों और नेटवर्कों में सूचनाओं और विचारों को बनाने, साझा करने या आदान-प्रदान करके दुनिया भर के लोगों को करीब लाया है। ये सोशल नेटवर्किंग साइट वेब-आधारित तकनीकों पर आधारित हैं और अत्यधिक इंटरैक्टिव प्लेटफॉर्म बनाती हैं। इसकी बेहतर सुविधाओं, पहुंच, आवृत्ति, तत्कालता, उपयोगिता और स्थायित्व के कारण इसने विश्व स्तर पर गति प्राप्त की है। इसे इतनी व्यापक रूप से मान्यता दी गई है, और इसका उपयोग आज इतनी अविश्वसनीय रूप से बढ़ गया है कि यह डेस्कटॉप कंप्यूटर से लैपटॉप से लेकर मोबाइल फोन में स्थानांतरित हो गया है। आज हर व्यक्ति सोशल मीडिया का आदी है और वह भी तेज गति से। फेसबुक, ट्विटर आदि जैसी कुछ महत्वपूर्ण सोशल मीडिया साइटों ने हमें लोगों से जुडने और उन मित्रों और परिचितों के साथ बेहतर संबंध बनाने की संभावना प्रदान की है जिनसे हम व्यक्तिगत रूप से नहीं मिल सकते हैं और अपने जीवन की घटनाओं को साझा कर सकते हैं। यूटियूब, इन्स्टाग्राम, वाट्सप आदि जैसे कुछ टूल ने दूर-दराज के स्थानों में रहने वाले दोस्तों और रिश्तेदारों के साथ तस्वीरें और वीडियो साझा करने के लिए मंच प्रदान किया है।

हर व्यक्ति की दिनचर्या में किसी न किसी तरह का सोशल मीडिया इंटरेक्शन शामिल होता है। कोई भी, कहीं भी, किसी भी समय, सोशल मीडिया के माध्यम से हमसे तब तक जुड़ सकता है जब तक हमारे पास इंटरनेट की पहुंच है। जिस तरह एक सिक्के के दो पहलू होते है। उसी तरह सोशल मीडिया के भी दो पहलू होते है। एक सकारात्मक और दूसरा नकारात्मक। सोशल मीडिया जितना हमारे लिए लाभ दायक है उतना ही हानी कारक भी है। यह उपयोग कर्ताओं पर निर्भर करता है की वह सोशल मीडिया के कौन से पक्ष को अपनाना चाहते है। आज का आधुनिक युग सामाजिक माध्यमों का युग है। मनुष्य को अपने जीवन के हर क्षेत्र में सामाजिक माध्यम मिलेगा। धर्म, राजनीति, संस्कृति आदि के क्षेत्र में भी सामाजिक माध्यमों ने अपना स्थान बना लिया है। आज के आर्थिक युग में एक अच्छे व्यवसाय के रूप में सामाजिक माध्यम चारों ओर फैल गया हैं। सामाजिक माध्यम मनुष्य को मनुष्य से जोडता है।

सामाजिक माध्यमों के सकारात्मक पक्ष

- अशिक्षित व्यक्ति भी अपने विचार एवं संदेश को संकेतो एवं वोइस मैसेज द्वारा दूसरों तक पहुंचा सकते है।
- चित्रों सहित भाषा को आकर्षित रूप में प्रकट किया जाता है।
- आम जन्ता अपनी लोक भाषा या बोल-चाल की भाषा में भी अपना विचार प्रकट करते है।
- हर व्यक्ति अपनी मात्र भाषा के साथ जिस भाषा में संदेश देना चाहते है उसके लिए भी सुविधा है।
- गूगल माइक की सहायता से टंकित किए बिना हम विषयों को ढूंढ सकते है, सेव कर सकते हैं।
- नेत्र हीन लोग ऐप सैटिंग के द्वारा स्मार्ट फोन का उपयोग कर सकते है।
- साहित्यिक सम्बन्धित विषय भी इसमें दिया जाता है। जिससे साहित्यिक
- एवं शास्त्रीय भाषा का भी विकास होता है।
- सरकार की तरफ से या किसी भी संस्था की तरफ से दिए जाने वाले परिपत्र,

आदेश, सूचना आदि में ओपचारिक भाषा को देखा जा सकता हैं।

- व्यक्तिगत रूप से दिए जाने वाले संदेश में या खबरों में अनोपचारिक भाषाओं का प्रयोग किया जाता है।
- किसी भी विषय की जानकारी पाने केलिए बच्चे हो या बड़े तुरंत गूगल का उपयोग करते है।
- आज किसी को अपना पता देना हो या किसी से उनका पता लेना हो तो शैर लोकेशन के द्वारा बहुत आसान हो गया है।
- आज रोड पर खडे होकर किसी ओटो या टैक्सी की राह देखने की आवश्यक्ता नहीं है। घर बैठे ही अब सब लोगों के लिए ओटो या टैक्सी बुक करना बहुत आसान हो गया है।
- आज की स्थिति ही एक ज्वलंत उदाहरण है, कोरोना ने पूरे विश्व को बन्धी बनाकर विश्व को स्तंभित कर दिया है। इस प्रकार स्थिति में सूचनाओं एवं जानकारी प्राप्त करने वाला एक मात्र साधन सामाजिक माध्यम ही है।
- इस कोरोना काल में किसी को बाहर का खाना खाने के लिए बाहर जाने की आवश्यक्ता नहीं है, घर बैठे ही खाना ओडर किया जा सकता है। इससे दुकान दार और ग्राहक दोनो सुरक्षित रहते है।
- अब लोगो को पुस्तकालय जाकर पुस्तके पढने की आवश्यक्ता नहीं है, आज जितनी चाहे किताबे हम अपने साथ अपने फोन पर पढ सकते है। खरीद सकते है और ओनलाइन भी पढ सकते है।
- आज छोटे बच्चों के लिए बहुत सारे राईमस है, कहानियॉ आदि है, वह हम किसी भी भाषा में देख सकते है। वह बच्चों को खेल-खेल में ही बहुत सारा ज्ञान देता है। जैसे रंगों के बारे में हो, जानवरों के बारे में हो, अच्छी सीख देने वाली कहानियॉ आदि।
- सामाजिक माध्यम के कारण लोग कभी अकेला महसूस नहीं करते, जब चाहे अपने चाहने वालो से वीडियो कोल पर बात कर सकते है। यह दूरियों को बहुत कम कर देता है।
- धार्मिक सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण होता है।
- किसी खतरे में होने पर जीपीएस ट्रेस करके लोगों को बचाया जा सकता है।
- जनजागरण में भी इन माध्यमों का महत्वपूर्ण योगदान होता है।
- अध्यापकों का काम भी बहुत आसान हो जाता है वे एक ही समय में शिक्षा से संबंधित मेंटिरियल अपने छात्रों को भेज सकते है, अध्यापकों और माता-पिता का बच्चों के बारे में विचार विमर्श करना बहुत ही आसान हो गया है।
- लोग घर बैठे ही सब्जिया, फल, कपडे, रसोइ का सामान, घर के सजावट का सामान, टीवी, फ्रिज, वोशिंगमशीन,आदि सब कुछ सामाजिक माध्यम के द्वारा खरीद सकते है।
- अपना पुराना सामान भी घर बैठे ही बेचा जा सकता है।
- आज तो लोग डोक्टर की सलाह भी ओनलाइन पर वीडिया कोल के द्वारा प्राप्त कर रहे है।
- आज लोगो के लिए अपने बैंक अकाउन्ट से दूसरे अकाउन्ट में पैसा डालना और प्राप्त करना बहुत आसान हो गया है।
- विदेशों में काम करने वाले वीडियों कोल के माध्यम से अपने प्रियजनों से प्रत्यक्ष रूप से संपर्क कर सकते है।
- यहॉ लोग अनचाहे व्यक्ति से प्राप्त संदेश को ब्लॉक कर सकते है। जिससे भविष्य में उस व्यक्ति द्वारा भेजा गया कोई भी संदेश हमें प्राप्त नहीं होगा।

सकारात्मक पक्ष होने पर भी इसमें कुछ कमिया भी देखने को मिलती है जैसे:

- आज घर में प्रायः सभी सदस्यों के पास मोबाइल होने के कारण सभी अपनी-अपनी अलग दुनिया में व्यस्त रहते है। इसलिए पारिवारिक सदस्यों के बीच आपसी विचार -विनिमय एवं भागीदारी कम होती जा रही है।
- हैकर्स के द्वारा फोन हैक करना बहुत आसान हो गया है, जिससे हमारी पूरी जानकारी हैकर्स के हाथ में चली जाती है।
- यह लोगो को अपनी ओर बहुत आसानी से आकर्षित करता है जिससे इसका अत्यधिक उपयोग करने से लोगो की निद्रा एवं स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है।
- आज बच्चे एवं युवा वर्ग इसके गुलाम बन गए है। विभिन्न गेमो में ऐडिक्ट होने के कारण बच्चे खुले वातावर्ण में खेलना भूल ही गए है। इसमे खतरनाक गेम भी है जैसे रम्मी, ब्लूवेल आदि गेमों ने कई लोगों की जान भी ले ली। बच्चे अपनी उम्र से भी अधिक जानकारी प्राप्त करते है। जो सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रभाव डालता है।
- किसी को ब्लैकमेल करने केलिए इस माध्यम का आसानी से उपयोग किया जा सकता है।

सामाजिक माध्यमों के कारण उत्पन होने वाली हानी से बचने केलिए मैने निम्न सुझावों को प्रस्तुत किया है जैसे:

- सजगपन, सावधानी और सूचना प्रौद्योगिकी की मदद लेकर साइबर हमले से अपने आप को बचा सकते है।
- लोगो को अपनी ऑनलाइन जानकारी गोपनीय रखनी चाहिए और

अपने एकाउंट के सेटिंग्स और रेग्युलर जांच करनी चाहिए। पराए या बेगाने लोगों को अपने एकाउंट में तॉक-झॉक करने का मौका नहीं देना चाहिए।

- आपके फोन पर आए किसी भी फोरवर्ड लिंक को ओपन नहीं करना चाहिए। इससे आपका फोन हैक किया जा सकता है।
- बच्चे अपनी निजी जानकारी जैसे नाम, पता, मोबाइल नंबर किसी भी अजनबी के साथ शेयर न करे। ऑनलाइन रहते समय किसी नकारात्मक अवधारणा का सामना करना पड़ता है या किसी साइबर क्राइम का शिकार होना पड़ता है तब, इसके बारे में अपने टीचर्स और अभिभावकों के साथ खुलकर बात करना आवश्यक है।
- नेट के विभिन्न स्रोतों से जानकारी लेते समय उसकी सच्चाई, कानूनन जानकारी इनके बारे में भी सोचना आवश्यक है क्योंकि अगर गैरकानूनी प्राप्त करेंगे तो इससे लोगों को भी नुकसान पहुँचता है।
- सोशल मीडिया का उपयोग करने के लिए एक अनुसूची बनाई जा सकती है और सिर्फ उस समय ही सोशल मीडिया का उपयोग करना चाहिए। इससे व्यक्ति के समय की बरबादी नहीं होगी।
- दोस्तों और परिवार के साथ समय बिताते समय फोन की आवश्यक्ता नहीं है, तब अपना फोन साइलेन्ट में डाल सकते है।
- विद्यार्थीयों को सामाजिक माध्यमों का उपयोग समझदारी से करना चाहिए। सामाजि माध्यम पर कुछ भी सोच समझकर शैर करना चाहिए।
- बच्चों को पढते समय अपने फोन को अपने माता - पिता के पास देना चाहिए। जिससे की वे पढाई में अच्छे से कोसनट्रेट कर सके।
- अपने दोस्तों की सूचना को भी गोपनीय रखना चाहिए, अधिक लाईक पाने के लिए अपने दोस्तों की सूचना को शेयर नहीं करना चाहिए।
- अपनी आर्थिक स्थिती को मन में रख कर युवा वर्ग जितना उन्हें जरूरी है उतने का ही फोन खरीदना चाहिए अधिक फीचर्स के पीछे जाकर पैसा खर्च नहीं करना चाहिए।
- माता - पिता को अपने बच्चों का मोबाइल चैक करना चाहिए। जिससे की बच्चे किससे सम्पर्क कर रहे है, किस प्रकार के संदेश भेज रहे है आदि।

इस प्रकार हमारे अनुसरण करने से सामाजिक माध्यमों द्वारा आने वाली समस्याओं से हम दूर रह सकते है। एक समय था विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी क्षेत्र में विकासशील देश विकसित देश पर निर्भर था। आज स्थिति बदल गई है। हर देश ने तकनीकी को अपना लिया है। एक समाज या देश का विकास, अपडेशन, प्रगति आदि में इन सामाजिक माध्यमों के प्रभाव पर मैंने जो अध्ययन किया है उसमें सकारात्मक पक्ष भी है, नकारात्मक पक्ष भी। लेकिन नकारात्मक पक्ष कम है और उसके निराकरण केलिए भी सुझाव दिया गया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी ही नहीं राष्ट्र के श्रेष्ठ नागरिक भी है। हर मानव को सामाजिक जिम्मेदारियों के साथ राष्ट्र के प्रति अपना बहुमूल्य कर्तव्य भी है। मानव राष्ट्र एवं समाज की उन्नति को मन में रखना चाहिए। विज्ञान एवं तकनीकी की जितने भी उपकरणों का आविष्कार मानव ने किया, वे मानव की सुविधा एवं राष्ट्र विकास के लिए है। इसलिए मानव को उन उपकरणों के गुलाम न बनकर सकारात्मक सोच को अपनाना चाहिए। आज हम इतनी दूर आ चुके हैं कि इन सामाजिक माध्यमों के अभाव में सोच ही नहीं सकते। यह सामाजिक माध्यम सुबह से रात तक मानव जीवन का अंग बन गया है।

निष्कर्ष

एक विकासशील देश की उन्नति हेतु इन माध्यमों की आवश्यकता है। उसे सही प्रगति पथ पर ले जाने और सफलता पाने में हर नागरिक का कर्तव्य है। एक समाज या राष्ट्र को क्रियान्वित करने वाले उस समाज में रहने वाले मानव ही है। मानव के अभाव में केवल तकनीकी विकास नहीं ला सकता। तकनीकी के अभाव में मानव विकास नहीं कर सकता। इस प्रकार समाज और सामाजिक माध्यम मंे अन्तः सम्बन्ध है। वे एक दूसरे के पूरक हैं। कुछ नकारात्मक पक्ष होने पर भी सकारात्मक पक्ष अधिक है। इसलिए नकारात्मक पक्ष की जड़ को निकालना हर मानव का कर्तव्य है।

संदर्भ

1.स्वर्ण सुमन, सोशल मीडिया सम्पर्क क्रान्ति का कल, आज और कल, हेरपरहिन्दी,2014

2.डॉ.जयसिंह बी. झाला, सोसियल मीडिया एवं समाज, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014

3.डॉ.विजय महादेव गाडे, सोशल मीडिया-समसामयिक परिप्रेक्ष्य में, रोली बुक डिस्ट्रब्यूटर्स,कानपुर, 2018

4.Paul Martin, Thomas Erickson, Social Media Usage and Impact, Global vision publishing house, New Delhi, 2019

5.https://www.vedantu.coms

वैदिक वाङ्मय और सामाजिक चेतना

-डॉ.कनक रानी
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
आर्य महिला डिग्री कॉलेज,
शाहजहांपुर (उ.प्र.)

प्रस्तावना -

वेद प्रगतिशील समाज के प्रेरणा स्रोत हैं। वेद में सामाजिक चेतना की मूल अवधारणा दिखाई देती है। समाज किस प्रकार संरक्षित और व्यवस्थित हो\ किस प्रकार उन्नति की ओर अग्रसर हो\ वैदिक मंत्रों के अंतर्गत इस संदर्भ में मार्गदर्शन किया गया। वेदों में निहित सामाजिक चेतना से लाभान्वित हो सामाजिक विसंगतियों को दूर किया जा सकता है, सामाजिक समस्याओं का निस्तारण किया जा सकता है। यहां सामाजिक जीवन को समुन्नत बनाने से संबंधित उपदेश यत्र- तत्र उल्लिखित हैं। समाज की श्रेष्ठता का मूल्यांकन समाज में निहित मूल्यों से होता है। वैदिक संहिताओं में मानवीय मूल्यों के संदर्भ में उपदिष्ट कर समाज को सुसंगठित करने का स्तुत्य संदेष दिया गया।

बीज शब्द-

सामाजिक चेतना, वैदिक संहिता, सामाजिक एकता, सामाजिक प्रेम

उद्देश्य-

वैदिक साहित्य में पदे पदे ऐसे सूक्त उल्लिखित हैं जिनमें वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय चिंतन के स्वर मुखरित हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समाज अनेकानेक विषम परिस्थितियों का सामना कर रहा है। सम्प्रति तिरोहित होते हुए मानवीय मूल्यों को हृदयम करने का अवबोध सहजता से होता है। मंत्र दृष्टा ऋषि संकीर्णता को ध्वस्त करते हुए, सर्वजन हिताय का आदर्श प्रस्तुत करते हुए सामाजिक विकास का पथ प्रदर्शित करते हैं। निस्संदेह, वैदिक वाङ्मय में निहित शिक्षा सामाजिक दिशा और दशा को बेहतर बनाने में सर्वथा सक्षम है।

वैदिक मंत्र में उपदेश दिया गया कि-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योअन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।[1]

अर्थात् मैं तुमको समान हृदय वाला, एक मन वाला तथा वैर रहित बनाता हूं। तुम सब आपस में प्रेम पूर्ण आचरण करो जिस प्रकार से एक गाय अपनी संतति को प्रेम करती है।

सामाजिक सुव्यवस्था और स्थिरता के लिए प्राकृतिक उद्धरण है- गाय और उसके सद्यःप्रसूत बछड़े का। जिस प्रकार गाय (अघ्न्या) अपने नवजात संतति को निःस्वार्थ भाव से प्रेम करती है उसी प्रकार मानव भी स्वाभाविक रूप से पारस्परिक प्रेम से संयुक्त रहे। इस मंत्र में समाज के उत्कर्ष का रहस्य निहित है। सामाजिक उत्थान को लक्ष्यगत करते हुए दूरदर्शी ऋषि- मुनियों द्वारा उदात्त शिक्षा दी गयी जो सामाजिकों की सर्वविध उन्नति में साधक है।

वैदिक काल से समाज को संगठित एवं प्रगतिशील बनाने के लिए मानव मूल्यों का निर्धारण किया गया। मंत्र में चार तथ्य विशेष रूप से उल्लिखित हैं- 1 सहृदयता 2 सांमनस्य 3 अविद्वेष 4 पारस्परिक प्रेम। ये तत्व ही सामाजिक अभ्युदय में परम सहायक हैं। यही कारण है कि समाज के कल्याण को दृष्टिगत करते हुए इन मंगलकारी तत्वों को केंद्र में रखकर उपदेश दिया गया। ध्यातव्य है कि यह शिक्षा देश और काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं, अपितु सार्वत्रिक एवं सर्वकालिक है। साथ ही, यह षिक्षा संपूर्ण जागतिक कल्याण के मार्ग का निदर्शन करती है।

यहां व्यक्तिगत हित चिंतन नहीं अपितु सर्वजनहिताय का लक्ष्य है। सामाजिक विश्रंखलता को ध्वस्त करने के लिए इन सांस्कृतिक मूल्यों के संदर्भ में शिक्षित किया गया। इस विचारणा में सर्वोदय का भाव समाहित है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी यह मंत्र समाज के भावनात्मक एवं रचनात्मक परिवर्तन में प्रभावी है।

सहृदयता से ही मानव में सहयोग, सहानुभूति आदि उदात्त भावों की अभिवृद्धि होती है। इसके सुप्रभाव में वैमनस्य के स्थान पर सौमनस्य एवं संकीर्णता के स्थान पर उदारता विस्तारित होती है।

वैदिक मंत्र में प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की कामना की गई है-शं नो अस्तु द्विपदे शं नो अस्तु चतुष्पदे।अर्थात दो पैर वाले और चार पैर वाले सभी प्राणियों का कल्याण हो। वस्तुतः सर्वभूतहितेरताः सिद्धांत के वशीभूत होकर ही जीवमात्र के कल्याण की कामना प्रतिफलित होती है-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुखभाग् भवेत्।।

निस्सन्देह, सर्वजनहिताय सहृदयता को आत्मसात किए जाने की प्रबल प्रत्याशा है। सहृदयता सुसंगठित समाज का प्राणभूत तत्व है। यह वैदिक संस्कृति के लोक मंगलकारी आदर्श को संजोए हुए है। सहृदयता से सच्चारित्र्य की प्रतिष्ठापना होती है तथा आत्मिक आनन्द का मार्ग प्रशस्त होता है।

मंत्र में सांमनस्य उल्लिखित है। इसका अर्थ है- समान मन वाला। मंत्र में कहा गया कि मैं तुम सबको सामान मन वाला बनाता हूं। जहां मनःस्थिति में समानता होती है, विचारों में समानता होती है, संकल्पों में समानता होती है, वहां एकता होती है। सामाजिक उत्थान के लिए एकता की अपरिहार्यता है सर्वज्ञात है। वस्तुतः कोई भी समाज बिना एकता के प्रगतिशील नहीं हो सकता। समाज तभी गतिशील होता है जब वहां के निवासी एकता से संयुक्त होते हैं। एकता की स्थापना वैचारिक एकीकरण पर आधारित है। एकता के परिणामस्वरूप ही विविध धर्मों

और विचारों के अनुयायी बिना किसी द्वेष भाव के रहते हैं। एकता वैदिक संस्कृति की अनुपम विशिष्टता है।

समाज की स्थिरता एवं व्यवस्था के लिए एकता का विशेष महत्व है। इसी भावना से अनुप्राणित होकर मानव एक दूसरे की सहायता हेतु उद्यत होते हैं। यह उदात्त विचार वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र मुखरित दिखाई देता है। यहां मानव मात्र को एकता के सूत्र में बांधने वाले उपदेष निहित हैं।

एकता की उपेक्षा समाज के लिए हितकारी नहीं। स्वार्थ के वशीभूत होकर सर्वजनहिताय चिंतन कदाचित दुष्कर ही है। संकीर्ण विचारधारा में बंधकर परार्थ चिंतन नहीं किया जा सकता। जहां सद्भाव होता है, वही एकता होती है। जहां एकता होती है वही शक्ति होती है। परस्पर प्रेम करते हुए, मिलजुल कर रहते हुए, एकजुट रहते हुए ही एकता की संस्थिति को आकार दिया जा सकता है। सामंनस्य से तात्पर्य वैचारिक एकता से है। मन में एकता का भाव निहित हो तथा पृथक्कतावादी विचारों से मुक्त हो इसको लक्षित करते हुए मानसिक निर्मलता के निमित्त वैदिक मंत्रों में प्रार्थना की गई।

एकता ही सामाजिक बल का स्रोत है। एकता विहीन समाज की शक्ति का क्षीण होना संभावित है। इसीलिए सामाजिक सशक्तता वा सबलता के लिए एकता के महत्व को समझना आवश्यक है। और इसके प्रभाव को गंभीरता पूर्वक संज्ञान में लेने की प्रबल आवश्यकता है। कहा गया है कि-

ऐक्यं बलं समाजस्य तदभावे स दुर्बलः।
तस्मात् ऐक्यं प्रशंसन्ति दृढ़ं राष्ट्रहितैषिणः।।

यही कारण है कि समाज को शक्तिसंपन्न बनाने के लिए एकता बल को अत्यंत महत्वपूर्ण बताया गया। इसे सर्वोत्तम बल के रूप में निरूपित किया गया-

एकतायाः बलम् एव सर्वोत्तमं बलमस्ति लोके।

एकता में समाज का उत्कर्ष निहित है क्योंकि यह तत्व सामाजिक समस्याओं को निस्तारित करने में प्रभावपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है। यह सामाजिक सशक्तता का सुपुष्ट आधार है। यह सामाजिक गुणवत्ता का परिचायक है। यह तत्व मनोवैज्ञानिक तथा भावनात्मक स्तर पर मानव को प्रभावित करता है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न भाषाओं, धर्मों, जातियों के लोग एकजुट हो वास करते हैं। वैदिक वाङ्मय में एकता के प्रतिष्ठापना के लिए सहगमनीयता और सहवदनीयता का सुंदर संदेश दिया गया-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।[2]

अस्तु, वैदिक मंत्र में निहित इन शिक्षाओं का अनुकरण स्वस्थ समाज के विनिर्माण की ओर अग्रसर कर सकता है। प्रगतिशील सामाजिक स्वरूप की संकल्पना को साकार करने में सक्षम है यह उपदेश। यहां रचनात्मकता है, भावात्मकता है, जीवन्तता है, सकारात्मकता है। निस्संदेह, वैश्विक धरातल पर सर्वजन हिताय की अवधारणा को आकार दे सकती है यह प्रेरणा। अन्यत्र वैदिक मंत्र में शिक्षित किया गया कि समान संकल्प वाले, समान हृदय वाले तथा समान मन वाले बनो-

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्त वो मनो यथा वः सुसहासति।।[3]

द्वेष एक मनोविकार है, महर्षि पतंजलि ने द्वेष को परिभाषित किया कि- दुःखानुशयी द्वेषः।

अर्थात् जिससे दुख की प्राप्ति हो उससे परे रहने की इच्छा का मन में होना द्वेष है। द्वेष से स्वयं को दूर करने के लिए आत्मिक बल की अपरिहार्यता है। आत्मिक बल से ही द्वेष की भावना को परास्त किया जा सकता है। वैदिक मंत्र मानव मात्र को द्वेष से पृथक्करण के लिए उपदिष्ट करता है। द्वेष एक मनोविकार है जो सामाजिक स्वरूप में नकारात्मक भाव को उत्पन्न करता है। यह विकार वैयक्तिक और सामाजिक स्थिति को प्रदूषित करता है। इसके दुष्प्रभाव में सामाजिकों में प्रतिकूलता संभावित है। मनस तत्व में स्थित होकर यह सकारात्मक विचारों पर बुरा प्रभाव डालता है। द्वेष प्रेम भावना के प्रसार में अवरोध डालता है। द्वेष के रहते सहृदयता और सामंनस्य बनाए रखना कदाचित दुष्कर ही है। इसीलिए वैदिक वाङ्मय मानव को द्वेष से सचेत करता है।

हृदय की निर्मलता से घृणा और द्वेष पर विजय प्राप्त की जा सकती है। कितने ही महापुरुषों ने द्वेष भाव को जीतकर स्वर्णिम इतिहास रचा और देश को गौरवान्वित किया। द्वेष से ऊपर उठने के लिए मानसिक सबलता एवं विमलता की अपेक्षा होती है। वेदों में द्वेष भाव से दूर रहने के लिए यत्र- तत्र- सर्वत्र संदेश दिए गए। संध्या उपासना में द्वेष से बचने के लिए साधक द्वारा निम्न मंत्रोच्चार किया जाता है-

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।[4]

ऋग्वेद में कहा गया है कि-

आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतन।[5]

द्वेष पर विजय प्राप्त करने के लिए, मन को द्वेष से विमुक्त करने के लिए भगवदीय अनुग्रह हेतु प्रार्थना की गई। साधक ने मन की निर्मलता के लिए प्रभु से प्रार्थना की कि द्वेष को हमसे दूर कर दो-

जया के परि णो नमाष्मानं तन्वं कृधि।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि।।[6]

सर्वविदित तथ्य है कि मानसिक स्वास्थ्य के लिए द्वेष हितकर नहीं। इसीलिए ऋषि-मुनियों ने मानव को द्वेष से दूर रहने का उपदेश दिया। वैदिक मंत्र में कहा गया कि जो हमसे द्वेष करता है तथा जिससे हम द्वेष करते हैं उसको आपके न्यायरूपी जबड़े को समर्पित करते हैं। इस प्रकार द्वेष से मुक्ति के लिए प्रार्थना की गई। सद्भाव से आत्मीयता स्थापित होती है किंतु दुर्भाव से पृथक्कता। द्वेष से व्यक्तित्व पर प्रतिकूल प्रभाव परिलक्षित किया जा सकता है। यह अकाट्य तथ्य है कि द्वेषमुक्ति की स्थिति में ही मानवों के मध्य मिलजुल कर रहने की भावना का उदय होता है।

वैदिक मंत्रों में प्रेम की विशेष महत्ता प्रतिपादित की गई और इसके सुप्रभाव से अवगत कराने का प्रयास किया गया। उपरिलिखित मंत्र में संदेश दिया गया कि तुम आपस में प्रेमपूर्ण आचरण करो। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए गाय व नवजात बछडे का उदाहरण समक्ष रखा गया।

गाय और उसके बछड़े के मध्य स्नेह संबंध शुद्ध एवं स्वाभाविक रूप में होता है। यहां प्रेम में स्वार्थ का अंश मात्र भी भाव नहीं। निःस्वार्थ प्रेम ही मानव को मानव से जोड़ता है। जिस समाज में प्रेम का आधिक्य होता है वहां सहयोग की भावनाएं भी अपेक्षाकृत अधिक होती हैं। जहां प्रेम मानव मात्र के मध्य विना किसी स्वार्थ के होता है वहीं सामाजिक विकास का पथ प्रशस्त होता है। प्रेम सम्पूर्ण परिवेश को सकारात्मक स्वरूप प्रदान करता है। यजुर्वेद में कहा गया कि सभी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सबको मित्र की दृष्टि से देखूं। हम लोग परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें-

दृते दृंह मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।[7]

स्मरणीय है कि प्रेम एक ऐसा भाव है जो द्वेष को निर्मूल कर देता है। विद्वेष जीवन की उच्चतम उपलब्धि है। सामाजिक उन्नयन की दृष्टि से द्वेष से दूर रहने की प्रबल अपेक्षा है। समाज के लिए अत्यंत अहितकर भाव है यह। जब मनोविकृतियां पनपती हैं तो समाज का विकास बाधित होता है। सामाजिक उत्कृष्टता के लिए मानव के मध्य इन विकृतियों को परास्त करना तथा उनसे दूर रहना ही समीचीन है। कितनी सुंदर शिक्षा है जो मानव समाज के उत्थान में सहायक है।

गाय और उसकी संतति का पारस्परिक प्रेम सामाजिक उत्कृष्टता व सुदृढ़ता के लिए प्रेरणा है। समाज को संगठित और एकजुट बनाने के लिए एक दूसरे के प्रति प्रेम की अपरिहार्यता है। अस्तु, मानव मानव मात्र से निःस्वार्थ प्रेम करे।

समाज में प्रेम की महिमा अपरम्पार है। जहां निःस्वार्थ प्रेम है वहां विस्तार है। जहां मानव-मानव में प्रेम है वहीं आनंद है। जहां समाज में प्रेम है वहीं विकास है। जहां पारस्परिक प्रेम है वहीं जीवन्तता है। जहां मानवों के मध्य प्रेम है वहां गति है। जहां आपस में प्रेम है वहीं संवेदना है। प्रेम भाव समाज को सशक्त बनाता है। प्रेम के परिणामस्वरूप ही सद्भाव अंकुरित और पल्लवित होता है। प्रेम एक मानवीय गुण है। प्रेम नैतिक आदर्श है। प्रेम सांस्कृतिक मूल्य है। प्रेम निस्सीम है। प्रेम एक शाश्वत तत्व है जो व्यक्ति और समाज दोनों पर अनुकूल प्रभाव डालता है। प्रेम शांति को विस्तारित करता है। प्रेम बन्धुत्व को पुष्ट करता है। प्रेम के प्रभाव में व्यक्ति दूसरे का कष्ट हरने के लिए उद्यत होता है। प्रेम सामाजिक विकास का आधार है। राष्ट्रप्रेम राष्ट्रीय प्रगति का मूलतत्व है। प्रेम वैष्विक षांति के लिए अनिवार्य है।

यही कारण है कि वैदिक वाङ्मय के अंतर्गत सामाजिक उन्नति को गतिशील करने के लिए मानव को प्रेम का संदेश दिया गया। ऋषियों ने निःस्वार्थ प्रेम के साथ जीवन जीने के लिए प्रेरित किया। प्रेम मार्ग के माध्यम से साधकों ने दैव अनुकूलता को प्राप्त किया। इतना ही नहीं, साहित्यकारों ने जीवन के सर्वोच्च गंतव्य को प्राप्त करने के लिए भी प्रेम मार्ग का उल्लेख किया।

मानव मात्र के प्रति प्रेम की आधारभूमि पर अवस्थित सनातन संस्कृति विश्व पटल पर अद्यतन स्पृहणीय बनी है। यह विचारणा संकीर्ण सोच को विराम देती है तथा वैश्विक अभ्युदय की संकल्पना को आकार देने का सामर्थ्य रखती है। कितना समाज अभ्युदयकारी उपदेश निहित है यहां। सामाजिक उत्कर्ष की दृष्टि से अत्यन्त व्यापक विचारधारा को अपने अंदर संजोए हुए है यह।

वैदिक वाङ्मय की तो विशेषता ही है- सामाजिक उत्थान के संदर्भ में उदारवादी दृष्टिकोण। यहां मानव मात्र के कल्याण की कामना है, सामाजिक उत्थान का सुंदर लक्ष्य है, लोकमंगल की तीव्र अभिलाषा है। यहां ऐसे उन्नत समाज की संकल्पना की गई जिसमें प्रत्येक सामाजिक भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धि कर सके तथा जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों का हित का संपादन हो सके। यहां शिक्षा व्यष्टि और समष्टि दोनों के कल्याण के निमित्त है। ऐसे ही व्यापक विचारों से अनुप्राणित करने के उद्देश्य से शिक्षा प्रदान की गई। यहां संकुचितता का कोई स्थान नहीं। यहां परिवारवत् समाज कल्याण की अभिलाषा की गई है-

अयम् निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्।

निष्कर्ष-

समाज के विनिर्माण में वैदिक संहिताओं की अहम भूमिका है। यहां वर्णित नैतिक मूल्यों के माध्यम से सामाजिक विकृतियों को परास्त किया जा सकता है। वैदिक संहिताओं में अवस्थित आदशों, सिद्धांतों एवं शिक्षाओं की महत्ता को दृष्टिगत करना सामयिक आवश्यकता है। यहां उपदिष्ट शिक्षाओं को आत्मसात करने से समाज में गुणवत्ता आएगी, सामाजिकों के जीवन में श्रेष्ठता का समावेश होगा। इनमें समाजिक संस्करण का सामर्थ्य है, सकारात्मकता व अनुकूलता विस्तारित करने की विशिष्टता है। वर्तमान में कालजयी विश्ववारा संस्कृति के सामाजिक मूल्यों को हस्तांतरित करने की आवश्यकता है। सुसंगठित समाज के लिए जिन तत्वों की अपेक्षा है, यहां उनका सविस्तार उल्लेख मिलता है।निष्कर्षतः यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त है कि वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत सामाजिक चेतना का यत्र-तत्र मुखर निदर्शन है।

सन्दर्भ -

1- ऋग्वेद/3/30/1
2- ऋग्वेद/10/19/1/2
3- ऋग्वेद/10/19/1/4
4- अथर्ववेद/3/27
5- ऋग्वेद/10/63/12
6- अथर्ववेद/1/2/2
7- यजुर्वेद/36/18

गांधी और विनोबा के अर्थशास्त्र में खादी

-डॉ.मोहम्मद तारिक
अर्थशास्त्र विभाग,
गाँधी फैज -ए-आम कॉलेज,
शाहजहांपुर (उ.प्र.)

गांधीवादी अर्थ नीति में मनुष्य की कमाई का मकसद भौतिक सुख पाना ही नहीं है बल्कि साथ में अपना नैतिक विकास करना भी है क्योंकि हमारी कमाई का असर हमारे सामाजिक ढांचे और संस्कार पर पड़ता है, जो भविष्य के लिए हमें पोषण देते हैं। संस्कृति से आदर्श सभ्यता खड़ी होती है जो हमें भविष्य से आने वाली बाहरी ताकतों से लड़ने में मदद करती है। गांधीजी एक अर्थशास्त्री के तौर पर यह कहते हैं कि उद्योग का विचार गांव की दृष्टि से किया गया हो, उसमें खेती और उद्योग का परस्पर निकट संबंध हो और उसमें विविध धर्मों संस्कारों और स्वभाव का मिलन हो और फिर हित -विरोध, कलह और अनुचित स्पर्धा पैदा ना हो और उसे नीति धर्म को हर कदम पर निभा के सामने रखकर सर्वोदय सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। गांधीजी का कहना था कि **"अर्थ पक्ष और नैतिक पक्ष एक दूसरे के पूरक है, अर्थात आर्थिक प्रतिस्पर्धा में हमें अपनी नैतिकता को भूलना नहीं चाहिए क्योंकि प्रकृति के नियम पूर्ण सत्य हैं, परंतु आर्थिक नियम समय व स्थान के साथ बदलते रहते हैं।"** गांधीजी भारत की आर्थिक स्वतंत्रता को निचले स्तर से शुरू करना चाहते थे, इसके लिए गांधीजी ने 'ग्राम सर्वोदय' का नारा भी दिया ताकि गांव अपना उद्धार खुद कर सके तथा 'सर्वोदय- सभी के उदय' की अवधारणा प्रस्तुत हो। भारत के संविधान में ग्राम पंचायतों का गठन इसी विचारधारा से प्रेरित है।

गांधीजी का मकसद भारत के हर एक घर को उत्पादन की एक इकाई में बदलना था। इससे भारत एक आत्मनिर्भर राष्ट्र के साथ-साथ पूरी दुनिया का एक विनिर्माण केंद्र बन सकता था। गांधीजी मशीन को एक 'उच्चतम कोटि के पाप' के रूप में देखते थे। गांधी जी का मानना था कि बड़े स्तर पर मशीनों का उपयोग भारत में बेरोजगारी का मुख्य कारण होगा और साथ ही साथ इससे समाज में अस्थिरता पैदा होगी। अर्थलाभ पर नैतिकता को प्राथमिकता देने पर गांधी का जोर उस सकारात्मक अर्थव्यवस्था की बुनियाद को ही चुनौती देता है, अर्थलाभ सीधे-सीधे इस लुभावनी धारणा पर आधारित है कि उपभोक्ताओं के तौर पर समस्त नागरिक प्रासंगिक सीमाओं के दायरे में अपने शुद्ध भौतिक लाभ को अधिकतम करने का प्रयास करते हैं । गांधी एक आदर्श आर्थिक व्यवस्था की बात करते थे ।गांधीवादी अर्थशास्त्र के मॉडल को प्रस्तावित किया जाए जिसमें विकास की उच्च दर, पूर्ण रोजगार, आर्थिक कुशलता, और यहां तक कि स्थिरता जैसे प्राथमिक आर्थिक मूल्यों को हासिल किया जाए। गांधी के मानक, नैतिकता, अपरिग्रह, अस्तेय पर आधारित है। ये सब आर्थिक मूल्यों को हासिल करने के बारे में नहीं हैं। यही भारतीय अर्थशास्त्र की विशेषता है।

इसी परिपेक्ष में यदि हम खादी को देखें तो खादी केवल एक कपड़ा नहीं है, चरखा आजादी दिलाने का यंत्र नहीं है। हमारे सामने तथ्य ही गलत रखे गए। गांधी का अर्थशास्त्र इतना मजबूत था कि वह सफेद चमकने वाली खादी के भी खिलाफ थे , उस विचार से खादी सादी होनी चाहिए जो साधारण धुली जाए, कूटा पीटा न जाए और ना ही उसे ब्लीच किया जाए। इससे कपड़ा बहुत कमजोर हो जाता है, उसकी उम्र कम हो जाती है अतः और ज्यादा खादी की मांग बढ़ती है और ज्यादा कपास की जरुरत पड़ेगी अर्थात उसका बोझ जमीन को ढोना होगा, और जमीन हमारे पेट के लिए अन्न पैदा करेगी या हमारे तन को ढकने के लिए कपास। विनोबा भावे ने भी मोटी खादी की वकालत की है जो बगैर धुली हो अर्थात कोरी हो उन्होंने ब्लीच की हुई खादी की को बिल्कुल निकम्मी खादी कहा। हमारा देश गरीब है, जमीन भी हमारे पास मामूली है उसमें कपास पैदा करें उसे परिश्रम पूर्वक साफ करें, पीजें, कातें और बुने और फिर इतनी मेहनत के बाद ब्लीच कर दें, इसे एक नैतिक अपराध समझना चाहिए। धोने की क्रिया में कपड़े की उम्र 15 वर्ष कम हो जाती है, इससे कपड़ा अधिक लगेगा और करोड़ों रुपयों की हानि होगी। इससे स्पष्ट हो जाता कि विनोबा क्यों सफ़ेद भड़कीली खादी को नैतिक अपराध झूठ मानता हूँ। 16 मई, 1926 को 'नवजीवन' में गाँधी एक लेख में कहते हैं- **"मैं चरखे को अपने लिए मोक्ष का द्वार मानता हूं।"** ऐसे ही कई स्थानों पर उन्होंने चरखे के लिए मूर्तिरूपी ईश्वर, अन्नपूर्णा और यज्ञ जैसे रूपकों का भी इस्तेमाल किया । जब रविन्द्रनाथ टैगोर ने अपने प्रसिद्ध लेख 'दी कल्ट ऑफ चरखा' में चरखे से जुड़े कई पहलुओं की जोरदार आलोचना की थी, तो बिना व्यक्तिगत हुए जवाबी चिट्ठी में गांधीजी ने लिखा था कि "मैं तो भगवद्गीता में भी चरखे को ही देखता हूं"। चरखे की साधना में गांधी जैसे ही गहरे उतरे, वैसे ही वह उनके लिए एक आध्यात्मिक साधन भी बन गया । वे एक जगह लिखते हैं, **"काम ऐसा होना चाहिए जिसे अपढ़ और पढ़े-लिखे, भले और बुरे, बालक और बूढ़े, स्त्री और पुरुष, लड़के और लड़कियां, कमज़ोर और ताकतवर- फिर वे किसी जाति और धर्म के हों- कर सके। चरखा ही एक ऐसी वस्तु है, जिसमें ये सब गुण हैं। इसलिए जो कोई स्त्री या पुरुष रोज़ आधा घंटा चरखा कातता है, वह जन समाज की भरसक अच्छी से अच्छी सेवा करता है।"** साथ ही साथ उन्होंने 'कताई से स्वराज' का नारा भी दिया।

विनोबा तो चरखे के अध्ययन की शिक्षा देने के पक्षधर थे जिसमें वह धंधे के अध्ययन के अंतर्गत बिनौले निकालना, पींजना,पूनिया बनाना, कातना सिखाना चाहते थे। कला के अध्ययन में ज्यादा से ज्यादा महीन सूत

कातना, हाथों से सूत कातना इसके साथ ही तकली पर कातना, समानांतर तंतु बनाना सिखाना चाहते थे। ओटनी, पींजना, चरखा की मरम्मत सिखाना और साथ ही उनका सिद्धांत कि घर्षण क्या होता है, इसे कैसे टालना चाहिए और चक्र का तकुए से क्या संबंध है अथवा हिलता क्यों है इसका अध्ययन कराने के की पक्षधर रहे। चरखे के अर्थशास्त्र के अध्ययन के अंतर्गत ग्राम रचना, संपत्ति का विभाजन, बेरोजगारी की समस्या, विदेशी कपड़े का बहिष्कार, कपास के क्षेत्र में हिंदुस्तान का कार्य, स्वावलंबन स्वराज आदि की दृष्टि से कताई की क्या उपयोगिता है इसके अध्ययन पर जोर देते थे। इसके साथ ही उनका कहना था कि विद्यार्थी यह भी अध्ययन करें कि इस कला का आरंभ और विकास कैसे हुआ और धीरे-धीरे यह कल हिंदुस्तान में अब दूर होती जा रही है और इसके साथ धर्म की दृष्टि से भी अध्ययन करें, हिंदू, मुस्लिम, ईसाई धर्म का कातने के बारे में क्या रुख है, स्वदेशी धर्म क्या है, अविरोधी जीवन कैसा होता है, सादगी ,गरीबों के प्रति सहानुभूति, परिश्रम को मान्यता आदि पर विस्तृत जानकारी देना चाहते थे। खादी की बचत कैसे करें इस के संदर्भ में विनोबा कहते हैं कि स्नान करने के बाद खादी के कपड़ों को ज्यादा देर तक ऐसे ही पड़े ना रहने दें उसे तुरंत ही सुखा लें, सड़कर कपड़ा जल्दी फटता है और जो लोग ज्यादा लंबी धोती पहनते हैं उसको रात में उतार कर रख दिया करें और यदि धोती कमजोर हो जाए तो बीच में से काट कर उसके टुकड़े को उल्टी तरफ से सिल लें वह नई हो जाती है। कपड़ा यदि कुछ फट जाए तो उसकी उपेक्षा या त्याग ना करें उसकी मरम्मत करें फटा कपड़ा नहीं पहना चाहिए यह बात सही है लेकिन उसे तुरंत त्याग भी नहीं देना चाहिए उसकी मरम्मत की जानी चाहिए। विनोबा खादी को सर्वोदय-समाज और स्वराज्य -शक्ति का सबसे असरदार साधन मानते थे। विनोबा ने देश की प्रगति और लोक -कल्याण के लिए खादी एवं ग्रामोघोग के गांधीजी के दिखाये पथ को सबसे सुगम रास्ता माना।विनोबा ने कहा, चरखा अहिंसा का प्रतीक है। जितना अहिंसा का विचार समाज में फैलेगा, उतना ही चरखे का विचार भी फैलेगा।

विनोबा ने कहा था – **"गांवों की रचना ग्रामोघोग -मूलक होनी चाहिए।** खादी, ग्रामदान और शांति सेना यह त्रिविध कार्यक्रम हर एक का होना चाहिए।" खादी का अर्थ है- गरीबों से एकरूपता, मानवता की दीक्षा, आत्मनिष्ठा का चिन्ह।यह सम्प्रदाय नहीं है, मानवता का हृदय है। इसलिए पुराने सांप्रदायिक चिन्हों में से जिस तरह आगे दुष्परिणाम निकले, वैसे खादी में से निकलने का भय नहीं है। और जीवन मे परिवर्तन करने का सामर्थ्य तो उसमें अद्भुत है। हमारी पोशाक, हमारे सूत की बनाना स्वाभिमान की चीज है। यह समझकर जो खादी बनायेगा उस पर किसी की भी सत्ता नहीं चलेगी। उन्होंने कहा,**" सारा गांव खादी की दृष्टि से स्वावलंबी बन जाये, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। गांव में ही बुनाई की व्यवस्था होनी चाहिए। "** विनोबा खादी को खेती की सहचरी मानते थे। उन्होंने कहा, **" खादी को खेती की सहचरी समझकर उसे किसान के जीवन का अविभाज्य अंग बनाना, यह है खादी का मूलाधार। "और, " कोल्हू, गाय, अन्न, चरखे, करघे, बुनाई, सिलाई, रंगाई, सभी काम गांव में होने चाहिए।" विनोबा कहते थे – चरखे को मैं वस्त्रपूर्णा देवी कहता हूँ। खेती अन्नपूर्णा है। उन्होंने कहा, " खादी शरीर पर आती है, तो चित्त में फर्क पड़ता है। हमने क्रांति को पहना है, ऐसी भावना होती है। बाजार में आम तो बिकता ही है, लेकिन हमने बीज बोया, पानी दिया, परिश्रम किया, तो वृक्ष का फल लगा। वह आम अधिक मीठा लगता है। अपने परिश्रम का कपड़ा तैयार होगा तो ऐसी ही खुशी होगी। हमारा अनुभव है कि बच्चों में इससे इतना उत्साह आता है कि उसका वर्णन नहीं कर सकते। "** विनोबा ने कहा, ' मैं किसी का गुलाम नहीं रहूंगा और न किसी को गुलाम बनाऊंगा। ' इस प्रतिज्ञा की प्रतीक खादी है। स्वातंत्र्य-पूर्वकाल में खादी को बतौर ' आजादी की वर्दी ' की प्रतिष्ठा मिली। लेकिन उसका असली कार्य तो ग्राम -संकल्प द्वारा ग्राम -स्वावलम्बन सिद्ध कर ग्राम स्वराज्य की ओर बढ़ना है।

विनोबा सेवा आश्रम के अधिष्ठाता रमेश भइया के अनुसार खादी का अर्थ है गरीबों से एकरूपता, मानवता की दीक्षा, आत्मनिष्ठा का चिन्ह।यह सम्प्रदाय नहीं है, मानवता का हृदय है। इसलिए पुराने सांप्रदायिक चिन्हों में से जिस तरह आगे दुष्परिणाम निकले, वैसे खादी में से निकलने का भय नहीं है। और जीवन मे परिवर्तन करने का सामर्थ्य तो उसमें अद्भुत है। हमारी पोशाक, हमारे सूत की बनाना स्वाभिमान की चीज है। यह समझकर जो खादी बनायेगा उस पर किसी की भी सत्ता नहीं चलेगी। यह बात सही है की आजादी की लड़ाई के समय खादी का इस्तेमाल बहुतायत से हुआ और आजादी से पहले खादी को आजादी की वर्दी कहा जाता था लेकिन खादी का उद्देश्य केवल आजादी नहीं था। उसका उद्देश्य ग्राम स्वावलंबन था और गांव को इतना मजबूत कर देना था कि वह हर विदेशी ताकत से अपनी रक्षा स्वयं कर सके इसलिए खादी या चरखे को केवल आजादी के प्रतीक तक सीमित रखे रहना सही नहीं होगा।

सन्दर्भ :

१. गाँधी : जैसा देखा समझा विनोबा ने , पृ. १२६।

२. कपास पुस्तक की प्रस्तावना।

३. खादी हमारा बगावत का झंडा, सर्व सेवा संघ प्रकाशन।

४. विनोबा- साहित्य , खंड १५ पृष्ठ १७०।

५. खादी विचार, पृ ४०।

६ . उपाध्याय, राम नारायण (2015). -गांधी विचार यात्रा, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।

७ . विनोबा विचार प्रवाह के लिए, रमेश भइया , विनोबा सेवा आश्रम शाहजहाँपुर।

सरकारी एवं गैर सरकारी विद्यालयों के विद्यार्थियों की बुद्धि एवं शैक्षणिक-निष्पत्ति का अध्ययन

-डॉ.कैलाश पारीक
अस्टिटेंट प्रोफेसर,
आधुनिक शिक्षा संस्थान,सरदार शहर,
चुरु(राजस्थान) मो.9413889171

मुख्य शब्दः- बुद्धि, बुद्धि-लब्धि, शैक्षणिक-निष्पति, सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालय,

प्रस्तावना- वैश्विक समाज और पर्यावरण में व्यक्ति अपनी बुद्धि/संज्ञानात्मक शक्ति के कारण सभी प्राणियों में सर्वोपरी है। इन प्रकृति प्रदत्त क्षमताओं का विकास एवं परिमार्जन शिक्षा-व्यवस्था में शिक्षण प्रक्रिया द्वारा किया जाता है, जिसे शैक्षणिक-निष्पति कहते हैं। यद्यपि बुद्धि के जैविक घटक आनुवंशिक होते हैं लेकिन उचित शैक्षणिक प्रक्रिया द्वारा इनका परिमार्जन किया जा सकता है। जिसके लिए लोक-कल्याणकारी शासन सत्ताओं में उचित पाठ्यचर्या द्वारा स्तरानुकूल विषयवस्तु के शिक्षण से यह सीखाने का प्रयास राजकीय और गैर-राजकीय स्तर पर किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति समाजोपयोगी/अपेक्षित व्यवहारों का प्रदर्शन समाज में करे, तथा तथ्यों और सूचनाओं का चिंतन, विश्लेषण, और तर्कपूर्ण अधिगम कर सृर्जनात्मक/मौलिक बने। उचित शिक्षण द्वारा अधिगम कर बालक/विद्यार्थी अच्छी निष्पति प्राप्त करें इसके लिए बालक की बुद्धि-लब्धि और बुद्धि का परिमार्जन वांछित होता है। बुद्धि एवं शैक्षणिक निष्पति के ि आधार पर वह अपनी अंतर्निहित क्षमताओं और मानसिक सक्रियता का अनुप्रयोग समस्याओं के समाधान मे करता है। समस्त शैक्षिक प्रक्रियाओं का अभिकेन्द्रण बालक होता है। बालक/व्यक्ति की उच्च बौद्धिक क्षमता उसे नवीन सृजन और नवाचार की प्रेरणा देती है। व्यक्ति की कोई भी मानसिक प्रक्रिया बुद्धि से पृथक नहीं है, बुद्धि व्यक्ति की एक अमूर्त शक्ति है लेकिन वह व्यक्ति के दैनिक क्रियाकलापों को प्रभावित करती है। बालक विद्यालय में शिक्षार्जन करते हुए उच्च शैक्षणिक उपलब्धि हासिल करे, इस हेतु विद्यालयों में योग्य एवं कौशलपूर्ण शिक्षकों की नियुक्ति की जाती है, ताकि शिक्षण की श्रेष्ट्म शैक्षणिक-निष्पति प्राप्त की जा सके। पृष्ठपोषण में उचित निष्पति का तात्पर्य है; बालक की बुद्धि/संज्ञानात्मक शक्ति विकास/परिमार्जन होना। जिससे विद्यालयों में बालकों के भावी जीवन का पूर्वाभ्यास करवाकर कर्णधार/जिम्मेदार नागरिक के रूप मे अपनी प्रतिभा और क्षमताओं का प्रदर्शन कर अपने जीवन में सफलताएं अर्जित करने के लिए तैयार करते हैं।

अध्ययन का महत्त्व - देश/समाज की शिक्षा व्यवस्था में छात्र की बुद्धि और विषयवस्तु की शिक्षण-निष्पति को जानने और विश्लेषित किये जाने के लिए इस शोधकार्य की आवश्यकता अनुभव हुई। जब विद्यालयीकरण की कक्षाओं में जैसे-जैसे बालक को शिक्षण करवाया जाता है तो इसकी निष्पति के साथ-साथ बुद्धि का भी विकास होता है, तथा वह चिंतन, तर्क और विश्लेषणात्मक शक्ति के साथ परिपक्वता की और बढ़ता है। इस अवस्था की बुद्धि और शैक्षणिक निष्पति का भावी जीवन पर स्थाई प्रभाव पड़ता है, अतः 'सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के विद्यार्थियों की बुद्धि एवं शैक्षणिक निष्पति के सम्बंध में अध्ययन करना', विशेष महत्त्व रखता है।

अध्ययन का औचित्य-

विद्यार्थियों की बुद्धि व शैक्षणिक-निष्पत्ति पर विद्यालयी स्तर की औपचारिक व्यवस्था के राजकीय और गैर-राजकीय संस्थाओं का प्रभाव पड़ता है या नहीं, इसको जानने की शोधकर्त्ता के मन में जिज्ञासा हुई। शोधकर्त्ता को ऐसा प्रतीत हुआ कि उल्लेखित प्रकरण पर शोधकार्य नहीं हुआ है। अतः शोधकर्त्ता ने इस प्रकरण पर शोध करने का निर्णय लिया।

समस्या कथन-

सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के विद्यार्थियों की बुद्धि एवं शैक्षणिक निष्पति के सम्बंध में अध्ययन।

अध्ययन के उद्देश्य-

व्यक्ति अपने जीवन में किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उद्देश्य रूपी सीढ़ी का उपयोग करता है इसके अभाव में उसे मंजिल तक पहुंचनें में कठिनाई होती है और वह रास्ते में ही भटक सकता है। वह इन्हीं के सहारे चलते-चलते मंजिल प्राप्त कर पाता है। अनुसंधान में भी इन्ही कारणों से सफलता का मार्ग तय होता है। ये वे माध्यम है जिन्हें अनुसंधानकर्ता ध्यान में रखते हुए अपना अध्ययन सम्पूर्ण करता है। अतः उद्देश्यों की स्पष्टता भी अनुसंधान की सफलता तय करती है तथा इससे सम्बन्धित लाभ अनायास प्राप्त हो जाते हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए अनुसंधानकर्ता निर्धारित परिकल्पनाओं द्वारा प्रस्तुत अध्ययन का दूरगामी लक्ष्य कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के विद्यार्थियों की बुद्धि तथा शैक्षणिक निष्पत्ति के सम्बन्ध में उपस्थित होने वाले अवरोधों को ज्ञात करके निराकरण हेत सुझाव देना है।

1. कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों की कुल छात्रों की बुद्धि के सार्थक अन्तर का पता लगाना।
2. कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के छात्रों की बुद्धि के सार्थक अन्तर का पता लगाना।
3. कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों की छात्राओं की बुद्धि के सार्थक अन्तर का पता लगाना।
4. कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के कुल छात्रों की शैक्षणिक-निष्पत्ति के सार्थक अन्तर का पता लगाना।
5. कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के छात्रों की शैक्षणिक निष्पत्ति के सार्थक अन्तर का पता लगाना।
6. कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के छात्राओं की शैक्षणिक निष्पत्ति के सार्थक अन्तर का पता लगाना।

7.भावी शोध हेतु सुझाव देना।

अध्ययन की परिकल्पनाएं-

1.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के कुल छात्रों की बुद्धि में कोई सार्थक अन्तर नहीं हैं।

2.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों की छात्रों की बुद्धि में कोई सार्थक अन्तर नहीं हैं।

3.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों की छात्राओं की बुद्धि में कोई सार्थक अन्तर नहीं हैं।

4.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों की कुल छात्रों की शैक्षणिक निष्पत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं हैं।

5.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के छात्रों की शैक्षणिक निष्पत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं हैं।

6.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के छात्राओं की शैक्षणिक निष्पत्ति में कोई सार्थक अन्तर नहीं हैं।

प्रयुक्त शब्दावली की व्याख्या-

बुद्धि में व्यक्ति की वे मानसिक योग्यताएं सम्मिलित हैं, जो उसे जीवन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाने में सहायता देती हैं और उसके आनन्दपूर्ण एवं संतुष्ट जीवन-यापन में सहायक होती हैं। वुडवर्थ और मार्क्विस के अनुसार - ''बुद्धि का अर्थ है- प्रतिभा का प्रयोग करना। किसी स्थिति का सामना करने या किसी कार्य को करने के लिए प्रतिभात्मक योग्यताओं का प्रयोग ही बुद्धि है।

निष्पत्ति- बालक विद्यालय में रहकर जो कुछ सीखता है, उसे हम उपलब्धि या निष्पत्ति कहते है तथा इस उपलब्धि की जाँच हेतु जो परीक्षाएँ आयोजित की जाती है, उन्हें उपलब्धि अथवा निष्पत्ति परीक्षण कहते है।

गैरिसन व अन्य- 'उपलब्धि परीक्षा बालक की वर्तमान योग्यता या किस विशिष्ट विषय के क्षेत्र में उसके ज्ञान की सीमा का मूल्यांकन करती है।

सीमांकन- ''कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं निजी विद्यालयों के विद्यार्थी।

सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन एवं पुन्रावलोकन-

1.शर्मा, अजय कुमार (2000) ने जयपुर संभाग में माध्यमिक स्तर में अध्ययनरत् 1000 छात्र-छात्राओं के सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में सवर्ण एवं अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों की शैक्षिक-निष्पत्ति, सृजनात्मकता एवं बुद्धि स्तर पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया। उन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश का बालकों की शैक्षिक-निष्पत्ति पर सार्थक प्रभाव पाया जाता है तथा सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश का बालकों के बौद्धिक स्तर व सृजनात्मकता पर सार्थक प्रभाव पाया जाता है।

2.जैन, प्रवीण (2004) ने ''निजी शिक्षण का किशोर विद्यार्थियों की शैक्षिक निष्पत्ति, शैक्षिक व व्यावसायिक आकांक्षाओ की शैक्षिक निष्पत्ति, शैक्षिक व व्यावसायिक आकांक्षाओं, अध्ययन आदतों एवं रूचियों पर प्रभाव का अध्ययन" विषय पर शोध कार्य किया, इन्होंने अपने शोध के निष्कर्ष के रूप में पाया कि निजी शिक्षण का विद्यार्थियों की शैक्षिक-निष्पत्ति, शैक्षिक आकांक्षा एवं व्यावसायिक आकांक्षा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, जबकि अध्ययन आदतों पर सार्थक प्रभाव पड़ता है।

3.एडैडिवारा, ए.ए. एवं टायो (2007) ने- ''नाईजीरिया के माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि पर शिक्षकों के ज्ञान, अभिवृत्ति तथा अध्यापन-कौशल का प्रभाव'' शीर्षक शोध कार्य किया। इन्होंने अपने शोध के निष्कर्ष में पाया कि शिक्षकों के विषय-वस्तु के ज्ञान, कार्य के प्रति अभिवृत्ति और शिक्षण कौशल का छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि के साथ सार्थक संबंध पाया जाता है।

प्रयुक्त शोध विधि - किसी भी कार्य को करने के लिए योजना बनाई जाती है तथा यह निर्धारित किया जाता है कि किस कार्य के लिए कौनसी विधि उपयुक्त रहती है। प्रत्येक शोधकर्ता हेतु एक निश्चित विधि की आवश्यकता होती है, जिसकी सहायता से निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति की जा सके। अध्ययन विधि से तात्पर्य एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार निश्चित अध्ययन प्रणाली से है। यदि अनुसंधानकर्ता अपनी विधि की व्याख्या स्पष्ट रूप से नहीं करता है तो परिकल्पनाओं के अनिश्चित एवं असामान्य होने की सम्भावना रहती है। प्रस्तुत शोध ''कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं निजी विद्यालयों के विद्यार्थियों की बुद्धि एवं शैक्षणिक निष्पत्ति के सम्बन्ध में अध्ययन'' एक सर्वेक्षण है। अतः शोधकर्ता ने सर्वेक्षण विधि का उपयोग किया है।

उपकरण- सामूहिक मानसिक योग्यता परीक्षण प्रस्तुत शोध कार्य में विद्यार्थियों का बुद्धि परीक्षण किया गया, जिसमें डॉ. श्यामस्वरूप जालोटा द्वारा निर्मित मानसिक योग्यता की संशोधित सामूहिक परीक्षा-1972 का प्रयोग किया गया। इस परीक्षा में 100 प्रश्न हिन्दी भाषा में लिखित है। जिन्हें हल करने के लिए 20 मिनट का समय निर्धारित है। यह परीक्षा सामूहिक व व्यक्तिगत दोनों ही रूपों में ली जा सकती है। समस्त परीक्षण 7 भागों में विभाजित है जो निम्न प्रकार से हैं.

1. शब्द भण्डार (समान)
2. शब्द भण्डार (विपरीत)
3. संख्या श्रृंखला वर्गीकरण
4. श्रेष्ठ प्रत्युत्तर अनुमान
5. सादृश्य

डॉ. श्यामस्वरूप जालोटा के परीक्षण के लिए प्रत्येक प्रकार के पदों के उदाहरण दिए हैं और परीक्षण के प्रत्युत्तर के लिए अलग से उत्तर-पत्र दिया गया है। परीक्षण की कार्य-विधि के लिए आवश्यक निर्देश दिए गए है और उनके मूल्यांकन के लिए प्रत्येक सही उत्तर के लिए एक अंक दिया गया है। इस कार्य विधि से बुद्धि परीक्षण निकाला गया। शैक्षिक-निष्पति के मापन उपकरण, शैक्षिक-निष्पति का पता लगाने के लिए किसी भी प्रश्नावली आदि का उपयोग न करके कक्षा 12 के विद्यार्थियों के कक्षा 10 में प्राप्त वार्षिक परीक्षा के प्राप्तांकों को आधार बनाया गया है। जिन्होनें राज्य स्तर पर समान परीक्षा योजना के तहत् माध्यमिक शिक्षा बोर्ड अजमेर, राजस्थान द्वारा निर्मित प्रश्न पत्रों द्वारा दी है।

जनसंख्या- सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के विद्यार्थी

न्यादर्श- प्रस्तुत अध्ययन में शोधकर्ता ने उक्त विधियों में से स्तरीकृत

यादृच्छिक न्यादर्श का चयन कर अपने अध्ययन को सरल बनाने का प्रयास किया है। सोद्देश्य न्यादर्श में पूरे समग्र में कुछ निश्चित भागों को अलग कर लेते हैं जिनसे दत्त-संकलन करते हैं। यह विधि सरल एवं व्यावहारिक है। न्यादर्श हेतु प्रस्तुत अध्ययन में शोधकर्ता ने राजस्थान के 33 जिलों में से चूरू की सरदारशहर तहसील का चयन किया। जिसमें से तहसील क्षेत्र के समस्त विद्यालयों में से केवल 4 विद्यालयों का चयन किया गया।

1. राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, पूलासर।
2. राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, मेलूसर बीकान।
3. सरस्वती उच्च उच्च माध्यमिक विद्यालय, सरदारशहर।
4. श्री विवेकानंद उच्च माध्यमिक विद्यालय, सरदारशहर।

शोधकर्ता ने 50 छात्र व 50 छात्राएं सरकारी एवं 50 छात्र व 50 छात्राएं गैर-सरकारी विद्यालयों के न्यादर्श के लिए चयन किया गया।

अध्ययन में प्रयुक्त सांख्यिकी-

1 मध्यमान 2. मानक विचलन 3. टी-परीक्षण

व्याख्या-

शोधकर्ता ने एकत्र प्रदत्तों के विश्लेषण किया जिसके निष्कर्ष में पाया कि -

1.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के कुल छात्रों की बुद्धि में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया गया।

2.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के छात्रों की बुद्धि में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया गया।

3.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों की छात्राओं की बुद्धि में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया गया।

4.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों की कुल छात्रों की शैक्षणिक निष्पत्ति में सार्थक अन्तर पाया गया

5.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के छात्रों की शैक्षणिक निष्पत्ति में सार्थक अन्तर पाया गया।

6.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के छात्राओं की शैक्षणिक निष्पत्ति में सार्थक अन्तर पाया गया।

शोध निष्कर्ष-

1.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के विद्यार्थियों की बुद्धि में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया गया।

2.कक्षा 12 में अध्ययनरत सरकारी एवं गैर-सरकारी विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षणिक निष्पत्ति में सार्थक अन्तर पाया गया।

सुझाव-

1.सरकारी विद्यालयों एवं आदर्श विद्या मन्दिर के विद्यार्थियों की बुद्वि एवं शैक्षणिक-निष्पति के सम्बंध में अध्ययन।

2.सरकारी विद्यालयों एवं जवाहर नवोदय विद्यालय के विद्यार्थियों की बुद्वि एवं शैक्षणिक-निष्पति के सम्बंध में अध्ययन।

3.विद्यालयी स्तर पर हिन्दी माध्यम एवं अंग्रेजी माध्यम के विद्यार्थियों की बुद्वि एवं शैक्षणिक-निष्पति के सम्बंध में अध्ययन।

4.शहरी एवं ग्रामीण विद्यालयों के विद्यार्थियों की बुद्वि एवं शैक्षणिक-निष्पति के सम्बंध में अध्ययन।

संदर्भ-

1.Singh B.N.K.-"Some non-Intellectual correlates of Academic Achievement",Ph.D., Patna University, 1965

2.Yadav, Satish Kumar-"A Co-Operative Study of the Intelligence Level and the Motivation Tendencies of the Schedule. Cast &Non-Schedule Cast", Ph.D., M.Ed., Rajasthan University, 1976

3.Buch M.B.- "Second Survey of research in Education" N.C.E.R.T., New Delhi,Nov.1979,PP.359

4.Buch M.B.- "Third Survey of research in Education" N.C.E.R.T., New Delhi.

5.कुमावत, जगदीश (1977) -अष्टम् कक्षा के विद्यार्थियों की अध्ययन आदतों का मूल्यांकन एवं अध्ययन आदतों का शैक्षिक उपलब्धिा के साथ सम्बन्थ एम.एड., राजस्थान विश्वविद्यालय

6.चतुर्वेदी, हरिशंकर (1979) -कक्षा आठवीं की छात्राओं में निम्न उपलब्धि एक निदानात्मक, विश्लेषणात्मक एवं उपयोगात्मक निर्देशन एम.एड.उदयपुर विश्वविद्यालय

7.जैन, शारदा (1982) -छात्राओं की अध्ययन आदतों एवं उनका शैक्षिक निष्पत्ति से सम्बन्ध निर्देशन हेतु एक शोध कार्य एम.एड., उदयपुर विश्वविद्यालय।

8.मेघवाल, पूराराम(जनवरी, 2017) - ''विद्यालयी शिक्षक प्रशिक्षकों की अभिवृति का तुलनात्मक अध्ययन''. बात शिक्षा की (ISSN-2319 -2011).सरदारशहरः गॉ.वि.म, पृ.सं.-57 से 58.

9.जैन, अंजली (2007). प्राथमिक शिक्षा, के.एस.के. पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, अंसारी रोड़, दरियागंज, नईदिल्ली-110002, पृष्ठ सं. 30

10.ठाकुर, राजेश कुमार. (2013). वैदिक गणित के अनिवार्य भाग: दिल्ली, रूपा पब्लिकेशन।

11.तीर्थाजी, भारती कृष्णा (1965). वैदिक गणितः नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास प्राइवेट लिमिटेड़।

विंध्य क्षेत्र के बौद्ध स्थापत्य : देउर कोठार स्तूप समूह के विशेष संदर्भ में

-डॉ.गोविंद बाथम
सहसंग्रहाध्यक्ष,
गूजरी महल संग्रहालय,ग्वालियर

विन्ध्य क्षेत्र पारंपरिक रूप से विन्ध्याचल पर्वत के आस-पास का पठारी भाग को कहा जाता है। मध्यप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में स्थित कुछ जिलो को मिला कर विन्ध्याचल प्रदेश की रचना की गई है, जिसकी राजधानी रीवा थी। यह क्षेत्र सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। विन्ध्याचल के पठारी से चम्बल, बेतवा केन आदि नादिया निकल कर उत्तर पूर्व की ओर बहती हुई यमुना में मिल जाती है।

भारत में वास्तु कला का इतिहास बहुत प्राचीन है। वास्तुकला ललित कलाओं में से एक है।

सर्वप्रथम ऋग्वेद में अर्चवास्तु(यज्ञशाला, वेदी आदि) तथा लौकिक वास्तु(गृह, पुर आदि) का उल्लेख प्राप्त होता है। वेद, ब्राम्हण ग्रंथ, रामायण, महाभारत, अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्र, वृहत्संहिता, जैन व बौद्ध ग्रथ भी तत्कालीन वास्तु परम्पराओं के बारे में यथेष्ट जानकारी उपलब्ध कराते है। बौद्ध साहित्य में बौद्धवास्तु विद्या एवं कला के निर्देश इतने अधिक हैं कि ये ग्रथ वास्तु विद्या का ही उल्लेख करते प्रतीत होते है। विनयपिटक, चुलवग्ग महावग्ग, महापरिनिब्बान सूत्र, अठ्ठकथा आदि में समकालीन बुद्ध उपदेश तथा तत्कालीन बौद्ध वास्तु कला संबंधित उपयोगी जानकारी मिलती है। बौद्ध वास्तु कला को हम निम्न भागो में बॉट सकते है।

स्तंभ
स्तूप
विहार
चैत्य तथा मंदिर [1]

स्तूप भारतीय वास्तु कला की प्राचीनतम विधाओं में से एक है। वैदिक साहित्य, जैन साहित्य एवं बौद्ध साहित्य में स्तूप के उल्लेख है। परन्तु वास्तव में स्तूप विद्या को ख्याति बौद्ध काल में मिली। बौद्ध धर्म में इसे अतिपवित्र,पूजनीय एवं बुद्ध के महापरिनिर्वाण का प्रतीक माना गया है। स्तूप संस्कृत के स्तूप अथवा प्राकृत थूप "स्तूप" धातु से बना है, जिसका अर्थ ढेर लगाना या इकट्ठा करना है। अतः मिट्टी के ऊँचे टीले लिए स्तूप शब्द का प्रयोग होने लगा।

बौद्ध साहित्य में स्तूप शब्द का प्रयोग मृत व्यक्तियों की अस्थियों पर निर्मित समाधि के लिए हुआ है, जिसका आकार औंधे कटोरेनुमा टीला जैसा हो। बाद में स्तूप शब्द उन स्मारकों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा जो बुद्ध या उनके उपासकों की स्मृति या किसी घटना विशेष की स्मृति हेतु बना दिये जाते है।[2]

मौर्यकाल से ही विन्ध्य क्षेत्र में स्तूप निर्माण की परंपरा दृष्टिगोचर होती है। मौर्यकाल में देउरकोठार, पानगुडरिया, तालपुरा एवं बायन आदि स्थानों में स्तूप निर्माण करवाये गये। बौद्ध वास्तु रचना के क्रम में देउरकोठार स्तूप समूह आरंभिक स्तूप वास्तु रंचना का प्रमाण प्रस्तुत करता है। यह स्तूप समूह रीवा जिले की त्योंथर तहसील के अंतर्गत ग्राम देउरकोठार एवं बरहट के समीप स्थित है। रीवा-इलाहाबाद राष्टीय राजमार्ग पर रीवा से 60 कि.मी. दूर स्थित कटरा नामक स्थान से यह लगभग 3 कि.मी दूर है। यहॉ से 50 से अधिक स्तूपों के अवशेष कैमूर पर्वत श्रृंखला में एक वर्ग कि.मी में फैले हुए है। यहॉ से प्राप्त अधिकाशं स्तूप श्रद्धाभिव्यंजन स्तूपों के रूप में जाने जाते है। शैलाश्रयों की अधिकता, टमस नदी की समीपता एवं प्राचीन मार्ग में इसकी स्थिति ने यहॉ बौद्ध केन्द्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। यहॉ पर स्तूपों के साथ-साथ विहारों और स्तंभ के भी अवशेष मिले है। निर्माण सामग्री के आधार पर इन स्तूपों को 4 श्रेणियों में बाटा जा सकता है। प्रथम श्रेणी में ईट से निर्मित स्तूप, द्वितीय श्रेणी में ईट व पाषाण निर्मित स्तूप, तृतीय श्रेण में केवल पाषाण से निर्मित स्तूप तथा चौथी श्रेणी में पाषाण एवं मिट्टी के स्तूप आते है। प्रथम तीन प्रकार के स्तूप में कही एक प्रद्रक्षिणा पथ तथा कही दो प्रदक्षिणा पथ पाये गये है। छत्र के प्रामाण अभी तक किसी भी स्तूप से नहीं मिले है।

स्तूप क्र. 1,2, एवं 3 पूर्ण रूप से ईटो निर्मित है। इनमें स्तूप क्र. 1 आकार में सबसे बडा है। एवं अधिक सुरक्षित अवस्था में है। इस स्तूप की लम्बाई 11.07 मी. तथा भूतल पर परिधि 143.28 मी है। हर्मिक के पास इसका व्यास 8 मी. है। स्तूप क्रमांक 2 का अर्धव्यास 8.75 एवं ऊॅचाई 2 मी तथा स्तूप क्र. 3 का अर्ध व्यास 6 मी. एवं ऊचाई 1.36 मी. है।[3]

स्तूप क्रमांक-1 वर्ष 1999-2000 में किये गये पुरातात्विक उत्खन्न से स्तूप क्र. 1 के चारों ओर मौर्य कालीन प्रस्तर वेदिका के साक्ष्य मिले हैं। देउरकोठार से पूर्व सिर्फ सारनाथ एवं अमरावती से ही मौर्यकालीन वेदिका के प्रमाण मिले हैं। स्तूप का प्रद्रक्षिणा पथ पत्थर के पटियों से निर्मित किया गया था जो कि पत्थर की

वेदिका से घिरा हुआ था। इस वेदिका का अधिकाश भाग खंण्डित अवस्था में प्रद्रक्षिणा पथ के पत्थर के फर्श पर पडा़ मिला। स्तंभ व सूचियाँ कई मापों में मिल है। जबकि उष्णीष तीन भिन्न मापों के है। उष्णीष में प्राप्त खांचों के आधार पर कह जा सकता हैं कि इसे तीन स्तंभों के ऊपर लगाया जाता था। एक स्तंभ में सूची लगाने निर्मित किये गये तिरछे खंचे ये प्रतीत होता है कि ये सीढियों के लिए था, जो कि प्रद्रक्षिणा पथ से मेधि तक जाता है। इस वेदिका के विभिन्न अंगों में एकरूपता का अभाव है। जैसे इस के स्तंभ अलग-अलग प्रकार से निर्मित है तथा इसमें कार्य कुशलता का अभाव है जो भरहुत या सांची में दृष्टिगोचर होता है। अतः प्रतीत होता है कि प्रस्तुत वेदिका निर्माण की परम्परा इस समय तक रूढ़गत नहीं हुयी थी।

उत्खन्न से ये भी ज्ञात होता है कि शुंगकाल के प्रारभ में द्वितीय शती ई. पू. के मध्य में स्तूप क्र.1 को किन्हीं तत्वों ने जानबूझकर क्षति पहुँचायी। स्तूप की वेदिका को उखाड़ कर वहीं फर्श पर फेक दिया है। कुछ वेदिका स्तंभ आधे उखाडे गये तो कुछ को दुकडे-दुकडे कर दिया गया है। कुछ स्तंभों के निचले हिस्से ठूठ से खडे रह गये तथा दो सहस्त्राब्दियों में ये स्तूप के मलबे के नीचे दब गये। स्तूप की मेधि और अड़ भाग को भी क्षति पहुचायी गयी तथा हर्मिका को भी निकाल के फेक दिया गया।

कला की दृष्टि से देउरकोठार की वेदिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा बौद्ध कला के विकास यात्रा को समझाने में सहायक हैं। यह कि वेदिका में घटपल्लव कमल आदि अभिप्राय अंकित है। प्रस्तर पर कम गहराई तक उत्कीर्णन, सादगी पूर्ण अलंकरण, मानव और पशु आकृतियों का अभाव, उत्कीर्णन में रेखांकन जैसा प्रभाव आदि विशेषताएं इसे प्रस्तर वेदिका की आरंभिक कला का उदाहरण सिद्ध करती हैं। तत्कालीन समय तक कलाकार अपने भावों को अभिव्यक्त करने में कुशल नहीं हुआ था। देउरकोठर की यह कला भरहुत और सांची की कला की पूर्वगामी है जिसे बाद के कलाकारों के लिए एक निर्देश का कार्य किया। यहॉ की कला का प्रेरणा स्त्रोत राजकीय ना होकर लोक कला प्रतीत होता है जो शुगंकाल में अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रस्फुटिक हुई।

स्तूप क्र. 1 के दक्षिण से क्वाटजाईट प्रस्तर के विशाल स्तंभ के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। इस स्तंभ पर मौर्यकालीन ओप विद्यमान है। इस स्तंभ पर छ पक्ति युक्त लेख भी विद्यमान है, जिसकी लिपि तृतीय ई.पू. की हैं।[4] 1999-2000 सत्र में किये गये उत्खन्न से इन स्तूपों के कालक्रम पर भी प्रकाश पडता है।

स्तूप क्रमांक-2 स्तूप क्र. 1 से 400 मी. दक्षिण में स्तूप क्र. 2 स्थित है। जिसके मध्य शिलाओं द्वारा निर्मित प्राचीन मार्ग के अवशेष विद्यमान है। इस मार्ग में एक पंक्ति का लेख अंकारिकुटिलस ब्राम्ही में उत्कीर्ण है। लेख के नीचे त्रिरत्न व ध्वज पताका हैं। स्तूप क्र. 2 के उत्खन्न से पता चलता है कि इसके निर्माण में चार विभिन्न आकारों की ईटों के प्रयोग के साथ दो भिन्न आकारों की ईटो की सुजवा ईटो का भी प्रयोग किया गया है।[5]

देउरकोठार स्तूप समूह के उत्खन्न के क्रम में उत्तरी कृष्णमार्जित परम्परा के मृदभाण्डों के टुकड़े की प्राप्ति हुई थीं। इसी समय अन्य कई ईटों से निर्मित स्तूप बनायें गये। स्तूप क्रमांक 1 में प्रस्तर की वेदिका तथा अन्य स्तूपों में संभवतया काष्ठ वेदिका का निर्माण हुआ। प्रस्तर निर्मित 29 स्तूपों में से कुछ में उच्च श्रेणी की उत्तरी कृष्णमार्जित परम्परा के मृदभाण्डों के टुकडे की प्राप्ति हुई थी। अधिकांश प्रस्तर निर्मित स्तूप संभवतया ब्रहद्रथ की हत्या के पूर्व निर्मित किये गये। स्तूप क्रमांक 1 की वेदिका के फर्श पर मिले निम्न श्रेणी के उत्तरी कृष्णमार्जित परम्परा के मृदभाण्ड़ के टुकडे भी यह सिद्ध करते हैं कि यहॉ बौद्ध क्रियाकलापों का अंतिम समय तथा विनाश की प्रक्रिया मौर्यकाल के अधिक बाद का नहीं है।मौर्यकाल के अन्त और शुंगकाल के आरंभ में देउरकाठार अपना महत्व खोने लगा था। संभवतया यहा के बौद्ध भिक्षु भरहुत, कौशाम्बी या अन्य सुरक्षित व अनुकूल बौद्ध केद्र की ओर चले गये होगें। संभवतया इस खेत्र का संबंध कौशम्बी से रहा होगा जिसके परिणाम स्वरूप् यहॉ से द्वितीय शती.ई. पू. की दो ताम्रमुद्राएं शती. ई.पू. की ब्राम्ही में "तिखिन्गुतस" तथा "सुकरिक्सिले" लेख प्राप्त हुआ है।[6]

संदर्भ :

1.तिवारी, जलज कुमार, 2001, मध्यप्रदेश में बौद्ध कला-एक अध्ययन, अप्रकाशित शेध प्रबंध, अवधेश प्रताप सिंह विश्व विद्यालयए रीवा, (म.प्र.) पृ.90

2.वाजपाये, कृष्णदत्त,990 भारतीय वास्तुकला का इतिहास, द्वि. स. लखनऊ, पृ.53

3.आर. के. वर्मा, 1992, रीवा थ्रू द एजेस अ.प्र. विद्यालय, रीवा।

4.मिश्र.फणिकांत, देउरकोठार स्तूप,न्यू लाइट आन अर्ली बुद्धिज्म, मार्ग 52, मुम्बई 200, पृ.67

5.पूर्वोक्त, पृ. 68

6.तिवारी, जलज. कुमार, पूर्वोक्त, पृ. 126

भौगोलिक वातावरण का कृषि एवं जैव विविधता पर प्रभाव :
(शेखावटी क्षेत्र के विशेष संदर्भ में)

-डॉ.सुनील कुमार
आचार्य एवं भूगोल विभागाध्यक्ष,
मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान संकाय,
उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान,सरदार शहर,(राज)

-गजेंद्र सिंह राठौड
भूगोल विभाग,
मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान संकाय,
उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान,सरदार शहर,(राज)

सारांशः- कृषि के आधुनिकीकरण का तात्पर्य कृषि कार्यो में विभिन्न वैज्ञानिक तकनीकों के समग्र उपयोग से है। भारत एक कृषि प्रधान देश है। कृषि इसकी अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार है। आज भी दो तिहाई जनसंख्या की आजीविका कृषि पर निर्भर है। भारतीय अर्थव्यवस्था में राजस्थान के कृषि उद्योंग का 29 प्रतिशत योगदान है। प्रदेश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का लगभग 50 प्रतिशत भाग कृषि के उपयोग में आता है। यद्यपि अन्य राज्यों की तुलना में यहाँ कृषि की अनुकूल दशाएँ उपलब्ध नहीं है। किन्तु प्रतिकूल एवं विविधता युक्त भौगोलिक परिस्थितियों में भी राज्य में कृषि का पर्याप्त विकास हो रहा है। कृषि को विकसित करने हेतु सरकार अनेक कार्यक्रम एवं योजनाओ का संचालन कर रही है। हरित क्रान्ति से पूर्व देश की स्थिति अत्यधिक विचारणीय थी। उस समय देश भंयकर खाद्यान्न संकट से जूझ रहा था। इन विषम परिस्थितियों मे देश को अकाल, खाद्यान्न संकट, तथा भुखमरी जैसी चुनोैतियों का सामना करना पड़ा। हरित क्राति से देश की खेती तथा अर्थव्यवस्था दोनांे की दशा एवं दिशा बदल गयी। वर्ष 1970 में खाद्यान्न उत्पादन के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली तथा वर्तमान में अच्छी स्थिति है। इन सभी प्रयासों कें उपरान्त भी राजस्थान की कृषि अर्थव्यवस्था वर्तमान में संकट के दौर से गुजर रही है। तीव्र गति से बढ़ रही जनसंख्या, नगरीयकरण, जलवायु परिवर्तन तथा कृषि का परम्परागत स्वरुप आदि कारक राज्य में खाद्य सुरक्षा की सुदृढ स्थिति बनाये रखने पर प्रश्न चिन्ह् लगा देते है।

शब्द कुंजीः- भौगोलिक, कृषि, शेखावाटी, अर्थव्यवस्था, जनसंख्या, जैव विविधता, पर्यावरण आदि।

प्रस्तावना

भारत में जैसे-जैसे जनसंख्या वृद्धि दर बढ.ता जा रहा है तदनुसार ही खाद्यान्नों की मांग में भी वृद्धि हुई है। अतः लोगो की तीव्र गति से बढ़ती मांग की पूर्ति के लिए अतिरिक्त उत्पादन आवश्यक हो जाता है। इस अतिरिक्त उत्पादन के लिए कृषि का आधुनिकीकरण आवश्यक है। कृषि में आधुनिकीकरण की विचारधारा का समावेश उपर्युक्त विचारधारा का ही प्रतिफल है। कृषि में आधुनिकीकरण के लिए उसमें नई तकनीकी, मशीनीकरण, रासायनिक उर्वरक, नई किस्म के उन्नत बीज एवं विभिन्न कीटनाशक औषधियों कृषि में प्रयुक्त की जाने लगी, जिससे कृषि के क्षेत्र में नये परिवर्तन हुए एवं कृषि उत्पादन भी बढ़ा है।

अतः कृषि के आधुनिकीकरण का तात्पर्य कृषि कार्यो में विभिन्न वैज्ञानिक तकनीकों के समग्र उपयोग से है। भारत एक कृषि प्रधान देश है। कृषि इसकी अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार है। आज भी दो तिहाई जनसंख्या की आजीविका कृषि पर निर्भर है। अधिकांश उद्योगों को कच्चा-माल कृषि से प्राप्त होता है। कृषि आधारित इन उद्योगों का राष्ट्रीय आय में भारी योगदान है। भारतीय अर्थव्यवस्था में राजस्थान के कृषि उद्योंग का 29 प्रतिशत योगदान है। प्रदेश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का लगभग 50 प्रतिशत भाग कृषि के उपयोग में आता है। यद्यपि अन्य राज्यों की तुलना में यहाँ कृषि की अनुकूल दशाएँ उपलब्ध नहीं है। किन्तु प्रतिकूल एवं विविधता युक्त भौगोलिक परिस्थितियों में भी राज्य में कृषि का पर्याप्त विकास हो रहा है। राज्य की कृषि यहाँ की जलवायु द्वारा नियन्त्रित होती है। यहाँ की जलवायु में विविधता पायी जाती है। इसके विविधता का प्रभाव भूमि उपयोग, कृषि उपजों के स्वरुप एवं उत्पादकता पर प्रत्यक्ष रुप से पड. रहा है।

कृषि को विकसित करने हेतु सरकार अनेक कार्यक्रम एवं योजनाओ का संचालन कर रही है। हरित क्रान्ति से पूर्व देश की स्थिति अत्यधिक विचारणीय थी। उस समय देश भंयकर खाद्यान्न संकट से जूझ रहा था। इन विषम परिस्थितियों मे देश को अकाल, खाद्यान्न संकट, तथा भुखमरी जैसी चुनोैतियों का सामना करना पड़ा। हरित क्रान्ति से देश की खेती तथा अर्थव्यवस्था दोनांे की दशा एवं दिशा बदल गयी। वर्ष 1970 में खाद्यान्न उत्पादन के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली तथा वर्तमान में अच्छी स्थिति है। इन सभी प्रयासों कें उपरान्त भी राजस्थान की कृषि अर्थव्यवस्था वर्तमान में संकट के दौर से गुजर रही है। तीव्र गति से बढ़ रही जनसंख्या, नगरीयकरण, जलवायु परिवर्तन तथा कृषि का परम्परागत स्वरुप आदि कारक राज्य में खाद्य सुरक्षा की सुदृढ स्थिति बनाये रखने पर प्रश्न चिन्ह् लगा देते है। भविष्य में देश की 125 करोड़ आबादी को खाद्य सुरक्षा उपलब्ध कराना एक चुनौती भरा कार्य होगा। जनसंख्या आंकड़ों के आधार पर देखें तो राज्य की जनसंख्या में भी वृद्धि निरन्तर जारी है। बढ़ती हुई आबादी के भरण पोषण हेतु एवं जनसंख्या के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने हेतु कृषि व्यवसाय को विकसित करना राज्य की प्रथम आवश्यकता है। पिछले कुछ वर्षो से कृषि के क्षेत्र में अनुसंधानों से ऐसे नये परिवर्तन परिलक्षित हुए है, जिसके कारण परम्परागत कृषि की विधियाँ बिल्कुल पिछड़ गई है। कृषि वैज्ञानिकों के प्रयासो से नई कृषि तकनीकों का

विकास, आधुनिक कृषि हेतु, उन्नत बीज, रासायनिक खाद और फसलों को बीमारी से बचानें हेतु पौध संरक्षण औषधियों की जानकारी एवं उपयोग नये कृषि यंत्र एवं उपकरणों का उपयोग आदि के सहयोग से कृषि व्यवस्था आधुनिकीकरण की ओर अग्रसर हो रही है। खाद्य फसलों के साथ-साथ व्यापारिक फसलों का उत्पादन बढ़ने से कृषि में तेजी से व्यवसायीकरण की प्रक्रिया विकसित हो रही है।

अध्ययन का उद्देश्य:

वर्तमान विश्व में जनसंख्या वृद्धि एवं भौगोलिक कारकों में परिवर्तन के कारण विश्व एक विकट मोड़ पर पहुंच गया है तथा इसके विभिन्न दुश्परिणामों से मानव मात्र, कृषिएवं जैविक सम्पदा को बचाना समय की मांग है इन कारणों से कृषिएवं जैव विविधता का अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है। इस अध्ययन के निम्नलिखित उद्देष्य है-

1.शेखावाटी क्षेत्र की भौगोलिक विविधताओं का अध्ययन करना।शेखावाटी की कृषि एवं जैव विविधताओं का अध्ययन करना।

2.कृषि एवं जैव विविधताओं को प्रभावित करने वाली भौगोलिक कारकों की पहचान करना। शेखावाटी क्षेत्र की पारिस्थितिकीय संतुलन का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना। कृषि एवं जैव विविधता पर भौगोलिक कारकों के एकीकृत प्रभाव का अध्ययन करना।

अध्ययन का औचित्य

यह शोध पेपर इसलिए भी औचित्यपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि शेखावटी में भौगोलिक कारकों की विषमता के कारण कृषि एवं संसाधनों पर अत्यधिक प्रतिकूल स्थितियां उत्पन्न हो गई है, जिसके कारण बढ़ती हुई जनसंख्या से कृषि संसाधनों पर दबाव बढ़ रहा है। इसके परिणामस्वरुप अकृष्य भूमि को भी तेजी से कृषित भूमि में परिवर्तित किया जा रहा है। कृषिमें तकनीकी विकास के माध्यम से गहनता एवं विविधता पर बल दिया जाने लगा है। मनुष्य ने कृषि विकास हेतु कृषि पारिस्थितिकी की पर्यावरणीय संरचना में विविध परिवर्तन किये है।

राजस्थान का संक्षिप्त परिचय -

राजस्थान का वर्तमान स्वरूप सात चरणों में हुए एकीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप 1 नवम्बर 1956 को हमारे सामने आया। 26 जनवरी 1950 को भारत सरकार द्वारा इस क्षेत्र को विधिवत् रूप से राजस्थान नाम व राज्य की मान्यता मिली व राज्य की राजधानी जयपुर को बनाया गया। राजस्थान भारत के उतर पश्चिमी भाग में अर्थात् वायव्य कोण में 2303’ से 30012’ उतरी अक्षांश तथा 69030’ पूर्वी देशान्तर से 78017’ के मध्य स्थित है। राजस्थान राज्य का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 3,42,239 वर्ग किलोमीटर (1,32,147 वर्ग मील) है। जो कि भारत के कुल क्षेत्रफल का 10.41 प्रतिशत है तथा वर्तमान में 33 जिले एवं 07 संभाग हैं। शेखावाटी क्षेत्र राजस्थान के उत्तर-पूर्व में स्थित है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत सीकर, झुन्झुनू एवं चूरू जिले शामिल है, जिसका अक्षांशीय विस्तार 270 30ष् उत्तर से 290 00ष् उत्तर तथा देशान्तरीय विस्तार 730 51ष् पूर्व से 760 06ष् पूर्व के मध्य है। यह सम्पूर्ण क्षेत्र लगभग 27528.43 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में फैला हुआ है। इसके उत्तर में हनुमानगढ़ जिला, पश्चिम में बीकानेर, दक्षिण पश्चिम में नागौर, दक्षिण पूर्व में जयपुर तथा पूर्व में लुहारू (हरियाणा) है।

अध्ययन का महत्व एवं आवश्यकताः-

शेखावाटी उत्तर-पूर्वी राजस्थान का एक अर्द्ध-शुष्क ऐतिहासिक क्षेत्र है। राजस्थान के चूरू, सीकर और झुंझुनू जिले शेखावाटी के नाम से जाने जाते हैं इस क्षेत्र पर आजादी से पहले शेखावत क्षत्रियों का शासन होने के कारण इस क्षेत्र का नाम शेखावाटी प्रचलन में आया। राजस्थान का मरुभूमि वाला पुर्वोतरी एवं पश्चिमोतरी विशाल भूभाग वैदिक सभ्यता के उदय का उषा काल माना जाता है। हजारों वर्ष पूर्व भू-गर्भ में विलुप्त वैदिक नदी सरस्वती यहीं पर प्रवाहमान थी, जिसके तटों पर तपस्यालीन आर्य ऋषियों ने वेदों के सूत्रों की सरंचना की थी। दुर्लभ और कभी-कभी वर्षा जैसे कारक, बारहमासी नदियों के अभाव में भूजल जमीनी जल के साथ, राज्य में अन्य जगहों के रूप में क्षेत्र में रहने वाले समुदायों के लिए वर्षा जल संचयन अनिवार्य है। लेकिन शेखावाटी क्षेत्र में एक अतिरिक्त जटिलता का सामना करना पड़ता है। इन क्षेत्रों में मोटे बालू कणों वाली मिट्टी, अत्यधिक तापमान एवं वाष्पोत्सर्जन के कारण जल्दी से सूख जाती है। चूंकि इस क्षेत्र में औसत वार्षिक वर्षा का स्तर अधिक नहीं है। इसलिए जोहड़ो के निर्माण के लिए क्षेत्र का चुनाव बड़ी सावधानी से किया जाता है। इन कारणों से स्थलाकृतिक सुविधाओं के व्यापक मानचित्रण की आवश्यकता है, जो कि मौसमी बारिश के रास्ते को ध्यान में रखते हुए जल संग्रह को अधिकतम करने के लिए प्रेरित किया गया। शेखावाटी जोहड़ों ने स्पष्ट रूप से जीवन का एक तरीका बताया था जो कि कमी और अस्तित्व के बीच नाजुक रूप से संतुलित था-जो उस क्षेत्र के बड़े पैमाने पर बनावट वाले कृषि संस्कृतियों का समर्थन करता था, जिसमें उनका एक अभिन्न हिस्सा था। यद्यपि इनमें से अधिकतर जोहड़ों के निर्माणकर्ताओं के बारे में बहुत कम जानकारी है, उन्हें सामुदायिक उद्देश्यों के लिए बनाया गया था और पशुधन की जरूरतों को पूरा करने के लिए (घरेलू आवश्यकताओं को आम तौर पर छत के ऊपर-वर्षा जल संचयन प्रणाली द्वारा प्रबंधित किया जाता है जिसे टांका कहा जाता है)। ऐतिहासिक एवं भौगोलिक दृष्टि से इस प्रदेश की सीमाएँ चूरू, सीकर और झुंन्झुनू जिलों तक ही फैली है। रावशेखा व उनके वंशजों द्वारा शासित प्रदेश शेखावाटी कहलाता है।

शेखावाटी की जलवायुः-

यह शुष्क-अर्द्धशुष्क मरूस्थलीय प्रदेश है यहाँ कुछ संकेत मिले है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि यह कभी टेथिस सागर का भाग था। यहाँ की स्थलाकृति उबड़-खाबड़ है। इसका दक्षिणी पूर्वी भाग रेतीली-दुमट मिट्टी व अरावली पहाड़ियों से घिरा है एवं पश्चिमी भाग में बालू के टीले परिलक्षित है। बालू

के क्षेत्रों में पवनानुवर्ती बालूका स्तूपों का केन्द्रीकरण अधिक हैं। यह क्षेत्र मध्य पश्चिम में 400 मीटर तथा पूर्व में 600 मीटर तक ऊंचा हैं। अरावली के समीप कहीं-कहीं इसकी ऊँचाई 600 मीटर से भी अधिक हैं। यहाँ का सर्वोच्च पर्वत शिखर रघुनाथगढ़, सीकर (1052 मी.) है। यहाँ औसत वर्षा 300 से 500 मिलीमीटर होती है। वर्षा के दिनों का औसत 27 से 30 दिन हैं। नवम्बर के मध्य से फरवरी अंत तक सर्दी रहती है, फिर जून तक ग्रीष्मकाल रहता है। शीत ऋतु में पारा 00 से. से भी नीचे चला जाता है। गर्मी में 440 से. से अधिक तक पारा पहँ ुच जाता है। सबसे ठण्डा व गर्म क्षेत्र चुरू है। गर्मी में औसत तापमान 26.80 से. से 40.50 से. तक तथा सर्दी में 100 से. से 300 से. तक रहता है।

यहाँ प्रमुख रूप से शुष्क अर्द्धशुष्क मरूस्थलीय वनस्पति पाई जाती है। खेजड़ी बबूल, जाल, झाड़ी, कंकेड़ा, कैर, फोग, कीकर, रोहिड़ा आदि कंटिली एवं आक, खींप, घतूरा, अडूसा, ऊँटकटाला, गोखरू, इन्द्रायण (तुम्बा), नीम, गिलोय, ग्वारपाठा आदि उपयोगी वनस्पति भी यहाँ होती है। इस प्रदेश में फतेहपुर (सीकर) व झुन्झुनू के बीड़ प्रसिद्ध हैं जो हजारों बीघा भूमि में फैले है। यहाँ कोई बारहमासी नदी नहीं बहती है। केवल कांतली नदी है, जो कि वर्षा ऋतु में ही बहती है। यह खण्डेला की पहाड़ियों से निकलकर चूरू जिले में प्रवेश के साथ ही विलुप्त हो जाती है। आंशिक क्षेत्रों में इंदिरा गाँधी नहर द्वारा सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है। चुरू में ताल छापर एवं सीकर में रैवासा व कोछोर नामक खारे पानी की झीलें है।

सन् 2011 की जनगणना के अनुसार सीकर की कुल जनसंख्या 26,77,333, झुन्झुनू की 21,37,045 तथा चूरू की 20,39,547 है। तीनों जिले मिलकर सम्पूर्ण राजस्थान की जनसंख्या का 9.99 प्रतिशत भाग पूर्ण करते हैं।

जैव विविधताः-

जैव विविधता का संबंध तरह-तरह के पशुओं और पेड़-पौधों की प्रजातियों से है। यह विविधता ही पृथ्वी ग्रह को अलग बनाती है, जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, इसके पीछे तर्क यह हैं, कि यह पारिस्थितिकीय प्रणाली के संतुलन को बनाये रखती है। विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी तथा वनस्पति एक-दूसरे की जरूरतें पूरी करते हैं, और साथ ही ये एक-दूसरे पर निर्भर भी हैं। उदाहरण के तौर पर मनुष्य को ही लीजिये। वह अपनी मूलभूत दैनिक आवश्यकताओं जैसे पेयजल, खाद्यान्न, आवास हेतु भी कृषि कार्यों, पशुओं, पेड़ों की प्रजातियों पर आश्रित है। हमारी जैव विविधता की समृद्धि ही पृथ्वी को रहने के लिए तथा जीवन-यापन के योग्य बनाती है। हमारे लिए यह बहुत ही जरूरी है, कि हम जैव-विविधता की सुरक्षा करें जिससे वातावरण की शुद्धता भी बनी रहें और यह मानव जाति के अस्तित्व को भी बनाए रखें। हालांकि बढ़ते हुए अनियन्त्रित मानवीय गतिविधियों के कारण जैव विविधता का संरक्षण एवं समवर्धन काफी मुश्किल होता जा रहा हैं। वातावरण में तीव्र गति से होते नकारात्मक परिवर्तनों के कारण बहुत से पेड़-पौधे व पशु-पक्षी विलुप्त हो रहे हैं ़, जिससे जैव विविधता को बनाए रखने के स्तर में भी काफी गिरावट आ रही है। इसलिए यह और भी जरूरी हो जाता हैं, कि मानव के अस्तित्व को बचायें रखने के लिए और अपने वातावरण की शुद्धता के लिए इन नकारात्मक बदलावों को नियन्त्रित किया जाये।

खनिज संसाधनः-

खनिज संसाधन की दृष्टि से शेखावाटी प्रदेश प्राचीन काल से ही अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये रखता है। यहाँ के झुन्झुनू जिले में खेतड़ी की पर्वत श्रृंखलाएँ ताँबे के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ दो हजार वर्षों से ताम्र उद्योग चला आ रहा है। इसके अलावा शेखावाटी में स्फटीक, निकल, कोबाल्ट, फिटकरी, चीनी मिट्टी, इमारती पत्थर, कच्चा चूना पत्थर, जिप्सम आदि पाये जाते हैं।

कृषिः-

मानव अपने पर्यावरण के साथ पारस्परिक क्रिया करता है और अपने पर्यावरण से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। प्रारंभिक मानव का जीवन सरल था वह शिकार करके जीवनयापन करता था जिससे उसके जीवन में अनेक अनिश्चितताएं बनी रहती थी। इस अनिश्चितता को दूर करने के लिए मानव ने बीजों को उगाकर कृषि करना सीखा तथा साथ ही पशु को भी पालना आरंभ किया। समय के साथ इसमें नयें नयें परिवर्तन करता रहा एवं विज्ञान तथा तकनीकी विकास की सहायता से आवश्यकता से अधिक अन्न पैदा किया। इससे वस्तु विनिमय तथा व्यापार या वाणिज्य आरंभ हुआ। लेकिन निरंतर बढ़ती जनसंख्या के कारण कृषि पर दबाव बढ़ा तथा साथ में अनेक समस्याएं बढ़ी। मानव एवं अन्य प्राणियों के लिए कृषि का बहुत महत्त्व हैं। इनकी उदरपूर्ति से लेकर शारीरिक, मानसिक, आर्थिक विकास के लिए कृषि अति आवश्यक है। यूं तो कृषि भारत में ई.पू. से होती आ रही है, और इसका व्यावसायिक स्वरुप भी साथ-साथ ही चलता आ रहा है, लेकिन कृषि में आधुनिकीकरण जैसी अवधारणा भारत में स्वतंत्रता के उपरान्त दिखाई देती है।

इससे पहले भारत विदेशी शक्तियों के अधीन रहा है उन्होंने कृषि विकास एवं आधुनिकीकरण के लिए अधिक प्रयास नहीं किये थे। शेखावाटी का भूभाग प्राचीन समय से ही महत्वपूर्ण रहा है। इस भूमि का इतिहास बड़ा विलक्षण और संस्कृति अति गौरवपूर्ण रही है। प्राकृतिक विषमता के कारण भूतकाल में बड़ी शक्तियां इस क्षेत्र से दूर रही जिनके फलस्वरूप यह क्षेत्र उनकी विनाश की क्रीड़ा भूमि नही बनकर बिना किसी व्यवधान के अपनी कला, सम्पदा और सांस्कृतिक धरोहर को अपने प्राचीन कलेवर मे समेट कर सुरक्षित रख सका। आज इस कला को निहारने के लिए बड़ी संख्या में लोग इसकी ओर आकर्षित होकर आ रहे है। वे मुग्ध होकर मुक्त कंठ से इस कला संसार की प्रशंसा करते है। यह भू-भाग अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा है। इसकी सांस्कृतिक ऐतिहासिक, कलात्मक एवं भौगोलिक

साहित्यिक दीर्घ अवधि तक सुसम्पन्न एवं संवर्द्धित होती रही है। इस संस्कृति का कोषागार प्रतिकूल परिस्थितियों में छिन्न भिन्न होता रहा पर इस कला भंडार और संस्कृति का जो कुछ भी शेष बचा है। हर दृष्टि से उतम और संग्रहणीय है तथा इस भू भाग के सांस्कृतिक गौरव को प्रस्थापित करने में समर्थ है।

शेखावाटी क्षेत्र में भौगोलिक वातावरण का कृषि पर प्रभावः-

1. औसत तापमान में वृद्धि।

2. वर्षा की मात्रा व तरीकों में परिवर्तन।

3. कार्बन डाइऑक्साइड में वृद्धि से वातावरण में नमी।

4. कृषि मंत्रालय ने कहा है कि उर्वरकों और कीटनाशकों के अंधाधुंध उपयोग से पर्यावरण में ग्रीनहाउस गैस की मात्रा बढ़ रही है 1970 से 2014 तक ग्रीनहाउस उत्सर्जन में 80 की वृद्धि हुई है।

शेखावाटी क्षेत्र में भौगोलिक वातावरण का जय विविधता पर प्रभावः-

1.प्राकृतिक वास नेचुरल हैबिटेट का नुकसान और गिरावट।

2.आक्रामक प्रजातियों का आगमन।

3.अति शोषण परिणाम स्वरूप कुछ प्रजातियों को बहुत कम संख्या में समाप्त किया जा रहा है और अन्य को प्रेरित किया जा रहा है।

4.प्रदूषण से प्रजनन संबंधी समस्याएं पैदा हो रही हैं जिससे प्रजातियों के अस्तित्व को खतरा है।

सन्दर्भ :

1.आचार्य, जे. (1999), कुछ शुष्क झंडे पौधों के पर्यावरणशास्त्र और फाइटोकैमिकल अध्ययन, पीएच.डी. शेध प्रबंध, एम. डी. एस. विश्वविद्यालय, अजमेर।

2.आचार्य जे एल शियांग (1995), आधिकारिक कृषि रसायनज्ञ एसोसिएशन के विश्लेषण की आधिकारिक विधि, वाशिंगटन, डी.सी., यू.एस.ए. 16 एडा, वॉल्यूम 20 और पेज नम्बर 300-360।

3.एरोरा, वर्षा (2010) ''जलवायु- औषधीय, पारिस्थितिक और वातावरण के पहलुओं पर अध्ययन जैसलमेर जिले के औषधीय पौधे पीएच.डी. थीसिस। . विश्वविद्यालय, बीकानेर।

4.बंसल, रेणु (2009), ''एथनो-मेडिसिन, पारिस्थितिक और फाइटोकेमिकल पहलुओं पर अध्ययन नागौर जिले के औषधीय पौधे पीएच.डी. थीसिस। बीकानेर विश्वविद्यालय, बीकानेर।

5.भोजक, एस. (1991), राजस्थान के शुष्क क्षेत्र के कुछ चारा पौधों के फाइटोकैमीमल निवेश विषय में और इन विट्रो पीएचडी में थीसिस अजमेर, विश्वविद्यालय अजमेर।

6.ब्लैक सीए, और अन्य, (1965), मिट्टी विश्लेषण भाग प् और प्प् के तरीके, कृषि विज्ञान के अमेरिकन समाजिक प्रकाशक, मैडिसन, विस्कॉन्सिन, यूएसए।

7.चेन, जे और मोंटानारी, ए. एम. (1998), अलगाव और नए की पहचान डेन्सी कीनू पत्तियों से पोलीमेटब्नॉक्सी फ्लैवोनोइड कृषि और खाद्य-रसायन विज्ञान का जर्नल 1235-1238।

8.कप्रा, आर. एन. भाड़वार, आर.एल. और घोष, एस। (1965) भारत के जहरीले पौधे भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली खंड द्वितीय, अंक आईजेएलटीएएमएसएस आईएसएसएन 2278-2540

9.कप्रा, आर. एन. चोपड़ा, आईसी. तथा कॉपरा, आर एन .य चोपड़ा, आईसी। और वर्मा, बी.एस. (1968) भारतीय शब्दावली का अनुपूरक . औषधीय पौधों, सीएसआईआर, नई दिल्ली

10.देसाई, बी.एस. और जसराज, वाई, टी., (2003), सामान्य रोगग्रस्तता के लिए उपलब्ध हर्बल संसाधन पीपीः 35-43 खान में, आईए. और खानम, जैव प्रौद्योगिकी की भूमिका में औषधीय और सुगंधित पौधों, वॉल्यूम आठवीं। उकाज प्रकाशन, हैदराबाद

11.डे, ए.सी. (1998) आयुर्वेदिक तैयारी में प्रयुक्त भारतीय औषधीय पौधे। बिशन सिंह महेंद्र पाल सिंह, देहरादून।

12.ग्रोवर, जे के. यादव, एस और वत्स, वी., (2002), भारत के औषधीय पौधे के साथ एंटीबायेटिक्स क्षमता जे एथनफोर्मकोल

13.हार्बोन, जे.बी. (1973) ''फाइटोसिमिक तरीके'' चौपलैन और हिल, लंदन

14.हर, जी., (2002), बीकानेर के कोडमदेसर तालाब क्षेत्र का अध्ययन और पारिस्थितिकी जिला, पीएच.डी.शोध प्रबन्ध, एम. डी. एस. विश्वविद्यालय, अजमेर, राजस्थान।

15. हर्ष एम. एल. (1982) भारतीय शुष्क क्षेत्र के औषधीय पौधों से प्राथमिक और माध्यमिक उत्पादों विषय में और इन विट्रो टिशू कल्चर पीएचडी में थीसिस, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

16.हर्ष एम. एल., और माहेश्वरी, ए. (2000), कुछ शुष्क क्षेत्र पौधों की पोषण संबंधी स्थिति, बीकानेर, राजस्थान जर्नल ऑफ एनवा और प्रदूषण-7 (1) पीपी-31-37।

शिक्षक-प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन

-प्रो.मनीषा वर्मा
प्रोफेसर(शिक्षा),
बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय(सीटीई),
गाँधी विद्या मन्दिर,सरदार शहर,(राज)

-मंजु यादव
उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान(मानित)विश्वविद्यालय,
गाँधी विद्या मन्दिर,सरदार शहर,(राज)

सारांश - वर्तमान में अध्यापक शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक प्रशिक्षकों की व्यायसायिक अनिश्चितताओं, से उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं ध्यान देने की अति आवश्यकता है। वर्तमान समय में शिक्षक प्रशिक्षक की जिम्मेदारियाँ और भी बढ़ गई है। अध्यापक अपनी जिम्मेदारियों का पूर्ण रूप से निर्वाह तब ही कर सकता है, जब अध्यापक अपने शिक्षण व्यवसाय में हो। जैसे-जैसे शिक्षा की प्रक्रिया को समझने में प्रगति हुई, वैसे-वैसे शिक्षा प्रक्रिया का विकास हुआ। और शिक्षक प्रशिक्षण के व्यवसाय में प्रतिस्पर्धा बढी है। वर्तमान समय में महाविद्यालयों में एक शिक्षक प्रशिक्षक को अपने व्यवसाय में बने रहने के लिए प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है। कम वैतन के साथ अधिक कार्य बोझ के कारण उनका मानसिक स्वास्थ्य भी प्रभावित होता है। प्रस्तुत शोध में शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता के अध्ययन के साथ साथ शिक्षक प्रशिक्षकों में व्यावसायिक अनिश्चितता का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन किया गया है। शिक्षक प्रशिक्षकों में व्यावसायिक अनिश्चितता को समस्या मानते हुए उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन उनके व्यवसायिक समस्याओं के एक पहलु पर प्रकाश डालना है जिससे उनके प्रशिक्षण कौशल को मजबूत बनाया जा सके।

मुख्य शब्द - व्यावसायिक अनिश्चितता:- व्यवसाय वह कार्य है जिसे व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक या शिक्षा में कार्यरत होकर करता है। और जिसके लिये प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से पारिश्रमिक प्राप्त करता है। व्यक्ति के अपने कार्यक्षेत्र में आने वाली अनिश्चितताओं जिसमें योग्यता के हिसाब से कार्य न मिलना, कार्य के हिसाब से पारिश्रमिक न मिलना, अत्यधिक कार्य होना अर्थात व्यक्ति के कार्यक्षेत्र की अनिश्चितताओं कों व्यावसायिक अनिश्चितता कहा गया है।

मानसिक स्वास्थ्य:- मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान वह विज्ञान है जिसके द्वारा हम मानसिक स्वास्थ्य को स्थिर रखते हैं तथा पागलपन और स्नायु सम्बन्धी रोगों को पनपने से रोकते हैं। साधारण स्वास्थ्य विज्ञान में केवल शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान दिया जाता है किन्तु मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान में मानसिक स्वास्थ्य के साथ शारीरिक स्वास्थ्य को भी सम्मिलित किया जाता है क्योंकि बिना शारीरिक स्वास्थ्य के मानसिक सम्भव नहीं हो सकता। कट्स एवं मोसले - ''मानसिक स्वास्थ्य वह योग्यता है जो हमें अपने जीवन की कठिन परिस्थितियों में समायोजन करने में सहायक होती है।''

अध्ययन का महत्त्व:- मानसिक स्वास्थ्य द्वारा व्यक्ति उद्देश्यपूर्ण कार्य करता है। विवेकपूर्ण चिन्तन करता है। और अपने वातावरण का प्रभावशाली ढंग से सामना करता है। अच्छे मानसिक स्वास्थ्य में व्यक्ति की वे मानसिक व ज्ञानात्मक योग्यतायें सम्मिलित हैं जो उसे जीवन की वास्तविक समस्याओं कों सुलझाने में सहायता देती हैं। और उसके आनन्दपूर्ण संतुष्ट जीवन यापन में सहायक होता है। अच्छे मानसिक स्वास्थ्य से हमारा तात्पर्य शिक्षक प्रशिक्षक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की संतुलित व पूर्ण क्रियाशीलता से है। प्रत्येक व्यक्ति में मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं जिसके कारण उनमें परस्पर संघर्ष तथा द्वन्द्व होता है। स्वस्थ मस्तिष्क व्यक्ति को सदैव उस संघर्ष से बचाता है। स्वस्थ मस्तिष्क मूल प्रवृत्तियों, संवेग, इच्छा, प्रेरणा आदि मानसिक प्रक्रियाओं की क्रियाशीलता में कभी संघर्ष नहीं होने देता है। संघर्ष होने पर भावना ग्रन्थियाँ प्रभावित होती हैं जो मानसिक अस्थिरता का रोग उत्पन्न करती हैं। मानसिक प्रक्रियाओं में संतुलन शिक्षक प्रशिक्षक के मानसिक स्वास्थ्य का प्रथम गुण है। मूल प्रवृत्ति तथा संवेगात्मक कार्यों या इच्छाओं का दमन करने से व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है। इसीलिए प्रशिक्षकों के अच्छे मानसिक स्वास्थ्य के लिए इनको पूर्ण व स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त होना आवश्यक है। अध्यापक शिक्षक को सदैव महान व्यक्तित्व वाले शिक्षकों से प्रेरित होकर स्वयं में भी उनके गुणों का समावेश करते रहने चाहिए क्योंकि ''स्वयं में गुणवत्ता ही अन्ततः शिक्षा में गुणवत्ता की प्रेरक होती है'' ऐसे शिक्षकों की सभी शैक्षिक संस्थाओं को आवश्यकता है। ''कक्षाकक्ष एवं उससे बाहर क्या चल रहा है गुणवत्ता इससे प्रभावित होती है।'' अध्यापक शिक्षा प्रत्येक शिक्षा व्यवस्था का अविछिन्न अंग होती है। यह समाज एवं राष्ट्र के चरित्र, उसकी संस्कृति एवं लोकाचार से घनिष्ठ रूप से जुडी होती है। प्रशिक्षकों की व्यावसायिक सुनिश्चितता उन्हें मानसिक रूप से स्थायित्व प्रदान कर उन्हें शिक्षण के लिए प्रतिबद्ध बनाती है।

वर्तमान समय में शिक्षा के विकास के नित नये आयाम स्थापित हो रहे हैं वही इस क्षेत्र में रोजगार की संभावना भी अधिक हो गई है जिसके कारण हर वर्ष शिक्षक प्रशिक्षकों की संख्या में वृद्धि हुई है। इस वृद्धि के कारण शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों में प्रशिक्षकों के लिए हर वर्ष नये आवेदन होते रहते हैं। चूंकि शिक्षण आज के दौर में एक बहुत बड़ा व्यवसाय बनता जा रहा है इसलिए महाविद्यालय प्रबंधकों को भी सस्ते एवं मेहनती प्रशिक्षकों को चुनने में कोई परेशानी नहीं होती है। ऐसे प्रतिस्पर्धा के दौर के कारण एक प्रशिक्षक के लिए व्यावसायिक अनिश्चितता की समस्या उत्पन्न हो गई है। ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है? इस प्रश्न के हल के लिए ''शिक्षक

प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन“ विषय पर शोध कार्य बहुत महत्वपूर्ण है।

अध्ययन का औचित्यः- यदि अध्यापक शिक्षा संस्थानों का निर्गत ;व्नज च्नजद्ध समाज की अर्थात राष्ट्र की आशाओं, आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर नहीं होगा तो उनकी सार्थकता पर तो प्रश्न चिन्ह लगेगा ही, साथ ही साथ उस समाज व राष्ट्र की सभी प्रकार के उत्पादन संस्थानों की जड़ें भी कमजोर हो जायेगी। किसी भी राष्ट्र के सर्वांगीण विकास में शिक्षक प्रशिक्षकों का विशेष महत्व होता है। इसी कड़ी में शिक्षा को पल्लवित करने वाले शिक्षक प्रशिक्षक की अहम् भूमिका होती है, क्योंकि अध्यापक शिक्षा संस्थानों को राष्ट्र की शैक्षिक आवश्यकताओं, परिस्थितियों एवं परिवर्तनों को देखकर राष्ट्र की आशाओं व आकांक्षाओं रूपी मांग पर अपने शैक्षिक उत्पाद अर्थात् अध्यापक तैयार करने का कार्य इन शिक्षक प्रशिक्षकों द्वारा शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को करना होता है। शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों के उत्पाद अर्थात् छात्राध्यापक संस्थान का केन्द्रीय समूह होता है तथा समस्त शिक्षा का भार इन भावी अध्यापकों को सौंपने में शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों के शिक्षकों की अहम् भूमिका होती है। अध्यापक शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं में अध्यापन सामग्री के साथ साथ पाठ्य-सहगामी, व्यक्तित्व विकास, शारीरिक एवं मानसिक विकास प्रशिक्षण आदि पर बल देकर सम्पूर्ण गुणों के विकास का प्रयास किया जाता है परन्तु क्या व्यावसायिक अनिश्चतताओं के चलते उनका मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित होता है? इसका वास्तविक अवलोकन करना शोधकत्र्री के जिज्ञासा के क्षेत्र में था। इन प्रश्नों के संदर्भ में शोधकत्र्री द्वारा प्रस्तुत समस्या का चयन किया जाना औचित्यपूर्ण है। क्योंकि प्रस्तुत शोध द्वारा प्राप्त परिणाम शिक्षक प्रशिक्षकों की विभिन्न समस्याओं के निवारण में मील का पत्थर सिद्ध होगा। शोधकत्र्री द्वारा चयनित समस्या शिक्षक प्रशिक्षकों की व्यावसायिक अनिश्चितता के प्रभाव के अध्ययन से सम्बन्धित शोधों की संख्या की अल्पता के कारण भी प्रस्तुत अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष गुणवता सुधार हेतु महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। प्रस्तुत अध्ययन उपरोक्त विश्वास के आधार पर ”शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन“ का वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में विश्लेषण करने का प्रयास किया जायेगा। शिक्षा के क्षेत्र में इस दृष्टि से यह एक अभिन्न प्रयास है, तथा एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है।

अध्ययन के उद्देश्य:-

1.शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता का अध्ययन करना।

2.शिक्षक प्रशिक्षकों में व्यावसायिक अनिश्चितता का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन करना।

परिकल्पनाएँ:

1.शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता सामान्य स्तर की है।

2.शिक्षक प्रशिक्षकों में व्यावसायिक अनिश्चितता का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर कोई सार्थक प्रभाव नहीं होता है।

अध्ययन का परिसीमन:- प्रस्तुत शोध में राजस्थान राज्य के अलवर व जयपुर जिले के शिक्षक प्रशिक्षकों को सम्मिलित किया गया है। प्रस्तुत शोध में न्यादर्श के रूप में केवल 300 शिक्षक प्रशिक्षकों को सम्मिलित किया गया है।

शोध विधि:- प्रस्तुत अनुसंधान में समस्या की प्रकृति व पृष्ठभूमि को देखते हुए प्रस्तुत समस्या के अध्ययन के लिए अनुसंधान का स्वरूप विश्लेषणात्मक प्रकार का होगा तथा घटनोतर अनुसंधान विधि का प्रयोग किया जायेगा। जिसमें शोधकत्र्री द्वारा सर्वप्रथम चयनित न्यादर्श शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता का स्तर ज्ञात किया गया तथा उनके स्तरानुसार उनके मानसिक स्वास्थ्य का अध्ययन किया गया है।

न्यादर्श:- प्रस्तुत अध्ययन में राजस्थान अलवर व जयपुर जिले के 300 शिक्षक प्रशिक्षकों का चयन न्यादर्श के रूप में किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में दत्त संकलन हेतु न्यादर्श चयन की यादृच्छिक प्रतिचयन विधि का प्रयोग किया गया है।

शोध में प्रयुक्त उपकरण:-

प्रस्तुत अनुसंधान में दत्त संकलन हेतु चरों से संबंधित निम्नलिखित स्वनिर्मित परीक्षण का प्रयोग किया गया है।

1.शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता स्तर मापनी स्वनिर्मित

2.मानसिक स्वास्थ्य संचयिका अरूण कुमार सिंह एवं अल्पना सैन गुप्ता

शोध कार्य में विश्लेषण हेतु प्रयुक्त सांख्यिकी:- प्रस्तुत अध्ययन में विश्लेषण हेतु सांख्यिकी- के रूप में मध्यमान ;डमंदद्ध, मानक विचलन ;ैण्क्ण्द्ध, प्रसरण विश्लेषण ;।छव्ट।द्ध व प्रतिशत ;च्मतबमदजंहमद्ध का प्रयोग किया गया है।

परिकल्पना 1 शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता सामान्य स्तर की है।

तालिका 1

शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता के अध्ययन हेतु मापनी के प्राप्तांक के आधार पर उच्च मध्यम एवं निम्न स्तर की गणना।

कुल शिक्षक प्रशिक्षक			प्राप्तांक स्तर	प्राप्तांक स्तर प्रतिशत		
उच्च	औसत	निम्न	उच्च	औसत	निम्न	
300	42	214	44	14.00	71.33	14.67

;डम्।छैक्द्ध;डम्।छ.ैक्द्ध;131ण्74ः18ण्27द्धत्र150 ;131ण्74.18ण्27द्ध त्र113

उक्त सारणी में शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता के अध्ययन हेतु मापनी के के प्राप्तांक के आधार पर उच्च मध्यम एवं निम्न प्रतिशत की गणना की गई है। गणनानुसार कुल 300 शिक्षक प्रशिक्षकों में सें 42 ने उच्च, 214 ने मध्यम तथा 44 ने निम्न स्तर के अंक प्राप्त किये हैं। गणना द्वारा प्राप्त अंकों के

आधार पर सर्वाधिक 214 शिक्षक प्रशिक्षकों में मध्यम स्तर की व्यावसायिक अनिश्चितता पायी गयी जो कि कुल का 71.33 प्रतिशत है, अतः यह निर्धारित परिकल्पना स्वीकृत की जाती है। विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता सामान्य स्तर की है।

तालिका 2

शिक्षक प्रशिक्षकों में व्यावसायिक अनिश्चितता के उच्च मध्यम व निम्न स्तर के आधार पर उनकी सृजनात्मकता की तुलना

	उच्च	मध्यम	निम्न	कुल
संख्या	42	214	44	300
योग	2810	14878	3108	20796
मध्यमान	66.90	69.52	70.64	69.32
सर्वयोग	189712	1044522	220474	1454708
मानक विचलन	6.46	6.90	4.67	6.63

तालिका 3

शिक्षक प्रशिक्षकों में व्यावसायिक अनिश्चितता के उच्च मध्यम व निम्न स्तर के आधार पर उनके मानसिक स्वास्थ्य का प्रसरण विश्लेषण

प्रसरण का स्रोत	वर्गो का योग	क	मध्यमान वर्ग	थ्	सार्थकता स्तर 0.05
समूहों में	330.096	2	1 65.048	3.82987	सार्थक अन्तर नहीं है।
मिश्रित समुह	12799.184	297	43.0949		
योग	13129.28	299			

सारणी संख्या 2 का अवलोकन करने पर यह पाया गया है कि शिक्षक प्रशिक्षकों में व्यावसायिक अनिश्चितता के आधार पर मानसिक स्वास्थ्य के प्राप्तांकों के मध्यमान तथा मानक विचलन क्रमशः उच्च व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों के मध्यमान 66.90 तथा मानक विचलन 6.46 पाये गये। मध्यम व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों के मध्यमान 69.52 तथा मानक विचलन 6.90 पाये गये तथा निम्न व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों के मध्यमान 70.64 तथा मानक विचलन 4.67 पाये गये हैं। मानसिक स्वास्थ्य का प्रसरण विश्लेषण देखने पर पाया कि थ् अनुपात का मान 3.82987 पाया गया है। जो 0.05 सार्थकता स्तर पर च् मान सारणी के मान 0.022793 से उच्च है। अर्थात थ् अनुपात का मान 0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक है। अतः शिक्षक प्रशिक्षकों में व्यावसायिक अनिश्चितता के आधार पर मानसिक स्वास्थ्य पर सार्थक प्रभाव पड़ता है।

यह सार्थक अन्तर उच्च व मध्यम व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों का मध्यमान अन्तर 2.62 पाया गया है तथा उच्च व निम्न व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों का मध्यमान अन्तर 3.73 पाया गया है। इसी प्रकार मध्यम व निम्न व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों का मध्यमान अन्तर 1.11 पाया गया है।

जो .05 स्तर पर सार्थक है। अर्थात निम्न व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों का मानसिक स्वास्थ्य मध्यम व उच्च व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों के मानसिक स्वास्थ्य से उच्च है तथा मध्यम व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों का मानसिक स्वास्थ्य उच्च व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों के मानसिक स्वास्थ्य से उच्च है तथा निम्न व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों के मानसिक स्वास्थ्य से निम्न है।

निष्कर्ष -

1.शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता सामान्य स्तर की है।

2.शिक्षक प्रशिक्षकों में व्यावसायिक अनिश्चितता का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर सार्थक प्रभाव पाया गया है। निम्न व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों का मानसिक स्वास्थ्य मध्यम व उच्च व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों के मानसिक स्वास्थ्य से उच्च है तथा मध्यम व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों का मानसिक स्वास्थ्य उच्च व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों के मानसिक स्वास्थ्य से उच्च है तथा निम्न व्यावसायिक अनिश्चितता वाले शिक्षक प्रशिक्षकों के मानसिक स्वास्थ्य से निम्न है।

शैक्षिक उपादेयता - व्यावसायिक अनिश्चितता शिक्षक प्रशिक्षकों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए एक गम्भीर समस्या है वर्तमान परिणाम ये दर्शाते हैं कि शिक्षक प्रशिक्षकों में उभरती व्यावसायिक अनिश्चितता सामान्य स्तर की है परन्तु इसका उनके मानसिक स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव होता है। व्यावसायिक अनिश्चितता को शिक्षक प्रशिक्षकों के लिए एक समस्या के रूप में मानकर उसके निवारण के लिए कार्ययोजना तैयार करने की आवश्यकता है जिससे उनके व्यवसाय में स्थायित्व हो और वे शिक्षक प्रशिक्षण का कार्य पूर्ण क्षमता से कर सके।

सन्दर्भ

1.पाठक पी.डी, (2020) शिक्षा मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा पृष्ठ संख्या 509

2.जायसवाल, सीताराम, "शिक्षा मनोविज्ञान", उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ एकादमी, लखनऊ, पृष्ठ - 287

3.भार्गव, महेश, "आधुनिक मनोविज्ञान परीक्षण एवं मापन", मानक बुक हाउस, पृष्ठ संख्या 334

चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड.प्रशिक्षणप्राप्त नवनियुक्त शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता का अध्ययन

-प्रो.मनीषा वर्मा
प्रोफेसर(शिक्षा),
बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय(सीटीई),
गाँधी विद्या मन्दिर,सरदार शहर,(राज)

-मुनेश यादव
उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान(मानित)विश्वविद्यालय,
गाँधी विद्या मन्दिर,सरदार शहर,(राज)

सारांश - शिक्षा के सुसंचालन में भौतिक संसाधनों सुविज्ञ संचालकों एवं प्रशिक्षित शिक्षकों की अहम् भूमिका होती है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण कड़ी एक अच्छा प्रशिक्षित एवं अनुभवी शिक्षक। शिक्षा प्रणाली में प्रभावी ढंग से सुधार एवं उन्नयन के लिए शिक्षक का केवल अपने विषय का ज्ञाता होना ही आवश्यक नहीं है बल्कि उसे एक प्रतिबद्ध मानसिकता वाला होना भी आवश्यक है। शिक्षक की योग्यता में कार्यकुशलता के साथ-साथ उसकी प्रतिबद्धता को सम्मिलित किया जाना अति आवश्यक है क्यों ि क शिक्षक जितना अधिक प्रतिबद्धता से युक्त होगा, उतनी ही अधिक योग्यता का उसमें उन्नयन होगा तथा उसकी कार्यकुशलता में वृद्धि होगी।

शिक्षकों को अपने कार्य के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए। यह कहा जाता है कि शिक्षकों पर कार्य का इतना दबाव होता है कि वे कक्षा में पढ़ाने के लिए नहीं जा पाते और यदि वे जाते भी हैं तो समय से नहीं पहुंच पाते। अधिकतर शिक्षक आमदनी के अन्य स्रोतों से सम्बन्धित कार्यों में व्यस्त रहते है। ऐसे में शिक्षकों को अपना प्रथम कर्तव्य नहीं भूलना चाहिए। उनका प्रथम कर्तव्य विद्यार्थियों को पढ़ाना है। शिक्षकों को अपने कार्य के प्रति प्रतिबद्ध होकर जीवन का निर्वाह करना चाहिए इससे उन्हें मानसिक शान्ति एवं संतोष की प्राप्ति होगी और उनका योगदान शिक्षा के क्षेत्र में होता रहेगा। इस प्रकार प्रतिबद्धता किसी भी कार्य को सुचारू रूप से करने की प्रेरणा देते हैं। शिक्षा के गुणात्मक उन्नयन में शिक्षकों की प्रतिबद्धता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है तथा एक प्रतिबद्ध शिक्षक ही छात्रों के लिए आदर्श एवं प्रेरणादायी स्रोत सिद्ध हो सकता है। प्रस्तुत शोध में चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता का अध्ययन किया गया है। चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण नवनियुक्त शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता को किस प्रकार प्रभावित करता है उस पर प्रकाश डाला गया है जिससे उनके प्रशिक्षण में सुधार कर उनकी शिक्षण प्रतिबद्धता का विकास किया जा सके।

मुख्य शब्द - नवनियुक्त शिक्षक, शिक्षण प्रतिबद्धता,

अध्ययन का महत्त्वः-हमारी शिक्षा व्यवस्था में सुधार के लिए यह महत्वपूर्ण है कि सभी अध्यापकों को ऐसे अवसर, सुविधाएँ एवं संसाधन उपलब्ध कराए। जिससे वे अपना सम्पूर्ण विकास कर अपने शिक्षण कौशल एवं शिक्षण प्रतिबद्धता को मजबूत बना सके एवं अपने व्यक्तित्व एवं चरित्र को ऊँचा उठाकर शैक्षिक विकास में अपना कार्यात्मक एवं रचनात्मक सहयोग प्रदान कर सके। डॉ. सतीश कुमार के अनुसार ''शिक्षा का स्तर मुख्यतया अध्यापक की कार्यकुशलता योग्यता व प्रतिभा पर निर्भर करता है। वर्तमान में वे अपने व्यवसाय के प्रति श्रद्धावान हैं या नहीं ये उनकी शिक्षण प्रतिबद्धता के स्तर द्वारा निर्धारित होता हैं। शिक्षक लिए पाठ्यक्रम की सीमा किसी 'लक्ष्मण रेखा' से कम नही है, क्योंकि वे इधर-उधर जाना नहीं चाहते और यदि विद्यार्थी जिज्ञासावश कोई प्रश्न पूछ ले जो पाठ्यक्रम में ना हो तो, उसका भी उत्तर नही दिया जाता है।'' वर्तमान समय में (एन.सी.टी.ई.) द्वारा बी.एड. प्रशिक्षण कार्यक्रम में चार वर्षीय इंटीग्रेटेड कार्यक्रम को जोड़ कर शिक्षक प्रशिक्षण में बड़ा बदलाव किया है जिसमें विद्यार्थी 12वीं कक्षा के बाद बी.ए.-बी.एड. या बी.एससी.-बी.एड. कर सकते हैं जिससे विद्यार्थियों का समय बचेगा। आजकल कोर्स करना बड़ी बात नहीं है लेकिन कम समय में बड़ी डिग्री हासिल करना बड़ी बात है। सामान्यतः पहले विद्यार्थी तीन साल तक स्नातक करता है। इसके बाद दो साल का बी.एड. प्रषिक्षण करता है। ऐसे में उसके 5 साल का लम्बा समय लगता हैं। इस 4 वर्षीय इंटीग्रेटेड कार्यक्रम के द्वारा विद्यार्थी का एक साल बच जायेगा। लेकिन यहां कई तरह के सवाल एक साथ पैदा होते हैं कि क्या चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त अध्यापकों में शिक्षक के आवश्यक गुण एक समान है\ क्या चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त अध्यापकों में समान रूप से शिक्षण प्रतिबद्धता है\ इन सभी प्रश्नों के उत्तर जानने हेतु चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त अध्यापकों की शिक्षण प्रतिबद्धता का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

यदि शोधकर्त्री अपने इस शोधकार्य के आधार पर नवनियुक्त अध्यापकों के शिक्षण कौशल में आई कमी के कारणों को खोजने में सफल हो सकी तो वास्तव में उसका शोधकार्य शिक्षा जगत के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त अध्यापकों की शिक्षण प्रतिबद्धता के स्तर का पता लगाना शिक्षण के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण योगदान होगा। इसके आधार पर हम यह मंथन कर सकेंगे कि हम शिक्षकों में शिक्षण प्रतिबद्धता जैसे शिक्षण के आवश्यक गुण का विकास कैसे करें और कौन-कौन से कौशल उनमें विकसित करें और किन - किन बातों की ओर ध्यान देकर उनका सम्पूर्ण विकास किया जा सकता है तथा राष्ट्र प्रगति एवं शिक्षा की गुणवत्ता बढाने में उनका सहयोग लिया जा सकता है। अतः यह अध्ययन '' चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त अध्यापकों की शिक्षण प्रतिबद्धता अध्ययन'' भावी शिक्षकों के संभावित मुद्दो और चुनौतियों को देखते हुए आवश्यक है।

अध्ययन का औचित्यः- वर्तमान में एक तरफ तो शिक्षा में गुणवत्ता लाने का प्रयास किया जा रहा है और शिक्षकों को अपनी भूमिका को समझने को कहा जा रहा है दूसरी ओर निजीकरण तथा येन-केन प्रकारेण धनार्जन करने की प्रवृति गम्भीर रूप से बढ़ रही है। शिक्षकों को कम वेतन देकर उनका शोषण निजी शिक्षण संस्थाएं जो हजारों की संख्या में है कर रही है। शिक्षकों का शोषण हो रहा है

और उनका मनोबल, शिक्षण कौशल, प्रभावोत्पादकता गिर रही है एवं एक मानसिक तनाव की स्थिति बन रही है। जो उन्हें अपने को प्रमाणित करने में बाधा पहुँचा रही है। निजीकरण के इस युग में शिक्षकों के सामने अनेक तनावपूर्ण चुनौतियाँ सामने आ रही हैं। ये तनावपूर्ण चुनौतियाँ उन शिक्षकों में अधिक जटिलता पूर्ण रूप से आ गई है जो नये-नये ही इस व्यवसाय से जुड़े हैं।

आज वर्तमान में शिक्षक प्रशिक्षण का जो स्वरूप प्रचलन में है और जिस प्रकार से प्रशिक्षणार्थी शिक्षक के पद को सिर्फ एक जीविकोपार्जन का साधन मानकर अन्य क्षेत्रों में असफल होकर मजबूरन इस पद को हासिल करने की दौड़ में दौड़ रहा है। उससे तो ऐसा लगता है कि आने वाले समय में शिक्षक जिसे एक राष्ट्र का निर्माणकर्ता कहा जाता है और शिक्षा जिसे एक पवित्र एवं सेवाभावी कार्य माना जाता था, कोरी कल्पना बनकर रह जाएगा।

शोधकर्त्री ने पूर्ववर्ती शोधकर्ताओं द्वारा किये गये अध्ययनों का पुनरावलोकन किया तथा यह पाया कि शिक्षकों से सम्बंधित अनेक चरों पर अलग - अलग शोधकार्य किए हैं लेकिन ''चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त अध्यापकों की शिक्षण प्रतिबद्धता का अध्ययन " विषय पर कोई कार्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। इसलिए शोधकर्त्री ने इसका अध्ययन' करने का निश्चय किया।

अध्ययन के उद्देश्य:-

1.चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता का तुलनात्मक अध्ययन करना।

2.चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त महिला शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता का तुलनात्मक अध्ययन करना।

3.चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त पुरूष शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता का तुलनात्मक अध्ययन करना।

परिकल्पनाएँ:

1.चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

2.चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त महिला शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

3.चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त पुरूश शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

अध्ययन का परिसीमन:- प्रस्तुत शोध में राजस्थान राज्य के अलवर जिले के 300 नवनियुक्त अध्यापक जिसमें 150 द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त अध्यापक जिसमें (75 महिला तथा 75 पुरूष) एवं 150 चार वर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त अध्यापक जिसमें (75 महिला तथा 75 पुरूष) तक ही परिसीमित किया गया है।

शोध विधि:- प्रस्तुत अध्ययन में शोधकर्त्री द्वारा सर्वेक्षण विधि का उपयोग किया गया है।

न्यादर्श:- प्रस्तुत अध्ययन में राजस्थान राज्य के अलवर जिले के 300 नवनियुक्त अध्यापक जिसमें 150 द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त अध्यापक जिसमें (75 महिला तथा 75 पुरूष) एवं 150 चार वर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त अध्यापक जिसमें (75 महिला तथा 75 पुरूष) का चयन न्यादर्श के रूप में किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में दत्त संकलन हेतु न्यादर्श चयन की यादृच्छिक प्रतिचयन विधि का प्रयोग किया गया है।

शोध में प्रयुक्त उपकरण:-

प्रस्तुत अनुसंधान में दत्त संकलन हेतु चरों से संबंधित निम्नलिखित स्वनिर्मित परीक्षण का प्रयोग किया गया है।

1. शिक्षण प्रतिबद्धता मापनी स्वनिर्मित

शोध कार्य में विश्लेषण हेतु प्रयुक्त सांख्यिकी:- प्रस्तुत अध्ययन में विश्लेषण हेतु सांख्यिकी- के रूप में मध्यमान ;डमंदद्ध, मानक विचलन ;ैण्क्ण्द्ध, व क्रान्तिक अनुपात मान ;ब्ण्त्ण्टंसनमद्ध का प्रयोग किया गया है।

परिकल्पना 1 चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

तालिका 1

चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता की गणना हेतु मापनी के परीक्षण के विभिन्न आयामों के मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता की तुलना -

आयाम	न्यादर्श चार वर्षीय (A) एवं द्विवर्षीय (B) बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षक	संख्या (N)	मध्यमान (Mean)	मानक विचलन (S.D.)	क्रान्तिक अनुपात मान (C.R.Value)	सार्थकता स्तर	
						.05	.01
अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	150	28.37	4.90	1.83	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	29.43	5.12			
समाज के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	150	27.00	5.32	1.08	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	27.63	4.75			
अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	150	28.75	4.78	0.28	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	28.59	4.78			
उत्कृश्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता	(A)	150	28.68	5.40	1.50	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	29.53	4.40			
मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	150	28.81	4.77	0.36	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	28.61	4.78			
सम्पूर्ण	(A)	150	141.61	11.84	1.69	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	143.79	10.55			

उक्त सारणी में चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता मापनी के विभिन्न आयामों ('अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता', 'समाज के प्रति प्रतिबद्धता', 'अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता', 'उत्कृष्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता', 'मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता') व सम्पूर्ण प्रतिबद्धता के प्राप्तांकों के मध्यमान क्रमशः 28.37, 29.43य 27.00ए 27.63य 28.75ए 28.59य 28.68, 29.53य 28.81ए 28.61 व 141.61, 143.79 तथा मानक विचलन क्रमशः 4.90, 5.12य 5.32, 4.75य 4.78, 4.78य 5.40, 4.40य 4.77, 4.78 व 11.84, 10.55 दिये गये हैं। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षकों) के मापनी के विभिन्न आयामों व सम्पूर्ण शिक्षण प्रतिबद्धता के क्रान्तिक अनुपात ;ब्त् अंसनमद्ध के मान क्रमशः 1.83, 1.08, 0.28, 1.50, 0.36 व 1.69 प्राप्त हुए हैं। जिनका विश्लेषण निम्न प्रकार है।

तालिका में स्वतंत्रता के अंश 298;कद्धि टी का मान 0.05 सार्थकता स्तर पर 1.97 एवं 0.01 सार्थकता स्तर पर 2.59 दिया गया है। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षकों) के मापनी के विभिन्न आयामों ('अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता', 'समाज के प्रति प्रतिबद्धता', 'अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता', 'उत्कृष्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता', 'मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता') व सम्पूर्ण शिक्षण प्रतिबद्धता के क्रान्तिक अनुपात ;ब्त् अंसनमद्ध के मान क्रमशः 1.83, 1.08, 0.28, 1.50, 0.36 व 1.69 प्राप्त हुए हैं। जो कि 0.05 व 0.01 दोनों सार्थकता स्तर पर तालिका मान से कम है, अतः निर्मित शून्य परिकल्पना को सार्थकता के दोनों स्तरों (0.05 व 0.01) पर स्वीकृत कर कहा जा सकता है कि दोनों समूहों के मापनी के विभिन्न आयामों ('अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता', 'समाज के प्रति प्रतिबद्धता', 'अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता', 'उत्कृष्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता', 'मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता') व सम्पूर्ण शिक्षण प्रतिबद्धता में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

परिकल्पना 2 चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त महिला शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

तालिका 2

चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त महिला शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता की गणना हेतु मापनी के परीक्षण के विभिन्न आयामों के मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता की तुलना -

आयाम	न्यादर्श चार वर्षीय (A) एवं द्विवर्षीय (B) बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षक	संख्या (N)	मध्यमान (Mean)	मानक विचलन (S.D.)	क्रान्तिक अनुपात मान (C.R.Value)	सार्थकता स्तर	
						.05	.01
अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	150	28.37	4.90	1.83	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	29.43	5.12			
समाज के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	150	27.00	5.32	1.08	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	27.63	4.75			
अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	150	28.75	4.78	0.28	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	28.59	4.78			
उत्कृष्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता	(A)	150	28.68	5.40	1.50	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	29.53	4.40			
मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	150	28.81	4.77	0.36	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	28.61	4.78			
सम्पूर्ण	(A)	150	141.61	11.84	1.69	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	150	143.79	10.55			

उक्त सारणी में चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त महिला शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता मापनी के विभिन्न आयामों ('अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता', 'समाज के प्रति प्रतिबद्धता', 'अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता', 'उत्कृष्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता', 'मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता') व सम्पूर्ण प्रतिबद्धता के प्राप्तांकों के मध्यमान क्रमशः 29.49, 29.99, 26.45, 27.56, 29.37, 29.03, 28.93, 29.36, 29.56, 28.52 व 143.81, 144.45 तथा मानक विचलन क्रमशः 4.94, 4.97, 5.30, 4.68, 5.05, 4.40, 5.77, 4.40, 4.25, 4.71 व 13.07, 10.68 दिये गये हैं। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त महिला शिक्षकों) के मापनी के विभिन्न आयामों व सम्पूर्ण शिक्षण प्रतिबद्धता के क्रान्तिक अनुपात ;ब्त् अंसनमद्ध के मान क्रमशः 0.61, 1.36, 0.45, 0.51, 1.42 व 0.33 प्राप्त हुए हैं। जिनका विश्लेषण निम्न प्रकार है।

तालिका में स्वतंत्रता के अंश 148;कद्धि टी का मान 0.05 सार्थकता स्तर पर 1.98 एवं 0.01 सार्थकता स्तर पर 2.61 दिया गया है। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त महिला शिक्षकों) के मापनी के विभिन्न आयामों ('अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता', 'समाज के प्रति प्रतिबद्धता', 'अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता', 'उत्कृष्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता', 'मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता') व सम्पूर्ण

शिक्षण प्रतिबद्धता के क्रान्तिक अनुपात ;ब्त् अंसनमद्ध के मान क्रमशः 0.61, 1.36, 0.45, 0.51, 1.42 व 0.33 प्राप्त हुए हैं। जो कि 0.05 व 0.01 दोनों सार्थकता स्तर पर तालिका मान से कम है, अतः निर्मित शून्य परिकल्पना को सार्थकता के दोनों स्तरों (0.05 व 0.01) पर स्वीकृत कर कहा जा सकता है कि दोनों समूहों के मापनी के विभिन्न आयामों ('अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता', 'समाज के प्रति प्रतिबद्धता', 'अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता', 'उत्कृष्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता', 'मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता') व सम्पूर्ण शिक्षण प्रतिबद्धता में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

परिकल्पना 3 चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त पुरूष शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

तालिका 3

चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त पुरूष शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता की गणना हेतु मापनी के परीक्षण के विभिन्न आयामों के मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता की तुलना -

आयाम	न्यादर्श चार वर्षीय (A) एवं द्विवर्षीय (B) बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त पुरूष शिक्षक	संख्या (N)	मध्यमान (Mean)	मानक विचलन (S.D.)	क्रान्तिक अनुपात मान (C.R.Value)	सार्थकता स्तर	
						.05	.01
अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	75	27.25	4.63	2.02	सार्थक अन्तर हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	75	28.88	5.23			
समाज के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	75	27.55	5.32	0.18	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	75	27.69	4.86			
अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	75	28.12	4.44	0.05	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	75	28.16	5.13			
उत्कृश्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता	(A)	75	28.43	5.03	1.65	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	75	29.71	4.43			
मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता	(A)	75	28.05	5.15	0.78	सार्थक अन्तर नहीं हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	75	28.69	4.87			
सम्पूर्ण	(A)	75	139.40	10.08	2.23	सार्थक अन्तर हैं।	सार्थक अन्तर नहीं हैं।
	(B)	75	143.13	10.44			

उक्त सारणी में चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त पुरूष शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता मापनी के विभिन्न आयामों ('अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता', 'समाज के प्रति प्रतिबद्धता', 'अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता', 'उत्कृष्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता', 'मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता') व सम्पूर्ण प्रतिबद्धता के प्राप्तांकों के मध्यमान क्रमशः 27.25, 28.88, 27.55, 27.69, 28.12, 28.16, 28.43, 29.71, 28.05, 28.69 व 139.40, 143.13 तथा मानक विचलन क्रमशः 4.63, 5.23, 5.32, 4.86, 4.44, 5.13, 5.03, 4.43, 5.15, 4.87 व 10.08, 10.44 दिये गये हैं। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त पुरूष शिक्षकों) के मापनी के विभिन्न आयामों व सम्पूर्ण शिक्षण प्रतिबद्धता के क्रान्तिक अनुपात (CR value) के मान क्रमशः 2.02, 0.18, 0.05, 1.65, 0.78 व 2.23 प्राप्त हुए हैं। जिनका विश्लेषण निम्न प्रकार है।

तालिका में स्वतंत्रता के अंश 148(df) टी का मान 0.05 सार्थकता स्तर पर 1.98 एवं 0.01 सार्थकता स्तर पर 2.61 दिया गया है। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त पुरूष शिक्षकों) के मापनी के विभिन्न आयामों ('समाज के प्रति प्रतिबद्धता', 'अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता', 'उत्कृष्तता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता' व 'मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता के क्रान्तिक अनुपात (CR value)के मान क्रमशः 0.18, 0.05, 1.65 व 0.78 प्राप्त हुए हैं। जो कि 0.05 व 0.01 दोनों सार्थकता स्तर पर तालिका मान से कम है, अतः निर्मित शून्य परिकल्पना को सार्थकता के दोनों स्तरों (0.05 व 0.01) पर स्वीकृत की गई है जबकि 'अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता' आयाम व सम्पूर्ण प्रतिबद्धता के क्रान्तिक अनुपात (CR value)ध के मान क्रमशः 2.02 व 2.23 प्राप्त हुए हैं। जो कि 0.05 सार्थकता स्तर के मान से उच्च व 0.01 सार्थकता स्तर के मान से निम्न हैं अतः निर्मित शून्य परिकल्पना को 0.05 सार्थकता स्तर पर अस्वीकृत कर कहा जा सकता है कि दोनों समूहों के (समाज के प्रति प्रतिबद्धता', 'अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता', 'उत्कृष्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता' व 'मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता') आयाम में कोई सार्थक अन्तर नहीं है जबकि 'अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता' आयाम व सम्पूर्ण शिक्षण प्रतिबद्धता में आंशिक अन्तर है।

निष्कर्ष -:

1.चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

2.चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त महिला शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

3.चार वर्षीय एवं द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त पुरूष शिक्षकों की समाज के प्रति प्रतिबद्धता', 'अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता', 'उत्कृष्टता अर्जित करने हेतु प्रतिबद्धता' व 'मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता') आयाम में कोई सार्थक अन्तर नहीं है जबकि 'अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता' व सम्पूर्ण शिक्षण प्रतिबद्धता में आंशिक अन्तर है। द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त पुरूष शिक्षकों में 'अधिगमकर्ता के प्रति प्रतिबद्धता' व सम्पूर्ण शिक्षण प्रतिबद्धता चार वर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त नवनियुक्त पुरूष शिक्षकों की अपेक्षा अधिक पायी गयी है।

शैक्षिक उपादेयता -शोध से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रशिक्षण की समयावधि शिक्षकों की शिक्षण प्रतिबद्धता को ज्यादा प्रभावित नहीं करती। कम समय में भी उपयुक्त प्रशिक्षण द्वारा शिक्षकों में शिक्षण की विभिन्न योग्यताओं का विकास किया जा सकता है। शिक्षक प्रशिक्षण का कार्य पूर्ण क्षमता से द्विवर्षीय बी.एड. प्रशिक्षण में किया जा सकता है। जिससे प्रशिक्षणार्थियों के समय और धन की बचत होगी।

सुझाव-

नवनियुक्त शिक्षकों को समय समय पर कार्यशाला आयोजित कर शिक्षण प्रतिबद्धता का विकास किया जाना चाहिए।

शिक्षण प्रतिबद्धता को आवश्यक मानकर नवनियुक्त शिक्षकों का मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

सन्दर्भ

1.कोरपिन, आर. जी. इन हेयसिंग टीचिंग इन ए केरियर टुडेज एजूकेशन, पृष्ठ 55, 58

2.चौबे, सरयू प्रसाद (2010) "शिक्षा के समाज-शास्त्रीय आधार", रवि प्रकाशन, मेरठ पृष्ठ-108

आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षणिक समस्याओं का निदान एवं उपचार एक अध्ययन

-प्रो.मनीषा वर्मा
प्रोफेसर(शिक्षा),
बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय(सीटीई),
गाँधी विद्या मन्दिर,सरदार शहर,(राज)

-मुकेश बाला
उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान(मानित)विश्वविद्यालय,
गाँधी विद्या मन्दिर,सरदार शहर,(राज)

सारांश - अधिगम अथवा सीखना एक व्यापक प्रक्रिया है, जिसमें सामान्यतः सभी विद्यार्थियों को किसी न किसी समस्या का सामना करना पड़ता है। जब हम शिक्षण एवं सीखने को संयुक्त रूप में लेते हैं तो शिक्षार्थी, शिक्षक, पाठ्यवस्तु, शिक्षण विधि तथा शिक्षण एवं सीखने का वातावरण, सभी कुछ उसमें समाहित होता है। अधिगम को प्रभावशाली बनाने के लिए इन सबका शिक्षण अधिगम प्रक्रिया के अनुकूल होना तथा अपनी-अपनी जगह उचित प्रकार से कार्य करना आवश्यक होता है। विद्यार्थी चाहे सामान्य विद्यालय में अध्ययनरत् हो या आवासीय विद्यालय में इस प्रकार की शैक्षिक समस्याएं किसी भी परिस्थिति में उत्पन्न हो सकती हैं। अधिगम प्रक्रिया पर शिक्षार्थी की शैक्षिक समस्या का प्रभाव पड़ता है। शैक्षिक समस्या के कारण बालक बहुत से कार्यों ओर बातों को नहीं सीख पाता है, जबकि शैक्षिक समस्यों के निराकरण के साथ ही उसके सीखने की गति बढ़ जाती है तथा अधिगम का स्तर भी उठता जाता है।

मुख्य शब्द -आवासीय विद्यालय, शैक्षिक समस्या, निदान, उपचार

अध्ययन का महत्त्व:-

आवासीय विद्यालय विद्यार्थियों के लिए आवश्यक समस्त भौतिक सुविधाओं से युक्त होते हैं तथा दूरस्थ व दुर्गम क्षेत्रों में शिक्षा के आवश्यक विकल्प भी हैं, लेकिन प्रति वर्ष आवसीय विद्यालयों में हर साल विद्यार्थियों की संख्या में कमी तथा आवासीय विद्यालयों के परिणाम ये दर्शाते है कि आवासीय विद्यालयों में भी विद्यार्थियों के सामने अनेक प्रकार की शैक्षिक समस्याएं है। आखिर आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्या किस प्रकार की है\ इन विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों की शैक्षिक समस्याएं क्या क्या हैं\ तथा इनका निदान एवं उपचार किस प्रकार से किया जा सकता है\ इसके लिए किस प्रकार की ठोस कार्ययोजना का निर्माण किया जाय\ आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों की अवबोध क्षमता अपेक्षाकृत अधिक होती है एवं माध्यमिक स्तर, उच्च स्तर हेतु एक आवश्यक सोपान है अतः इस स्तर पर सुधार की अधिक सम्भावनाओं को दृष्टिगत करते हुए एवं इस विषय पर शोध की आवश्यकता का अनुभव करते हुए निदानात्मक एवं उपचारात्मक तथ्यों के अन्वेषण को शोध का माध्यम मानते हुए शोधकार्य को अपेक्षित समझा है।

अतः प्रस्तुत अध्ययन इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए किया गया सूक्ष्म प्रयास है। जिसके अन्तर्गत "आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याओं की पहचान कर उनका निदानात्मक एवं उपचारात्मक अध्ययन करने का प्रयास शोधकर्त्री ने किया है।

अध्ययन का औचित्य - आवासीय विद्यालयों में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को भी अनेक प्रकार की शैक्षिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जिससे वे इस प्रकार के सभी सुविधाओं से युक्त विद्यालयों में भी शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ जाते हैं। ऐसे विद्यार्थियों की विभिन्न प्रकार की शैक्षिक समस्याओं की पहचान कर उनका निदान व उपचार का अध्ययन औचित्यपूर्ण है।शोधकर्त्री ने अपने अध्यापन कार्य में यह अनुभव किया कि यदि विद्यालय स्तर के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्या होती हैं, तो उनका प्रभाव उनकी उपलब्धि पर भी पड़ता है। जबकि इस स्तर के विद्यार्थियों की समस्याओं का निराकरण माध्यमिक स्तर तक ही हो जाना चाहिए, ताकि उनका विकास बाधित न हो।

विद्यार्थियों की शैक्षिक समस्याएं किस प्रकार की है\ उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है \ क्या आवासीय विद्यालयों में अध्ययनरत् सभी विद्यार्थी समान रूप से शैक्षिक कठिनाईओं का सामना कर रहे हैं \ इन सभी प्रश्नों के उत्तर जानने हेतु अनुसन्धात्री द्वारा अग्रांकित विषय का चयन शोध अध्ययन हेतु किया गया है। साथ ही इस संदर्भ में यह देखा जाता है कि क्या यह अध्ययन शिक्षा को नई दिशा देने वाला है\ उपर्युक्त मानक रूपी दृष्टिकोण को मद्देनज़र रखते हुए प्रस्तुत अध्ययन सार्थक एवं औचित्यपूर्ण है।

उद्देश्य -

1.आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक समस्याओं की पहचान करना।

2.आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याओं का निदान करना।

3.आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याओं पर उपचारात्मक कार्यों के प्रभाव का अध्ययन करना।

परिकल्पनाएँ:

1.आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याएं सामान्य स्तर की पायी जाती हैं।

2.आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याओं पर उपचारात्मक कार्यों का कोई सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

अध्ययन का परिसीमन:-प्रस्तुत अध्ययन को अलवर जिले में स्थित राजकीय आवासीय माध्यमिक विद्यालय में अध्ययनरत् उच्च प्राथमिक स्तर के 100 विद्यार्थियों (50 छात्र $ 50 छात्रा) सीमित किया गया है।

न्यादर्श:- प्रस्तुत प्रयोगात्मक शोध हेतु अलवर जिले में स्थित

आवासीय विद्यालयों में अध्ययनरत् उच्च प्राथमिक स्तर के 100 विद्यार्थियों (50 छात्र $ 50 छात्रा) को लिया गया है।

शोध विधि:- प्रस्तुत अनुसंधान में प्रयोगात्मक विधि का प्रयोग किया गया है। जिसमें विद्यार्थियों को दो समूहों में विभक्त किया गया। एक प्रयोगात्मक समूह और दूसरा नियन्त्रित समूह रखा गया। पूर्व परीक्षण द्वारा शैक्षिक समस्याओं की पहचान की गई तथा बाद में नियन्त्रित समूह के विद्यार्थियों की शैक्षिक समस्याओं को दूर करने के लिए उपचारात्मक शिक्षण एवं नवाचार किया गया उसके बाद पश्च परीक्षा परीक्षण किया गया।

शोध में प्रयुक्त उपकरण:-निदानात्मक परीक्षण - शैक्षिक समस्या सम्बन्धी परीक्षण - स्वनिर्मित

प्रयुक्त सांख्यिकी - मध्यमान, प्रामाणिक विचलन, टी मान, प्रतिशत

परिकल्पना 1 आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याएं सामान्य स्तर की पायी जाती हैं।

तालिका 1.1

आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याओं के अध्ययन हेतु मापनी के पुर्व परीक्षण के प्राप्तांक के आधार पर उच्च मध्यम एवं निम्न स्तर की गणना।

विद्यार्थी	प्राप्तांक स्तर			प्राप्तांक स्तर प्रतिशत		
	उच्च	औसत	निम्न	उच्च	औसत	निम्न
कुल विद्यार्थी (100)	31	53	16	31.00	53.00	16.00

(MEAN+SD) (MEAN-SD) (8.23+2.08)=10 (8.23 -2.08) =6

उक्त सारणी में आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याओं के अध्ययन हेतु मापनी के पुर्व परीक्षण के प्राप्तांक के आधार पर प्रतिशत की गणना की गई है। गणना द्वारा प्राप्त अंकों के आधार पर सम्पूर्ण शैक्षिक समस्याओं में सर्वाधिक 53 विद्यार्थियों की औसत स्तर की पायी गयी जो कि कुल का 53.00 प्रतिशत है, विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याओं का स्तर सामान्य पाया गया है।

परिकल्पना 2 नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूह के आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक समस्याओं में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

तालिका 1.2

नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूह के आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक समस्याओं की गणना हेतु मापनी के पूर्व परीक्षण के विभिन्न आयामों के मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता की तुलना -

आयाम	न्यादर्श विद्यार्थी	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	टी मान (T value)	सार्थकता स्तर	
						.05	.01
सम्पूर्ण	नियंत्रित समूह	50	8.24	2.20	0.05	सार्थक अन्तर नहीं है।	सार्थक अन्तर नहीं है।
	प्रायोगिक समूह	50	8.22	2.00			

$(df=N_1+N_2-2=50+50-2=98)$

उक्त सारणी में नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूह के आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के शैक्षिक समस्या सम्बन्धी परीक्षण मापनी के पूर्व परीक्षण के प्राप्तांकों के मध्यमान क्रमशः 8.24 व 8.22 तथा मानक विचलन क्रमशः 2.20 व 2.00 दिये गये हैं।

तालिका में स्वतंत्रता के अंश 98;कद्धि टी का मान 0.05 सार्थकता स्तर पर 1.98 एवं 0.01 सार्थकता स्तर पर 2.63 दिया गया है। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूह के आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों) के टी का मान 0.05 प्राप्त हुआ हैं। जो कि 0.05 व 0.01 दोनों सार्थकता स्तर पर तालिका मान से कम है, अतः निर्मित शून्य परिकल्पना को सार्थकता के दोनों स्तरों (0.05 व 0.01) पर स्वीकृत कर कहा जा सकता है कि दोनों समूहों (नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूह के आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों) की शैक्षिक समस्याओं में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

तालिका 1.3

नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूह के आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक समस्याओं की गणना हेतु मापनी के पश्च परीक्षण के मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता की तुलना -

आयाम	न्याद?ि?? विद्यार्थी	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	टी मान	सार्थकता स्तर	
						.05	.01
सम्पूर्ण	नियंत्रित समूह	50	5.18	1.61	8.15	सार्थक अन्तर है।	सार्थक अन्तर है
	प्रायोगिक समूह	50	8.12	1.98			

$(df=N_1+N_2-2=50+50-2=98)$

उक्त सारणी में नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूह के आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक समस्या सम्बन्धी परीक्षण मापनी के पश्च परीक्षण के प्राप्तांकों के मध्यमान क्रमशः 5.18 व 8.12 तथा मानक विचलन क्रमशः 1.61 व 1.98 दिये गये हैं।

तालिका में स्वतंत्रता के अंश 98;कद्धि टी का मान 0.05 सार्थकता स्तर पर 1.98 एवं 0.01 सार्थकता स्तर पर 2.63 दिया गया है। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूह के आवासीय विद्यालयों के

विद्यार्थियों) के टी का मान 8.15 प्राप्त हुआ हैं। जो कि 0.05 व 0.01 दोनों सार्थकता स्तर पर तालिका मान से अधिक है, अतः निर्मित शून्य परिकल्पना को सार्थकता के दोनों स्तरों (0.05 व 0.01) पर अस्वीकृत कर कहा जा सकता है कि दोनों समूहों (नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूह के आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों) के मापनी के पश्च परीक्षण के आधार पर शैक्षिक समस्याओं में सार्थक अन्तर है।अर्थात् आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याओं पर उपचारात्मक कार्यों का सार्थक प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष:-

1.आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याओं का स्तर सामान्य पाया गया है।

2.आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याओं पर उपचारात्मक कार्यों का सार्थक प्रभाव पड़ता है।

शैक्षिक उपादेयता:- प्रस्तुत शोध में आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों में शैक्षिक समस्याओं की पहचान कर उनके निदान व उपचार के प्रभाव का अध्ययन किया गया है जिसमें आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों अनेक शैक्षिक समस्याओं को पहचान कर उनके निदान व उपचार द्वारा दूर किया गया जिसके परिणाम सार्थक पाये गये हैं। अतः आवासीय विद्यालयों के विद्यार्थियों की शैक्षिक समस्याओं की पहचान कर उनको दूर करने से सकारात्मक परिणाम आते हैं।

सुझाव:- इस अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षो के आधार पर निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते है।

अभिभावकों हेतु सुझाव:-

1.अभिभावकों को चाहिए कि बालकों बालिकाओं को शिक्षा के प्रति आवश्यकतानुसार प्रेरित करें जिससे बालक के मन में शिक्षा के प्रति लगाव उत्पन्न हो।

2.बालकों बालिकाओं की असफलता पर अभिभावकों को निराशा नहीं होना चाहिए बल्कि सफलता के लिए प्रेरित करना चाहिए।

विद्यालय प्रबंधकों हेतु सुझाव:-

1.विद्यार्थियों की शैक्षिक समस्याओं की पहचान कर उन्हें दूर करें तथा शिक्षण कार्य को सुचारू और आकर्षक रूप प्रदान करें, जिससे छात्रों को विद्यालय में रूकने की रूचि बनी रहे।

2.विद्यालय तथा छात्रावास में साफ-सफाई तथा आवश्यक संसाधनों का प्रबंधन बनाये रखने का प्रयास करें।

सन्दर्भ

1.कपिल, एच0 के0 (2010); ''अनुसंधान विधियाँ व्यवहारपरक विज्ञानों में'',
एच. पी. भार्गव बुक हाउस, आगरा, पृष्ठ-441

2.पाठक, पी.डी.(2007), ''भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ'', अग्रवाल पब्लिकेशन्स, निर्भय नगर, गैलाना रोड़, आगरा-7 पृष्ठ सं. 305, 308, 309

3.जैन, के0सी0(1994), विद्यालयों का वातावरण एवं शैक्षिक प्रबन्धन''
जयकिशन प्रकाशन राजस्थान, पृष्ठ सं. 26

4.शर्मा श्रीमती आर.के. एवं दुबे श्रीकृष्ण (2007), शिक्षा के मनोवैज्ञानिकीय आधार, राधा प्रकाशन मन्दिर, आगरा

5.मंगल अंशु एवं अन्य (2007), शैक्षिक अनुसधान की विधियाँ, समंक विश्लेषण एवं शैक्षिक साँख्यिकी, राधा प्रकाशन मन्दिर, आगरा

6.त्रिपाठी, जयगोपाल (2009); ''मनोविज्ञान एवं शिक्षा में शोध पद्धतियाँ'', एच. पी. भार्गव बुक हाउस, आगरा

समकालीन कहानियों में अभिव्यक्त किन्नर जीवन

किन्नर विमर्श

-डॉ.शबाना हबीब
सहायक आचार्य,
राजकीय महिला महाविद्यालय,
त्रिवेंद्रम,केरल मो.9387743403

शोध सार

नर और नारी के अलावा समाज में ऐसे लोग भी रहते हैं जो तृतीय लिंगी नाम से जाने जाते हैं |ये लोग हाशियेकृत एवं परित्यक्त हैं । जिनके आशीष लोग चाहते हैं , लेकिन उसे अपनाने में हिचकिचाते हैं। अपनी अधूरी देह के कारण वे लोग तिरस्कृत, अपमानित ,अभिशप्त ज़िन्दगी जीने केलिए मजबूर हैं । साहित्य में समय समय पर विभिन्न विषयों पर विचार विमर्श होता रहता हैं। ऐसे एक विषय है किन्नरों का जीवन । वर्तमान कहानी साहित्य में बहुत सारी कहानियां इस विषय पर काफी चर्चित हैं। इन कहानियों के माध्यम से किन्नरों के जीवन के परत-दर-परत प्रस्तुत होते हैं।

बीज शब्द : किन्नर , तृतीय लिंगी , लिंग काटने की प्रथा, नेग , टोली, साहित्य ..

मूल-आलेख :

समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों में सबसे उम्दा है किन्नरों की जीवन गाथा। पुराने ज़माने से लेकर आज-तक किन्नरों के जीवन में बहुत सारे उथल –पुथल आ चुके हैं। साहित्य इन सबको अपने में समाहित करने में सक्षम हैं। वर्तमान कथा साहित्य इसका मोहताज है। किन्नरों के बदलते जीवन परिदृश्य, जैसे सामाजिक जीवन, शैक्षिक जीवन एवं वैयक्तिक जीवन का जीता जागता चित्रण कथा साहित्य के द्वारा उभरकर सामने आता है।

आज कल समाज और साहित्य में तृतीय लिंगों की समस्या एक सामाजिक समस्या के रूप में उभरकर सामने आ रही है। प्राचीन काल से लेकर आज तक किन्नरों के ऊपर अत्याचार होते रहते हैं। लेकिन आज वे लोग इन सामाजिक अन्यायों के खिलाफ आवाज़ उठाने में नहीं हिचकते। इसी बात को उजागर करने वाली कहानी है किरण सिंह की 'संझा'। इस कहानी के माध्यम से किन्नरों की समस्याओं का रू-ब-रू अभिव्यक्ति होती है। किसी के घर में किन्नर पैदा हुए तो घरवालों को सामाजिक तिरस्कार का शिकार होना पड़ता है। इसलिए न चाहने पर भी मज़बूर होकर ऐसे बच्चों को भगा देने की कोशिश करते हैं। इस कहानी के प्रमुख पात्र वैद्य जी को सात साल बाद एक बच्चा पैदा हो जाता है। बच्चा किन्नर निकला। वैद्य और उनकी पत्नी समाज की आँखें चुराकर उस बच्चे को पाल-पोसकर बड़ा किया। भविष्य में अपने बच्चे की अवस्था सोच-सोचकर वैद्यराइन चल बसती हैं। अंत में जब समाज के लोगों को इसका पता चल गया तब उसे नंगा करके खडा कर देता है। उस समय सांझा ने ऐसा कहा कि – "न मैं तुम्हारे जैसी मर्द हूँ, न मैं तुम्हारी जैसी औरत हूँ। मैं वो हूँ जिसमें मुझ में पुरुष का पौरुष है और औरत का औरतपन। तुम मुझे मारना तो दूर, अब मुझे छू भी नहीं सकते, क्योंकि मैं एक ज़रूरत बन चुकी हूँ।"[1]

'कुकुज नैस्ट' कमल कुमार की अद्यतन कहानी है। इसमें हाशिएकृत किन्नर समाज का जिक्र किया है, जिसे अपमान के सिवाय कुछ भी हासिल नहीं होता। आख्यान शैली में लिखी इस कहानी की नायिका के माध्यम से किन्नर जीवन का एक अलग नज़ारा सामने प्रस्तुत होता है। किन्नर बच्चे का जन्म देने के बाद माँ-बाप उस बच्चे को समाज की नज़र से छिपाकर रखते हैं और उसे अच्छी शिक्षा देते हैं। इसी कारण वह आज एक मल्टीनाशनल कंपनी में काम करती है। इस कहानी के माध्यम से यह बताया जाता है कि अगर किसी के घर में बच्चे का जन्म हुआ है, तो वहाँ किन्नरों को बुलाया जाता है। ऐसा विश्वास है कि उनके आशीष से सब ठीक हो जाएगा। इससे यही ज़ाहिर हो जाता है कि ये लोग दूसरों के जन्म से खुशी मनाते हैं , खुद के जन्म पर अकेले आँसू बहाने विवश हैं। किन्नरों को सरकार द्वारा जो कुछ भी मिलना था वह न मिलने पर वे लोग आक्रोश करते हैं कि "सरकार हमें पहचान पत्र देती है क्या? वोट देने नहीं देती है क्या? पर हम इस देश में रहते हैं न ! इसी देश के नागरिक हुए न !"[2]इतिहास का जिक्र करके यह ज़ाहिर करना चाहता है कि पुराने ज़माने में बड़े-बड़े हवेलियों में, रईसों के घरों में , मुसलमान बादशाहों के परिवारों में सबसे विश्वसनीय नौकर के रूप में किन्नर मौजूद थे। इसके अलावा इस कहानी में लिंग काटने की प्रथा का चित्रण भी है – "बिना किसी डाक्टरी सुविधा के, तेज चाकू से एक ही वार से काट दिया जाता है। उसके चार लोग हाथ-पैर को पकडे रहते हैं। दर्द से कई बच्चों की मौत भी हो जाती है। लिंग काटकर उन्हें तो दिनों तक सीधा लिटा दिया जाता, उस पर कई किलो टिल का तेल लगातार डाल जाता है।"[3]

पलायन के दंश का चित्र प्रस्तुत करनेवाली कहानी है 'कबीरन' । डॉ सूरज बडत्था की कहानी उन अभिशप्त लोगों की व्यथा-कथा से भरपूर है जो समाज से तिरस्कृत एवं हाशिएकृत है। प्रसूति के बाद समाज के भय से किन्नर बच्चे को मार डालने के लिए घरवाले तैयार हो जाते हैं। मन न होने पर पिता ने उस बच्चे को अनाथाश्रम में धाकिला कर लिया। किन्नरों के दलवाले आकर उस बच्चे को अपनी टोली में शामिल कर लिया। फिर एक किन्नर समुदाय के लोगों ने उसे दूसरे समुदाय को बेच दिया। किन्नरों में भी जाति व्यवस्था है। वह तो दलित थी। इसलिए बेच दी गई। ऐसी जाति व्यवस्था पर लेखक ने इशारा किया है। अनाथाश्रम में रहते वक्त भी किन्नरों को बलात्कार का शिकार होना पड़ता था। इस पर वह समाज से पूछती है कि – "पर मैं किसे बताती कि मेरे साथ.....कौन विश्वास करता कि हिजड़े के साथ बलात्कार हुआ। कहीं किसी क़ानून में लिखा है कि हिजड़े के साथ बलात्कार की क्या सज़ा है। तुम्हारे समाज न तो हमें स्त्री मानता है, और न ही पुरुष।"[4]

डॉ. विमलेश शर्मा की कहानी 'मन मरीचिका' में यह बताना चाहती है

कि चिकित्सा के माध्यम से किन्नरों को कैसे अपने दिल चाहे रूप अपना सकते हैं। सुलोचना और मानव अच्छे दोस्त थे। सुलोचना उनसे शादी करना चाहती है। लेकिन मानव इसलिए इनकार कर लेता है कि वह ट्रांसजेंडर है। डॉक्टर से पता चलता है कि वह एक कोठी ट्रांसजेंडर है। इसका मतलब है कि कोठी तो मेल होते हैं जो जैविक रूप से तो पुरुष होते हैं पर परिवेश या मनोवैज्ञानिक कारणों से अपने पुरुषत्व को ख़ारिज करते हैं। ऐसे में विपरीत लिंग जैसा आचरण करते हैं। उनके लिए एक मात्र उपाय सेक्स चेंज करना।"[5] ऐसे में सेक्स एक्सचेंज, प्लास्टिक सर्जेरी से वह पूर्ण रूप से नारी बन गई। इस कहानी के माध्यम से यह बताना चाहता है कि ऐसे ट्रांसजेंडरों को चिकित्सा के ज़रिए साधारण ज़िन्दगी में ला सकते हैं।

राही मासूम रजा की कहानी 'खलीक अहमद बुआ' के माध्यम से यह बताना चाहते हैं कि किन्नरों केलिए सुहाग का उतना महत्व है जितना साधारण औरत केलिए हैं। इस कहानी का पात्र खलीक अहमद बुआ अपने अन्दर से नारी है, और वह रुस्तम खाँ की छाया में जीना चाहती है। इसके बावजूद भी रुस्तम खाँ ने उसे धोखा दिया और दूसरे से उसका संबंध जोड़ना चाहते हैं। इससे बुआ विचलित हो जाता है। धोखेबाज रुस्तम खाँ की हत्या करती है। सुहाग के बारे में लेखक ने इस कहानी में व्यक्त किया कि – "और उस रात पुखराज एक कोठे पर यह साबित हो गया कि सुहाग, सुहाग होता है, चाहे वह किसी हिजड़े का क्यों न हो।"[6]

सलाम बिन रज़ाक की कहानी है 'बीच के लोग' । इसके माध्यम से लेखक यह बताना चाहते हैं कि अक्सर हम इन किन्नरों को स्त्री नहीं मानते, पुरुष भी नहीं मानते। इसलिए उन्हें तृतीय लिंगी कहते हैं। इस कहानी से यह भी साबित होता है कि साधारण लोगों की नज़र और सोच कैसा है। समाज की नज़र में वे नारी भी नहीं पुरुष भी नहीं तो एक खतरनाक चीज़ है ?। डॉ. पद्मा शर्मा की विचारोत्तेजक कहानी है 'इज्ज़त के रहबर'। इस कहानी के ज़रिए लेखिका ने किन्नरों के जीवन की विभिन्न परतों को खोलकर दिखाने की कोशिश की है। अक्सर लोग सोचते हैं कि ये लोग सेक्स वर्कर बनकर पैसा कमाते हैं। किन्नरों के बारे में लेखिका बताती है कि – "इनमें दो तरह के हैं – एक वे जो पैदा होते वक्त मर्द थे और अब स्त्री के रूप में रहना उनकी मज़बूरी या शौक हो गया था, दूसरी वे जो पैदाइश के समय से स्त्री है लेकिन जिनमें सेक्स का अभाव रहा हमेशा। जो स्त्री जैसी होती थी उनके चेहरे और पेट पर बाल नहीं होता, वे शायद औरत के रूप में जन्म लेकर भी अधूरी रही होती थी।"[7] इस कहानी में यह भी बताया गया कि इन लोगों को नाम भी अजीब है, जैसे सलमा बी, बडी बी, सुनयना आदि। कुछ किन्नरों का नाम फिल्मी हीरोईनों के थे जैसे माधुरी, रानी, डिम्पल आदि। किन्नरों के बारे में समाज कुछ न कुछ बकते रहते हैं। लेकिन समाज के लोग अपनी कामास्कती केलिए पागल को भी नहीं छोडती।

महेंद्र भीष्म की कहानी 'त्रासदी' एकदम हृदयहारी है। इस कहानी के माध्यम से लेखक यह बताना चाहता है कि किन्नर जो हैं दूसरों से कितनी हमदर्दी दिखाते हैं। पुरुष प्रधान समाज में असुरक्षित नारी एक किन्नर की आड़ में अपने को सुरक्षित महसूस करती है। इस अवस्था का चित्रण सुन्दरी और रति के माध्यम से व्यक्त करते हैं। सुन्दरी एक किन्नर था, किन्नर होते हुए भी वह एक नारी को बदमाशों के आक्रमण से बचाया। सुन्दरी के साथ रहते रति को एक प्रकार की सुरक्षा महसूस होने लगती थी। दोनों के रिश्ते को लेकर समाज के लोग कानाफूसी करने लगे थे। लेकिन रति उसका परवाह नहीं करती। उसकी अवस्था कुछ इस प्रकार थी कि- "पुरुष प्रधान समाज में छिपे सफ़ेद पोश भेडियों से उसकी रक्षा करने में एक सुन्दरी जैसा हिजड़ा काफी था।"[8]

डॉ. लवलेश दत्त की कहानी 'नेग' के माध्यम से यह समझाना चाहता है कि घर में लड़की का पैदा होना अपशकुन नहीं, लक्ष्मी का आगमन है। सुधीर और सुमन दंपति को तीसरी बार भी लड़की पैदा हुई। लड़की पैदा करने का पूरा ज़िम्मेदार सुधीर सुमन को ठहराता था। बच्चा पैदा होने की खबर सुनकर नेग मांगने केलिए आ गए किन्नर को सास रमादेवी कुछ भी देने तैयार नहीं हुए। सुधीर ने भी उसे मारने की कोशिश की। यह सब देखकर सुमन अपनी बच्ची के साथ बाहर आकर कहने लगी कि इस बच्चे को ले चलो। इसके पैदा होने की कोई खुशी इस घर में नहीं है। उनकी दुःख भरी वाणी सुनकर किन्नरों ने सास से कहा कि – "अरे चाची, ऐसे मातमी चेहरा मत बनाओ, खुशियाँ मनाओ कि तुम्हारे घर को जोडनेवाली बेटी आयी है। अगर बेटा आता तो बांटना पड़ता है।"[9] इतना कहकर पाँच-पाँच सौ के नोट निकालकर बच्ची के हाथ में रखकर वे लोग चले गए। इस कहानी से यही ज्ञात होता है कि लड़की पैदा करना शर्मा की बात नहीं, गर्व की बात है। समाज में फैले इस अनीति को दूर भगाना ही लेखक का उद्देश्य हैं। इसलिए किन्नरों के माध्यम से समाज को सही रास्ता दिखाना चाहता है।

इस प्रकार देखें तो किन्नरों को आधार बनाकर लिखी गेई ये कहानियाँ सिर्फ उनकी ज़िन्दगी का जीता–जागता चित्रण पेश नहीं करती वरन् सामाजिक अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठाती भी है, और लोगों को अवगत कराती है कि जो हो रहा है वह सही नहीं हैं। इन कहानियों में किन्नरों को किसी भी हद तक बुरा स्थापित करने की साजिश नहीं है। उनकी अच्छाइयों को व्यक्त करने का प्रयास भी किया गया है। सचमुच ये कहानियाँ किन्नरों की ज़िन्दगी को परत –दर-परत खुलकर प्रस्तुत करने में सफल निकली हैं।

सन्दर्भ

1. थर्ड जेंडर हिन्दी कहानियाँ – सं. डॉ. एम. फ़िरोज़ खान – अनुसंधान पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स - 2018, पृ.सं.79
2. हम भी इंसान है – डॉ. एम. फ़िरोज़ कहाँ – 2018- कुकुज नैस्ट – पृ.सं.3
3. वही, पृ.सं. 6
4. वही, पृ.सं.17
5. वही, मन मरीचिका, पृ.सं.49
6. थर्ड जेंडर : हिन्दी कहानियाँ – सं. एम. फ़िरोज़ खान – अनुसंधान पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स - कानपुर – 2018 - खालिक अहमद बुआ – पृ.सं. 32
7. वही, पृ.सं. 90
8. वही, पृ.सं.109
9. वही, पृ.सं. 117

इक्कीसवीं सदी के प्रमुख उपन्यासों में किन्नरों की स्थिति

-डॉ.पी.सरस्वती
सहायक प्रोफेसर,हिंदी विभाग,
मद्रास विश्वविद्यालय,
चेन्नई-60005

प्रस्तावना:

साहित्य में उपेक्षित-शोषित समाज का विचार किया जाता रहा है। सम्प्रति, वर्तमान युग विमर्शों का युग है, अनेक विमर्शों की चर्चा हो रही है। साहित्य में नारी विमर्श, आदिवासी विमर्श, दलित विमर्श, वृद्ध विमर्श आदि पर परिसंवाद, गोष्ठियाँ हो रही हैं। परंतु लिंग निरपेक्ष समाज, बहिष्कृत किन्नर समुदाय उपेक्षित रहा है, जिसे नई सदी में विचार केंद्र में लाया गया। साहित्य, समाज सापेक्ष एवं सामाजिक प्रतिबद्धता के उद्देश्य से परिपूर्ण होता है। समाज में पुरुष एवं स्त्री के अलावा एक तीसरा व्यक्ति भी होता है, जो न तो नर होता है न मादा बल्कि अलिंगी होता है। इसे परिष्कृत शब्दावली में 'किन्नर' कहा जाता है। हिंदी में किन्नर शब्द के लिए शिखण्डी, क्लीव, खोजा, हिजडा, छक्का, मौसी आदि शब्द प्रचलित हैं। वैसे तो ये सारे शब्द किसी पुरुष के लिए अपमान जनक प्रतीत होते हैं किंतु इनमें से हिजडा शब्द यदि किसी मर्द को बोल दिया जाए तो ऐसा लगता है कि मानो किसी ने पिघलता हुआ शीशा उसके कानों में डाल दिया हो किंतु हिजडे को हिजडा गाली नहीं लगती, बल्कि उसके अंतर्मन में एक कचोट सी होती है। जन्म के उपरांत ही इनके जीवन में कष्टों का सिलसिला शुरू हो जाता है और शुरुआत होती है एक ऐसे शोषण की जो जीवनपर्यंत इनका साथ नहीं छोड़ता। 21वीं सदी के प्रमुख हिंदी उपन्यासों में चित्रित किन्नरों की स्थिति पर यहाँ विचार किया गया हैं।

बीज शब्द : किन्नर, स्थिति, पायल, शोषण, संघर्षरत, अधिकार, पीडादायक, भीख, तृतीयलिंगी समुदाय, अभिशाप, संवेदना, प्रतिष्ठा क्षमता, प्रताड़ना।

किन्नरों के रूप में जन्म लेने से उत्पन्न संघर्ष:

कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार स्त्री या पुरुष के रूप में धरती पर पैदा नहीं होता। स्त्री और पुरुष के रूप में जन्म लेने के बाद इस संसार रूपी सागर को पार करने के लिये जीवन संग्राम में संघर्षरत है। समाज में समान अधिकार प्राप्त स्त्री और पुरुष का जीवन ही सामाजिक और आर्थिक रूप से संघर्षमय है तो वहीं समाज में इनके बीच में जी रहे किन्नरों की समस्याओं का कोई अंत नहीं है। किन्नर के रूप में जन्म लेने से परिवार और समाज से उपेक्षित किन्नरों की स्थिति को वर्णन करना मुश्किल है। 'महेन्द्र भीष्म' के उपन्यास 'मैं पायल' की मुख्य पात्र पायल सिंह की कहानी भी शोषण और कष्टों का एक जीवंत दस्तावेज है जिसे पढने के बाद रूह कांप जाती है। उपन्यास को पढने के बाद यह जानकारी प्राप्त हुई कि पायल ने ऐसी मार का सामना किया है जो किसी आम आदमी के बस की बात तो नहीं हो सकती। पायल ने अपने दर्द को इस प्रकार बयान किया है कि वैसे तो माँ और बहने इस बात का पूरा ध्यान रखती थीं कि मुझे पिता जी से जितनी दूर रखा जाये उतना अच्छा होगा क्योंकि लडकियों के कपडों में देखते ही पिता जी मुझे पीटना चालू कर देते थे। किंतु एक दिन अचानक पिता जी घर आ गये और उन्होंने मुझे लडकियों के कपडों में देख लिया। उनका गुस्सा सातवें आसमान पर था। फिर क्या था, जिस प्रकार एक लोहार लोहे को पीटता है वैसे ही पिता जी मुझे पीट रहे थे। इस बात का उल्लेख उपन्यास में इस प्रकार है- "पिता जी ने पास रखी बाल्टी में भरे पानी से मुझे नहला दिया, फिर वहीं रखी चमडे की चप्पल को टब में भरे पानी में डुबाडुबाकर मेरे नग्न शरीर की चमडी उधेडने में लगे रहे जब तक कि मैं बेहोश नहीं हो गई।" 1 बात मार तक ही सीमित होती तो भी कुछ नहीं बिगड़ता किंतु जब एक पिता अपनी ही संतान को इस कदर प्रताडित करने लगे कि वह उसे जान से ही मार देने की ठान ले तो तब इसे पागलपन के सिवा और क्या कहेंगे। समाज में प्राप्त होने वाला वो मान-सम्मान और प्रतिष्ठा इतनी महत्वपूर्ण हो जाती है कि उसके सामने अपनी ही औलाद को एक पिता इसलिए मृत्यु के हवाले कर देना चाहता है क्योंकि उसकी वह संतान हिजडा है, वह किन्नर है। पितृ सत्तात्मक समाज में तो कोई भी पिता यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि उसकी औलाद किन्नर हो। इससे अच्छा वह बिना संतान के जीवन-यापन कर लेगा। इसी उपन्यास में पायल के पिता जब पायल को पीटते-पीटते थक गये तब उन्होंने अपनी हिजडा औलाद से मुक्ति पाने की एक नयी युक्ति सोची। क्योंकि उन्हें अपने परिवार में यह हिजडा शब्द और सदस्य दोनो इज्जत पर बट्टा लगाते हुए नजर आ रहे थे। इसलिए उन्होंने पायल को फाँसी पर लटकाने का फैसला कर लिया था। पायल के पिता ने पायल को फाँसी पर लटकाने के बाद अब हैवानियत की भी सारी हदें पार कर ली थीं। एक बच्चा जिसे अभी यह भी नहीं पता कि उसे किस बात की सजा दी जा रही है उसे इस प्रकार की कठिन यातना से गुजरना पड़ता है और यह यातना किसी और के द्वारा नहीं बल्कि उसके ही पिता द्वारा उसे दी जाती है क्योंकि वह एक किन्नर है। 'मैं पायल' उपन्यास में 'पायल सिंह' इस प्रकार अपने पिता द्वारा दी गयी यातना का उल्लेख करती है-"समय का मुझे ध्यान नहीं रहा था शायद

देर रात मुझे अपने शरीर का होश आने पर भान हुआ। मेरे गले में रस्सी बंधी हुई थी, जिसका दूसरा छोर म्यारी(धन्नी) से बंधा था। खपरैल के रास्ते चाँदनी रात का प्रकाश कण्डे व घास से भरे उस कमरे में आ रहा था पर अंदाजा तो हो ही रहा था कि म्यारी से रस्सी का एक छोर बाँध कर मुझे मारने के लिए रस्सी के दूसरे छोर का फंदा मेरी गर्दन में बांध पिता जी ने मुझे फाँसी दे दी थी।"2

किन्नरों के परिवारवालों की स्थिति:

समाज में एक पिता के लिए यह अत्यंत पीडादायक घटना है कि कोई उसे एक हिजडे का बाप कहे। शायद ही कोई ऐसा सुनना पसंद करेगा, इसी वजह से लोग अपने किन्नर बच्चों से पीछा छुडा लेना चाहते हैं। इसके लिए उन्हें चाहे किसी भी रास्ते पर चलना पडे। किंतु इसके परे भले ही समाज के सामने अपनी प्रतिष्ठा और मान-मर्यादा को बचाने के लिये बडी निर्दयता के साथ अपने किन्नर बच्चे का त्याग एक पिता के द्वारा कर दिया गया हो किंतु इसके उपरांत उस व्यक्ति के अंदर एक पिता का हृदय रोता और बिलखता है। ऐसे लोग अक्सर अंतर्द्वंद्व के बीच फसे हुए नजर आते हैं। कथाकार 'महेन्द्र भीष्म' के उपन्यास 'किन्नर कथा' के पात्र जगतराज जो कि एक राजा हैं और दो बच्चों के पिता हैं किंतु दुर्भाग्यवश दो बच्चियों में से एक सोना किन्नर है। जगतराज अपनी सोना को प्राणों से भी ज्यादा चाहते हैं किंतु जब उन्हें यह पता चला कि सोना किन्नर है तब उन्होंने अपने दीवान पंचमसिंह को यह आदेश दिया कि सोना को ले जाओ और इसे मृत्यु के घाट उतार दो। किंतु इसके उपरांत जब वह यह कृत्य कर चुके होते हैं तब उनके अंदर एक पिता और एक राजा के बीच अंतर्द्वंद्व की लडाई चल रही होती है। कहीं न कहीं जगतराज के भीतर अपनी बेटी सोना के लिये प्यार उमड़ता हुआ नजर आता है और वह अपने किये कृत्य पर अफसोस जताते हुए अपनी पत्नी, अपनी पुत्री सोना और ईश्वर से क्षमा की भीख मांगते हुए नजर आते हैं और न जाने कितने प्रश्न उस समय उनके अंदर तीर के समान चुभ रहे थे जिसका उल्लेख इस प्रकार है- "विश्रामकक्ष में पडी आरामकुर्सी पर वह भरभराकर ढह गया।पिता का हृदय पहली बार अपनी बेटी के लिये कसमसाया, उसका हृदय विक्षोभ से भर उठा, मन जोर-जोर से रूदन करने को हुआ। सोना की यह कैसी विदा की उसने? एक साथ सैकडों प्रश्नों के तीर जगतराज ने अपने हृदय में बिंधे महसूस किये, ईश्वर उसे उसके इस कृत्य के लिए कभी क्षमा नहीं करेगा। क्षमा नहीं करेगी उसकी धर्मपत्नी आभा और कभी क्षमा नहीं कर पायेगी उसकी संतान सोना की आत्मा। आत्म संताप से भर उठा जगतराज। आज वह स्वयं की जगरों में बौना दिख रहा था।"[3]

शिक्षा से वंचित किन्नरों की स्थिति:

किन्नरों का संपूर्ण जीवन संघर्षों का पर्याय कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि ऐसा कोई भी पल नहीं जब उन्हें कष्टों का सामना न करना पडता हो और ऐसे कुछ लोग ही हैं जिनको हम उंगलियों में गिन सकते हैं जो किन्नरों को उनके लैंगिक विकलांगता का अपराधबोध नहीं करवाते या उन्हें इस बात के लिये अपमानित नहीं करते और उनका मजाक नहीं बनाते। पारिवारिक प्रताड़ना के उपरांत इन्हें शिक्षा के लिये भी बहुत संघर्ष करना पड़ता है और इसके बाद भी शायद ही किसी किन्नर को शिक्षा की अनुमति मिल पाती हो या वह शिक्षित हो पाता हो। शिक्षा किसी भी व्यक्ति के संपूर्ण विकास के लिये एक महत्वपूर्ण साधन है। जिसके माध्यम से वह विपरीत परिस्थितियों में भी अपने आपको एक सुदृढ स्थिति में पहुँचाने का प्रयास करता है। अर्थात् यदि कोई शिक्षित है तो जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता के द्वार सदैव किसी न किसी रूप में उनके सामने होंगे। किंतु अशिक्षित होना एक अभिशाप के समान है और अशिक्षित होने की वजह से समाज में आपको स्वयं के वजूद के लिए कठिन संघर्ष करना पडेगा। यह संघर्ष कुछ ऐसा होगा जैसे कि बिना हथियार के किसी युद्ध में खुद को झोंक देना। ऐसी ही परिस्थियाँ तृतीयलिंगी समुदाय के समक्ष होती हैं। अधिकांश तृतीयलिंगी लोग अशिक्षा के चलते बेहद कष्टपूर्ण जीवन जीने के लिए मजबूर हैं। जिसकी मुख्य वजह यह है कि इनका लिंग निर्धारित न होने के कारण इन्हें स्कूलों में दाखिला नहीं मिल पाता। सामान्य लोगों का मानना है कि तृतीयलिंगियों को स्कूल में दाखिला देने से उनके स्कूल की प्रतिष्ठा खतरे में आ जायेगी और स्कूल का माहौल भी खराब हो जायेगा। सामान्य लोगों की इसी घटिया सोच के चलते किन्नर अशिक्षित रह जाते हैं और एक अंधकारमय जीवन जीने के लिए मजबूर हो जाते हैं। स्कूल में दाखिला न मिलने का एक जीवंत उदाहरण प्रदीप सौरभ के तीसरी ताली उपन्यास में देखने को मिलता है। जिसमें आनंदी आण्टी की बेटी निकिता को जेण्डर स्पष्ट न होने के कारण स्कूल में दाखिला नहीं मिलता। जोकि इस प्रकार है-"उन्हें दोनों जगह से एक ही जवाब मिला कि जेण्डर स्पष्ट न होने के कारण हम दाखिला नहीं दे सकते....यह स्कूल सामान्य बच्चों के लिए है, बीच वाले बच्चों को दाखिला देने से स्कूल का माहौल खराब हो जाता है। आनंदी आण्टी ने हर संभव कोशिश की, लेकिन निकिता को दाखिला नहीं मिला।"[4]

कहते हैं प्रतिभा किसी की मोहताज नहीं होती, फिर इस बात से क्या फर्क पडता है कि व्यक्ति पुरुष है, स्त्री है या फिर किन्नर। ये सभी मनुष्यों की श्रेणी में आते हैं और ईश्वर ने सोचने और समझने की क्षमता सभी मानसिक रूप से सक्षम व्यक्तियों में समान दी है।किन्नर मानसिक विकलांग नहीं हैं बल्कि लैंगिक विकलांगता का श्राप झेल रहे हैं और समाज से बहिष्कृत हैं। मानसिक रूप से ये आम इंसानों के जैसे ही हैं फिर भी न जाने क्यों परिवार के सदस्य समाज में चली आयी रूढिवादी परंपराओं और मान्यताओं के चलते इन्हें खुद से दूर कर देते हैं और

मजबूर कर देते हैं एक ऐसी जिंदगी जीने के लिये जो पग-पग कष्टों से भरी होती है। चित्रा मुद्गल के पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा उपन्यास में भी कुछ ऐसी ही घटना विनोद/बिन्नी के साथ भी होती है। विनोद जन्म से किन्नर है किंतु पढने-लिखने और खेलकूद में बड़ा ही निपुण है, किंतु वह किन्नर है, यह समाज कैसे यह स्वीकार कर सकता है कि कोई किन्नर बच्चा अपने परिवार के साथ रहे। माता-पिता चाहे भी तो भी वे अपने उस बच्चे को अपने साथ नहीं रख सकते। इसकी एक ही वजह है और वह है इस समाज में फैली रूढिवादिता और अशिक्षा। समाज के इसी दबाव के चलते बिन्नी के पिता ने न चाहते हुए भी बिन्नी को किन्नरों को सौंप दिया और उसकी माँ कुछ नहीं कर पायी। बिन्नी कुछ दिनों बाद खत के माध्यम से अपनी माँ से इस बात का जवाब मांगता है कि क्यूँ आपने मुझे उस समय नहीं रोक लिया जब पापा मुझे किन्नरों के हाथ सौंप रहे थे। मैं तो पढने-लिखने और खेलकूद में भी होशियार था। फिर क्यों मुझे इस दलदल में धकेल दिया? बिन्नी द्वारा पूछे गये प्रश्न का विवरण इस प्रकार है-''क्यों वह अनर्थ हो जाने दिया तूने जिसके लिये मैं दोषी नहीं था। पढ़ने में मैं अपनी कक्षा में सदैव अव्वल आने वाला, डरत थे लड़के मुझसे। कहते थे जिस खेल की प्रतियोगिता में खड़ा हो जाता है तू विनोद पुरस्कार लेकर ही दम लेता है कुछ पुरस्कार हमारे लिए छोड़ दे न!''[5]

किनारों की धार्मिक स्थिति :

कहते हैं धर्म लोगों को जोड़ना सिखाता है, आपस में सौहार्द्य की भावना को जागृत करता है और इंसान को इंसान बनकर रहना सिखाता है। किंतु क्या यह सब आजकल कहीं दिखाई देता है? शायद नहीं। आज इंसान एक-दूसरे का शत्रु बना बैठा है, धर्म के नाम पर मार-काट मची हुई है और इतना ही नहीं आज राजनीति का मुख्य मुद्दा ही धर्म बना हुआ है। ऐसी परिस्थितियों में आपसी भाई-चारे और सहयोग की बातें सिर्फ कोरी कल्पना होगी। किंतु जिस प्रकार हाथ की सभी उंगलियाँ समान नहीं होतीं वैसे ही हर व्यक्ति में धर्म को लेकर नकारात्मकता हो, ऐसा संभव नहीं है। किंतु अगर धर्म को सही मायने में समझना है तो हमें किन्नरों से कुछ सीखना चाहिये। वे सदैव साथ ही रहते हैं उन्हें इस बात से कोई लेना देना नहीं होता की साथ में रहने वाला साथी किन्नर किस धर्म और जाति का है। सभी किन्नरों में आपस में समानता और प्रेम की भावना होती है। किंतु सभी धर्मों को समान रूप से मानने के उपरांत भी किन्नरों का झुकाव हिंदू धर्म और उसके सहयोगी धर्म जैसे बौद्ध-सिक्ख,जैन धर्मों की ओर अधिक रहता है। इसके पीछे की वजह यह है कि इन धर्मों में किन्नरों को ईश्वर की संतान माना गया है और लोग इनसे आशीर्वाद और मंगलकामना पाने की आकांक्षा रखते हैं। इन धर्मों के लोगों का ऐसा मानना है कि किन्नरों को कुछ दैवीय शक्तियाँ प्राप्त हैं। इसीलिये किन्नर इन धर्मों के अधिक समीप पाये जाते हैं। ऐसा ही विवरण किन्नर कथा उपन्यास में मिलता है जब जिलाधिकारी धार्मिक आस्था पर नगीना से एक प्रश्न पूछते हैं तो नगीना उन्हें इस प्रकार उत्तर देती है- ''हुजूर! इस्लाम धर्म की अपेक्षा हिंदू धर्म व उसके सहयोगी धर्म यथा- बौद्ध-सिक्ख, जैन धर्मों में हम लोगों को काफी सम्मान प्राप्त है। वे हमें ईश्वर की संतान मानते हैं, हमारा आशीर्वाद व मंगलकामना पाने की आकांक्षा रखते हैं: उनका विश्वास है कि हम लोगों को कुछ ईश्वरीय शक्तियाँ प्राप्त होती हैं और हम लोगों के चारों ओर एक दैवीय आभामंडल व्याप्त रहता है।''[6]

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विश्लेषण से यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि भले ही 21वीं सदी के पहले तक हिन्दी साहित्य किन्नरों के बारे में मौन धारण किये रहा हो किंतु आज अन्य विधाओं जैसे नारी, दलित, आदिवासी इत्यादि की तरह किन्नर विमर्श की तरफ भी साहित्यकारों ने अपनी कलम का रुख मोड दिया है जिसका परिणाम यह हुआ कि सदियों से गुमनामी की जिंदगी जी रहे ये किन्नर आज समाज की मुख्य धारा से जुडते हुए नजर आ रहे हैं क्योंकि साहित्य सनाज का दर्पण माना जाता है और दर्पण सदैव सत्य को दर्शाता है। किन्नरों के इस सत्य को दर्शाने और उनकी वास्तविक स्थिति को सामान्य जनमानस के पटल तक लाने का महान कार्य महेन्द्र भीष्म, चित्रा मुद्गल, प्रदीप सौरभ आदि जैसे प्रमुख लेखकों द्वारा किया गया। जिसके फलस्वरूप सामान्य जनमानस की संवेदना किन्नरों से जुडने लगी और आज किन्नर विकास के पथ पर निरंतर अग्रसर नजर आ रहे हैं और वो दिन दूर नहीं जब किन्नर भी सामान्य जनमानस की भांति अपना जीवन व्यतीत करेंगे।

संदर्भ

1. *महेन्द्र भीष्म, मैं पायल, अमन प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ- 38*
2. *महेन्द्र भीष्म, मैं पायल, अमन प्रकाशन, कानपुर,पृष्ठ- 38*
3. *महेन्द्र भीष्म, किन्नर कथा, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 33*
4. *प्रदीप सौरभ, तीसरी ताली, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-42*
5. *पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ -11*
6. *महेन्द्र भीष्म, किन्नर कथा, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ- 92*

समाज के अभागों (किन्नर) का दर्द

-डॉ.लक्ष्मीकांत चंदेला
सहायक प्राध्यापक,हिंदी विभाग,
शासकीय स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
छिंदवाडा(म.प्र.) मो-9993458191

सारांश – भाग्यहीन कहते ही दर्द का दरिया छलक पड़ता है और डबडबा जाती हैं उनकी आंखें। सच में भाग्यहीनों (किन्नरों) का दर्द बेहद असहनीय होता है। इसलिए कि वे जीने का हुनर जानने के बाद भी उपेक्षित रहते हैं यानि अमानुषीय जीवन जीने को मजबूर होते हैं। इतना ही नहीं पूरे जीवन काल में इनके साथ न तो कोई अपना होता है न होना चाहता है; सुनने-समझने वाला भी कोई नहीं। बस, बद से बदतर और अपने हाल में जीते हैं।

इसका मुख्य कारण जो प्रतीत होता है, वह है- समाज की बेरुखी और कुत्सित मानसिकता। इसी मानसिकता ने किन्नरों को प्रतिरूप धारण कर जीने की नियति बना दिया। जबकि किन्नर सिर्फ तालियां नहीं बजाते, स्टेज पर भी धूम मचाते हैं और कलावंतों की तरह भारतीय संस्कृति का पताका दुनिया में फहराते हैं। यह संदेश समाज तक पहुंचाना ही शोध आलेख का उद्देश्य है।

अस्तु, ''क्षत्रियों में सिंह पैदा होते हैं, हिजड़े नहीं'' वाली मानसिकता बदलनी होगी और जीने के सारे विकल्प देना होगा तभी इनका दर्द कुछ कम हो सकता है।

कुंजी शब्द - किन्नर, समाज, अभागे, मानसिकता, अधिकार आदि

प्रस्तावना – दुनिया के रंगमंच में जिनकी दु:ख ही जीवन की कथा हो उनसे बड़ा कोई और अभागा नहीं हो सकता; जबकि ये जीने के सारे हुनर जानते हैं। शिक्षा, संस्कृति और कला तो ऐसी कि दुनिया भी चौंधिया जाती है। बस, इनका अधूरापन ही समाज की नजर में दीवार बनाती है। जीने का विकल्प छीन लेती है तथा अमानवीयता की सारी हद पार की दी जाती है। यही समाज के अभागों यानि किन्नरों का दर्द है।

उद्देश्य - किन्नरों के प्रति समाज की जो मानसिकता है उसे बदलना होगा तथा मानव-मानव समान हैं के सूत्र को ध्यान में रखते हुए जीने के सारे विकल्प देना होगा। इतना ही नहीं किन्नर किसी भी क्षेत्र में किसी से कम नहीं का संदेश समाज तक पहुंचाना है। पड़ताल करना है कि इन्हें अपने ही लोगों से कब इतना प्यार मिलेगा? कब इतना सम्मान मिलेगा? मूलभूत मानवीय अधिकार मिलें, समाज का हिस्सा बनें यही उद्देश्य है। इसी के साथ-

- सबसे पहले जायी कोख अपनाये/ स्वीकार करे।
- परिवार अपने घर का अंग माने।
- किन्नर नहीं इंसान समझें।
- उपहास न उड़ाया जाए।
- तथा किन्नर जन्म पाकर भी जीने की लालसा बनी रहे, का प्रयास शोध का उद्देश्य है।

महत्व – महत्त्व इतना कि इससे किन्नरों के प्रति समाज की बेरुखी और सोच को बदलने में सफलता मिलेगी। जिससे व्यक्ति-समाज का मन, मानसिकता व दृष्टि में परिवर्तन आयेगा और किन्नर मानव-सा जीवन जी सकेंगे। इतना ही नहीं उनके साथ हो रहे अन्याय, अत्याचार व शोषण बंद होगा। अतएव समाज की मुख्य धारा से जुड़ पायेंगे; समानता, स्वतंत्रता का अधिकार मिल सकेगा।

हरेक जीवन का अपना हिसाब-किताब होता है, गुणा-भाग भी अलग-अलग होता है लेकिन कुछ ऐसे जीवन का एहसास भी है जिनका बही-खाता बिल्कुल भिन्न होता है यानि कितना जिया, किस तरह जिया, क्यों जिया, जीने का उत्स क्या था? आदि जीवन के किसी अध्याय में नहीं जुड़ा होता।

दरअसल, यह अध्याय किन्नर जीवन का है जो मनुष्य होने की शर्त पर अभागे की तरह जीते हैं। विषय में अनुस्यूत समाज, अभागे और दर्द तीनों शब्द अपनी-अपनी अर्थवत्ता लिए हुए जीवन से सन्नद्ध हैं और अभागों की जीवन की धुरी। जब चिंतन करते हैं तो ज्ञात होता है किन्नर यानि किम्-नर अर्थात् अमानुष। जिन्हें साहित्य अपनी अभिव्यक्ति का विषय बनाया।

फिर जब भाग्य की बात करते हैं तो सबका अपना-अपना होता है यानि कुछ भाग्यवान तो कुछ भाग्यहीन। ये सब कहने की बातें हैं, जैसे बात भी अपनी-अपनी तरह की होती हैं वैसे ही भाग्यवान और भाग्यहीन। दरअसल भाग्य कहना ही अभागों की ओर संकेत है। फिर यदि अभागों पर चिंतन करते हैं तो एकबारगी यह बोध होता है कि समाज में, अपने परिवार में, अपने सगे जनों के बीच अमानुषीय जीवन जीने वाले अभागे हैं। जिनका न कसूर है न किंकर्तव्यविमूढ़ता। बस एक कमी है – 'अधूरापन', जिसकी सजा जीवनपर्यन्त भोगते हैं।

आश्चर्य तो तब होता है कि जब किन्नर मनुष्य होने के बाद भी बदस्तूर जीवन जीते हैं। जिनकी ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती। सोचिए, जिनकी ओर किसी दृष्टि न जाए उनसे बढ़ा अभागा कौन हो सकता है? निश्चित ही कइयों के मन में जिज्ञासा कम हलचल ज्यादा हो रही होगी कि आखिर समाज के अभागे हैं कौन और क्यों अभागे कहें जायेगें? इन्हें अभागे बनाया किसने? उन्हें प्रस्तावना से कुछ संकेत मिल गए होंगे। फिर भी हमें सर्वप्रथम यह जानना होगा कि किन्नरों को अभागा बनाया किसने? इस संबंध में बताना चाहूंगा इन्हें अभागा 'अपनों ने, अपने सगों ने बनाया

है। रही-सही कसर समाज ने पूरी कर दी अपनी विक्षिप्त मानसिकता और बेरुखी से। जिससे किन्नर हिकारत भरी जिन्दगी जीने को विवश हुए।

समाज की इसी बेरुखी के कारण किन्नरों के जीवन का हिसाब-किताब सबसे अलग हो गया है। सीधे शब्दों में कहें तो इनके जीवन का लेखा-जोखा ही नहीं है। आप ही देखिए, सारा जमाना बदल गया, दुनिया कहां-से-कहां पहुंच गई लेकिन किन्नरों के प्रति समाज की मानसिकता नहीं बदली, तब उन्हें अभागे नहीं तो क्या कहेंगे? इससे भी घृणित संकेत तो तब मिलते हैं जब कोई ''हमारे समाज में किन्नरों के विषय में यदि चर्चा करें तो लोग सकते में आ जाते हैं।''[1] और दूसरा समाज में जिनके जीने का कोई अर्थ न हो। इस तरह समाज के अभागे इसलिए हैं क्योंकि इनके प्रति –

- भावनात्मक लगाव की कमी है (परिवार, समाज और दुनिया की)
- जायी कोख भी अपनी न हो सकी, तो परिवार, समाज, दुनिया कैसी ..;...
- समाज का बर्ताव अमानवीय और दृष्टिकोण अमानुषीय
- सभी रिश्ते एहसासों से रीते हुए हों
- जिनके लिए काल की गति भी न्यारी हो
- जिनके प्रति दोहरा चरित्र हो
- इनके मन के संकल्प-विकल्प को न कोई बांच सका हो
- खुशियों की दीवार समझे जाते हों।
- उनके लिंग के साथ कोई पहचान नहीं जोड़ पाए हों।
- जीने के कोई विकल्प न दिए हों।
- कम उम्र में घर-परिवार छोड़ना पड़े।
- मान-सम्मान न मिला हो।
- खास व्यक्ति न माना गया हो।
- स्वस्थ्य वातावरण में पालन-पोषण न होना।
- समाज का अलग खांचा – जिसे घर में रखकर किन्नरों को देखते हों।
- मानवता की परिधि में न रखें हों।
- जिन्हें नकारा समझते हों।
- प्रतिरूप धारण करना नियति बन गई हो।

जबकि इनमें भी वैयक्तिक भावनाएं होती हैं। विचारों का सम्प्रेषण करते हैं। एक्सप्रेशन होता है। शिक्षा, संस्कृति और अद्भुत कला होती है। इसके बाद भी दुनिया के रंगमंच में अभागा-सा जीवन जीते हैं। इसलिए आज मैं समाज के जिन अभागों का दर्द कह रहा हूं वह दर्द, दु:ख और संताप तो है हीउनका बीतराग भी है। इस बीतराग की मर्माहत अभिव्यक्ति क्रांति और पौरुष के कवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की कविता में देख सकते हैं, जिन्हें वे करूणार्द्र स्वर में भाग्यहीन कहते हैं-

'मुझ भाग्यहीन की तू संबल
युग वर्ष बाद जब हुई विकल
दु:ख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूं आज जो नहीं कही।'

फिर जो अपने जीवन का हिसाब आंसुओं से चुकता करते हों, उनकी आंखों से बह रहे आंसुओं के दर्द को अनुमान से भी न पढ़ा जा सकता हो, वह जीवन कष्टसाध्य ही होगा। ऐसा असहनीय दर्द किन्नर जीवन का है। इन अभागों के दर्द की दास्तां को देखिए जब 'मैं हिजड़ा ... मैं लक्ष्मी' की किन्नर लक्ष्मी कहती है-

''हमारा कुछ अलग नहीं होता, हमारी बोल-चाल बर्ताव आपस में अलग हो सकता है पर हमारी भावनाएं, सोचने का तरीका बिल्कुल आपके जैसा ही नार्मल होता है।''[2] वे यह भी कहती हैं – ''हम मजाक करने के लिए नहीं बने हैं, हमारे साथ भी गंभीरता से बात की जा सकती है, हम भी नार्मल हैं। बाकी लोगों के साथ जैसा बर्ताव करते हैं वैसा ही हमारे साथ करना चाहिए।''[3] इस संदेश को समाज तक पहुंचाना ही शोध का उद्देश्य है।

वैसे कोई भी शब्द और साहित्य इनकी असहनीय पीढ़ा को कम नहीं कर सकता किन्तु महेन्द्र भीष्म , नीना शर्मा, प्रदीप सौरभ, लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी, मानोबी बंद्योपाध्याय, चित्रा मुद्गल आदि लेखकों का विनम्र प्रयास उनके आंसुओं के एक-एक बूंद की पीड़ा को महसूस किए हैं। जिससे किन्नर जीवन की ओर लोगों का, समाज का ध्यान जा रहा है। उम्मीद है भविष्य में कुछ अच्छा होगा। समीक्षकों का मानना है कि- ''जननांग दोषी की प्राकृतिक ऊर्जा, विवेक और क्षमता का आंकलन समावेशी समाज की परिकल्पना के लिए आवश्यक है। जहां भी हमारी सामाजिक व्यवस्था मनुष्य से उसका हक छीनती है, चित्रा जी उस व्यवस्था को ध्वस्त करने का चैतन्य देती हैं।''[4]

फिर जिस समाज ने उन्हें छला है उनसे लक्ष्मी (सिमरन, मानसी, पद्मिनी, याना, मंगेश, मानाशी उर्फ मानसी आदि भी) अपने को दुत्कारती हुई पूछती है -''एक तरफ तो मुझे यह बेचैनी थी कि फेस्टिबल के इतने अच्छे दिन खत्म हुए, तो दूसरी तरफ अपने समाज के लिए मैं कुछ कर सकी, इसका गर्व था।''[5] पर ''मेरा जी भर आया... मैं एक हिजड़ा ... वो इतने दूर देश की औरत... मुझसे इतना प्यार करती है, मुझे इतना मान देती है ... अपनी जिन्दगी में एक महत्वपूर्ण व्यक्ति 'खास व्यक्ति' के रूप में देख रही है... मेरे समाज के बाकी लोगों को अपने ही लोगों से कब इतना प्यार मिलेगा? कब इतना सम्मान मिलेगा?''[6] जितना अमस्टरडम में भारतीय लोक संस्कृति की झलक बिखेरते हुए सुमन और उनका कल्चरल सक्रेटरी 'विनसन' दोनों ने दिया।

अब समाज की दकियानूसी सोच की बानगी प्रस्तुत करता हूं जहां आप भी पायेंगे कि किन्नरों से ज्यादा मानसिक विक्षिप्त यहां का समाज है, जो कहते हैं- ''क्षत्रियों में सिंह होते हैं, हिजड़े नहीं।''[7] वहीं पोस्ट बॉक्स नं. 203, नाला सोपारा की चौदह वर्षीय बिन्नी को लोकोपवाद के भय से ''कसाइयों के हाथ मासूम बकरी-सा सौंप दिया।''[8](नाला सोपारा) निश्चित ही यह समाज का असली चेहरा है जिसने किन्नरों

को अभाग बनाया। पायल ठीक ही कहती है-

''लोग अपने विकलांग बच्चे को पाल लेते हैं पर एक हिजड़ा बच्चे को नहीं क्योंकि हिजड़ा बच्चा होना वे अपनी आन-बान-शान के खिलाफ समझते हैं।''[9] यही शान की खिलाफत किन्नर बच्चे को बचपन में ही घर-परिवार छोड़ने को मजबूर कर देती है। उनके इस असह्य दर्द को शब्दों में बयां नहीं किया जा सकता पर यह अवश्य कहूंगा कि- ''इतनी कम उम्र में घर-परिवार से हमेशा के लिए दूर हो जाने का दृढ़ संकल्प बहुत बड़ा और कठोर होता है। बरसात की बहती नदी में कूद जाने जैसा।''[10]

इन अभागों की दास्तां यहीं खत्म नहीं होती बल्कि नाला सोपारा पो. बॉक्स नं. 206 की बिन्नी कहती है समाज ने तो हमें जीने का विकल्प भी नहीं दिया। ''स्त्रैण लक्षण मुझमें कभी नहीं रहे। अब भी नहीं हैं और जो लक्षण मुझमें नहीं, उन्हें सिर्फ इसलिए स्वीकारूं कि... प्रतिरूप बने बिना मेरे जीवन जीने के विकल्प शेष हैं।''[14] जैसे लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी की 'मैं लक्ष्मी... मैं हिजड़ा' की लक्ष्मी कहती है- ''मेरे रिश्तेदारों में से किसी ने भी मुझे लड़की नहीं माना था। हिजड़ा होने के बाद भी उनके लिए मैं राजू या राजूभैया रही थी। इस परिवार ने लेकिन मेरी भावनाओं की कदर की थी। सच तो यह है कि उनकी भावनाओं का मान रखने के लिए ही मैंने साड़ी उतारकर शर्ट-पेण्ट पहनी थी, पर सामने वाले इंसान को जानने वे मुझसे काफी अच्छे साबित हुए थे।''[15]

प्रदीप सौरभ की तीसरी ताली का राजा भी ऐसा ही अभागा है जिसके पास जीने का कोई विकल्प नहीं है। जो कभी बिरज्जू महाराज के यहां कथक नृत्य सीखा करता तब ''जयपुर घराने की पच्चीकारी अपनी विशिष्ट कला के साथ प्रस्तुत करता तो, दर्शक अनायास कह उठते वाह उस्ताद!...

कथक सीखने के दौरान राजा के माता-पिता असमय चल बसे। गरीबी ने उसे तोड़ दिया। रोजी-रोटी के लाले पड़ने लगे। गुरू जी की मदद कम पड़ने लगी। वे कोई धन्ना सेठ तो थे नहीं। फलत: राजा के लिए कथक के अलावा रोजी-रोटी का कोई जुगाड़ करना जरूरी हो गया था। उसने सोचा क्यों न किसी बेण्ड पार्टी में डांस करके पैसा कमाया जाए।...''[16] उस राजा की किस्मत कहां-से-कहां ले जाती है और पेट की आग बुझाने के लिए कथक की उपासना से विलग हो जाता है। '' ... उसे और कुछ सूझा नहीं तो वह मस्ताना ब्रांस बैंड के दफ्तर में पहुंच गया। ... सिराज भाई ने उससे कहा- अगर तुम्हारे पास अभी समय हो तो थोड़ा रिहर्सल कर लेते हैं। अपने बैण्ड की पूरी अलीगढ़ में शान है। कोई ऊंच-नीच मैं नहीं चाहता हूं।

राजा ने हामी में सिर हिला दिया। मास्टर सिराज भाई की क्लैरिनेट ने नागिन की धुन छेड़ दी 'मेरा मन डोले...

राजा पूरी सिद्दत के साथ सुना। एक-एक सुर अपनी जगह सटीक लग रहा था। एक अंतरा बजने के बाद राजा आंखें बंद करके गुरू से क्षमा मांगी कि वह आज पेट की आग बुझाने के लिए कथक की उपासना से विलग हो गया।''17

हम यह भी देखते हैं कि समाज तृतीय लिंग के साथ कोई खास पहचान नहीं बना पाया है जिसका दर्द वह जीवन भर भोगता है। किन्नर मानोबी बंद्योपाध्याय अपनी आत्मकथा 'पुरुष तन में फंसा मेरा नारी मन' में लिखती हैं- ''आप हिजड़े से घृणा करते हैं क्योंकि आप उसके लिंग के साथ कोई पहचान नहीं जोड़ पाते। आप उसे एक विचित्र, घृणित जीव, संभवत: एक अपराधी और निश्चित तौर पर एक अवमानव समझते हैं।''[18]

इसी तरह 'मेरे हिस्से की धूप' की मोनी कहती है- ''मैं थक गयी हूं मौसी औरत बनना चाहती हूं। औरत पूरी औरत तुम्हारी तरह, मम्मी की तरह, हर्षि की तरह... लेकिन... ये मर्द... होना नहीं पसंद, दाढ़ी बनाना नहीं अच्छा लगता... मौसी तू बता मैं क्यां करूं? नहीं अच्छा लगता है ये मर्दाना आवाज... मौसी।''[19]

अस्तु, किन्नर न काहिल होते हैं न जाहिल बस कुछ अधूरे होते हैं जिसकी सजा व्यक्ति, परिवार, समाज, अपने सगे और कभी-कभी जायी कोख भी देती है इसलिए ये अभागे हैं, इसीलिए उनका दर्द भी असहनीय है। बेशक जमाना बदल गया है लेकिन मानसिकता नहीं बदली है, इसे बदलना होगा तभी किन्नर मानव की तरह जीवन जी सकेंगे। यदि ऐसा न हुआ तो मोनी की मां पुष्पा का यह कथन सत्य ठहरेगा- ''कुछ नहीं बदलेगा न मोनी का सच और न मोनी का दु:ख।''[20]

निश्चित ही किन्नरों में भी आत्म विश्वास होता है, प्रतिभा होती है, हौंसले भी बुलन्द होते हैं, जैसे ''आम स्त्रियों के लिए बल्कि आजकल तो पुरुषों के लिए भी जगह-जगह सौन्दर्य प्रतियोगिताएं होती हैं। 'मिस इंडिया होती है, मिस यूनिवर्स होती है... हिजड़ों के लिए भी वैसी प्रतियोगिता हो, ऐसी मेरी हार्दिक इच्छा थी। हिजड़े उस वजह से स्टेज पर आते, उन्हें अपनी प्रतिभा दिखाने का मौका मिलता... हम सिर्फ तालियां नहीं बजाते, स्टेज पर भी धूम मचाते हैं।''[21] समाज को यही दिखाना है, समाज तक यही संदेश भी पहुंचाना है।

निष्कर्षत: इनका प्रकृत स्वभाव 'व्यक्ति से नहीं व्यक्तित्व से प्यार करना है' किन्तु सामाजिक पूर्वाग्रह के कारण जीवन पर्यन्त कष्ट भोगते हैं। यदि समाज पूर्वाग्रह से उबर जाए तथा अपनी मानसिकता बदल ले एवं जायी कोख भी अपनाने लगे और परिवार अपने घर का अंग समझने लगे तो सच मानिए इस समुदाय में किन्नर जन्म पाकर भी जीने की लालसा बनी रहेगी। ये अपने जीवन में कभी भी अधूरापन महसूस नहीं करेंगे। उपेक्षित भी नहीं होंगे, न ही घृणा का पात्र बनेंगे। सदा-सदा के लिए अंधेरी दुनिया से मुक्ति मिल जायेगी और भोग रहे जीवन के हरेक कष्ट, हर दु:ख-दर्द दूर हो जायेंगे।

अतएव, समाज इनकी ओर देखे। इनके दु:ख-दर्दों को समझे, भेदभाव न करें। सम्मान करें तभी ये आम-आदमी की तरह यानि मानव की तरह जी सकेंगे।

संदर्भ-

1. शीला डागा : किन्नर गाथा, वाणी प्रकाशन 4695, 21ए दरियागंज नई

दिल्ली- 110002, प्र.सं.2020 पृ. 5
2.लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी : मैं हिजड़ा ... मैं लक्ष्मी, वाणी प्रकाशन 4695, 21ए दरियागंज नई दिल्ली – 110002, प्र.सं. 2015, पृ. 110
3.वही- पृ. 110-111
4.संपा. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : दस्तावेज-155, अप्रैल-जून 2017, बेतियाहाता, गोरखपुर-273001, पृ.63
5.लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी : मैं हिजड़ा ... मैं लक्ष्मी, वाणी प्रकाशन 4695, 21ए दरियागंज नई दिल्ली – 110002, प्र.सं. 2015, पृ. 92
6.वही- पृ. 93
7.महेन्द्र भीष्म : मैं पायल ..., अमन प्रकाशन, 104ए/80सी रामबाग, कानपुर -208012, चतुर्थ सं. 2019, पृ.37
8.चित्रा मुद्गल : पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, सामयिक प्रकाशन, 3320-21 जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज नई दिल्ली-110002, संस्करण 2019, पृ.
9.महेन्द्र भीष्म : मैं पायल ., अमन प्रकाशन, 104ए/80सी रामबाग, कानपुर-208012, चतुर्थ सं. 2019, पृ.37
10.वही – पृ. 54
11.चित्रा मुद्गल : पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, सामयिक प्रकाशन, 3320-21 जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज नई दिल्ली-110002, संस्करण 2019, पृ.10
12 लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी : मैं हिजड़ा ... मैं लक्ष्मी, वाणी प्रकाशन 4695, 21ए दरियागंज नई दिल्ली – 110002, प्र.सं. 2015, पृ. 100
13.प्रदीप सौरभ : तीसरी ताली, वाणी प्रकाशन 4695, 21ए दरियागंज नई दिल्ली- 110002, प्रथम संस्करण 2018, पृ.18
14.वही- पृ. 19-20
15.मानोबी बंद्योपाध्याय झिमली मुखर्जी पांडे : पुरुष तन में फंसा मेरा नारी मन, राजपाल एंड संस, 1590 मदरसा रोड, कश्मीरी गेट दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण 2018, पृ. 5
16.नीना शर्मा हरेश : मेरे हिस्से की धूप, माया प्रकाशन, 6ए/540, आवास विकास हंसपुरम् कानपुर-208021, प्रथम संस्करण 2020, पृ. 35
17.वही – पृ. 22
18.लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी : मैं हिजड़ा ... मैं लक्ष्मी, वाणी प्रकाशन 4695, 21 दरियागंज नई दिल्ली – 110002, प्र.सं. 2015, पृ. 115

कुसुमलता मलिक की कहानियों में दिव्यांग विमर्श

-अनिता देवी
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
मो-7006582290

सार - सम्पूर्ण संसार में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो पूर्णरूप से गुणरहित हो या गुणसहित हो। कहा जाता है कि ईश्वर यदि किसी व्यक्ति से कुछ छीनता है तो उसके बदले में कुछ 'और' देता भी है जिससे उस व्यक्ति की निशःक्तता सशक्तता में परिवर्तित हो जाती है। जब कोई व्यक्ति सामान्य व्यक्ति के समान कार्य करने में सक्षम नहीं हो पाता तब उसे दिव्यांग की संज्ञा दी जाती है। फिर चाहे वह नेत्रहीन हो, श्रवणबाधित हो या अस्थिबाधित हो। हिन्दी साहित्य में कई कहानिकारों द्वारा विक्लांग अर्थात् दिव्यांग समस्या को आधार बनाकर साहित्य रचना करके इस वर्ग को भी विमर्श का हिस्सा बनाया है। कुसुमलता मलिक की कहानियों में दिव्यांग व्यक्ति की समस्याओं के साथ उसकी चेतना तथा समझदारी का चित्रण भी है। दिव्यांगों के साथ समाज का व्यवहार तथा उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करने की सारी क्रियाएँ जो परिवारजनों द्वारा अपनाई जाती हैं का चित्रण बड़ी ही सुन्दरता से उनकी कहानियों में मिलता है। अपनी अक्षमता के कारण किस प्रकार उन्हें कठिन परिस्थितियों को झेलना पड़ता है फिर चाहे वे शारीरिक हो या मानसिक कुसुमलता जी बड़ी सहजता से उसको रेखांकित करती हैं।

बीज शब्द - दिव्यांगता, वैज्ञानिक, प्रतिशोध, बोझ, अपमानजनक, स्वार्थ। संवेदना, लाचारी।

समस्त संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो पूर्णरूप से गुणवान हो और पूर्णरूप से गुणरहित है। प्रत्येक वस्तु या मनुष्य में कोई न कोई अभाव किसी न किसी रूप में रहता ही है। सामान्य तौर पर दिव्यांगता ऐसी शारीरिक एवं मानसिक अक्षमता है जिसके कारण कोई भी मनुष्य सामान्य मनुष्यों की तरह कार्य करने में अक्षम होता है। यह समस्या आदिकाल से मनुष्य जीवन में रही है। सभ्यता का विकास जब हुआ मनुष्य में भी अपने आप को और अधिक बेहतर बनाने की कामना ने जन्म लिया। युद्ध की कलाओं में अपने आप को अधिक समर्थ करने के कारण भी कई लोग बड़ी संख्या में दिव्यांग हुए। हालांकि दिव्यांगता को लेकर समाज में अलग-अलग धारणाएं हैं। कुछ लोगों द्वारा इसे पूर्वजन्म से जोड़कर स्वीकार कर लिया जाता है तथा अपने कष्ट को कम करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। परन्तु आधुनिक युग में नई-नई तकनीकों ने विकलांग व्यक्ति के जीवन में कई प्रकार की सुविधाओं का प्रसार किया है, जिससे वे भी सामान्य मनुष्य के समान प्रत्येक क्षेत्र में अपनी भूमिका निभाने में सक्षम हुए। ब्रेललिपि के कारण कई नेत्रवहीन लोग शिक्षित हुए तथा किसी न किसी क्षेत्र में रोजगार पा गए। ऐसे ही अनेक सुविधाएँ इनके लिए उपलब्ध हो गई हैं। शिक्षा

के प्रबन्ध ने इनके जीवन में उम्मीद का संचार किया तथा दिव्यांग व्यक्ति का मनोबल भी बढ़ाया है। दिव्यांग व्यक्ति को अपनी अक्षमता को न चाहकर भी अपनाना पड़ता है जिसमें बन्दना पाण्डेय का कहना है - ''जन्मजात, प्राकृतिक अथवा अन्य कारणों से शरीर के किसी अंग की अक्षमता वस्तुतः विकलांगता है। .... दिव्यांगता चाहे शारीरिक हो या मानसिक। आंशिक हो या पूर्ण, एक आवांछित स्थिति है जिसे न चाहते हुए भी व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ता है।

विकलांग शब्द के लिए अब दिव्यांग शब्द का प्रयोग प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी द्वारा उनकी विलक्षण उपयोगिता को देखते हुए तथा उनके सम्मान के लिए स्वीकार किया गया है। किन्तु आदर्श और यथार्थ में अन्तर के कारण समाज में दिव्यांगों को अलग-अलग शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। नेत्रहीन को अंधा, अस्थिबाधित को लगड़ा, लूला, श्रवणबाधित के लिए बहरा आदि शब्दों का उपयोग किया जाता है। दिव्यांगजनों को सदियों से ही समाज के उपेक्षित वर्ग के रूप में ही मान्यता प्राप्त है जिसके कारण वे कठिन जीवन जीने के लिए विवश रहे हैं। संध्या लिमये के शब्दों में ''विकलांगता के कारण एकाधिक नुकसान को झेलने वाले इन समुहों की समस्याओं को लैंगिक अंतर की कसौटी पर जाति, धर्म, नस्ल, स्थान, क्षेत्र आदि अन्य कारकों के सापेक्ष समझा जा सकता है। विकलांगता और लैंगिक वर्ग दोनों ही पूर्व निर्धारित होते हैं, लेकिन इनके आधार पर खास वर्ग की उपेक्षा की जाती है।'' समाज में दिव्यांग व्यक्ति को अनेक कठिनाईयों से गुजरना पड़ता है। परिवार तथा रिश्तेदारों में उनके प्रति उपेक्षा का भाव आ ही जाता है। कुछ लोग तो दिव्यांगों को समाज के लिए बोझ की संज्ञा भी दे देते हैं परन्तु वे इस बात से परिचित नहीं होते कि दिव्यांग उनसे भी अधिक सक्षम हो सकते हैं। हिन्दी साहित्य के कई साहित्यकारों ने दिव्यांग जीवन की समस्याओं को रेखांकित किया है जिनमें कुसुमलता मलिक का नाम भी आता है। इन्होंने अपने कहानी संग्रह 'कही अनकही' में दिव्यांग जीवन को बड़ी ही सुन्दरता से रेखांकित किया है। दिव्यांग व्यक्ति की लाचारी तथा विवशता के कारण उसे बोझ समझा जाता है। कहानी 'उपहार' में विजया जो कि नेत्रहीन लड़की है उसके माध्यम से इस समस्या का चित्रण हुआ है। वह बी.ए. पास करने के बाद भी पिता के लिए बोझ है तथा वे उससे सीधे मुँह बात तक नहीं करते हैं। जब भी कोई जान-पहचान वाला उनसे विजया के विषय में कुछ पूछता है तो वे कहते हैं कि ''हमने तो सोचा था, इसके स्कूल वाले ही इसकी छोटी-मोटी नौकरी-वौकरी लगवा देंगे तो इसकी जिन्दगी कट जाएगी। पर हमें क्या मालूम था कि जवान लड़की को बोझ की तरह अपनी छाती पर बिठाना पड़ेगा।'' दिव्यांग व्यक्ति शारीरिक अभाव के कारण समाज में उपेक्षित माने जाते हैं। परिवार के सदस्यों द्वारा उन्हें कई तरह से मानसिक पीड़ा पहुँचाई जाती है। घर पर दिव्यांग व्यक्ति का रहना उनके स्टेटस पर फर्क डालता है। यह मानसिकता कहानी 'कमाई' में रिया के माध्यम से सामने आती है। नेत्रहीन कुंदन मलकानी रिटायर प्रोफेसर हैं जो पत्नी की मृत्यु के बाद अपने बेटे रत्न के साथ रहने लगते हैं। चुंकि वे अंधे हैं जो उनकी बहू रिया को उनका अंधा होना अपमान लगता है। रिया अपने पति रत्न से कहती है कि ''मैं जब पार्टिज में जाती हूँ तब मुझे कितनी हिमाकत और हिकारत झेलनी पड़ती है। जान-बूझकर या अनजाने में कोई न कोई मेरे पास आकर मेरे तथाकथित ससुर के अंधा होने पर शोक या सहानुभति जताता है ..... मेरा खून जलता है। मेरा सारा स्टेटस .....।'' अंधे व्यक्ति की परिवार में उपस्थिति के कारण वे अपने सम्मान को टूटता हुआ पाते हैं। उपरोक्त कहानी में प्रो. साहब निश्छल तथा निष्पाद व्यक्ति हैं पर बहू को उनका उसके घर पर रहना मंजूर नहीं है। उसे ''अपने परिवार में एक अन्धा आदमी किसी भी रूप में बर्दाशत नहीं था। अन्धापन उसके खोखले बड़प्पन को छोटा करता था और वह किसी भी सूरत में छोटा दिखने को तैयार न थी।'' दिव्यांगता किसी भी प्रकार की हो परिवार में कुछ लोगों के लिए दाग के समान होती है। यदि दिव्यांग व्यक्ति सकलांग हो तो वही दाग प्यार में बदल जाता है।

दिव्यांगता के कारण व्यक्ति का महत्व कम हो जाता है जो कहानी 'अदायगी' की लतिका के माध्यम से उल्लेखनीय है। एक दुर्घटना के कारणवश आँखे तथा नाक चले जाने से वह दिव्यांग तथा कुरूप हो जाती है तथा उसके भाग्य को सब कोसते हैं। सगे-सम्बंधी जब भी उसे देखते तो यही कहते कि इसका भाग्य फूट गया है। सुन्दर रूप तो नहीं रहा इसलिए भगवान इसे मौत ही दे दें। ''इसकी तो जिन्दगी बर्बाद है ही, साथ ही इसके माँ-बाप की जिन्दगी भी बर्बाद है, कौन सारा जीवन इसका भार उठाएगा।'' दिव्यांग हो जाने पर व्यक्ति को किसी सहारे की जरूरत पड़ती है पर सहारा बनने की अपेक्षा उससे दूरी ही बनाई जाती है। उपरोक्त कहानी की लतिका के साथ ऐसा ही होता है। अंधी तथा कुरूप बेटी को देखकर उसके पिता उदास हो जाते हैं। ''अब वे घर में आते-जाते कभी उसे न पुकारते, न पास बुलाते थे। जब भी घर आते लतिका और अधिक डर जाती।'' दिव्यांग व्यक्ति को प्रत्येक कार्य में समर्थ न हो पाने पर हेय दृष्टि से देखा जाता है जो उसे पीड़ा देता है। उसे घर में खाना-पीना भी अच्छे नहीं दिया जाना अमानवीयता का सूचक है। कहानी 'गांठ' का रोहित नेत्रहीन है जो भाभी चमनों को एक भी आँख नहीं भाता है। चमनो उसे अपना गुलाम बनाने के लिए कई षडयन्त्र रचती पर पति के आगे उसकी न चलती। पति को दिखाने के लिए चमनो दूध में पानी डालकर रोहित को देती है तब रोहित सोचता है कि ''उसकी बड़ी बहन आती थी जो उसे चोरी से दूध ओटाकर पिलाती थी। कभी-उसकी चाची छठें चौमासे उसे बुलाकर थोड़ी खीर खिला देती। भाभी ने तो उसे कभी रोटी तक ढंग से न दी थी तब दूध तो बड़ी बात थी।'' दिव्यांग व्यक्ति के लिए यह बहुत खुशी की बात होती है कि उसे घर में अच्छे से रखा जा रहा है पर संकुचित मानसिकता के कारण परिवार के किसी सदस्य द्वारा उसके साथ भेदभाव से उसे कष्ट पहुँचाता है।

परिवारजनों द्वारा दिव्यांग व्यक्ति को समाज के समक्ष लाने में अपमान बोध होता है इसलिए उन्हें समाज से परिचित न कराकर दूर ही रखा जाता है। इससे दिव्यांग व्यक्ति का मनोबल टूटता है। कहानी 'उपहार' की विजया के साथ भी ऐसा ही होता है। विक्रम उसकी बहन जया का पति बच्चा न होने के कारण उसकी

सुन्दरता को देखकर विवाह तो कर लेता है पर समाज के समक्ष उसे जया की बहन के नाम से ही परिचित कराता है। ''विजया भी इस बात को जान गई थी कि लोगों के समाने विक्रम उसे अपनी पत्नी नहीं मानता। यह बात उसकी आत्मा तक को आहत करती। अन्ततः उसे अंधेपन की बेबसी का ही अनुभव होता।'' यही बात कहानी 'आदयगी' की लतिका जो अध्यापिका है उसके माध्यम से व्यक्त होती है। नेत्रहीन तथा बदसूरत होने के कारण उसे उसके भाई की शादी में नहीं बहुलाया जाता परन्तु उसकी सारी कमाई से घर बनाते समय पिता को उसकी अमंगलता का अहसास नहीं होता। लतिका सोचती है कि ''पिता को जब कभी पैसों की आवश्यकता हुई तब तो बहुत प्यार से योजनाएँ बता-बताकर सब ले गए। तब तो एक बार भी नहीं कहा कि तुम तो अंधी हो। तुम्हारे कमाये पैसे अमंगलकारी, अशुभकारक हैं, तुम्हे इन्हें अपने अमंगलकर जीवन के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।'' आर्थिक रूप से पूरी मदद दिव्यांग व्यक्ति द्वारा करने के बाद भी उसे स्वीकार नहीं किया जाता। कहानी 'कमाई' में रतन अपने पिता प्रो. साहब (कुंदन) की सारी सम्पति उनसे लेने के बाद पत्नी रिया के किए अनुसार उन्हें अपने भाईयों के घर पर ही रहने के लिए कहता है। प्रो. साहब द्वारा उनकी सारी सम्पति उसके द्वारा ले लेने की बात पर उसका कहना है कि ''कौन-सा पैसा पापा। किसका पैसा।'' इस प्रकार दिव्यांग व्यक्ति का पैसा तो सब ले लेते है पर उन्हें समाज के सामने अपनाने से कतराते हैं। दिव्यांग व्यक्ति सकलांग व्यक्ति के स्वार्थ को भी जानता है पर अपनी लाचारी के कारणवश उसे वह सब करना पड़ता है जो उसे कहा जाता है। 'उपहार' कहानी में विजया की बहन के घर बच्चा न होने पर विक्रम किसी दूसरी लड़की से शादी न कर ले, उसके पिता विजया के न चाहने पर भी उसका विवाह विक्रम से करवा देते हैं ताकि जया का घर बचा रहे। विजया के पिता के इन शब्दों से स्वार्थ पूरी तरह से सामने आता है ''यदि तुम चाहो तो तुम्हारा विवाह विजया से कर सकते हैं। इस तरह हमारी जया का घर बना रहेगा और विजया के भी जीवन का सहारा हो जाएगा।'' जया भी उसे इसी स्वार्थवश अपनी सौतन बनाने के लिए मान जाती है। स्वार्थ पूरा हाते ही दिव्यांग व्यक्ति के साथ दुव्यर्वहार किया जाता है ताकि उससे मुक्ति मिल जाए। 'उपहार' कहानी की जया भी ऐसा ही करती है। विजया के दो बच्चों को जन्म देने के बाद बाथरूम में कंरट लगने पर अपनी जलन तथा ईर्ष्या से उसे बचाने की अपेक्षा उसे मरते हुए देखती रहती है। ''बाथरूम में करंट फैल चुका था विजया तड़प रही थी ...... लॉबी में खड़ी जया सब देख रही थी। पर वह औरत पत्थर हो गई थी। उसने चूँ तक न किया।'' स्वार्थ में अन्धा मनुष्य मनुष्यता से ही गिर जाता है। एक नारी का दूसरी नारी के प्रति ऐसा व्यवहार नारी जाति के लिए घृणा का वायस है। स्वार्थ जब सिर पर सवार हो जाता है तो मनुष्य को यन्त्र मानने लगता है। 'गांठ' कहानी के रोहित को भी घृणावश उसकी भाभी चमनो द्वारा कुँए में धक्का दे दिया जाता है परन्तु लोगों के प्रयास से उसे बचा लिया जाता है। दिव्यांग व्यक्ति के प्रति इस प्रकार का अमानवीय व्यवहार मनुष्य की संकुचित मानसिकता का प्रतीक है। सकंलाग व्यक्ति के इस व्यवहार से दिव्यांग का जीवन कठिन हो जाता है।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दिव्यांग अपने जीवन में कई प्रकार की कठिनाईयों का सामना करते हैं। उन्हें समाज तथा परिवार में सक्षम न मानते हुए उपेक्षित समझा जाना उनमें पीड़ा को उत्पन्न करना है। साहित्य में अन्य विमर्शों के समान दिव्यांग विमर्श भी आवश्यक है। बहुत से साहित्यकार इस विमर्श के प्रति सक्रिय रूप से रचना कर रहे हैं जिनमें लेखिका ने भी अपना योगदान देते हुए समाज के इस वर्ग की भावनाओं से हमें परिचित कराया है। आधुनिक तकनीकी दौर में अनेक प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण दिव्यांग व्यक्ति भी आगे बढ़ रहा है। वे अपने आप को किसी से कम न समझें इसके लिए समाज का पूरा सहयोग उनके प्रति होना आवश्यक है।

सन्दर्भ

1. दिव्यांग विमर्श की अवधारणा एवं स्वरूप, वन्दना पाण्डेय, International Journal of Scientific & Innovative Research Studies, 3rd March, 2018.

२. लिमये संध्या - विकलांगजनों का सामाजिक समावेश: मुद्दे और रणनीतियाँ, योजना (पत्रिका), मई 2016, पृष्ठ 25-26

3. कुसुमलता मलिक, कही अनकही (उपहार), स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृष्ठ-19

4. कुसुमलता मलिक, कमाई, पृष्ठ-54

5. कुसुमलता मलिक, कमाई, पृष्ठ-61

6. कुसुमलता मलिक, अदायगी, पृष्ठ-68

7. कुसुमलता मलिक, अदायगी, पृष्ठ-68

8. कुसुमलता मलिक, गांठ, पृष्ठ-81

9. कुसुमलता मलिक, उपहार, पृष्ठ-38

10. कुसुमलता मलिक, अदायगी, पृष्ठ-73

11. कुसुमलता मलिक, कमाई, पृष्ठ-62

12. कुसुमलता मलिक, उपहार, पृष्ठ-24

13. कुसुमलता मलिक, उपहार, पृष्ठ-40

14. कुसुमलता मलिक, उपहार, पृष्ठ-19

15. कुसुमलता मलिक, कमाई, पृष्ठ-48

सहायक ग्रन्थ

१. शोभा ढाणकीकर, हिन्दी कहानियों में विकलांग विमर्श, परिशोध (पत्रिका), 2019

किन्नर जीवन का सच्चा यथार्थ 'दुनियाँ जीत ली' कहानी के विशेष संदर्भ में

-सनोज पी.आर.
कालिकत विश्वविद्यालय,केरल
मो-9764078553

आज के परिदृश्य में जहां सभी लोगों को समान अधिकार प्राप्त है। चाहें ये अधिकार पुरुषों के लिए, महिलाओं के लिए या फि किन्नरों के लिए। आज सभी धर्म, जाती व लिंग के लोग कुछ भी करने को पूरी तरह से स्वतंत्र है। और अगर आज देखा जाए तो प्रत्येक क्षेत्र में महिलायें पुरुषों के बराबर किसी भी देश के विकास में योगदान दे रही है। परंतु यदि आज के परिदृश्य में हम किन्नरों की बात तो हमें पता चलेगा, यूँ तो सरकार ने किन्नरों को थर्ड-जेंडर के रूप में मान्यता दी है। यद्यपि उनको प्रत्येक क्षेत्र में अपना योगदान देने के लिए कई प्रयास किए हैं। ऐसे कई विधेयक हैं जो सरकार ने केवल किन्नरों के अधिकारों के लिए ही पारित किए हैं, लेकिन यदि आज हम इन परिस्थितियों को देखे तो हमें पता चलता है कि सरकार ने तो अपने प्रयासों से किन्नरों को समाज में समान अधिकारों तो दे दिए है, किन्तु कहीं न कहीं आज का समाज किन्नरों को समाज में पूरी तरह से अपना नहीं पाए है। आज किन्नरों को समाज में जीने के लिए कई समस्याओं व लोगों के उपहासों का सामना करना पड़ता है जो समाज में उनकी मनोस्थिति को तोड़ कर रख देता है।

लेकिन आज के समय में भी यदि दृढ़-निश्चय और कुछ करने की इच्छा हो तो कोई भी इन परिस्थितियों से ऊपर उठ कर दुनिया जीत सकता है।

ऐसे ही वर्तमान परिदृश्य में अपनी अलग पहचानने और समाज में लोगों की सोच को किन्नरों के प्रति परिवर्तित करने के लिए डॉ. संगीता गांधी द्वारा लिखित कहानी ''दुनिया जीत ली'' जो वास्तव में बताती है कि किसी भी विषम परिस्थितियों में यदि कोई व्यक्ति ठान ले तो समाज की सोच से लड़ते हुए कुछ भी हासिल कर सकती है और दुनिया जीत सकती है।

यह कहानी है उर्मि और उसकी बच्ची स्नेहा की है, जिसको एक अच्छा जीवन देने के लिए उर्मि इस समाज से लड़ते हुए और लोगों के उपहासों को सहते अपनी बच्ची को पढ़ाती है और एक शोधकर्ता बनती है जिसका शोध विदेश की पत्रिका में प्रकाशित होना होता है और उसको उस शोध के लिए पुरूस्कार मिलना होता है। जब स्नेहा ने उर्मि को यह बात बताती है तो उर्मि की आँखों पर आँसू आ जाते हैं और वो बाहर जब खेलते हुए बच्चों को देखती है तो अपनी अतीत की यादों में खो जाती है क्योंकि उसकी बेटी स्नेहा ने इन बच्चों की तरह समान जीवन नहीं व्यतीत किया है। उसको याद आती है की पहले समय ऐसा नहीं था, उर्मि जब नई-नई दुल्हन बन कर होने ससुराल आती है तो वह ऋषभ और उसके ससुराल के सभी लोग बहुत खुश होते हैं और समय बीतता चल जाता है और समय के साथ जब उर्मि गर्भवती होती है तो पूरे परिवार में खुशियों की लहर दौड़ जाती है। किंतु समय का किसी को पता नहीं रहता है उर्मि भी आने वाले समय से पूरी तरह अनजान थी की आगे उसके जीवन में कितनी कठिनाइयां आने वाली है, उर्मि जबी बच्चे को जन्म देती है और पूरे परिवार को पता चलता है कि वह किन्नर है तब इस समाज की सोच का पता चलता है जब उसका पति ऋषभ और उसके परिवार वाले उस बच्चे को अपनाने से मना कर देते हैं, जबकि उसके ससुर और उसकी भाभी मानव कल्याण संस्था से जुड़े हुए होते तब भी वें अपनी मानसिकता को परिवर्तित नहीं कर पाते हैं। और समाज के डर से उस बच्चे को अपनाने की हिम्मत नहीं कर पाते हैं। जिससे की उर्मि की जीवन पूरी तरह से बदल जाता है और उर्मि को आभास हुआ की उसको इस समाज और इसकी मानसिकता से भी बहुत लड़ना है क्योंकि समाज में कहीं न कहीं लोग अपनी मानसिकता के कारण इस तथ्य को अभी भी स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। यहां से उर्मि के जीवन में अपने और अपनी बच्ची के अस्तित्व को लेकर संघर्ष शुरू होता है। उर्मि को उसके परिवार से निकाल दिया जाता है वो बिना किसी की मदद लिए अपनी और अपनी बच्ची को लेकर चली जाती है जहां वो एक घर किराये पर लेती है और अपनी बच्ची की देखभाल के लिए एक आया लगा लेती है, परंतु स्त्रियों का जीवन इतनी सरलता से नहीं बीतता है जितना कि सबको प्रतीत होता है, वहां पर उसके मकान मालिक का लड़का गीत उसको स्थितियों के सामने बेबस समझ कर उसको गलत भावनाओं से देखता है लेकिन उर्मि उसका विरोध करती है तो वह उसको धमकाती है की वह सारे समाज में यह बता देता की उसकी बेटी वास्तव में एक किन्नर है। जिसके डर से वह शहर छोड़कर चली जाती है उसे समझ में नहीं आता है वह अपनी बेटी को रेलवे स्टेशन पर ले जाती है पर शायद से कहते है कि जब आप किसी समस्या से लड़ने के दृढ़ होता हैं तो ईश्वर भी आपका साथ देता है। शायद, तभी उसके पास एक भिखारिन आती है जो उसके जीवन में एक आशा की किरण बन के आती है वो स्त्री भी उसी समाज की ठुकराई हुई होती है जिस समाज उर्मि। लेकिन दर्द की भी अपनी एक अलग परिभाषा होती है जो आँखों से समझी

जा सकती है। वो दोनों आपस में अपना दर्द साझा करती है और उर्मि और वो भिखारिन जिसको उर्मि ने काकी मान लिया था वह दोनों एक नए शहर जाते हैं और जीवन को फिर से शुरू करते हैं। उर्मि वहां स्कूल में पढ़ाने लगती है और काकी स्नेहा का ख्याल रखती है और समय बीतने लगता है स्नेहा दस साल की हो जाती है अब समय आ गया था जब स्नेहा को जानना था की वो बाकी बच्चों से अलग है।

जो इस अंश में समझा जा सकता है जब स्नेहा अपने बारे में अपनी काकी से पूछती है-

''काकी, मैं सब बच्चों से अलग हूँ।''

''नहीं, बिटिया ऐसा नहीं है।''

''काकी, मैं दूसरी लड़कियों जैसी नहीं हूँ। मैंने देखा है स्कूल में, बाकी लड़कियों को।'' [१]

स्नेहा की इस बात से काकी मन ही मन डर गई थी। पर उसने स्नेहा को बहला दिया।

उर्मि के आने पर काकी से उसे बताया। उर्मि जानती थी कि ये प्रश्न उसके सामने आयेंगे। अब तक वो बहुत मजबूत हो चुकी थी। उसे पता था कि अब देश ने कानून ने किन्नरों को 'थर्ड जेंडर' के रूप में मान्यता दे दी है। बहुत से किन्नर पढ़ रहे हैं। आगे बढ़ रहे हैं।

उर्मि ने स्नेहा को पास बुलाया। प्यार से गोद में बिठाया। उसका मुँह चूमा। अपनी सारी ममता समेट कर उर्मि ने कहा -

''स्नेहा, तुम आम बच्चों से अलग हो। तुम बहुत स्पेशल हो। इसलिए देखो भगवान जी ने तुम्हें दो मम्मियाँ दी हैं।'' [2]

बेटे संसार में सब बच्चों को सब कुछ नहीं मिलता। तुम्हें भी एक अलग शरीर मिला है। तुम वो सब काम कर सकती हो जो बाकी बच्चे कर सकते हैं।''

परंतु स्नेहा के सामने अभी भी एक सवाल था कि वो ऐसी क्यों है\ जिस पर उर्मि उसको उत्तर देती है और समझाती है -

''स्नेहा, तुम एक सामान्य मनुष्य हो। तुम क्लास में फर्सट् आती हो। खेल में भी जीतती हो। कितना अच्छा डांस भी करती हो। तुममें कोई कमी नहीं। बस तुम्हारा शरीर थोड़ा अलग है। अब देखो काकी के एक हाथ की उंगलियाँ नहीं हैं। तुम्हारी और मेरी है। अब काकी क्या इसे लेकर रोती हैं! न्हीं न। ऐसे मही हमारे पड़ोस में दिनेश अंकल हैं वो बोल नहीं सकते अब सारा काम करते हैं। वो क्या रोते है। कभी नहीं रोते। कोई कितना भी हँसे, मजाक बनाये, बस एक जवाब देना -

''मुझे दुनिया जीतनी है इसलिए मैं ऐसी हूँ।''

और समय बीतता गया और स्नेहा आठवीं क्लास में पहुंच चुकी थी। एक दिन ऐसा आया जब स्नेहा को लेने किन्नर समाज के लोग आते हैं उर्मि को पता था कि एक दिन ऐसा आना है। उर्मि इसका विरोध करती है तभी स्नेहा आती है और किन्नरों के सरदार से कहती है -

''आंटी मैं जानती हूँ आप लोग नाचते, गाते हो। बधाई देते हो। बहुत से किन्नर सिग्नल पर भीख भी मांगते हैं। क्या आप चाहते हो कि मैं यह सब करूँ\ मैं तो दुनिया जीतना चाहती हूँ।''

अगर जीत गई तो सब कहेंगे कि देखो स्नेहा किन्नर कहाँ पहुँच गयी। पर आपके सपोर्ट के बिना ये नहीं होगा।''

किन्नर सरदार घुटनों के बल बैठ गयी। उसने स्नेहा की आँखों में देखा, उसे बहुत से सपने तैरते मिले। किन्नर से स्नेहा को गले लगाकर कहा ''काश हम भी ये सपने देख पाते। जा बच्चे तेरे सपने जरूर पूरे होंगे।''

और इस तरह से स्नेहा अपनी प्रतिभा से दसवीं और बारहवीं में सारे राज्य में प्रथम आती है। जिसके सम्मान के लिए उसको राजधानी बुलाया जाता है, जहां के मुख्य अतिथि उर्मि के ससुर थे, वे उर्मि से बात करना चाहते थे लेकिन उर्मि अपनी बच्ची स्नेहा को लेकर इन सबसे आगे निकल चुकी थी।

तब का दिन और आज का दिन जब उर्मि, स्नेहा और उसकी काकी विदेश में थे जहां स्नेहा को उसके शोध के लिए पुरूस्कार मिलना था, आज उर्मि और काकी स्नेहा को लेकर बहुत खुश थी, और स्नेहा की जुबान पर एक ही शब्द था कि ''उसने दुनिया जीत ली।''

इससे पता चलता है कि आज भी किन्नरों को समाज में अपना स्थान बनाने के लिए कई कठिनाइयों और समाज से परे जाकर अपनी प्रतिभा को साबित करना पड़ता है। जिससे उर्मि और स्नेहा पूरी तरह से वह खरी उतरी थी।

संदर्भ :

१. डॉ. संगीता गांधी दुनिया जीत ली पृष्ठ संख्या 14

2.वही

किन्नरों का इतिहास एवं मिथकः भारतीय साहित्य के विशेष संदर्भ में

-प्रियंका कलिता
गौहाटी विश्वविद्यालय, असम

1. प्रस्तावना :

समाज की मुख्यधारा से बहिष्कृत तथा अपमान, व्यंग्य, घृणा आदि सहन करते हुए अभिशप्त जीवन व्यतीत करने वाले किन्नर समुदाय का इतिहास उतना ही पुराना है जितना पुराना मानव जाति का। 'किन्नर समुदाय' को भारत के वैदिक और पौराणिक साहित्य में 'तृतीय प्रकृति' व 'नपुंसक' जैसे नामों से संबोधित किया गया है। महाभारत काल से लेकर मुगल काल तक इस समुदाय को विशिष्ट स्थान प्राप्त था तथा यौनिक अक्षमता के कारण मध्यकाल में हरमों की सुरक्षा हेतु किन्नरों की नियुक्ति की जाती थी। इसके अतिरिक्त राजाओं के सलाहकार, सूचनाओं के आदान-प्रदान एवं राजनैतिक क्रियाकलापों में उनकी भूमिका देखने को मिलती थी। उसके पश्चात किन्नर समुदाय को हमेशा हाशिए पर रखा गया तथा उनका विभिन्न स्तरों पर दुरुपयोग किया गया।

मिथक के साथ पूर्वधारणा अथवा विश्वास जुड़े हुए हैं, यहाँ तार्किकता का विशेष स्थान नहीं है अर्थात् जिन वस्तुओं, व्यक्तियों एवं स्थानों के संबंध में तर्कपूर्ण प्रमाण उपलब्ध न हों अथवा वर्तमान समय के संदर्भ में उनकी विशेष उपयोगिता न रह गई हो, उन्हें मिथकीय श्रेणी के अंतर्गत रखा जाता है। किन्नर समुदाय के विषय में भारत समेत एशिया तथा अन्य देशों में भी मिथकीय कथाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

2. बीज-शब्द : किन्नर, इतिहास, मिथक, भारतीय साहित्य, मध्यकाल, यौनिकता

3. मुख्य अंश :

यौनिकता के आधार पर इस समुदाय को किन्नर, हिजड़ा, उभयलिंगी, तृतीयपंथी जैसे विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। तृतीय लिंगी को लैंगिक दृष्टि से विकलांग माना जाता है क्योंकि ये संतानोत्पति करने में सक्षम नहीं हैं। विश्व में संभवतया ही कोई देश होगा जहाँ किन्नर समुदाय नहीं पाया जाता होगा। थर्ड जेंडर होने में इनका अपना कोई दोष नहीं है। इसका मुख्य कारण जैविक है। लेखिका नन्दा ने अपनी पुस्तक 'नाइदर मेन नोर वुमेन' जो सन् 1990 ई. प्रकाशित हुई। यहाँ किन्नर की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की गई है –

स्वयं किन्नर भी अपने आपको न तो आदमी और न ही औरत के रूप में स्वीकारते हैं बल्कि उनका मानना है कि महिला-पुरुष द्विधार के बीच में कहीं न कहीं एक जीवन ईश्वर ने बनाया है, जहाँ स्त्रीत्व और पुरुषत्व की गहरी जड़ें सांस्कृतिक निर्माण के द्वारा प्रतिबंधित हैं। अधिकांश हिजड़े शारीरिक रूप से नर होते हैं या अन्तःलिंगी (इंटरसेक्स) किन्तु कुछ मादा (स्त्री) भी होते हैं।

(सिंह और गोंड 2016 : 43-44)

किन्नरों के ऐतिहासिक एवं मिथकीय संबंधी अवधारणाओं पर अगर दृष्टिपात करें तो हमें यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल से ही किन्नर समुदाय की उपस्थिति का प्रमाण उपलब्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण, रामायण, महाभारत, जैन ग्रंथ, बौद्ध ग्रंथ इत्यादि में किन्नर समुदाय का उल्लेख मिलता है। विश्व के किसी भी समाज में मिथकीय कथाएँ विद्यमान हैं। किन्नर समुदाय के संदर्भ में भारत के साथ-साथ अन्य देशों में भी मिथकीय कथाएँ उपलब्ध हैं। इन कथाओं के माध्यम से इस समुदाय के ऐतिहासिक अस्तित्व का संबंध ज्ञात होता है।

प्राचीन काल से ही थर्ड जेंडर का अस्तित्व देखा जा सकता है। इनका इतिहास एवं संस्कृति गौरवशाली रही है। देश के प्राचीन साहित्य में किन्नर को 'तृतीय प्रकृति' अथवा 'नपुंसक मानव' के रूप में सम्बोधित किया गया है। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में लिंग सम्बन्धी ज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। भाषाविद् पाणिनी ने 'अष्टाध्यायी' में 'खिल भाग' के अंतर्गत लिंगानुपात के विषय में चर्चा की है –

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावो नपुंसकम्। (बिश्नोई 2018 : 127)

प्रस्तुत श्लोक में स्त्री-पुरुष एवं नपुंसक के भेद को स्पष्ट किया गया है।

किन्नरों की प्रत्यक्ष उपस्थिति के प्रमाण वाल्मिकी 'रामायण' एवं तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' में मिलते हैं। जिया जाफरी की पुस्तक 'इनविजिबल्स : ए टेल ऑफ यूनक इन इंडिया' (Invisibles : A Tale Of Eunuch of India) में रामकथा के संबंध में एक मिथकीय कथा का उल्लेख इस प्रकार मिलता है, जब श्रीराम वनवास हेतु विदाई के अवसर पर नागरिकों के अनुगमन करने पर अयोध्या के नगरद्वार पर ही उन नागरिकों को रोक दिया गया। तब राम ने समस्त नर-नारी को घर लौट जाने की सलाह दी किन्तु जब राम वनवास से वापस आए तब उन्होंने किन्नरों को प्रतीक्षारत देखकर इसका कारण जानना चाहा। पूछने पर उन लोगों ने उत्तर दिया कि आपने केवल नर एवं नारी को ही वापस

जाने का आदेश दिया था। जबकि हम लोग न तो नर हैं और न ही नारी। किन्नरों की इस भावना से अभिभूत होकर श्रीराम ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा कि तुम्हारे द्वारा दिया हुआ आशीर्वाद मंगलकारी होगा। इस प्रसंग का उल्लेख 'रामचरित मानस' में तुलसीदास कहते हैं –

जथा जोगु करि विनय प्रणामा,
विदा किए तब सानुज रामा।
नारि पुरुष मध्य बडेरे,
सब सनमानि कृपानिधि फेरे ॥ (पोद्दार (टीकाकार) 1956 : 587)

विश्व के बृहत् महाकाव्य 'महाभारत' में भी किन्नरों से संबन्धित कथा का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत से जुड़ी हुई एक मिथकीय कथा इस प्रकार है -उर्वशी का प्रणय निवेदन अस्वीकार करने के कारण अर्जुन को 'वृहन्नला' बनने का श्राप मिला तब उर्वशी ने कहा –

अर्जुन, तुम्हारे पिता इन्द्र के कहने से मैं स्वयं तुम्हारे घर आयी और काम-बाण से घायल हो रही हूँ फिर भी तुम मेरा आदर नहीं करते। अतः तुम्हे स्त्रियों के बीच में सम्मानरहित होकर नर्तक बनकर रहना पड़ेगा। तुम नपुंसक कहलाओगे और तुम्हारा सारा आचार-व्यवहार हिजड़ों के समान ही होगा - (पाठक 2019 :30)

इस प्रकार अर्जुन राजा विराट के दरबार में एक वर्ष तक अज्ञातवास में रहे। वृहन्नला के रूप में रहते हुए अर्जुन ने नृत्य कला का प्रदर्शन भी किया।

महाभारत से संबन्धित दूसरी मिथकीय कथा शिखंडी से जुड़ी हुई है। शिखंडी का जन्म प्रथमतः एक कन्या के रूप में हुआ। बाद में वह पुरुष बन गया। भीष्म पितामह का वध करने हेतु अर्जुन ने शिखंडी को ही ढाल के रूप में प्रयोग किया। क्योंकि भीष्म पितामह का मानना था कि वह किसी नपुंसक से युद्ध नहीं करेंगे और इस कारण उन्होंने अपने शस्त्र नीचे रख दिये।

शिखंडिनं तमासाद्य भरतानं पीतमाहः।
अवर्यतज्ज संग्राम स्त्रीत्वं तस्यसात्रुसंस्मरन्॥

(बिश्नोई 2018 :131)

महाभारत से ही एक अन्य कथा कुरुक्षेत्र के युद्ध से संबन्धित है। युद्ध के दौरान विजय हेतु नरबलि आवश्यक थी। पाण्डव इस युद्ध विजय के लिए नरबलि देना चाहते थे। इसके लिए यह आवश्यक था कि कोई राजकुमार स्वेच्छा से इसके लिए तैयार हो जाए। नरबलि हेतु 'अरावन' या 'इरावन' नामक पात्र सामने आता है । अरावन, अर्जुन तथा नागकन्या उलुपी के प्रेम सम्बन्धों के माध्यम से उत्पन्न हुआ था। महाकालि के चरणों में अपनी बलि हेतु अरावन ने स्वयं को प्रस्तुत करने से पहले एक शर्त रखी कि वह एक रात्रि के लिए विवाह करने के पश्चात ही बलि के लिए जाएगा। ऐसे में कृष्ण ने मोहिनी का रूप धारण करके अर्जुन पुत्र अरावन से विवाह किया। अगले ही दिन अरावन की बलि दी गई।

ऐसा कहा जाता है कि दक्षिण भारत के 'कूवागम-विल्लुपुरम', तमिलनाडु में जो 'अरावन' का मंदिर है, वहाँ प्रत्येक वर्ष हिजड़े, स्त्रैण, कृष्ण रूप में स्वयं को स्थापित करते हुए 'अरावन' से प्रतीकात्मक विवाह रचाते हैं और अगले दिन ही वे 'विधवा' होकर विलाप करते हैं और उन्हें उपालंभ देने का कार्य भी करते हैं। कहना न होगा कि हिजड़े स्वयं में बसे (आदि) पुरुष के रूप में जहाँ अरावन को देखते हैं, वही स्त्रैण कृष्ण उनके भीतर की आधी स्त्री को जीवित रखता है। संभवतः इसलिए उन्हें 'अरावनी' भी कहते हैं।

(सिंह और गोंड 2016 : 53)

जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी किन्नर अथवा हिजड़ा समुदाय के विषय में उल्लेख मिलता है। जैन दर्शन में स्त्री एवं पुरुष के समस्त मनोभावों के साथ-साथ एक तृतीय लिंगी मनोभाव का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है जो नपुंसक के रूप में दृष्टिगोचर होता है। स्त्री एवं पुरुष के सम्मिलित मनोभावों का रूप जैन दर्शन में देखा जा सकता है।

तुर्क साम्राज्य के अन्तःपुर या हरम की देखभाल हेतु किन्नरों को दो भागों में विभक्त किया गया। प्रथम भाग में श्वेत किन्नर, जिन्हें बालकन राज्य से लाया जाता था। जिनका कार्य शासकों की सेवा करना था। द्वितीय भाग में अश्वेत किन्नर आते थे, जो अधिकांशतः अशिक्षित या अल्पशिक्षित होते थे। इन्हें निचले पायदान की नौकरानियों के साथ मिलकर अधिकारियों की सेवा करनी होती थी।

अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में गुजरात अभियान के दौरान एक किन्नर मलिक काफूर का दास के रूप में प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है। अलाउद्दीन खिलजी और उसके विश्वस्त सहयोके गी मलिक काफूर के बीच समलैंगिक सम्बन्धों की पुष्टि करती हुई मोंटना विश्वविद्यालय की प्रो. वनिता एवं रुट की पुस्तक 'सेम सेक्स लव इन इंडिया' (Same Sex Love In India)में उल्लेख है -

सुल्तान खिलजी काफूर की सुंदरता पर फिदा था और उसे खंभात की लड़ाई के बाद बतौर गुलाम खरीदा भी गया था। इससे पता चलता है कि अलाउद्दीन खिलजी के मलिक काफूर के साथ वाकई समलैंगिक संबंध थे। इसी कारण उसको प्रधान सेना नायक भी नियुक्त किया गया। (पाठ 2019 :33)

गुजरात में किन्नरों की आराध्य माँ बहुचरा देवी और अलाउद्दीन खिलजी के संबंध में एक प्रसंग प्राप्त होता है तथा इस प्रसंग का उल्लेख हिन्दी

उपन्यासकार महेंद्र भीष्म ने अपने उपन्यास 'किन्नर कथा' में निम्नलिखित रूप से किया है –

अलाउद्दीन खिलजी की सेना जब माँ बहुचरा देवी के मंदिर को विध्वंस करने पहुंची तब उनके तमाम सैनिकों ने मंदिर की मुर्गियाँ खा लीं। जब देवी के संज्ञान में यह आया, तब उन्होंने इन सारी मुर्गियों को आह्वान कर अपने पास बुलाया। देवी के आह्वान करने से सारी मुर्गियाँ सैनिकों का पेट फाड़कर देवी के समक्ष उपस्थित हुईं। उन सैनिकों के प्राण बच गए जिन्होंने मुर्गियाँ नहीं खाई थीं। वे सारे के सारे जीवित सैनिक देवी के अनुयायी बन गए और देवी की प्रसन्नता के लिए उन्होंने स्त्री वेश धारण कर लिया। माँ बहुचरा देवी ने उन्हें हिजड़ा रूप प्रदान कर सभी को अपनी सेवा में लगा लिया। -(भीष्म 2019 : 93)

मध्यकाल के अंतर्गत मुगल साम्राज्य में किन्नरों को विशेष महत्व दिया जाता था। मुगल काल के दौरान अकबर के समय में किन्नरों का स्वर्ण युग माना जाता है। अकबर प्रथम मुगल शासक था जिसने किन्नरों को अपने शासन एवं महल में दायित्व सौंपे। अकबर ने सर्वप्रथम किन्नरों को महिलाओं की सुरक्षा हेतु 'हरम' की रक्षा का दायित्व सौंपा। किन्नरों को गुप्तचर, संदेशवाहक एवं सेना में भी नियुक्त किया जाता था। अतः यह कहा जा सकता है कि मुगल काल के दौरान किन्नर समुदाय ने महत्वपूर्ण भूमिकाओं का निर्वहन किया। औरंगजेब ने अपने पिता शाँहजहाँ को उद्विग्न करने के लिए एक किन्नर का उपयोग किया था।

मुगल शासन के पतन के पश्चात अंग्रेजी शासन के दौरान किन्नर समुदाय की स्थिति शोचनीय हो गयी थी। जहाँ मुगल शासक उन्हें महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करते थे, वहीं अंग्रेज शासकों ने उन्हें अपराधी घोषित कर दिया। सन् 1871 ई. से पूर्व किन्नरों को विभिन्न प्रकार के अधिकार प्राप्त हुए किन्तु सन् 1871 ई. के पश्चात उन्हें 'क्रिमिनल ट्राइब्स' अर्थात् 'जरायम पेशा कानून' के तहत जनजाति श्रेणी के अंतर्गत रखा गया। 'भारतीय साहित्य एवं समाज में तृतीय लिंगी विमर्श' नामक पुस्तक में इस प्रकार उल्लेख है -

ब्रिटिश भारत में 18 वीं शताब्दी में हिजड़ों ने स्वतंत्रता आंदोलन में भी अपनी सक्रिय भूमिका निभाई थी। अंततः ब्रिटिश सरकार ने इन पर नियंत्रण के लिए 'अपराधी जनजाति अधिनियम 1871' पारित करके पूरे समुदाय को ही अपराधी और एडिक्टेड घोषित कर दिया, जो कि भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दमन के तरीकों में से एक था। आजादी के बाद 'अगस्त 1949' में इस कानून को निरस्त कर दिया गया। (सिंह और गोंड 2016 :51)

वैश्विक स्तर पर उनकी स्थिति की यदि चर्चा की जाए तो यह देखा जायेगा कि प्राचीन रोम तथा चीन में प्रशासनिक पदों पर किन्नरों के आसीन होने के प्रसंग प्राप्त होते हैं। रोम के 'जूलियस सीजर', इजिप्ट की रानी 'क्लियोपैट्रा' तथा इथोपिया के साम्राज्यों ने अपने दैनिक कार्य हेतु विश्वासपात्र किन्नरों को नियुक्त किया था। रोम सम्राट 'कॉन्सेटेंटाइन' ने सेवा हेतु दर्जनों की संख्या में किन्नर रखे थे। बाइजेन्टाइन शाही अदालत में प्रशासनिक एवं घरेलू कार्य के लिए अधिक संख्या में किन्नर कार्यरत थे।

4.निष्कर्ष :

अंततः यह कहा जा सकता है कि पौराणिक एवं ऐतिहासिक प्रसंगों का सूक्ष्मता के साथ अवलोकन करने के पश्चात यह ज्ञात होता है कि वर्तमान समय में किन्नर समुदाय को उपेक्षित एवं हेय दृष्टि से देखा जाता है किन्तु उनका इतिहास समृद्ध है। किन्नर समाज को प्राचीन काल में शिष्ट एवं उच्च वर्ग के साथ देखा जाता था। औपनिवेशिक काल में किन्नरों की दशा क्रमशः अवनति के पथ पर अग्रसरित होती चली गयी। स्वतंत्रता के पश्चात कुछ किन्नर कार्यकर्ताओं तथा पश्चिम के विभिन्न गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा 'न स्त्री न ही पुरुष' अपितु एक तीसरे लिंग के रूप में अधिकार दिये जाने का प्रयत्न किया गया। अतः इस प्रकार उनकी स्थिति में धीरे-धीरे परिवर्तन आ रहा है, क्योंकि उन्हें तृतीय लिंग के रूप में विभिन्न प्रकार के संवैधानिक अधिकार प्राप्त हो चुके हैं।

संदर्भ-

1.पाठक,विनय कुमार, किन्नर-विमर्श दिशा और दशा. प्रथम. दिल्ली : भावना प्रकाशन, 2019.

2.पौदार, हनुमानप्रासाद,टीकाकार. श्री रामचरितमानस.नवम. गौरखपुर : गीताप्रेस, 1956.

3.बिश्नोई, मिलन, सम्पा. किन्नर विमर्श साहित्य और समाज. प्रथम. कानपुर : विद्या प्रकाशन, 2018.

4.भीष्म, महेंद्र, किन्नर कथा. दिल्ली : सामयिक प्रकाशन, 2019.

5.सिंह,रवि कुमार गोंड और विजेंद्र प्रताप, सम्पा. भारतीय साहित्य एवं समाज में तृतीय लिंगी विमर्श. प्रथम. कानपुर : अमन प्रकाशन, 2016.

हिन्दी उपन्यासों में तृतीय प्रकृति की अस्मिता

-डॉ.निम्मी ए.ए.
सहायक आचार्य,
हिन्दी विभाग,सरकारी महिला महाविद्यालय,
त्रिवेंद्रम,केरल,695014 मो.9747864786

शोध सार:

हिंदी साहित्य में तृतीय प्रकृति की अस्मिता का विकास सामान्यतः कथा-साहित्य में ज़्यादातर देखा जा सकता है। मुख्यधारा समाज से खारिज कर दिए जाने की वजह गुमनाम जीवन व्यतीत करने केलिए अभिशप्त इस समुदाय की संरचना काफी जटिल है। द्विलिंगी सामाजिक व्यवस्था में इनके प्रति सामाजिक स्वीकृति का नितांत अभाव है। हिंदी साहित्य इस समुदाय के मसलों को विभिन्न साहित्यिक विधाओं, खासकर उपन्यास को केंद्र में लेकर बहस-मुबाहिसे की दिशा में प्रयासरत है। यह शोध आलेख नीना शर्मा हरेश का 'मेरे हिस्से की धूप', महेंद्र भीष्म का 'मैं पायल...' और मोनिका देवी का 'अस्तित्व की तलाश में सिमरन' पर केन्द्रित है।

बीज शब्द: अस्मिता, अस्मितामूलक विमर्श, विमर्श, लैंगिक विकलांगता, उभयलिंगी, हिजड़ा, किन्नर, तृतीय प्रकृति, जनन–ग्रंथि, प्रकृति के क्रूर मज़ाक, तीसरी दुनिया, सामाजिक पहचान।

शोध विस्तार:

'आदर्श हिंदी शब्दकोश' में 'अस्मिता' शब्द के लिए आत्मश्लाघा, अहंकार मोह आदि अर्थ दिए गए हैं। 'अस्मि' शब्द अस+मिन से बना है। 'अस्मि' अर्थात 'मैं हूँ'। अस्मि की भाववाचक संज्ञा 'अस्मिता' है। इस शब्द से स्वत्व का बोध होता है। राजेंद्र यादव जी के लफ़्ज़ों में ' 'अस्मिता' जितनी मेरी है, उतनी ही मेरे परिवेश और परंपरा की भी। उसमें वर्ग, वर्ण, क्षेत्र, धर्म लिंग, परंपराएँ सभी कुछ घुसे और घुले-मिले हुए हैं। अस्मिता अपनी निजी पहचान के साथ-साथ उस क्षेत्र और समाज के पहचान की भी है जो हमारे संदर्भ तय करते हैं। ये संदर्भ जाति, रंग, वर्ग, नस्ल, क्षेत्र, भाषा, जेंडर, पेशे इत्यादि के रूप में हमारे अंतरंग (साइकी) के हिस्से हैं।' अस्मिता शब्द निजत्व का परिचय करवाने के साथ जीवन के दूसरे पहलुओं से भी हमारा साझा करवाता है, समय के अनुसार उसका रूप परिवर्तित होता रहता है। दरअसल मानव अपनी अस्मिता को प्राप्त करने एवं उसे बरकरार रखने हेतु आजीवन संघर्षरत रहता है। लिहाज़ा मशहूर आलोचक नामवर सिंह के अनुसार – 'अस्मिता दया नहीं चाहती है। अस्मिता हक चाहती है।' खासकर २१ वीं सदी के इस उत्तराधुनिक दौर में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अस्मिता के लिए किसी न किसी रूप से संघर्ष करना ही पड़ रहा है। अतः फिलहाल विचारधारा और चिन्तन में आए बदलावों ने कई प्रकार की अस्मिताओं को जन्म दिया, मसलन - स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, विकलांग या दिव्यांग, प्रवासी, पुरुष, मुस्लिम, बाल, वृद्ध, किसान, पारिस्थितिक, थर्ड जेंडर, क्वीर, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक इत्यादि।

ये वाकई प्रकृति के क्रूर मज़ाक का पात्र है, जो माता-पिता के क्रोमोसोंस के असंतुलन से पैदा होते है। हालाँकि संख्या में बहुत कम होते हैं। जीवविज्ञान में इन्हें 'हेर्माफ्रोडाइट्स' पुकारा जाता हैं। जो दो तरह के होते है - ट्रू हेर्माफ्रोडाइट्स और स्यूडो हेर्माफ्रोडाइट्स। ट्रू हेर्माफ्रोडाइट्स के बाहर के लैंगिक अवयव अविकसित होते है, मगर अंदर दोनों अवयव होते है। चौदह-पंद्रह साल में स्त्री तथा पुरुष के लक्षण एक साथ उनमें दिखाई देने लगते हैं। उसी समय वे बिलकुल अपने को असुरक्षित महसूस करते हैं। और वे अपने ही परिवार से अलग होकर गुमनाम बस्ती में जाने केलिए विवश होते हैं, जहां कोई उसका उपहास मज़ाक न उठा सके। स्यूडो हेर्माफ्रोडाइट्स के बाहर के अवयव स्त्री का या पुरुष का होता है जो भी हो स्पष्ट होता है। मगर भीतर से उसके उल्टा ही होगा। यानी कि बाहर यदि पुरुष का है तो अंदर स्त्री योनी होती है, या अंदर पुरुष का हो तो बाहर स्त्री योनी होगा। लिंग परिवर्तन से शायद इनकी विकरालता की समस्या को बदला जा सकता है। बहरहाल गर्भावस्था में हॉरमोन के बदलाव होने से ही, हॉरमोन सूत्रों के असुंतलन से या प्रकृति के क्रूर मज़ाक से ही ऐसे बच्चे पैदा होते हैं। अतः जनन–ग्रंथि की विभिन्नता हेतु लैंगिक विकलांगता का शिकार होते हैं। जिसमें उनका या माँ-बाप का कोई दोष नहीं है। लेकिन हमारा सभ्य समाज इन्हें पशु का दर्जा भी नहीं देते। दरअसल तीसरी दुनिया की हक़ीक़त है कि लगातार वे अपनी अस्मिता केलिए संघर्ष कर रहे हैं, जिसकी संघर्ष गाथा को उभारने की सराहनीय कोशिश समकालीन हिन्दी उपन्यासों में पर्याप्त मात्रा में हुई हैं। बहरहाल समाज की नज़रिया किन्नरों के प्रति हिराकत की है हालाँकि हिन्दी साहित्य में खासकर उपन्यास में इन्हें मुख्य धारा की ओर लाने की सराहनीय पहल फिलहाल जारी है।

लिहाज़ा नीना शर्मा 'हरेश' का 'मेरे हिस्से की धूप' महेंद्र भीष्म का 'मैं पायल' तथा मोनिका देवी का 'अस्तित्व की तलाश में सिमरन' सरीखे उपन्यास इस तरह के जीवन संघर्ष को हमारे समक्ष उजागर करते हैं, जिन्हें समाज एवं परिवार मनुष्य की गणना तक नहीं देते। इन उपन्यासों के तृतीय प्रकृति के पात्र एक ओर मनुष्य के अंदरूनी संसार की कशमकश और आत्मबल, दूसरी और निर्मम दुनिया में जीने - अस्तित्व की रक्षा, पहचान की स्वीकृति के लिए लगातार संघर्ष करते हैं।

सन् २०२० में प्रकाशित नीना शर्मा 'हरेश' का उपन्यास 'मेरे हिस्से

की धूप' हिजड़ों की अस्मिता को दर्ज करता है। उपन्यास के केंद्र मोनी है, जिसकी अस्मिता संघर्ष की अनान्तिम दास्तां है। मोतीलाल और पुष्पा की पहली संतान के रूप में मोनी का जन्म स्त्री योनी से हुआ था। उसकी निस्संदान मौसी शालिनी ने उसका नाम चंद्रिका रखा था। चूंकि वह चंद्रमा जैसी थी। मौसी उसे लाड़-प्यार से 'मून' पुकारने लगी तो पुष्पा ने मोनी रखा। इस तरह वह सबकेलिए मोनी बन गयी। नवीं साल में मोनी के शरीर में थोड़ा बदलाव देखकर मौसी, डॉ. शुभांगी से मिलती है। मोनी के हर्मोनल टेस्ट करवाती है। 'देखिए वो भगवान की तीसरी दुनियाँ है'।[3] बच्ची को 'किन्नर' पाकर जब पुष्पा चीख उठती है तब शालिनी पुष्पा को दिलासा देती है और मोनी को अपनी बेटी मानकर हमेशा उसका ध्यान रखती है।

लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी के परिवार वालों के बतौर मोनी के घर वालों ने उसे कभी भी हिजड़ा होने के नाते दुखाया नहीं। बल्कि उसे पढ़ाया और आत्मनिर्भर होने में मदद किया। उसने स्कूल में अध्यापिका की नौकरी हासिल किया। इसके बावजूद समाज की मानसिकता और स्वयं की वृत्ति मोनी को कटघरे में खड़ा कर देती है। प्रस्तुत उपन्यास में मोनी की संवेदना को बेहतरीन ढंग से बयाँ किया गया है। हालाँकि उसके हिस्से की धूप या उसके हिस्से की खुशियाँ दिलाने की कोशिश में उसके माता-पिता को दुःख ही दुःख झेलने पड़ते हैं। छोटी बहन हर्षिता का रिश्ता बारंबार टूट जाने की वजह वह उसका आरोप मोनी पर लगाती है – 'नहीं आएगा जब तक आप हो – कभी नहीं आएगा – आएगा तो बस नो नो – बिकॉस ऑफ यू'।[4] मोनी के हिजड़ा होने के कारण उसके काका व्यवसाय से अलग होकर, पहले ही सपरिवार राज्य छोड़कर चला गया था। हालाँकि अब बहन के शब्द वह बर्दाशत नहीं कर सकी। वह पीड़ा मोनी के दिल को एक क्षण कमज़ोर बनाता है और वह माँ-बाप से बिना कुछ कहे किन्नरों की मंडली में चली जाती है, ताकि उसके परिवारवाले चैन से जिये। किन्नरों के झुंड में घुसने के बाद उसका चैन हमेशा केलिए नष्ट होता है। वहाँ की गंदगी, तंबाकू, पान आदि की बदबू उसे असहनीय लगता है। और ऊपर से बबली का खुलासा – 'जब पैसे नहीं मिलते तो इस अधूरे शरीर को भी बेचना पड़ता है मात्र पचास रुपये में'।[5] उस अंधेरी दुनिया की सच्चाई सुनकर वह बेहाल हो जाती है। बबली उसे वहाँ से भाग वापिस घर जाने की सलाह देते है, चूंकि उसे पता था कि वक्त की मार ने हिजड़ों में किसी को क्रूर बना दिया है तो किसी को पत्थर। नीना जी ने बबली के ज़रिए बहुत से सवाल दर्ज किये है जोकि प्रत्येक हिजड़ों के ज्वलंद सवाल है – 'इस समाज में कपूत बेटे केलिए परिवार में जगह है, नाकारा बेटी कीलिए जगह है, लेकिन हिजड़े केलिए कोई जगह नही है'।[6]

एक सच्चे मित्र के रूप में साजिद मोनी का सहारा देता हुआ मिलता है। जब-कभी मोनी बिखरती-टूटती है तब साजिद उसकी दिशा और मनोबल बढ़ाकर, उसे उसकी अस्मिता और फर्ज़ से वाकिफ़ करता है – 'देखो मोनी इसी सत्य के साथ तुमको जीना है'।[7] हालाँकि साजिद की पत्नी सायरा और माँ सकीना को उनके यह रिश्ता पसंद न होने की वजह मोनी सदैव दूर से ही साजिद से सलाह लेती नज़र आती है। वह साजिद का घर भी तोड़ना नहीं चाहती थी। लिहाजा मोनी उसे कहती थी 'नहीं साजिद छोड़कर नहीं जा रही- बस अपने पापा का सपना मुझे बुला रहा है। मुझे वह सपना इस हाथ में देने के लिए तुम्हारा धन्यवाद। – हाँ तुम्हारी ताकत की ज़रूरत तो मुझे होगी ही। कुछ सवालों के जवाब मुझे भी तलाशने हैं। और जब तक उन सवालों के जवाब मुझे न मिल पाए तब तक शायद मैं – यहाँ न आ सकूँ'।[8]

आखिर में जब बबली भी वहाँ से भागकर मोनी से मिलती है हालाँकि तब तक वह ऐड्स से पीड़ित व बेहाल थी। बबली की मृत्यु के दरमियान मोनी उसकी ख़्वाहिश को पूरा करने के लिए बेचैन हो उठती है - कौन रखेगा हमें? यहाँ अनाथ आश्रम है, वृद्धाश्रम है, लेकिन हिजड़ा आश्रम नहीं है'।[9] आखिरकार 'वह मोनी तो बन गयी। लेकिन अब मोतीलाल बनना चाहती थी। 'मुझे मेरे हिस्से की धूप तो मिल गयी लेकिन कितनी बबली हैं जिनके हिस्से की धूप बाकी है'।[10]

प्रस्तुत उपन्यास मोनी के हिस्से की धूप, उसके अधिकारों, सम्मानों की, उसकी पीड़ा की कहानी मात्र न बनकर, उसके जैसे तमाम वर्ग के हिस्से की धूप के लिए हमें सोचने,समझने और विचारने को मजबूर करता है; बाध्य करता है। तथा समाज में हिजड़ों को स्वाभिमान के साथ जीने की दिशा देता है। मोनी अपनी अस्मिता स्वाभिमान के साथ अपने पिता मोतीलाल का व्यवसाय पुत्र की भाँति चलाती है। साथ ही साथ मानवतावादी सोच को अपनाते हुए बबली के कथन को साकार करने को प्रयासरत दिखाई पड़ती है। लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी की तरह, पायल की तरह, सिमरन की तरह स्वयं के लिए ही नहीं, दूसरे के लिए जीती है।

किन्नर गुरु पायल सिंह के जीवन संघर्ष को केंद्र में रखकर लिखा गया जीवनीपरक उपन्यास है - 'मैं पायल'। इसके प्रणेता महेंद्र भीष्म के लफ़्ज़ों में 'मैं पायल' मेरा जीवनीपरक उपन्यास है, जो किन्नर गुरु पायल सिंह के जीवन-संघर्षों पर आधारित है। जीवनीपरक उपन्यास लिखने की अपेक्षा जीवनी लिखना या फिर उपन्यास लिखना सरल होता है। जीवनीपरक उपन्यास में औपन्यासिक कथा प्रवाह बनाए रखते हुए किसी लक्ष्य तक पहुँचना आवश्यक होता है'।[11] अतः एक सच्चे जीवनीपरक उपन्यास के बतौर इसमें पायल उर्फ पायल सिंह के चरित्र को पूर्णतः उजागर करने की कोशिश महेंद्र भीष्म के द्वारा हुई है, जोकि पायल की जोखिम भरी ज़िन्दगी केलिए जीवंत दस्तावेज़ है।

बहादुर सिंह के खानदान में पांचवीं संतान के रूप में (जुगनी) पायल का जन्म हुआ था। यानी कि राकेश, कमलेश, आशा और गीता के बाद एक लैंगिक विकृति से ग्रस्त उसका जन्म हिजड़े के रूप में हुआ था। उसके पिता क्षत्रिय परिवार में हिजड़े के जन्म से काफी क्रुद्ध थे, मानो यह सब पायल की वजह से हुआ है। 'ये जुगनी! हम क्षत्रिय वंश में कलंक पैदा हुई, साली हिजड़ा है.......।'[12] बहरहाल उसके पिता सर्वदा उसे लड़कों के कपड़े पहनने केलिए बाध्य करता। मगर सच्चाई तो यह थी कि जुगनी का मन हमेशा स्त्रियोजित बनी बनावट में रहा। उसकी माँ तथा बहिनें उसे बेहद चाहती

थी पर पिता उसकी ज़िन्दगी में खलनायक का रूप अख्तियार करता है - 'कान खोलकर सुन ले कमलेश की अम्मा, अगली बार जब मैं आऊँ और यह साला हिजड़ा लड़की के कपड़े पहने मिला और घर के बाहर निकला, तो मैं अपने ही हाथों से इस साले का खून कर दूँगा'।[13] लेकिन एक बार जब पिता की गैर हाज़िरी में जुगनी की बहनें उसे राजकुमारी के बतौर साज- श्रृंगार कर देतीं हैं, तब पिता एकाएक आकर यह देखते है और अपने आपे से बाहर हो जाते है। वह उसके कपड़े उतार देते है तथा उसे कुत्तों के बतौर मारते है -'वहीं रखी चमड़े की चप्पल को टब में भरे पानी में डूबा-डुबाकर मेरे नग्न शरीर की चमड़ी उधेड़ने में लगे रहे जब तक कि मैं बेहोश नहीं हो गई'।[14] इस निर्मम हादसे के पश्चात उसे घर में बंद किया जाता है, मगर वह किसी-न-किसी प्रकार वहां से आत्माहुती करने केलिए निकल पड़ती है। लेकिन कुँए में कूदकर या ट्रेन के नीचे कटकर मरने का साहस वह नहीं जुड़ पाती। आखिरकार घर से विस्थापित ट्रेन में चढ़कर अपने अस्तित्व को बरकरार रखने की हविश में वह एक ऐसी ही दर्दनाक ज़िन्दगी की यात्रा शुरू करने केलिए बाध्य होती है, जो प्रत्येक हिजड़ों की ज़िंदगी की हकीकत है। उसे नहीं पता था कि अपनों से बिछुड़के वह ऐसे असभ्य समाज की चपेट में खूंखार बेड़ियों के बीचों-बीच निकल पड़ी है। उस मासूम नाबालिग की यही नियति थी, जिससे वह निहायत नावाक़िफ़ थी। प्रत्येक किन्नर बचपन से ही यौन शोषण का शिकार बनती हैं, पायल हो या सिमरन इसकेलिए अपवाद नहीं। चलती हुई ट्रेन में एक वृद्ध द्वारा, सिपाही, प्रमोद व गुंडा पप्पू सब उसके जिस्म से छेड़छाड़ करने की कोशिश करते हुए दिखाई देते हैं।

उम्र बढ़ने के साथ जुगनी अपनी देह सुरक्षा हेतु लड़के के बतौर पेश आने की कोशिश करती हैं। और अपनी आजीविका चलाने हेतु कानपूर में सिनेमा टॉकीज़ के रेस्तरां में बैरे, पूनम टॉकीज़ में गेट कीपर, प्रोजेक्टर चलाने के क्रम में दिखाई पड़ती है। लेकिन वह अपने शरीर के साथ समझौता हरगिज़ नहीं कर पाती -'मेरे किन्नर शरीर में आत्मा तो पूरी तरह एक स्त्री की वास करती है, जिसे पुरुष ही पसंद आता है, स्त्री नहीं'।[15] अपनी अस्मिता को बचाने की खातिर वह स्त्रियों की पोशाक में लखनऊ चली जाती है। वहां स्टेशन के करीब एक मंदिर के परिसर में कीर्तन मंडली के सदस्यों के कहने पर वह खूब नाचती है। मगर नाच के दरमियान तो तीन हिजड़े उसे ज़बरदस्त गुरमाई के पास ले जाती हैं। यानी कि तृतीय प्रकृति के समुदाय में। वहाँ से बचने की उसने बेहद कोशिश की, आखिर में बच जाती भी है तथा अपने पैरों पर खड़े होकर तमाम किन्नरों की खुशहाली केलिए अश्रांत परिश्रम करती है।

उपन्यास में पायल हिजड़ों की परंपरागत जीवन शैली तथा करतूतों के बरक्स आक्रोश करती है - 'मैं एक किन्नर हूँ, तो क्या किन्नर होना अपराध है, जो उसे उसके स्वभाव के विपरीत कार्य करने केलिए विवश किया जा रहा है। क्या एक किन्नर को बधाई टोली के अलावा अन्य कार्य-दायित्व नहीं सौंपे जा सकते? ....फिर मुझे क्यों बाध्य किया जा रहा है कि मैं इनकी तरह ताली पीटूँ, ढोलक बजाऊं नाचूँ और बधाई गाऊँ'।[16] अंततोगत्वा वह गुरमाई की टोली से भागकर किन्नर गुरु पायल सिंह बन जाती है। फिलहाल वह पायल फाउंडेशन चलाती है, जोकि तमाम हिजड़ों की मंगलमय जीवन केलिए कार्यरत है। बहरहाल उपन्यास में हिजड़ों का जीवन संघर्ष पूर्णतः दर्ज हुआ है।

हिजड़ों की दर्दभरी अनछुए पहलुओं को गहराई से उजागार करने की सराहनीय कोशिश मोनिका देवी ने की है, 'अस्तित्व की तलाश में सिमरन' के ज़रिए। उपन्यास का केंद्र पात्र शत्रोहन उर्फ सिमरन पायल की तरह घरवालों से प्रताड़ित दिखाई पड़ती है। समाज में सर्वत्र इनका शारिरिक व मानसिक शोषण, तिरस्कार व अवमूल्यन होता है। इसकी लेखिका मोनिका देवी ने उपन्यास की भूमिका में दर्ज किया है - 'इस जीवनीपरक उपन्यास को लिखने का मेरा उद्देश्य यह भी है कि लोगों को किन्नर की ज़िंदगी का सच पता चल सके। हमारा समाज यह समझता है कि इनका जीवन बहुत आरामदायक है। उनको भी इस बात का ज्ञान होगा कि ये लोग कितने आनंद से अपना जीवनयापन करते हैं। हर वक्त अपनों से दूरी का गम, त्यौहारों में अकेलापन यही इनके जीवन का आधार बन जाता है'।[17] सिमरन का जन्म बिहार के मधुबनी जिला ग्राम सुगौना में एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। उसके पिता एक दवाई कंपनी में मशीन ऑपरेटर के पद पर कार्यरत था। और मां घर में सिलाई का काम करती थी। सिमरन पहली संतान थी और उसके पांच बहन - भाई थे। उसके नानाजी ने उसका नाम शत्रोहन (शत्रु का विनाश करने वाला) रखा था। दो साल की उम्र में उसका पूरा परिवार महाराष्ट्र ठाणे आ गए थे। उसकी ज़िन्दगी खुशी से चूम रही थी। सिमरन अपनी कहानी याद करती है - 'जब मैं पैदा हुई थी तब साधारण बच्चे की तरह थी। न तो मुझे मेरे लिंग का पता था ना ही धर्म का। उस वक़्त मैं सिर्फ एक सामान्य बालक थी जो स्नेह व प्यार की मूर्ति थी। मेरा लालन-पालन बड़े प्यार से किया गया था'।[18]

लेकिन उम्र के बढ़ते सिमरन लड़कियों वाली बातों में दिलचस्पी प्रकट करने लगी। जैसे रंगोली बनाना, खाना पकाना, नाचना-गाना, मेहंदी लगाना, बाल बढ़ाना, नेल पेंट लगाना और लड़कियों की तरह रहना। पाठशाला में लड़के उसके साथ ख़ूब छेड़छाड़ करते थे और लडक़ी कहकर उसका मज़ाक उठाते थे - 'मैं पैंट की जेब में हाथ डालकर चलती तो तब भी लोग मुझे चिढ़ाते। कभी मुड़ कहते, कभी बाईल, कभी मामू, कभी छक्का कहते'।[19] लेकिन उसकी जिंदगी में आये इस परिवर्तन को समझने और आत्मसात करने केलिए कोई तैयार नही था। यहाँ तक कि उसके जन्म दाता भी - 'मैं यह समझ नहीं पा रही थी। मेरे साथ....क्या हो रहा था? पापा सुनना नहीं चाहते थे, मां समझना नहीं चाहती। ऐसे मेरे हालात थे कि क्या करूं? रोऊँ भी तो कितना?'[20]

धीरे-धीरे मां-बाप का सलूक उसे असहनीय लगा। रोज़ मारपीट, गाली, पिता की दूकान में लड़कों व मर्दों द्वारा शारिरिक उत्पीड़न। मगर मेरा क्या बीति 'मैं पुरुष लिंग मैं

पैदा हुई थी'। मैं अपने को लड़की मानती थी'।[21] घर की जर्जर अर्थव्यवस्था के मारे उसकी माँ उसे देह व्यापार करने तक मजबूर करती है। आखिर एक हिजड़े को कौन काम देगा? सिमरन अपने अस्तित्व को खोता हुआ असहाय ज़िन्दगी जीने केलिए विवश होती है। घर केलिए सबकुछ करने पर भी वह कंगाल ही थी, उसके पास ढकने के कपड़े तक नहीं थे 'सारे पैसे भी-बहनों के खर्च हो जाते। कभी पाप की दवाई, कभी राशन। मेरेलिए कुछ भी नहीं बचता था। मैं दूसरों से माँगकर कपड़े पहनती थी'।[22]

आहिस्ता-आहिस्ता सिमरन के शरीर में बदलाव आने लगे। पुरुष मित्र केलिए उसका मन व्याकुल रहा। वह अपनी इज़्ज़त की ज़िंदगी जीना पसंद करती थी। ऐसे में किन्नर समाज से उसका मेल-जोल होने लगा। लिहाज़ा समलैगिंक और हिजडों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करने वाले 'हमसफर' ट्रस्ट से वह जुडने लगी। साथ ही 'उजेफ़ा' नाम की संस्था के अधीन कार्य करने का अवसर भी उसे प्राप्त हुआ। पर जब वह काम छूट गया तब उसे घर से निकाल दिया गया - 'प्यार सिर्फ दिखावा है। मेरे आँसुओं की उनके लिए कोई कीमत नहीं। घर से निकाल दी गयी'। अपने घर वालों से मिले दुत्कार के बदले वह हमेशा प्यार व मेहनत के पैसे सँजोकर रखती थी। अपनी छोटी बहनों के प्रति उसका मन हमेशा तरसता था। आखिर सिमरन अपने अस्तित्व की तलाश में अपनी ही कम्यूनिटी की चंपा गुरु के शरण में जाती है। मगर वहाँ भी उसे चैन की ज़िंदगी नहीं मिलती। गुरु उसे अपने घर जाने से मना कर देता था इसके बदौलत ट्रेन में भीख मांगने केलिए मजबूर करता था।

किन्नरों को जन्म देकर, मां-बाप ही भूल जाते हैं। अपना घर और शहर छोड़ने हेतु मानसिक यातनाएँ दी जाती है। हिजड़े को एक हिजड़े के रूप में पैदा होना ही बड़ी दर्दनाक बात है। सिमरन जब आठ-नौ साल की रही तब पड़ोसी उसके साथ मनमानी कर लेते है। जब वह इसका विरोध करती है तो उसका अपना परिवार ही बात को दबाने की कोशिश करते हैं। कैसी विडंबना है? -'क्या वजह थी माँ-बाप ने आवाज़ तक नहीं उठाई। क्या मैं और बच्चों के जैसे नहीं थी? भगवान ने मेरा शरीर पूर्ण रूप में नहीं बनाया? क्या यही वजह थी? आखिर कारण कुछ भी रहा हो दर्द तकलीफ तो मुझे ही सहनी पड़ी '।[24] हिजड़ों को कैसे-कैसे हालात का सामना करना पड़ता है। बचपन से ही लोग उनके यौन शोषण करते हैं। सिमरन की खुलासा है - 'वह बच्चा जिसको यह तक ज्ञात नहीं होता कि वह क्या है? मासूमियत में लिपटा है फिर भी समाज उसको हैवानियत भरी नज़र से देखता है। असहनीय दर्द, पीड़ा से उसको गुज़रना पड़ता हैं'।[25] आख़िरखार सिमरन तमाम हिजडों पर होनेवाली हैवानियत के बरक्स इन शब्दों में प्रतिरोध दर्ज करती है - 'हिजड़े से हिजड़े पैदा नहीं होता। यह सभ्य समाज की देन है। हम स्त्री और पुरुष से ही पैदा होते हैं। बस वह हमको अपना नहीं पाते त्याग देते हैं। ऐसा क्यूँ?'[26]

इस क्यूँ का जवाब वह पाठकों पर छोड़ती है। बहरहाल तमाम किन्नर उस सभ्य कहने वाले समाज से यही बिनती करती हैं - 'हमें किन्नर नहीं, इंसान समझा जाए। बस इतनी-सी माँग है उनकी, वे समाज की मुख्यधारा से जुड़ना चाहते हैं। वे समाज में स्वयं की हिस्सेदारी चाहते हैं। देश के विकास में अपना योगदान सुनिश्चित करना चाहते हैं। ज़रूरत है उनकी बुनियादी आवश्यकताओं को समझने की'।[27]

निष्कर्षतः अमुक रचनायें समाज में तृतीय प्रकृति के जीवन संघर्ष को बयान करने के साथ ही उनकी अस्मिता को बरकरार रखने की सरहनीय पहल करती हैं।

संदर्भ

1. हंस, जून २००९, पृ – ९
2. समीक्षा (संपादक) २००६, पृ - २९२
3. ६७
4. हरेश, नीना शर्मा, अपनी हिस्से की धूप, माया प्रकाशन, २०२०, पृ - १९
5. ३०
6. वहीं, पृ - २९
7. वहीं, पृ - ५३
8. वहीं, पृ - १०४
9. वहीं, पृ - २८
10. वहीं, पृ - ११०
11. भीष्म, महेंद्र, मैं पायल…, अमन प्रकाशन, कानपूर, 2016, पृ – १२
12. वहीं, पृ – २६
13. वहीं, पृ – ३६
14. वहीं, पृ – ३८
15. वहीं, पृ – ८६
16. वहीं, पृ – ९८
17. देवी, मोनिका – अस्तित्व की तलाश में सिमरन, माया प्रकाशन, कानपूर, २०१९, पृ – ८
18. वहीं, पृ – १०
19. वहीं, पृ – १८
20. वहीं, पृ – २०
21. वहीं, पृ – २९
22. वहीं, पृ – ४०
23. वहीं, पृ – ४४
24. वहीं, पृ – १०७
25. वहीं, पृ – ११२
26. वहीं, पृ – ११२
27 वहीं, भूमिका

'नागफनी 'सामाजिक क्रांति का दस्तावेज

दलित विमर्श

-डॉ.अभय परमार
प्राचार्य,आदिवासी आर्ट्स एंड कॉमर्स कॉलेज,
संतरामपुर,जिला-महिसार,गुजरात
मो.9924655728

साहित्य संवेदनाओं का संग्रह है। समाज की मुख्य समस्याओं को उठाना साहित्य के सरोकारों में सम्मिलित है। लोकहित और लोकमंगल साहित्य का परम्परागत रूप से मुख्य हेतु माना गया है। लेकिन क्या सही मायनों में समाज के साहित्यकारों द्वारा समाज के सभी वर्गो के हित और कल्याण को केन्द्र में रखते हुये सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व हुआ है? आज साहित्य में विविध विमर्शो के आगमन का क्या कारण है? इसके अनेक कारण दिए जा सकते हैं लेकिन केन्द्र में रहा हुआ कारण यही है कि, वास्तव में समाज के सभी वर्गो का प्रतिनिधित्व साहित्यकारों ने उस रूप में नहीं किया जिस रूप में होना चाहिये था। इसीलिए आज साहित्य की धारा में प्रवाहित होते हुये स्त्री विमर्श, किन्नर विमर्श, वृद्ध विमर्श, आदिवासी विमर्श, बाल विमर्श, विकलांग विमर्श, किसान विमर्श इत्यादि अस्मितामूलक विमर्शों का जन्म हुआ। इसी प्रकार दलित विमर्श से दलित साहित्य का जन्म हुआ।

हिन्दी साहित्य में एक के बाद एक दलित आत्मकथाएं आ रही हैं और चर्चा के केन्द्र में भी रही हैं। दलित आत्मकथाओं ने नए अनुभवों को पाठकों के समक्ष रखा है। वस्तुतः आत्मकथा लिखना साहस का काम है क्योंकि आत्मकथा की पहली शर्त है- 'यथार्थ लेखन और वह भी स्वयं के बारे में'। आत्मकथा में जिये हुए जीवन का, भोगे हुए क्षणों का, झेले हुए सुख-दुःखों का यथार्थ लेखा-जोखा आत्मकथाकार अपने समग्र जीवन के पुनःरीक्षण के रूप में प्रस्तुत करता है। इससे सिद्ध होता है कि, आत्मकथा सच्चे अर्थो में जीवन की आलोचना है। लेकिन दलित आत्मकथन लेखन उन सभी घाँवों को हरा करना होता है जो बचपन से ही लेखक के मन-मस्तिष्क को द्रवित करते आए हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि इस विषय पर अपनी आत्मकथा 'जूठन' की भूमिका में लिखते है– "दलित जीवन की पीड़ाएँ असहनीय और अनुभव–दग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज–व्यवस्था में हमने सांसे ली हैं, जो बेहद क्रूर और अमानवीय है। दलितों के प्रति असंवेदनशील भी। ....इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के खतरे थे। एक लंबी जद्दोजहद के बाद मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरू किया। तमाम कष्टों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएँ मैंने भोगीं। स्वंय को परत–दर–परत उधेड़ते हुए कई बार लगा–कितना दुखदायी है यह सब। कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है।"[1]

सर्वप्रथम डॉ. भीमराव आंबेडकर का आत्मकथन मानी जाने वाली 'मी कसा झालो' से प्रेरणा लेकर मराठी दलित साहित्यकारों ने आत्मकथा लेखन का प्रारंभ किया। हिंदी में भी दलित लेखकों ने अपनी आत्मकथा द्वारा दलित समाज के यथार्थ को समाज के सम्मुख रखने का प्रयास किया। ये सभी आत्मकथाएं दलित समाज के जीवन की पीड़ा, वेदना, दर्द, दलन का प्रामाणिक दस्तावेज़ मानी जा सकती है। मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' भाग-१,२ में व्यक्त पिंजरे का सफर, इन दोनों भागों में सामाजिक शोषण, जातिगत दंश, दलितों में जातिगत भेदभाव को तोड़कर अर्थात स्वयं अपने पिंजरों को तोड़कर आगे बढ़ने का सफर, प्रसिद्ध साहित्यकार स्व-ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन-भाग-1, 2 में लेखक ने जो भोगा है, सहा है, उसका हृदयद्रावक चित्रण मिलता है। कौशल्या जी ने 'दोहरा अभिशाप' में स्त्री के दोहरे अभिशाप- एक स्त्री होने का और दूसरा दलित स्त्री होने की पीड़ा को उकेरा है। माताप्रसाद कृत 'झोपड़ी से राजभवन' में एक दलित का अर्थात माताप्रसाद का राजभवन तक पहुंचना एक बड़ी उपलब्धि है क्योंकि राजभवन तक की यात्रा उन्होंने झोपड़ी से प्रारंभ की इसीलिए यह आत्मकथा माताप्रसाद जी की राजनीतिक जीवन यात्रा का वृतांत भर नहीं है अपितु ये आत्मकथा अभाव एवं उत्पीड़न के शिकार दलित समाज की पीड़ा, दर्द, संघर्ष, स्वाभिमान तथा जिजीविषा की कहानी है। सुशीला टाकभौरे कृत 'शिकंजे का दर्द', तुलसीराम की दो भागों में विभक्त 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका', सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'संतृप्त' और 'तिरस्कृत', श्यौराजसिंह बेचैन द्वारा लिखित 'मेरा बचपन मेरे कंधो पर', डॉ. डी. आर. जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंजिल', मार्टिन मेकवान की 'मेरी कथा: यातना, संघर्ष और भविष्य' में कई सारे प्रश्नों को आत्मकथाकर ने उठाया है। डॉ. अभय परमार की 'डेथ कान्ट स्टॅाप मी' तत्पश्चात मोहनदास जी की आत्मकथा का तीसरा भाग 'रंग कितने संग मेरे' (2019) में पुत्र की मृत्यु के बाद की दशा का वर्णन है, साथ ही इसमें नैमिशराय जी ने अन्य लेखकों-पाठकों के आए पत्रों का भी उल्लेख किया है। इसी प्रकार वरिष्ठ साहित्यकार रूपनारायण सोनकर की आत्मकथा 'नागफनी' आदि दलित आत्मकथाओं ने हिंदी दलित साहित्य के विकास में वृद्धि की है।

रूपनारायण सोनकर के जीवन संघर्षो की यथार्थ गाथा है उनकी आत्मकथा 'नागफनी' । 'नागफनी' आत्मकथा शिल्पायन पब्लिशर्स, दिल्ली से 2011 में प्रकाशित हुई। रूपनारायण सोनकर जी ने दलित समाज की भिन्न-भिन्न समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए, सदियों पुरानी समाज व्यवस्थाओं का विरोध करते हुए, पूर्वाग्रहों से मुक्त समाज की रचना हेतु समाज को चेतना प्रदान करने का प्रयत्न किया है। 'नागफनी' आत्मकथा का अनुवाद मराठी, अंग्रेजी, कन्नड, पंजाबी,

तेलुगु आदि भाषाओं में हो चुका है। जातीय–व्यवस्था का शिकार दलित समाज नारकीय जीवन बिताने को मजबूर रहा है। "वर्ण–व्यवस्था ने भारत को बिखरा कर रख दिया है और एकता को बुरी तरह कुचल डाला है जिसके परिणामस्वरूप भारत की हजारों वर्षों की नासूर बनी गुलामी का इतिहास और विभाजन की त्रासदी से राहत पाना मुश्किल हो रहा है। भारत को आजादी के पूर्व दो घड़ों में बिखराने की कवायत के बाद भी श्रमजीवी समाज के लगभग बीस फीसदी हिस्से को दलित– अछूत कहकर तिरस्कृत किया जा रहा है। अपने ही देश की विशाल आबादी को अधिकार और आजादी से वंचित रखकर उस पर अन्याय–अत्याचार लगातार जारी है। चेतना शून्य दलित समाज के दमन और उत्पीड़न की प्रक्रिया, दुत्कार और मानसिकता थमने के, समाप्त होने के आसार नज़र नहीं आते परिणामस्वरूप समतामूलक समाज की आधारशीला और नींव हाशिए में अपने अस्तित्व के लिए छटपटा रही है।"[2] दलित समाज ने जातीय पीड़ा को हजारों वर्षो से सहा है।

'नागफनी' के आत्मकथाकार सोनकर जी प्रत्येक परिस्थिति में चाहे जो हालात रहे हो, फिर भी संघर्ष करते हुए उन्होंने अपने जीवन और समाज को नई दिशा देने का प्रयास किया है। उसका यथार्थ वर्णन 'नागफनी' के माध्यम से उन्होंने प्रस्तुत किया है। वे स्वंय संघर्ष करते रहे हैं। उन्होंने अत्याचारों के विरूद्ध आवाज उठायी है। वे धर्म के ठेकेदारों को भी करारा जवाब देते है और समाज के मनुवादियों का सामना भी करते रहे हैं। दलित समाज का कदम–कदम पर दलन हुआ है एवं उन्हें पाशविक जीवन के लिए मजबूर किया गया है। वास्तविकता यह है कि, हजारों वर्षों में उन्हें कभी किसी ने उस पाशविक जीवन से उठाने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने स्वंय भी कभी इस जीवन से मुक्ति के लिए नहीं सोचा, सोचते भी किस प्रकार? शिक्षा संस्थानों के द्वार उनके लिए सदियों तक बन्द रहे तो चेतना किस प्रकार आ सकती थी? शिक्षा प्रगति के सारे मार्ग खोल देती है। लेकिन दलित समाज के जीवन में शिक्षा नामक सोना नहीं था। बाबा साहब ने दलित समाज के उत्थान के लिए उनमे चेतना जगाई, उनके अधिकारों के लिए संघर्ष किया। उनकी शिक्षाओं से ही दलित समाज आगे आया है। रूपनारायण सोनकर जी लिखते है–"मैं आंबेडकर को प्रथम, लोहिया को द्वितीय और गांधी को तृतीय स्थान दूँगा। आंबेडकर ने दबे–कुचले और समाज से बहिष्कृत लोगों की आवाज उठाई थी। सवर्णो के सामने ऐसी आवाज उठाना अपनी जान गँवाने के बराबर था। सामाजिक कुरीतियों, विसंगतियों, छूआछूत को समाज से उखाड़ फेंकने के लिए जोरदार संघर्ष किया था। शायद वह विश्व के पहले जन नेता थे जिन्होंने सवर्णो के अत्याचारों से कराह रहे दलितों को मुक्ति दिलाने का द्वार खोला।"[3] जब देश में आजादी की लड़ाई लड़ी जा रही थी तब "भारत-मुक्ति ने दलित मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। जब हिंदुओं को पराधीनता सहन नहीं है तो दलितों को पराधीनता कैसे सहन हो सकती है? यदि अंग्रेजी सत्ता से भारत को मुक्ति चाहिए, तो हिंदू सत्ता से दलितों को भी मुक्ति चाहिए। भारत की स्वाधीनता तभी सुरक्षित रह सकती है, जब भारतवासी भी स्वाधीन हों। यदि भारत स्वाधीन हो गया और करोड़ों दलित भारतीयों को स्वाधीनता नहीं मिली, तो भारत की स्वाधीनता का कोई मूल्य नहीं है। वह पुन: कभी भी पराधीन हो सकता है। इस विचार के साथ डॉ. आंबेडकर ने दलित स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी"[4]

दलित समाज द्वारा अपने अस्तित्व की लड़ाई एक दिन में नहीं लड़ी जा सकती है। ये बाबा साहब अच्छी तरह जानते थे। अत: उन्होंने दलित समाज को "शिक्षित बनो, संगठित बनो और संघर्ष करो" का सूत्र दिया। "डॉ. आंबेडकर की मान्यता थी कि सम्पत्ति की बराबरी ही वास्तविक सुधार नहीं है। समाजवादियों से उनका सवाल था कि क्या वे आर्थिक सुधार, सामजिक व्यवस्था में सुधार लाये बगैर कर सकते हैं? उन्होंने लिखा है कि समाजवादियों ने इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया है। वे आगे लिखते हैं कि समाजवादी या साम्यवादी यदि क्रांति से पूर्व जाति को महत्व नहीं देते, तो क्रांति के बाद अवश्य ही जाति पर ध्यान देने के लिये मजबूर हो जायेंगे। क्योंकि, जाति एक ऐसा राक्षस है, जो आप कहीं भी और किसी भी दिशा में जायें, वह आपका रास्ता जरूर काटेगा। अत: जब तक इस राक्षस को नहीं मार दिया जाता है, तब तक न तो कोई राजनैतिक सुधार किया जा सकता है और न ही आर्थिक सुधार किया जा सकता है"[5]

रूपनारायण सोनकर के जीवन को जाँतिवाद की जंजीरों ने सदैव जकड़े रखा। उन्होंने हर जगह संघर्ष किया, हर समस्या से जूझते रहे, लेकिन कभी भी सवर्णो के आगे झुके नहीं। फिर भी लेखक जब एल.डी.सी. की नौकरी इलाहाबाद में कर रहे थे तब आई.ए.एस की परीक्षा के लिए एक माह का लीव विदआउट पे के लिए प्रार्थनापत्र इंजीनियर साहब को देते हैं। तब बड़े बाबू को दिक्कत होती है। वो नहीं चाहते थे कि, लीव मंजूर हो। दूसरा सक्सेना को जब यह बात पता चलती है वे तुरन्त लीव मंजूर हो चुकी फाइल लेकर इंजीनियर साहब से लीव केन्सल करवा देता है। लीव विदआउट पे कोई भी ले सकता है, यह कर्मचारी का अधिकार होता है। परन्तु जातिवादी विचारधारा के कारण उनकी यह लीव केन्सल करवा दी जाती है कि कहीं दलित समाज का रूपनारायण आई.ए.एस न बन जाये।

सोनकर जी के कैरियर को जातिवाद का काँटा खत्म कर देता है। वे लिखते है–"'नागफनी' से जुड़ा जातिवाद का काँटा मेरे कैरियर में चुभ गया था। वह काँटा आज भी मेरे आई.ए.एस. न बन पाने का दर्द देता रहता है। 'नागफनी' से जुड़े बहुत से असमानता, भेदभाव, छूआछूत, अत्याचार, शोषण के काँटे पढ़े–लिखे, गैर पढ़े–लिखे दलितों के शरीर, मन–मस्तिष्क को छेदते है। ग्रामीण भारत में 'नागफनी' अपने आप खेतों में पैदा होती है। शहरी भारत में बगीचों और घरों में 'नागफनी' गैर–दलितों द्वारा पनपाई जाती है। लेकिन काँटे दोनों के नुकीले होते हैं। दोनों दलितों के बदनों पर घाँव करते है। दलितों का लहू बहाते है।"[6] वाकई दलित समाज में ऐसे कितने रूपनारायण होंगे कि जिनके कैरीयर को जातिवाद के काँटों ने खत्म कर दिया होगा?

दलित समाज में जहाँ दलित कुछ पढ़–लिख जाते हैं तो उनके साथ जो व्यवहार होता है, उसका चित्रण करते हुए रूपनारायण सोनकर जी अपने भाई के

साथ घटी घटना का वर्णन किया है। छोटे भाई अजय ने एम. ए. की डिग्री प्राप्त की, आई. ए. एस. की परीक्षा दी। लेकिन जब गांव आया तो ब्राह्मण हरिशंकर लेखक के भाई अजय को नीचा दिखाने के लिए उससे कंडे भी उठवाते हैं। वे लिखते है–"अजय मजबूर था। असहाय था। उसने सर पर कपड़े की गिंडी रख ली। कंडों से भरा झउआ सर पर लादकर सुबह से शाम तक ढोता रहा। ब्राह्मण हरिशंकर अवस्थी के मकान की दालान में जमा करता रहा। यह सब देखकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रदान की गई डिग्री रो रही थी"7 इस प्रकार जाति के कारण ही पढ़े-लिखे अजय को ब्राह्मण के आगे झुकना पड़ा। सवर्ण समाज की मनुवादी मानसिकता नहीं बदलती। "'जाति' ही जहाँ मान–सम्मान और योग्यता का आधार हो, सामाजिक श्रेष्ठता के लिए महत्वपूर्ण कारक हो, वहाँ यह लड़ाई एक दिन में नहीं लड़ी जा सकती है। लगातार विरोध और संघर्ष की चेतना चाहिए जो मात्र बाह्य ही नहीं, आंतरिक परिवर्तनगामी भी हो, जो सामाजिक बदलाव को दिशा दे।"[8] वाल्मीकि जी का ये कथन बिल्कुल उचित है कि, एक दिन में मानसिक विचारों में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, खाली दिखावे से परिवर्तन संभव नहीं उसका स्वरूप बाह्य और आंतरिक दोनों रूपों में होना चाहिए, मन–वचन–कर्म से एक होना चाहिए।

रूपननारायण सोनकर जी ने दलित समाज की कई समस्याओं को उजागर किया है। गांवों में दलित समाज को अभी भी कुओं से पानी पीने के लिए किसी सवर्ण का इन्तजार करना पड़ता है क्योंकि वे स्वंय कुयें पर बँधी बाल्टी को छू नहीं सकते। छूआछूत की समस्या के कारण पानी जैसी बुनियादी जरूरत के लिए भी उन्हें संघर्ष करना पड़ता है। “सनातनी हिन्दू नेता ऐनापूरे शास्त्री ने कहा है कि, जिस तरह मनुष्य जूता पहनता है, पर जूता शरीर का अंग नहीं है, उसी तरह हिन्दू समाज अछूतों का उपयोग करते हैं, पर वे उनके अंग नहीं है। यह उपमा सचमुच बहुत सटीक है”[10] दलितों द्वारा कुंआ खुदाई का काम करवाया जा सकता है लेकिन उसी से पानी पीने के लिए वो स्वयं पानी पी ले तो उनका धर्म भ्रष्ट हो जाता है। लेखक एक बार अपने गाँव नसेनिया जाते हैं। पैदल यात्रा करने के कारण रास्ते में प्यास तो लगती ही है। सड़क के किनारे उन्हें एक कुँआ दिखता है जहाँ वह अपनी प्यास बुझाने के लिए जाते है। राहगीरों हेतु कुएं की जगत पर बाल्टी बँधी हुई थी जिससे लेखक ने स्वंय कुंए से पानी निकालकर अपनी प्यास बुझायी। इतने में वहाँ एक ब्राह्मण आया। जो लेखक पर बरस पड़ता है।–“साले तूने अपने आप कुएँ से पानी निकालकर बाल्टी में लोटा डालकर पी लिया। मैं तुझे जानता हूँ। कि तू अछूत है”।[11] बस इतना सुनते ही गाँव के अन्य मनुवादी भी सोनकर जी के पीछे लाठी लेकर टूट पड़ते है। तब लेखक को अभिमन्यु बनना पड़ता है जैसे अभिमन्यु ने रथ के पहिये से कौरवों पर वार किया था वैसे ही लेखक भी बाल्टी और रस्सी का सहारा लेते हुये सुदर्शन चक्र बना लेते है और ब्राह्मणों से मुकाबला करते है। वे हार नहीं मानते अपितु एक क्रान्ति की चिन्गारी दलित समाज में अवश्य जला देते है।

समाज के अंधविश्वासों, पाखंडीपन एवं सामाजिक विसंगतियों पर सोनकर जी सदैव व्यंग करते रहे हैं। सोनकर जी संघर्ष करते हुए रूढ़िवादी परम्पराओं को तोड़ फेंकने का साहस रखते हैं। दलित समाज की परिस्थितियों में परिवर्तन हेतु अपने साहित्य लेखन के साथ स्वयं भी सदैव प्रयत्नशील रहे हैं। धार्मिक पाखंडों की पोल खोलते हुये सोनकर जी लिखते है– "जहाँ–जहाँ इस तरह के अखण्ड पाठ होते हैं, वहाँ से धार्मिक प्रदूषण वायुमण्डल में फैल जाता है यह प्रदूषण इतना विषैला और कसैला होता है कि, इसकी एक–एक बूँद दलितों की एक–एक पीढ़ी को अपमानित करने के लिए काफी होती है। लेकिन दलितों में भी ऐसे दलित शंकर होते है जो इस विष को पीकर दूसरे दलितों में नहीं फैलने देते है। गाँवो में होने वाले इसतरह के पाखण्ड वास्तव में ब्राह्मण लड़कों को धार्मिक बनाने की एक पाठशाला है। समाज में छूआछूत, ऊँच– नीच कायम रखने की एक ऐसी कोशिश है जो अनवरत समाज में चलती रहे।"[12]

'नागफनी' के लेखक रूपनारायण सोनकर जी धार्मिक आडंबरों से ऊपर उठकर दलित समाज द्वारा उसमें बदलाव के हक के लिए संघर्ष करते दिखाई देते हैं। वे बताते है कि, कुड़हा माई के मंदिर में ज्वारों का मेला साल में एक या दो बार लगता था। इसमें सवर्ण जौ के बीज छोटे–छोटे गमलों में उगाते थे। दलितों को ऐसा कार्य करने की मनाही थी। दलितों को, पिछड़ों को सांग छिदवाने के लिए ब्राह्मण सदैव प्रोत्साहित करते थे। सोनकर जी स्वयं भी सांग छिदवाते हैं। वे मेले की बात बताते हुए लिखते है कि, एक बार गाँव के सड़क पर सवर्ण महिला सिर पर पौंधों का कलश लेकर चल रही थी, अचानक वह गिर पड़ी। आत्मकथाकार की चाची भी उस औरत के पीछे चल रही थी, चाची ने दौड़कर कलश को अपने सिर ले लिया। इतने में एक ब्राह्मण आता है और चिल्लाकर कहने लगा–"ससुरी खटिकिन तेरी यह हिम्मत। देव के कलश को अपने सिर पर रखकर भ्रष्ट कर दिया।"[13] इस प्रकार लेखक की चाची का अपमान कर उन्हें पीटा गया। यहाँ एक बात यह भी है कि, जब चाची को पीटा गया तो सभी दलित एक जुट होकर अपमान का बदला लेने के लिए तैयार होते है एवं तब वह ब्राह्मण उनके एकत्व के आगे अपनी हार मानकर कलश लेखक की चाची के सिर पर रखता है। सदियों के बाद दलितों के प्रयत्नों से कुछ परिवर्तन संभव होता है।

जब अपनों के साथ अन्याय होता है तो सोनकर जी जल्दी से आक्रोश में आ जाते है, हरिशंकर अवस्थी जब भदइया भईया को निर्दयता से पीटता है तब लेखक सभी दलितों का टोला इकट्ठा करते है और सबसे कहते हैं–"मैंने कहा–आप लोग अपनी लाठी लेकर चलो। यदि आप लोगों ने भदइया भईया को नहीं बचाया तो वह मर जाएगा"[14] इस प्रकार अपने समाज को व्यवस्था के प्रति विरोध करने हेतु जागृत भी करते हैं।

लेखक की भाभी को जब शिवपूजन अवस्थी गालियाँ देता है और छेड़खानी करने की धमकी देता है, तो लेखक उसको चेतावनी देते है–"यदि तुमने भाभी की तरफ आँख उठाई तो मैं तुम्हारी गर्दन काट डालूँगा।"[15]

आत्मकथाकार ने होली के त्यौहार की घटना को भी बताया है कि, किस प्रकार दलित स्त्रियों का होली के त्यौहार में अपमान किया जाता, सवर्ण वर्ग

उन्हें गालियाँ देकर होली का त्यौहार मनाता। यही उनकी परम्परा भी थी। आत्मकथाकार इस परम्परा को देखकर अपने समाज की स्त्रियों के बारे में सोचते हुये सवर्णों की औरतों का भी अपमान करके ब्राह्मणों को सबक सिखाते हैं। इस प्रकार दोनों ब्राह्मण और दलित आपस में लड़ने लग जाते हैं। अन्य पक्ष के लोग आकर उन्हें समझाते हैं कि, होली मिलझुल कर प्यार, मोहब्बत बरकरार रखने का त्यौहार है और आप लोग खून बहा रहे हैं। तब ब्राह्मण उरेरी मिश्र बोलता है– "ये साले खटिक, चमार, कोरी, पासी हमारी बराबरी कर रहें हैं। हम लोग दलित औरतों को गाली देकर खुशियाँ मना रहे हैं। ये साले हमारी माँ बहिनों को भी गाली देकर सदियों से चली आ रही परम्परा तोड़ रहे हैं।"[16]

इसप्रकार यहाँ औरतों को गालियाँ देने की बात कितने गर्व से की गई हैं यह सोचनीय है। क्योंकि स्त्रियों को गालियाँ देना ब्राह्मणों के लिए समस्या नहीं है लेकिन सदियों पुरानी परम्परा टूटी है, इसका गुस्सा अधिक है। इस बात से समाज में नारी के स्थान का पता चलता है। साथ ही सवर्ण नहीं चाहते कि, दलित समाज सिर उठाकर जियें। उनका विरोध करें। सवर्ण समाज तो चाहता है कि, दलित समाज हमेशा ही उनकी सेवा में लगा रहे, बेगारी करता रहे, दब्बुपन में जियें। साथ ही दलित समाज की स्त्रियों को तो सवर्ण खिलौना ही समझ लेते है। ऐसा ही एक पात्र आत्मकथा में आता है–इन्द्रजीत सिंह। लड़कियों की इज्जत से खिलवाड़ करना ही जिसका काम है और विरोध करने पर जिन्दगी से हाथ धोना पड़ता। लेखक लिखते हैं– "यह इन्द्रजीत सिंह हफ्ते पन्द्रह दिन में रोज बिटिया को टयूबवैल में रातभर रखता है, सुबह तड़के घर भेजता है। मना करने पर जान से मार डालने की धमकी देता है।"17 इसप्रकार दलित समाज की स्त्रियों की स्थिति अंत्यंत दयनीय है। वे ना तो कुछ कर सकती हैं, ना कह सकती है। विरोध करने पर उनके पूरे परिवारों को ही नष्ट कर दिया जाता है। यहां दलित होने की पीड़ा और दलित स्त्री होने की पीड़ा स्त्री जीवन को अभिशप्तता से भर देती है। वर्तमान में समय बदला है फिर भी जाति दलित समाज के जीवन से जाती ही नहीं। स्व,. ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं- "वक्त बदला है। लेकिन कहीं कुछ है जो सहज नहीं होने देता है। कई विद्वानों से जानना चाहा कि, सवर्णों के मन में दलितों, शूद्रों के लिए इतनी घृणा क्यों है? पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों को पूजनेवाला हिंदू दलितों के प्रति इतना असहिष्णु क्यों है? आज जाति एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण घटक है। जब तक यह पता नहीं होता कि, आप दलित हैं, तो सब कुछ ठीक रहता है। जाति मालूम होते ही सब कुछ बदल जाता है। फुसफुसाहटें, सन्नाटे दलित होने की पीड़ा चाकू की तरह नस-नस में उतर जती है। गरीबी, अशिक्षा, छिन्न-भिन्न दारूण जिंदगी, दरवाजे के बाहर खड़े रहने की पीड़ा भला 'अभिजात' गुणों से संपन्न सवर्ण हिंदू कैसे जान पायेंगे?"[18]

लेखक बताते है कि, डॉ. आम्बेडकर से ही उन्हें संघर्ष करने की प्रेरणा मिली है। वे लिखते है– "डॉ. आंबेडकर अकेले थे। उन्होंने अकेले ही सारे देश से गैर–बराबरी के खिलाफ संघर्ष किया था। उनके तेज के सामने गाँधी, जवाहर की चमक भी धीमी पड़ गई थी। इन लोगों ने भी मानवता के प्रति किए गए डॉ. आंबेडकर के कार्यो को सही माना था। पीड़ीत बहुसंख्यक मानवता के प्रति हमदर्दी रखने वाले विश्व के एकमात्र जननायक आंबेडकर ही थे। यदि वे संघर्ष से डर जाते तो दलित जिस स्थिति में आज है, वे कभी न होते। डॉ. आंबेडकर के ये विचार मुझे बार–बार कचोट रहे थे। मुझे संघर्ष करने के लिए प्रेरित कर रहे थे। मैंनें दलित नौजवानों की टोली बना ली थी।"[19] इस प्रकार लेखक ने बाबा साहब के मूलमंत्र–'शिक्षित बनो, संगठित बनो, संघर्ष करो।' को अपने जीवन में अपना लिया था। "डॉ. आंबेडकर के नेतृत्व में दलित आंदोलन ने सचमुच एक नई करवट ली थी। पूरे देश का दलित वर्ग इससे जुड़ा और हिन्दू व्यवस्था से टकराने की घटनाएं देश के कोने-कोने में घटने लगीं। दलितों ने गांवों में उन व्यवस्थाओं का उल्लंघन करना शुरू कर दिया, जो उन पर थोपी गई थीं। फलत: देशभर में दलितों को हिंदूओं की हिंसा का शिकार होना पड़ा, उनका सामाजिक बहिष्कार किया जाने लगा और उन्हें गाँवों से पलायन करना पड़ा। यह गुलामी के खिलाफ खुला विद्रोह था। इस विद्रोह में डॉ. आंबेडकर के इन शब्दों ने जैसे जान ही डाल दी थी, " दलितों तुम विद्रोह करो। तुम्हारे पास खोने के लिये गुलामी के सिवाय कुछ नहीं है, पर पाने के लिये आजादी है" "[20]

लेखक व्यक्तिगत नहीं समष्टिगत रूप से सोचते है। दलित साहित्य का केंद्रिय विषय मनुष्य है और उसका धर्म मानवता। मानवीय हकों हेतु कलम उठाना ही उनका मुख्य उद्देश्य है और इन्हीं हकों हेतु निजी जीवन से जुड़ी जमीनी, सर्वग्राह्य भाषा द्वारा पूरे समाज को समता, स्वतंत्रता और बंधुता हेतु जागृत करना ही है दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र। "विश्व में मनुष्य जैसी 'सत्य और सुंदर'दूसरी कोई चीज नहीं है। इसीलिए तो मनुष्य की समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व की चर्चा होनी आवश्यक है। मेरे विचार में यही चर्चा 'दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की चर्चा होगी"[21]

सोनकर जी स्वंय भी गरीबी, भूखमरी को भोग चुके है। इसीलिए वे एक ही वक्त खाना खाते है। वे स्वंय लिखते है–"मैंनें मन में दृढ़ निश्चय किया कि, मैं दिन में खाना नहीं खाऊँगा। मैं केवल रात्रि में ही खाना एक बार खाऊँगा। मैं यह काम 24 सालों से कर रहा हूँ हालाँकि मेरे एक बार खाना खाने से भूखों का पेट नहीं भरेगा, हाँ यदि मेरी ही तरह केवल एक तिहाई लोग ऐसा करने लगे तो जरूर हिन्दुस्तान में कोई भी आदमी भूखा नहीं सोएगा।"[22]

निष्कर्षत: प्रगतिशील दृष्टिकोण रखने वाले लेखक की आत्मकथा 'नागफनी' सामाजिक क्रान्ति का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। 'नागफनी' के आत्मकथाकार ने व्यवस्था के प्रति विद्रोह, विरोध के लिए अपनी लेखनी चलाई है। अत्याचारी आंतक से भयभीत न होकर उसे मुँह तोड़ जवाब आत्मकथाकार ने दिया है। इसमें लेखक का रूदन नहीं अपितु विरोधात्मक शैली से ईट का जवाब पत्थर से देने का साहस है, इन अर्थो में यह आत्मकथा सर्वश्रेष्ठ है।

'नागफनी' में लेखक ने अपने समाज की समस्याओं को प्रस्तुत किया

है, साथ ही उन समस्याओं से वे कैसे लड़े हैं, किस प्रकार संघर्ष करके वे आगे आए है? संघर्ष के साथ चेतना का स्वर भी इस आत्मकथा में मुखरित हुआ है। दलित समाज सदियों से जातीय बंधन के पाश में बँधा हुआ है। जातीय अपमान उनके जीवन का अभिन्न अंग बना हुआ है। सोनकर जी ने उन सभी पहलूओं का विरोध किया है, 'नागफनी' में दर्द और अत्याचार की जीवंत तस्वीरें है लेकिन उन अत्याचारों से मुक्त होने का मार्ग भी लेखक ने प्रशस्त किया है। यह आत्मकथा पूरे दलित समाज के लिए प्रेरणारूप है। इसप्रकार रूपनारायण सोनकरजी की 'नागफनी' आत्मकथा दलित समाज में क्रान्ति का आह्‌वान करती है। दलित हक के लिए संघर्ष करें। गलत के सामने विरोध करे। पुरानी समाज व्यवस्था को परिवर्तित करने के लिए दलित समाज को नयी चेतना से भर देती है उनकी आत्मकथा 'नागफनी'।

संदर्भः–

1. जूठन–ओमप्रकाश वाल्मीकि–भूमिका से
2. आश्वस्त पत्रिका, फरवरी- 2020, पृष्ठ- 15
3. 'नागफनी'–रूपनारायण सोनकर, पृ–99
4. हरिजन से दलित-सं-राजकिशोर-पृ-67
5. दलित विमर्श की भूमिका-कंवल भारती-पृ-22
6. 'नागफनी'–रूपनारायण सोनकर, पृ–113
7. वही–पृ–49
8. जूठन–ओमप्रकाश वाल्मीकि–पृ–158
9. नागफनी–रूपनारायण सोनकर–पृ–30
10. दलित विमर्श की भूमिका-कंवल भारती-पृ-24
11. नागफनी–रूपनारायण सोनकर- पृ–25
12. वही–पृ–36
13. वही–पृ–17
14. वही–पृ–42
15. वही–पृ–31
16. वही पृ–59
17. वही–पृ–70
18. हरिजन से दलित-सं-राजकिशोर-पृ-25
19. नागफनी–रूपनारायण सोनकर-–पृ–57
20. दलित विमर्श की भूमिका-कंवल भारती-पृ-61-62
21. दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र-शरणकुमार लिंबाले-अनु- रमणिका गुप्ता-पृ-34
22. नागफनी–रूपनारायण सोनकर-–पृ–111

गूँगा नहीं था मैं (कविता संग्रह) में अभिव्यक्त दलित चेतना

-डॉ.जी.वी.रत्नाकर

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,

मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद,

प्रस्तावना -

भारत विभिन्न जातियों धर्मों, सम्प्रदायों, वर्णों, वर्गों का देश है। यहाँ की विविधता पर हमें गर्व होता है । यह गर्व बिना किसी का शोषण किए हुए हो तब तो ठीक है लेकिन जब शोषक ही गर्व करे और शोषित गर्व न कर पाए और ये सवाल की वह किस बात के लिए गर्व करे ? तो हमें सोचने पर विवश हो जाना पड़ता है।

भारत का प्रत्येक धर्म अपने को शोषकों के खिलाफ और शोषितों के पक्ष में खड़ा करता है लेकिन यह केवल सिद्धान्तः है। वास्तविक्ता कुछ और ही है । हिन्दू धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विभाजन है तो मुसलमानों के यहाँ अशराफ, अजलाफ और अरजल का बंटवारा है। इस्लाम में किसी प्रकार के छुआछूत, अमीर-गरीब को धार्मिक ग्रंथों में प्रश्रय नहीं दिया गया है जबकि हिन्दू धर्म के ग्रंथों में छुआछूत, आदि को लिखित तौर पर स्वीकार किया जाता है। मुसलमानों का समाज अवश्य ही विभाजित है। इस विभाजन का एक प्रमुख कारण धर्मांतरण है।

बीज शब्द -

दलित, चेतना, दलित चेतना, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, धर्मांतरण, अशरफ, अजलाफ अरजल, नवबौद्ध।

मुख्य अंश -

गूँगा नहीं था मैं (कविता संग्रह) डॉ. जयप्रकाश कर्दम का कविता संग्रह है। यह सन् 1997में प्रकाशित हुआ है। इस कविता संग्रह की कविताएँ दलित चेतना से परिपूर्ण हैं। सबसे पहले हमें यह देखना है कि 'दलित' किसे कहते हैं। इस सन्दर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं- "दलित शब्द का अर्थ है- जिसका दलन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीडन, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनिष्ट, मर्दित, पस्त-हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।"[1] दलित के सन्दर्भ में डॉ. जी. वी. रत्नाकर लिखते हैं "अस्पृश्य या हरिजन आदिवासी ही दलित है। युगों से उच्च वर्ण के लोगों द्वारा पैरों तले कुचला गया है वही दलित है, उनका स्पर्श भी निषिद्ध है।" [2] दलित वह है जो विभिन्न धर्मो की समाज व्यवस्था में 'शोषित' रहा है । उसके शोषण के विभिन्न कारण रहे हैं। उनमें अस्पृश्यता एक प्रमुख कारण रहा है। इसके लिए कई तरह के शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है। यथा- दास, अछूत, अस्पृश्य, शूद्र, हरिजन, अपवित्र, अन्त्यज, आदि हिन्दू, दलित आदि। दलित के लिए दास से लेकर दलित तक की यात्रा बड़ी कंटकापूर्ण रही है।

दलित ने अपने ऊपर लादी गई वर्जनाओं, छुआछूत, शोषण आदि से मुक्ति पाने के लिए धर्मांतरण भी किया । जब वह कभी शूद्र, हरिजन, अछूत आदि कहलाता था। तो उसने हिन्दू धर्म का त्याग किया। वह कभी मुसलमान बना, कभी इसाई, तो कभी बौद्ध। वह कई संस्थानों के विचारों से प्रभावित भी हुआ लेकिन अंततः उसे पूरा न्याय

नहीं मिल पाया। जब वह मुसलमान बना तो वहाँ पहले से मौजूद उच्च वर्ग के लोगों ने या हिन्दू धर्म से उच्च वर्ग के ही धर्मान्तरित लोगों ने उसे अलगाने के लिए अशराफ, अजलाफ और अरजाल की श्रेणी बनाई। अशराफ में मुख्यतः शेख, सैयद, मुग़ल, पठान, मिर्जा, मलिक शामिल हुए। अजलाफ़ में जुलाहे, धुनिया आदि शामिल हुए। अरजाल में भंगी, हलालखोर, लालबेगी अर्थात सीवर साफ़ करने वाले शामिल हुए। ईसाई बनने पर उनके साथ ये समस्या बनी रही। एक बड़ा धर्मांतरण 1956में हुआ। जब बाबा साहेब ने खुले आम बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। पहले से बौद्ध धर्म के मानने वाले लोगों ने 'नवबौद्ध' शब्द से अभिहित किया और उन्हें अपने से अलगाने का प्रयास किया।

अब हम 'दलित चेतना' शब्द पर विचार करें। 'दलित चेतना' का तात्पर्य है 'दलित की चेतना' अर्थात दलित का चेतना संपन्न हो जाना, जागृत अवस्था में आ जाना। दलित चेतना के सन्दर्भ में जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं – "दलित चेतना का मतलब ब्राह्मणवाद का विरोध, जिसमें वर्ण, जाति-व्यवस्था, ऊँच-नीच, ईश्वर-आत्मा, पुनर्जन्म, देवी-देवता, भाग्य, परलोक, पाखण्ड, विश्वास, वर्चस्व, अवैज्ञानिक व एकाधिकार का विरोध शामिल है।"[4] हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि समाज बदल रहा है और दलित की स्थिति भी बदल रही है। वह चेतना संपन्न हो रहा है इसी लिए वह अपने अधिकारों पर बात करना पसंद करता है। दलित चाहे किसी भी नाम से जाना जाता रहा हो। वह अपने कर्तव्यों का निर्वहन करता रहा है जिसने विरोध-किया उसके लिए इतनी कठोर सजा का प्रावधान रहा है कि जल्दी कोई साहस ही नहीं कर सकता था। हिन्दू धर्म में सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण को समझा जाता है। ब्राह्मण की उत्पति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की उत्पति भुजा से वैश्य की उत्पति नाभि से तथा शूद्र की उत्पति पैरों से हुई है. ऐसा बताया जाता है।

हिंदी दलित साहित्य में जयप्रकाश कर्दम का नाम किसी परिचय का मोहताज नहीं है। वे विभिन्न विधाओं में लेखन करते हैं। यहाँ हम उनके कविता संग्रह 'गूँगा नहीं था मैं' पर विचार कर रहे हैं। जयप्रकाश कर्दम का लगभग अस्सी प्रतिशत साहित्य दलित व बौद्ध साहित्य है। उनके आलोच्य कविता संग्रह में दलित चेतना के कई रूप विद्यमान है यथा-सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि।

दलित कवि को जब यह पता चलता है कि वर्त्तमान की सामाजिक व्यवस्था ने ही उसका शोषण किया है तो वे इस सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त कर देना चाहता है-

"जी करता है, ध्वस्त कर दूँ इन किलों को,

चिन्दी-चिन्दी कर दूँ

इनका वजूद कि शांत हो जाए मेरी अंतर में धधकती हुई

अपमान की आग।"[5]

अब सवाल उठता है कि क्या दलित की भुजाओं में बल नहीं है ऐसी बात नहीं। वह अपने शोषण को सहता जा रहा था। उसका प्रमुख कारण था कि उसके अन्दर चेतना नहीं थी। लेकिन अब परिस्थिति बदल गई है अब जब वह चेतना संपन्न हो गया है तो वह कह रहा है-

"लेकिन अब फड़कने लगी हैं मेरी भुजाएँ और

कुलबुलाने लगे हैं फावड़ा, कुल्हाड़ी और हथौड़ा पकड़े

मेरे हाथ, काट फेंकने को उन हाथों को, जिन्होंने

बरसाई हैं अनगिनत कोड़े मेरी नंगी पीठ पर।"[6]

अब सवाल ये उठता है कि दलित आखिर चाहता क्या है ? वह बराबरी चाहता है। सम्मान चाहता है। वे लिखते हैं –

"अब हर क्षेत्र में होगी समान रूप से हिस्सेदारी।"[7]

दलित अब जान चुका है कि उसे धर्म और मजहब के नाम पर खूब बेवखुफ़ बनाया गया है। ये उसके शोषण के प्रमुख कारण रहे हैं। इस लिए वह अब धर्म व नीति की शिक्षा नहीं चाहता तो फिर वह क्या चाहता है ?

"नहीं चाहिए उसे नीति और धर्म की शिक्षा

नहीं चाहिए उसे परमात्मा का ज्ञान

उसे चाहिए रोटी और सम्मान."[8]

दलित का शोषण कई वर्षों से होता रहा है। यह शोषण भले ही आज कम हो गया है या उसके रूप बदल गए हैं लेकिन शोषण अभी भी जारी हैं। इसलिए कवि आक्रोशित होकर का उठता है –

"मैं उबलते पानी की भाप हूँ

पानी नहीं आग हूँ।"[9]

हमें यह पता होना चाहिए कि आग से अधिक पीड़ा कारक भाप होती है। पानी के स्थान पर आग ज्यादा कष्ट कारक होती है और आग से अधिक पानी की भाप अधिक कष्ट कारक होती है। हमें यह समझना होगा कि शोषण को सहने की भी एक सीमा होती है। दलित अब बर्दाश्त नहीं कर सकता।

"अम्बेडकर की संतान अब और नहीं सहेगी

शोषण और अत्याचार लेगी हिसाब।

तोड़कर अन्याय और शोषण की जंजीरों को

रचेगी नया इतिहास।"[10]

दलित की हार्दिक इच्छा क्या है ? वे बताते हैं –

"मैं भोर के सूरज साउदय होना चाहता हूँ

अज्ञान के अंधेरों से निकलना चाहता हूँ

बहुत भटका हूँ असमानता और अन्याय की

गलियों में, मैं समता के राजपथ पर

चलना चाहता हूँ।"[11]

निष्कर्ष :

यह एक महत्वपूर्ण बिंदु है कि दलित समाज सदियों से शोषित-पीड़ित है। वह पहले इस बात को समझता ही नहीं था कि जो काम उसको जिम्मेदारी कहकर दिये गये असल में वह उसका शोषण है। वह अब समझ गया है। बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने उसे जाग्रत किया है। यही कारण है कि वह संवैधानिक तरीके से अपने अधिकार चाहता है। वह टेबल ठोककर बात कर रहा है। अब शोषकों को समझ लेना चाहिए कि दलित अब चेतना संपन्न हो गया है। नहीं तो वह दिन दूर नहीं जब दलित का हाथ शोषकों के गिरेबान (कॉलर) तक पहुँचने लगेगा। फिर अंततः आपको अधिकार देने ही पड़ेंगे।

सन्दर्भ-

1. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सं. चौथी आवृति- 2011, प्रकाशक – राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि. दरियागंज , नई दिल्ली. पृ.- 13
2. हिंदी तेलुगु दलित कविता – डॉ. जी. वी. रत्नाकर, सं. 2009 प्रकाशक- हिंदी अकादेमी हैदराबाद, न्यू नागोल के पास, हैदराबाद, तेलंगाना – पृ. 16
3. गांधीवाद की शव परीक्षा, यशपाल, सं. 2015,प्रकाशक – लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहबाद. पृ. – 37
4. इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, सं. राजेंद्र प्रसाद, प्रथम संस्करण, प्रकाशक- पंकज पुस्तक मंदिर आजाद नगर दिल्ली.पृ. -31
5. गूँगा नहीं था मैं, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, सं.-1997, अतिश प्रकाशन दिल्ली- पृ.-12
6. वही, पृ.- 13
7. वही, पृ.- 16
8. वही, पृ.- 25
9. वही, पृ.- 72
10. वही, पृ.- 51
11. वही, पृ.- 27

बाजारवाद के आइने में 'सुअरदान' उपन्यास का विश्लेषण

-डॉ.अजय कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर,हिंदी विभाग,
महामाया राजकीय महाविद्यालय,
कौशाम्बी,(उ.प्र.) मो.9455624397

समाज में अविरल गति से परिवर्तित होता है। समाज और साहित्य का अन्र्तसम्बंध बहुत आत्मीय और पुराना है। एक दौर था कि साहित्य के अनुसार समाज ढला करता था। आज दौर यह है की समाज के अनुसार साहित्य रचा जा रहा है। आज समाज और साहित्य के बीच में बाजार घुसपैठ कर चुका है। पाठकों की माँग के हिसाब से लेखकों की रेटिंग तय हो रही है। रचनाकार अपनी स्वतंत्र अभिव्यक्ति अपनी कृति में लिपि बद्ध कर रहा है। परन्तु उसके मन में कृति को लेकर तमाम असमंज उठ खड़े हो जाते है। शायद यही कारण कि हमारा समाज कुछ बाजारू लेखकों को भी पैदा कर रहा है।

'सुअरदान' उपन्यास, दलित लेखक, श्री रूपनारायण सोनकर जी द्वारा लिखित प्रसिद्व उपन्यास है। उपन्यास की कथावस्तु धार्मिक,बनाम आर्थिक है। जैसा की उपन्यास के नाम से प्रतीत हो रहा है की यह कृति दलित समाज की चेतना आज भूमण्डली के दौर में कितना विकसित हो गयी है। उपन्यास में व्यापार और धर्म के बीच कई जगह तीखी टकरहाट है। उपन्यास में रामचन्द्र त्रिवेदी, घसीटे चमार, सज्जन खटिक, और सलवंत यादव जैसे पात्र विदेश से पढाई पूरी किये है। इनका सपना परम्परागत सपनों से अलग है। ये तीनो समाज और समय का सच पहचानते है। जैसा की उपन्यास में लिखा गया है-''रामचन्द्र त्रिवेदी, सज्जन खटिक, घसीटे चमार, और सलवंत यादव विदेशों से उच्च तकनीकि शिक्षा ग्रहण कर अपने गाँव सिंहासन खेड़ा आये थे। रामचन्द्र त्रिवेदी ने एम0 बी0 ए0, सज्जन खटिक ने बी0 टेक0, सलवंत यादव ने बैटरनरी डॉ0 की डिग्री ली थी, घसीटे चमार ने बार-एट ला की डिग्री ली। इन सभी दोस्तों ने उच्च तकनीकी व कानूनी शिक्षा ग्रहण की थी। इन चारों को देश-विदेश में अच्छी नौकरियां मिल रहीं थी, लेकिन ये लोग कहीं भी नौकरी नहीं करना चाहते थे। चारो तरफ आतंक का वातावरण फैला हुआ है। चारो तरफ शहरों में मारकाट हो जाती है। सैकडों की संख्या में निर्दोष लोग मारे जाते है। वे लोग कोई ऐसा बिजनेस चाहते है जो अशिक्षित, शिक्षित, बेरोजगारों को नौकरी दे सके विशेषकर ग्रामीण नवयुवकों को। गाँव में एक ऐसा वतावरण बनाना चाहते थे जहाँ प्यार समानता भाईचारा हो। गाँव की गरीबी को वे लोग जड़ से उखाड़ फेंकना चाहते थे। जतिवाद को समूल नष्ट करना चाहते थे। विश्व बन्धुत्व पर यकीन करते थे।''1 अर्थात वैश्विक परिवेश में जाति पाँति का काई स्थान नहीं है। उपन्यासकार ने अपने पात्रों के जरिये समाज में फैले जतिवाद के समक्ष पूँजीवाद को अधिक महत्व दिया। और ये सच भी है। यदि आप आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है। तो आप लगभग सभी की नजरों में सम्माननीय है। और यदि आप के पास कुछ भी नहीं है अर्थात आप पूंजी विहीन है, तो आप सम्मान के पात्र नहीं है। इस उपन्यास में चित्रित किया गया है। की अब पूजा-पाठ के भरोसे जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता है। जीवनयापन करने के लिए कोई ठोस वा कारगर साधन खोजना होगा। अब हमें जमाने के हिसाब से अपनी सोच परिवर्तित करनी होगी। वर्तमान समय विज्ञान का समय है। अब पुरानी खोखली मन्याताओं का समय नहीं रहा। 'किसी दूसरे

की उन्नति को देखकर कुढना। उसकी उन्नति के रास्ते में काटें बिछना। जाति के आधार पर किसी को हेय समझना। साम, दाम, दण्ड, और भेद से उसको पराजित करना। ये ही बुरे संस्कार हैं आज का युग कम्पीटन का है। आप जरा चूके तो अवसर आपके हाथ से निकल जायेगा।''[2]

रामचन्द्र त्रिवेदी, सज्जन खटिक, घसीटे चमार, और सलवंत यादव मिलकर पिगरी फार्म खोलते है। चारों का कार्य बटा हुआ है। सभी मिलकर पिगरी फार्म खोलते है। किसी भी कार्य को सफलता तक पहुँचाने के लिये उसकी नियोजन विधि बहुत ही शानदार होनी चाहिए। 'सुअरदान' उपन्यास में भी चारों साझेदारों का कार्य बटा हुआ है। रामचन्द्र त्रिवेदी मार्केट का कार्य देखता है। देश-विदेश के व्यापारियों से उसकी अच्छी खासी जान-पहचान है। सज्जन खटिक, कम्प्यूटर आपरेट करता है। सुअरों से सम्बंधित सारी जानकारी कम्प्यूटर में दर्ज करता है। सलवंत यादव सुअरों को अच्छा भोजन उपलब्ध कराता है। घसीटे चमार कानून की जानकारी रखता है। वह व्यापारियों से किये हुये 'करार' को कानून की दृष्टि से पड़ताल करता है। इन चारों की कर्तव्य निष्ठा से पिगरी फार्म दिन-रात अपनी उन्नति में वृद्धि कर रहा है। ''पिगरी फार्म के अन्दर सूअरों को खाने के लिए सकरकन्दी कई हैक्टेयर खेतों में लगाई गई। पानी के लिए ट्यूबेल की व्यवस्था की गई है। खेतों में तालाब बनाए गये। चारों का पिगरी फार्म आसमान की ऊचाँइयो को छूने लगा। पिगरी फार्म के अन्दर बहुत अलीशान वातानुकूलित कोठी बनायी गयी। जिसमे नौ कमरे थे। सूअरों की संख्यां छः हजार से उपर पहुँच गयी। चारों आदमियों के काम बटे थे। रमचन्द्र त्रिवेदी मार्केटिगं करता था। देश विदेश के व्यापारियों से सम्पर्क साधता था और सौदा तय करता था।''[3] सुअरदान उपन्यास में धर्म और पूँजीवाद के मध्य तमाम उतार चढाव आते है। कुछ सवर्ण रामचन्द्र त्रिवेदी का 'पिगरी फार्म' जैसा कार्य करने से खुश नहीं है। वे समय निकालते ही रामचन्द्र त्रिवेदी को समझाते बुझाते है। आज का समय बजार तय कर रहा। मनुष्य उस सुख की ओर दौड़ रहा जहाँ उसे लाभ-हानि का कोई संकट न हो। सुअरदान उपन्यास में उपन्यासकार ने गाय और सूअर की उपयोगिता और अन्तराष्ट्रीय मूल्यांकन की तबसीस की है। सिंघलखेडा़ गाँव एक मध्यवर्गीय गाँव है। सम्पूर्ण गाँव में विविध प्रकार के क्रिया व्यापार हो रहे है। उसी गाँव में पुजारी, मन्दिर, रिश्वतखोरी दबंगो का बोल-बाला, और दलित विरोधी समीकरण भी। परन्तु गाँव में पिगरी फार्म संचालन ऐसे है जो विदेशों से शिक्षा प्राप्त करके आये है। और उनका सारा ध्यान व्यवसाय पर लगा हुआ है। यही कारण है की उनका व्यवसाय दिन-दूनी और रात चौगुनी तरक्की कर रहा है। समय-समय पर उन चारों पार्टनरों में क्रमशः देश-विदेश भ्रमण पर भी जाते रहते है। वर्तमान समय में शिक्षा का अर्थ मनुष्यता ज्ञान के साथ रोजगारपरक रूप ग्रहण कर लिया है। हमारे देश में आज बाजार का आतंक इस प्रकार कायम हो गया है की जैसे ये मल्टीनेशनल कम्पनियाँ मनुष्य के लिए अनिवार्य सत्य हो गयी है।

संकटा प्रसाद चिकवा ने बताया-''मैंने बैंक से लोन लिया है। खेतों में फल-फूल सब्जियाँ उगाने के लिए, मछली एवं मुर्गी पालन के लिए बैंको से एंव सरकार से मदद मिलती है। आपको मैं बैंको से लोन दिलाने एंव सरकारी सहायता दिलाने के लिए मदद करूँगा। यह एक एसा व्यवसाय है जिसमें आमदनी अच्छी होती है। भैंस पालन के लिये भी सरकार मदद देती है। शुद्ध-दुध भैंसो से मिल जाता है। दूध की आजकल बहुत अच्छी कीमत मिल रही है। देखो (एक आमदनी की ओर इशारा करते हुए) ग्रामीण बैंक के मनेजर सदानंद कन्नौजिया जी मेरीफसलें मुर्गी व मछली पालन देखने आ गयेहै।''[4] आज का मनुष्य विज्ञान की जानकारी हासिल करके अपने आपको अपडेट रखता है। इण्टरनेट की दुनियाँ में उसे बैंकिंग, बजार, कृषि सम्बन्धी जानकारी हासिल हो जाती है। 'सुअरदान' उपन्यास के पात्र वैज्ञानिक तकनीकों से अपना व्यवसाय उन्नति पथ पर अग्रसर है। आपसी सदभाव को बाजार अच्छी तरह समझता है। आज हम आधुनिकीकरण के जिद्दोजहद में जी रहे है। बाजार हमारी भूमिकाऐ तय कर रहा है। ''बाजार व्यापार के स्थान और अनिवार्य संसाधन प्रदान करता है। इस अर्थ में बाजार व्यापार का अधार है।''[5] बाजार में परिवर्तन की अद्भुत क्षमता होती है। अब समझने की बात यह है की उस परिवर्तन को विकास की संज्ञा दी जाय या उसे परिवर्तित रूप कहा जाए। रूपनारायण सोनकर जी ने 'सुअरदान' में दिखाया की पिगरीफार्म लोगों को रोजगार के द्वार खोल रहा है। वह पिगरीफार्म रात-दिन अपनी समृद्धि की गाथा स्वयं स्वर्ण अक्षरों में लिख रहा था। गाँवो की विरोधी ताकते उसके विरूद्ध किस प्रकार से आये दिन साजिशें रच रहे है। पूरे गाँव का वातावरण आपसी रंजिशों से प्रदूषित है। धूर्त पाखण्डी आपस में जनता को लड़ा रहे है। गाँव में सही जानकारी आने से सभी प्रकार के काले कारनामें बंद हो जाते है। अब मनुष्य अपने हानि-लाभ का आकलन स्वयं कर लेता है। वह अपना हित-अहित समझ रहा है। अब वह ज्योतिषाचार्य भाग्य के भरोसे कम बैठता है।

आज बाजार समाज के कोने कतरे में बैठे मानव को मुख्य भूमिका में ले आ रहा है। उपन्यासकार ने 'गाय' की संस्कृति और सुअर की औपनिवेशिक संस्कृति से तलना किया है। इसी उपन्यास में ही दिखाया जाता है की सुअर की उपयोगिता किस प्रकार से बढ़ रही है। उसके अपने ग्राहक है। धर्म, समाज और व्यापार के त्रिकोण रूप को उपन्यास लेकर चलता है। जिसमें परिवर्तित समाज की व्यापार निति का पर्दाफास हो जाता है। ''धर्म और बाजार के नव संश्रय में धर्म से अधिक ताकतवर और निर्णायक भी बाजार ही होता है''[6] लेखक ने उपन्यास मं समाज की पड़ताल भिति-दर भिति किया है। व्यापार और बाजार समाज मनुष्य और मनुष्य के बीच धर्म की दीवार गिरा देता है। 'धर्म' बाजार के आगे लाचार सा नजर आ रहा है। "आज के युग में कोई भी व्यापार करना अर्धम नही होता हैं। मेहनत और ईमानदरी से किया गया कार्य उस कस्तुरी को प्राप्त करता है , जो मृग में रहती है।''[7] आज की पीढी़ आर्थिक आकलन करती हुई समाजिक गतिविधियों का मुआयना करती है। सूअरदान उपन्यास में उपन्यासकार ने गाय की तुलना मे सूअर को उपयोगी बताया है। वर्तमान समय बाजार का समय का है। आज मानव के पास पूंजी है तो वह विश्व की किसी भी चुनौति को झेल सकता है।

सन्दर्भ-

1.रूपनारायण सोनकरः सुअरदान पृ. 14 सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली।
2.वही पृ0 सं0 98
3.वही पृ0 सं0 15
4.वही पृ0 38
5.बाजारवाद और जनतंत्र, प्रफुल्ल कोलख्यान -21 आनंद प्रकाशन कोलकाता
6.वही- 113
7.सुअरदान, रूपनारायण सोनकर पृ0 98 सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2013।

दलित कविता का सौन्दर्यबोध

-डॉ.विशेष कुमार राय
असिस्टेंट प्रोफेसर,हिंदी विभाग,
जे.एस.हिन्दू (पी.जी.) कॉलेज,
अमरोहा मो.7013507228

अपनी शुरूआत से ही दलित कविता को सौन्दर्यबोध के सवाल से जूझना पड़ा है। उसकी कही बात को महत्व देने की बजाय उसके कहन के तरीके में कलात्मकता के अभाव की बारहा दुहाई दी गई। गोया बात को कहने का पहले से काई तय तरीका हो और दलित कविता को वही बरतना था। बहरहाल दलित कविता ने तरीके के बजाय नतीजे को तरजीह देना ज्यादा जरूरी समझा। कविता के शिल्प को लेकर दलित कविता का दृढ़ आग्रह है कि "साहित्य मजदूरों के मुँह पर/मारे जा रहे थप्पड़ों के विरोध में/स्पष्ट नजरिए का शिल्प ही हो सकता है।"[1] यह विचार का विषय है कि जिस कविता का जन्म संघर्ष की पृष्ठभूमि में हुआ, जिसका विकास भी स्थापित मूल्यों से टकराने के क्रम में हो रहा है, उस कविता का सौन्दर्यबोध भला कैसा होना चाहिए? जाहिर तौर पर कविता की पृष्ठभूमि में जो समाज है, लोग हैं, परिवेश है, जिन सवालों को तवज्जो दी गई है, उन्हीं के हिसाब से उसका सौन्दर्यबोध तय होगा। चुनांचे दलित कविता का स्पष्ट मत है कि अगर 'सारा लोहा उन लोगों का हैं, तो 'धार' भी उन्हीं की होगी।

मनुष्य के परिवेश का सौन्दर्यबोध से गहरा ताल्लुक होता है। मनुष्य का परिवेश उसकी सौन्दर्य दृष्टि को निर्मित-विकसित करता है। बकौल ओमप्रकाश वाल्मीकि "कला और साहित्य में सौन्दर्यबोध जहाँ संस्कारजन्य होता है, वहीं परिवेशगत भी। पसन्द-नापसन्द जीवन मूल्यों का आधार बनती हैं।"[2] आखिर जिस तबके ने लम्बे समय तक अमानवीय जीवन जिया हो, जब वह साहित्य की दुनिया में दखल देगा, तो उसकी सौन्दर्य दृष्टि कैसी होगी? बजाहिर वह सबसे पहले परंपरित सौन्दर्यबोध को नकारेगा तथा ऐसे सौन्दर्यबोध की माँग करेगा जो उसके जीवन-जगत से वाबस्ता हो, जिस भाषा, सौन्दर्य, शिल्प में उसके जीवन की समायी मुमकिन हो। यह उन लोगों का सौन्दर्यबोध है जो 'सदियों का संताप' सहते हुए भी, अपने भीतर संघर्ष की 'तिनका-तिनका आग' सुलगाए हुए हैं, जो अमानवीय व्यवस्था से दो टूक शब्दों में कह रहे हैं कि 'बस्स! बहुत हो चुका' क्योंकि वे 'समय की आदमखोर धुन' से वाकिफ हो चुके हैं। कवि अज्ञेय को 'कलगी बाजरे की' खूबसूरत लगी किन्तु दलित कवि के लिए वह कटु सत्य है क्योंकि "बाजरा खेत का/खेत ठाकुर का।"3 और हकीकत यह है कि उस खेत की मिट्टी में उन्हीं का खून-पसीना लगा है। चुनांचे उन्हें वह सुंदर नहीं लगेगा बल्कि यह दृश्य उन्हें आक्रोश से भर देगा। यही आक्रोश नकार में तब्दील होकर दलित कविता में प्रतिरोध को जन्म देता है। दलित कविता के सौन्दर्यबोध में इन तीन तत्वों का महत्वपूर्ण स्थान है। दरअसल दलित कविता का सौन्दर्यबोध उसकी संघर्ष-चेतना की प्रक्रिया में ही निर्मित-विकसित हो रहा है।

यह तय बात है कि दलित कविता का सौन्दर्यबोध परंपरित सौन्दर्यशास्त्र से अलहदा होगा। दलित कविता की जमीन अलग है, मिजाज जुदा है, सोचने-समझने का तरीका भी अलहदा है। अतः उसकी सौन्दर्यदृष्टि परंपरित सौन्दर्यशास्त्र से भिन्न तो होगी ही। 'शरणकुमार लिंबाले की भी यही तजवीज है कि "बदलती संस्कृति के साथ साहित्य भी बदलता है। यदि ये कसौटियाँ बदलती नहीं हैं तो साहित्य और समीक्षा दोनों का रिश्ता टूट जाएगा। भारत में आस्वाद के भिन्न-भिन्न स्तर और प्रक्रिया बहुत बड़े पैमाने पर है। एक को जो आस्वादनीय लगता है वह दूसरे को भी आस्वादनीय ही लगे, ऐसा नहीं है।"[4] व्यक्ति की पसंद-नापसंद उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि तय करती है। ऐसा नहीं कि दलित साधरणीकरण या विरेचन की प्रक्रिया से नहीं गुजरते। बेशक यह उनके साथ भी घटित होता है मगर तमाम कलात्मकता के बावजूद उन्हें तुलसीदास की बजाय कबीर, रैदास इत्यादि निर्गुण संतों की कविताएं ही पसंद आएंगी। दरअसल इन कवियों की कविताएं सीधे उनकी जिंदगी से वाबस्ता हैं। जिस कविता में उनकी जिंदगी की समायी मुमकिन नहीं भला वह उन्हें क्यों पसंद आले लगी!

सौन्दर्यबोध का निर्माण एक दीर्घ प्रक्रिया के तहत होता है। इसमें किसी जाति के अर्जित अनुभव एवं मूल्य निहित होते हैं। इसलिए समय एवं परिवेश के अनुसार मनुष्य के सौन्दर्यबोध में भिन्नता पाई जाती है। न तो साहित्य अलौकिक होता है और न ही उसका सौन्दर्यबोध। ये मनुष्य द्वारा ही निर्मित-विकसित होते हैं। अतः उनमें कमी या खूबी होना मुमकिन है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार "जो लोग कहते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र का जाति, वर्ग और विचारधारा से क्या लेना-देना वे या तो बेवकूफ हैं या बदमाश। सौन्दर्यशास्त्र कला की अलौकिक अनुभूति का शास्त्र नहीं है। कलात्मक सौन्दर्य के बोध और मूल्यों का शास्त्र है और बोध की प्रक्रिया तथा मूल्यों के निर्माण में जाति, वर्ग और लिंग से जुड़ी विचारधाराओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।"[5] यह स्पष्ट है कि सौन्दर्यबोध का समाज से गहरा ताल्लुक होता है चुनांचे साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की समुचित समझ के लिए समाजशास्त्र की मदद भी लेनी चाहिए। यदि सौन्दर्यबोध किसी उत्पीड़ित समुदाय का है, तो समाजशास्त्रीय पद्धति की मदद के बिना उसे समझना संभव नहीं।

संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में बरता जा रहा परंपरित सौन्दर्यशास्त्र यदि बहुसंख्यक जनता की आकांक्षाओं का प्रतीक होता, तो प्रेमचंद को सुदंरता की कसौटी बदलने का आग्रह न करना पड़ता। जनवादी कविता ने एक हद तक उस कसौटी को बदला भी किन्तु दलित कविता के आरम्भ से ही सुंदरता की यह कसौटी उसका अभिन्न हिस्सा रही है। बिना इस कसौटी के कोई भी कविता दलित कविता

नहीं हो सकती। दलित शब्द कला-साहित्य के साथ जुड़कर एक व्यापक आन्दोलन का रूप अख्तियार करता है, जिसके स्पष्ट सामाजिक सरोकार हैं। ये सामाजिक सरोकार ही उनके सौन्दर्यबोध की दिशा तय करते हैं।

यदि समाज अशांत है। व्यक्ति का जीवन संघर्ष एवं प्रतिरोध में ही व्यतीत हो रहा है, तो उसकी सौन्दर्य-दृष्टि कैसी होगी? जाहिर तौर पर प्रतिरोध की चेतना का संवाहक होना ही उसकी कविता का असल सौन्दर्य होगा। दलित कविता समता, स्वतंत्रता, बन्धुता एवं सामाजिक न्याय की अवधारणा पर बल देती है। ये सभी तत्व उसके सौन्दर्यबोध के विकास में सहायक हैं। जब दलित कवि अपनी वेदना को कविता में ढालते हैं, तो उसका दायरा व्यापक हो जाता है। कवि का 'मैं' कविता में आकर 'हम' में तब्दील हो जाता है। दलित कविता व्यैक्तिक्ता की जगह सामाजिकता को तरजीह देती है। दलित कविता ने परंपरित सौन्दर्यशास्त्र के आनन्द की जगह वेदना एवं निजता की जगह सामाजिकता को स्थापित किया है। यह सौन्दर्यबोध का सर्वथा नवीन तत्व है, जो परंपरित सौन्दर्यशास्त्र में नहीं मिलेगा। दलित कविता स्वानुभूति बनाम सहानुभूति के फर्क को स्पष्ट करते हुए, अनुभूति की प्रामाणिकता का दावा पेश करती है। यह अनुभूति कविता में आकर सामाजिक रूप धारण कर लेती है। इसी क्रम में वह बदलाव की चेतना का संवाहक बन जाती है। बकौल ओमप्रकाश वाल्मीकि "दलित कविता निजता से ज्यादा सामाजिकता को महत्ता देती है, इसीलिए दलित का समूचा संघर्ष सामाजिकता के लिए है।"[6] यदि किसी कविता की सामाजिक जवाबदेही स्पष्ट नहीं, तो तमाम कलात्मकता के बावजूद दलित दृष्टि के लिए उसका महत्व नगण्य है।

चूँकि कि दलित कविता जिन्दगी की कविता है इसलिए उसमें जीवन-जगत की भाषा के इस्तेमाल पर ही जोर है। दलित कविता सामाजिक कविता है अस्तु वह संवाद कायम किए बिना नहीं रह सकती। इस संवाद हेतु सीधी-सरल भाषा की आवश्यकता है, फिर चाहे वह अनगढ़ ही क्यों न हो। देखा जाए तो यहाँ भाषा का अनगढ़पन ही उसका सौन्दर्य है। दलित कविता की भाषा पर कई मर्तबा अश्लीलता का अरोप भी लगाया गया। अव्वल तो यह है कि ये उस तबके की भाषा है जिसके प्रति कभी कोमलता नहीं बरती गई। दूसरा, वह तबका अपने अनुभवों को अपने सदोहरों से साझा कर रहा है। यह दलित जीवन का यथार्थ है, जिससे हर दलित का साबका पड़ता है। यह 'अक्करमाशी' की जबान है, अश्लील तो लगेगी ही। दलित कवि का यकीन इस बात में है कि जीवन की भाषा ही कविता की भाषा भी होनी चाहिए और अपनी बात को बिना किसी लाग-लपेट के कहा जाना चाहिए। विचारणीय है कि कला-साहित्य में न बर्दाश्त किए जाने वाले शब्द किसी समाज की रोजमर्रा की जिंदगी का हिस्सा हैं। मंटो ने दुरूस्त कहा था कि 'अगर आप इन अफसानों को बर्दाश्त नहीं कर सकते तो ये जमाना नाकाबिले-बर्दाश्त है।' दलित कविता इसी 'नाकाबिले-बर्दाश्त' जमाने की हकीकत बयान कर रही है। भला वह सबको खूबसूरत क्योंकर लगने लगी? भाषा पर लगे आरोपों की बाबत ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं "यातनाओं से उपजी आक्रोशित भाषा तेज औजार की तरह भीतर तक झकझोर देती है। दलित समाज की बोली-बानी के ऐसे अनेक शब्द प्रकट होते हैं, जिनसे साहित्य अनभिज्ञ था। यह दलित साहित्य को ताजगी देता है और भाषा की जड़ता भी टूटती है।"[7] दलित कविता भाषा के खास वर्चस्व को भी तोड़ती है। भाषा की श्लीलता- अश्लीलता की बहस का जवाब कँवल भारती की कविता 'तुम क्रांति नहीं करोगे' बड़े बेबाक तरीके से देती है। कवि का सीधा सा प्रश्न है कि 'यह बताओ/ बलात्कार की शिकार/तुम्हारी माँ की भाषा कैसी होगी/.....ठाकुर की हवेली में दम तोड़ती/तुम्हारी बहिन के शब्द? क्या वे सुंदर होंगे?' दलित कविता की भाषा पर सवाल खड़े करने वाले आलोचकों को यह सनद रखना चाहिए कि 'शब्द अश्लील नहीं होता, अश्लील होता है उसका संदर्भ' वास्तव में दलित कवि जीवन के यर्थार्थ को जीवन की ही भाषा में पेश करते हैं। यह आलोचनात्मक यर्थाथ है अस्तु कटु होना लाजमी है।

सांस्कृतिक लड़ाई में मिथक एवं प्रतीक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वर्चस्ववादी संस्कृति अनेक मिथक एवं प्रतीक गढ़कर ही अपनी सत्ता स्थापित करती है। दलित वर्गों की दासता में भी मिथकों एवं प्रतीकों का अहम योगदान रहा है। अस्तु दलित कवि इन मिथकों का पुनर्पाठ करके उन्हें नए अर्थों में ढाल रहे हैं। मिथक एवं प्रतीक समाज को बहुत गहरे स्तर तक प्रभावित करते हैं। परंपरा में चले आए 'शम्बूक वध' को दलित कवियों ने व्यवस्थागत उत्पीड़न से जोड़ कर पेश किया। कई अन्य मिथकों एवं प्रतीकों का पुनर्पाठ भी इस तरह किया गया। इस क्रम में सदियों से शोषण का औजार बने मिथक प्रतिरोध की चेतना के संवाहक बन जाते हैं। क्या यह दलित कविता का नया सौन्दर्यबोध नहीं? उदाहरण के लिए मलखान सिंह कविता की ये पंक्तियाँ देखिए- "चक्रधर/चाह कर भी हम/नहीं चाह पाते मुझे/क्योंकि हमारे गाँव के मुखिया की शक्ल/हू-ब-हू तेरी शक्ल से मिलती है।"[8] यह प्रतिरोध एवं बदलाव का सौन्दर्यबोध है, जिसे दलित कविता गढ़ रही है। परंपरित साहित्य में भारतीय गाँव की एक आदर्श छवि प्रस्तुत की जाती रही है किन्तु 'भारत माता ग्रामवासिनी' का अनकहा सच दलित कविता ने बयान किया।

दलित कविता की सपाटबयानी को लेकर भी अक्सर तंज किए जाते हैं। वैसे सपाटबयानी तो धूमिल व मुक्तिबोध जैसे हिन्दी के न जाने कितने कवियों की कविताओं में मिलती है। जैसा कि पहले बताया गया दलित कविता अपने पाठक/ श्रोता वर्ग से संवाद किए बिना जीवित नहीं रह सकती। कबीर आदि निर्गुण संत कवियों की कविता में 'सुनो भाई साधो', 'कहत कबीर' इत्यादि संबोधन के प्रयोग बेवजह ही नहीं हुए। यह संवाद की प्रक्रिया है, जिसके बिना दलित कविता जीवित नहीं रह सकती। दलित कविता को जिन लोगों से संवाद कायम करना है, उनकी शैक्षणिक पृष्ठभूमि ज्यादा अच्छी नहीं है। वे निरक्षर या कम पढ़े-लिखे लोग हैं। चुनांचे दलित कविता उनसे सीधी-सरल भाषा में संवाद कायम करने की कोशिश करती है। ऐसा नहीं है कि सपाटबयानी खूबसूरत नहीं हो सकती। ओमप्रकाश वाल्मीकि की प्रसिद्ध कविता 'ठाकुर का कुआँ' सपाटबयानी होते हुए भी बेहद सुंदर है "कुआँ ठाकुर का/पानी ठाकुर का/खेत-खलिहान ठाकुर के/फिर अपना क्या?/गाँव?/शहर?/देश!"[9] इसी तरह अन्य कवियों की दलित कविताएं भी देखी जा सकती हैं। दलित कविता की एक अन्य खूबसूरती यह भी है कि वो प्रतिपक्ष से भी संवाद कायम करने की हर मुमकिन कोशिश करती है। तमाम कविताएँ मिल जाएंगी जो प्रतिपक्ष से संवाद या सवाल करती हैं। दलित कविता का विश्वास है कि अब 'मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही', से काम नहीं चलने वाला, अब तो हर कहीं 'आग जलनी चाहिए।'

दलित कविता के सौन्दर्यबोध में जहाँ एक तरफ आक्रोश, नकार, प्रतिरोध व बदलाव की चेतना है तो वहीं दूसरी तरफ इसमें समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व एवं न्याय पर आधारित समाज का ख्वाब भी है। साहित्य-कला में लम्बे समय तक वर्जित रहे बिम्बों और प्रतीकों का इस्तेमाल अभी तक अनदेखे-अनकहे रह गए दलित जीवन के सच को हमारे सामने लाता है। दलित कवियों ने न केवल परंपरित बिम्बो-प्रतीकों को नई अर्थवत्ता दी बल्कि उन्होंने सर्वथा नवीन बिम्बो-प्रतीकों को गढ़ने का काम भी किया। सूर्य उत्साह, ऊर्जा एवं शक्ति का प्रतीक है किन्तु दलित दुनिया में दाखिल होते ही पूरा दृश्य बदल जाता है यथा "सूरज बीमार है या/यहाँ का प्रत्येक बाशिन्दा/पीलिया से ग्रस्त है।"11 इसीलिए दलित कविता चाँद को चाँद ही समझती है, नायिका का चेहरा नहीं। जिन्दगी ने उसे अभी तक इतनी सहुलियत और फुर्सत नहीं दी है कि वो अपनी भावनाओं की दुनिया में भी सुकून पा सके। इसलिए सूरज, चाँद और सितारे तो दलित कविता में भी होंगे मगर शायद उतने चमकदार न हों। मुमकिन है कि हकीकत से थोड़ा स्याह ही हों! ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार "दलित कविता में बिम्ब दलित जीवन की त्रासदी और उसके यथार्थ को व्यक्त करते हैं। दलित कविता में अँधेरा, आसपास के परिवेश में गंदगी की सडाँध, सीलन भरे तंग मकानों में सिसकती जिंदगी दलित जीवन के यथार्थ हैं जो उनके जीवन का अविभाज्य घटक बन गए हैं।"[12] आखिर दलित वर्गों के हिस्से में जो अब तक आया है, वे उसे ही अपनी कविता में साझा कर रहे हैं। उनके जीवन का यथार्थ और आकांक्षा ही तो उनके सौन्दर्यबोध का निर्माण करेगी।

अतः दलित कविता का जो भी सौन्दर्यबोध गढ़ा जाएगा उसमें प्रतिरोध एवं विकल्प दोनों ही होंगे। दलित कविता को चाहिए कि वह दलित वर्गों के यथार्थ एवं आकांक्षा का मुसलसल बयान करती रहे। निरंतर साहित्य सृजन से ही सौन्दर्यबोध अपना आकार लेगा। बिना प्रतिबद्धता के अस्मिता एवं अस्तित्व की बातें बेमानी हैं। अतः दलित कविता को हमेशा अपनी सामाजिक जवाबदेही तय करनी होगी। आधुनिककाल में दलित कविता का आरंभ ही स्पष्ट सामाजिक सरोकारों के साथ होता है। 'अछूत की शिकायत' में हीरा डोम बड़ी साफगोई से कहते हैं "भंटऊ के लेखे न कवित्त हम जोरबजां।"[13] इस प्रतिबद्धता के कारण प्रकृति भी दलित कविता में अलग तरह से नजर आती है। 'माँ और नदी' कविता में कवि को माँ, नदी के साथ ही हिंडन नदी किनारे उगने वाली ककड़ी, खीरे और तरबूज याद आते हैं। सनद रहे कि 'भूख' दलित समाज-साहित्य का एक केन्द्रीय मुद्दा है। दलित कविता में पर्यावरण की चिंता भी दिखाई देती है। वर्चस्वशाली सत्ता-संस्कृति ने सिर्फ समाज को ही हानि नहीं पहुँचाई बल्कि पूरे परिवेश को दूषित कर दिया। आलम यह है कि अब "वृक्षों ने डरकर/छोड़ दिया है उगना/नदियाँ सूखने लगी हैं/या फिर मुड़ गई हैं/रास्ता बदल कर/तुम्हारी बस्तियों से दूर।"[14] इसी तरह 'पहाड़' कविता में पहाड़ के कटान पर कवि भी दुखी होता है 'फिर भी ओ मेरे पहाड़/तुम्हारी हर कटान पर कटता हूँ मैं ही।' सदियों से भेदभाव का शिकार रहे दलित वर्गों को मोहलत और फुर्सत न होते हुए भी कुदरत ने सुकून दिया है। पेड़ भले ही जमींदार का रहा हो मगर, उसने कभी किसी को छाया देने में भेदभाव नहीं किया। कुदरत की निगाह में बराबर हैं। दलित कविता इसी बराबरी की हामी है।

देखा जाए तो इन कविताओं में सौन्दर्यबोध स्वतः उभरकर आ रहा है। निरंतर एवं प्रतिबद्ध सृजन ही भविष्य में इसका आकार-प्रकार तय करेगा। इस बाबत जल्दबाजी से काम नहीं चलने वाला। आलोचकों को अपने नजरिए को विस्तार देना होगा। दलित कविता में आ रहे आक्रोश, नकार व प्रतिरोध को समझना होगा। इस बाबत डॉ. देविना अक्षयवर की तजवीज दुरूस्त लगती है "कोमलता या मृदुता जब उनके प्रति नहीं बरती गई तो यह भाव वे कहाँ से लाएँ? इसलिए दलित साहित्य को साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का विषय बनाने से पहले ष्।दजीतवचवसवहलष् का हिस्सा बनाकर उसको समझने का प्रयास किया जाना चाहिए।"15 दलित कविता व उसके सौन्दर्यबोध की आलोचना के लिए परंपरित साहित्य की नीति ही नहीं, नीयत भी बदलने की जरूरत है।

सन्दर्भ

1.अब हमें ही चलना है, जयप्रकाश लीलवान, पृ.71, दलित साहित्य प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002.

2.दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-51, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011 संस्करण।

3.सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.13, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली

4.दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र शरणकुमार लिंबले, अनुवाद: रमणिका गुप्ता, पृष्ठ संख्या-108, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010 संस्करण।

5.दलित चेतना: सोच, सं. रमणिका गुप्ता. नवलेखन प्रकाशन, बिहार

6.शब्द झूठ नहीं बोलते, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-11, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्काण 2012.

7.दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-82.

8.सुनो ब्राह्मण, मलखान सिंह, पृष्ठ संख्या-27, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली,

9.सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-13.

10.सुनो ब्राह्मण, मलखान सिंह, पृष्ठ संख्या-13.

11.दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-85.

12.दलित चेतना: कविता, पृ.14, ज्योतिलोक प्रकाशन, दिल्ली

13.शब्द झूठ नहीं बोलते, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-23.

14.दलित साहित्य का समाजशास्त्र, सं. डॉ. विजय पाल, डॉ विवेक कुमार, पृष्ठ संख्या-98, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014.

आत्मकथात्मक कृति 'जूठन' में दलित-व्यथा का चित्रण

-डॉ.उदय भान भगत

सहकारी अध्यापक,हिंदी विभाग,
नगाँव गर्ल्स कॉलेज,नगाँव,
असम-782002 मो.9864952272

प्रस्तावना

'दलित' शब्द का शाब्दिक अर्थ है दलन किया हुआ, कुचला हुआ, दबाया हुआ। इसके अंतर्गत वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जो शोषित और उत्पीड़ित हैं। इस अर्थ में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि धर्मों के दलित-वर्ग मौजूद हैं। आज मूलत: उन लोगों को दलित कहा जाता है जो अनुसूचित जाति के अंतर्गत आते हैं। भारतीय सामाज में वाल्मीकि या भंगी को सबसे नीची जाति समझा जाता रहा है और उनका पारंपरिक पेशा मानव-मल या गंदी नलियों की सफाई करना माना जाता रहा है। जे.एन.यू. के प्रो. विवेक कुमार के अनुसार दलित शब्द का जिक्र सबसे पहले सन् 1831 की मोल्सवर्थ डिक्शनरी में पाया जाता है। सन् 1972 में महाराष्ट्र में दलित पैंथर्स, मुंबई नाम का एक सामाजिक-राजनैतिक संगठन बनाया गया। उत्तर भारत में दलित शब्द को प्रचलित करने का श्रेय कांशीराम को दिया जाता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथात्मक कृति 'जूठन' दो भागों में प्रकाशित है। यह कृति हिन्दी दलित-साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि के रूप में स्वीकृति प्राप्त कर चुकी है। एक दलित की आत्मकथा क्या होती है इस कृति के पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

दलित-व्यथा का चित्रण

आत्मकथा की शुरुआत लेखक ने अपने गाँव, घर की स्थिति और ग्रामीण परिवेश से की हैं जहाँ वह पला और बढ़ा। चूहड़ों के मकान जोहड़ी के किनारे पर थे जिसके पीछे गाँव भर की औरतें दिशा-फरागत करती थी। "रात के अंधेरे में ही नहीं, दिन के उजाले में भी पर्दों में रहनेवाली त्यागी महिलाएँ घूँघटें काढ़े, दुशाले ओढ़े इस सार्वजनिक खुले शौचालय में निवृत्ति पाती थी। ... चारों तरफ गंदगी भरी होती थी। ऐसी दुर्गंध कि मिनट भर में साँस घुट जाए। तंग गलियों में घूमते सूअर, नंग-धड़ंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े- बस यह था। वह वातावरण जिसमें बचपन बीता।"[2] तगाओँ के घर में चूहड़ों का परिवार काम करता था। साफ-सफाई, खेती-बाड़ी, मेहनत-मजदूरी सभी काम होते थे। लेखक की माँ भी दूसरे के घर काम करती थी। मेहनत के एवज में गाली और प्रताड़ना ही मिलती थी। "उम्र में बड़ा हो तो 'ओ चूहड़े' बराबर या उम्र में छोटा है तो 'अबे चूहड़े के'- यही तरीका या सम्बोधन था। ... अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंसे को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इनसानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ जरूरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपयोग खत्म। इस्तेमाल करो ओरे दूर फेंको।"[3]

गाँव में जो होना था वह तो इनके साथ होता ही था। स्कूलों में भी इन दलितों की खैर नहीं था। इनके साथ जानवरों से भी बुरा बर्ताव किया जाता था। सिर्फ स्कूल के बच्चे ही नहीं मास्टर भी सारी हदें पार कर जाते थे। लेखक के पिता ने उनका दाखिला स्कूल में करा दिया था क्योंकि सरकारी स्कूलों में अछूतों को दाखिला मिलने लगा था। पर इनके लिए माहौल अनुकूल नहीं था क्योंकि इनके प्रति लोगों का रवैया और मानसिकता जैसी ही थी। स्कूल का यथार्थ बयान करते हुए लिखा है- "स्कूल में दूसरों से दूर बैठना पड़ता था, वह भी जमीन पर। अपने बैठने की जगह तक आते-आते चटाई छोटी पड़ जाती थी। कभी-कभी तो एकदम पीछे दरवाजे के पास बैठना पड़ता था। ... स्कूल में प्यास लगे तो हैंडपंप के पास खड़ा रहकर किसी के आने का इंतजार करना पड़ता था। हैंडपंप छूने पर बावेला हो जाता था। लड़के तो पीटते ही थे, मास्टर लोग भी हैंडपंप छूने पर सजा देते थे। तरह-तरह के हथकंडे अपनाये जाते थे ताकि मैं स्कूल छोड़कर भाग जाऊँ, और मैं भी उन्हीं कामों में लग जाऊँ, जिसके लिए मेरा जन्म हुआ था। उनके अनुसार स्कूल आना मेरी अनधिकार चेष्टा थी।"[4] स्कूल में मास्टर दिनभर इनसे झाड़ू लगवाते थे और पढ़ाई की बात करने पर उन्हें गाली देते हुए बुरी तरह पीटते थे। मास्टर के इस व्यवहार का पता जब बालक ओमप्रकाश के पिता को चला तो वे स्कूल में आ पहुँचे। पूछे जाने पर मास्टर उनके साथ बदतमीजी के पेश आने लगा और कहने लगा "ले जा इसे यहाँ से... चूहड़ा होके पढ़ने चला है... जा चला जा ... नहीं तो हाड़-गोड़ तुड़वा दूँगा।"[5]

अछूतों को खाने-पीने की काफी तंगी थी। तगाओं के यहाँ काम करने पर भी भरपूर मजूरी नहीं मिल पाती थी। भूख मिटाने के लिए ये गाँव में किसी के यहाँ बारात आने पर फेंकी गई जूठी पत्तलों को इकट्ठा कर लेते और पूरी के बचे-खुचे टुकड़े, एक-आध मिठाई का टुकड़ा या थोड़ी-बहुत सब्जी पत्तल पर पाकर प्रसन्न हो जाते थे। इन जूठनों को वे चटखारे लेकर खाते थे। पत्तलों को बड़े-बड़े टोकड़ों में उठाकर घर ले जाते थे और जूठन के पत्तल के पूड़ियों को अलग कर लेते थे। लेखक इस दृश्य का यथार्थ बताते हुए लिखता है "पत्तलों से जो पूरियों के टुकड़े एकत्र होते थे उन्हें धूप में सुखा लिया जाता था। चारपाई पर कोई कपड़ा डालकर उन्हें फैला दिया जाता था। ... ये सूखी पूरियाँ बरसात के कठिन दिनों में काम आती थीं। इन्हें पानी में भिंगोकर उबाल लिया जाता था। उबली हुई पूरियों पर बारीक मिर्च और नमक डालकर खाने में मजा आता था। कभी-कभी गुड़ डालकर लुगदी जैसा बना लिया जाता था, जिसे सभी चाव से खाते थे। ... दिनभर मर खप

कर भी हमारे पसीने की कीमत मात्र जूठन, फिर भी किसी को कोई शिकायत नहीं। कोई शर्मिन्दगी नहीं, पश्चाताप नहीं।''[6]

उभरती प्रतिभाएँ बाधित तो होती हैं पर दबती नहीं।अनेक बाधा निषेध के बावजूद ओमप्रकाश ने मैट्रिक पास कर लिया और दाखिला इंटर कॉलेज, बरला में हो गया। वहाँ भी उन्हें कॉलेज के लड़कों और प्राध्यापकों से तिरस्कार ही मिला। गणित के लेक्चरर नरेन्द्र कुमार त्यागी एक दिन प्यास लगने पर ओमप्रकाश से पानी लाने को कहा, पर जैसे ही इन्होंने अपनी जाति बता दी, शिक्षक 'रहने दो' कहकर खुद पानी पीने चले गये। अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लेखक ने लिखा है ''मुझे लगा, गणित में मास्टर की डिग्री लेकर भी यह मास्टर कितना बौना है जिसमें इतना साहस भी नहीं कि मेरे हाथ से पानी पी सके।''[7] आप खुद इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि एक शिक्षक जिसे समदर्शी होना चाहिए था उसका रवैया क्या उसे शिक्षक पद का अधिकारी बना सकता है?

पारिवारिक और आर्थिक अस्थिरता के वजह से आगे की पढ़ाई से ओमप्रकाश को हाथ धोना पड़ा। घर चलाने और अपने आपको पारंपरिक पेशा से अलग रखने के लिए उन्होंने एक नौकरी की तलाश शुरु की। संयोगवश ऑर्डनेंस फैक्टरी, देहरादून में अप्रेंटिस बनकर प्रवेश पा गए। एक साल प्रशिक्षण के बाद प्रतियोगितात्मक परीक्षा मे चयनित होकर उच्च प्रशिक्षण हेतु ऑर्डनेंस फैक्टरी प्रशिक्षण संस्थान, खमरिया, जबलपुर, चन्द्रपुर और देहरादून जाना पड़ा। ओमप्रकाश के लिए समस्या उनका 'सरनेम' था। वे लिखते हैं, ''नाम का उत्तरार्द्ध जिसे 'सरनेम' कहा जाता है, मेरे नाम के साथ जुड़कर कई प्रकार की विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न करनेवाला सिद्ध हुआ है, अपनी जाति बोधकता के कारण। जब ये स्थितियाँ अन्तर्सम्बंधों को प्रकाशित करने लगती हैं तो इस नाम से छुटकारा पाने की सोचने लगता हूँ। लेकिन जीत उपनाम की ही हुई। अभी तक तमाम हादसों के बाद भी मैं इसे नहीं छोड़ पाया हूँ, बल्कि यह और भी अधिक आत्मीय लगने लगा है।''[8] कुछ लोग ऐसे भी थे जो अपने 'सरनेम' को बदल लिए थे या अपनी पहचान छुपा लिए थे। रिश्तेदारी के लोग भी इनसे कतराने लगे थे क्योंकि इनके सरनेम से उनकी पहचान के खुल जाने का डर बना रहता था। अपनी इसी व्यथा को व्यक्त करते हुए लिखते हैं, ''इस सरनेम के कारण जो दंश मुझे मिले हैं, उनको बयान करना कठिन है। परायों की बात तो छोड़िये, अपनों ने जो पीड़ा दी है वह अकथनीय है। परायों से लड़ना जितना आसान है, अपनों से लड़ना उतना ही दुष्कर।''[9] इसी सरनेम के कारण इन्हें कोई किराये का मकान भी नहीं देना चाहता था। सभी जगह पहला सवाल जाति का ही पूछा जाता। एक मकान मालिक तो यहाँ तक कह डाला, ''देखो जी बाद में झंझट नहीं चाहिए, हमलोग कुमाऊँनी ब्राह्मण हैं, किसी डोम या मुसलमान को अपने यहाँ किराएँ पर नहीं रख सकते।''[10] दफ्तर में भी अधिकारी, सहकर्मी तथा अधीनस्थ कर्मचारी इस सरनेम के कारण उनका मूल्यांकन कम करके आँकते थे।

चन्द्रपुर (महाराष्ट्र) से ओमप्रकाश का तबादला ऑर्डनेंस फैक्टरी देहरादून में हो गया था और पोस्टिंग डिजाइन ऑफिस में हुई थी जहाँ रूसी तकनीक केआधार पर टी-72 और बी.एम.पी-2 टैंकों के विजन डिवाइसिस के निर्माण का कार्य एक परियोजना के तहत चलनेवाला था। ऑफिस के ज्वाइन का निर्माणी आदेश आते ही लोगों में एक अजीब तरह की सुगबुगाहट होने लगी। अपनी व्यथा को उजागर करते हुए लिखते हैं, ''मुझे अहसास हुआ कि लोगों में मेरे उपनाम को लेकर एक अजीब तरह की सुगबुगाहट है, जिसे कानाफूसी कहा जाए तो गलत नहीं होगा क्योंकि मेरी जाति के किसी व्यक्ति को इस पद पर देखने के वे अभ्यस्त ही नहीं थे। ऊपर से 'वाल्मीकि' उपनाम उनके गले ही नहीं उतर रहा था। एक अजीब सी स्थिति थी। मैं एक सम्मानित पद पर इस फैक्टरी मे आया हूँ, वह भी एक विशिष्ट योग्यता द्वारा मिलनेवाली सुविधाओँ के साथ जोड़कर देख रहे थे। मेरी पढ़ाई-लिखाई, प्रशिक्षण, अनुभव के बारे में वे जानने की कोशिश भी नहीं कर रहे थे।''[11] ऑर्डनेंस फैक्टरी के बड़े अफसर को कतई यह बात गले से नहीं उतर रही थी कि 'बाल्मीकि' सरनेम वाला व्यक्ति डिजाइन ऑफिस में काम कर सकता है। ऑफिस के प्रभारी ने एक दिन अपने चेम्बर में बुलाकर कहा, ''मिस्टर! यहाँ डिजाइनिंग का काम है, इसमें दिमाग लगाना पड़ता है, साथ ही एशियन ड्राइंग्स है जिन्हें समझना हर किसी के बस का नहीं है।''[12] लेकिन ओमप्रकाश ने अपनी योग्यता और लगन से डिजाइन का काम लगभग एक घंटे में पूरा किया, जबकि अधिकारी ने उन्हें दो दिन का वक्त दिया था।

नवंबर 1998 में उनका तबादला तोप गाड़ी फैक्टरी (जी.सी.एफ) जबलपुर में हो गया। वहाँ भी उनके .. सरनेम को लेकर अनेक प्रश्न पूछे गये। उनके तकनीक ज्ञान को पीछे ढकेलकर एक ऐसा अनुभाग सौंपा गया जहाँ सौ से ज्यादा सफाई कर्मी थे और इतने ही श्रमिक। वहाँ भी उन्होंने कर्मियों के साथ विनम्रता का व्यवहार करके, उनके प्रति संवेदना व्यक्त करते हुए उनके लिए सेफ्टी गार्ड की व्यवस्था कराई। हालाँकि यह विभाग उनको परेशान करने के लिए दिया गया था पर अपनी योग्यता और विनम्रता के बल पर उसे अच्छी तरह संभाला। वार्ष्णेय जी उनके अधिकारी थे। वे बार-बार इन्हें परेशान करने की कोशिश करते थे। सी.जी. एफ. की जमीन पर कुछ लोग दूकान चला रहे थे और उनका किराया भी बकाया था। दुकानदारों से किराया वसूल करना टेढ़ी खीर थी। वे मारने-काटने पर उतारू हो जाते थे। वार्ष्णेय ने यही मौका देखकर ओमप्रकाश को एक ऑफिशियल पत्र भेजा, ''जी.सी. एफ. बाजार से दुकानदारों पर बकाया किराया जितनी जल्दी हो सके उगाहा जाए, जिसकी साप्ताहिक रपट अधोहस्ताक्षरी के पास बिना बिलम्ब के भेजी जाए, इसमें किसी भी प्रकार की देरी, अधिकारी की जिम्मेदारी होगी और इस कार्य में जरा भी देरी होती है तो अधिकारी के विरूद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई होगी।''[13] यह खत धमकी भरा था। पर ओमप्रकाश ने अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए उन दुकानदारों को निमंत्रण पर बुलाकर चाय-नाश्ता खिलाकर सारी बातें उन्हें समझाया और बकाया किराया आसानी से वसूल किया। दो महीने में लगभग एक लाख रूपये से ज्यादा की रकम एकत्र करके जी.सी.एफ. के खाते में जमा कर दी थी। इस कार्य से वार्ष्णेय को खुश होना चाहिए था, पर वे इन्हें परेशान करने के लिए नये-नये हथकंडे

अपनाते रहे। आवासीय क्वार्टर के लिए पहले से आवेदन करने के बावजूद कनिष्ठ अधिकारी को क्वार्टर दे दिया जाता था। पूछे जाने पर झूठा आश्वासन दिया जाता, पर आवासीय क्वार्टर का आवंटन ओमप्रकाश के नाम कभी नहीं हो पाया।

29 अप्रैल 2001 को ओ.एल.एफ. देहरादून में ओमप्रकाश का ट्रांसफर हुआ। प्लनींग विभाग के ग्रुप अधिकारी अमित मेहता ने भी उन्हें परेशान करना शुरु किया, क्योंकि वे एक दलित थे। ओमप्रकाश पत्नी की गंभीर बीमारी के वजह से कई दिनों तक कार्यालय नहीं आ पाये थे। हालांकि उन्होंने छुट्टी के लिए वाकायदा आवेदन भी किया था। आवेदन करने के बावजूद तथ्यों को छिपाकर उन्हें परेशान किया गया। अधिकारियों के इस हथकंडे का पर्दाफाश करते हुए लिखा है, "अमित मेहता ने तथ्यों को छिपाकर मेरी शिकायत महाप्रबंधक को की थी और यह भी कहा था कि मुझे बाल्मीकि नहीं चाहिए। मैं उनके बिना अपना अनुभाग चला सकता हूँ। बेहतर होगा उन्हें कहीं और पोष्ट करा दो।"[14] महाप्रबंधक ने इनका ट्रासफर थार्ड अनुभाग में कर दिया, जहाँ सफाई कर्मियों, लेबर्स आदि को देखना था। इस काम को देखने के लिए किसी तकनीकी योग्यता वाले व्यक्ति की जरूरत नहीं थी, यह काम कोई भी कर सकता था। दलित होने के कारण ही उन्हें ऐसे कामों में लगाकर हीनताबोध कराया गया। उन्हें जो भी काम दिया गया उसे ईमानदारी पूर्वक सच्ची निष्ठा से पूरा किया। अपनी व्यथा जाहिर करते हुए उन्होंने लिखा है, "कुछ ऐसे भी लोग थे जिनकी प्रतिक्रिया इस ट्रांसफर पर कुछ एसे शब्दों में सुनाई पड़ी थी- जिस लायक थे, वहीं पहुँचा दिया- यानी उस अनुभाग में जो फैक्टरी का साफ-सफाई करता है। इन प्रतिक्रियाओँ पर मैंने स्वयं को शांत रखा था। मैं जानता था यह जो हुआ है इसके पीछे मेरा 'सरनेम' है, जो बीच-बीच में मुझे औकात बताता रहता है। लेकिन इन स्थितियों से निकलना मुझे आ गया था इसलिए मैंने सीधे-सीधे टकराव की वजाय दूसरा रास्ता अपनाया था।"[15] शायद वह दूसरा रास्ता था शांत भाव से अपने कामों को सम्पन्न करके अपने आप को योग्य और कर्मव्रती के रूप में प्रतिष्ठित करने का।

अपने को हिन्दू कहने वाले, सवर्णों और ब्राह्मणवादी मानसिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए लेखक ने अपनी आत्मकथा में जो कुछ भी कहा है वह सिर्फ उनकी ही नहीं समग्र दलितों की प्रतिक्रिया है। हिन्दू होने के बावजूद उन्हें लगता है कि वे हिन्दू नहीं हैं क्योंकि यदि वे हिन्दू होते तो उनपर इतना अत्याचार क्यों? कहते है , "हिन्दू की क्रूरता बचपन से देखी है, सह्य की है। जातीय श्रेष्ठता भाव अभिमान बनकर कमजोर को ही क्यों मारता है? क्यों दलितों के प्रति हिन्दू इतना निर्मम और क्रूर है.. "[16] आगे वे यह भी सवाल उठाते हैं, "सवर्णो के मन में दलितो, शूद्रों के लिए इतनी घृणा क्यों है? पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों को पूजने वाला हिन्दू-दलितों के प्रति इतना असहिष्णु क्यों है ? आम जाति एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण घटक है। जब तक यह पता नहीं होता कि आप दलित हैं तो सब कुछ ठीक रहता है, 'जाति' मालूम होते ही सबकुछ बदल जाता है।"[17] जाति के आधार पर किसी का मूल्यांकन करने के वे घोर विरोधी थे। यह बात सच है कि कोई भी काम व्यक्ति अपनी योग्यता और लगन से सम्पन्न करता है। जातियाँ काम नहीं करती, व्यक्ति करता है। वे मानते हैं कि लम्बे समय तक विरोध और संघर्ष की चेतना ही इस व्यवस्था को बदल सकती हैं। वे लिखते हैं, "जाति ही जहाँ मान-सम्मान और योग्यता का आधार हो, सामाजिक श्रेष्ठता के लिए महत्वपूर्ण कारक हो, वहाँ यह लड़ाई एक दिन में नहीं लड़ी जा सकती है। लगातार विरोध और संघर्ष की चेतना चाहिए जो मात्र बाह्य ही नहीं, आन्तरिक परिवर्तनगामी भी हो जो सामाजिक बदलाव को दिशा दे।"19

उपसंहार

आत्मकथात्मक कृति 'जूठन' ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा रचित एक ऐसी कृति है जो सवर्णों और तथाकथित हिन्दूओँ की मानसिकता की पोल ही नहीं खोलती बल्कि उसपर चोट भी करती है। इसमें चित्रित स्थितियाँ और लेखक की व्यथा सिर्फ व्यक्तिगत नहीं है वे समस्त दलितों की आत्मव्यथा है। जाति के आधार पर किसी की योग्यता का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। भारतीय समाज में उभरती प्रतिभाओं को उर्वर जमीन देने के बजाय उसे सदैव बंजर बनाने की कोशिश सवर्णों और आला अधिकारियों द्वारा होती रही है। अनेक प्रतिभाएँ कुंठित होकर दमित रह गयी है। यदि प्राचीन काल से प्रतिभाओँ को विकसित होने का मौका मिला होता तो हमारा देश कभी का विकसित और आत्मनिर्भर भारत बन चुका होता।

संदर्भ-

1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश- जूठन (पहला खंड), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, चौदहवाँ संस्करण, 2019, पृ. ११
2. वही, पृ. 12
3. वही, पृ. 13
4. वही, पृ. 16
5. वही, पृ. 20
6. वही, पृ. 82
7. वही, पृ. 151
8. वही, पृ. 158
09. वाल्मीकि, ओमप्रकाश- जूठन (दूसरा खंड), पृ. 27
10. वही, पृ. 14
11. वही, पृ. 15
12. वही, पृ. 102
13. वही, पृ. 131
14. वही, पृ. 131
15. वही, पृ. 55
16. वही, पृ. 163-164
17. वही, पृ. 161

समकालीन हिंदी काव्य में दलित समस्याओं का निरूपण

-सूर्य प्रकाश
असिस्टेंट प्रोफेसर,इतिहास विभाग,
मिहिर भोज पीजी कॉलेज,दादरी,
गौत्तम बुद्ध नगर, उत्तरप्रदेश मो.8171853145

प्रस्तावना :- भारतवर्ष में दलित शब्द का प्रयोग लगभग एक शताब्दी पूर्व से प्रचलित है इस सामाजिक वर्ग से आशय व्यक्तियों के उस समूह से है जो सामाजिक व्यवस्था मैं सबसे निचले पायदान पर आते हैं इन्हें वर्ण व्यवस्था में अछूत की श्रेणी में रखा गया है तथा वैधानिक उप बंधुओं के अंतर्गत इन्हें अनुसूचित जाति कहा गया है इस जाति के अधिकारों सम्मान प्रतिष्ठा की स्थापना के लिए प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में विविध प्रयास होते रहे हैं लेकिन इन प्रयासों को सफलता की सफल परिणिति आधुनिक काल में ही कुछ हद तक संभव हो सके जब डॉक्टर भीमराव अंबेडकर ज्योतिबा फुले नारायण गुरु ई वी रामास्वामी बीआर शिंदे आदि ने भगीरथ प्रयास किए यद्यपि भारतीय संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत दलित समाज को उनके अधिकारों प्रतिष्ठा आदि को पूर्णता संरक्षित करने का प्रयास किया गया है किंतु व्यवहार है आज भी यह वर्ग व्यवहारिक पटल पर अपनी अस्मिता की रक्षा की लड़ाई लड़ रहा है इस लड़ाई को कुछ आधुनिक हिंदी कवियों ने शब्द रूप में प्रस्तुत किया है जिसमें से जयप्रकाश कर्दम, सुशीला टाकभोरे, विमल थोरात, रजनी तिलक, श्यौराज सिंह बेचैन ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरजपाल चौहान, मोहनदास नैमिशराय आदि प्रमुख हैं दलित वर्ग की विवेद सामाजिक राजनीतिक आर्थिक समस्याओं के संदर्भ में इन हिंदी कवियों की लेखनी में उनकी पीड़ा के उद्गार प्रस्फुटित हुए हैं प्रस्तुत शोध पत्र में समकालीन हिंदी काव्य के अंतर्गत दलित वर्ग की विभिन्न समस्याओं पर व्यापक विमर्श प्रस्तुत किया गया है।

बीज शब्द:- दलित, उत्पीड़न, शोषण,अधिकार

मुख्य अंश:- भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था ऋग्वैदिक कालीन समाज में जीवन के सभी महत्वपूर्ण कार्यों को आपस में मिल बांट कर करने के कारण उपजी थी लेकिन धीरे-धीरे इस व्यवस्था में उत्पन्न जड़त्व दलित वर्ग के लिए दुखदाई सिद्ध हुआ। इस बारे में जयप्रकाश कर्दम ने अपनी कविता 'वर्णवाद का पहाड़ा' में लिखा है-

हमें पढ़ाया
प्रगति का रास्ता दिखाया
लेकिन समता के मार्ग पर तुम
खुद नहीं चल पाए
हम ने रखा तुम्हें
वर्ण और जाति से ऊपर
पर तुम नहीं उठ पाए तुम अपनी
जातीय अहमन्यता की संकीर्णता से। [1]

इसी प्रकार दलितों के साथ होने वाले अन्याय पर सूरजपाल चौहान अपनी कविता ' फिर बात न करते' में कहते हैं-

काश तुम किसी दलित के घर पैदा होते विशेषकर
दलितों में दलित कहे जाने वाले भंगी के घर
तुम्हें उठानी पड़ती बजबजाती गंदगी
और ढोना पड़ता, गू-मूत से भरा टोकरा
सिर पर रखकर। [2]

दलित समाज में अशिक्षा भी एक सामाजिक समस्या के रूप में ओवरी है जिस कारण उनका प्रगति के विविध आयामों में योगदान अधूरा प्रतीत होता है। अशिक्षा के कारण ये शोषण व उत्पीड़न का शिकार हुए हैं। जयप्रकाश कर्दम ने अपनी कविता अदालत में कुछ इस तरह व्यंग्य किया है

लगवा कर अंगूठा कोरे कागज पर,
हड़पते आए हो तुम, मेरे घर जमीन
लूटते आए हो, मेरे गाय-भैंस तक। [3]

दलित समाज की अशिक्षा का मार्मिक चित्रण सूरजपाल चौहान ने अपनी कविता गांधी जी का हरिजन है में इस तरह किया है

इसको तो कुछ पता नहीं है
स्कूल कॉलेज क्या होता
देसी थैली डाल हलक में
दिनभर गफलत में रहता
बालक इसके अनपढ़ रह गए
ज्ञान का खाली बर्तन है। [4]

दलित वर्ग में अशिक्षा गरीबी आदि के कारण उत्पन्न ना अंधविश्वास भी उनकी बहुमुखी प्रगतिशीलता में अवरोधक बना बनता रहा है सुशीला टाकभोरे ने इस समस्या पर अपनी कविता 'बाल्मीकि' में प्रहार करते हुए लिखा है कि

नहीं सोच पाए अपनी स्थिति पर

शंबूक आज भी मारे जा रहे हैं

चल रही है आज भी झूठी कथाएं

धूर्त ढोंगी आज भी श्रेष्ठ कहला रहे हैं

और ये ? दलितों में पद दलित

अपनी स्थिति से अनभिज्ञ। [5]

इसी प्रकार अंधविश्वास की समस्या पर जयप्रकाश कर्दम ने अपनी कविता 'तुमने कहा' में लिखा है-

तुमने कहा, ईश्वर परम पद है

उसकी प्राप्ति जीवन की चरम उपलब्धि है

तुमने बतलाया

ईश्वर दारिद्र्य में वास करता है। [6]

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक आर्थिक दृष्टि से दलित वर्ग का शोषण व उत्पीड़न सदैव से होता आ रहा है इस संबंध में जयप्रकाश कर्दम अपनी कविता किले में लिखते हैं कि

मेरे श्रम व शोषण के फले फूले हैं

मेरे हिंसा और अपमान पर खड़े हैं

असमानता और अन्याय के सारे किले

मेरी आंखों में गड़े हैं

इन किलों में बंद है, मेरी चीखें। [7]

इसी प्रकार दलितों के शोषण को श्यौराज सिंह बेचैन ने अपनी कविता 'अफसोस' में इस प्रकार व्यक्त किया है कि

उफ्फ, तुम अभी भी खड़े हो

कतार दर कतार, पीढ़ी दर पीढ़ी

मंदिर के बाहर

मेहतर चमार पासी चमार

चार हजार साल से दर्शनाभिलाषी बने

गांव बस्ती से तिरस्कृत और बहिष्कृत

आ खड़े हुए हो प्रभु के आंगन में। [8]

अस्पृश्यता दलित समाज की सबसे बड़ी समस्या आ रही है उत्तर वैदिक काल से ही भारत में छुआछूत की भावना व्याप्त हो गई थी जो आज भी आधुनिक नियम कानूनों की धज्जियां उड़ाते हुए दलित वर्ग को परित्यक्त महसूस करने पर विवश कर रही है इस समस्या पर जयप्रकाश कर्दम ने दलित व्यक्ति के हाथ का पानी त्याज्य समझे जाने पर व्यंग करते हुए अपनी कविता वर्णवाद का पहाड़ा में लिखा है कि

तुम्हारे लोटे में पानी भरने को भी,

हम लालायित रहते

किंतु तुमने पानी पीने के, अपने पीतल के लोटे को

हमारा हाथ कभी नहीं लगने दिया

लोटे में पानी सदैव, सवर्ण छात्रों से ही भरवाया। [9]

इसी प्रकार दलित वर्ग के लिए इस प्रकार के नियम, परंपराएं आदि बना दिए जाते हैं जिसके अनुपालन के लिए उन्हें छल बल के साथ बाध्य किया जाता है। इस प्रकार निर्मित भेदभाव पूर्ण कानून,परंपराएं आदि पर कवि कालीचरण स्नेही अपनी कविता 'सजा भर बाकी है' में लिखते हैं कि-

हमारी वर्तमान पीढ़ी,

सब मम प्रिय, सब मम उपजाए

की अवधारणा वाला देश

करने लगा खुद अपने ही भाइयों

के बीच भेदभाव, रखने लगा

अस्पृश्यता का भाव। [10]

दलित वर्ग को समाज के उच्च वर्णों की सेवा करने, मंदिर में प्रवेश न करने आदि संबंधी घृणित नियम आज भी विद्यमान है शुभ कार्यों में उनका देख जाना आज भी भारत के बहुत से क्षेत्रों में अशुभ माना जाता है। सूरजपाल चौहान ने अपनी कविता 'मेरा गांव' में दलित वर्ग के एक व्यक्ति को उसके विवाह पर घोड़ी ना चढ़ने देने पर प्रहार करते हुए लिखा है-

उनका दूल्हा चल घोड़ी पर,

घूम सारा गांव गली

मेरी बेटी की शादी पर

कैसी आफत आन पड़ी

जिन पैरों चल घोड़ी चढ़ आया वो

अलग पड़े हैं दोनों पांव,

मेरा गांव, कैसा गांव ? [11]

समाज के दंभी वर्ग ने दलितों को अपना परंपरागत घृणित कार्य छोड़ने नहीं दिया और उन्हें धर्म कर्म की दुहाई देकर उनसे विविध सेवा कार्य कराते रहे। इस संबंध में सुशीला टाकभोरे ने अपनी कविता 'बाल्मीकि' में लिखा है कि-

छल बल के साथ, जागृति का संदेश सुनने नहीं दिया,

जाति की पहचान परंपरागत रोजगार छोड़ने नहीं दिया

धर्म-कर्म के बुलावे में इस तरह भरमाया। [12]

इसी धार्मिक व्यवस्था की दुहाई देकर समाज का प्रभावशाली वर्ग दलितों पर उत्पीड़न एवं अत्याचार करता रहता है कि इस समस्या को अशोक भारती ने अपनी कविता में इस प्रकार व्यक्त किया है

मैं क्यों निष्ठावान बनूं

तुम्हारे प्रपंच का

यज्ञ का कर्मकांड का,

अतीत के महिमागान का। [13]

दलित समाज में शिक्षा एवं जागरूकता की कमी के चलते उन्हें अन्याय का शिकार होना पड़ता है समाज का प्रभावशाली वर्ग प्रचलित नियम कानूनों एवं परंपराओं को शिक्षा से सोहित में प्रयोग करता आ रहा है किस संदर्भ में सुशीला ठाकरे ने अपनी कविता अपने हिस्से का सूरज में लिखा है

क्रांतिसूर्य चमक रहा है

तब भी हमारे अपने कुछ लोग

अंधेरे में अभ्यस्त आंख मूंदकर ही चलते हैं

सदियों की गुलामी है

ऊपर देखने की आदत ही नहीं है

कैसे देखेंगे क्रांतिसूर्य को

कैसे समझेंगे

जागृति और परिवर्तन के प्रकाश को। [14]

इसी प्रकार दलितों के साथ हो रहे अन्याय को काली चरण स्नेही ने अपनी कविता आजादी में कुछ इस तरह व्यक्त किया है।

सिर पर मैला ढोती भारत की संताने

हमें दे रही हैं ताने

तुम कितने सभ्य हो?

वाकई में भव्य हो

तुम्हारा मैला अभी भी हमारे सिर पर सवार हैं

तुम्हारी सभ्यता कितनी बीमार है?

तुम्हारे ज्ञान विज्ञान को धिक्कार है, धिक्कार है। [15]

दलित समाज में जागरूकता के अभाव के कारण बेरोजगारी की समस्या भी बनी हुई है यद्यपि आरक्षण व्यवस्था संवैधानिक प्रावधानों के अनुरूप भारत में लागू की जा चुकी है लेकिन इस व्यवस्था का अधिकतम लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से यह वर्ग कम जागरूक है इसके अतिरिक्त इन्हें समीक्षा से चयनित कार्य को करने की आजादी भी नहीं है जयप्रकाश कर्दम ने अपनी कविता बेमानी है आजादी में इस समाज की बेरोजगारी की समस्या का चित्रण इस प्रकार किया है

नहीं कर सकता अपनी इच्छा और पसंद का काम,

छोटे से कर्ज के बदले लिख देता है

कई पीढ़ियों की जिंदगी साहूकार के नाम

गांव की पंचायत है जिसकी सुप्रीम कोर्ट

जी रहा है जो स्वराज में भी गुलामों से जिंदगी। [16]

जैसा कि भारत के अनेक ग्रामीण अंचलों में यह प्रथा विद्यमान है कि दलित समाज में संतान के जन्म पर उसका पैतृक कार्य निश्चित हो जाता है। वह संतान आगे चलकर अपनी योग्यता के बल पर अपना सामाजिक स्तर उच्च करना चाहे लेकिन निम्न जाति के सदस्य होने के कारण उसका विरोध किया जाता है। इस प्रथा के विरोध में सूरजपाल चौहान मैं अपनी कविता यह दलितों की बस्ती में लिखा है

यहां जनमते हर बालक को पकड़ा देते हैं झाड़ू

ओ बेटा, अबे साले कहते हैं लालू कालू

गोविंद और मिथुन बनकर खोल रहे हैं वे नाली

दूजा काम इन्हें न निभाता

इसी काम में मस्ती है

यह दलितों की बस्ती है।[17]

भारतीय समाज में दलित वर्ग को उसकी मेहनत के अनुपात में पारिश्रमिक इत्यादि प्रदान नहीं किया जाता क्योंकि उसे अपने अधिकारों की जानकारी का अभाव रहता है इसी के चलते प्रभावशाली वर्ग उसे बेगारी करने पर भी बाध्य कर देता है इस बेकारी की समस्या पर प्रहार करते हुए जयप्रकाश कर्दम ने अपनी कविता कलम में लिखा है कि

कलम सिर्फ कागज पर नहीं चलती

कलम चलती है कालेजों पर भी

कलम से काटे जाते हैं वेतन दिहाड़ी मजदूरों के

गोप दिए जाते हैं खंजर भूखे पेटों में।[18]

इसी बेगारी की समस्या पर सूरजपाल चौहान ने अपनी कविता मेरा गांव में प्रहार करते हुए लिखा है कि

ब्याह बरात का काम कराते,

देकर जूठन बहकाते

जब मरता है कोई जानवर

दे देकर गाली उठवाते

दिन-रात गुलामी कर करके

थक गए बिबाई फटे पाँव।

मेरा गाँव,कैसा गाँव

न कहीं ठौर, न कहीं ठाँव।[19]

ओमप्रकाश बाल्मीकि ने दलित समाज में व्याप्त बंधुआ मजदूरी की समस्या पर व्यंग करते हुए लिखा है कि

मेरी पिंडलियों

और भुजाओं के मांस से बनी है बाती,

हड्डियों को निचोड़ कर

निकाला गया है तेल।[20]

निष्कर्ष:- उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय समाज में आज भी दलित वर्ग विभिन्न आर्थिक व सामाजिक समस्याओं से घिरा हुआ है यद्यपि इन समस्याओं के समाधान हेतु वैधानिक एवं संवैधानिक प्रयास किए गए हैं लेकिन अभी भी बहुत से ग्रामीण अंचलों में दलित वर्ग को ऐसी समस्याओं से ग्रसित देखा जा सकता है इन्हीं समस्याओं को समकालीन हिंदी कवियों ने अपने स्वर देकर भारतीय समाज का ध्यान अद्वितीय रूप से आकर्षित किया है जिससे इन समस्याओं के समाधान हेतु व्यवहारिक पटल पर भी भगीरथ प्रयास किए जा सकें और दलित समाज के शोषण एवं उत्पीड़न की सदियों से चली आ रही परंपरा का उन्मूलन किया जा सके।

संदर्भ :-

1.गूंगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम ,पृष्ठ संख्या 23

2.क्यों विश्वास करूं, सूरजपाल चौहान, पृष्ठ संख्या 27

3.तिनका तिनका आग, जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ संख्या 61

4.कब होगी वह भोर, सूरजपाल चौहान, पृष्ठ संख्या 35

5.हमारे हिस्से का सूरज ,सुशीला टाकभोरे, पृष्ठ संख्या 129

6.गूंगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ संख्या 19

7.गूंगा नहीं था मैं ,जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ संख्या 13

8.नई फसल कुछ अन्य कविताएं, श्यौराज सिंह बेचैन, पृष्ठ संख्या 43

9.गूंगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ संख्या 23

10.आरक्षण अपना-अपना, कालीचरण स्नेही, पृष्ठ संख्या 37

11.क्यों विश्वास करूँ, सूरजपाल चौहान, पृष्ठ संख्या 23

12.हमारे हिस्से का सूरज ,सुशीला टाकभोरे, पृष्ठ संख्या 128

13. दलित निर्वाचित कविताएं, अशोक भारती, पृष्ठ संख्या 187

14.हमारे हिस्से का सूरज, सुशीला टाकभोरे ,पृष्ठ संख्या 117

15.आरक्षण अपना अपना, कालीचरण स्नेही, पृष्ठ संख्या 33

16.गूंगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ संख्या 22

17.क्यों विश्वास करूं ,सूरजपाल चौहान, पृष्ठ संख्या 54

18.तिनका तिनका आग, जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ संख्या 29

19.क्यों विश्वास करूं, सूरजपाल चौहान, पृष्ठ संख्या 23

20.सदियों का संताप, ओमप्रकाश बाल्मीकि ,पृष्ठ संख्या 43

मानवता और परिवर्तन की सशक्त अभिव्यक्ति-'सूअरदान'

-डॉ.गायत्रीदेवी जे.लालवानी
असिस्टेंट प्रोफेसर,हिंदी विभाग,
श्री कृष्ण प्रणामी आर्ट्स कॉलेज,
दाहोद मो.7984498390

रूपनारायण सोनकर जी प्रसिद्ध दलित साहित्यकार हैं। वे अपने साहित्य के माध्यम से दलित, शोषित, पीड़ित, अल्पसंख्यक और दीन-हीन समाज के जीवन के विभिन्न पहलूओं को समाज के समक्ष रखते हैं। भारतीय समाज की विभिन्न कुरीतियों, कुप्रथाओं, सामंतवाद, ब्राह्मणवाद, सवर्णो की मानसिकता उनके षड़यंत्र, जातिवाद, धार्मिक पाखंड, अंधविश्वास और सामाजिक विसंगतियों का पर्दाफाश करते हैं। वे स्वतंत्रता, समता, बंधुता और परिवर्तन हेतु निरंतर प्रयासरत रहे हैं।

हिन्दी दलित साहित्यकार और चिंतक रूपनारायण सोनकर जी का दूसरा उपन्यास 'सूअरदान' है। दलित जीवन की यातनाओं को सोनकर जी ने स्वयं देखा–भोगा है। दलित समाज की पीड़ा, अस्मिता, जाति–प्रथा, गरीबी, अपमान, दुःख–दर्द आदि ने उन्हें कदम–कदम पर सताया है। अपने समाज के उज्जवल भविष्य के लिए उन्होंने अपने जीवन में काफी विरोध–विद्रोह भी किया। उनके जीवन की समस्याओ से वे कैसे लड़े है? कैसे संगठित होकर उन्होंने अपने समाज की प्रगति, चेतना के लिए कार्य किया यह सब उनकी आत्मकथा 'नागफनी' में देखने को मिलता है। उनका 'सूअरदान' उपन्यास इस धरती पर मानवता की धरोहर लेकर आगे बढ़ता है और सभी जगह मानवीयता स्थापित भी करता है।

हिन्दी साहित्य जगत में इस उपन्यास को प्रेमचन्द के गोदान उपन्यास के समकक्ष माना गया है। इस उपन्यास के बारे में कंवल भारती जी लिखते हैं- "गौ और सूअर ये दो पशु हैं, दोनों पाले जाते हैं और दोनों ही आर्थिक लाभ देते हैं। पर हिंदू संस्कृति ने गौ का संबंध ब्राह्मण से जोड़ दिया है और सुअर को दलितों से। क्या इसे किसी भी तरह से उचित कहा जा सकता है? गाय किसे दान की जाती है ब्राह्मण को? किस उद्देश्य के लिए? उत्तर है दुःखों की वैतरणी पार करने के लिये। यह एक ऐसा मिथक है, जिसका कोई तार्किक आधार समझ में नहीं आता। हिंदू समाज में गौ से जितनी धारणाएं हैं। सब मिथक हैं। मिथक को तोड़ने का ख्याल सोनकर को आया। सोनकर को छोड़कर किसी अन्य रचनाकार लेखक को मिथक तोड़ने का ख्याल नहीं आया। गौदान के लिये सूअरदान की कल्पना भी सोनकर की अपनी कल्पना है और बड़ी मौलिक कल्पना है। यदि गौदान एक मिथक है, तो सूअरदान भी मिथक है। लोहे को लोहा काटता है, इस ख्याल के साथ सोनकर ने सूअरदान का मिथक गढ़ा लेकिन सोनकर ने इसे सिर्फ मिथक नहीं रहने दिया है, बल्कि उसे हकीकत में भी मूर्तरूप दे दिया है"[1] दलित साहित्य एवं सांस्कृतिक अकादमी, देहरादून में चर्चित उपन्यास 'सूअरदान' पर संगोष्ठी के सुअवसर पर सुविख्यात युवा दलित साहित्यकार डॉ. अजय नावरिया ने कहा था कि– "मैंनें दलित लेखक रूपनारायण सोनकर के बारे में पहले ही कहा था कि हो सकता है कुछ समय बाद सोनकर दलितों का प्रेमचंद बन जाए। सोनकर ने कहानी कफन, सद्गति, दूध का दाम व उपन्यास 'सूअरदान' लिखकर मेरे कथन को मजबूती प्रदान की है। मैं पहले 'सूअरदान' को विष्ठा खानेवाला जानवर मानता था लेकिन 'सूअरदान' उपन्यास पढ़ने के बाद पता चला कि, सूअर शकरकन्दी भी खाते हैं। मेरी इस जानवर के प्रति धारणा बदल गई। 'सूअरदान' शीर्षक को लेकर गैर दलित साहित्यकारों में हिच–किचाहट देखी जा सकती है लेकिन उपन्यास पढ़ने के बाद उनकी हिच–किचाहट दूर हो जाती है क्योंकि यह उपन्यास सर्वजन हिताय की बात कर करता है। रूपनारायण सोनकर ने एक नया शब्द हताशावाद गढ़ा है। जो नक्सलवाद और माओवाद के नाम पर की जा रही मारकाट, माओवाद के हल का सशक्त समाधान प्रस्तुत किया है। यदि उनकी सामाजिक, आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर दिया जाय तो खूनी जंग समाप्त हो सकती है। जो धन उनको रोकने में खर्च किया जाता है यदि उनके विकास में खर्च किया जाये तो यह समस्या जड़ से समाप्त हो सकती है। 'सूअरदान' का यह सुझाव विचारणीय है।"[2] रूपनारायण सोनकर लिखते है– "अपने बच्चों का भविष्य सुधारना। यह उदेश्य हर नागरिक का होता है। जिसको विकास करने का अवसर नहीं प्राप्त होने दिया जाता है। इसीलिए वे लोग हिंसा का रास्ता अपनाते हैं। जो पैसा सरकार उनको दबाने में खर्च करती है। यदि उसका एक बटा तीन भाग उसके विकास करने में खर्च कर दिया जाए, तो ऐसे लोग हिंसा का रास्ता छोड़ देंगे।"[3] देश में शांति बनाये रखकर, भाईचारा कायम रखकर, देश का उन्नत विकास हो सकता है।

'सूअरदान' उपन्यास को लेखक ने कुल दस विभागों में विभाजित किया है। 'सूअरदान' उपन्यास का केन्द्रबिन्दु "सुअरफार्म–पिगरीफार्म" है। इसी पिगरीफार्म के माध्यम से पूरे ही गाँव को सुखी किया जाता है। यही पिगरी फार्म गाँव के नवयुवकों के रोजगार की आशा है। भारत के ७० प्रतिशत नागरिक आज भी गाँव में रहते है। गाँवों की दशा का वर्णन करते हुये सोनकर जी लिखते है–"सबसे ज्यादा परेशानी भूमिहीन मजदूरों को होती है। वे बेचारे एक–एक रोटी के लिए तड़पते हैं। किसानों के खेतों में मजदूरी करते है। शादी–ब्याह, तीज–त्यौहार के लिए वे किसानों के कर्ज पर निर्भर रहते हैं।"[4]

वर्तमान भूमिहीन मजदूरों के बारे में वे आगे लिखते हैं– "अब मजदूर

बाहर जाकर ईटों के भट्टों में काम करते हैं। कुछ मजदूर बड़े–बड़े शहरों में जाते हैं, जहाँ पर चौबीस–चौबीस माले या उससे अधिक माले के अपार्टमेन्ट बनते हैं। अपनी दयनीय स्थिति में सुधार कर लेते हैं। हवा में तैरते हैं और वायुयान की तरह जमीन पर गिरते भी हैं। अपार्टमेन्ट का मालिक उनको उचित मुआवजा भी नहीं देता।"[5]

ईट के भट्ठों में काम करने वाले मजदूर रोज कमा कर रोज खाने वाले मजदूर थे। न उनके पास खेती है, न कोई व्यवसाय और ना ही रहने को छत। ठेकेदार जो इन मजदूरों को काम पर रखते हैं, इन मजदूरों की बेटियों और स्त्रियों का यौन शोषण भी करते हैं। धरमू पासी और उसकी पत्नी सन्नो जैसे असंख्य मजदूर ठेकेदार जयंत सिंह जैसे लोगों का शिकार बनते हैं। ठेकेदार जयंत सिंह मजदूरों को कम वेतन देता है, गुंडों द्वारा उन मजदूरों की निगरानी रखवाता है कि, कहीं कोई मजदूर उसके शोषण से तंग आकर बगावत ना कर बैठे। सन्नो और उसका पति भागने की कोशिश करते हैं। पर गुंडे उन्हें पकड़ लेते हैं। जयंत सिंह सन्नो से कहता है-“तू साली बहुत पटर-पटर बोलती है। चल मेरे कमरे में” सन्नो निर्भीकता से उसका सामना करते हुए कहती है- “तू क्या ले जायेगा। तेरे में हिम्मत है। तेरे मूंछे न उखाड़ लूं तो मेरा नाम सन्नो नहीं”6 जयंत सिंह सन्नो का हाथ पकड़कर उसे अपनी ओर घसीटता है। वहां उपस्थित किसी में भी हिम्मत नहीं है कि, वे सन्नो को ठेकेदार से बचा सके।

गाँवों की उन्नति होने पर ही देश की उन्नति हो सकती है। यह बात सर्वथा उचित है। लेखक लिखते है–"देश की बुनियाद गाँवों की मजबूत बुनियाद पर आधारित होती है। आज भी लगभग गाँवों में ७८ प्रतिशत लोग निवास करते है। यदि हम देश को वैभवशाली बनाना चाहते हैं तो हमें गाँवों को वैभवशाली बनाना होगा। इस देश की समृद्धि केवल बड़े–बड़े महानगरों की समृद्धि को देखकर नहीं आँकी जा सकती।"[7]

देश में जो असमानता की खाई है जहाँ एक ओर मात्र गरीबी है दूसरी ओर आलीशान महल हैं। लेखक चाहते है कि, यह असामनता, मानव से मानव की दूरी समाप्त हो। वे ‘सूअरदान’ उपन्यास में लिखते हैं –"यदि हमारे जैसे लोग अपना–अपना स्वार्थ त्याग कर देश निर्माण में सहयोग देने लगे तो हमारे देश का कोई भी आदमी भूखा, नंगा और घर विहिन नहीं रहेगा। हम बड़ी–बड़ी लग्जरी गाड़ियों में चलते है। वातानूकूलित घरों मे रहते हैं। स्वादिष्ट व्यंजन खाते हैं। बेशकिंमती कपड़े पहनते हैं। यदि हम लोग अपने बजट से थोड़ा निकालकर गरीबों के कल्याण में लगा दें तो देश में इतनी अधिक गरीबी नहीं रहेगी। देश का हर प्राणी खुशहाल रहेगा। देश में शांति रहेगी। महल वालों की भी जिन्दगी सुरक्षित रहेगी। यदि धनाढ़य लोग हताश व बेहद गरीब लोगों की मदद करेंगे तो वे लोग स्वंय हताश नहीं होंगे। सुख–चैन की नींद सोएंगे। तब देश चैन की सांस ले सकता है।"[8]

‘सूअरदान’ उपन्यास का पिगरी फार्म गाँव के मन्दिर से चौबीस मीटर की दूरी पर था। इस सूअरफार्म के चार पार्टनर है जो इस पिगरी फार्म के कर्ता–धर्ता भी है। जिनके लिए लेखक लिखते है–"वे लोग कोई ऐसा बिजनेस चाहते थे जो अशिक्षित, शिक्षित बेरोजगारों को नौकरी दे सकें। विशेषकर ग्रामीण नव–युवकों को। गांव में एक ऐसा वातावरण बनाना चाहते थे जहाँ प्यार, समानता और भाईचारा हो। गाँवों की गरीबी को वे लोग जड़ से उखाड़ फैंकना चाहते थे। सदियों से समाज में चली आ रही अंध–धार्मिकता को उखाड़ फैंकना चाहते थे। जातिवाद को समूल नष्ट करना चाहते थे।"[9] जिनमें रामचन्द्र त्रिवेदी, सज्जन खटिक, सलवंत यादव, घसीटें चमार थे। इस पिगरी फार्म में ये चारों पार्टनर गांव के निराश लोगों की निराशा को दूर करना चाहते थे। गाँव के लोगों को रोजगार दिलाने का कार्य, गरीबी हटाने का कार्य, शिक्षा के लिए गाँववासियों को प्रेरित करने का कार्य इन चारों समाज–सुधारकों का है। इन समाज सुधारकों के लिए लेखक लिखते हैं– "गाँवों का प्रशासन जब से गाँवों के ईमानदार लोगों के हाथों में आया गाँवों में तरक्की की बयार बहने लगी। कुछ गाँवों के कर्मठ प्रशासकों के पास जब से गाँवों के विकास की बागडोर आई है, गाँव चमकने लगे। शहरों की चमक गाँवों में भी पड़ने लगी"[10]

उपन्यास में हैरी सिल्वा नामक युवती इग्लैण्ड से आती है जो इस गाँव में गरीबों की मदद करना चाहती है। वह पिगरी फार्म के इन चारों अध्यक्षों के साथ मिलकर कार्य करती है। वह स्वंय भी दलितों, मजदूरों, किसानों, अन्य पिछड़े वर्गो से मिलकर उनकी समस्याओं को जानकर योग्य निवारण का प्रयास करती है। गरीब मजदूरों को आर्थिक रूप से सहायता भी करती है अशिक्षितों को शिक्षा का महत्व समझाकर अनपढ़ औरतों को पढ़ाने का कार्य भी करती है।

इन सभी समाज सुधारकों के पूर्व गांव में क्या हाल थे उसका भी वर्णन लेखक ने उपन्यास के द्वितीय खण्ड में किया है। गांव का प्रधान सत्यनारायण त्रिपाठी, जूनियर हाईस्कूल के प्रधानाचार्य जितेंद्र यादव प्राइमरी हेल्प सेन्टर के जोरावर सिंह इन तीनों ने मिलकर गांव को नष्ट कर दिया है। उनके रहते सिंहासन खेड़ा गुण्डागर्दी, मारकाट और शोषण का पर्याय बन गया था। स्त्रियों का शोषण करना, उन्हें जबरन रखैल बनाकर रखना, भ्रष्टाचार करना, स्कूल फर्नीचर के पैसों से अपने घर सोफा लगवाना, गरीबों के हिस्से की दवाईयां बेच देना आदि गांव में चल रहे षड़यंत्रों का पर्दाफाश लेखक ने किया है। लेकिन समाज सुधारक के रूप में ये चारों पार्टनर गांव की दशा बदल देते हैं।

इन सभी समाज सुधारकों के कार्यो से हम देखते हैं। उपन्यास के अंत में पिगरी फार्म को सफलता मिलती है और पिगरी फार्म प्रसिद्ध हो जाता है। पिगरी फार्म के सभी पार्टनर धनवान हो जाते है और मानव कल्याण–यात्रा को अग्रसर करते हुए पूरे समाज के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। लेखक का लक्ष्य है कि, अगर देश का विकास करना है। देश के प्रत्येक नागरिक को सुखी करना है तो हमें इन चारों पार्टनर की तरह देश–सेवा में तन–मन–धन लगाना होगा। वे लिखते हैं– "जो व्यापारी अपनी उन्नति के साथ–साथ गरीबों की उन्नति की चिंता करते हैं, देश को समृद्धशाली बनाने के लिए रात–दिन मेहनत कर करते हैं। वे व्यापारी

और उद्योगपति के रहते गरीबी ताण्डव नृत्य नहीं कर सकती है। बल्कि गरीबी देश व समाज से पूँछ दबाकर भाग जाती है। यदि गाँवों, कस्बों, जिलों, प्रदेशों व देश का व्यापारी या उद्योगपति एक–एक गाँव, एक–एक कस्बा, एक–एक जिल्ला, एक–एक प्रदेश से गरीबी दूर करने का बीड़ा उठा ले, तो देश से गरीबी दूर हो जाएगी।"[11]

संकटाप्रसाद चिकवा दलित है इसलिए दलित जीवन की समस्याओं को जानता है। अपने समाज के उत्थान के लिए वह गाँव का प्रधान भी बनता है। अब स्कूलों में दलित महिलायें खाना बनाती है। उच्च वर्ग के लोग इसका विरोध करते है लेकिन संकटाप्रसाद चिकवा दलितों, गरीबों का मुक्तिदाता है वह स्पष्ट कहता है–"स्कूल का भोजन दलित महिला ही बनाएगी। उसको हटाया नहीं जायेगा जो विरोध करेगा उस पर मुकदमा चलाया जायेगा, जिसकी कोई जमानत नहीं होगी।"[12] इसप्रकार इस उपन्यास में लेखक सभी वर्गो–वर्णो के भेद से ऊपर उठकर एक समानाधिकार प्राप्त समाज की रचना करते हैं।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि, देश को ऐसे युवावर्ग की आवश्यकता है, ऐसे नागरिकों की आवश्यकता है, जो देश को परिवर्तन की दिशा में मोड़ सके। शिक्षित वर्ग के रतनलाल के उदाहरण के माध्यम से भी लेखक ने यह बताया है कि, गलती करने वाला व्यक्ति प्रायश्चित करने के बाद यदि साफ मन से देश की सेवा में लग जाए तो देश हर तरह से सुखी हो सकता है। बाबा साहब के विचारों से प्रेरणा लेकर रूपनारायण सोनकर जी समस्त समाज में स्वतंत्रता, समता, एकता एवं बंधुत्व से देश की नयी प्रतिमा विश्व को दिखाने में सफल हुये है।

संदर्भ:-

1. नागफनी पत्रिका- फरवरी-अप्रैल-2011 पृ-48
2. http://jansatt.wordpress.com/25/03/2011
3. 'सूअरदान',रूपनारायण सोनकर,सम्यक प्रकाशन,नई दिल्ली,पृ–156
4. वही,पृ–24
5. वही,पृ–24
6. वही,पृ–25
7. वही,पृ–50
8. वही,पृ–155
9. वही,पृ–15
10. वही,पृ–50
11. वही,पृ–67
12. वही,पृ–49

सूरजपाल चौहान की कहानियो में दलित नारी

-डॉ.पारुल सिंह
प्रभारी आचार्या,
श्री कृष्ण प्रणामी आर्ट्स कॉलेज,
दाहोद मो.9428673109

हिन्दी दलित साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान रखने वाले साहित्यकार सूरजपाल चौहान जी ने अपनी कहानियों के माध्यम से भारतीय दलित समाज की यथार्थ स्थिति को सजीव रुप में चित्रित किया है। उन्होंने अपनी कहानियों में दलित शोषण, उच्चवर्ण की रुढ़िवादिता दलितों में चेतना का भाव, सवर्णों की मानसिकता, दलित नारी शोषण, दलित नारी शिक्षा, दलित नारी चेतना आदि दलितों की समस्याओं एवं उनके प्रश्नों को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। सूरजपाल जी की कहानियों में यदि हम दलित नारी की ओर दृष्टिपात करते हैं तो उनकी कहानियों में नारी का शोषित रुप भी व्यक्त हुआ है और शोषण का विरोध करती हुई ऊर्जा सम्पन्न नारी का व्यक्तित्व भी मुखरित हुआ है। अस्पृश्यता, दलित कामकाजी स्त्रियों के शोषण की समस्या, आर्थिक निर्भरता, स्त्री शिक्षा, जातीय शोषण और पारिवारिक शोषण जैसी दलित नारी की मूलभूत समस्याओं पर सूरजपाल जी ने प्रकाश डाला है।

दलितों का आर्थिक शोषण वर्षो से होता आया है। दलित समाज आर्थिक रुप से सवर्णो पर निर्भर रहा है जिसके कारण सवर्णो द्वारा उनका आर्थिक शोषण पहले भी और आज भी होते देखा जा सकता है। सूरजपाल चौहान की 'साज़िश' कहानी में नत्थू नामक दलित शिक्षित युवक बेरोज़गार है। नत्थू जब बैंक में लोन की बात करने जाता है, तब बैंक मैनेजर रामसहाय उसे गुमराह करता है, कि ट्रांसपोर्ट का काम लफड़े वाला है, उसमें नुकसान हो सकता है, इसलिए पिगरी लोन लेकर फायदे का धंधा शुरु करो। नत्थू जब इससे असहमती व्यक्त करता है कि वह सूअर पालने का कार्य नहीं करना चाहता, इस पर रामसहाय कहता है-

"बस तुम लोगों में यही कमी है। दो-चार किताबें क्या पढ़ गए कि समझने लगे अपने आपको बड़ा आदमी। कल्लन जाटव के लड़के श्यामा को देख, तेरी तरह बी. ए. पास है। उसने भी तो बैंक से कर्ज़ा लेकर अपने चमड़े के व्यापर को आगे बढ़ाया है। यह नेक सलाह उसे मैंनें ही दी थी। आज लाखों में खेल रहा है।"[1]

रामसहाय नत्थू को जिस साज़िश में फँसाता है उसी तरह अन्य दलितों को भी उसने ट्रेंड चेंज नहीं करने दिया था। वह तो दलितों को सदियों से चले आ रहे पुश्तैनी धन्धे से ही जोड़े रखना चाहता था। इस विषय में अपने विचार हेडक्लर्क सतीश भारद्वाज के समक्ष रखते हुए रामसहाय कहता है-

"साले आए चूहड़े-चमार पढ़-लिखकर व्यापार करने! बैंक से उधार

लेकर ट्रांसपोर्ट का धंधा करेंगे, व्यापारी बनेंगे, ट्रेंड चेंज करेंगे।''

नत्थू रामसहाय की मीठी-मीठी बातों में आ जाता है, किन्तु नत्थू की पत्नी शान्ता भले ही कम पढ़ी-लिखी थी, वह मैनेजर की साज़िश को भाँप जाती है। नत्थू शांता से बहस करने लगता है, तब मन-ही-मन मुस्कराते हुए शांत कहती है-

''सबसे कम मेहनत तो झाड़ू लगाने के काम में है। सुबह-सुबह मोहल्लों की सफ़ाई करो और दारु पीकर सारे दिन मारो मस्ती। कोई काम फले या न फले। ये बेतुकी बातें ही हमें निष्क्रिय बनाती हैं। यही बातें हमारे विरुद्ध काम में लाई जाती हैं। मेरी बात मानों और कल जाकर बैंक से अपना काग़ज वापिस ले लो।''[3]

नत्थू और शांता तय करते हैं कि रामसहाय को उसके किए की सज़ा और सबक मिलना ही चाहिए। नत्थू दलित-पिछड़े टोलों के युवकों को एकत्र करता है। दूर-दराज से दलित युवकों का जनसमूह नत्थू और शान्ता के नेतृत्व में चल पड़ा। उनका नारा था।-

''मनचाहे पेशे के लिए कर्ज़ देना होगा पुश्तैनी धंधों में रखने की साज़िश बन्द करो हमें भी बहुमुखी विकास का अवसर दो।''[4]

शांता शिक्षित स्त्री थी इसलिए अपने पति को साज़िश में फँसने से बचा लेती है वह बैंक मैनेजर से स्पष्ट रुप से कहती है-

''बस कीजिए मैनेजर साहब अपनी भलाई की बात अब हम खुद देख लेंगे। आप कष्ट मत कीजिए। सदियों से आप लोग सोचते रहे हैं हमारे लिए। अब आप आराम कीजिए। अपना नफ़ा-नुकसान हम खुद समझेंगे। गलती करके ही लोग सीखते हैं। हमें गुमराह मत कीजिए। आप अपने बेटे को पिगरी का लोन देकर प्रशिक्षित करें तो अच्छा रहेगा। पिछले हफ्ते आपने क्या कहा था और अभी कैसे बातें कर रहे हैं। गिरगिट की तरह रंग बदलना तो कोई आप लोगों से सीखे।''[5]

शांता के एक-एक शब्द सदियों से दबे-कुचले जा रहे दलितों का प्रतिकार है। सवर्ण ही हमेशा उनके लिए निर्णय लेते आए हैं, उन्हें क्या करना है ? ये वे कभी स्वयं नहीं तय कर सके, जिसका नतीजा यह है कि उन्हें आज भी उसी स्थिति में रहने के लिए विवश किया जा रहा है।

अस्पृश्यता से दलितों का संबंध बहुत पुराना है। दलितों से तनतोड़ बेगार करवाने वाले सवर्ण उन्हें अछूत कहकर उनका सदैव अपमान करते रहे हैं। सूरजपाल चौहान की कहानी 'टिल्लू का पोता' में लेखक ने वर्तमान समय में आज भी गाँवों में अस्पृश्यता के कारण किस तरह दलितों का अपमान किया जाता है, उसका वर्णन किया है। हरीसिंह एक शिक्षित व्यक्ति है, जो दिल्ली में सरकारी नौकरी करता है। वह अपनी पत्नी कमला और दो बच्चों के साथ गाँव में किसी रिश्तेदार की शादी में आता है, रास्ते में पत्नी एवं बच्चों को प्यास लगती है। हरीसिंह गाँव में भेद-भाव, ऊँच-नीच के वातावरण को भूला नहीं था, इसलिए वह उन्हें थोड़ी देर इंतजार करने की सलाह देता है। कमला और बच्चे वहाँ चल रहे कुएँ और बाल्टी देखकर अपनी प्यास को रोक नहीं पाते। उन्हें अच्छे कपड़ों में देख सवर्ण किसान पहले पानी निकालकर पीने की अनुमति दे देता है। किन्तु जैसे ही उसे यह पता चलता है, कि यह टिल्लू का पोता है, उसका रुप बदल जाता है। वह उसके हाथ से बाल्टी छीनकर माँजने लगता है। कमला इस अस्पृश्यता के भाव को ताड़ नहीं पाती और प्यास से तड़पती वह जैसे ही पानी पीने के लिए आगे बढ़ती है, वह किसान उससे कहता है-

''अरे भंगनिया, नेक पीछे कू हट के पानी पी, यह शहर ना है गाँव है गाँव, मारे लठिया के कमर तोड़ दी जाएगी। सारे (साले) भंगिया-चमरा के सहर में जाकै नये-नये लत्ता (कपड़े) पहर के गाँव में आ जात हैं। कुछ पतो न चलतु कि जे भंगिया-चमार के हैं कि नाय (नहीं)।''[6]

सभी वर्ण के लोगों को गाँव में अच्छे कपड़े, अच्छे खाना-पान, रहन-सहन, स्वतंत्रता और मान-सम्मान मिलता था, सिवाय दलितों के। उन्हें सुखी रहने और सम्मानपूर्ण जीवन जीने का अधिकार नहीं दिया गया था, क्योंकि सदियों से उन्हें दीन-हीन ही रहने पर विवश किया गया है। कमला को अपेक्षा से परे किसान का व्यवहार आहत करता है। वह क्रोध से जल उठती है। उसकी आँखों से दहकते अंगारे निकलने लगते हैं और उस भेद-भाव और छुआ-छूत के भाव से दिए गए पानी को वह ग्रहण नहीं करती और कहती है-

''चलो, ये पानी नहीं जहर है। अपने घर जाकर पिएँगे....नहीं चाहिए आपका मीठा पानी...।''[7]

दलित नारी यदि शिक्षित है तो वह अपने पर किए जाने वाले अन्याय के विरुद्ध विद्रोह कर सकती है। कमला के माध्यम से लेखक ने दलित नारी में रहे आत्मसम्मान और उस पर चोट लगने से उसकी प्रतिक्रिया का मार्मिक चित्रण किया है।

सूरजपाल चौहान की 'अंगूरी' कहानी की नायिका अंगूरी का रुपवती होना उसके लिए अभिशाप बन जाता है। दलित स्त्री की सुन्दरता व यौवन गाँव के युवक को आकर्षित करती थी, बड़े बूढ़े तक की नजरें उससे नहीं हटतीं थीं। अंगूरी का पति गेंदा सवर्णों की बेगारी करता था। वह दिनभर के परिश्रम के बदले में दो वक्त का भोजन मात्र ही जुटा पाता था। गरीब, लाचार, अशक्त गेंदा पत्नी के सम्मान के लिए सवर्णों से सामना करने में अपने आप को असमर्थ महसूस करता है। अंगूरी भी पति से शिकायत करके थक चूकि थी। उसका जीना हराम हो गया था। लोगों की छेड़छाड़, प्रणय निवेदन आदि हरकतों से वह तंग आ जाती है। गाँव के मुखिया और उसके काले पहलवान ने अंगूरी को दबोचने का षडयंत्र रचकर गेंदा को एक रात के लिए गाँव से दूर भेज दिया। मजबूरी में गेंदा इस षड्यंत्र से बेखबर तहसीलदार के हस्ताक्षर करवाने चला जाता है। अंगूरी को इस षड्यंत्र की भनक लग जाती है।

अंगूरी पति की गैरमौजूदगी में भी अपनी आत्मरक्षा करने के लिए तैयार थी। वह भूखे भेड़ियों को सबक सीखाने के लिए चौकन्नी हो जाती है और जैसे ही मुखिया आधी रात को उसके घर में कूदकर अंगूरी के समक्ष प्रणय-निवेदन करने लगता है, वह सहजता से ही अंगूरी को प्राप्त कर लेगा, यह सोचकर वह यहाँ आया

था, किन्तु अंगूरी आत्मरक्षा के लिए हँसिया उठा लेती है, और भूखी शेरनी बनकर उसके सीने पर खड़ी होकर उसे धमकाते हुए कहती है-

“चल, निकल यहाँ से। यदि जरा भी देरी लगाई, तो तेरी अँतड़ियाँ निकालकर बाहर धर दूँगी। पोंगा पण्डत.....मैं अहिल्या ना हूँ, मैं अंगूरी हूँ, अंगूरी।''[8]

यहाँ अंगूरी की निडरता, साहस, आत्मविश्वास उसे सबला नारी बना देता है। वह शोषण के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी रक्षा करती है, साथ ही शोषक को ऐसा सबक सीखाती है, जिससे वह कभी किसी को अशक्त समझकर उसका शोषण न कर सके।

आज की दलित नारी अहिल्या नहीं है, जो निर्दोष होते हुए भी दंडित की जाए। आज अंगूरी जैसी महिलाएँ अपने पर अत्याचार करने वाले को स्वयं दंड देती हैं, किन्तु उसी समाज का उसका पति गेंदा पुरुष होते हुए भी परिस्थितिवश एवं गाँव के परंपरागत वातावरण एवं रीतिरिवाज, गरीबी, भुखमरी, बेगारी आदि के कारण अपने मुँह पर ताला लगा लेता है।

शिक्षा पाने से व्यक्ति जागरुक बनता है। उसे अपने अधिकार का ज्ञान होता है, साथ ही अपने कर्त्तव्य का पालन भली-भाँति करने में वह सक्षम बनता है। सूरजपाल चौहान की 'बदबू' कहानी में संतोष शिक्षित युवती है, फिर भी उसे दलित होने के कारण कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। दलित समाज में स्त्री शिक्षा को महत्त्व नहीं दिया जाता। वे तो बेटी को पराया धन मानकर जल्द से जल्द अपनी जिम्मेदारी पूरी करने में विश्वास करते हैं। प्रस्तुत कहानी में संतोष के साथ भी यही होता है। संतोष अपने कस्बे के दलित परिवार की पहली लड़की थी, जिसने इंटर कॉलेज की परीक्षा सत्तर प्रतिशत में पास की थी। उसके साथ की दूसरी सवर्ण लड़कियाँ उच्च शिक्षा पाने शहर में जाती हैं। संतोष भी आगे पढ़ना चाहती है, किन्तु उसके पिता किशोरी उसे आगे नहीं पढ़ाना चाहते, वे तो उसकी शादी के लिए उतावले हो जाते हैं। संतोष लाख मिन्नतें करती है, किन्तु किशोरी नहीं मानता। दो वर्ष हो जाते हैं लेकिन उनकी बिरादरी में दसवीं पास लड़का भी नहीं मिल पाया। संतोष की माँ अपना सारा गुस्सा उस पर उतारते हुए कहती है-

“तुझे इतना पढ़ा-लिखाकर तो हमने आफत मोल ले ली, अब बिरादरी में तेरी बराबर पढ़ा-लिखा लड़का ही नहीं मिलता.....हमारी तो किस्मत ही फूट गई”।[9]

लेकिन जहाँ सारे अशिक्षित लोग हों वहाँ संतोष के मनोभावों को भला कौन समझता ? आखिर संतोष का विवाह हो जाता है। वह दिल्ली अपनी ससुराल पहुँच जाती है।

शादी के दस-पन्द्रह दिन भी नहीं हुए थे कि, उसकी सास और पति उसे सफाई काम करने के लिए कहते हैं। संतोष यह काम कतई करना नहीं चाहती थी। सास के साथ जब वह जाती है, तो उसे इस गंदे काम को देखकर ही उबकाई आने लगती है। इस पर सास उसे डपटते हुए कहती है-

“देख बहू-काम से नफरत ना करें, यह तो म्हारा खानदानी काम है..यदि यह काम हम नहीं करेगें तो भला कैसे गुजारा होगा म्हारा (हमारा)”।[10]

संतोष का पति अपनी पत्नी के तर्क-वितर्क के सबंध में स्पष्ट रुप से अपने विचार प्रकट करते हुए कहता है-

“पढ़ी-लिखी है तो क्या हुआ, ऐसी कौण-सी अनोखी बात है.....मैं भी तो नवीं फेल हूँ बीस हजार रिश्वत के दिए थे काम पाने के बदले तब कहीं जाकर लगी म्यूनिस्पल्टी में झाड़ू की नौकरी, अरे हम भंगी है भंगी....म्हारा पेशा ही है झाड़ू लगाना”।[11]

संतोष की पढ़ाई से न तो उसके मायके वाले खुश थे और न ही उसके ससुराल वाले ही। बल्कि ये तो उनकी समस्या बन जाती है। सफाई कर्मचारी की नौकरी में भी रिश्वत देकर रजिंदर को काम मिलता है। हमारे देश में बेरोजगारी इतनी है कि ऐसे काम के लिए भी लोग रिश्वत देने को तैयार हैं। संतोष सोच में पड़ जाती है कि-

“दूसरे समाज के पढ़े-लिखे तो दूर अनपढ़ होकर भी यह काम नहीं करते..... वे दूसरा अन्य काम करके अपना जीवन यापन कर लेते हैं। लेकिन यह गंदगी से भरा काम कतई नहीं करते, आखिर, हमारी जाति बिरादरी के लोग ही यह काम क्यों करते हैं ?”[12]

संतोष का यह प्रश्न वर्ण व्यवस्था पर प्रश्न चिह्न लगाता है। आखिर शुद्र ही ऐसा काम क्यों करते हैं ? क्या वे मनुष्य नहीं हैं ? सवर्ण और उनमें ऐसा क्या अंतर है, जिससे वे इस गंदगी भरे कार्य को करने के लिए आज भी मजबूर हैं। मनुष्य होकर मनुष्य का मैला ढ़ोना कहाँ तक उचित है। इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करके भी आज दलित समाज कितना पिछड़ा हुआ है। संतोष जैसी पढ़ी-लिखी युवती को मजबूरन मैला उठाने का कार्य करना पड़ता है। इस कार्य को करने के बाद उसे जो रोटी-सब्जी मिलती है। उसे खाकर अपना पेट भरना पड़ता है।

सूरजपाल चौहान की 'अत्तू और अम्मा' कहानी में लेखक ने एक दलित विधवा स्त्री और उसके दस-ग्यारह वर्षीय अत्तू के जीवन की दीनहीन स्थिति एवं समस्याओं को प्रस्तुत किया है। पिता की मृत्यु हो चुकी थी। माँ गाँव में ठाकुर-ब्राह्मणों के घर सफाई का काम करती थी। माँ स्वयं शिक्षित नहीं थी, इसलिए अपने पुत्र अत्तू अर्थात् अत्तर सिंह को पढ़ा लिखाकर अच्छा आदमी बनाना चाहती थी। गरीब इतनी कि तन ढाँकने के लिए साबूत एक भी कपड़ा न था। अत्तू भी निक्कर का फटा भाग दिखाई न दे, इसलिए कमीज निक्कर के बाहर ही रखता था। एक टूटी-फूटी झोंपड़ी में दोनों रहते थे। उनके पास बटाई पर ली गई एक भैंस थी।

गाँव के दलित आर्थिक रुप से सवर्णों पर निर्भर थे, यही कारण था कि सवर्ण जब चाहे उनका अपमान करते थे। अत्तू की भैंस जब ठाकुर के बैल के साथ पानी पी लेती है तब बलवन्त सिंह दरवाजे पर आकर चित्रा से कहता है-

“अरी ओ भंगनिया, तेरे छोरा ने अपनी भैंस को जूठो पानी मेरे बैल कू पिला दीनौ (दिया) आज तो मैंनें छोड़ दियौ.....फिर याने ऐसी हरकत की तो ठौर मार

दूंगी।''[13]

जब मनुष्य से अस्पृश्यता की जाती थी, तो पशु से यह अस्पृश्यता रखना बड़ी बात नहीं, किंतु इस बात से उस गाँव के सवर्णों की मानसिकता का पता चलता है। दलितों को भंगी कहकर वे उन्हें अपमानित करने का एक भी मौका हाथ से जाने नहीं देते थे। उन्हें उनके असली नाम से न बुलाकर अशोभनीय नाम से पुकारा जाता था क्योंकि यह उन्हें बर्दाश्त नहीं था, जैसे अत्तर सिंह की जगह 'अत्तू' और 'चित्रा' की जगह 'चित्रिया' कहकर पुकारते थे। गाँव में रुखे-सूखे निवालों के भी लाले पड़े हुए थे, इसलिए न चाहते हुए भी चित्रा अपने अत्तू को लेकर ठाकुर बलवन्त सिंह के घर जाती थी। अत्तू के बाल-मानस पर इस भेद-भाव को लेकर, अमीरी-गरीबी की इस खाई को देखकर कई प्रश्न उभरते हैं जैसे वह माँ से कहता है-

"अम्मा हम गरीब क्यों हैं ? हमारा घर पोखर के किनारे क्यों है ? अम्मा हमारा घर ठाकुरों-बामनों के घरों जैसा क्यों नहीं है ?''[14]

चित्रा, अत्तू के इन सवालों का उत्तर देने में असमर्थ थी, क्योंकि वह स्वयं नहीं जानती थी, कि ईश्वर ने उन्हें दलित क्यों बनाया है या इतना गरीब, पीड़ित, अस्पृश्य, अपमान से भरा जीवन उन्हें क्यूँ मिला है, आखिर उनका दोष क्या है ? ईश्वर ने उनके शरीर की रचना तो सवर्णों की तरह की है, किन्तु सवर्णों को इतनी सुविधाएँ, मान-सम्मान, धन-दौलत, ऐशो-आराम दिया है और उन्हें इससे वंचित भला क्यों रखा हैं ? यह प्रश्न चित्रा का ही नहीं उसकी तरह की हर माँ और अत्तू जैसे बच्चों के मस्तिष्क में अवश्य आता है।

ठाकुर बलवन्त सिंह चित्रा की आबरु लूटने का प्रयास करता है किन्तु अत्तू अपनी माँ की चीख सुनकर उसे बचाने आ जाता है, चित्रा बड़ी हिम्मत से अपनी रक्षा स्वयं करती है। हमेशा कमजोर, भीरु दिखने वाली चित्रा में अचानक न जाने कहाँ से इतनी शक्ति आ जाती है। समाज में इस बात पर हमेशा की तरह गलती दलित स्त्री की ही मानी जाती है। चित्रा की सच्ची बात को कोई नहीं स्वीकारता उसे डपटते हुए ठाकुर प्रताप सिंह कहता है-

"अरी ओ भंगनिया, तुझे तो छूने भर से ही छूत लग जाएगी, झूठा आरोप लगाती है....ठाकुर होकर कोई भला भंगिन से मुंह काला करेगा, अगर अपनी खैर चाहती है तो चली जा यहां से, नही तो मारे लठिया के कमर तोड़ दी जाएगी।''[15]

अत्तू समझ जाता है कि शिक्षा ही हमें इस दयनीय एवं अपमान जनक जीवन से बाहर ला सकती है इसलिए वह देर रात तक पढ़ता है और माँ के पूछने पर कहता है-

"माँ, तूने ही तो कहा है कि ज्यादा पढ़ने-लिखने से आदमी जल्दी बड़ा हो जाता है...मुझे रात भर में बड़ा आदमी बनना है, जिससे कि सुबह हम ठाकुर के घर न जाएं और उसकी मार से बच सके।''[16]

अत्तू बालक है, किन्तु माँ के अपमान को वह नहीं भूल पाता है। इस तिरस्कृत, अपमानित, प्रताड़ित जीवन से वह हमेशा के लिए मुक्ति चाहता है, जिसके लिए वह हर प्रयास करने को तैयार है।

निष्कर्ष रुप में कहा जा सकता है कि सूरजपाल चौहान की कहानियों में दलित नारी के विविध रुप एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया गया है। दलित नारी सवर्णों पर आर्थिक रुप से निर्भर होने के कारण शोषण सहती है किन्तु उचित समय आने पर अपनी आत्मरक्षा करने में वह सक्षम भी है। शिक्षा ही वह सर्वोचित साधन है जो दलित नारी को शोषण रुपी अंधकारमय एवं यातनामय जीवन से छुटकारा दिला सकती है

संदर्भ :

1. दलित कहानी संचयन पृ. सं. 67

2. वही पृ. सं. 67

3. वही पृ. सं. 69

4. वही पृ. सं. 69

5. वही पृ. सं. 70

6. हैरी कब आएगा ? सं. सूरजपाल चौहान पृ. सं. 26

7. वही पृ. सं. 26

8. वही पृ. सं. 47

9. नयी सदी की पहचान श्रेष्ठ दलित कहानियाँ सं. मुद्राराक्षस पृ. सं. 129

10. वही पृ. सं. 131

11. वही पृ. सं. 132

12 वही पृ. सं. 133

13. युध्दरत आम आदमी अक्टूबर-दिसंबर 2002 पृ. सं. 5

14. वही पृ. सं. 5

15. वही पृ. स. 6

16. वही पृ. सं. 6

कथ्य और शिल्प की नवीनता का उपन्यास 'डंक'

-डॉ.हेना
सह आचार्य,सरकारी ब्रेन्नन कॉलेज,
तलश्शेरी,कण्णूर, केरल
मो.9446353031

पूर्व की सभी आलोचनाओं और सिद्धान्तों से मुक्त होकर ही समकालीन दलित साहित्य की आलोचना संभव है। आलोचना में अपने एक लेख में अवधेश कुमार सिंह पाठ को और उसे पढ़ने को महत्वपूर्ण मानते हैं। जिस सही गलत और प्रामाणिकता की परिपाटी चली आ रही है, उससे मुक्त होना आवश्यक है। वे कहते हैं- "आज के जीवन का सत्य यह है कि प्रामाणिकता और स्वस्थता हमारे युग की सबसे बड़ी दुर्घटनाएँ हैं जिनसे आलोचनात्मक बोध के साथ पठन के द्वारा काफी हद तक बचा जा सकता है।"

दलित साहित्य भी अपने लिए नए सौंदर्यशास्त्र की माँग करता है। आलोचकों द्वारा शिल्प को कलात्मकता की कसौटियों पर कस कर इसका तिरस्कार ही किया है। किन्तु इन सारी अवमाननाओं के बीच भी अपने साहित्यिक संघर्ष को निरंतर लिखकर दलित लेखकों ने जीवित रखा है। अपनी अनुभूतियों, वेदनाओं, संवेदनाओं की बिना किसी कलात्मक सौंदर्य के यथार्थ परक अभिव्यक्ति उन्होंने की है। अपमान, तिरस्कार, शोषण की गहरी पीड़ा ही इन कृतियों की प्रभावान्वित बन प्रतिष्ठित हुई। इस प्रकार कई प्रचलित परिभाषाएँ बदल गई। कृति के कलात्मक सौंदर्य के प्रतिमानों में ऐसा कायापलट हुआ कि सहृदय एवं समीक्षक दोनों को ही पुन:विचार की आवश्यकता महसूस हुई।

अज्ञेय ने जब कहा था कि देवता कूच कर गये है इन प्रतीकों के तब शिल्प एवं भाषा के नये युग की शुरुआत हुई थी। इसी प्रकार समकालीन साहित्य, विशेषकर दलित एवं स्त्री साहित्य जो कि हाशियेकृत, दमित एवं शोषित है, सत्ताधारियों, अधिकारियों, संपन्न वर्ग की भाषा एवं शिल्प के प्रतिमानों पर नहीं चल सकता है। दलितों की वेदना, आक्रोश, मजबूरी ने ही साहित्य के क्षेत्र में नये सौंदर्यशास्त्र को रूपायित किया। ओमप्रकाश वाल्मीकी जी सही कहते हैं- "युगों युगों से प्रताड़ित, शोषित, साहित्यिक संस्कृति से वंचित मानस जब स्वयं को साहित्य के साथ जोड़ता है तो दलित साहित्य उसकी निजता को पहचानने की अभिव्यक्ति बन जाता है। हाशिये पर कर दिये गये इस समूह की पीड़ा जब शब्द बनकर सामने आती है तो सामाजिकता की पराकाष्ठा होती है। सदियों का दबा आक्रोश शब्द की आग बनकर फूटता है। तब भाषा और कला की परिस्थितियाँ उसे सीमाबद्ध करने में असमर्थ हो जाती है।"

यही कारण है कि दलित लेखकों ने बिना किसी लाग-लपेट के अपने जीवन यथार्थ को उसकी पूरी विद्रूपता और घिनौनेपन के साथ रखा और जाति दंश की पीड़ा को झेलने की वेदना का बेबाक चित्र प्रस्तुत किया। इन्हीं संदर्भों में रूपनारायण सोनकर जी का साहित्य मुख्यधारा साहित्य और यहाँ तक कि दलित साहित्य में भी अपनी विश्ष्टता के लिए पहचाना जाता रहा, साथ ही विवादों के घेरे में भी आता रहा। रूपनारायण सोनकर का उपन्यास 'डंक' कथ्य और शिल्प की दृष्टि से एक अभूतपूर्व उपन्यास है। 'डंक' उपन्यास का कथ्य ग्रामीण इलाकों, आदिवासियों की झोंपड़ियों के नग्न यथार्थ से लेकर शहरी धनाढ्य संस्कृति और भारतीयता का शोषण करती विदेशी संस्कृति सभी को अपने में समेटता है। सूचनाओं, सत्य चित्रों की ऐसी भरमार कम ही उपन्यासों में नज़र आती है। उनके उपन्यास के सभी यथार्थ चित्र अपने में गहरी अभिव्यंजकता और जीवन दर्शन लिये हुए हैं। आज संस्कृति-सभ्यता के नाम पर हम जिस जीवन को जी रहे हैं, वह वास्तव में एक भ्रमात्मक, काल्पनिक दिखावे की ज़िन्दगी है। हमने वास्तविकता को अनदेखा कर दिया है। 'डंक' में लेखक कहते हैं- "अब दो तरह के जीवन चलते है, एक सजीव जीवन और दूसरा कैमरे का जीवन। उस कैमरे वाले जीवन में अपने तकनीकी हुनर से उसे बहुत ही रिच बनाते हैं। तरह-तरह के रंग भरते हैं। इधर सजीव जीवन बदरंग रहता है। उसमें कोई रंग नहीं भरता। उनका जीवन दूभर ही बना रहता है।"

प्राय: साहित्य में लेखक किसी आचार बिन्दु, समस्या, विचारधारा या दर्शन को कथाओं, घटनाओं की नाटकीयता, संवादों के चमत्कारिक आयोजनों, चरित्रों की स्वाभाविक, जीवंत, मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति आदि के कलात्मक मुखौटों के भीतर से हमें परिचित कराते हैं। किन्तु 'डंक' उपन्यास इन सभी मुखौटों को उतार फेंक कर नग्न यथार्थ से हमें रूबरू कराता है।

इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें कथा सूत्र या कथा प्रवाह या कथात्मकता का पूर्ण अभाव है। हर कथा या कहे घटना अलग छिटकी हुई है। उनमें परस्पर किसी प्रकार का सूत्र स्थापित करने की कोशिश नहीं की गई है। ऐसा लगता है कि कोई समाचार पत्र पढ़ रहे हो या न्यूज़ देख रहे हो। ढ़ेरों घटनाएँ, समस्याएँ, चित्र सभी एक के बाद एक प्रस्तुत हुए हैं। सिर्फ यात्रा का ही एक क्रम इसमें देखा जाता है, जो कि भारत-दर्शन की अनुभूति जगाता है। दर्शनीय स्थलों, इतिहास प्रसिद्ध इमारतों, खंडहरों, प्रकृतिरमणीय हिल स्टेशनों की यात्रा नहीं,

बल्कि आज के भारत के जीवन के सच्चे दिल को दहला देने वाले दृश्यों की यात्रा। इस पूरे उपन्यास के उपक्रम में जो सूत्र, प्रवाह या आकर्षण जो पाठक को बाँधे रखता है वह है अनुभूति की सच्चाई और उसकी यथार्थपरक प्रस्तुति।

यदि हम नायकत्व की बात करें तो विराट और संध्या को नायक और नायिका कहा जा सकता है। किंतु वास्तव में यह उनकी कथा नहीं है यह तो उस जीवन की कथा है जिसे वे दोनों यात्रा के दौरान देख रहे हैं या लेखक उन दोनों के माध्यम से दिखाना चाहते हैं।

'डंक' उपन्यास मुख्य रूप से विविध स्तरों पर परंपरागत रूढ़ियों को तोड़ने की ज़िम्मेदारी भी निभाता है। धर्म की अवधारणा पर रूपनारायण सोनकर कड़ा प्रहार करते हैं। सुर और असुर की प्राचीन अवधारणा को वे पूरी तरह से उलट देते हैं। विलासी इंद्र और देवताओं ने व्यभिचार करनेवाले 'एडस' फैलाने वाले मानते हैं। इंद्र ने गौतम ऋषि के रूप धर कर अहल्या का बलात्कार किया था। 'डंक' में सोनकर जी कहते हैं- "इंद्रलोक वास्तव में बलात्कारियों का लोक था। जो धरती की सुंदर-सुंदर विवाहित, कुंआरी लड़कियों और स्त्रियों को खोजा करते थे। इंद्र की सेना ऐसे ही घिनौने कार्यो को अंजाम दिया करती थी। जिनको देवता राक्षस कहकर पुकारा करते थे, वास्तव में वह सच्चरित्र, महान योद्धा थे जो धरती में निवास कर रही अबलाओं की इंद्र जैसे भ्रष्ट, कुकर्मी देवताओं से रक्षा करते थे।"

परंपरागत सोच के तहत काम वासना को वर्ज्य माना जाता है। साहित्य में इसके कथन पर भी रोक है किंतु सोनकर जी सेक्स की स्वाभाविकता को खुलकर स्वीकार करते हैं- "दुनिया में वही जोड़े सबसे ज्यादा ज़िंदगी पाते हैं और जीवन भर एक दूसरे के होकर रहते हैं जो सेक्सुअली एक-दूसरे को संतुष्ट करते रहते हैं।" इस भूख को वे अन्य सभी भूखों से तीव्र मानते हैं और सृष्टि निर्माण के कार्य के रूप में इसके महत्व को भी स्वीकार करते है और इसकी खुली विवेचना वे करते हैं।

'डंक' उपन्यास ने अपनी निर्मिति में अनेक प्रतीकों और बिम्बों की सहज सृष्टि की है। पूँजीपति सवर्णों को उन्होंने अमरबेल के प्रतीक से भलीभाँति अभिव्यंजित किया है- "अमरबेल हरे भरे पेड़ का शोषण करते है। उनको मिलनेवाली खुशाक को हज़म कर जाती है। बिना मेहनत के पलती है। जो सूर्य का प्रकाश, हवा, पेड़ों को मिलना चाहिए वह स्वयं ग्रहण कर लेती है। पेड़ धीरे-धीरे कमज़ोर हो जाती है। पूर्ण विकसित नहीं हो पाते हैं।"

उपन्यास के शीर्षक के रूप में 'डंक' भी जातिवाद के प्रतीक के रूप नये अर्थो को प्रस्तुत करता है। "बर्रइया कई प्रकार की होती है लेकिन सभी के डंक तेज़ होते हैं। उनके डंकों के अन्दर जातिवाद, छुआछूत, ऊँच-नीच, असमानता, सामप्रदायिकता का कसैला व विषैला द्रव भरा होता है जो ज़हर से ज़्यादा प्रभावशाली होता है। उनके डंक चुभते ही दलित, पिछड़े कराहने लगते हैं। सदियों से दलित और पिछड़े ऐसे असहनीय कष्ट झेलते आये हैं।" इसी प्रकार वे सामाजिक कुरीतियों को सुनामी की भयंकर लहरों के रूप में देखते है जो कि समुद्र की सुनामी से भी अधिक खतरनाक और जानलेवा है। क्योंकि विपदा की इस अवस्था में मनुष्य इन कुरीतियों की अर्थहीनता को समझ पाने में असमर्थ रहा। सुनामी के आने पर भी उच्च वर्ग को ही पहले राहत की सुविधाएँ प्राप्त हुई।

'डंक' उपन्यास में दलितों की समस्याओं के समान्तर ही स्त्रियों के शोषण के भी कई रूपों में और कई संदर्भो के अन्तर्गत दिखाया है। पी.एच.डी. करनेवाले शोध-छात्रा का शारीरिक शोषण और उसके विद्रोह को बतलाया है। चाय की दुकान पर काम करनेवाली छोटी लड़की सुरीली के शोषण का विवरण भी है।

'डंक' उपन्यास में विभिन्न विरोधी संदर्भों का सामंजस्य प्रस्तुत कर एक कौतूहल जन्य चेतना को प्रस्फुटित किया गया है। एक ओर घोर गरीबी है। मध्यप्रदेश के 'टिनहरिया' आदिवासी गाँव में झोंपड़ी के अंदर दो औरतें नंगी रहती हैं। उनके पास सिर्फ एक साड़ी है। जो बाहर जाती है, वह साड़ी पहनती है। दूसरी ओर पश्चिमी संस्कृति का अनुकरण करती सभ्य कही जानेवाली उच्च वर्ग की संस्कृति जहाँ धन के आधिक्य के कारण अंगों का प्रदर्शन सभ्यता और फैशन का मानदंड बना हुआ है। "आजकल दो समस्याएँ इस देश में हैं। एक उच्च धनाढ्य लोगों की कल्चर और दूसरी अति गरीब लोगों की कल्चर। फर्क सिर्फ इतना है कि उच्च धनाढ्य लोगों की औरतें और लड़कियाँ अपना जिस्म अधिक से अधिक दिखाने के लिए कम से कम कपड़े पहनती है; आदिवासी लड़कियों और औरतों के पास कपड़े न होने से जिस्म अपने आप दिखता है।" इसी प्रकार उच्च वर्ग के सवर्ण अय्याश लोग जो सारा व्यभिचार करते हैं अपनी जेबों में निरोध का पैकेट लिये घूमते हैं। क्योंकि वे बीमारी से डरते है। सोनकर जी कहते है कि वास्तव में ऐसे लोग खुद बीमारी है जो समाज को निरंतर खाये जा रहे हैं।

डंक उपन्यास में समाज में व्याप्त विविध समस्याओं को जीवंत संदर्भो के रूप में सोनकर जी ने प्रस्तुत किया है। आरक्षण की समस्या, वृद्धों की समस्या, साहित्यिक, राजनीति आदि की प्रभावी प्रस्तुति हुई है। साथ परिवर्तन की कई उदाहरणों को भी वे हमारे सामने रखते हैं।

दलित, आदिवासी, स्त्री जीवन की विद्रूपताओं को गहरी आत्मीयता के साथ रूप नारायण सोनकर जी ने अभिव्यक्त किया है। शोषितों, पीड़ितों के जीवन की घिनौने सच बिना किसी अलंकारों के 'डंक' उपन्यास में प्रस्तुत हुए हैं।

नागफनी : दलित प्रतिरोध का जीवंत दस्तावेज

-जितेंद्र विसारिया

नागफनी हिन्दी की बहुचर्चित दलित आत्मकथा है, जो अपने सामान्य रचना और शिल्प विधान के बाबजूद अपनी क्रांतिधर्मिता के कारण चर्चा में अधिक रही। जिस प्रकार गाँधी जी की आत्मकथा 'मेरे सत्य के प्रयोग' में उनके प्रारंभिक मानवतावादी जीवन की झलक आत्मकथा के प्रत्येक पृष्ठ और प्रसंग में झलकती है तथा हम उनके जीवन में घटित हुई प्रत्येक सफलता असफलता से एक संदेश ग्रहण करते हैं। 'नागफनी' में भी रूपनारायण सोनकर ने अपने प्रारंभिक जीवन की घटनाओं से लेकर अब तक के जीवन में आये सामाजिक उतार-चढ़ाव और अपने आसपास की घटनाओं को भी कुछ इस प्रकार संयोजित किया है, कि वे अंत में अपने पीछे एक सुस्पष्ट और क्रांतिकारी संदेश छोड़ जाती हैं।

'नागफनी' का प्रारंभ रूपनारायण सोनकर ने अपने गाँव नसेनियाँ, तहसील बिंदकी, जिला फतेहपुर (उ.प्र.) के पास स्थित 'कुहड़ा माई के मंदिर में नवरात्रि के समय लगने वाले 'जवारों' के मेले के वर्णन से किया है। मंदिर पर साल में दो बार लगने वाले इस मेले में गाँव-वासियों की प्रसंन्नता और उत्सवधर्मिता के बीच सवर्णों द्वारा दलितों से किये जाने वाले भेदभाव का भी स्पष्ट चित्रण हैं।

'चाची द्वारा कल कलश सिर पर रखने पर ब्राह्मण द्वारा पिटाई' आत्मकथा के इस पहले प्रसंग में लेखक ने अपने बचपन की घटना का ज़िक्र किया है। जिसमें एक बार उसी कुहड़ा माई के मेले में कतारबद्ध सवर्ण महिलाएँ जवारे लेकर मंदिर जा रहीं थी। उन्हीं के आसपास चल रहीं उसकी चाची ने जब एक सवर्ण महिला को कलश लेकर गिरते देखा तो उन्होंने दौड़कर उस महिला को सहारा देते हुए वह कलश अपने सिर पर रख लिया था। परन्तु छोटी जाति की होने के कारण चाची के इस उपकार का गाँव के सवर्णों (ब्रह्मणों) ने कोई अहसान न मानते हुए अपना जातिय अपमान माना!!! उन्हें चाची के इस कृत्य में अपनी तौहीन दिखी, अपने जाति-धर्म का अपमान लगा और कुछ ब्रह्माणों ने मिलकर उनकी लात-घूँसों से पिटाई कर दी थी। लेकिन समय के बदलाव के साथ-साथ दलितों में आई नवीन चेतना के प्रभाववश अपने अधिकारों के प्रति सजग हुए सोनकर के परिवार और जाति-बिरादरी वालों ने मिलकर इसका डटकर प्रतिरोध किया जिसके आगे उन्हें झुकना पड़ा। गाँव में सदियों से दलितों के महिलाओं के लिए जवारे के मेला में वर्जित पीतल के कलश लेकर चलने की प्रथा उस दिन समाप्त हो जाती है।

'सुअर गाय का अद्भुत युद्ध' आत्मकथा का दूसरा प्रसंग होली के दूसरे दिन 'पड़वा' कुहड़ा माई के मेले में ही लगने वाले मेले में होने वाले गाय और सुअर के विचित्र युद्ध का वर्णन किया है। इस प्रसंग में लेखक ने स्पष्ट किया है कि जातिय दंभ में पगे सवर्णों का अहंकार समरसता के प्रतीक लोकोत्सवों में भी उभर कर सामने आ जाता है। ग्राम प्राधान का चुनाव जीते लेखक के पिता के सुअर को प्रधानी के चुनाव में भारी मतों से पराजित पद्मिनी पंडिताइन के पति द्वारा धोखे से हत्या करवा देना उनकी उसी मानसिकता का परिचायक है। लेखक ने जिसे देव-दानव युद्ध की संज्ञा दी है जिसमें विजय सदैव छली देवताओं के पाले में जाती रही है...।

'कुश्ती में दूसरे गाँव को पछाड़ना' आत्मकथा का यह तीसरा प्रसंग लेखक ने अपनी किशोरावस्था के एक घटना से किया है, जिसमें वह अपने 'हीरा' उपनाम के साथ अपने-गाँव के साथ-साथ दूसरे गाँव के अखाड़ों से कुश्ती जीतकर आता था। ...कहते हैं कि गाँव में हर एक आदमी मिलजुल कर रहता है और गाँव के किसी एक व्यक्ति के साथ घटी घटना/दुर्घटना पूरे गाँव के मान-अपमान का कारण बनती है, लेकिन रूपनारायण सोनकर ने इस तथ्य को अपने जीवनानुभव से असत्य सिद्ध करते हुए लिखा है कि ऐसा केवल सवर्णों के साथ घटी घटना में ही होता है, वरना क्या कारण था कि जब वह दूसरे गाँव के किसी सवर्ण को कुश्ती में मात देकर आता तो गाँव का कोई सवर्ण उन्हें शाबासी नहीं देता था, ना ही उसे खुले तौर पर खुशियाँ मनाने की इज़ाज़त थी!

'हमको सड़ी लाश मानकर घर में गंगा जल छिड़कना' भले ही हिन्दू संस्कृति में दुनियाँ को सुनाने के लिए वसुधैवकुटुंबकम् और 'अतिथि देवो भवः' का ढोल पीटा जाता हो, पर आंतरिक सच्चाई यह है कि इस महान? धर्म के तथकथित सवर्ण अनुयाईयों ने न तो पहले कभी और न ही आज अपने सहधर्मी दलितों को अपने कुटुंब का हिस्सा माना है न ही कभी किसी दलित-अतिथि को देवता का सम्मान!!! हिन्दू धर्म की इस क्रूर सच्चाई को सोनकर ने अपने जीवन की एक दुःखद घटना से स्पष्ट किया है, जब वे अपने भाई के साथ एक बार अपने स्कूल के छात्रावास से घर लौट रहे थे। रास्ते में भयंकर बरसात के कारण एक ब्राह्मण गृहपति के यहाँ शरण ले लेते हैं। जब तक सोनकर की जाति उस द्विजोत्तम पर तारी नहीं होती तब तक तो सब कुछ सहज रहता है, यहाँ तक कि वह अपने लड़के के कपड़े तक सोनकर और उनके बड़े भाई को बदलने के लिए दे देता है। लेकिन जैसे ही सोनकर की बातों से उनके 'खटीक' जाति का होना उसे ज्ञात होता है। उसका व्यवहार बदल जाता है। क्रुद्ध होकर वह इनका घोर अपमान करता भरी बरसात में घर से बाहर कर देता है और अपने लड़के के जो कपड़े उसने सोनकर के भाई को भींगे कपड़े बदलने के लिए दिए थे, उनके पैसे तक वसूल कर लेता है। अछूत अथिति के आने से अपवित्र हुए घर को गंगाजल से पवित्र करता है- हमारी महान संस्कृति!

'मैंने एक लोटा पानी पिया ब्राह्मणों ने मेरा दो लोटा खून बहा दिया' जल हमारे जीवन का मुख्य आधार है। नीति कहती है कि पानी चाहे आँख में हो या घड़े में वह अपने साथ-साथ दूसरों के लिए भी बचा रहे। लेकिन हमार महान देश का

यर्थाथ यह है कि जीवन की इस मूलभूत आवश्यकता पर सदियों से सवर्णों का कब्ज़ा रहा है और वे आज भी इस पर अधिकार छोड़ने के लिए सहज राज़ी नहीं हैं। यहाँ के नीचे घाट और दोयम दर्जे का पानी ही अब तक दलितों के हिस्से का कटु यथार्थ है। इस प्रसंग में सोनकर ने लिखा है कि जब वे एक बार मई-जून के महीने में अपने छात्रावास से गाँव लौट रहे थे; तब देबरी गाँव के पास मारे गर्मी के लगी जोर की प्यास के चलते, उन्होंने एक कुँए पर पड़ी रस्सी-बाल्टी से पानी खींचकर पी लिया था। दुर्भाग्य से वह कुँआ और बाल्टी उस गाँव को सवर्ण ज़मीनदार की थी और लेखक को वहाँ सभी पहचानते भी थे। परिणामस्वरूप अचानक वहाँ आ पहुँचे एक जनेऊ और तिलकधारी ब्राह्मण और उसके साथियों ने सोनकर को कुँए से उतारकर क्रूरतम तरीके से पीटा था, जिसमें लेखक का काफ़ी खून बह गया था। यह सरासर नाइंसाफी थी और सदियों से दलितों पर किया जाने वाले क्रूर अत्याचार। लेखक वहाँ अभिमन्यु की तरह यह सब चुपचाप सहन कर कुँए की बाल्टी उठाकर घुमाते हुए अकेला ही उनका डटकर विरोध करता है और अंत में भाग आता है-''मैं मौत के मुँह से निकल आया था। कुँआ बहुत गहरा था। लेकिन समाज में फैली छुआछूत, गैर बराबरी, शोषण, अत्याचार और कुरीतियाँ कुँए से भी ज्यादा गहरी और पुरानी हैं। इनकी कोई थाह नहीं है। मैं अगर कुँए में डाल दिया जाता तो हो सकता है मैं संघर्ष कर कुँए से बाहर आ जाता, लेकिन इन सामजिक विसंगतियों, क्रूर सामजिक रूढ़ियों, नाइसांफियों, ऊँच-नीच और छुआछूत से बचना मुश्किल है। इनका जवाब वही है जो मैंने दिया। अपनी आत्मा को मरने मत दो। अपने स्वाभिमान को गिरने मत दें।''(नागफनी-पृ.27)

'अपने रिश्तेतेदारों को चारपाई पर बैठाना (यमराज का आना)' वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत दलित कही भी स्वतंत्र और सम्मानीय नहीं हैं। 'गाँव के किसी व्यक्ति का मेहमान सबका मेहमान' यह कहावत भी दलितों के सम्बन्ध में खरी नहीं उतरती। आज से तीस-पैंतीस साल पहले हर-एक गाँव में दलितों के घर के सामने ऊँचे चबूतरे नहीं होते थे, न ही घर के द्वार पर बने इन ऊँचे चबूतरों पर दलितों को खाट डाल कर बैठने की इज़ाज़त थी। उक्त प्रसंग में आत्मकथाकार इसी बात की बखिया उधेड़ी है। जिसमें सोनकर के घर एक बार रिश्तेदार आये थे जिन्हें उसने अपने घर के द्वार पर चारपाईयाँ डालकर बैठा दिया था। इसी बीच वहाँ से गुज़रे शिवभजन अवस्थी को यह बात अखरती है, उसे सदियों से दलितों के ऊपर रहा सवर्णों का वर्चस्व टूटता दिखा। वह अपने साथियों के साथ सोनकर के ऊपर हमला हमला करने आ जाता है। परन्तु परिवार तथा गाँव के बलवीर यादव एवं अन्य पिछड़ी जातियों के सहयोग से अंततः गाँव से यह प्रथा समाप्त हो होती है। जिसे सोनकर ने ब्राह्मणवाद के ऊपर दलितों और पिछड़ों की जीत बताया है। यह प्रसंग पढ़कर हमें पेरियार ललई सिंह (यादव) के पिता के जीवन का प्रसंग सहज याद हो आता है कि उन्होंने भी अपने गाँव झींझक में, दलितों के साथ होने वाले ग़ैर बराबरी युक्त इस तरह के भेदभावों का प्रतिरोध कर उन्हें समाप्त किया था।

जातिव्यवस्था का दलितों के साथ यह क्या क्रूर मजाक है कि जब कोई जोखिम भरा काम होता है वह काम भले ही सवर्णों की रसोई के भीतर का हो या देवायलय का वह दलितों और पिछड़ों से ही कराया जाता है, लेकिन जब लाभ या सहूलियत वाली बात आती है तो उन्हें घृणित पशुओं के समान दुत्कार दिया जाता है। 'रस्सी के सहारे ऊँचे गुम्बद की पुताई' पर आधारित यह प्रसंग कुछ ऐसी ही कहानी कहता है, जिसमें सोनकर की माँ के रोने पर भी गाँव के मन्दिर की पुताई के लिए सोनकर को मन्दिर के ऊँचे गुम्बद पर चढ़ा दिया था।

वर्णव्यवस्था के विरूद्ध और दलितों के पक्ष में कभी कोई सवर्ण खड़ा नहीं हुआ हो, ऐसा भी नहीं है, लेकिन जब भी किसी सवर्ण ने ऐसा प्रयास किया तो या तो उसकी आव़ाज ही दबा दी गई या उसे मार दिया गया है। बुद्ध को संक्रमित भोजन देकर, दयानंद सरस्वती को दूध में विष और महात्मा गाँधी को गोली से उड़ाना इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। 'रामचरित मानस कुचलकर चिथड़े-चिथड़े हुई' आत्मकथा के इस प्रसंग में भी सोनकर ने अपने जीवन की एक सत्य घटना के माध्यम से यह बताया है कि किस प्रकार गाँव में चल रही अखण्ड रामायण-पाठ में उनके साथ पढ़ने वाले कुछ उदार सचानों के लड़के जब उसे अपने साथ रामायण-पाठ के लिए बैठा लेते हैं, तो अपने बच्चों की इच्छा का अपमान करता शिवभजन अवस्थी सोनकर के साथ गाली-गलौज करता है। गुस्से में सोनकर भी उसके मुँह पर रामायण फेंककर उसके हवा में पन्ने उड़ाते चले आते हैं--अपने नए रामचरित मानस और अखण्ड पाठ करने जो इनसे कहीं ज्यादा मानवतावादी, तर्काधारित और वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न हैं--बुद्ध, संत रैदास, कबीर औश्र त्रिकालदर्शी व्याधऋषि और डॉ. बाबा साहेब अम्बेडक की गाथाएँ।

दलित सदियों से धन-धरती से वंचित रहे हैं। किसी हिरण्याक्ष और बलि ने यदि उसे अपने कब्ज़े में लेकर शासन करना के प्रयास किया भी तो उन्हें किसी न किसी सवर्ण वराह या वामन अवश्य छलपूर्वक नष्ट करता चला आया है। अपनी भूमि न होने और सवर्णों की कब्ज़ाई ज़मीन पर वास करते दलितों ने सदियों से ही सवर्णों के द्वारा दी जाने वाली क्रूर यातनाएँ सही हैं। और विद्रोह करने पर सामाजिक प्रतिबंधों की मार खाई है।...

'गाँव में ब्राह्मणों द्वारा मुनादी (ब्राह्मणों के खेतों में जाना बंद) प्रंसग में आत्मकथाकार ने दर्शाया है कि अपनी गुलामी और गुलाम प्रथा के विरूद्ध विद्रोह करने से सोनकर गाँव के सारे सवर्णों की आँख की किरकिरी बन गए थे। परिणामस्वरूप सोनकर की बात और विचारों को ग्रहण करने वाले उनके परिजन और बिरादरी वालों को सबक सिखाने के लिए गाँव के ब्राह्मण यह फतवा जारी कर देते हैं कि कोई भी दलित ब्राह्मणों के खेतों से होकर नहीं गुज़रेगा, कोई दलित महिला उनके खेतों में दिशा-मैदान के लिए नहीं जाये, वरना वह हर तरह का अपमान सहने के लिए तैयार रहे।

नई शिक्षा और लोकतांत्रिक मूल्यों के समाज में धीरे-धीरे पैठ बनाने से समाज के दलित-पिछड़ों में भी अपने अधिकारों के प्रति कर्तव्यबोध जागा है। अब सवर्णीय अत्याचारों के अधिकांशतः चुपचाप सहन नहीं कर लिया जाता। तमाम

सेंसरशिप के बावजूद थाने में रिर्पोटें पहुँचती है और अखबार में खबर भी छपती हैं। समझदार पिछड़े भी ब्राह्मणी अत्याचारों को सुनते-समझते हुए दलितों के पक्ष में खड़े होकर मदद करने लगे हैं। इसका प्रमाण है-'ब्राह्मणों के ख़िलाफ जवाबी मुनादी' प्रसंग में मिलता है जब ब्राह्मण दलितों को अपने खेतों से निकलने पर प्रतिबंध लगाते हैं, तो इसमें जबाब में हीरा के प्रयासों से पिछड़े ज़मीनदार शिव मोहन चाचा ब्राह्मणों की इस अनुचित कार्यवाही पर लगाम लगाते हुए वैसा ही आदेश जारी करवाकर, ईंट का जबाब पत्थर से देते हैं।

प्रेमचंद ने अपनी अमर कहानी 'सवा सेर गेहूँ' के अंत में कुछ इस तरह कहा है कि यह मात्र कहानी न होकर भारतीय समाज का जिन्दा यर्थाथ है। संभवतः कभी न मरने वाला सच। 'गाँव का सूदखोर ब्राह्मण शिवदत्त मिश्र'(डेढ़ पसेरी धान) प्रसंग इसी सच्चाई को उघाड़ता है, जिसमें लेखक के दादा ने शिवदत्त मिश्र से कभी डेढ़ पसेरी धान लिए थे जिसके एक साल बाद वह उनसे बारह मन धान वसूल लेने के बाद भी उनकी दुधारू भैंस भी घर के दरवाजे से खोलने का प्रयास करता है।

'हरीशंकर अवस्थी का बंधक भदैंया चमार' बाबा साहब ने एक जगह कहा था कि 'जब भी दलित और सवर्ण आमने सामने होते हैं तो वे दो व्यक्ति नहीं दो देश मिल रहे होते हैं।' मेरे हिसाब से यदि इसमें एक बात और भी जोड़ दी जाये तो वे मालिक और गुलाम की तरह भी आमने-सामने होते हैं। सवर्णो का दलितों के प्रति एक अधिकारपूर्ण तानाशाह रवैया भी उसमें झलकता है। यदि उस दलित की स्थिति कुछ निर्धन की बनती है तब तो यह सच्चाई पूर्ण रूप से हमारे सामने प्रकट हो जाती है...आज भी अधिकांश गाँवों में दलितों के प्रति अभद्रता अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानने वाले सवर्ण की भाषा किसी दलित के प्रति तू-तड़ाक वाली ही होती है। 'नागफनी' का यह प्रसंग दलितों के प्रति सवर्णो के अभद्र व्यवहार को तो दर्शाता ही है, साथ ही स्वतंत्र भारत में सवर्णो की कृपा से बची रह गई बँधुआगीरी के शेष बचे होने के भी प्रमाण प्रस्तुत करता है। भदइयाँ चमार पर हरीशंकर अवस्थी के सवर्णीय अत्याचारों हृदयविदारक घटना हमें रोमन साम्राज्य के ग्लेडियेटरों के साथ होने वाले अमानवीय अत्याचारों की स्मृति जिन्दा ही नहीं करती बल्कि हमारे देश की इस तथाकथित महान संस्कृति और व्यवस्था के प्रति घृणा जगाने के साथ-साथ उसे नेस्तनाबूँद कर डालने के भाव भी मन में पैदा करती है।

'मैं डॉन किग्जोट नहीं बना' यह प्रसंग पिछली घटना का ही उपसंहार है, जो बताता है कि सदियों से धन-धरती से महरूम दलितों को अपने अधिक और सुरक्षा प्राप्त करने के लिए कितनी जद्दोजहद करनी पड़ती है। कितने प्रयास विफल होते हैं दलितों के सवर्णो से अपने लोगों की मुक्ति दिलाने में। लेकिन प्रसंग के अंत में सोनकर द्वारा हरीशंकर अवस्थी के घर से भदइयाँ को छुड़वाना, थाने में रिर्पोट डलवाना और पुलिस द्वारा हरीशंकर अवस्थी का गिरफ्तार करके ले जाने वाला सकारात्मक पक्ष हम दलितों की लोकतंत्र में आस्था जगता है।

'इलाहाबाद विश्वविद्यालय की एम.ए. डिग्री रो पड़ी', यह प्रसंग लेखक के अपने छोटे भाई अजय सम्बन्धित है जो कि इस देश के सवर्ण और श्रेष्ठतावादी वर्ग की इस ओछी मानसिकता को उजागर करता है, जो आज भी दलितों के शैक्षणिक विकास को अपनी बाधा मानते हैं। इलहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए. करने के बाद आई.ए. एस प्रतियोगिता परीक्षा देकर घर लौटे अजय से गाँव के हरीशंकर अवस्थी द्वारा कंडे ढुलवाना इसी घृणित मानसिकता की दर्द कथा है।

'करिया पंडित, गोरा चमार बहुत खतरनाक होता है' भले ही हम राष्ट्रीय गीतों में हम 'गोरे काले का भेद नहीं हर दिल से हमारा नाता है' गा-गाकर इस बात को झुठलाते रहें है कि भारत में स्थापित वर्णव्यवस्था में रंगभेद नहीं है। पर सच्चाई यही है कि वर्ण का भी अर्थ रंग ही है और गौर वर्णी आर्यों और काले रंग के द्रविड़ों और अन्य आदिवासियों के बीच भेदकरने के लिए कहीं वर्णव्यवस्था का आरंभ न हुआ हो? इसी लिए तो गाँवों के तथाकथित सवर्णो में प्रचलित 'करिया वामन गोर चमार इनके संग न उतरो पार' जैसी कहावतें प्रचलित हुई हैं, क्योंकि वर्णव्यवस्था के अनुसार दोनों हीं वर्णसंकर हैं। इस प्रसंग में सोनकर ने अपने जीवन की कुछ घटनाओं के आधार पर वर्ण के आधार पर गाँव-कस्बों में होने वाले भेदभाव पर जमकर कटाक्ष किया है।

वर्णव्यवस्था में व्यक्ति के बँटवारों के साथ उसके जीवन में आल्हादकारी क्षण उत्पन्न करने वाले तीज-त्यौहारों का भी जाति और वर्णव्यवस्था के आधार पर विभाजन है। सबसे निचले क्रम पर शूद्रों के त्यौहार के रूप में 'होली' का पर्व है। इस पर्व को भी सवर्णो ने अपनी विकृत मानसिकता के तहत अश्लील और दलित स्त्री-पुरूषों के अपमान का पर्व बना डाला है। 'होली का बल्ला तरे-तरे चमारिन चो...परे परे', 'जननायक अम्बेडकर के संघर्ष ने मुझे संघर्ष करने की प्रेरण दी' 'सवर्ण अपनी औरतों को नंगा होते देख हतप्रभ' प्रसंगों में सोनकर ने अपने गाँव में होलिका दहन के समय गाँव के सवर्णों द्वारा सदियों से दलित स्त्रियों के अपमान के प्रतीक अश्लील कबीरा होली गीतों के प्रति अपनी असहमति जताते हुए, संघर्ष के द्वारा ईंट का जबाव पत्थर से देते हुए इस प्रथा पर लगाम कसने का वर्णन किया है।

'गाँव का तिवारी परिवार' इस प्रसंग में लेखक ने बताया है कि देहातों के बारे में अक्सर कहा जाता है कि देहात का आदमी बहुत सीधा-साधा होता है। अतिथियों का बहुत सत्कार करता है। उपकार के बदले उपकार करता है। लेकिन लेखक ने इस बात को नकारते हुए अपने गाँव के तिवारी परिवार का उदाहरण देते बताया है कि वह परिवार बिल्कुल सीधा साधा और दलितों पर अत्याचार न करने वाला था, लेकिन उसी का लड़का कानपुर में जिस सेठ के यहाँ मुनीमगीरी करता था उसी के अपने घर अतिथि बन कर आने पर उसकी हत्या कर रूपये हड़प लेता है।

'गाँव में जादूगरों का कमाल' मनोरंजन अमीर-गरीब हर आदमी की आवश्यता है, वह व्यक्ति को ऊर्जा प्रदान करता है। लेकिन सदियों से पेट की खातिर साहसपूर्ण कार्यो के द्वारा समाज क मनोरंजन करने वाले दलित जादूगर और कलावंतों को कभी सामाजिक सम्मान और उसका उचित मूल्य नहीं मिला, उनके करतबों से अपना मनोरंजन करने वाली तथाकथित उच्च जातियों ने उन्हें हेय दृष्टि से

देखता है और उनका अपमान करने से नहीं चूकता, यह प्रसंग उनकी इसी मानसिकता को दर्शाता है जब गाँव में जादू का खेल दिखाने आये जादूगरों को गाँव का ब्राह्मण परिवार उन्हें उनकी कलाबाजियों का सम्मान न करते हुए मुफ्त में खेल देखकर भगा देता है।

दलितों की ही तरह सवर्णों ने स्त्रियों पर भी सामाजिक निर्योग्यताओं को लादकर उन्हें गुलामी और पाबंदियों भरा जीवन जीने पर मज़बूर किया है। स्त्रियों की बेवफ़ाई के किस्से उनकी धोखेबाजियाँ नहीं अपनी गुलामी से मुक्ति की गाथाएँ हैं जो समाज में उनके ऊपर एक लांछन के रूप में देखी और सुनी जाती हैं- 'दो ब्राह्मण खूबसूरत लड़कियों के दो रात गायब रहने का रहस्य' पर आधारित आत्मकथा का यह प्रसंग इसी बात का सच बयान करता है।

दलित कहीं भी सम्मानीय नहीं हैं यह बात इस आत्मकथा में बार-बार आई है, जो हमारे समाज का नंगा सच है। 'गाँव के राष्ट्रभक्त तिवारी व खटिक परिवार' प्रंसग भी इसी बात को दोहरता है कि सोनकर के चाचा जो कि स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे फिर भी गाँव के सवर्ण उनका अपमान करने से बाज़ नहीं आते थे।

वर्णव्यवस्था में चौथे पायदान पर शूद्रों की घृणित उपाधि से विभूषित पिछड़े सदियों से दलितों के विरूद्ध सवर्णों के मोहरे रहे हैं। सवर्णों ने दलितों पर खुद अत्याचार न कर पिछड़ों से इसकी भरपाई कराई है। 'ब्राह्मणों ने पिछड़ी जाति के इन्द्रजीत सिंह को खूँखार गुँडा बनाया' आत्मकथा का यह प्रसंग भी इसी सच्चाई को बयान करता है कि किस तरह गाँव का पिछड़ा युवक लाखन सिंह ब्राह्मण युवकों के साथ उनके इशारे पर गाँव की दलित-पिछड़ी युवतियों के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाता था।

बुरे का अंत बुरा ही होता है-'नौटंकी के वक्त बलात्कार और गुँडे लाखनसिंह की मौत' प्रसंग में सोनकर ने बताया है कि गाँव में किस तरह उस पिछड़े युवक लाखन सिंह की ज्यादतियाँ बढ़ गई थी कि वह गाँव की नवविवाहिताओं को ही अपनी हवस का शिकार बनाने लगा और उसकी यही ज्यादतियाँ उसकी मौत का कारण बनी थीं।

'हफीज मियाँ' और 'हफीज मियाँ के छोटे भाई का कत्ल' आत्मकथा के दो अगले गौण प्रसंग हैं जिसमें गाँव के एक आत्मविश्वासी व्यक्ति 'हफीज़ मिया' के आत्मविश्वास का वर्णन करते हुए गाँव में दलितों के साथ-साथ मुस्लिमों के संग होने वाले अत्याचारों को भी मार्मिकता के साथ उजागर किया गया है।

'सूम का माल शैतान खाये' इस कहावत को चरितार्थ करता आत्मकथा का-'गुन्दा महतो' प्रसंग अपने आप में बड़ा ही रोचक है जिसमें गाँव का एक लोभी व्यक्ति गुंदा महतों घर में लोभ से जोड़ी कमाई गाँव के एक भुर्जी के यहाँ धरोहर रूप में रखता है और वह भुर्जी उसके उस माल को ही हड़प कर जाता है। लेकिन इसी से संबन्धित आत्मकथा का दूसरा प्रसंग-'गाँव का बेईमान भुर्जी' में लेखक ने उपदेशात्मक शैली और आस्थावादी भाषा में यह बताया है कि गुन्दा महतो के माल को हड़पने वाले बेईमान भुर्जी के पास भी वह माल नहीं रहता और उसे उसकी बहू के माध्यम से उसके मायके का नौकर/प्रेमी उसे पार कर देता है।

आस्था और अंधविश्वास सदियों से समाज जीवित हैं और मनुष्य का उससे हमेशा वास्ता पड़ता रहा है। आस्था जहाँ व्यक्ति को उसके लक्ष्य से भटकने से बचाती है, तो अंधविश्वास उसके मार्ग को ही अवरुद्ध कर देता है-'चारपाई के ऊपर एक काला सर्प चढ़कर मेरे सर के नजदीक से गुजरा' प्रसंग में भी लेखक ने अपने जीवन की एक सत्य घटना के माध्यम से बताया है कि साँप कभी चारपाई पर नहीं चढ़ता यह अंधविश्वास है, क्योंकि उसके साथ ऐसा हो चुका है।

'कोरिया इंटर कॉलेज, कानपुर देहात में बांग्लादेश आजाद होने का जश्न', 'प्रो. एम. एम. दास का अनोखा प्रश्न, मेरा अनोखा जवाब', 'मलिन बस्ती के 60 बच्चों को पढ़ाना', 'बिन्दकी से सबसे ज्यादा खटिक आई.एस.एस व पी.सी.एस बने' आत्मकथा के कुछ अन्य प्रसंग हैं जिनमें लेखक ने अपने छात्र जीवन की स्मृतियों का पाठकों के साथ साझा किया है।

'आर. डी. सोनकर को ब्राह्मणों ने गाड़ी से नीचे उतारा', 'आर. डी. सोनकर के खिलाफ षड्यंत्र', 'आर.डी. सोनकर द्वारा पाठ्यक्रमों में दलित साहित्य शामिल करना', 'खटिक व्याध ऋषि को प्रकाश में लाने वाले आर.डी. सोनकर', 'मेरे प्रशासनिक सेवाओं के साक्षात्कार' प्रसंगों में लेखक ने अपनी तहसील बिन्दकी के प्रसिद्ध आई. ए. एस. अधिकारी आर.डी. सोनकर के जीवन की कुछ दलित उत्पीड़न से संबन्धित घटनाओं और उपब्धियों का जिक्र किया है, जिनमें उनके एक उच्च प्रशासनिक अधिकारी बनने पर भी गाँव के सवर्ण उनसे असहिष्णु व्यवहार करते हैं।

'आई. ए. एस. कोचिंग में चयन' और 'पी.सी.एस. का साक्षात्कार' प्रसंगों में भी लेखक ने अपने शासकीय सेवाओं और प्रतियोगी परीक्षाओं में चयन से पहले विभिन्न चरणों से गुजरने की कहानी है।

'साहसी दलित बांकेलाल' नागफनी में एक ऐसे दलित की विजय गाथा है जो सवर्णीय अत्याचारों के आगे न झुककर उसका डटकर मुकाबला करता हुआ अत्याचारियों को गाँव प्रधान नसीमखान के सहयोग से परास्त करने में सफल होता क्रांति की एक नई गाथा लिखता है, जिसके बारे में लेखक का विचार है कि '' बांकेलाल की विजय यह संकेत दे रही थी कि भविष्य में शोषण, अत्याचार, छुआछूत, गैर-बराबरी के विरुद्ध दलित और अल्पसंख्यकों द्वारा ऐसे ही युद्ध लड़े जाएँगे। गैर-दलित जो दलितों पर अमानवीय व्यवहार करेंगे। दलित महिलाओं को अपमानित करेंगे। उनको भविष्य में ऐसी ही हार का मुँह देखना पड़ेगा।''(नागफनी पृ.109)

'प्रत्येक दिन केवल एक बार रात्रि में भोजन ग्रहण' में लेखक की इस देश के दलित-शोषित आम आदमी के प्रति निष्ठा और उनके प्रति उसकी गहरी संवेदनशीलता को दर्शाता है, जिसके तहत वह पिछले चौबीस साल से दिन में एक

बार रात्रि में भोजन ग्रहण करता चला आ रहा है।

नई शिक्षा बाजारबाद के चलते एक उत्पादक वर्ग का निर्माण करने में तो सफल रही है, किन्तु एक वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न मनुष्य बनाने में अभी भी लगातार चूकी हुई है। आज भी तकनीकी और गैर तकनीकी शिक्षा में पारंगत शहरी और ग्रामीण तबका अंधविश्वास और रूढ़ियों के संजाल में उलझा हुआ है-'जातिवाद की जड़ें पढ़े-लिखे शहरी गैर दलितों में फैली हैं' लेखक न इस इसी प्रसंग को उठाया है कि उसे इलाहाबाद में एल. डी. सी. की नौकरी करते हुए आई.ए.एस की परीक्षा के लिए वहाँ के संकीर्ण मानसिकतावादी बड़े बाबू सक्सेना ने उनकी छुट्टी ग्रांट नहीं होने दी थी जो लेखक अपने जीवन में आई. ए. एस. न बन पाने की टीस पहुँचाती रहती है।

इसी तरह लेखक ने 'पढ़े-लिखे गैर-दलित बुद्धिजीवियों द्वारा दलित बुद्धिजीवियों का उत्पीड़न' में अपने दलित जीवन के ज़ख्मों को उघाड़ते हुए लिखा है कि बुद्धिजीवी जो जाति और वर्ण से ऊपर विश्वकल्याण को ध्यान में रखकर अपना लेखन कार्य करते हैं; लेकिन गैरदलित बुद्धिजीवी अपने साथ ज्ञानी होने का दंभ भरते हुए भी जातिवाद के संकीर्ण दायरे से अपने को मुक्त नहीं कर सके हैं। अपने साथ हुए इसी तरह के दुर्व्यवहार के बारे में लिखा है कि-''शहरों के पढ़े-लिखे सवर्णो में अब छुआछूत नहीं दिखाई पड़ती है। हाँ, उनके विचारों में परिवर्तन आया है। वे अब दलितों के साथ बैठकर एक टेबल पर खाना खाते हैं, शराब पीते हैं। अब पहिचानना बहुत मुश्किल है कि कौन सवर्ण है और कौन दलित। लेकिन जितनी तेजी से दलित तरक्की करते जा रहे हैं, बुद्धिजीवी सवर्ण अपने विचारों से उतने ही जातिवादी, शोषणकर्ता और दलितों का भविष्य बिगाड़ने वाले बनते जा रहे हैं।'' (नागफनी पृ.14)

'मंचीय कवि', 'आज के द्रोणाचार्य' 'आज का एकलव्य', 'दिल्ली के पुराने किले में लेखन' इत्यादि आत्मकथा के अगले प्रसंग लेखक के साथ उसके सवर्ण साहित्य मित्रों और गुरूजनों द्वार किये दुर्व्यवहार और अपने लेखन की संघर्षशीलता की पड़ताल करते दिखाई देते हैं।

'अजय नावरिया से परिचय', 'पूर्व प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह द्वारा नाट्य संग्रह 'रहस्य' का लोकापर्ण', 'भारतीय दलित साहित्य अकादमी द्वारा डॉ. अम्बेडकर विशिष्ट सम्मान', प्रसंग में लेखक ने हिन्दी के युवा कथाकार अजय नावरिया से अपने आत्मीय परिचय और मित्रता का जिक्र करते हुए अपने नाट्य संग्रह रहस्य का भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह द्वारा विमोचन और लेखक को भारतीय दलित साहित्य आकादमी द्वारा 1999 में दिये गये डॉ. अम्बेडकर विशिष्ट सम्मान का वर्णन किया है।

'दलित साहित्य व सांस्कृतिक अकादमी भारत का जन्म' 'नई दलित अकादमी द्वारा ऐतिहासिक 'दलित-मंथन' प्रसंगों में आत्मकथाकार ने दलित समाज में पैदा हो रहे नए-नए मठाधीशों की जड़ता और उनके तानाशाह रवैये से तंग आकर उसी समकक्ष खड़ी गई एक नई संस्था 'दलित साहित्य एवं सांस्कृतिक अकादमी भारत' के प्रस्फुटन की बात करते हुए इसी संस्था के मध्य हुए ऐतिहासिक 'दलित मंथन' कार्यक्रम की सफलताओं का भी वर्णन किया है।

दलित साहित्य का लेखक कौन? केवल दलित या गैर दलित भी इस प्रसंग पर साहित्य जगत में छिड़े घमासान के बीच दलित साहित्यकारों के बीच मतैक्य के अभाव में हुए दो फाड़ के बारे में लेखक ने अपनी स्थिति का बयान-'नरम-गरम दलित लेखक' प्रसंग में किया है-''मेरे जैसे नरम पंथी दलित लेखकों का कहना है-''जो आदमी झुग्गी-झोपड़ियों में रहता है। वह स्वयं सवर्णो द्वारा सताया गया है। अपने लड़के-लड़कियों की शादी दलितों के साथ कारता है। डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा को मानता है। धार्मिक प्रतीकों को नकारता है। वह अगर दलित साहित्य लिखता है तो उसके दलित सहित्यकार होने के बारे में विचार किया जा सकता है।(नागफनी पृ.139)

'महानता मुश्किल से मिलती है, जाती जल्दी है' और 'जूठन' का सामाजिक प्रभाव' आत्मकथा के अतिंम दो प्रसंग लेखक ने हिन्दी के प्रसिद्ध दलित साहित्यकार श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि के लेखकीय व्यवहार में आये परिवर्तन और उनकी प्रसिद्ध आत्मकथा 'जूठन' के बारे में आलोचनात्मक टिप्पणियाँ हैं। यह टिप्पणियाँ कितनी ही सार्थक हों पर एक कृतिकार को इससे तब बचना चाहिए, जब वह ठीक उसी के समकक्ष रचना करने जा रहा हो। इससे तुलना करने वाला और पाठक दोनों ही संदेह में चले जाते हैं कि कही लेखक ने यह सब अपनी मान बड़ाई और दूसरे को नीचा दिखाने के लिए तो नहीं किया? ...इस रूप में यह प्रसंग, एक मजबूत आत्मकथा की सबसे कमज़ोर कड़ी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'नागफनी' अपने आप में एक क्रांतिकारी दलित आत्मकथा है। उसमें आत्मकथा में कहीं-कहीं लेखक अतिरेक और जल्दबाजी का शिकार हुआ है और भाषायी शिल्प में भी शिथिलता बरती गई है, लेकिन उसकी क्रांतिकारी विचारधारा आखिरकार उसके ये ऐब दबा ही देती है। कंबल भारती के शब्दों में कहूँ तो-''नागफनी समाज केन्द्रित आत्मकथा है, यह समाज पर हुए अत्याचारों की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करती है। आदमियों को आन्दोलित करती है एवं अत्याचार उत्पीड़न से मुक्ति का रास्ता दिखाती है।''(नागफनी पृ. 3)

राजेन्द्र यादव ने भी इसकी सामाजिक सौद्देश्यता को स्वीकारते हुए लिखा है-''अभी तक जितनी भी दलित आत्मकथाएँ आई हैं उनमें 'हाय मार डाला' की चीखें हैं, 'नागफनी' में हाय मार डाला की चीख सुनाई नहीं पड़ती है, लेकिन नागफनी में संघर्ष है। जिसको अंग्रेजी भाषा में 'साइलेंट रेव्यूलूशन' कहा जाता है।'' (हंस सितंबर 2006 सम्पादकीय)

मेरे अप्रकाशित शोध : "आत्मकथाओं का वैश्विक परिदृश्य और दलित आत्मकथाएँ-2008" से। यहाँ उपस्थित प्रकाशक बन्धु इसे छापने का बीड़ा उठा सकते हैं !

वर्चस्ववादी मानसिकता और दलित साहित्य

-डॉ.विलास साळुंके
हिंदी सहायक प्राध्यापक,
सरकारी प्रथम श्रेणी महाविद्यालय,
सेडम जि.कलबुर्गी (कर्नाटक)

सदियों से भारत में एक वर्ग हमेशा सत्ता पर रहकर अपना वर्चस्व जताता रहा है तो दूसरा व्यवस्था के अंतिम पायदान पर रहकर वर्चस्व का अज्ञाधारि होकर जी हुजुरी करते हुए गुलामी का जीवन जीता रहा है। हजारों वर्षों से शिक्षा,संपत्ति और प्रतिष्ठा से वंचित यह समाज मनुवी सवर्णीय व्यवस्था के शिकंजे में फंसकर अस्तित्वहीन एवं पशुओं से बदतर जिन्दगी बसर करते आ रहा है। अपने खिलाफ यह समुदाय बगावत न कर उठे इसीलिए यह वर्णाश्रम व्यवस्था ईश्वर प्रदत्त है कहकर उन्हें मानसिक रुप से कुंठित कर पाप-पुण्य,स्वर्ग-नरक के चक्रव्यूह में जकडकर रखा गया। इन्हीं मानदंडों में जकडकर अंतिम पायदान पर रहा समुदाय अपने ऊपर लादे जानेवाले अन्याय,अत्याचार,शोषण,उत्पीडन आदि को अपने पूर्व जन्मों का फल मानने को मजबूर किया गया। बिना किसी बगावत के उनके फर्मान को ही ईश्वर का फर्मान मानकर उनकी सेवा में अपने जीवन की इतिश्री कर देता था,करता है।

हम अगर इतिहास के पन्नों को पलटकर देखते हैं तो सच पर से परदा हट जाता है। आज से कई सौ साल पहले वर्णीय व्यवस्था के चलते स्वार्थांध धर्ममार्तंड लोग धर्म,ईश्वर के नाम पर सत्ता की आड में सामाजिक,आर्थिक,शैक्षणिक,सांस्कृतिक आदि के क्षेत्र में पिछडे हुए वर्ग का शोषण करते नजर आते हैं।

महात्मा ज्योतिबा फुले तथा डा.बाबासाहेब अंबेडकर द्वारा चलाये गये आंदोलन के परिणामस्वरुप उनमें अस्मिता जाग उठी, वे अपने हक और अधिकारों के प्रति जागृत होने लगे। डा.बाबासाहेब अंबेडकर तथा महात्मा ज्योतिबा फुले ने दलित समुदाय को हाशिये से केन्द्र की ओर लाने के वे सभी मार्ग खुले किये जिन्हें व्यवस्था ने टाले लगाये थे।

आगे चलकर धीरे-धीरे वे शिक्षा ग्रहण कर लगे। बदौलत सदियों से शोषित,पीडित सर्वहारा वर्ग अपने भोगे हुए दु:ख,पीडा,यातना,वेदना जैसे यथार्थ को शब्द-बद्ध करने लगा। कालांतर में यही दलित साहित्य के रुप में जाना जाने लगा।

दलित साहित्य मनुष्य को केन्द्र में रखकर सोंचता है उसका उद्देश्य मनुष्य की मुक्ति है। यह साहित्य अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरोध में समता,स्वतंत्रता एवं बंधुत्व की स्थापना करने के महत उद्देश्य को लेकर पनप रहा है।

दलित साहित्य की अवधारणा:

प्रख्यात दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकिजी की अवधारणा है कि-"दलित शब्द दबाए गये शोषित,पीडित और प्रताडित के अर्थ के साथ-साथ साहित्य से जुडता है तो विरोध और नकार की ओर संकेत करता है। यह नकार या विरोध चाहे व्यवस्था का हो, सामाजिक विसंगतियों या धार्मिक रुढियों,आर्थिक विषमताओं का हो या भाषा,प्रांत के अलगाव का हो, दलित साहित्य नकार का साहित्य है जो संघर्ष से उपजा है जिसमें समता,स्वतंत्रता और बंधुता का भाव है और वर्ण व्यवस्था से उपजे जाति भेद का विरोध है"[१]।

डा.एन.सिंह के अनुसार-"दलित का अर्थ है जिसका दलन,शोषण और उत्पीडन किया गया हो, सामाजिक,आर्थिक और मानसिक धरातल पर संपूर्ण दलित साहित्य ऐसे ही उत्पीडित और शोषित लोगों की बेहतरी के लिए लेखकों द्वारा लिखा गया साहित्य है"[२]।

पु.ल.देशपांडे जी का कहना है –"अन्याय के विरोध में उठखडे होनेपर क्रोध के कारण जो आँसू छलकते हैं उनका मूल्य बहुत बडा होता है- सामान्य की भाषा में वह विद्रोह होता है। इसी विद्रोह का उदात्त स्वरुप है दलित साहित्य"[३]।

दलित साहित्य में व्यक्त जो वेदना है वह व्यक्ति विशेष की वेदना न होकर पूरे समाज की वेदना है। शरण कुमार लिंबाले का कथन है कि-"दलित साहित्य अपना केन्द्र बिन्दु मनुष्य को मानता है। बाबासाहेब के विचारों से ही दलितों को अपनी गुलामी का अहसास हुआ और उनकी वेदना को वाणी मिली। दलित साहित्य की वेदना मैं की नहीं बल्कि संपूण बहिष्कृत समाज की वेदना है"।[४]

दलित साहित्य का उद्देश्य:

दलित साहित्य मूल रुप से डा.बाबासाहेब अंबेडकर की वैचारिकता को अपने शक्ति स्त्रोत के रुप में अपनाता हुआ अपने मूल गंतव्य जैसे समता,स्वतंत्रता एवं बंधुता की स्थापना के पथ पर अग्रसर है। मनुष्य-मनुष्य के बीच की खाई को दूर कर समतामूलक समाज की स्थापना करना ही इस साहित्य का ध्येय रहा है। इस साहित्य में जो नकार एवं विद्रोह का जो स्वर है वह मनुष्य केन्द्रित है। मानवीय मूल्यों का स्वीकार और अमानवीय पद्धतियों का विरोध करना दलित रचनाकारों का परम धर्म रहा है।

अक्करमाशी आत्मकथा के जरिए मराठी साहित्य ही नहीं बल्कि समग्र भारतीय साहित्य एवं विदेशों में भी अपने प्रतिभा की अमिट छाप छोडनेवाले शरणकुमार लिंबाळे दलित साहित्य के संदर्भ में कहते हैं-"दलित लेखक का लिखना मूलत: सामाजिक प्रतिबद्धता का ही द्योतक है। हम कला के लिए

नहीं,बल्कि जीवन के लिए लिखते हैं। हमारी कला,कला के लिए नहीं जीवन के लिए है। यहाँ के लोगों से,समाज से जो हमारा रिश्ता है, उस रिश्ते के रुप में ही हम साहित्य को लिखते हैं। मेरे शब्द शब्द नहीं हथियार हैं। हम अपने शब्दों से इस समाज को बदलना चाहते हैं और समाज को बदलाव की शक्ति के रुप में देखते हैं। मेरे शब्दों का समाज से यही रिश्ता है। हम सामाजिक परिवर्तन की चेतना और प्रक्रिया से जुडे हैं। एक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रुप में ही हम दलित-साहित्य की रचना प्रक्रिया को देखते हैं"।[५]

जाहिर है कि समाज में अमानवीय व्यवस्था का जो ढाँचा है उस ढाँचे में परिवर्तन की माँग को लेकर दलित लेखक साहित्य की विधाओं के माध्यम से अपने भोगे हुए यथार्थ का चित्रण करने के साथ ही साथ नकार एवं विद्रोह को शब्द बद्ध करते जाता है। आगे चलकर 'अपने-अपने पिंजरे' नामक आत्मकथा के बहुचर्चित लेख मोहनदास नैमिशराय दलित साहित्य के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-" दलित साहित्य तो अभिजात्य वर्ग या भद्रलोक के राजसी सुविधाभोगी रचना कर्म का भंडाभोड का संघर्षमूलक साहित्य है। सामाजिक आंदोलन की प्रतिक्रियास्वरुप ही इस साहित्यिक आन्दोलन का जन्म हुआ। शोषक वर्ग के खिलाफ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हुए समाज में समता,बंधुता एवं मैत्री की स्थापना करना ही दलित साहित्य का उद्देश्य है"[६]।

उपर्युक्त दलित साहित्य की अवधारण एवं उद्देश्य को देखते हम कह सकते हैं कि दलित साहित्य में प्रमुख रुप से निम्नलिखित बातें दिखाई देती हैं-

१. पीडा की अभिव्यक्ति
२. भोगे हुए यथार्थ का चित्रण
३. चेतना एवं उत्थान का भाव
४. नकार एवं विद्रोह
५. 'स्व' की खोज
६. नवनिर्माण का भाव
७. वर्ण-व्यवस्था के अमानवीय बंधनों से मुक्ति की छटपटाहट
८. समता,स्वतंत्रत एवं बंधुता के आधार पर समाज का निर्माण
९. नये सौंदर्यशास्त्र की स्थापना
१०.छन्द एवं अलंकारों से युक्त भाषा की जगह सर्वग्राही भाषा का प्रयोग।
११. मुख्य धारा में आने का लक्ष्य
१२.संवैधानिक मूल्यों की स्थापना।

दलित साहित्य में मुख्यरुप में उपर्युक्त अंशों को हम देखते जाते हैं। सदियों से भारतीय वर्णव्यवस्था के जाल में फंसे दलित समुदाय को महात्मा ज्योतिबा फुले, डा.बाबासाहेब अंबेडकर जैसे नेता प्राप्त हुए जिनकी बदौलत मूक समूदाय को अभिव्यक्ति के लिए वाणी मिली। इस अभिव्यक्ति का पहला शब्द पीडा रहा। दलित रचनाकार सर्वप्रथम अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने भोगी हुई पीडा,दु:ख, यातना आदि के यथार्थ को व्यक्त करता दिखायी देता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'सयना' और 'गोहत्या' कहानियाँ दलितों के साथ होनेवाले अन्यायों को उजागर करती हैं। मंदिरों में आज भी दलितों के साथ अपमानजनक व्यवहार किया जाता है। 'गोहत्या' कहानी में सुक्खा जैसे दलित के ऊपर झूठे आरोप लगाकर दण्ड विधान किया जाता है। सुक्खा का कसूर मात्र केवल इतना था कि उसने विवाह के बाद कभी भी अपनी पत्नी को मुखिया के घर ले जाने की कोशिश नहीं की। सुक्खा की इस हरकत से नाराज मुखिया ने उस पर गोहत्या का झूठा मुकदमा दायर करवाता है।

रमणिका गुप्ता ने 'दाग दिया सच' कहानी में धोकर रविदास नाम से दलित को केन्द्र में रखकर लिखी हुई कहानी है। इस कहानी में धोकर रविदास के लडके महावीर को सवर्ण लडकी मालती से प्यार हो जाता है। इस प्यार की भयंकर सजा महावीर को झेलनी पडती है। धोकर रविदास की आखों के सामने ही उसके बेटे महावीर को सवर्ण लोग इकट्ठा होकर बडे अमानवीय ढंग से ईंट-पत्थर मारते हैं ये मारना इतना भयंकर था कि उस मार के आगे महावीर बच नही पाता। ये सब पिता रविदास की आखों के सामने घट जाता है। रविदास उस भीड से याचना कर रहा था, उनके सामने हाथ जोडकर,घुटने टेककर, गिडगिडाकर कह रहा है- मेरे बेटे ने प्यार की गलती की है तो बदले में मैं मेरी सभी संपत्ति अपनी बहु मालती के नाम कर दूँगा मेरे बेटे बक्श दो की माँग कर रहा है किन्तु पूर्वाग्रह पीडित मानसिकता के शिकार लोग उसे इस दुनिया से अलविदा कहकर ही छोडते हैं।

जिन्हे दलित कहा जाता है वे भले ही अधिक पढे लिखे ना हो किन्तु बडे भाऊक एवं उदार होते हैं। जिसे अपना मालिक मानते हैं उनका बुरा होते देखना उन्हें पाप लगता है। धन से भले ही वे दीन हो किन्तु मन के कुबेर होते हैं। जन्म भले ही व्यवस्था द्वारा निर्मित अंतिम पायदान पर हुआ हो किन्तु इमानदारी में उनकी बराबरी समाज की श्रेणी में अव्वल दर्जे पर स्थित लोग भले कर पाय। इसी का एक उत्कृष्ट उदाहरण जगदीश दीक्षितजी की कहानी 'सडक' है। इस कहानी में ठाकुर हरदेव सिंह(गाँव का मुखिया) जिसे लोग अपना जीता-जागता देवता मानते हैं, पर उन भोली भाली जनता को क्या मालुम कि उनकी रोजी-रोटी छीननेवाला कोई और न होकर ठाकुर हरदेव ही है। हरदेव सिंह ही अपने आदमियों को दलितों के खलिहान में गेहूँ को आग लगाने का हुक्म देता है। जब अपनी मेहनत को राख होते देख दलित असहाय होकर इधर-उधर हाहाकार मचा रहे थे, उसी समय ठाकुर हरदेव सिंह वहाँ प्रकट हुए और उन पर करुणा जताते हुए पूछ रहे थे, "कौन लोग थे....किधर की तरफ भागे....अरे....राम-राम......बडे जालिम लोग थे.....भला इन गरीबों से क्या दुश्मनी हो सकती है उनकी......देखो तो, क्या सत्यानाश किया है। क्या मिला इन गरीबों को उजाडकर"[७]। बुजुर्गों ने ठीक ही कहा है हाथी के दाँत दिखाने के एक और खाने कुछ

और होते हैं ठाकुर हरदेव सिंह इस कहावत पर खरे उतरते हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'भय' के माध्यम से लेखक ने यह बताने की कोशिश की है कि दलित अपनी पिछली जिन्दगी से छुटकारा पाने के लिए अपनी जाति छुपाकर सवर्णों की बस्ती में रहने के बावजूद भी उनके मन में सदैव असलियत का पता चलने का भय हरदम भूत की तरह पीछा करते रहता है।

'अंधड' कहानी एक शिक्षित दलित की है जो अपने दलितपन को छिपाने के लिए मजबूर है। दलित होने की उसकी मानसिकता से उबरने उसने जाति तो छिपाई किन्तु उस भय से वह बाहर नहीं आ पाया। उसे इस बात का भय सालता रहा कि मैं एक दलित हूँ। 'सलाम' कहानी समाज में दलितों के प्रति बरते जाने वाले रवैये को उजागर करती है, जो वर्चस्ववादि मानसिकता से ग्रसित समाज की कडवी सच्चाई को बयान करती है। कमल जो एक ब्राम्हण है अपने दलित मित्र हरीश के साथ गाँव आता है। सुबह-सुबह चाय पीने के लिए वह होटल आता है। चाय के माँगने पर होटल वाला देने की हामी तो भरता है किन्तु जब उसे इस बात का पता चलता है कि वह दलित की शादी में आया है तो उसका बर्ताव कुछ और ही होता है और वह चाय देने से इन्कार कर देता है। भले ही आज विज्ञान के चलते काफी कुछ परिवर्तन आया है जैसे :बाजारीकरण,वैश्वीकरण,वसुदैव कुटुंबकम या आकाश को छुने की बात आदि उसी की उपज हैं किन्तु भारतीय परंपरागत सामाजिक व्यवस्था की सोंच में बदलाव नहीं दिख रहा।

अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त लेखक डा.मुल्कराज आनंद अपने 'अछूत' उपन्यास में भंगी समाज के प्रति आज के संदर्भ में उनके प्रति का नजरिया, व्यवहार आदि का बडे ही सटीक ढंग से चित्रण करने का प्रयास किया है। इस उपन्यास के अध्ययन के उपरान्त कई सवाल मन में उठते हैं- क्या मनुष्य की मनुष्य के रुप में पहचान जाति के आधार पर हो? क्या निम्न जाति में जन्म लेना इन्सान के हाथ में है? ईश्वर निर्मित इस सृष्टि में ऊँच-नीच की दीवार को किसने तैयार किया? जिस जाति में जन्म हुआ उसी जाति द्वारा लादे गये कर्म को करने में ही जीवन की इतिश्री करना ही हमारे भाग्य है? उससे उबरने की बात करना क्या पाप है? सुन्दरता,सुकोमलता,लावण्यता,नम्रता,विनयता, चतुरता आदि क्या उच्च वर्णीयों तक ही सीमित हैं? ऐसी कन्या का निम्न जाति में जन्म लेना ये क्या उसका अपराध है या उस परमपिता का जिसने उसे उस जाति में जन्म दिया है उसका आदि ऐसे कई सवाल मन में घर कर जाते हैं और आज के इस वैश्वीकरण के दौर में मुझे सोंचने के लिए मजबूर कर देते हैं।

कहा जाता है कि वक्त किसी का गुलाम नहीं होता। दलित साहित्य में जिस प्रकार भोगी हुई यातना,पीडा,दु:ख आदि का चित्रण है वहीं दूसरी ओर डा.बाबासाहेब अंबेडकर, महात्मा ज्योतिबा फुले के तत्वों पर आधारित साहित्य, अपने 'स्व' की खोज करते हुए वर्चस्ववादियों द्वारा अपने ऊपर लादे जानेवाले अन्याय के विरोध में आवाज भी बुलंद करता है। पारंपरिक जातीय मानदंडों के प्रति नकार के साथ विद्रोह के स्वर भी दलित साहित्य में मुखरित होते दिखाई देते हैं। हिन्दी के दलित उपन्यासकारों में जयप्रकाश कर्दम का नाम बडे आदर के साथ लिया जाता है। इनका 'छप्पर' उपन्यास दलित चिंतन की सामाजिक परंपरा को यथार्थ रुप में व्यक्त करनेवाला व सामाजिक क्रान्ति के लक्ष्य को लेकर लिखा गया है, जिसमें एक दलित युवक चंदन का उच्च शिक्षा के लिए संघर्ष के मार्ग को अपनाना पडता है। उपन्यास में चन्दन और रजनी जो उपन्यास के मुख्य पात्र हैं, जो दलित शिक्षा के माध्यम से समाज में बदलाव के चलते नये मूल्यों की स्थापना के प्रति प्रतिबद्ध हैं। सुक्खा और रमिया भी सामाजिक परिवर्तन में लगे अपने बेटे चन्दन का पूर्ण सहयोग करते हैं उन्हें पता है कि सवर्ण समाज द्वारा किये जा रहे अत्याचारों से मुक्ति के लिए शिक्षा ही एक सशक्त माध्यम है।

डा. तेजसिंह इस उपन्यास के विषय में कहते हैं-" लेखक सुक्खा जैसे पुरानी पीढी के चरित्र द्वारा यह दिखाने के कोशिश करता है कि हजारों सालों की घृणा,उपेक्षा, तिरस्कार और दमित समाज में स्वाभिमान की भावना बलवती हो चुकी है। इसीलिए तो बक्खा ठाकुर का विरोध करते हुए अपने बेटे चन्दन को उच्च शिक्षा के लिए शहर भेजता है"[८]। नतिजतन गाँव के सभी सवर्ण मिलकर सुक्खा को मजदूरी न देकर गाँव छोडने को मजबूर करते हैं। परन्तु बक्खा अपने इरादे पर ठाम है वह कहता है-"मैं मर जाऊंगा,भूखा प्राण तज दूंगा। सब बरदाश्त कर लूँगा,पर मैं चन्दन को इस नर्क में कभी नहीं पडने दूंगा जिस नर्क में मुझे रहना पडा है"[९]। जाहिर है कि सदियों से उपेक्षित समाज में चेतना के स्वर उमडकर स्वाभिमान की जिन्दगी के प्रति वे सजग हो चुके हैं।

चन्दन शिक्षा प्राप्त कर सामाजिक परिवर्तन के प्रति अपने कदमों को डा.बाबासाहेब अंबेडकर द्वारा खुदे हुए रास्ते पर बढाता है। बस्ती के लोगों को उनके अधिकारों के प्रति उन्हें जागृत करते हुए उनके बच्चों को शिक्षा पाने के लिए प्रेरित करता है तो उनमें से अधिकांश लोगों की शिक्षा के प्रति राय पूछने पर वे कहते हैं कि-"नहीं बाबू हम हरगिज नहीं चाहेंगे कि हमारे बच्चों का भी हमारी तरह अपमान हो, उन्हें भी शोषण और अन्यायपूर्ण जीवन जीना पडे। हम चाहते हैं कि वे मनुष्य की तरह जिए। जो यातनाएँ हमको सहनी पडी हैं वे उनसे मुक्त हो तथा समता और स्वाभिमान का जीवन जीए"[१०]।

दलित साहित्य में नकार एवं विरोध का जो स्वर है वह मनुष्य केन्द्रित है। मानवीय मूल्यों का स्वीकार एवं अमानवीय पद्धतियों का विरोध कर दलित मनुष्य को उसके बंधन से मुक्त करना है। ऐसी ही एक कहानी ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा रचित 'मैला मुक्ति' है। जिसमें प्रतिरोध चेतना से होकर मुक्ति तक पहूँचती है। इस कहानी में चन्द्रावती कल तक मैला ढोने का काम करती थी। राजकुमार और सीमा की प्रेरणा से उसने यह काम छोड दिया। उसे वैकल्पिक रोजगार मिला। पुनर्वास की व्यवस्था किये बिना मैला कर्मियों की मुक्ति टिकाऊ नहीं हो सकती। मैला मुक्ति का अभियान चलानेवाले बैजवाडी, विल्सन, सीमा तथा

राजकुमार इस सच से अवगत हैं वे अपने संकल्प को मंजिल तक पहूँचाने की कोशिश में रत है। उनका नारा है कि-“रुखी-सूखी खायेंगे पर मैला नहीं उठायेंगे”११।

मोहनदास नैमिशराय की ‘कर्ज’ कहानी का नायक अशोक उच्चवर्ण की कुटिल मानसिकता को भलिभाँति जानता है इसीलिए तो वह अपने पिता रामदीन, जो अपनी पूरी जिन्दगी ऋण के बदले में महाजन के खेत में व्यतित करते हैं। वहीं उनकी मृत्यू भी हो जाती है। पश्चात महाजन अशोक को पिता का ऋण चुकाने के लिए डरा-धमकाता है। अम्बेडकरी वैचारिकता से प्रेरित अशोक, महाजन के धाक को ललकारता हुआ कहता है-“तुम लोग इन भोले-भालों को धर्म का सबक पढाकर कर्ज लेने के लिए मजबूर करते हो। उन्हें तैंतीस करोड देवताओं के चक्कर में डालकर झूठी धार्मिकता कि बहाने उनका शोषण करते हो”[१२]। अशोक के इस प्रकार के रवैये के चलते महाजन उसकी माँ-बहन पर बलात्कार कर उनकी हत्या करता है। इससे क्रोधित होकर अशोक प्रतिशोध की भावना से महाजन की हत्या करता है। इससे विदित होता है कि सदियों से वर्चस्ववादि ताकतों के चलते शोषण के शिकार रहे इस समुदाय में चेतना के बीज अंकुरित हो चुके हैं इसका एक उत्तम उदाहरण यह कहानी है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी ‘सलाम’ में लेखक ने दलित युवक हरीश के माध्यम से दलितों के अपमानित करने के लिए समाज द्ववारा निर्मित सलाम प्रथा को हमेशा के लिए सलाम करने का ऐलान किया है। गाँव के रिवाज के अनुसार शादी के बाद दलित दुल्हा-दुल्हन को सवर्णों को सलाम करने के लिए जाना पडता था। गाँव में दलितों का अपना कोई स्वाभिमान या अस्तित्व नहीं था। नई पीढी के ही नहीं तो पुरानी पीढी के दलित पात्रों में भी शिक्षा तथा बदलते परिवेश के कारण अस्मिता का अविष्कार यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस कहानी में हरीश के पिता भी अपने बेटे की शिक्षा एवं अंबेडकरवादी वैचारिक शक्ति की प्रेरणा की बदौलत यह कहने का धैर्य जुटा पाते हैं कि-“हम सलाम पर अपने लडके को नहीं भेजेंगे”।

अत: निष्कर्ष रुप में हम कह सकते हैं कि आज लगभग सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं जैसे हिन्दी.मराठी,कन्नड,तेलगु आदियों में दलित साहित्यकार पूरी शिद्दत के साथ अपने आप को इस मुक्ति संग्राम से जोडे हुए हैं। हिन्दी में ओमप्रकाश वाल्मीकि,धर्मवीर, मोहनदास नैमिशराय, कँवल भारती, संजीव खुदशाह,श्योराजसिंह बेचैन,तेजसिंह,सूरजपाल चव्हान, जयप्रकाश कर्दम, प्रो.तुलसीराम,चमनलाल,विमल थोरात,बुद्धशरण हंस, दयानंद बटोही, डा.एन.सिंह,अजय नावरिया,रुपनारायण सोनकर, रत्नकुमार सांभरिया,माता प्रसाद,रजतरानी मीनू,कावेरी,रजनी तिलक,अनिता भारती आदि साहित्यकार अपने साहित्य के जरिए समाज में संवैधानिक मूल्यों को स्थापित करने की जद्दोजहद में जुटे हुए हैं। इतिहास के पन्नों को पलटकर देखा जाय तो सच पर से परदा उठ जाता है। भारत की इस पवित्र धरा पर वर्णीय व्यवस्था के अंतिम पायदान पर रहकर वर्चस्ववादि ताकतों के शिकंजे फंसकर धर्मसत्ता द्वारा स्थापित पाप-पुण्य,स्वर्ग-नरक की बेडियों में जकडकर हतबल हुए समाज को महात्मा ज्योतिबा फुले,डा.बाबासाहेब अंबेडकर जैसे मसीहा मिले जिनके वैचारिक मान्यताओं के चलते दलित लेखक अपने भोगे हुए यथार्थ को पूरी प्रतिबद्धता के साथ शब्द-बद्ध करने का प्रयास करने लगा। इस साहित्य के माध्यम से वह केवल अपनी पीडा,दु:ख,यातना,संवेदना को ही चित्रित नहीं किया बल्कि दीमक की तरह समाज एवं देश को भीतर से खोखला करती जाति व्यवस्था के खोखले मानदंडों के प्रति नकार एवं विद्रोह के स्वर स्वरों को भी व्यंजित करने लगा। दलित साहित्यकार मनुष्य को मनुष्य के रुप में देखने का आदि है। दलित साहित्यकारों ने डा.बाबासाहेब अंबेडकर के शिक्षा,संघटन एवं संघर्ष के नारे से शक्ति ग्रहण कर समता,स्वतंत्रता एवं बंधुता के आधार पर समाज की स्थापना करने के महत उद्देश्य से दलित साहित्य का अविर्भाव हुआ है। जिस उद्देश्य को लेकर दलित साहित्य पनपा जहाँ तक हो सके वह अपने गंतव्य के तकरीबन करीब है। हाशिए से केन्द्र की ओर आने की जद्दोजहद के चलते समाज में बदलाव तभी संभव है जब इस मुहिम में वर्चस्ववादि ताकतें अपने मानवीय सरोंकारों के साथ अपना सहयोग देंगे।

संदर्भ :

1.इतिहास बोध-जून २००५-पृ.सं-१८

2.हिन्दी साहित्य का बासीपन दूर कर रहा है दलित साहित्य-(साक्षात्कार): डा.एन.सिंह. सुमनलिपि(मासिक) बंबई,-अक्तुबर-नवंबर १९९३-पृ.सं-३५

3.पु.ल.देशपांडे-दलित साहित्य सम्मेलन स्मरणिका १९७६- नागपूर-पृ.सं-२०

4.वसुधा-अंक-५८-2003 दलित साहित्य विशेषांक -पृ.सं-३२

5.युद्धरत आम आदमी-शरणकुमार लिंबाळे विशेषांक-पृ.सं-३९

6.शोधश्री-शोध पत्रिका-दलित विमर्श विशेषांक-२०१०-पृ.सं-१२८

7.दलित जीवन की कहानियाँ-पन्ना धाय का दूसरा बेटा-पृ.सं-१०४

8.दलित साहित्य- जयप्रकाश कर्दम-पृ.सं-७८

9.हिन्दी उपन्यास का विकास-मधुरेश-पृ.सं-१२४

10.जयप्रकाश कर्दम-छप्पर-पृ.सं-४५

11.हाशिए की आवाज-मई-२००८

12.साहित्य के नवप्रवाह-डा.सुजाता चव्हाण-पृ.सं-२८३

डॉ.आंबेडकर : पुलिस,जासूस और अखबार की नजर से

-डॉ. अनिरुद्ध कुमार
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
असम विश्वविद्यालय,दीफू,
असम-782462 मो.9435298492

मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही इतिहास लेखन में सरकारी आदेशों, परिपत्रों, पुलिस और जासूसी संस्थाओं की रिपोर्टों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इतिहास लेखन या फिर उनके पुनर्लेखन में ये स्रोत हजारों वर्षों से ऐतिहासिक भूमिका निभा रहे हैं। कई बार इन स्रोतों के आधार पर इतिहास की पुनर्व्याख्या हुई तथा मानव सभ्यता में लंबे समय से मिथकीय इतिहास के रूप में चली आ रही प्रचलित अवधारणा परिवर्तित हुई और नए इतिहास का सृजन हुआ।

आंबेडकर के जीवन एवं उनके संघर्षों के इतिहास के ऊपर इसी तरह की एक पुस्तक अनुवाद के रूप में चर्चित लेखक व आलोचक कंवल भारती हिन्दी में लेकर आए हैं जो सन 1915 से लेकर 1956 ई. तक बाबा आंबेडकर के द्वारा अछूतों के लिए चलाये गए आंदोलनों का सिलसिलेवार ढंग से लेखा जोखा प्रस्तुत करती है। यह पुस्तक महाराष्ट्र सरकार द्वारा 1982 में अँग्रेजी में प्रकाशित" सोर्स मैटेरियल ऑन बाबा साहब आंबेडकर ऐंड मूवमेंट ऑफ अनटचेबल्स- वॉल्यूम 1" का हिन्दी अनुवाद है। डॉ० भीमराव आंबेडकर के जीवन एवं उनके संघर्षों के ऊपर निश्चित रूप से यह एक अनूठा एवं अद्वितीय इतिहास है जो तत्कालीन अखबारों में प्रकाशित खबरों एवं सरकारी संस्थाओं द्वारा दर्ज सूचनाओं को आधार बनाकर लिखा गया है।

यह पुस्तक आंबेडकर एवं उनसे जुड़ी संस्थाओं के प्रति तत्कालीन प्रशासन एवं उस समय के अखबारों की मानसिकता का खुलासा करती है कि वे आंबेडकर के प्रति किस तरह की सोच रखते थे, और कदम-कदम पर उन्हें प्रताड़ित एवं अपमानित महसूस करवा कर उन्हें उनकी निम्न जाति का एहसास करवाते रहते थे। इतिहासकार पक्षपाती हो सकता है, तथ्यों के साथ तोड़-मरोड़ कर सकता है, उन्हे अलग रंग दे सकता है, किन्तु रिपोर्टें तो नहीं! और वो भी तब जब ये रिपोर्टें समूची व्यवस्था के द्वारा प्रेषित की जा रही हों, तब जब ये टिप्पणियाँ लाखों लोगों तक एक साथ अपनी बात पहुंचा रही हों! लेकिन हिंदुस्तानी मज़हब में, अछूतों को उनका हक़ दिलाने के लिए आंबेडकर के सिवा उनका कोई न था। किसी को भी इस बात की फिकर नहीं थी कि हिंदुस्तान की एक बहुत बड़ी आबादी (जो आज भी बहुसंख्यक है) के साथ इस तरह का बर्ताव किया जाता है! आंबेडकर की चिंता इस बात का प्रमाण है कि वे एक अच्छे समाज के निर्माण के प्रति कितने सतर्क एवं संघर्षशील थे।

जिस जनतंत्र में सिर्फ जन की भूमिका होती है न कि उसके पढ़े-लिखे या व्यावहारिक ज्ञाता होने की, वही जनतंत्र उसी संख्या के आधार पर आज भी जीवित है और साँसें गिन रहा है जिसे आज तक इस समाज में अपनी इच्छा से हिलने का भी अधिकार नहीं मिला; प्राकृतिक रूप से मिलने वाली वस्तुओं जल, जंगल, जमीन का उपभोग तो छोड़िए, उपयोग करने का अधिकार नहीं मिला! आप अंदाज़ा लगा सकते हैं इस डेमोक्रेसी या जनतंत्र का उस दलित-वंचित समाज की जिंदगी में क्या योगदान है! उस बहुसंख्यक दलित-पिछड़ी जनता के लिए, अपने मूलभूत अधिकारों के लिए गुहार लगाना आज़ादी के 73 वर्षों के बाद, आज भी किसी संघर्ष से कम नहीं। इस पुस्तक में छपी रिपोर्टों एवं अखबारी टिप्पणियों के आधार पर आप इस बात का अंदाज़ा खुद लगायें, हाथ कंगन को आरसी क्या!

आंबेडकर की विचारधारा को समझने के लिए ये आख्यायें और टिप्पणियाँ महत्वपूर्ण हैं। इस पुस्तक की अनुवादकीय में कंवल भारती लिखते हैं " यह ग्रंथ जनवरी 1915 की घटनाओं से आरंभ होता है जब डॉ० अंबेडकर न्यूयार्क में थे और बड़ौदा नरेश की सहायता से वित्त एवं समाजशास्त्र की पढ़ाई कर रहे थे।" ये वो समय था जब गांधी और आंबेडकर दोनों ही एक साथ सार्वजनिक जीवन एवं राजनीति में प्रवेश करते हैं। गांधी ने राजनीतिक सत्ता के लिए स्वराज आंदोलन का आरंभ किया जबकि आंबेडकर ने इस राजनीतिक आह्वान के साथ-साथ 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' का गठन करके हजारों सालों से मानवीय अधिकारों से वंचित अछूतों को संगठित कर संघर्ष का आह्वान किया। कंवल भारती लिखते हैं "गांधी के साथ ब्राह्मणों का समर्थन और हिन्दू सेठों का भरपूर धन-बल था जबकि डॉ० आंबेडकर के साथ नंगे-भूखे, शोषित-पीड़ित और वंचित अछूत जातियों के विशाल समाज के प्यार के सिवा कुछ न था।"

पुस्तक में आंबेडकर द्वारा दलित वर्ग की मुक्ति के लिए समय-समय पर चलाये गए मुक्ति संग्रामों एवं आन्दोलनों के विवरण के साथ ही तत्कालीन अखबारों द्वारा पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर की गयी आंबेडकर की राजनीतिक भूमिका की आलोचना, एवं गांधी की प्रशंसा का विस्तृत विवरण विभिन्न समाचार पत्रों में प्रकाशित खबरों से देखा जा सकता है।

गांधी एवं आंबेडकर दोनों ही भारतीय इतिहास के महापुरुष के रूप में जाने जाते हैं। यह आंबेडकर के साथ-साथ गांधी के इतिहास को भी नए ढंग से प्रस्तुत करने वाली पुस्तक है। कंवल भारती जी ने बहुत ही मनोयोग से इस पुस्तक का अनुवाद किया है। अँग्रेजी से हिन्दी में अनूदित अन्य पुस्तकों के मुक़ाबले इसका अनुवाद काफी अच्छा बन पड़ा है। अनुवाद के ख़ौफ़ से डरने वाले पाठकों को शायद ये जानकर आश्चर्य हो कि इसे पढ़ते हुये बिलकुल भी नहीं लगता कि हम अनुवाद पढ़ रहे हैं। यह रचनाकर्म के प्रति लेखक की ईमानदारी को दर्शाती जिसे वो 'अनुवादकीय' शीर्षक के माध्यम से ही घोषित कर देते हैं।

अगर इस बात की घोषणा न की जाए कि ये अनुवाद है तो ये बिलकुल भी पता नहीं लगेगा कि ये अनुवाद का कार्य है, जो कंवल भारती जी का आंबेडकर के ऊपर दीर्घकालीन शोधों का एक परिचायक है। निश्चित रूप से यह पुस्तक भारती जी के लंबे काम का परिणाम रही होगी जो इतने सफल अनुवाद के रूप में अब हमारे सामने प्रस्तुत है।

इस पुस्तक को पढ़ने के बाद आप पाएंगे कि हिंदुस्तान में सदियों से दमित-वंचित जातियों के लिए कानून और न्याय के मायने क्या रहे थे और बाबा साहब के आंदोलनधर्मी और काननूविद् के रूप में हस्तक्षेप के कारण आज उसका स्वरूप क्या है! इसे पढ़कर आपको पता चलेगा कि वंचित समाज को सम्मान दिलाने में आंबेडकर जैसे नायकों को किस तरह से देश की तत्कालीन न्याय व्यवस्था एवं पुलिस प्रशासन तथा साथ ही अखबार के मालिकों के साथ कितना संघर्ष करना पड़ा था। आंबेडकर जैसे उच्च शिक्षा प्राप्त सामाजिक कार्यकर्ता के साथ उस समय यदि इन संस्थाओं का ऐसा बर्ताव था तो आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कि सामान्य दलित-वंचित मानवों की क्या स्थिति रही होगी!

कंवल भारती जी ने इस पुस्तक की सिर्फ साढ़े तीन पृष्ठों की भूमिका लिखी है जिसे उन्होंने 'अनुवादकीय' नाम दिया है। संक्षिप्त भूमिका या 'अनुवादकीय' भारती जी की ईमानदारी, दूरदर्शिता एवं उनकी इतिहास दृष्टि की परिचायक है। भूमिका को संक्षिप्त रखकर उन्होंने इतिहास को ज्यों का त्यों ही रहने दिया है। क्यूंकी भारती जी इस बात से वाक़िफ़ लगते हैं कि चूंकि यह इतिहास सूचनाओं के आधार पर दर्ज़ है तो इसे वैसे का वैसा ही पाठकों के सामने भी आना चाहिए।

श्री भारती अपने अनुवादकीय में ठीक कहते हैं कि "जिसे यह मालूम नहीं कि बाबा साहब डॉ॰ आंबेडकर ने किन परिस्थितियों और परेशानियों के बीच दलित आंदोलन की शुरुआत की थी। उसे यह भी नही पता कि इस आंदोलन के दौरान उनके साथ हिन्दू नेताओं, हिन्दू प्रेस और कुछ दलित साथियों ने भी किस तरह का व्यवहार किया था।" (अनुवादकीय अंश)

भारती जी का यह कार्य इस दृष्टि से और महत्वपूर्ण हो उठता है क्यूंकी अँग्रेजी में प्रकाशित इस ग्रंथ का अब तक हिन्दी में अनुवाद और प्रकाशन नहीं हुआ था। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि उक्त अंग्रेजी पुस्तक का दूसरा संस्करण भी नहीं छप सका था।

इस किताब को अलीगढ़ के न्यून आर्थिक संसाधन लेकिन जीवट इच्छाशक्ति के धनी ए. आर. अकेला ने प्रकाशित किया है। कथित मुख्यधारा के प्रकाशनों की दुनिया से दूर करोड़ों-करोड़ पिछड़े-शोषित लोगों के संघर्षों को दर्ज करने वाले ऐसे प्रकाशनों का भी एक अलग इतिहास रहा है, जिन पर प्राय: बात नहीं होती। कंवल भारती के साथ-साथ, इस पुस्तक के प्रकाशक ए.आर अकेला भी प्रशंसा के पात्र हैं।

पुस्तक : डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर और अछूतों का आंदोलन : स्रोत सामग्री 1915-1956) खंड -1

अंग्रेजी से अनुवाद : कंवल भारती

पृष्ठ संख्या : 575

मूल्य : 500 रूपए

प्रकाशक : आनंद साहित्य सदन, अलीगढ़,मोबाइल : 9319294963

तथागत गौतम बुद्ध के वर्ण और जाति व्यवस्था पर विचार

-डॉ. अंबादास बाकरे
सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
एन.एम.डी.कॉलेज, गोंदिया, महाराष्ट्र

-डॉ. धर्मराज पवार
सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
उच्च अध्ययन शिक्षा संस्थान (मानित विश्वविद्यालय),
सरदार शहर, राजस्थान

सारांशः- पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और संघर्ष को रोकने के लिए समाज चिन्तकों और व्यवस्थाकारो ने वर्ण-विभाजन के दर्शन को विकसित किया तथा सभी वर्णो के कर्तव्य और कर्मों को निर्धारित किया। परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने वंशगत पैतृक अजीविका का पालन करता था। वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज में सदैव उपस्थित रही। इसी परम्परा में बुद्ध कालीन भारत में सामाजिक व्यवस्थाएँ चलती रही है और इस काल में यह विशेषता रही है कि चाहे किसी वर्ण के व्यक्ति ने दूसरे वर्ण का व्यवसाय भी किया हो परन्तु उसका वर्ण अपरिवर्तित रहा। साधनामय जीवन और ज्ञान के कारण वैदिक काल में ब्राह्मण वर्ण को सर्वोपरि प्रभुता स्थापित हुई थी। वह समाज का मस्तिष्क था और पठन-पाठन तथा भजन-भाजन के द्वारा समाज की बौद्धिक एवं धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। बुध्दयुग में जाति-भेद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। जाति के अनुसार ऊँच-नीच की भावना अति प्रबल हो गई। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों ही अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील थे। इन दोनों वर्गों में श्रेष्ठतर कहलाने की होड सी थी। बुद्ध ने उन ब्राह्मणों की आलोचना अवश्य की थी जो ज्ञान से कम पर पाखंड और आडंबर में निपुण होकर तरह-तरह की वंचना के कार्यों में लिप्त थे। ऐसे ही ब्राह्मणों से पूरी ब्राह्मण जाति के आत्मसम्मान और शालीन परम्पराओं के लुप्त होने का खतरा था। बौद्ध परम्परा ने जाति व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाई।

मुख्य शब्दः- बुद्ध, समाज, वर्ण-व्यवस्था, जातिवाद, भिक्षु, संघ, बौद्ध-धर्म, ऋग्वेद आदि।

प्रस्तावनाः- प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था संसार में अद्वितीय स्थान रखती है। वर्ण-व्यवस्था के आधार पर भारतीय सामाज जीवन का ढाँचा तैयार हुआ है। भारत में वैदिक युग में यह व्यवस्था प्रारम्भ हुई ऐसा सामान्यतः सभी इतिहासविद् मानते हैं। वर्ण-व्यवस्था के बारे में ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में स्वीकार किया गया है कि ब्रह्मा के द्वारा निर्मित सृष्टि में सामाजिक व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र चार वर्णों में समाज को विभक्त करने की आवश्यकता हुई। भूरीदत्त जातक में वर्णन है कि महाब्रह्मा ने ब्राह्मण के लिए अध्ययन, क्षत्रिय के लिए राज्य जितना, वैश्य के लिए कृषि तथा शूद्रों के लिए तीनों वर्णो की सेवा का विधान बनाया। वर्ण-व्यवस्था के मूल में यह भी चिन्तन था कि विभिन्न वर्ण अपनी-अपनी प्रतिस्पर्धा और विरोध को समाप्त करके निश्चित कार्यो को करते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करते प्रत्येक वर्ग अथवा समूह की निश्चित कार्य विधि स्थिर हो जाने के कारण उनके आपसी वैमनस्य का कम हो जाना स्वाभाविक था। इससे सभी वर्ग के लोग अपने कर्तव्यों का अनुसरण करते हुए समाज के उत्थान में अपना योगदान देते थे।

पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और संघर्ष को रोकने के लिए समाज-चिंतकों और व्यवस्थाकारोने वर्ण-विभाजन के दर्शन को विकसित किया तथा सभी वर्णो के कर्तव्य और कर्मों को निर्धारित किया। परिणाम स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने वंशगत पैतृक आजीविका का पालन करता था। व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि से भी यह उत्तम था क्योंकि इससे व्यक्ति का ही विकास नही होता था बल्कि परिवार और समाज का भी विकास होता था। लौकिक पारलौकिक दोनों जीवन स्वाभाविक रूप से मनुष्य से आबध्द होते थे तथा अपने प्रभाव से उसे आकृष्ट करते थे। इससे मनुष्य का शारीरिक और मानसिक दोनों का उत्थान होता था। वस्तुतः व्यक्ति का कायिक और मानसिक दोनों का विकास करना वर्ण-व्यवस्था की अन्तर्निहित चिन्ता थी। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज में सदैव उपस्थित रही। इसी परम्परा में बुद्ध कालीन भारत में सामाजिक व्यवस्थाएँ चलती रही और इस काल में यह विशेषता रही है कि चाहे किसी भी वर्ण के व्यक्ति ने दूसरे किसी भी वर्ण का व्यवसाय किया हो परन्तु उसका वर्ण अपरिवर्तित रहा। कभी-कभी वर्ण और जाति को एक ही समझ लिया जाता है। परन्तु यह गलत धारणा है। वर्णो का आदर्श है कर्तव्यों पर समाज तथा वर्ण के उच्च मापदण्ड पर बल देना, न की जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना। किंतु इसके विपरीत जाति-व्यवस्था जन्म, आनुवंशिकता और व्यवसाय पर बल देती है। वैसे यह बात अलग है कि समय व्यतीत होने पर वर्णों के आदर्श समाप्त हो गए और समाज में वर्ण भी जन्म के अनुसार माने जाने लगे चाहे व्यक्ति जन्म से विभिन्न किसी भी वर्ण या जाति का व्यवसाय करने लगा हो वह जन्म से प्राप्त होने वाले वर्ण में ही रहा इस प्रकार बौध्द काल में वर्ण-व्यवस्था का आधार व्यवसाय नहीं रहा था।

वर्ण और जाति पर बुद्ध के विचारः

बुद्धयुग में जातिभेद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। जाति के अनुसार ऊँच-नीच की भावना अति प्रबल हो गई। ब्राह्मण तथा का क्षत्रिय दोनों ही अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील थे। इन दोनों वर्गों में श्रेष्ठतर कहलाने की होड सी थी। मधुर अवन्तिपुत्र हमे यह कहते हुए दिखाई देता हैं कि 'ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, शुक्ल वर्ण है, पवित्र है, ब्रह्मा के मुख से उसकी उत्पत्ति है, वहीं ब्रह्मा का प्रतिनिधि है।'[1] दूसरी ओर क्षत्रिय जातियाँ अपने-आपको ब्राम्हण जातियों से उच्च समझने लगे थे, ब्राम्हणों में भी उदीच्य ब्राम्हण अपने को अन्य जातियों से उच्च समझने लगे थे दूसरी ओर कतिपय क्षत्रिय जातियाँ अपने को अन्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानने लगी थी। जैसे-शाक्यवंशी, जिन्होंने कोशल-नरेश प्रसेनजित के साथ एक शाक्य-राजकुमारी का विवाह अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल माना था। भगवान बुद्ध से ब्राह्मण अम्बष्ठने यह शिकायत की कि शाक्यों उन्हें अपने संस्थागार में बैठने के लिए आसन देने की बात तो दूर रही, सीधे मुँह बात भी नहीं की।[2] प्रसेनजित के विषय में कहा जाता है कि जब वे अपने अधीनस्थ ब्राह्मण पाक्खरसाति से बातें

करते तो दोनों के बीच पर्दा लगाया जाता था क्योंकि क्षत्रिय होने के नाते वे उच्च जो थे।[3] पुनः अपने अधीनस्थ ब्राह्मणों से आमने-सामने बातें कैसे करते। ऐसे ब्राह्मणों का भी उल्लेख मिलता है जो अपनी मृत्यु के पूर्व यह निर्देश करते थे कि मरणोपरान्त उनका शवदाह ऐसे शमशान में न हो जहाँ किसी चाण्डाल को जलाया गया हो।[4] इस युग के सामाजिक जीवन में एक और प्रमुख बात यह हुई कि विभिन्न जातियाँ अलग-अलग ग्रामों में बसने लगी। बौद्ध ग्रन्थों में इसके उल्लेख मिलते हैं कि ब्राह्मण-ग्राम[5], क्षत्रिय-ग्राम[6], बनिया-ग्राम[7], निषाद-ग्राम[8], चांडाल-ग्राम[9] जैसे जातियों के आधार पर ग्राम बने थे।'

जनमानस में यह धारणा दृढ़ हो गई थी कि स्वयं निर्माता ने समाज का विभाजन चतुर्वर्ण में कर दिया है तथा मानवमात्र अपने पूर्व-जन्म के कर्मानुसार ही विभिन्न जातियों में जन्म प्राप्त कर सुख-दुःख का भागी होता है। ऐसे ही समय में भारत-भूमि में एक महान धर्म-प्रवर्त्तक तथा समाज सुधारक के रूप में भगवान बुद्ध का जन्म हुआ। उन्होंने तत्कालीन समाज में नवीन धार्मिक एवं सामाजिक चेतना को जन्म दिया और वर्ण तथा जाति से सम्बन्ध परम्परागत धारणाओं की नितान्त निसार एवं निरर्थक घोषित किया। भगवान बुद्ध ने बताया कि मानवमात्र समान है कोई उच्च वर्ण में जन्म लेने से महान नहीं होता अपितु अपने सत्कर्मों द्वारा उसकी महत्ता की पुष्टि होती है। उन्होंने ब्राह्मण अश्वलायन को यह स्वीकार करने के लिए बाध्य किया कि केवल ब्राह्मण ही स्वर्ग में सुख-भोग के सुयोग्य पात्र नहीं होते, वरन् पुण्यकर्मों द्वारा क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र भी स्वर्ग के अधिकारी हो सकते है।[10] उद्दालक-जातक में ब्राह्मण पुरोहित के मुख से यह बात कहलाई गई है कि क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल तथा पुक्कुस सभी में सत्कर्मों द्वारा निर्वाण प्राप्त करने की समान क्षमता होती है।

यदि कोई ब्राह्मण नीच कर्म करता है तो क्या उस अवस्था में उसके लिए स्वर्ग में स्थान सुरक्षित रहेगा\ कोई चाण्डाल-कुल में जन्म पाकर भी यदि पुण्यकर्मों द्वारा जीवन की सार्थकता सिद्ध करता है तो क्या वह स्वर्ग का भागी नहीं हो सकता\ अतः भगवान बुद्ध ने कहा कि मनुष्य न तो जन्म से चाण्डाल होता है और न ब्राह्मण।[11] अन्ततोगत्वा मानव-मात्र में समता है, विभेद तो बाह्य एवं कृत्रिम है। इसकी पुष्टि में उन्होंने यह तर्क रखा की क्या उच्च-वर्ण में जन्म पाने से किसी व्यक्ति-विशेष के लिए मृत्यु का द्वार बन्द हो सकता है\ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र कोई भी अजर-अमर नहीं है।[12] सभी का अन्त एक ही है, फिर भी हम क्यों किसी को जन्म से श्रेष्ठ माने और दूसरे को हेय दृष्टि से देखे\ क्या किसी वर्ण या जाति-विशेष में जन्म पाने से ही भौतिक ऐश्वर्य की उपलब्धि तथा मरणोपरान्त स्वर्ग-सुख निश्चित रहता है\ क्या जाति के बल पर ही मनुष्य पाप के लिए दोषी नहीं अथवा अपराध के लिए दण्ड का भागी नहीं होता\ इसी प्रकार विभिन्न तर्कों द्वारा भगवान बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने वर्ण तथा जाति व्यवस्था को व्यर्थ बतलाने की चेष्टा की। उन्होंने समाज में ब्राह्मणों के प्रभुत्व को भी चुनौती दी। उनका तर्क है कि यदि ब्राह्मणों ने यह व्यवस्था की है कि वेदों का अध्ययन-अध्यापन ब्राह्मणों का कर्म है, राजत्व क्षत्रिय का, कृषि-वाणिज्य वैश्यों का तथा सेवा-कार्य शुद्रों का तो इसे हम ब्रह्म वाक्य क्यों मान ले\[13] बौध्द दृष्टिकोण से ऐसी व्यवस्था ब्राह्मणों द्वारा अपना स्वार्थ-साधने के लिए, अपनी जीविका के लिए समाज पर लादी गयी।

भगवान बुध्द ने जातिवाद का खण्डन किस रूप में किया:-

अब हमें यह देखना है कि भगवान बुद्ध के प्रयत्न कहाँ तक सफल हुए और व्यावहारिक जगत् में उन्होंने जातिवाद का खंडन किस रूप में किया। बौद्ध साहित्य का अनुशीलन यह बतलाता है कि तत्कालीन जातिवाद के खण्डन में भगवान बुद्ध को केवल भिक्षु-संघ में सफलता मिली। यह निर्विवाद सत्य है कि बौद्ध-संघ में जातिवाद की कोई वस्तु नहीं थी। भगवान बुद्ध ने भिक्षु-संघ को सम्बोधित करते हुए कहा-''हे भिक्षुओं, जिस प्रकार महा नदियाँ सागर में मिलकर एकाकार हो जाती है। उसी प्रकार चारों वर्णों के सदस्य तथागत द्वारा प्रतिपादित धर्म के नियमानुसार प्रव्रजित होकर यह भूल जाते हैं कि हमारा अमुक वर्ण था, अमुक वंश था, उनकी एकमात्र संज्ञा रह जाती है-श्रमण।14 भगवान बुद्ध के ये वचन वास्तविकता के द्योतक है। बौद्ध संघ में ऊँच-नीच की भावना पनपने नहीं पाती थी। यही कारण था कि नापित-पुत्र होने पर भी उपालि बुध्द के प्रिय शिष्यों में थे और भगवान की निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् संघ के प्रधान होने का श्रेय भी उन्हें मिला। बौद्ध-संघ में भिक्षुओं का जीवन सामुदायिक था और खान-पान में स्पृश्यास्पृश्य का भेदभाव नहीं था। यह सत्य है कि भिक्षुओं की कोई जाति नहीं थी, परंतु भगवान बुद्ध भिक्षुओं में भी जातिवाद सम्बन्धी धारणाओं को सर्वथा निर्मूल करने में सफल न हो सके। तत्कालीन समाज में जातिवाद की भावना इतनी प्रबल थी कि सभी भिक्षुओं के मस्तिष्क में से उन्हें न निकाला जा सका। अगुत्तर-निकाय[15] तथा उदान[16] से पता चलता है कि कतिपय भिक्षु अपने-आपको ब्राह्मण-भिक्षु, उच्च कुलोद्भव भिक्षु आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया जाना पसन्द करते थे। कहीं-कहीं हम भगवान बुद्ध के समक्ष भिक्षुओं के मुख से जातिवाद-सम्बन्धी धारणाओं की स्वीकृति पाते हैं। तित्तिर-जातक में कहा गया है कि भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं से जब यह प्रश्न किया कि उत्तम आवास, उत्तम जल तथा उत्तम भोजन के अधिकारी कौन हो सकते हैं\ तो उन्हें भिक्षुओं से अलग-अलग उत्तर प्राप्त हुए। कुछ ने कहा कि क्षत्रिय-कुल से प्रव्रजित भिक्षुओं को ही ये सुविधाएँ मिलनी चाहिए, अन्यों ने कहा नही ब्राम्हण-कुल प्रव्रजित ही इसके अधिकारी हो सकते है, कुछ ने गहपति कुल प्रवृजित को इसका पात्र बतलाया। इन तीनों वर्ण के सदस्य समाज में समादर के पात्र थे। इस बात को बौद्ध भिक्षुओं भी अस्वीकृत नहीं कर सके, यद्यपि यह भगवान बुद्ध के उपदेश के प्रतिकूल था। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए, कि भिक्षुओं में जातिगत भेदभाव था। सत्य इतना ही है कि भिक्षुओं के मस्तिष्क में भी जाति सम्बन्धी धारणाएँ थी। जिसकी अभिव्यक्ति प्रसंगवश हो जाया करती थी।

भगवान बुद्ध ने जातिवाद का खण्डन तो किया परन्तु उनका वास्तविक विरोध तत्कालीन रूढ़ियों से था। वस्तुतः वे मात्र जन्मना वर्ण के सिद्धान्त के विरोधी जान पड़ते हैं। ब्राह्मणत्त्व सम्पन्न ब्राह्मण की निन्दा करते हुए हम उन्हें नहीं पाते हैं। वे अब्राह्मणोंचित कर्मों में लगन तथा गुण हीन ब्राह्मणों का अवश्य विरोध करते थे। वे इसके पक्ष में नहीं थे कि ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने मात्र से हम किसी व्यक्ति को श्रद्धा का पात्र मान ले। उन्होंने कितने ही स्थानों में यह कहा कि तत्कालीन ब्राह्मणों ने ब्राह्मण धर्म का त्याग कर दिया था, जिसके लिए उन्हें दुःख था। ब्राह्मण-धम्मिक-सुत्त में उनके मुख से सच्चे ब्राह्मण की व्याख्या कराई गई है। सच्चे ब्राह्मण के लिए हम बौद्ध ग्रन्थों में श्रद्धा के ही शब्द पाते है। वास्तव में भगवान बुद्ध ऊँच-नीच की भावना के विरोधी थे। ऐसी भावना की प्रबलता समाज के लिए घातक होती है। अतः

समाज सुधारक के रूप में उन्होंने इसका विरोध किया। वे परम्परागत समाज के विरोधी न थे, परन्तु उसकी त्रुटियों को दूर कर उस दुरावस्था का उन्मूलन करना चाहते थे। जिसमें किसी जाति-विशेष में जन्म ग्रहण करने के कारण ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास तथा उसकी सफलता का मार्ग अवरुद्ध हो जाए। व्यवहारिक रूप में तत्कालीन सामाजिक संगठन में उनके द्वारा जातिवाद का खण्डन यही तक था।

निष्कर्ष उपरोक्त के आधार पर कहा जा सकता है कि बुद्ध ने अपनी जाति-सम्बन्धी व्याख्याओं को लेकर तदयुगीन सामाजिक व्यवस्था में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का प्रयास कर रहे थे। समाज में ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती मिल रही थी और उनकी प्रत्येक जाति सम्बन्धी अवधारणाओं को बुद्ध द्वारा व्यवसायिक कसौटी पर परखने का सतत् प्रयास भी हो रहा है। यह भी एक विस्मय की बात है कि पाली निकायों में सामाजिक वर्ग के विभाजन में क्षत्रियों के नाम ब्राह्मणों से पहले आए हैं। यह क्षत्रियों के जातिय अभिमान को दर्शाता ही है साथ ही ब्राह्मणों के अधःपतन की पृष्ठभूमि का संकेत भी देता है। निकायों में ऐसे कई प्रसंगों की सूची दी गई है जब ब्राह्मण अपने पारिवारिक परिवेश का परित्याग कर धन संचय और तरह-तरह के भौतिक साधनों के जुगाड़ में लगे हुए थे। बुद्ध की दृष्टि में उनकी यह मनोवृति उन्हें ब्राह्मणत्व से दूर करती है, क्योंकि ब्राह्मण तो उसे कहेंगे जो हर अवस्था में असीम त्याग, तपोसाधना और परहित को जीवन के पवित्र उद्देश्यों के रूप में स्वीकार करें। यही कारण है कि बौद्ध साहित्य में बुद्ध और ब्राह्मणों के बीच हुए कई धार्मिक संलापो और अन्य धर्म सम्बन्धी विमर्शों का विस्तृत विवरण दिया गया है। हर संलाप का निष्कर्ष यही है कि बुध्द के अकाट्य तर्कों और धर्म की पैनी व्याख्या को सुनकर ब्राह्मण निरूत्तरित हो गए और उनकी शरणगति में जाकर संघ में दीक्षित भिक्षु बने। इस आधार पर कुछ देर के लिए बुद्ध पर सम्प्रदायवादी होने या अपने धर्मज्ञान को बढ़ा-चढ़ाकर कहने का आरोप लगाया जा सकता है, परन्तु सही समीक्षा से ही यही बात सामने आती है कि वे उन ब्राह्मणों के बड़े प्रशंसक थे जो यथार्थ में अपने गहन ज्ञान और त्यागमय जीवन से एक पूरे समाज को बदलने की शक्ति रखते थे। बुद्ध ने उन ब्राह्मणों की आलोचना अवश्य की थी जो ज्ञान से कम पर पाखण्ड और आडम्बर में निपुण होकर तरह-तरह की वंचना के कार्यों में लिप्त थे। ऐसे ही ब्राह्मणों से पूरी ब्राह्मण जाति के आत्मसम्मान और शालीन-परम्पराओं के लुप्त होने का खतरा था। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध परम्परा ने जाति व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाई। वह यह स्वीकार करती थी कि समाज के सामान्य कार्य व्यापार में सामाजिक विभेदों का होना अनिवार्य है, लेकिन उनका मानना था कि इन विभेदों को इस हद तक नहीं लेना चाहिए। इस अवधारणा को ही त्याग दिया जाए कि सभी मनुष्य समान है। बुध से चारों वर्णों की सापेक्ष शुद्धता के बारे में कई बार प्रश्न पूछे गए और उनका उत्तर हमेशा यही था कि सभी वर्ण समान रूप से शुद्ध है। बौद्ध धर्म में कानून के सामने सब की समानता का हामी था। उसके अनुसार, अपराधी को उसके अपराध के अनुसार विचार किया जाना चाहिए और उसी के अनुसार उसे सजा देनी चाहिए और ऐसा करते समय जाति के आधार पर किसी प्रकार की छूट या सुविधा नहीं दी जानी चाहिए।

सन्दर्भ -

1.साकृत्यायन, राहुल, (अनु.), मज्झिम-निकाय, महाबोधि-ग्रन्थमाला-02 पुष्प, जिल्द 02, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1958, पृ. 84,148

2.साकृत्यायन, राहुल, (अनु.), दीघ-निकाय, जिल्द 01, महाबोधि-ग्रन्थमाला-04 पुष्प, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1936, पृ. 90-91

3.वही, पृ. 109

4.उपल्हक जातक, (सं. 166)

5.बौध्द-पिटको में अनेक ब्राम्हणग्रामों का उल्लेख मिलता है, जैसे-खानुमत (दीघ-निकाय, जिल्द 01, पृ. 127), अम्बसण्डा (दीघ-निकाय, जिल्द 02, पृ. 263-264), एकनाल (बुक ऑफ किंड्रेठ सेइग्स, पृ. 216), सालिन्दिय (जातक, जि. 03, पृ. 293, जि. 04, पृ. 276) आदि

6.Yogendra Mishra, (Edi.), Vaishali Abhinandan Granth, Research Institute of Prakrit Jainology & Ahimsa, Vaishali, Bihar, 1985, Pp. 85-86.

7.वही

8.भदन्त आनन्द कौसल्यायन, (सम्पा.), जातक, भा. 2, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1942, पृ. 36, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, (सम्पा.), जातक, भा. 04, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सम्वत्, 2013, पृ. 413, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, (सम्पा.), 06, जातक, भा. 6, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सम्वत्, 2013, पृ. 71।

9.भदन्त आनन्द कौसल्यायन, (सम्पा.), जातक, भा. 4, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ. 200, 376, 390, महावंश- 4/41।

10.साकृत्यायन, राहुल, (अनु.), मज्झिम-निकाय, जिल्द 02, पृ. 150।

11.सुत्त-निपात, 1/7/21, 3/9/57।

12.भिक्खु जगदीस कश्यप, (सम्पा.), विमानवत्थु, नान्लदा-देवनागरी-पालि -ग्रन्थमाला, बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार, 1959, 5/13/15, नान्लदा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार,1959, पेतवत्थु, 2/6/12।

13.भदन्त आनन्द कौसल्यायन, (सम्पा.), जातक, भा. 06, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ. 208।

14.चुल्लवग्ग, 9/1/4।

15.भदन्त आनन्द कौसल्यायन, (सम्पा.), अंगुत्तर-निकाय, भा. 01,महाबोधि सभा, कलकत्ता, 1957, पृ. 97-99।

16.साकृत्यायन, राहुल, (सम्पा.), उदान, रंगून, 1/5, 1937।

दलित और आदिवासी साहित्य-विमर्श एक तुलना

-डॉ. सुषमा कुमारी
असिस्टेंट प्रोफेसर,हिन्दी विभाग,
मिजोरम विश्वविद्यालय,आइजोल

इक्कीसवीं सदी में सबसे ज्वलंत और प्रभावी उपस्थिति दर्ज करने वाले साहित्यिक आंदोलनों में दलित और आदिवासी विमर्श का नाम प्रमुखता से आता है। दलित और आदिवासी दोनों ही अपनी प्रकृति में शोषित-उत्पीड़ित और अस्मितामूलक हैं। मानवता, सामाजिक समरसता और बंधुत्व के भाव को स्थापित करना दोनों ही विमर्शों का मूल चरित्र और उद्देश्य है। इसके बावजूद अपने सिद्धांत, स्वरूप, अवधारणा, व्युत्पति, दर्शन, सामाजिक पृष्ठभूमि और शोषण की प्रकृति तथा समस्याओं और चुनौतियों के स्तर पर दोनों अस्मिताओं के बीच तुलनात्मक दृष्टि से काफी अंतर देखने को मिलता है। इस तुलनात्मक विवेचन पद्धति के जरिए हम दोनों विमर्शों की मूल स्थापनाओं, समस्याओं और संघर्षो के साथ-साथ किए जा रहे साहित्यिक प्रयासों को एक साथ, एक पटल पर, एक दूसरे के समानांतर रख कर देखने का प्रयास करेंगे जिससे दोनों के बीच समता और विषमता के बिन्दु बिल्कुल साफ देखे जा सकते हैं।

उत्पत्ति की दृष्टि से यह सवाल आता है कि आदिवासी और दलित साहित्य लेखन क्यों हुआ और यह क्यों जरूरी है? इस बिन्दु पर गहन विचार करते हुए रमणिका गुप्ता निष्कर्ष निकालती हैं कि इन दोनों के केंद्र में 'पीड़ा, उपेक्षा और उत्पीड़न की व्यथा है' जिसे किसी ने न अभिव्यक्त किया और न ही इनको अभी तक करने दिया। सदियों के शोषण और उस से उपजी घुटन का परिणाम हैं ये विमर्श।'[1] अब अपने दर्द और व्यथा को दुनिया के सामने लाने का साहस इनके द्वारा किया जा रहा है।

रामणिका गुप्ता दलित और आदिवासी लेखन में समानता को प्रकट करती हुई लिखती हैं कि "दोनों इस मायने में समान हैं कि इनका साहित्य जीवन, यथार्थ, श्रम, उत्पीड़न, शोषण, अभाव, उपेक्षा और अन्याय से जुड़ा है। दलित साहित्य हो या आदिवासी साहित्य, दोनों ही प्रतिरोध का साहित्य हैं। दोनों का साहित्य आनंद नहीं देता, सीधे मन पर चोट करता है, न ही यह मन को सहलाता, बहलाता है। ये धक्का देता है, झिंझोर कर कहता है – जागो! जागृत होओ! यह साहित्य मानसिकता बदलता है। यह प्रतिबद्ध साहित्य है, अपनी विचारधारा, सोच, सिद्धांत व जीवन-मूल्यों व शैली के प्रति।"[2]

दोनों विमर्शों के लेखन की संरचना और जमीनी अंतर को रेखांकित करते हुए आगे रमणिका जी लिखती हैं "इन दोनों के जीवन और अभिव्यक्ति के ढंग में भले फर्क है। इनके स्रोत, सामाजिक ढांचा, संस्कृति, भौगोलिक स्थितियाँ, प्रतीक, मिथक, शैली, भाषा, जीवन-शैली सभी भिन्न हैं। एक को सभ्यता के बाहर कर जंगलों में खदेड़ दिया गया, तो दूसरे को मनुष्यता से ही बाहर कर अपने ही गांवों की सीमा पर पशुतुल्य जीवन जीने को मजबूर कर दिया गया।"[3]

दलित और आदिवासी दोनों ही शब्द विशेषणपरक हैं। संविधान में इन्हें क्रमश: अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति नाम से अभिहित किया गया है। नाम भ्रम की स्थिति से बचने के लिए 'आदिवासी' ही उचित, प्रभावी और प्रवृति प्रधान नामकरण है।

दलित साहित्य ने रचना प्रक्रिया से जुड़े हुए सवालों के केंद्र में स्वानुभूति को प्रमुखता से रखते हुए कई अवधारणात्मक प्रश्न खड़े किए जो दलित साहित्य की सैद्धांतिकी निर्मिति करने में महत्वपूर्ण साबित हुए। दलित कौन है? दलित साहित्य क्या है? दलित साहित्य कौन लिख सकता है, कौन नहीं आदि सवालों पर लगातार बहस चली, विमर्श हुआ जिसमें दलित और गैर-दलित साहित्यकारों-आलोचकों ने समान रूप से भागीदारी की। इन बहसों के निष्कर्षों से हम सब परिचित हैं। इसके बरक्स आदिवासी साहित्य को देखें तो हम पाते हैं कि यहाँ इसकी अभी तक कोई ऐसी सैद्धांतिकी निर्मिति नहीं हुई है, अवधारणामूलक सवालों पर कोई बहस और बड़ा विमर्श यहाँ दिखाई नहीं देता है। कुछ साहित्यकार-आलोचकों ने इस पर अपना मत जरूर प्रस्तुत किया है जिसके आधार पर निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं –

प्रथम - आदिवासी विषय पर लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है इस मत के समर्थक लेखकों में रमणिका गुप्ता, संजीव, बजरंग तिवारी, हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो आदि हैं। दूसरा - आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है। यह मत दलित साहित्य की तर्ज पर ही 'स्वानुभूति' और 'जन्म' को ही प्रमुख मानता है। वंदना टेटे ने इस मत का समर्थन किया है। तीसरा - आदिवासी दर्शन अथवा 'आदिवासियत' के तत्वों वाला साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। लेखन और रचना निर्माण से संबंधित ये सभी मत हमें दलित साहित्य विषयक अवधारणा संबंधी प्रश्नों की याद दिलाते हैं किन्तु आदिवासी साहित्य की अवधारणा और रचना प्रक्रिया संबंधी किसी बड़ी बहस और विमर्श का यहाँ अभाव दिखाई देता है, इसकी वजह की ओर संकेत करते हुए प्रो. वीर भारत तलवार ठीक कहते हैं कि "आदिवासियों की भाषा, संस्कृति, धर्म का सवाल किसी ने नहीं उठाया। गैर-आदिवासियों के नितांत भिन्न दृष्टिकोण के कारण वे उठा भी नहीं सकते और आदिवासी खुद उस प्रकार से विमर्श नहीं करते हैं कि एक विमर्श खड़ा हो।"[4] परिभाषा के स्तर पर अंतर स्पष्ट करें तो कहा जा सकता है कि दलित विमर्श में स्वानुभूति और आत्मपरकता का भाव केंद्र में है, तो आदिवासी विमर्श में आदिवासियत अर्थात आदिवासी दर्शन प्रमुख है।

दलित और आदिवासी साहित्य के स्वरूप को समझें तो क्रमश: दलित साहित्य-विमर्श जाति, वर्ण, वर्ग आधारित व्यवस्था का विरोध करते हुए दलितों में

चेतना और आंदोलन का भाव जागृत करता है, साहित्य और समाज में अपनी अलग पहचान स्थापित करने का प्रयास करता है और प्रतिरोध का साहित्य सृजन करता है। वहीं आदिवासी समाज 'कबिला' और समुदाय के रूप में संगठित रहा है, इसलिए वहाँ जाति, धर्म और वर्ण-व्यवस्था के अभाव के कारण समस्याओं की प्रकृति और संघर्ष के अलग रूप दिखाई देते हैं। यह समाज नस्ल और रंग भेद आधारित भेदभाव के विरोध स्वरूप नए प्रतिमान स्थापित करता है। जाति और धर्म की दृष्टि से देखें तो दलितों को वर्णव्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर रखा गया है और वे हिन्दू धर्म व्यवस्था के अंग हैं, किन्तु आदिवासी समाज में जाति और धर्म जैसी व्यवस्था का अभाव रहा है इसलिए वे एक जाति और धर्म रहित व्यवस्था के हिमायती रहे हैं और किसी भी धर्म को अपनाने या मानने को स्वयं की स्वायत्तता मानते हैं।

दलित न केवल सवर्णों की जातिगत्त श्रेष्ठता से उत्पन्न उत्पीड़न का शिकार रहा है अपितु स्वयं दलित समाज में पाए जाने वाले जातिगत पदानुक्रम के कारण एक दलित जाति दूसरी दलित जाति से भी उत्पीड़ित रही है। रमणिका गुप्ता ने बिल्कुल सही इंगित किया है कि "चाहे वर्चस्ववाद हो, चाहे जातिवाद, यहाँ तक कि छुआछूत और भेदभाव, दलितों में भी मौजद है ...आदिवासी इन विकृतियों से मुक्त है... आदिवासी जातिहीन है।"[5] दलितों में यह विरोधाभास वर्तमान में भी वैसे ही देखने को मिलता है। जबकि "आदिवासी जाति से मुक्त हैं, फिर भी उन्हें संविधान में 'जनजाति' की संज्ञा दी गई। ब्राह्मणवादी व्यवस्था में दलित की तरह ही आदिवासी को भी शूद्र की श्रेणी में ही गिना जाता है। ... वह ब्राह्मणवाद का विरोध इसलिए भी कर रहा है कि वह न तो उनकी जाति प्रथा में जाना चाहता है, न अपने पुरखों व बोंगा, ठाकुर या देव अथवा अच्छी-बुरी स्पिरिट्स को हिन्दू देवी-देवताओं के नाम देना चाहता है, जैसा कि किया जा रहा है।"[6] आदिवासी जाति, वर्ण या किसी भी तरह की भेदभावमूलक और अन्यायपरक व्यवस्था के विरुद्ध सामूहिकता, सह-अस्तित्व, समानता के मूल्यों के साथ-साथ अपनी संस्कृति और भाषा को स्थापित करने पर जोर देता है। यही मूल्य इन्हें अन्य संस्कृतियों से पृथक बनाते हैं। यहां वैयक्तिकता की रक्षा के साथ सामूहिक जीवन के भाव की प्रधानता देखने को मिलती है।

उद्देश्य के स्तर पर दलित और आदिवासी विमर्श की संकल्पना का अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि दलित साहित्य और विमर्श दलितों पर सदियों से हो रहे जातिगत अत्याचार और भेदभावजनित जाति-वर्ण व्यवस्था को समाप्त कर एक समतामूलक समाज की स्थापना का स्वप्न देखता है। इसलिए वह "जाति तोड़ कर जातिविहीन समाज का निर्माण करना चाहता है, इसलिए मानुवादी, ब्राह्मणवादी व्यवस्था का विरोधी है।"[7] वहीं आदिवासी विमर्श भी किसी भी तरह की भेदभावमूलक व्यवस्था के खिलाफ आवाज बुलंद करता हुआ आदिवासियों की समस्याओं को रेखांकित करता है। दलित हिन्दू वर्णव्यवस्था का अंग होने के कारण वहाँ की सामाजिक व्यवस्था पितृसत्तात्मक है, तो आदिवासी सामाजिक व्यवस्था में हमें मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक दोनों ही तरह के रूप देखने को मिलते हैं। जैसे असम और मेघालय में मातृसत्ता है।

दलित और आदिवासियों की समस्याओं की तुलना का एक पक्ष यह भी है कि दलित भूमिहीन हैं और यह उनकी आर्थिक और सामाजिक दुर्दशा का एक बड़ा कारक है। लेकिन आदिवासी भूमिहीन नहीं है, बल्कि वह तो जल, जंगल और जमीन का मालिक है, जिसे बेदखल किया जा रह है। इसलिए आदिवासियों की आज मुख्य समस्या विस्थापन और पलायन तथा घुसपैठ की है। इस कारण वह अपने घर से बेघर होने को मजबूर है। सवाल आज उसके अस्तित्व और अस्मिता दोनों का है। यह समुदाय अपनी आदिवासियत को बचाने के साथ-साथ जल, जंगल और जमीन को संरक्षित करने हेतु संघर्षरत है। विकास और मुख्यधारा से जोड़ने के नाम पर हो रही जंगलों की अंधाधुंध कटाई, भूमि अधिग्रहण और जल संसाधनों पर कब्जे से आदिवासी अपनी पुरखों की विरासत से बेदखल, अपने आवास और भूमि से विस्थापित किया जा रहा है। अपने जीवन और जीविका को प्रकृति से जोड़कर देखने वाला आदिवासी इसके संरक्षण हेतु प्रतिबद्ध है। जगह-जगह हो ऽरहे आदिवासी आंदोलन, विद्रोह इसके प्रति चेतना के ही परिणाम हैं। तमाम भिन्नताओं के बावजूद दोनों विमर्शों के स्वरूप में विद्रोह, चेतना, प्रखर अभिव्यक्ति, विरोध और नकार का भाव समान रूप से देखने को मिलता है।

आदिवासी साहित्य की परंपरा मूलत: मौखिक या वाचिक रही है। व्याकरण और समृद्ध लिपि के अभाव में इनका पुरखा साहित्य मौखिक रूप में मिलता है, इसलिए इसे पुरखा साहित्य या पुरखौती साहित्य कहा जाता है। अपने पूर्वजों/पुरखों के गीत-लोकगीत, लोक-कथा और लोक-गाथाओं को अपनी निधि मानकर इन्हें ये अपनी साहित्य परंपरा में प्रमुखता से रखते हैं। पुरखा साहित्य में इनकी विविध बोलियों, लोक-गीतों, लोक-कलाओं, नृत्य-गायन आदि संस्कृति के विवध रूप प्राप्त होते हैं और आदिवासी इनका पूरे सम्मान के साथ स्मरण करते हैं। इसके समानांतर दलित साहित्य में पुरखा साहित्य जैसी कोई अवधारणा दिखाई नहीं देती है, यद्यपि यहाँ जाति व्यवस्था के प्रतिरोध की एक लंबी परंपरा दिखाई देती है और ये अम्बेडकरवादी विचारधारा एवं दर्शन को दलित साहित्य एवं आलोचना आधार स्वीकारते हैं। दलित साहित्य कभी भाषा और व्याकरण के अभाव से नहीं जूझा है।

भाषा की दृष्टि से देखें तो आदिवासियों की लुप्त होती जा रही बोली और भाषाएं एक बड़ा संकट और चुनौती है। भाषा संरक्षण के प्रयास इनके लिए प्रकृति संरक्षण के समान ही है। दलित विमर्श भाषा संबंधी ऐसी चिंताओं से मुक्त रहा है। साहित्य की भाषा के संदर्भ में बात करें तो हम पाते हैं कि दलित साहित्य भाषा की अनगढ़ता, कुरूपता, अपरिपक्वता, अश्लीलता जैसे आरोपों से जूझता रहा है, जबकि आदिवासी साहित्य अभी तक इस तरह की बहस और आरोप-प्रत्यारोप से विमुक्त रहा है।

किसी भी साहित्य, विमर्श या आंदोलन के विकास के लिए जरूरी है आत्म-आलोचन। अपनी कमियों को देख कर उन्हें दूर करने से ही विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। दलित विमर्श हमेशा आत्मालोचन की कोशिशों से दूर रहा है। इसी कारण उसमें जड़ता और रूढ़िवादिता की प्रवृति आ गई। "वह 'जाति तोड़ो' की बजाय जटिए उन्नयन व जटिए समीकरण के चक्रव्यूह में फंस गया है। स्त्रियों के प्रति भी वह मनुवादी रुझान को अपनाता जा रहा है।"[8] हालांकि आगे रमणिका जी इनका बचाव करती हुई इसे 'संक्रांति काल की समस्याएं' कहती हैं। इसके बरक्स आदिवासी विमर्श में साहित्यकार-आलोचक अपने माध्यम से अपनों को कोसता है

और पश्चिम की संस्कृति तथा संस्कारों के प्रति तीव्र आक्रोश प्रकट करके विरोध जाहिर करता है। लुभावने वादे, धन-लालसा, विकास की चकाचौंध की आड़ में प्रसारित अंधकार के प्रति आदिवासियों में चेतना का प्रसार करता है। आत्मालोचन का यह प्रयास आदिवासी साहित्य को गति प्रदान करेगा। रमणिका गुप्ता ने लिखा है - "मेघालय के कवि 'पॉल-लिंग-दोह' की 'बिकाऊ' कविता में कवि मन अपनों को ही कोसता है- 'बिकाऊ है हमारा स्वाभिमान/ हमारी मान्यताएं/ हमारी सामूहिक चेतना/ अतिरिक्त बोनस : ये सारी चीजें लुटाने के भाव उपलब्ध हैं/ विशेष संपर्क के लिए टेलीफोन नंबर की जरूरत नहीं/ हमारे एजेंट हर कहीं हैं।"[9]

1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीतियों ने दलित और आदिवासी दोनों को ही प्रभावित किया है। दलित आलोचकों ने इसे दलित हित में बात कर इसका स्वागत किया तो अल्प मात्रा में इसके दुष्प्रभावों से सचेत भी किया। दलितों की भागीदारी विश्वस्तर पर होने के साथ साथ रोजगार और आर्थिक संपन्नता के कोण से इसे दलितों के वरदान माना गया, अंग्रेजी का ज्ञान हो इसलिए प्रतीकात्मक रूप से 'अंग्रेजी माता का मंदिर' भी बनाया गया। लेकिन बाजारवाद और भूमंडलीकरण के कारण एक तरफ सामाजिक और आर्थिक विषमता को बढ़ावा मिला तो दूसरी तरफ प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, अवमूल्यन भी समान रूप से बढ़ा है। इस से आदिवासियों की आदिवासियत संकट में आ गई साथ ही प्रकृति-संरक्षण, प्रकृति-प्रेम जैसे आदिवासी मूल्य खतरे में पड़ गए। जंगल और जमीन से विस्थापन आदिवासियों के अस्तित्व और अस्मिता पर संकट है। इसे बचाए रखने की चुनौती के साथ-साथ अपनी भाषा और संस्कृति के संरक्षण हेतु आदिवासी आज भी संघर्षशील हैं।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि दलित विमर्श अपनी सैद्धांतिकी, आलोचना और रचनात्मकता के परिपक्वता के स्तर पर है, वहीं आदिवासी विमर्श सिद्धांत रचना के बजाय साहित्य सृजना की ओर उन्मुख। यहाँ साहित्य लेखन के सतत प्रयास तो दिखाई देते हैं किन्तु आलोचक और आलोचना की संपन्नता का अभाव दूर करना अभी शेष है।

संदर्भ

1.आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना – रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन – 2014, पृष्ठ – 111
2.वही, पृष्ठ – 111
3.वही, पृष्ठ – 111
4.आदिवासी विमर्श : धर्म, संस्कृति और भाषा का सवाल कहाँ है? – प्रो. वीर भारत तलवार, https://madhubaganiar.com
5.आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना – रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन – 2014, पृष्ठ – 114
6.वही, पृष्ठ – 112
7.वही, पृष्ठ – 112
8.वही, पृष्ठ – 119
9.वही, पृष्ठ – 69

दलित चेतना और सुशीला टाकभौरे की कविता में नारी

-डॉ. ऊषा यादव
मौलाना आजाद नेशनल उर्दू विश्वविद्यालय,
हैदराबाद,तेलंगाना मो.9948560575

चेतना मन की स्थिति ही है-जिसके अंतर्गत बाह्य जगत के प्रति संवेदनशीलता तीव्र अनुभूति का आवेग चयन या निर्माण की शक्ति विद्यमान रहती है। वैसे भी चेतना शब्द अपने आप ही बहू अर्थी है या बोध या चेतन्य के रूप में भी प्रयोग किया जाता है।चेतना शब्द ही जड़ चेतन के मध्य भेद स्पष्ट करता है। चेतना ही मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग करता है। चेतना के द्वारा ही मनुष्य संपूर्ण जगत में सर्वश्रेष्ठ बनकर अन्य सभी जीव जंतु पशु पक्षियों पर अपना अधिकार स्थापित किए हुए हैं। चेतना के अभाव में इस संसार में किसी भी जीव का अस्तित्व नगण्य है। डॉ. विजेंद्र सिंह चेतना शब्द को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि "चेतना मनुष्य के मस्तिष्क में पहुंचने वाली वह अनुभूति है, जो चित्त को प्रबल वृत्ति का अर्थ तुरंत अथवा बाद में लगाती है।"[1]. इसी तरह ज्ञानकोश के अंतर्गत देखे तो यहां चेतना का अर्थ 'विचारना' के रूप में है- चेतना अर्थात् विचारना, होश में आना, बुद्धि विवेक से काम लेना बुद्धि जीवनी शक्ति"[2]. अर्थात् चेतना मनुष्य की वह विशेषता है, जो उसे जीवित रखती है और उसे व्यक्तिगत विषय में तथा अपने वातावरण के विषय में ज्ञान कराती है। चेतना का प्रवाह ही मनुष्य की अंतस चेतना का घोतक है।

एक और यदि चेतना जीवन के भार को वहन करती है, तो दूसरी और वे जीवन के प्रसंग में भी सक्रिय भाग लेती है। चेतना के विषय में हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं मनुष्य के मस्तिष्क में होने वाली क्रियाओं अर्थात् कुछ नाडियों के स्पंदन का परिणाम ही चेतना है। शरीर सिर्फ चेतना के कार्य करने का यंत्र मात्र है। जिसे वे उपयोग में लाती है। वह हमें अनुभव और भावनाओं की पहचान करने की अनुमति देती है। यही चेतना की सही परिभाषा है। इसी तरह यदि हम दलित चेतना के संदर्भ में बात करें तो दलित चेतना का सीधा संबंध मैं कौन हूँ ? से बहुत गहरे तक जुड़ा हुआ है। इसके विपरीत दलित चिंतन का विषय तेजी के साथ आज करवटें बदल रहा है। समाज के विकास के इसके लिए उसे सकारात्मक संकेत के रूप में माना जा सकता है। साहित्य की सजगता संघर्ष मूलक भावों के चित्रण में स्वत: प्रकट हो जाती है। आधुनिक दलित समाज में उभरा यह संघर्ष एक समान जीवन मूल्यों पर केंद्रीय सामाजिक व्यवस्था की मांग करता है। जिसमें शिक्षा, सम्मान और समाज पर समान अधिकार हो। आज के समय में हम यदि सुशीला टाकभौरे की कविताओं का विश्लेषण करते हैं तो सुशीला जी की कविताओं में अपनी अनुभूतियों और वेदना संवेदना की प्रस्तुति ही नहीं बल्कि हमें संकटों से निकलने का संदेश भी बयां करती हैं। अपनी कविताओं में उन्होंने उन मुद्दों को उठाया जिन्हें देश में परिवर्तन की आवश्यकता हमेशा बनी रही। समाज में विविध क्षेत्रों में बिखरे पड़े अलग-अलग दलितों की आवाज को उन्होंने पहचाना और उसे उभारने का प्रयास भी किया। सुशीला जी की कविताओं का मूल्यांकन करना तो संभव नहीं है, पर उनकी कविताओं में वे मर्म है जो समस्त दलित जाति के उद्धारक व प्रेरणादायक बने। बाबा साहब अंबेडकर के सिद्धांतों का पूर्ण आचरण करना दलितवादी कविता की परंपरा

में एक मुख्य प्रवृत्ति को उन्होंने स्थान दिया। इस संदर्भ में डॉ दयानंद बटोही जी ने सुशीला जी की कविताएं के बारे में लिखा है "सुशीला जी की कविताओं को पढ़ने के बाद सामाजिक संदर्भों की परत दर परत दर्द, पीड़ा, टीस, चीत्कार को हम सुन सकते हैं यह हमारी संवेदना है पूरे समाज की है संसार की है।"[3]. इसमें अब दो राय नहीं कि सुशीला टाकभौरे कविता हिंदी साहित्य में दलितवादी कविता के रूप में सशक्त स्थान रखती है। यदि हम अब तक देखें तो सुशीला जी के पांच कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिसमें से उनकी कविताओं में नारी चेतना का विस्तार कुछ इस प्रकार से है नारी को समाज में सुरक्षित स्थान दिलाने और प्रगति के मार्ग पर लाने के लिए उन्होंने अपनी लेखनीं को चला कर के नए-नए सवाल भी खड़े किए हैं। जैसे

नारी चेतना से परिपूर्ण काव्य- नारी समाज की वह धूरी है। बगैर उसके सामाजिक गति चक्र का पहिया घूम ही नहीं सकता। शायद यह नारी का वह सकारात्मक पक्ष है जिसे पुरुषों ने हमेशा अनदेखा कर महज उसे ही एक वस्तु समझा है जैसे सुशीला जी की "यह और वह" नामक कविता बिल्कुल यहां सटीक बैठती है

"शान की हर बात में
यह सिर झुकाती आती है
तभी वह सिर उठाता है
बिखरती जिंदगी की डोरियाँ
यह ना संभाले तो
वह मुश्किल में पड़ जाता है"[4].

इस कविता में सुशीला जी ने स्पष्ट कहा है कि इस पितृसत्तात्मक समाज में नारी की अस्मिता को पैरों तले रौंद कर रख दिया है नारी ने हर कष्टों को हंसते हंसते झेला है। बेशक इस समाज का नियमन और संचालन पुरुषवादी समाज पर है। फिर भी हम इस नारी के महत्व को कम नहीं आंक सकते कहते। नारी ही अंधेरे का दीपक बन इस समाज को रोशनी दिखाती है। परंतु अब उसे जरूरत है अपने मूल्यों तथा पहचान को नए सिरे से गढ़ने की।

अपने अस्तित्व के प्रति चित्कार करती हुई वह अपनी कविता 'वह मर्द की तरह जी सकेगी' में सुशीला जी कहती हैं-

" औरत
अगर अलग कर दें
अपनी कोमलता, कमनीयता
लचक और झंकार मय लय
जैसे मेहंदी की मधुरता नूपुरों की रुनझुन
तो वह तन कर चल सकेगी
खनकनी चूड़ियों की जगह
दे देगी शक्तिशाली हौसला"[5].

कवयित्री सटीक शब्दों में कहती हैं कि जब तक नारी तुम शालीनता के इस आवरण से बाहर नहीं आओगी तब तक अपने अंदर छिपी शक्ति को पहचान नहीं पाओगी। तुम्हारी इस सहनशीलता ने हीं तुम्हारी शक्ति को दबाने का प्रयास किया है। और जब तक तुम अपने अंदर के इन गुणों को पहचान नहीं पाओगी तब तक तुम मंजिल की ओर कदम नहीं बढ़ा पाओगी।

दलित चेतना और संघर्षपूर्ण काव्य- सुशीला जी ने कविताओं में अपनी अनुभूति और वेदना संवेदना की प्रस्तुति ही नहीं की बल्कि शोषण और अन्याय के विरुद्ध विद्रोह और संकटों से निरंतर जूझने का संदेश भी दिया है। समाज में बिखरे विविध क्षेत्रों में दलित वर्गों की भोगी यातना को अपनी आवाज उन्होंने दी है जैसे 'तभी बदल सकोगे' कविता में कहती हैं

"कीचड़ में कमल खिल सकते हैं
दलित पिछड़े समाज में
ज्ञान और सम्मान से पूर्ण
व्यक्तित्व उभर सकते हैं
बदलो बदलो
अपनी परिभाषा, अपना रूप
बन जाओ
स्वच्छ जलाशय सा निर्मल प्रतिरूप
होगा तब पूरा आकाश तुम्हारा"[6].

कवयित्री ने दलित चेतना को जागृत करते हुए कहा है की जिस प्रकार पूरा जलाशय कीचड़ से भरा होने के कारण भी जब उसमें कमल खिल कर सबका ध्यान अपनी तरफ आकर्षित करता है। उसी तरह यदि हम दलित समाज में ज्ञान रूपी दीपक को उज्जवल कर देते हैं,तो संपूर्ण समाज में भी उजियारा फैल जाएगा। जब तक हम संघर्ष नहीं करेंगे शिक्षा को नहीं अपनाएंगे। तब तक हम अपनी परिभाषा अपनी पहचान बना नहीं पाएंगे। यह कविता दलित समाज में चेतना और जीवन में व्याप्त दु:ख, वेदना, पीड़ा, शोषण से मुक्त होकर जीने का संदेश देती है

इसी तरह से 'हम दलित' कविता में सुशीला जी ने अज्ञान के अंधेरे में मौन जिंदगी जीने वाले दलितों को चेताने के प्रयास से कहा है

"हम दलित बरसों से
दया और सहानुभूति के पदों में
लिपटे हुए थे, उन चिथड़ो को हमने उतार फेंका है
आदम रूप होकर, आदम भाषा में
पूछना चाहते हैं सवाल-
मानव सभ्यता संस्कृति का इतिहास क्या है?
भारतीय संस्कृति का आधार क्या है?
क्यों किया अब तक हम पर अत्याचार"?[7].

बिल्कुल सटीक शब्दों में लेखिका कहती हैं जैसे सदियों से गुलामी में जीने वाले दलित समाज के कुछ लोगों को उन्नति तथा परिवर्तन के लिए आगे आने की आदत नहीं हो पा रही थी। गुलामी के अभ्यस्त इन लोगों ने अब दया तथा सहानुभूति रूपी पर्दों को अब खूद से निकाल लिया है। दलितों की दुनिया गुलामी से निकलकर सभ्य समाज में जीना चाहती है। वे मानव सभ्यता का पाठ सीखना चाहते हैं तथा अत्याचार ,शोषण और साधनहीनता के विरुद्ध एक ऐसे समाज की स्थापना

करना चाहते हैं। जहां पर सभी लोग समाज में समान जीवन व्यतीत कर सकें जैसे 'भ्रम जाल' नामक कविता में सुशीला जी कहती हैं-

"जिस धर्म का आधार
अन्याय अत्याचार है
शोषण और आडंबर है
ऐसे धर्म को धिक्कार है"[8].

कवयित्री ने अपनी कविताओं को माध्यम बना कर सदियों से चले आ रहे, शोषण के खिलाफ आवाज उठाने का प्रयत्न किया है। वे अपने समाज में एक चेतना का विस्तार करती हुई लिखती है क्यों हमारी जातियां पीढ़ी दर पीढ़ी सफाई को अपना पेशा बनाए हुए हैं। जो अपने आत्मसम्मान से अनभिज्ञ होकर उन्नति के मार्ग को अपना नहीं पाते। सिर्फ शोषण को सहन करना तथा सहानुभूति और संवेदना को ही अपना अधिकार बनाए बैठे है। धिक्कार हैं हमें जों सिर्फ झाड़ू में ही अपनी जिंदगी को गवां देते है। इन सबसे ऊपर उठकर हमें शिक्षा के माध्यम को अपनाना चाहिए| तभी हम उन्नति के मार्ग पर चल सकेंगे। यही मेरी कविता का मुख्य उद्देश्य भी है। इसी तरह से

आक्रोश तथा विद्रोह से परिपूर्ण काव्य- दलित साहित्य दलितों का प्रतिनिधित्व नहीं करता। बल्कि उनकी पीड़ा और आक्रोश तथा वेदना को महसूस करता है। यदि हम दलित काव्य की बात करते हैं ,तो दलित काव्य विद्रोह और चेतना का काव्य है। मुक्ति की आवाज है। डॉ. सुशीला टाकभौरे जी ने दलित वर्ग को गुलामी से मुक्त होने की प्रेरणा अपने काव्यों में भली-भांति व्यक्त करती हुई दिखाई देती है। जैसे 'विद्रोहिणी' नामक कविता में नारी मन के विचारों को व्यक्त करती हुई वे लिखती हैं-

"प्रचलित परिपाटी से हटकर
मैं भागती हूं, सब और एक साथ
विद्रोहिणी बन चीखती हूं
गूंजती है आवाज सब दिशाओं में"[9].

इस कविता में सुशीला जी ने अपना आक्रोश व्यक्त किया है। दलित समाज में जहां पुरुषों की स्थिति दयनीय बनी हुई है। स्त्रियां तो और भी नारकीय जीवन व्यतीत करती हैं। वे कहती हैं दलित नारियो में क्रांति की आवश्यकता है। उच्च शिक्षित होकर जब मैं अपने समाज में जागरूकता पैदा करने की कायमता ला सकती हूं तो आप सभी भी शिक्षित बनो, अपने स्वत्व को पहचानो अपना दीपक स्वयं बनो अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करो। तभी हम अपने आत्मसम्मान की रक्षा कर पाएंगे। इसी प्रकार से अपमान भरी जिंदगी का विरोध करते हुए वे 'स्वाति बूंद और खारे मोती' नामक कविता में अपने विद्रोह को कुछ इस प्रकार से लिखती हैं-

"जाग उठे जन जन का मानस
अपना अस्तित्व पहचाने
करें उन्नति अब दलित पीड़ित
अपने अधिकारों को जाने"[10].

इस कविता के माध्यम से सुशीला जी कहना चाहती हैं कि अपमानित जीवन को कब तक हम अपनी परंपरा मान बैठें है,पशु की तरह ही जीवन यापन करने वाले हम दलित सदियों से गुलाम बनाए गए हैं। जिन्हें अब साहस ही नहीं हो पा रहा है कि हम भी खुले आसमान में देख पाएंगे। इसी तरह से हिंदूधर्म संस्कृति पर अपमानजनक स्थिति पर आक्रोश उठाती हुई अपनी कविता 'अब तो शर्म करो' वे लिखती हैं

"बनाकर उन्हें अछूत
बताकर उनकी छाह को
भी अपवित्र
गांव शहर से दूर
रहने पर किया मजबूर
उत्तरन और जूठन पर जीने के लिए
बनाते रहे आज तक लाचार
अब तो शर्म करो"[11].

कवयित्री ने समाज में फैली हर उस व्यवस्था पर चोट की है। जो दलित समुदाय की वेदना को नहीं समझते। वह वर्णव्यवस्था को समझाते हुए वे कहती हैं जो दलित आज मूर्ख बनकर इस वेदना को सह रहे हैं। वह भी तब तक पीड़ित बने हुए हैं जब तक उन को सताया जा रहा है। मेरी कविताओं का मूलमंत्र भी यही है कि इन कविताओं के माध्यम से मैं अन्याय, अधर्म के प्रति आक्रोश व्यक्त कर सकूं।

दलित शोषण तथा मुक्ति पाने की भावना से परिपूर्ण काव्य- दलित नारी के शोषण का बहुत बड़ा कारण यह है कि वह अपनी सत्ता या ताकत का आभास देने के लिए सवर्ण जातियों के पुरुषों ने इन स्त्रियों को हथियार बनाते हैं। पूरे वर्ग को दंडित करने के लिए दलित नारियों का दैहिक शोषण तो जैसे आम बात है। इस पर घरेलू हिंसा और पारिवारिक दमन की स्थितियां दलित नारी के लिए अस्मिता व अस्तित्व पर संकट बन जाता है। सुशीला जी की कविताओं में जहां शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई गई है। वहीं मुक्ति पाने के लिए संघर्ष भी किया गया है। सुशीला टाकभौरे जी समतावाद के छदम मुखौटे को पहचानती हैं। इसलिए अपने अधिकारों तथा शोषण से मुक्ति पाने के लिए वे टूक शब्दों में 'दस्तक' नामक कविता में लिखती हैं

"बड़े महान बन कर देते हैं दस्तक
यह अपना पन नहीं धोखा है
हमारे बढ़ते कदमों को
रोक लेते हैं प्रेम से बरगलाकर
फिर बदल देते हैं रंग
गिरगिट की तरह
सहानुभूति दिखाकर
मुंह फेर लेते हैं"[12].

सुशीला जी ने बिल्कुल सटीक लिखा है कि समाज में अधिकतर लोग दिखावे भरी बातों को अपनाते हैं। भाषण बाजी करके वाहवाही बटोरने वाले उपदेशक सिर्फ सहानुभूति ही दिखाते हैं। वह वर्ण जाति के बीच असमानता को मिटाने का दिखावा करने के लिए दलित स्त्रियों से प्रेम तो करते हैं। परंतु शादी का नाम

लेते ही पलट जाते हैं। भारतीय समाज की यह एक विडंबना है कि दलित और स्त्रियों को सदियों से असमानता के दरवाजे में बंद करके रखा गया। अब यह दरवाजा खुला है बाहर की रोशनी अब कुछ अंधेरे को प्रकाशित कर रही है, और यह रोशनी दलित नारी की मानसिक चेतना में क्रांति की दस्तक पैदा कर मुक्ति की भावना की ओर अग्रसर करती है। यदि कोई दलित नारी शोषण के विरुद्ध कुछ कहने का साहस करती है तो उसे दबाया जाता है। नारी का मन सदा भय ग्रस्त रहता है। अपने परिवार की मर्यादा के लिए सदा से ही वे शोषित रहती है।

यहां सुशीला जी ने 'स्त्री' नामक कविता में साफ साफ शब्दों में लिखा है-

"एक स्त्री
जब कोई कोशिश करती है
लिखने की बोलने की, समझने की
सदा भयभीत रहती है
मानो पहरेदारी करता हुआ
कोई! सिर पर सवार हो
पहरेदार"[13].

कवयित्री ने व्यंग्य करते हुए कहा है कि एक स्त्री को काफी सोच समझकर कदम उठाने पड़ते हैं। उसके बोलने के लिए लिखने के लिए और अपने हर निर्णय के लिए सोचना ही पड़ता है। उसका अंतर्मन स्वयं की पहचान के लिए मुक्ति के लिए छटपटा रहा है। वह अपनी स्थिति को बदलना चाहती है तभी वह मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकती है। जैसे समतावादी समाज के बात करते हुए-

अंबेडकरवादी विचारधाराओं से परिपूर्ण काव्य- दलित कवि डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर के विचारों को मानता है। उनसे प्रेरणा पाता है। अज्ञान हमारा सबसे बड़ा दुश्मन है। अतः अज्ञान को भगाकर ज्ञान को अपनाना चाहिए| दलित कवि इन्हीं विचारों की हिदायत करता हैं। शिक्षा ज्ञानी बनने और अज्ञान को भगाने का बड़ा महत्वपूर्ण साधन है। अतः दलित रचनाकार सुशीला टाकभौरे की कविता में बिल्कुल स्पष्ट रूप से कहा गया है भक्ति से बड़ा ज्ञान है। अंधी भक्ति से बड़ी जागृति नहीं चाहिए| हमें विद्यालयों के दरवाजे खटखटाना सही है। शिक्षा पाने का संदेश दलित कविता में बार-बार लक्षित होता है जो अंबेडकर के विचारों के प्रभाव स्वरूप है दलित कवि की दृष्टि से बाबा साहब अंबेडकर दलितों के मसीहा हैं। 'पढ़ो जोड़ो और लड़ो जैसे विचारों के संस्थापक डॉ बाबा साहब अंबेडकर जी दलित साहित्यकारों के प्रेरक बने। यह स्थिति तब तक रहेगी जब तक हमारे समाज में जाति भेद रहेगा। तब तक हम अम्बेडकर के विचारों को नहीं समझ पायेगें जैसे सुशीला जी की कविता 'जय भीम' की कुछ पंक्तिया-

"भीम तेरे काम ने
हमको दिया नाम है
बच्चा बच्चा आज करता
तेरा ही गुणगान है
तन मन का सुख छोड़कर"[14].

निष्कर्ष अंत: हम कह सकते है की सुशीला टाकभौरे की कविताओं में जागृति अंबेडकरवादी विचारधारा यातना और चेतना के स्वर हैं। जो शोषकों को धिक्कारती है। सामाजिक दायित्व को निभाती इनकी कविता दलितों की बहूआयामी जीवन को चित्रित करती है। टाकभौरे जी ने अपनी कविताओं में दलित जीवन की दशा का चित्रण कर, उन्हें दिशा देने का प्रयास किया है। वह गौतम बुद्ध महात्मा फूले अंबेडकर के सपनों का समाज निर्माण करना चाहती है। शोषण और वर्ण व्यवस्था के प्रति विद्रोह उनकी कविताओं में प्रकट होती है। उनकी कविता संग्रहों की कविताओं को पढ़ने के बाद सामाजिक सन्दर्भों की परत दर परत दर्द ,पीड़ा, टीस चीत्कार को हम सुन सकते हैं। और उनकी कविताओं में मानवीयता को स्थापित करना ही उनका मूल स्वर है।

संदर्भ :

1. 'नई सह्साब्दी का दलित आन्दोलन मिथक एवं यथार्थ' स. डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव पृष्ठ 3.
2. 'ज्ञान शब्द कोश' स. मुकुन्दी लाल श्री वास्तव पृष्ठ 253.
3. 'दलित लेखन में की चेतना दस्तक' सकलंन-स.शिवरानी प्रभात पुहाल पृ. 275.
4. 'यह और वह' कविता(तुमने उसे कब पहचाना- संग्रह) सुशीला टाकभोरे पृष्ठ,71
5. 'वह मर्द की तरह जी सकेगी' कविता ('स्वाति बूंद और खारे मोती' संग्रह) सुशीला टाकभोरे पृष्ठ 83
6. 'तभी बदल सकोगे' कविता (वहीं) पृष्ठ 140
7. 'हम दलित' कविता(वहीं) पृष्ठ158
8. 'भ्रमजाल' कविता(वहीं) पृष्ठ 35
9. 'विद्रोहिणी' कविता (वहीं) पृष्ठ 47
10. 'स्वाति बूंद और खारे मोती'(वहीं) पृष्ठ11
11. 'अब तो शर्म करो' कविता हमारे हिस्से का सूरज संग्रह पृष्ठ 36
12. 'दस्तक' कविता स्वाति बूंद खारे मोती संग्रह पृष्ठ 35
13. 'स्त्री' कविता यह तुम ही जानो संग्रह पृष्ट 22-23
14. 'जय भीम' कविता ('हमारे हिस्से का सूरज' संग्रह) पृष्ठ 203

भारत विभाजन की त्रासदी एवं दलित विमर्श

-सुकांत सुमन
जेटीओ आयजीसीएआर,कल्पक्कम,
मद्रास,मो.9015243700

भारत विभाजन, भारतीय उप–महाद्वीप की एक भयानक त्रासदी थी जिसने सभी धर्म, जाति, वर्ग आदि के लोगों को कई स्तरों पर प्रभावित किया है। इस भीषण घटना के इतने आयाम हैं कि इतने साल बीत जाने के बाद भी इनके प्रभावों का समूचित अध्ययन नहीं हो पाया है। यूँ तो विभाजन संबंधी अध्ययन में मुख्यतः सांप्रदायिक हिंसा, विस्थापन, यौन हिंसा की घटनाएँ हैं, परंतु इन सबके बीच और भी चीजें हैं जिन पर इतिहास में पर्याप्त चर्चा नहीं हुई है या यूँ भी कह सकते हैं कि उसे काफी समय तक अनदेखा किया जाता रहा है। इतिहास में भारत विभाजन को अक्सर 'हिंदू–मुस्लिम' अथवा 'मुस्लिम– सिख' संघर्ष के रूप में देखा गया है। इस घटना पर जो भी अध्ययन हुए हैं उनमें यह दिखाया गया है कि कैसे विभाजन से जुड़ी राजनीति और उस दौरान हुई हिंसा और पलायन की घटनाओं ने भारत और पाकिस्तान में रह रहे हिंदूओं, मुस्लिमों और सिखों के जन–जीवन को प्रभावित किया है। परंतु इस तरह के अध्ययनों ने उन धार्मिक और राजनीतिक समूहों के अनुभवों को जाने–अनजाने नजरअंदाज भी किया है जो 'हिंदू–मुस्लिम बाइनरी' में अच्छी तरह से फिट नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम भारत विभाजन को 'हिंदू–मुस्लिम संघर्ष' के रूप में पढ़ते हैं तो हम 'हिंदू' का अर्थ पूरे हिंदू समाज से लेते हैं जो वास्तव में कई जातियों–उपजातियों में बँटी हुई है। इतिहास और बहुत हद तक साहित्य में भी, जब इन संघर्षों और उनके अनुभवों को पढ़ते हैं, तो यही मानते हैं कि ये अनुभव पूरे हिंदू समाज के हैं और इस भयानक त्रासदी को 'हिंदू समाज' ने झेला है। परंतु बाद के कई इतिहासकारों और विभाजन को प्रत्यक्ष रूप से देखने और झेलने वाले लोगों के साक्षात्कारों में भी यह देखा गया कि ये अनुभव और पीड़ाएँ दरअसल सवर्ण हिंदू समाज के ज्यादा हैं, वहीं इस तरह की सांप्रदायिक हिंसा में भी सवर्ण हिंदू समाज की ही भागीदारी ज्यादा रही है। चूँकि हमारे देश की सामाजिक व्यवस्था ऐसी है जिसमें हमेशा से सवर्ण जातियों का दबदबा रहा है अतः उनके संघर्षों और अनुभवों को ही पूरे हिंदू समाज का प्रतिनिधित्व मिलता रहा है।

हिंदू धर्म के अंतर्गत रहकर भी दलित समाज पर विभाजन का अलग प्रभाव कैसे पड़ा था, इसका अध्ययन किया जाना बेहद जरूरी है। उदाहरण के लिए उर्वशी बुटालिया द्वारा लिए गए एक साक्षात्कार में जब एक दलित लड़की से विभाजन के दौरान का अनुभव पूछा गया तो उनके जवाब वास्तव में चौंकाने वाले थे– "किसी ने तुम्हें नुकसान पहुँचाने की कोशिश नहीं की, हमने पूछा। लेकिन वह बोली– "हमारे माँ–बाप बड़े चिंतित थे, वे हमें रोकने की कोशिश करते रहे, कहते रहे कि हम मारी जाएँगी, लोग हमें मुसलमान बनाने के लिए उठा ले जाएंगे। लेकिन हमने सोचा, हमें कौन ले जाने आ रहा है, कौन हमें मारने जा रहा है? हम खुद को हरिजन कहते हैं। हिंदू, ईसाई कोई हमें नहीं ले जा सकता।" इसी प्रकार हिंद–पाक विभाजन के दौरान एक अन्य दलित महिला माया की कहानी भी इस बात को रेखांकित करती है कि उस समय दलित अपनी अस्मिता को 'हिंदू' पहचान से अलग करके देख रहे थे– "सरहदें जब कुछ दिनों के लिए खोली गई थी, तो अपनी मुस्लिम सहेली की चिंता में माया की माँ उसे खोजने पाकिस्तान गई थी। वहाँ पहुँच कर वह अपनी सभी मुस्लिम मित्रों से मिली जो माया के अनुसार, उसे देखकर काफी खुश थीं। वे क्यों न खुश होतीं, "लड़ाई तो हिंदुओं और मुस्लिमों के बीच थी, हम मुस्लिमों से नहीं लड़े थे। उसका हमसे कोई लेना–देना नहीं था।.... वहाँ हमें कोई खतरा नहीं था, क्योंकि हम हरिजन हैं। पाकिस्तान बना था या हिंदुस्तान बना था, इससे हमें कोई फर्क नहीं पड़ा।" इस प्रकार की घटनाएं यह केवल व्यक्तिगत स्तर के अनुभव भर नहीं थे। मार्च 1947 में रावलपिंडी दंगों के कुछ ही दिन बाद ऑल इंडिया शेड्युल्ड कास्ट फेडरेशन के उस समय के महासचिव पी.ए. राजभोज ने उस इलाके का दौरा किया तो उन्होंने कहा– "हर जगह मुझे अपने दौरे में यह जानकर खुशी हुई कि अनुसूचित जाति के लोगों पर दंगों का कोई असर नहीं हुआ। अगर किसी जगह किसी व्यक्ति को कोई नुकसान हुआ तो इसलिए कि उसे भूल से हिन्दू वर्ण समझ लिया गया था। अन्यथा जब भी किसी ने दंगाईयों को बताया कि वह न तो हिंदू है न मुसलमान तो उसे बिना छुए छोड़ दिया गया।"

वास्तव में दलितों की आवाज और उनकी समस्याएं जो विभाजन के दौरान कई मायनों में सवर्ण जातियों से अलग थीं उन पर अलग से ध्यान नहीं दिया गया। आजादी और विभाजन से पूर्व ही भारतीय राजनीति और सामाजिक व्यवस्था में दलितों को अपनी पहचान और हक के लिए जो संघर्ष करना पड़ा वही संघर्ष उन्हें ऐतिहासिक दस्तावेजों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए भी करना पड़ा है। भारत विभाजन की घटना में जाति की अनुपस्थिति को ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, रविंदर कौर, रामनारायण रावत और शेखर बंदोपाध्याय ने अपने इतिहास–लेखन में रेखांकित किया है। इन इतिहासकारों ने अपने अध्ययन में यह दिखाया है कि कैसे विभाजन के पूरे नैरेशन में जाति का मुद्दा गायब है, इसमें ऊँची जाति के लोगों के

विचारों को तो दिखाया गया है, परंतु दलितों द्वारा महसूस किए गए विस्थापन के अनुभवों को उसमें जगह नहीं मिली है। उर्वशी बुटालिया विभाजन संबंधी इतिहास लेखन में दलितों के अनुभवों को पर्याप्त स्थान नहीं दिए जाने पर लिखती हैं– "बँटवारे की हिंसा में हरिजन, कुछ हद तक अदृश्य रह गए थे। बँटवारे के इतिहास में मुसलमानों, हिंदुओं और सिखों की अत्यधिक उपस्थिति ने यह सुनिश्चित करने का काम किया था कि बँटवारे को देखने वाले लोग किसी अन्य 'पहचान' को न देखें।" इसी क्रम में इतिहासकार शेखर बंद्योपाध्याय लिखते हैं– "सत्ता के हस्तांतरण का मुख्य जोर जाति की राजनीति को अप्रासंगिक करके उसे सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में धकेलने की एक प्रक्रिया में थी। उनके विचार में, इस प्रक्रिया ने दलितों और बाकि अल्पसंख्यकों को बहुत प्रभावित किया जो राजनीतिक रूप से उनके धर्म द्वारा परिभाषित नहीं थे।"

भारत विभाजन विशुद्ध रूप से एक राजनैतिक घटना थी जिसका सामाजिक प्रभाव भी काफी गहरा रहा है। इस संदर्भ में अगर हम विभाजन–पूर्व दलितों की राजनैतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि पर नजर डालें तो विभाजन की घटना में जाति की अनुपस्थिति के संदर्भ को समझा जा सकता है। सन् 1931 में लंदन में दूसरा गोलमेज सम्मेलन आयोजित हुआ जिसमें 'कम्युनल अवार्ड' की घोषणा की गई। इसके तहत बाबासाहेब द्वारा उठाई गयी राजनीतिक प्रतिनिधित्व की माँग को मानते हुए दलित वर्ग को दो वोटों का अधिकार दिया गया। परंतु गांधी जी इस तरह की व्यवस्था को हिंदू समाज की एकता के लिए खतरा मानकर इसके विरोध में आमरन अनशन पर बैठ गए। अंततः 24 सितम्बर 1932 को पूणे में गाँधी जी और डॉ० आम्बेडकर के बीच समझौता हुआ, जिसे आज 'पूना पैक्ट' के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार, डॉ० आम्बेडकर को कम्युनल अवॉर्ड में मिले पृथक निर्वाचन के अधिकार को छोड़ना पड़ा तथा संयुक्त निर्वाचन पद्धति को स्वीकार करना पड़ा। इस तरह एक ओर जहाँ जिन्ना और मुस्लिम लीग के अन्य नेता हिंदूओं की तुलना में भिन्न सभ्यता, संस्कृति और इतिहास का हवाला देकर मुसलमानों के लिए एक अलग राष्ट्र की मांग कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर डॉ. अंबेडकर और दलित समाज को पूना पैक्ट के रूप में हिंदू समाज में रहने की एक बड़ी 'कीमत' चुकानी पड़ रही थी। यहां एक और बात उल्लेखनीय है कि पूना पैक्ट का असर सिर्फ दलित समाज तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसके कारण मुस्लिम लीग द्वारा नए राष्ट्र की मांग को भी बल मिला। प्रो. मो. अयूब इस बात को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि कम्यूनल अवार्ड पर गांधी जी की प्रतिक्रिया से मुस्लिम नेतृत्व में यह संदेश गया कि हिंदू–मुस्लिम एकता को मजबूत करने अथवा अंबेडकर की मांग को स्वीकार कर दलितों के साथ न्याय करने के बजाय महात्मा गांधी और कांग्रेस अखंड हिंदू राष्ट्र के निर्माण के ज्यादा इच्छुक हैं। इसने उनके बीच असुरक्षा की भावना और भी ज्यादा गहरी हो गई और अंततः ब्रिटिश भारत का विभाजन हुआ और एक मुस्लिम–बहुल राष्ट्र की स्थापना हुई।

यह भी एक विचित्र विडंबना थी कि हिंदू समाज के अंतर्गत आने वाले दलित समुदाय बंगाल में सामाजिक, आर्थिक स्तर पर मुस्लिम समुदाय को अपने ज्यादा करीब पा रहे थे। यही कारण था कि वे शुरुआत में कांग्रेस के बजाय मुस्लिम लीग के साथ राजनैतिक गठबंधन के ज्यादा इच्छुक थे। क्योंकि जैसे–जैसे बँटवारे का समय पास आता जा रहा था, कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ही दल दलितों को अपने पक्ष में लाने का प्रयास करने लग गए थे। वे जानते थे कि उनके आने से अपनी खुद की संख्या बढ़ाई जा सकती है। इसी क्रम में "6 मार्च 1947 को अंतरिम सरकार में लॉ मेंबर जे.एन. मंडल ने यू.पी. शेड्युल्ड कास्ट फेडरेशन कान्फ्रेंस में कहा था कि उन्हें गांधी में बिल्कुल भरोसा नहीं है, क्योंकि गांधी केवल इतना ही चाहते हैं कि अनुसूचित जातियों के लिए मंदिर खोल दिए जाएं। मैंने लीग से हाथ मिला लिए हैं, क्योंकि अनुसूचित जातियां और मुस्लिम लीग दोनो ही गरीब और पिछड़े हुए हैं। वे कम से कम बंगाल में ज्यादातर मजदूर और खेतिहर किसान ही हैं, और उन्हें काफी राहत की जरूरत है। इसलिए ऐसा कोई कानून नहीं बनाया जाएगा, जिससे मुसलमानों को तो लाभ हो और अनुसूचित जातियों को कोई फायदा न हो। इससे पूर्व 1945 में नामसुद्र नेता जोगेंद्र नाथ मंडल ने डॉ. बी.आर. अंबेडकर की बंगाल प्रांतीय शाखा की शुरुआत की थी– अम्बेडकर अनुसूचित जाति महासंघ। उनका भी मानना था कि पूर्वी बंगाल में दलित और मुस्लिम किसानों के समान हित हैं, इसलिए, दलित–मुस्लिम राजनीतिक गठबंधन दलितों के हित में है। इन्हीं परिस्थितियों के बीच नवंबर 1946 में अखिल भारतीय अछूतिस्तान आंदोलन की भी शुरुआत हो गई थी। इसके संस्थापक, ब्याहलाल ने उसी महीने एक बयान जारी किया– "यह कहना न्यायोचित है कि भारत अछूत जनता का स्थान था और यह उन्हें जरूर दे दिया जाना चाहिए। अछूतिस्तान नाम अछूत शब्द से निकला है, जिसका भारत में शाब्दिक अर्थ है– अपवित्र नहीं। लेकिन यह हिंदुस्तान, पाकिस्तान और इंग्लिस्तान के मिश्रण से अपवित्र बना दिया गया था। यह जिन्ना की मूर्खता है जो वह केवल पाकिस्तान की मांग करता है और अछूतिस्तान को याद नहीं रखता है। अछूतिस्तान की समस्या हिंदुस्तान पाकिस्तान और इंग्लिस्तान की समस्याओं से पहले है। बाद के तीनों तानों ने, अपनी ताकत मजबूत करके और बंदूकों तथा लड़ाई के हथियारों का इस्तेमाल करके, पहले वाले तान के लोगों को कुचलने की एक से एक कोशिशें की हैं...।"

डॉ. अंबेडकर भी भारत विभाजन के वर्तमान मॉडल से सहमत नहीं थे। उनका मानना था कि केवल हिंदुओं, मुसलमानों और सिखों को राजनीतिक मान्यता देने से विभाजन एक राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय समस्या होने के बजाय एक क्षेत्रीय मुद्दा भर रह जाएगा। डॉ. अंबेडकर को डर था कि औपनिवेशिक संरक्षण और मुसलमानों के राजनीतिक समर्थन के बिना, दलित हमेशा एक पीड़ित समुदाय ही बने रह जाएंगे क्योंकि उन्हें हमेशा के लिए एक शहिंदू राजश में रहना होगा। इसलिए बॉम्बे क्रॉनिकल को दिए एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा कि ष्अंग्रेजों को भारत छोड़ देने के बाद कांग्रेस दलितों के साथ कैसा व्यवहार करेगी इसका 'ब्लू प्रिंट' उन्हें देना होगा।

भारत–विभाजन के दौरान पंजाब के साथ–साथ बंगाल की सीमा का भी विभाजन हुआ था। बंगाल में विभाजन एक जटिल राजनैतिक घटना थी। बंगाल में दलित खेतिहर किसान विभाजन की घटना से सीधे तौर पर जुड़े हुए थे और उससे गहरे स्तर पर प्रभावित थे। 1950 की शुरुआत में पूर्वी बंगाल से पश्चिम बंगाल की ओर उनके निर्वासन का जो सिलसिला शुरु हुआ जो आज तक जारी है। आजादी के पश्चात बंगाल में बड़े स्तर पर शरणार्थी के रूप में दलित किसानों की उपस्थिति ने बंगाल की राजनैतिक संरचना को काफी बदल दिया। हालांकि मंडल और फेडरेशन जैसे नेताओं ने उस वक्त पलायन कर रहे दलित–हिंदूओं को रुकने की सलाह दी, क्योंकि उन्हें जिन्ना द्वारा आश्वासन दिया गया था कि उन्हें पाकिस्तान में एक उचित स्थान मिलेगा, जहां श्हर आदमी समान होगाश। लेकिन जैसे–जैसे स्थिति बदलती गई, वहां रह रहे नामसुद्र समुदाय (जो दलित हिंदू की श्रेणी में आते थे), को जल्द ही यह एहसास हो गया कि पाकिस्तान में इस्लामी राष्ट्रवाद की बढ़ती ताकत उन्हें सिर्फ एक 'हिंदू–अल्पसंख्यक' के रूप में देखती है। हालांकि डॉ. अंबेडकर की नजर में विभाजन के दौरान पाकिस्तान में रह रहे दलित–हिंदूओं को रोकने के पीछे का कारण पाकिस्तानी राजनेताओं की प्राथमिकता में अल्पसंख्यकों को सुरक्षा देना नहीं था बल्कि इससे उनसे अपने सामाजिक हित जुड़े हुए थे। 1952 में पंजाब के एक चुनावी दौरे में अम्बेडकर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था– "बँटवारे के तुरंत बाद, पाकिस्तान सरकार ने अनुसूचित जातियों को पाकिस्तान छोड़कर भारत चले जाने से रोकने के लिए आदेश जारी कर दिए थे। पाकिस्तान को हिंदुओं के जाने की इतनी चिंता नहीं थी, लेकिन अगर अछुत पाकिस्तान छोड़कर चले गए तो झाडूवालों, मेहतरों, भंगियों और तिरस्कृत जातियों द्वारा किए जाने वाले गंदे काम कौन करेगा? मैंने पंडित नेहरू से तुरंत एक्शन लेने और उनके पलायन पर लगी रोक को हटवाने की कोशिश का अनुरोध किया था। लेकिन उन्होंने कुछ भी नहीं किया। कांग्रेसी हरिजनों में से भी किसी ने पाकिस्तान में अपनी बिरादरीवालों के इस उत्पीड़न पर ऊँगली नहीं उठाई।"

विभाजन के दौरान जिस प्रकार पंजाब क्षेत्र में एक बड़ी आबादी का भीषण स्तर पर सामूहिक पलायन हुआ उस तरह से बंगाल क्षेत्र में नहीं हुआ। वहाँ शरणार्थियों का विस्थापन कई चरणों में हुआ। शरणार्थियों की पहली खेप में मुख्य रूप से धनाढ्य वर्ग के लोग शामिल थे, उसमें भी ज्यादातर उच्च जाति के हिंदू भद्रजन और नौकरी–पेशे वाले शिक्षित मध्यम वर्ग के लोग शामिल थे। साथ ही कई मध्यम वर्गीय नामसुद्र भी शामिल थे, जो अपनी संपत्तियों को बेचने या स्थानीय लोगों के साथ संपत्ती की अदला–बदली करने में सक्षम थे। इस स्तर पर बहुत कम नामसुद्र किसान थे जिन्होंने बंगाल में पलायन किया। वे पलायन के लिए किसी तरह से तैयार भी नहीं थे, क्योंकि निर्वासन के लिए जिन आवश्यक संसाधनों की जरूरत होती है, वे उनके पास नहीं थे। एक रिपोर्ट के अनुसार, फरवरी 1949 तक 1,870,535 हिंदू शरणार्थी पूर्व से पश्चिम बंगाल की ओर पलायन कर चुके थे। लेकिन उस वक्त तक अनुसूचित जाति के किसानों ने वहां से पलायन नहीं किया, बावजूद कि वे भी वहां काफी असुरक्षित महसूस कर रहे थे। परंतु सन् 1950 के जनवरी–फरवरी तक स्थिति काफी बदल गई और बड़ी संख्या में नामसुद्र किसानों ने अंततः पाकिस्तान छोड़ने का फैसला कर लिया। एक रिपोर्ट के अनुसार, सन् 1950 के शुरुआती महीनों में हर रोज लगभग 10,000 लोग शरणार्थी बन गांव के रास्ते आ रहे थे और गायघाट, बदुरिया, हावड़ा और अन्य स्थानों में बसते जा रहे थे। 1951 की शुरुआत में, खुलना में हुए दंगे के बाद, लगभग 1.5 मिलियन शरणार्थी पश्चिम बंगाल में आए थे जिनमें से अधिकांश अनुसूचित जाति के किसान थे। आधिकारिक आंकड़ों के अनुसार, लगभग 2.1 मिलियन शरणार्थी 1950 और 1956 के बीच पश्चिम बंगाल में आए थे। इसके बाद कुछ वर्षों के लिए शरणार्थियों का पलायन रूका रहा परंतु 1964 में हजरतबल दंगे के बाद, तकरीबन 419,000 लोग पूर्वी पाकिस्तान से पश्चिम बंगाल जाने को मजबूर हो गए।

पूर्वी बंगाल में दलित–मुस्लिम संबंधों के टूटने के पीछे एक बड़ा कारण संभवतः अपर्याप्त संसाधनों के लिए उनके बीच हो रही प्रतिस्पर्धा भी थी। और इसके समानांतर, ऐसी अफवाहें चल रही थीं कि अगर वे एक बार सीमा पार करने में कामयाब हो जाते हैं तो भारत सरकार उन्हें एक आकर्षक पुनर्वास पैकेज देने की तैयारी में है। लेकिन उन्होंने अपनी जमीन और घर छोड़ने का फैसला इस आर्थिक प्रलोभन के कारण नहीं किया था, बल्कि उस समय तक उनके भीतर असुरक्षा की एक व्यापक भावना फैल गई थी कि अब वे वहाँ सुरक्षित नहीं हैं। हालांकि दलितों की समस्या यहीं पर खत्म नहीं हुई। शरणार्थी के रूप में जब वे भारत आए तो उनके सामने अपनी जीविका का संकट और भी बढ़ गया। क्योंकि पाकिस्तान से आने वाले दलित मुख्यतः भूमि–मजदूर थे। बनाए गए प्रशासनिक नियमों के अनुसार भूमि का मुआवजा मुख्यतः उन्हीं लोगों के लिए उपलब्ध था जो खेतिहरों के रूप में परिभाषित हो सकते थे अर्थात् जिनके पास अपनी जमीन थी। और दलित जमीन के मालिक नहीं थे, बल्कि वे जमीन को जोतने वाले थे, इसलिए मुआवजे की जमीन पाने के लिए कोई वैध दावा नहीं कर सके। इस संबंध में हरिजन विभाग की प्रमुख रामेश्वरी ने नेहरू को 3 मई 1948 को एक पत्र लिखा जिमसें इस कमी को दूर करने के संभावित उपायों की चर्चा की गई–"करीब 2,50,000 हरिजन, यानि हरिजन शरणार्थियों के 50,000 परिवार पश्चिम पंजाब से पलायन करके यहाँ आये हैं और अब पूर्वी पंजाब के कैम्पों में सड़ रहे हैं। वे इन कैम्पों में तंगहाली और बेकारी का जीवन जी रहे हैं और अपने आहार के लिए सरकार द्वारा की जानेवाली मुफ्त लेकिन अपर्याप्त राशन सप्लाई पर निर्भर हैं। ये हरिजन तमाम जिंदगी खेतिहर यानि जमीन जोतने वाले रहे हैं। उन्हें उनकी सारी जिंदगी के पेशे से हटाकर दूसरे कामों में लगाना अनुचित होगा। इसलिए उन्हें भूमि पर ही बसाना होगा। ये शरणार्थी मांग करते हैं कि आजाद भारत में उन्हें अब दास न समझा जाए।" इस प्रकार भेद–भाव केवल पाकिस्तान के हाथों ही नहीं हुआ था, बल्कि भारतीय शरणार्थी कैंपों में भी अनुसूचित जातियों को आश्रय पाने की आज्ञा नहीं मिल रही थी। डॉ. अम्बेडकर की तब नेहरू से यह शिकायत थी कि अब तक

भारत सरकार की सारी चिंता और सावधानी मुसलमानों की समस्या पर रही है। अनुसूचित जाति की समस्या या तो अस्तित्व में ही नहीं मानी गई या इतनी छोटी और मामूली समझी गई जिस पर विशेष ध्यान देना जरूरी नहीं था।

भारत विभाजन ने बंगाल में दलितों की राजनीतिक शक्ति को भी प्रभावित किया था। विभाजन से पूर्व बंगाल में, नामसुद्र और राजबंसी समुदाय भौगोलिक रूप से काफी नजदीक थे जिसका फायदा उन्हें सामाजिक आंदोलनों में महत्वपूर्ण स्थानीय ताकत के रूप में मिलता था। परंतु विभाजन के फलस्वरूप अपने स्थान से निर्वासित किए जाने के पश्चात लगातार विस्थापन ने नामसुद्र आंदोलन को काफी कमजोर कर दिया। राजबंसी समुदाय मुख्य रूप से उत्तरी बंगाल के जिले जैसे रंगपुर, दिनाजपुर, जलपाईगुड़ी और कूच बिहार की रियासत में रहते थे। वहीं पूर्वी बंगाल के नामसुद्र समुदाय मुख्य रूप से बाकरगंज, फरीदपुर, जेसोर और खुलना जिलों में रहते थे, साथ ही पूर्वी और मध्य बंगाल के अन्य जिलों में भी जहाँ–तहाँ बसे हुए थे। बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में बंगाल में दलित राजनीतिक आंदोलन की शुरुआत हुई तो इसका आधार यही दो मुख्य समुदाय अर्थात् नामसुद्र और राजबंसी थे तथा इन आंदोलनों में अधिकांश नेता भी इन्हीं दो समुदायों से निकल कर आए। शेखर बंदोपाध्याय लिखते हैं–ष्इन सफल सामाजिक आंदोलनों के पीछे एक प्रमुख कारक इन दोनों समुदायों का भौगोलिक स्तर पर आपसी जुड़ाव था, और विभाजन के परिणामस्वरूप दोनों ने इस स्थानीय ताकत के लाभ को गंवा दिया। हालांकि, विभाजन से पहले अर्थात् ब्रिटिश राज के अंतिम दिनों में भी उनके आंदोलनों ने एकरूपता खो दी थी और कई जटिल ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप वे अलग–अलग दिशाओं में जाने लगे थे। वे सभी जिले जिसमें नामसुद्र रहते थे, वे पूर्वी पाकिस्तान में चले गए। राजबंसियों की स्थिति तो और भी जटिल थी, क्योंकि उनका जातीय क्षेत्र नई अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक सीमा से विभाजित हो गया था।

भारत आए नामसुद्र शरणार्थियों को उन हिंदू समूहों के साथ भी संघर्ष करना पड़ा जो स्थानीय होने के कारण काफी मजबूत स्थिति में थे। नामसुद्र शरणार्थियों और वहां बसे स्थानीय ग्वालाओं के बीच संघर्ष की कई घटनाएं देखी गईं। वे नहीं चाहते थे कि शरणार्थियों के आने से स्थानीय स्तर पर, शक्ति का संतुलन किसी भी प्रकार से बिगड़े। और फिर, जब उच्च जाति के हिंदू शरणार्थी, जो मुस्लिमों के साथ अपनी संपत्तियों की अदला–बदली कर इन जमीनों पर कब्जा करने के लिए आए, उन्हें नामसुद्र किसानों के हिंसक प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, जिन्होंने पहले से ही उन जमीनों पर अवैध रूप से कब्जा कर उन पर खेती का काम शुरू कर दिया था। दूसरे शब्दों में कहें तो नाडिया के सीमावर्ती इलाकों में होने वाले इस हिंसक झगड़े को आसानी से इतिहास में हिंदू–मुस्लिम सांप्रदायिक बाइनरी में नहीं रखा जा सकता है। जाति इसमें एक बहुत बड़ी भूमिका निभा रही थी। जैसा कि हमने पहले भी उल्लेख किया है कि पुनर्वास के मामले में दलित शरणार्थियों का एक अलग ही अनुभव था। जब मुख्य रूप से उच्च जाति के हिंदू भद्रलोक शरणार्थियों का पहला समूह पश्चिम बंगाल आया, तो उनके पास अपने स्वयं के संसाधन और अपने परिजनों का सहारा था। उनमें से कई परिवार कलकत्ता और उसके आसपास बने अनधिकृत कॉलोनियों में बस गए, और शुरुआती झिझक के बाद सरकार ने भी उन्हें वैधता दे दी। लेकिन जब 1950 के बाद सियालदह स्टेशन पर हजारों की तादाद में दलित किसान शरणार्थी ट्रेन से पहुँचे, तो उन्हें पहले 24–परगना, नाडिया, बर्दवान, मिदनापुर या कूचबिहार जैसे विभिन्न जिलों में शरणार्थी शिविरों में भेजा गया। हालांकि आधिकारियों ने कभी इस बात की पुष्टि नहीं की परंतु शरणार्थी शिविरों में जगह आवंटित करने में, जाति और पहचान की एक बड़ी भूमिका रही। सियालदह स्टेशन पर उनकी 'पहचान' कर उन्हें एक पंजीकरण कार्ड दिया गया और फिर ट्रेन से उन्हें शरणार्थी शिविरों में भेजा गया। उन शरणार्थियों का वास्तविक व्यवसाय या योग्यता चाहे जो भी रहा हो, परंतु हमेशा के लिए पंजीकरण डेस्क पर उनकी पहचान नामसुद्र किसान के रूप में उनके कार्ड पर अंकित कर दिया गया था।

दलित शरणार्थियों के लिए सरकार द्वारा शुरू की गई दंडकारण्य योजना के खिलाफ बड़े पैमाने पर विरोध प्रदर्शन हुए, साथ ही मुआवजे को समाप्त करने तथा शरणार्थी शिविरों को बंद करने का भी विरोध किया गया। इस आंदोलन के परिणामस्वरूप 30,000 शरणार्थियों की गिरफ्तारी हुई। उनमें से अधिकांशतः शिविरों में रहने वाले शरणार्थी थे और उनमें से लगभग 70 प्रतिशत लोग नामसुद्र जाति के थे। जाति की भूमिका एक बार फिर यहां देखी जा सकती है, क्योंकि कलकत्ता के अवैध कॉलोनियों में रहने वाले सवर्ण हिंदू शरणार्थियों ने उनका साथ देने से मना कर दिया। पूर्वी पाकिस्तान में हिंदू अल्पसंख्यकों के साथ हो रहे लगातार दमन के खिलाफ अपना विरोध प्रदर्शित करते हुए 8 अक्टूबर सन् 1950 ई. को, जोगेंद्र नाथ मंडल ने पाकिस्तानी केंद्रीय कैबिनेट में अपने मंत्री पद से इस्तीफा दे दिया और उसके बाद वे पश्चिम बंगाल चले आए थे। यहां उन्होंने दलित शरणार्थी के खिलाफ होने वाले भेद–भाव को मुखरता से उठाया। उन्होंने अपने भाषण में पश्चिम बंगाल के शरणार्थियों के पुनर्वास में जाति के प्रश्न को उठाया। इस पर एक पुलिस रिपोर्ट में लिखा गया कि श्री जोगनाथ मंडल, खुले तौर पर शिविरों में वर्ग और जाति के आधार पर घृणा का प्रसार कर रहे हैं ...। 23 और 24 फरवरी 1958 को बोलपुर और उत्तरपल्लीपारा में जो बैठक हुई वहां भी उन्होंने स्पष्ट रूप से उच्च जाति के हिंदू कर्मचारियों और लोगों पर शरणार्थी परिवारों को पश्चिम बंगाल के बाहर, मध्य प्रदेश भेजने का आरोप लगाया। इतना ही नहीं उन्होंने सरकार पर पश्चिम बंगाल को एक जातिवादी हिंदू राज्य बनाने का भी आरोप लगाया। अनुसूचित जाति के शरणार्थियों के साथ मिलकर एक अलग संगठन बनाने पर भाकपा के अनिल सिंह ने जोगनाथ मंडल की निंदा की और उनसे यूसीआरसी के साथ–साथ सभी शरणार्थियों के लिए एकजुट लड़ाई लड़ने की अपील की। सीपीआई ने तो उनकी और भी कठोर आलोचना की। उन्होंने मंडल पर सवर्ण जाति के हिंदूओं और अनुसूचित जातियों के शरणार्थियों को

बांटने और इस तरह शरणार्थी आंदोलन को कमजोर करने का आरोप भी लगाया। जोगनाथ मंडल को उनके द्वारा कांग्रेस सरकार का दलाल (एजेंट) तक कहा गया। लेकिन इन हमलों के बावजूद, जोगनाथ मंडल लगातार सवाल उठाते रहे जो जाति के संदर्भ में सवर्ण नेताओं को असहज कर देने के लिए काफी थे। मसलन मंडल ने शिविर प्रशासक पर यह सवाल उठाया कि 'दिसंबर 1959 में कूपर कैंप में शरणार्थियों के बीच से कुछ बस कंडक्टरों की भर्ती की गई। उनमें से कितने अनुसूचित जाति के लोगों को लिया गया?' इसका उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला, लेकिन उस प्रश्न को पूछने के लिए उन्हें फिर से वामपंथी नेताओं की तीखी आलोचना सुनने को मिली। इस प्रकार, शरणार्थी आंदोलन की बहस में एकता के नाम पर जाति के प्रश्न को जानबूझकर और बड़े ही चालाकी से दबाने का प्रयास किया गया। हालांकि ऐसा भी देखा गया कि जाति के सवाल पर शरणार्थी अक्सर असमंजस की स्थिती में आ जाते थे। क्योंकि जातिगत स्तर पर असमानता होते हुए भी कहीं न कहीं उनके दुख–दर्द साझा थे। विस्थापन, बिछोह, हिंसा, बलात्कार जैसे त्रासदीपूर्ण स्थितियों को झेलने के बाद सभी शरणार्थी समान रूप से बरोजगारी, भूखमरी और आवास जैसी मूलभूत समस्याओं का सामना कर रहे थे। अतः आंदोलन की सफलता के लिए शरणार्थियों में एकता का होना जरूरी था। कूपर का एक शरणार्थी कार्यकर्ता 'शरणार्थी पहचान' के समर्थन में लिखता है– ष्नामसुद्र या अन्य निचली जाति के लोगों ने इस आंदोलन में अपनी मांगों को पूरा करने के लिए निम्न जाति के समुदाय के सदस्य के रूप में नहीं, बल्कि एक शरणार्थी के रूप में हिस्सा लिया था। बागजोला कैंप के पूर्व निवासियों के साथ एक सामूहिक बैठक में, प्रतिभागियों ने जोर देकर कहा कि उनके आंदोलन में जाति कोई मायने नहीं रखती है। वे सभी शरणार्थियों के लिए एकजुट मोर्चे के रूप में लड़ रहे थे। इस अवधि के शरणार्थी प्रदर्शनों में अक्सर इस्तेमाल किया जाने वाला नारा "अमरा कारा? बोस्तुहारा (हम कौन हैं? शरणार्थी)ष इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण कथन है जहाँ जातिगत अस्मिता पर शरणार्थी पहचान भारी पड़ती दिखाई देती है।

इस प्रकार हम यह देख सकते हैं कि जिस वक्त मुसलमान अपनी अलग पहचान के आधार पर अलग राष्ट्र की मांग कर रहे थे उस वक्त दलित अपनी अलग पहचान के लिए ही संघर्ष कर रहे थे। कहा जा सकता है कि जैसे सामाजिक–राजनैतिक व्यवस्था में दलित समाज हाशिए पर रहा है, उसी प्रकार इन सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के दस्तावेजीकरण में भी उन्हें हाशिए पर ही रखा गया है, जिसे हम विभाजन की घटना के परिप्रेक्ष्य में भी आसानी से देख सकते हैं।

संदर्भ :

बुटालिया, उर्वशी, खामोशी के उस पार, पृ 259

वही, पृ 269–270

वही, पृ 260

Jesús Francisco Cháirez-Garza, School of History, University of Leeds- 'Bound hand and foot and handed over to the caste Hindus': Ambedkar, untouchability and the politics of Partition, p.-4, https://eprints.whiterose.ac.uk/123470

Ayoob, Mohammed, The turning point in 1932: on Dalit representation, The Hindu article, https://www.thehindu.com/opinion/op-ed/the-turning-point-in1932/article23752117..ece

वही, https://www.thehindu.com/opinion/op-ed/the-turning-point-in1932/article23752117..ece

बुटालिया, उर्वशी, खामोशी के उस पार, पृ 276

Jesús Francisco Cháirez-Garza, School of History, University of Leeds- 'Bound hand and foot and handed over to the caste Hindus': Ambedkar, untouchability and the politics of Partition, p.-12, https://eprints.whiterose.ac.uk/123470/

बुटालिया, उर्वशी, खामोशी के उस पार, पृ 274

Jesús Francisco Cháirez-Garza, School of History, University of Leeds- 'Bound hand and foot and handed over to the caste Hindus': Ambedkar, untouchability and the politics of Partition, p.-10, https://eprints.whiterose.ac.uk/123470/

वही, पृ 26

Bandyopadhyay, Sekhar & Chaudhury, Anasua Basu Ray, In Search of Space The Scheduled Caste Movement in West Bengal after Partition, p.- http://www.mcrg.ac.in/PP59.pdf

वही, पृ 2, http://www.mcrg.ac.in/PP59.pdf

बुटालिया, उर्वशी, खामोशी के उस पार, पृ 278–279

वही, पृ 32

वही, पृ 21

Bandyopadhyay, Sekhar & Chaudhury, Anasua Basu Ray, In Search of Space The Scheduled Caste Movement in West Bengal after Partition, p.- http://www.mcrg.ac.in/PP59.pdf

बुटालिया, उर्वशी, खामोशी के उस पार, पृ 263

वही, पृ 279

Bandyopadhyay, Sekhar & Chaudhury, Anasua Basu Ray, In Search of Space The Scheduled Caste Movement in West Bengal after Partition, p.- http://www.mcrg.ac.in/PP59.pdf

वही, पृ 17

वही, पृ 18

वही, पृ 10

वही, पृ 32

वही, पृ 42

An Ethnographic Introduction to the Nat: A Denotified scheduled castes of Chhattisgarh

English Discourse

-Hemant Kumar
School of Studies in Anthropology,
Pt. Ravishankar Shukla University,
Raipur (C.G.) M.N.-8103866976

In the paper presented, a visual study of an unopposed SC Nat of Chhattisgarh has been done with special reference to Janjgir-Champa district of Chhattisgarh state. The paper presented is based on field-trip observation. The villages of Bargaon, Meubhata, Bhavatra and Khokhara in Janjgir-Champa district have been selected for visual study by objective planning. For a compilation of primary and secondary sources, oral interview, photographs, observation, news, journal, research article, book and internet etc. method has been used. It is known from the data obtained that a group of "Nats" caste (some people) who are engaged in taking care of themselves and their family by rotating from one place to another by begging (sports spectacle). At the same time, some "Nat" caste people have started living in villages as permanent habitation (residence) agricultural labourers and staying away from other village societies. Even today, there are free, wandering, criminal caste dongs, due to which, the "Nat" society today is keeping a distance from other societies and residing outside the village.

Keywords:- Nat, Scheduled Castes, Denotified, Ethnographic, Chhattisgarh.

Introduction:- According to an estimate, the world's most nomadic ethnic group lives in South Asia, of which about 10 per cent of the population belongs to free and nomadic tribes of India. However, there are 500 types of liberated tribes in India, which represent 7% of the Indian population, mainly Nat, Rana, Badi, Banjara, Bavaria, Bedia/Beria, Kanjar/Kanjari, Nath, Madari, Vod, Yerekula/Yerukula, Sansi/Sansia, Gadaria, Pardhi and Jogi etc. include the liberated/nomadic/semi-nomadic castes (NCDNST, 2008).

The word "Nat" means to dance, drama or acting. The origin of "Nat" community is not clear, but some scholars consider their origin from Rajasthan. In this link, Hanjaavaliy (2018) has told in his study of "rager" society that there are seven types of "Nat" found in India, which include Gujarati Nats, Raj Nats, Bhrechaya Nats, Chamar Nats, Mull Nats and Rager Nats Huh. They roam around in many places to perform acrobatics, tricks, spectacles and songs to earn a living for themselves and their families. Russell and Hira Lal (1916), have called the caste group running over the rope based on the words Badi, Dangchagaha, Baazigar as "Dangchagaha Nat".

Most of the Indian states including Bihar, Chhattisgarh, Delhi, Haryana, Himachal Pradesh, Jharkhand, Madhya Pradesh, Punjab, Rajasthan, Tripura, Uttar Pradesh, Uttarakhand, West Bengal and Union Territory of Chandigarh are among the "Nat" caste of the scheduled caste. Whereas in some places of these states, they also have the status of other backward castes. For example, in the states of Gujarat, Karnataka, Odisha, Jharkhand and Bihar, such "Nat" who follow the religion of Islam have been given the status of Other Backward Classes there. Similarly, such "Nat" ethnic groups of Uttar Pradesh state, which have not found a place in the list of Scheduled Castes here, have also been given the status of Other Backward Classes. Similarly, the deprived caste "Banjara" community has the status of Scheduled Tribes in Andhra Pradesh and Orissa, while in Chhattisgarh, Gujarat, Haryana, Madhya Pradesh, Maharashtra and Rajasthan, other backward classes have been given the status. Whereas the same community has been included under Scheduled Castes in the states of Punjab, Delhi and Karnataka.

"Nat" is a caste found in small groups in most areas of India. According to the 2011 census in India, their population is 4,86,058. Uttar Pradesh has the largest population (2,14,344) in India. The population of "Nat" caste in Chhattisgarh is 4,993 which is the seventh place in their population category in various states of India. In this order, their population is 1,11,465 in Madhya Pradesh, 65,904 in Rajasthan, 58,819 in Bihar, 15,447 in

Haryana, 5,916 in NCT Delhi, 3,407 in Punjab, 1,643 in Tripura, 1,286 in Jharkhand, 1,177 in Uttarakhand, West There are 1,119 in Bengal, 313 in Himachal Pradesh and 225 in Chandigarh (Census of India, 2011).

Research problem:- The situation which existed in India before the weaker caste class, the same situation remains as it was in independent India. In such castes that cannot develop, the "Nat" caste can be kept. "Nat" were living nomadic lives in the past, even now they are living their lives utilizing earning a living like acrobatics, tricks, dancing and agricultural labour. Various types of development schemes are being run by the Government of India and the State Governments for the all-round development of such socio-economically backward castes and tribes, but the benefit of these development schemes has not reached the ethnic groups like "Nat". As a result, today the level of socio-economic and educational status of the "Nat" ethnic group is very backward compared to other scheduled caste class. As a result, "Nat" ethnic groups are forced to live a semi-nomadic life even today. Apart from this, sports spectacle remains the mainstay of their livelihood. Today, the nature of the traditional sports-spectacle of the "Nat" community, that is, the feat and dance, etc. are going through a phase of change. The twenty-first century can be considered as the main reason for the change. As a result of the effects of the twenty-first century, the "Nat" ethnic group residing in other states of the country including Chhattisgarh is going through a phase of extreme culturalization, as a result of them, the terrible problem of social and cultural disintegration is flourishing like Amarbel. The most adverse effect of Sanskritization and culturalisation has been on their language, arts and traditional social components. Gradually, they are losing their cultural characteristics and by falling into the trap of modernization, they are becoming alienated from the mainstream of society and nation by the method of "trial and error". "Nat" is the predominant language/dialect of the Nrajati group "Bagarinati" but the "Nat" residing in Chhattisgarh are now gradually adopting Chhattisgarhi and Hindi dialect and language. Today they are in a position to forget their language/dialect or the new generation is ignorant of their native language/dialect. Chhattisgarhi and Hindi have taken the place of "Bagarinati" in their spectacles and acrobats and dance songs. Thus the "Nat" ethnic group is oriented towards cultural decline. In such circumstances, the absolute need to have written and destructive recording of all sides of the "Nat" ethnic group was felt which was seen during the initial fieldwork.

Research Methodology:- The proposed study is a New-anthropology study completed by the participatory observation method between the "Nat" caste residing in various villages of Janjgir-Chapa and Balodabazar-Bhatapara districts of Chhattisgarh. The nature of which is theoretically descriptive and exploratory. On the other hand, the nature of this study is practical research. Apart from these, their culture will be codified by ethnographic-museum methods (visual archiving, pictorial archiving, physical culture and modalities of art objects) to preserve their extinct cultural patterns. To know the physical structure of the "Nat" caste in this study, their selected men and women have to be studied by anthropometric measurements and selected socio-economic numerical data so that the nature of this study is also practically calculative goes.

Objective:- (1) To describe and record all the aspects of the culture of "Nat" caste of Chhattisgarh through participatory observation method.

(2) To preserve the extinct cultural heritage of Chhattisgarh by recording all aspects of the "Nat" caste culture through participatory observation method.

(3) To reveal the change and the factors of change taking place on various aspects of the culture of "Nat" caste of Chhattisgarh.

(4) To search for problems and other problems such as socio-cultural disintegration arising as a result of cultural changes taking place in them.

(5) Based on the facts and conclusions derived from this neo-racist narrative, to introduce need-based intervention in the context of the all-round development of the "Nat" caste so that it can be integrated into the mainstream of the nation and society.

Hypothesis:-

(1) The social, economic and political status of the "Nat" caste is of a low standard.

(2) Due to the low social status of the "Nat" caste, they face social exclusion.

(3) "Nat" caste is a nomadic ethnic group.

(4) The "Nat" caste is an argh-nomadic ethnic group.

(5) The mainstay of earning of "Nat" caste is acrobatics and dancing.

(6) The main basis of earning of "Nat" caste is beggary.

(7) Due to the nature of "Nat" caste being semi-nomadic, their women have to face physical abuse.

(8) The present generation of "Nat" caste is unaware of their language/dialect.

(9) The folk art of the "Nat" caste is done.

(10) Cultural traditions of "Nat" caste influence other traditions of culture.

Review of Literature:- An attempt to present a review of earlier studies and publications chronologically in the perspective of the "Nat" community is as follows :- Study of anthropological studies in Malinowski (1922) from 1914 to 1918 in Trobiand Island duly initiated in Ethnographic. is believed. However, earlier Morgan (1884) The League of Iraquois, Boas (1902-1964) "The Central Eskimo" and "Kwakuital Text" and Brown (1922) Andaman Islanders etc. are also included in Ethnographic studies. In this sequence, the study of Mead (1928), Evans-Pritchard (1940), Bateson (1958) etc. are very special. New-ethnographic studies began with the rise of post-modernism in the 1960 with prominent studies of Douglas (1970), Turner (1967), Fischer (1999) and Geertz (1973) etc. being most important.

The studies done by Roy (1925) were "The Birhora: A Littel Known Jangle Tribe of Chhota Nagpur", "The Mundas and their Country", studies by Elvin (1939-43-47-1957) "The Baiga", "The Muria and their Ghotul", "Maria Murder and Suicide", is "A Philosophy for NEFA". Dubey (1955), "The Kamar" is considered to be one of the major studies conducted in the field of Ethnography. Singh (1995), has given the origin of the word "Nat" from Rajasthan and the origin of the word "Nat" from Sanskrit "nata". He has told his actual residence (dwellings) to Dhaka. Russell and Hira Lal (1916), consider the "Nat" caste as a nomadic caste and do not consider it a proper caste. At the same time, referring to "Nats" as "Muhammad Nats", the social traditions of "Nat" denote the rituals as acrobatic. Enthoven (1920), studied the socio-economic aspects of the "Nat" ethnic group in Mumbai and showed that the distance from the "Nat" ethnic group living in villages, the "Nat" ethnic group living in cities showed differences by location. Mukharjee (1997), has described some of Bihar nomadic tribes (Bahaliya, Lodha, Rajwar, Moosahar, Bedia) as being nomadic, as well as enriched in the work of acrobatics, witchcraft, hunting and snake charmers. Rathore (2002), said in the conclusion obtained from the study of the Banjara tribe that Banjara tribes are living nomadic and permanent life. And their economic status is weaker than other castes/tribes. Bhanavat and Jugnu (2003), have mentioned the role of the "Nat" caste in spreading the various folk messages of Indian culture in the society, as well as stating that in the modern time's such traditional media of communication are often on the verge of extinction. They have emphasized preserving such traditional communication mediums.

Conclusion:- India consists of different cultures and labour has a special place in the inclusion of these cultures. Due to the region-specific settlements in different regions, the community there has been given the recognition of special groups and families. Which developed into a caste in Kalantar. Even at present, there are many such communities which are recognized based on their work's nature. Similarly, in Chhattisgarh Pradesh, a group of people living their lives while displaying their art has been identified and this group has been given the name of Nat caste. The Nat community is a nomadic group that never resides in one place, virtually dependent on their livelihood while entertaining people like nomadic, nomadic lives. The Ghumantu / Ardhghumantu Nat Nrjati group residing in Janjgir-Champa district of Chhattisgarh state today has acrobatics, sports spectacles, dance-songs, beggars, and presently some of the families doing agricultural work as well as government work (Gram Panchayat) Have started participating in the activities too. Through direct visual field-research and review of earlier studies, it appears that there have been many small studies on the proposed "Nat" caste on different aspects of their lives, but it is important to

clarify here And it will be necessary that most of the above-mentioned studies presented under the review of earlier studies are either articles based on "Nat" caste or a particular book has a short description on "Nat" caste. For example, the text "The Tribes and Castes of the Central Provinces of India" by Russell and Hira Lal (1916). The "Nat" caste is described on page 8 in IV, so we cannot consider it or other studies like this mentioned in this research format a complete study on the "Nat" caste. There has not been any anthropological research on the "Nat" caste-based on the studies of Sahits Poorvlokan and no comprehensive treatise has been written on it.

References: -

•Bateson, G. Naven. California: Stanford University Press,1958.

•Bhanavat, M., and Jugnu. S. Bhartiya Lok Madhyam. Jaipur: Rajsthan Hindi Granth Academy, 2003.

•Boas, F. Kwakiuti Text. New York: AMS Press, 1902.

•Boas, F. The Central Eskimo. Lincoln, NE: University of Nebraska Press, 1964.

•Brown, A.E.R. The Andaman Iclanders. London: Cambridge University Press, 1922.

•Census of India.Ministry of Home Affairs, Government of India. office of the Registrar General&Census Commissioner, India.2011.censusindia.gov.in. http://censusindia.gov.in /(accessed September 20, 2019).

•Douglas, M. Natural Symbols: Exploration in Cosmology. United Kingdom: Barrie & Jenkins, Cresset Press, 1970.

•Dubey, S.C.The Kamar. London: Oxford University Press, 1955.

•Elvin, V. The Baiga. London: John Murray, 1939.

•Enthoven, R. E. The Tribes and Castes of Bombay. Vol. I. Bombay: Printed at The Government Central Press, 1920.

•Elvin, V. Maria Murder and Suicide. London: Oxford University Press, 1943.

•Elvin, V. The Muria and their Ghotul. London: Oxford University Press, 1947.

•Elvin, V. A Philosophy for NEFA. Calcutta: Navana Printing Work, 1957.

•Evans-Pritchard.E.E. The Nuer. London: Oxford University Press, 1940.

•Fischer, M., and George. M. Anthropology as Cultural Critique (2nd ed.). Chicago, Illinois: University of Chicago, 1999.

•Geertz, C. The Interpretation of Cultures. New York: Basic Books, Inc., 1973.

•Hanjaavaliy, B. Raiger Samaj. theraigarsamaj.com.2012. http://www.theraigarsamaj. com/history.php. (accessed September 14, 2018).

•Malinowski, B. Argonauts of The Western Pacific. London: Waveland Press, Inc.Long Grove, Illinois, 1922.

•Mead, M. Coming of Age in Samoa. New York: William Morrow and Company,1928.

•Morgan, L. H. League of the lroquois. New York: Citadal Press, 1884.

•Mukharjee, R. Samajik Manavshastra ki Ruprekha. Delhi-7: Vivek Prakashan, 1997.

•NCDNST.2008.National Commission for Denotified, Nomadic and Semi-Nomadic Tribes.socialjustice.nic.inJune30,2008.http://socialjustice.nic.in /writereaddata/UploadFile/ NCDNST2008-v1%20(1).pdf (accessed september 18, 2019).

•Rathore, G. Banjara Lok Geeton ka Sanskritik Adhyayan. Kanpur: Chandralok Prakashan, 2002.

•Roy, S. C. The Birhors: A Little Known Jungle Tribe of Chota Nagpur. Ranchi: The O.R.L. Mission Press, 1925.

•Russell, R. V, and Hira Lal. The Tribes and Castes of The Central Provinces of Indai. Vol. IV. London: Macmillan and Co., Limited St. 1916.

•Singh, K. S. The People of India: The Scheduled Castes. Vol. II. New Delhi: Oxford University Press, 1995.

•Turner, V. The Forest of Symbols: Aspects of Ndembu Ritual. London: Cornell University Press, 1967.

Complexity of Identity in August Willson's Radio Golf

-Dr.V.ANBARASI
Associate Professor & Head,
Department of English
Government Arts College (A),
Salem-636007.

-A.MUTHUKUMAR
Assistant Professor in English,
Thiruvalluvar Government Arts College,
Rasipuram - 637401 Mob: 9942333733

Abstract:

The paper brings out August Wilson's concern over the identity-seeking African Americans' journey to find one's identity in Radio Golf. Harmond, a promising politician is looking for mayoral candidacy in Pittsburgh. His friend Roosvelt is in the radio business as a black minority face. These two black men engage themselves in a redevelopment project considering it as a way of establishing their identity. But, hindering them is Aunt Ester's home, a safe-haven for the spiritually suffering people, a cultural identity of the Blacks. Harmond seeks fair means whereas Roosvelt is unmindful. To secure the deeper values of Aunt Ester's home, Elder Barlow and Sterling hold hands against its demolition. The paper sights the significant transformation from materialistic desires to reconnection to one's cultural past.

Keywords:

Identity seeking, Individuality, Conscience, Transformation, Cultural Reconnection.

Introduction:

August Wilson, one of the prominent African American playwrights in his Century Cycle Plays dealt with social and racial issues in his ten plays which are placed in each decade of the twentieth century. He is determined that knowing and holding one's cultural past is the basis for surviving, and carrying it to the newer generation will lead them to a better future. How the new generations forget their past, consequences of their negligence, loss of their roots, crisis of their identity are prominent in his cycle plays.

Man is a social animal and all human beings want to belong to someone or something without losing one's individuality, their unique qualities, and characteristics that distinguish one from others. This individuality or uniqueness needs to be established as one's identity. This sense of identity gives one the fulfillment of life and a sense of achievement. The issue of identity forms the crust of many literary texts. August Wilson's Radio Golf deals with the complexity in the ways of establishing one's identity through the characters in the play.

Discussion and Interpretation

Radio Golf, final installment of his century cycle plays, published in 2005 has the economic crisis of the 1990s as it background. In this play, he amplifies the struggles of the African Americans in locating their identities. It depicts the troublesome journey of finding one's individuality without losing their roots, the thirst of African Americans over centuries. Loss of identity due to ignoring their cultural roots is intense in their race. In the dreams of or actualities of assimilating with the dominant white culture, blacks alienated themselves from their own culture both unknowingly as well as purposefully. If the alienation is unknowingly, further experiences in life will draw them to their roots, making them realize the value of it and, as a result, the identity crisis will be resolved. On the other hand, ignoring one's cultural past at the cost of materialistic cravings will lead to progress in materialistic terms but life gets deserted and one's identity is unattained.

Identity development is based on the goals, values and

beliefs of the individual. Nicole Arduini- Van Hoose says in his Identity Development Theory that "identity development is vital to a person's understanding of self and participation in their social systems." Identity development process is both individual and social phenomenon. In August Wilson's Radio Golf the characters, Harmond Wilks, Roosevelt Hicks, Sterling Johnson and Mame Wilks do have their goals, values and beliefs and they are striving to find and develop their identities. Their identity development is based on their own understanding of self and their participation in the society.

Harmond Wilks expects to become the first black mayor of Pittsburgh. Roosevelt Hicks, a Vice President of Mellon Bank, also gets into radio business as a black minority with the aid of a white man. His belief is that black children can get away poverty by learning golf, like the successful black golfer Tiger Woods. Mame Wilks is about to join duty as governor's press representative, almost done except a formal formality of attending an interview. Her hope and involvement in bringing up Harmond Wilks as the mayor of Pittsburgh also is due there to her identity quench.

Harmond Wilks, joining his friend, Roosevelt Hicks, wants to redevelop the Hill District of Pittsburgh, Pennsylvania. The project is a proposal of two high-rise apartment buildings and high-end chain stores. He, a good man in heart and deeds, hopes to rejuvenate the abandoned Hill District and to revitalize the downtrodden to access the developments. In addition to it, he wishes to identify himself as a responsible person, caring others, uplifting the livelihood of the poor by becoming the mayor of Pittsburgh. He is concerned with his black brethren and strives to establish cultural identity to his community. Though the name of their city hospital Model Cities Health Center sounds good and appealing to his wife, Harmond Wilks is very particular in naming it after the first black nurse in the city and thus he says, "Sarah Degree was the first black registered nurse in the city. Naming it after her fits perfectly" (10). Mame replies, "Model Cities Health Center has been around for twenty-two years. The organization has some history in the neighborhood. Nobody knows who Sarah Degree was" (10). Harmond Wilks concludes, "That's why the Health Center needs to be named after her. So we remember" (10). For him, black's history and their existence need to be honored and remembered so as to maintain a kind of identity and meaning for which they are worth of. This argument with Mame shows Harmond Wilks as one who is much concerned with preserving their black identity.

Harmond Wilks hopes to become the mayor of the Hill District despite the remarks of Old Joe, "They ain't gonna let no black man be the mayor" (20). Harmond Wilks says confidently to be the mayor, "This is 1997. Things have changed. This is America. This is the land of opportunity. I can be mayor. I can be anything I want" (Radio Golf, 21). His wish is not just to be a mayor, or a black mayor, but to care for the city and the welfare of the people.Sterling Johnson meets Harmond Wilks for getting a job. Harmond Wilks finds that Sterling is not a member of the union. Sterling is self determined and in his understanding he claims, "… I'm my own union. I got my own everything. Except my own bank. I got my own truck. I got my own tools. I got my own rules and I got my own union" (42-43). Sterling continues to come to the office, giving Harmond Wilks some advice and encouraging words in making him hopeful of becoming the mayor of the Hill District. Sterling is concerned much to witness Harmond Wilks' progress and Harmond Wilks is also respecting him and considering his opinions.

Sterling goes to the extreme end of declaring war against Harmond Wilks and Roosevelt, "… if you move one goddamn pebble… you gonna have to answer me on the battlefield. … You the cowboys. I'm the Indians. This is war" (51-52). He adds his connection to that house, "That's Aunt Ester's

house. … I went up to see her a couple times. She helped me out. … I was feeling sorry for myself for being an orphan. And I was walking around carrying that on my shoulders. She told me set it down." (52)

Sterling got a peace of mind only after meeting Aunt Ester. She had asked him to set down the "orphan" identity and, "… if … wanted to carry something carry some tools. I've been carrying tools ever since and I've been at peace with myself" (52). He values the Aunt Ester once lived house more than a building because his visits to the house helps him to kick off the orphan cliché to an individual. His peace of mind has reverence to that house and he tries to affix it by bringing his fellow blacks together there to stop the demolition.

More like a preaching to Harmond Wilks, Sterling works on to protect the Wylie Avenue, "… He ain't broke no laws. You stole Mr. Barlow's house. … stolen property and you and him are the only ones who know you stole it. Everybody else thinks you bought it. … he shouting and nobody paying attention. If you even whisper everybody sit up and stop to listen" (60). Consequent visits of Old Joe and Sterling Johnson attribute a reasonable understanding in the perception of Harmond Wilks towards the significance of the Wylie Avenue. Harmond Wilks comes out of the materialistic computations to protect the values behind the house of Aunt Ester. So he attempts to bring drastic changes in his redevelopment project in such a way to protect the house from demolition.

Sterling values his past and has entered in the community building process and instilling the spirit in Harmond Wilks and Roosevelt. He says, "I know the truth … I'm a nigger. … A dog knows it's a dog. A cat knows it's a cat. But a Negro don't know he's a Negro. He thinks he's a white man" (76). Harmond Wilks has started realizing what he is worthy of and has involved in the process of self-actualization. But Roosevelt has no concern, needs no connection among the blacks, "Who's "us"? Roosevelt is not part of any us" (77). His reluctance and materialistic thirst blindfolds him from knowing who he is.

Roosevelt is excited in accepting to work for Bernie Smith by entering the radio business. He yells with joy, "… I'd be in charge. Bernie wants to be a silent partner. … I'm in charge of programming. … My ship has come in" (36). He has no professional ethics, but materialistic in every possible way. He affirms that he works for Bernie Smith just to have access to money, "The seller of the station gets to defer a large portion of his capital-gains taxes by taking advantage of the FCC's minority Tax Certificate. It's an advantage for him and an advantage for us" (36). Roosevelt accepts the deal of Bernie with the hope of becoming rich quicker. He is ready to give up his black identity for the sake of accessing better position in the society. He finds no awkwardness in boasting himself as a businessman using white man's money in a wrong way. In a heated conversation with Harmond Wilks, enraged Roosevelt wants to buyout Harmond Wilks from the company.

Harmond and Roosevelt differ in opinions about the illegal buying of the Wylie Avenue. Roosevelt does not care about the illegal means, because his multi-million dollar redevelopment project should not be called off for "some … rodent-infested, unfit-for-human-habitation eyesore, that they should have tore down twenty-five years ago" (48). Harmond insists that the house was bought "before it went to auction. Without the notice being published the sale was illegal" but for Roosevelt "that's a technicality" (48). Talking about the characters in Radio Golf, Margaret Booker says, "Unlike Roosevelt, Harmond discovers the value of history and memory contained within the community whereas Roosevelt threatens its very existence" (158).

Mame Wilks, wife of Harmond Wilks, a public relations consultant soon becomes the governor's press secretary.

She is very enthusiastic that the governor is "holding the job open for" her and she has "to go through the government's full interview process but it's only a formality" (39). Her plan is to join duty after the campaigning work of Harmond Wilks' mayor candidacy. Her identity is placed along with her husband's identity. When the futuristic mayoral position of her husband gets disturbed she becomes less tolerant and much bothered when her interview was cancelled. At least she had identified herself to have to become her own person.

As the play ends, Harmond Wilks "discovers the paintbrush left on the desk. He takes off his coat and rolls up his sleeves. He picks up the paintbrush and exits" (81). It shows that Harmond Wilks is willingly rushing to join the paint party against the demolition of the house of Aunt Ester. He identifies himself as a black man who wants to be a part of his clan.

Elder Joseph Barlow, also called Old Joe seeks the help of Harmond Wilks to protect his house from demolition. He hires Sterling Johnson to paint his house Wylie Avenue, once the sanctuary of the suffering blacks who came to meet Aunt Ester and got their souls cleansed. On getting the demolition notice of the house, his memory goes back to Aunt Ester and thus he wants to protect it and wishes to give it to his daughter as a legacy that continues to remind them of their black roots.

Conclusion: Radio Golf throws at the readers the question: What does an identity mean and what it means to be black. As the play concludes Harmond Wilks, with the aid of Old Joe and Sterling Johnson, coming out of his office to protect the house of Aunt Ester, shows that his search of identity is progressive whereas his materialistic friend Roosevelt Hicks, buying Harmond Wilks out of the project and standing stubborn and reluctant to understand the values of black identity and roots, ends up with the complexity of losing his black identity, being the black face working of the white. Roosevelt willingly gives up his identity. Sterling Johnson realized his identity when he met Aunt Ester and gave up the stigma 'orphan' and became a citizen of the society and started helping others finding their identities. He is also determined to fight for the right cause, waging war against the authorities by starting a 'paint party' against the demolition of their ancestral symbol. Old Joe and Sterling Johnson act as catalysts in kindling the black consciousness of Harmond Wilks and Roosevelt Hicks. Where one responds positively, the other holds to his materialistic prospects. Mame Wilks thought that her identity is associated with the position of her husband, but later realizes that her own identity need not depend on the progress of her husband, but on her own. The complexity arises as each of the characters choose diverging paths to attain and establish their identities – Hermond Wilks choosing to hold on to his black roots, Roosevelt choosing his career over his roots, Meme realizing that her identity is not bound with that of her husband, and Old Joe and Sterling Johnson being the carriers of the memories of their cultural past.

Works Cited

1.Booker, Margaret. "Radio Golf: The Courage of His Convictions-Survival, Success and Spirituality". Blooms Modern Critical Views: August Wilson. Ed. Harold Bloom. New York, 2009.

2.https://courses.lumenlearning.com/adolescent/chapter/identity-development-theory/

3.https://en.wikipedia.org/wiki/August_Wilson

4.https://www.august-wilson-theatre.com/Wilson, August. Radio Golf. New York: Theater Communications Group, 2007.

Cultural Identity and Exploration of Multicultural-identity of Indo-Malaysians

-Dr.T.Gangadharan
Associate Professor ,
Department of English
Government Arts College(A), Salem-7

-A.Athiappan
Ph.D Research Scholar,
Govt. Arts College, Salem-7.

Abstract

K.S.Maniam,is the descendant of Tamil ethnic groups in Kedah, Malaysia. He belongs to the second generation of Indian immigrants settled in Malaysia through indenture labour system which was evolved out of nineteenth century imperial policy to get the cheap labourers for the colonized countries. Indenture labourer system is called 'girmitya' system. In his literary works Maniam faithfully records the memories of many Indian especially Tamil indentured labour of Malaya's rubber plantations. Tamils in Malaysia do not feel themselves alienated. They celebrate their existence with the other ethnic groups. They face identity crisis in the Malaysian multicultural society. Maniam's works show the insight of both personal and cultural life of a Tamil Indian society living in the north of the peninsula. They also work as an epitome of the lives of the proles working in tea estate and rubber plantations. Maniam is living with the sensibility of an intense Hindu spirituality as well as a passion for the English language. His works are the authentic Malaysian mosaic and furnish the condition of the marginalisation of Indian Malaysians.There is a sense of multicultural mosaic prevailed in all his works. This research paper aims at analyzing the concepts of ethnicity, labour diaspora, multicultural as well as tries to explore relations man and land. It also traces the nuances between a dominant and a migrant culture in relation with *The Return*.

Key Words: Race and Ethnic Studies, ethnicity, dominant and migrant culture, multicultural mosaic,New Diaspora.

Introduction

Malaysian- Indian diaspora plays a significant role in history of South East Asia. It made a great cultural impact on South Indian Tamil. The migration took place even in the great Chola Dynasty of Tamilnadu. Later British brought over a considerable number of Chinese and Indians to Malaysia, during the colonial period. They were brought as indentured workers. They hope that returning to their homelands but slowly they accepted the new land as their home and also to remain here even after the Independence. K.S. Maniam is one such and his parents were the descendant of Hindu Tamils recruited from South India by 'kangany' contractors. They were brought to work in rubber plantations especially during the late nineteenth and early twentieth centuries.

Objectives

The labour diaspora started in the mid-nineteenth century and ended in early the twentieth century. In literature, it has been recorded the issues of displacement as well as rootlessness. There were very few texts that dealt with the experience of indenture labourers. Vijay Mishra hails that Naipaul has founded the fictional discourse of diaspora. Subramanian, Raymond Pillai and Sudesh Mishra from Fiji and K.S.Maniam from Malaysia and so on faithfully records the experiences of plantation life of the people. But the young writers like Jhumpa Lahiri,Monica Ali and Amitav Ghosh are the second-generation of U.S. and UK migrants and revealed the hybridity of new identities. In the beginning of the nineteenth century, the British Empire brought Indians to work in the sugar plantations of Trinidad, Guyana, Fiji and Mauritius and it also extended to the Southeast Asian region. The Southeast Asian Peninsula was the ideal space for the production of rubber, spices and cotton. The texts, oral testimonials and other narratives of the people revealed the history and oppression of the Indian labourers from the rubber plantations in Malaya. The themes and issues of both

the labour diaspora and the new professional diaspora are identified and discussed in this article.

Discussions

As a prolific writer, Maniam wrote novels, plays and short stories. His first novel *The Return* (1981) an autobiographical novel. The narrator, Ravi, is a representative of the first Malaysian - born generation. The story of *The Return* opened with Ravi's grandmother 'Periathai', the 'Big Mother' and with her struggles in her new country - Malaysia. She earned her livelihood by working as tinker,healer and so on. Ravi recalled his grandmother's life and struggle and narrated his life in the hospital compound- the long house. It was governed by Menon or the 'Ayah' means chief. Ravi felt that his family with the others in the lower rung of pecking order in their small community.

Kannan, Ravi 's father was a hard-working fellow who was in charge of washing clothes in the hospital. Ravi also included for washing clothes and to deliver them. Initially, Ravi attended Tamil medium school led by Murugesu and afterwards Kaurpi, his step mother persuaded and convinced his (Ravi) father to send him to the English school. In the English school his identity crisis grew and became more complex. Murugesu, the Tamil teacher wanted to teach his landscape through Tamil text books which were specially ordered from India.

Miss Nancy, the English teacher prohibited the usual Hindu practice in the school. She attempted to shape the boys as new Malay bourgeoisie (as assumed by her the old colonies) she reconstructed the fairy tales in order to mock and sworn Hindu social practices. She once narrated the story of Hansel and Gretel in which how the witch ate Hansel on the time Ravi remembered the Deepavali goat - slaughter. Ravi estimated this act that the once sacred celebration now became as gory.

Gradually, Ravi accepted the English language and culture. Despite of his neighbour's serious comments, Ravi wanted his family to stop washing clothes. He wanted to get away from them. He himself alienated from his friends, neighbours instead found company with the English books and his friends called him as 'white monkey!' Ravi disgusted with Menon who disliked him because of his authority may be threatened. Ravi was beaten by Menon when Ravi crossed the 'Yellow line' (the living place of the upper class). This made Ravi to disgust over traditional customs especially Hindu caste hierarchy. Many a times Menon forced Kannan to get Ravi to stop schooling but Kannan stood by his son.

Later, Kannan decided to expand their business to the city. Here Ravi established his own room and his own domain. On August 31, 1987, Malaysia gained independence from Britain. Ravi accounts that he saw an entire city being built right before his eyes. Kannan expanded his business though Menon disgusted. Afterwards, Periathai died Kannan made the funeral a spectacle forever one to know her all the city even above his economic level.

The whole family came across economic losses and planned to another expansion in the business. Kannan turned neurotic and took long time to recover. In his absence, Karupi ruled the business mean while Ravi was very close to getting his teaching bursary. Ravi went to England and felt triumphant when he was able to teach English children. He returned home and found only his father, Karupi and his brother Kumar but not clothes. Because of his fathers' ambition to build a house of their own, he had given up everything. Ravi's earnings were given up to his father despite of his warnings. The government restricted and did not allow to build a house their own. Kannan again became neurotic and isolated himself in the prayer room. His obsession to drive their own stake in the land of Malaysia was him until he died.

Home K.Bhabha wrote on nationality ethnicity and politics. He deconstructed the dichotomies of the West and the Orient, the centre and the periphery, the colonizer and colonized. He proposed that nationalities, ethnicities and identities are dialogic indeterminate and characterized by 'hybridity'. He revised the conventional notions of nationality and colonial subject and also showed how both were shifting and hybrid construction. To post-colonial theory he contributed the three major / important terms: 'ambivalence', 'mimicry' and 'hybridity'.

The term 'ambivalence' can be defined as a continual fluctuation between wanting one thing and wanting its opposite.

It may be both exploitative and nurturing. Though 'ambivalence' was rooted from psychoanalysis Bhabha adapted it into colonial discourse theory to describe the complex mix of attraction and repulsion that characterized the relationship between the colonizer and colonized. Another important contribution of Bhabha to post-colonial literary theory was the concept of 'hybridity'. It had been taken from Botany, technically a cross between two different species evoked a inter - species grafting. In post-colonial theory, 'hybridity' in 'transculturation'. Bill Ashcraft writes,

> Hybridity occurs in post- colonial societies both as result of conscious moments of cultural suppression, as when the colonial power invades to consolidate political and economic controls or when settler -invaders dispossess indigenous peoples and force them to 'assimilate' to new social patterns. It may also occur in later periods when patterns, immigration from the metropolitan societies and from other imperial areas of influence (e.g indentured labours from India and China) continue to produce complex cultural palimpsests with the post-colonised world (1995)

Thus, hybridity had been used in post-colonial discourse to mean simply cross-cultural exchange and mutuality of cultures.

Vijay Mishra a leading diaspora critic says 'Diasporic writing often recalls moment of trauma in the home land' (Mishra 33) and he further expands,

> In the old Indian diaspora, the long period of Indian indenture and plantation experience get transformed into collective trauma that reappears primarily as the trauma of work and drudgery on the plantation. (Mishra 34)

K.S. Maniam's first novel *The Return* deals with issues of caste-class exploitation and describes realistically the life of poor immigrate Indians who settle on Malaysian soil. Ravi's grandmother Periyathai affected the young boy's life and hold responsible for paving the way for her successive generations living in the new land. She has started her life in a strange land by working as a tinker pedlar and a healer, priestess. Ravi reveals, 'All her Indians skills and heritage had been depleted' (3).

For Ravi, his grandmother is the link between himself and the old-world goddesses. She transported her grandchildren to India especially Tamil Nadu by conducting ritualistic prayers during festivals such as'Thaipusam' 'Pongal ' and 'Deepavali'. Ravi further expands,

> We were inhabitants of an invisible landscape tenuously brought into prominence by the lights, mango leaves strung out over the door ways, the pilgrimages to Subramaniya temple in Sungai Petani on Thaipusam day the painting of the bull horns the day after Pongal and the many taboos that covered our daily lives (13).

Maniam preserves the Tamil culture in this novel through the statue of Nataraja which Periathai holds in her room. Nataraja the cosmic dancer of Hindu mythology or Siva, Saraswathi the Hindu goddess of writing and learning, Pongal the first day of the first month in the Hindu calendar and of Thaipusam the Hindu tribute to Lord Subramaniam who has the power to drive away illnesses and so on. All these festivals served to bring together the South Indian population to reinforce its communal memory. It helps to assert its identity as an ethnic minority in a new country.

Maniam presents the South Indian cultural symbols such as 'thali' (a wedding thread, used by the Hindu community) 'thinnai' sitting place 'vadais' 'avaraikai' 'thundu' and so on. There was the funeral and cremation of his beloved grandmother which Ravi recalled as 'dramatic glamorous event' (9). The story of Periathai served to confirm the post-colonial voice.

The immigrants tried to establish a sense of performance. Both Periathai and Kannan continued the battle with the Town Council people to buy land and build on it. Both of them 'disappointed' 'speechless' and died without owning a land of their own in a settled country. Kannan tells Ravi,

> We can make all the money get all the learning. But

these are useless if our house pillars don't sink into the clay of the land. (167)

Murugesu the primary Tamil medium teacher tries to teach Tamil by using the stories of elephants, deer, snakes, mongoose, dogs and cats. Even he brought books from India to teach the students. Though Murugesu initiated Tamil education, Karupi the step mother of Ravi insisted Kannan to send to Ibrahim English medium school. Ravi was sent to Ibrahim English School and met Miss Nancy was his teacher.

On the one hand Ravi revealed his grandmother, his father and Murugesu 's longingness of home land and on the other hand Ravi shows his interest towards English language. Murugesu tried to link Ravi to his traditions. He carried out ritualized prayers on Fridays before the picture of Saraswathi and told stories with familiar incidents. These characters came alive in the shop keepers, goldsmiths' newspaper – vendor, chettiyar and labourer we saw daily (21). But the English introduced characters whom they were far removed from the world of the children. Miss.Nancy taught the colonial mythology and she advocated colonial education. She familiarizes the characters such as Dobbin, a pony, Erine, a little boy and the European landscape who influenced very much in the first year of Ravi in the English school. Ravi once asked question to himself about his homeland as 'How does one describe the land one lived in but never saw? (14). This is a kind of ambivalence presented in this novel.

English language is a colonial instrument in Malaysia even the Malaysian post-colonial writers with their respective ethnic cultures use English language for their writings. Gauri Viswanathan states,

British colonial administrators, provoked by missionaries on the one hand and fears of native insubordination on the other,discovered an ally in English literature to support them in maintaining control of the natives under the guise of a liberal education. (qtd in Ashcraft (3).

It is not only language but also religious conversion as Ravi christens rather Anglicizes his name and affixes,

'James to Ravi' and corresponds with British and American pen-pals…James Ravi lived in the drawers emerging at night, when the shop was closed and his parents are back in the hospital house (110-1)

Even the other boys of Ravi's compound are sent to English schools and he decides to bring the foreign landscape into his home.

Conclusions

Thus, Ravi finds himself ambivalence between western culture and his home culture. The Hindu culture suppresses the individual so that he wants to break away. At one stage, Ravi accepts his self-imposed isolation from his own compound. This clash cultural values create identity crisis for the individual. Finally, he separates himself from his home culture and through English education and he assimilates colonial culture. The novel *The Return* accounts the psychic displacement induced by migration and cultural assimilation under the impact of British colonialism. Thus, Maniam faithfully records the trauma of Janus-faced experience of the immigrants in this novel.

References

Ashcraft,Bill,Gareth Griffiths and Helen Tiffin.*The Empire Writes Back: Theory and Practice in Post-Colonial Literatures*.London: Routledge,1989.Print.

Ashcraft,Bill,Gareth Griffiths and Helen Tiffin.*The Post-Colonial Studies Reader.*London:Routledge,1995.Print.

Maniam.K.S.*The Return*.Skoob Pacifica.London.1993.Print.

Mishra,Vijay.'Diasporas and the Art of Impossible Mourning'. *In-Diaspora Theories, Histories,Texts* Ed.Makarand Paranjape.New Delhi:Indialog Publication Pvt.Ltd.2007.Print.

https://en.wikipedia.org/wiki/Homi_K._Bhabha.

https://en.wikipedia.org/wiki/Malaysia/language.

Ecofeminism In India With Special Reference To Chipko Movement

-PALLAV PROTIM MAHANTA

-AOYANA BURAGOHAIN

Abstract:
Eco feminism, also called as ecological feminism, is a branch of feminism that examines the connection between women and nature. The word eco-feminism was first coined by French feminists Francois d' Eaubonne in 1974. Eco feminist thinkers draw the concept of gender to analyse the relationship between human and natural world. At present, the concept of eco feminism is very relevant and it has several branches like liberal eco feminism, cultural eco feminism and social eco feminism etc. In India, the role played by women in environmental movement is considered as the development of eco feminism in India. The participation of women in the environmental movements of 1970's and 1980's is remarkable. Chipko movement which was took place in Uttar Pradesh's chamali district (present Uttarakhand) in 1973 is very significantsignificant, specially for women's participation. In this paper there is an attempt to discuss the development of eco feminism in India with special reference to Chipko movement.

Key words: Women, eco-feminism, Chipko movement, environment.

Objectives:
To discuss the concept of eco feminism in context of India.
To analysis the Chipko movement as a eco feminist movement.

Methodology:
In the process of preparing this paper the descriptive, analytical and historical method are being used. Sources mainly depend on the secondary sources which include books and e-resources.

Introduction:
The word eco feminism is consists of two words ecology and feminism. Ecology is a branch of science which concerned with interrelationship of organisms and their environment. It discusses the relationship between human and nature. Feminism means a series of movements that seeks to define, establish and achieve equal rights i.e. political, economic, cultural, personal, social for women. Simply, it can say that ecology discuss the relationship between human and nature, feminism discuss the relationship between man and women. The term eco feminism was first coined by Francoise d' Eaubonne in her famous book Le Feminisme Ou La Mort (Feminism or death) in 1974. The term eco feminism denotes the connection or relation of women and nature. It not only means a movement led by women but also means for the restoration of nature. It describes the concept of gender to analyze the relationship between human and natural world. According to the eco feminism both women and nature is exploited by male dominated society. In the book feminism believes that the human beings are inseparable to nature. In the book 'Feminism or Death' Francoise d' Eaubonne mention that the problems faced by human society, according to her the greatest problems of human society are over population and exploitation of nature. On her view the main cause of these two problems is the prevailing patriarchy society. Men control over women body leads to the over population and men's control over nature leads to denaturation of nature. Thus, eco feminism try to relate to the cause of the exploitation of women and nature caused by men. So the main aim of the eco feminism is to free the women from the bondage of men and rescue the nature from exploitation.

Eco-feminism in India:
According to the eco feminists the connection between the domination of women and that of nature is basically seen as ideological, as rooted in a system of ideas and representations, values and beliefs that places women and the non-human world hierarchically below men (Rangarajan 317). In India women are after connect to nature. The women mainly from rural area very much depended upon nature, they collected many items from forests such as food, fiber, small timber etc. The poor rural people

of India are victims of environmental degradation in a gender specific way and they actively participated in the environmental protection movement which is bring often gender specific perspective.

In India, the concept of eco feminism was developed by Vandana Shiva. Who tries to establish the connection of women and nature that both are exploited by men. She sees that violence against nature and against women as a built into the very mood of perspective both. He argues that violence against nature is intrinsic to the dominant industrial/development model, which is characterized as a colonial imposition. (Rangarajan 321). She opined that the degradation of nature and environment connects to the exploitation, marginalization of women in the hands of man. In her words 'For women, the death of Prakriti is simultaneously a beginning of their marginalization, devaluation, displacement and ultimate dispensability' (Shiva 39,42).

Vendana Shiva notes that violence against women and exploitation of nature connects not only ideologically but also materially. The women of the third world countries like India depends heavily on nature for livelihood, collected items for their families. So, the exploitation of nature directly impacts on the women. Shiva drawing example of Chipko movement which was took place in the Garhwal hills of North-West India, women came out to protect the nature. Shiva said that 'Third world women' have both a special dependence on nature and a special knowledge of nature'.

In the works of Vandana Shiva the eco feminism and environmental theory received a new position in India. She tries to establish link between environmental degradation and the oppression of women from a cultural perspective. Her main opinion is to make awareness about the interlink between gender and the environment. In India the concept of the feminist environmentalism have some element of eco feminism also incorporated some issues which are lacking in eco feminism.

Feminists envirnmentalism focuses more on to examine the relation between women with nature rather than ideological construction of gender, environmentaenvironment and inequality.

Chipko movement and Eco Feminism

Chipko movement is one of the influential environmental movements which took place in post independence period of India. In the movement we can able to find eco feminism at its best. This non-violent Gandhain movement was first took place in Chamoli district of Uttar Pradesh (now Utterkhand) in 1973. The term 'Chipko' means 'embrace' as during this movement the villagers specially the womens hugged the tree and encircled them to prevent being hacked. In Chamali district a operative organization namely 'The Dashauli Green Swarjya Sangha' was established in 1964, which aim was to set up forest based industries in order to give employment opportunity for the people. This organization requested the forest department of UP to allotted ten ash three yearly for making of agricultural tools. But Government did not give permission to DGSS but allotted 300 ach tree to a private company Simon company which manufacture of sports goods of Allahabad. To prevent the destruction of tree the DGSS held a meeting on 27th March, 1973 in Gapeshwar and the members and the leaders of this sangha decided to protect the cutting of ach tree by embracing the trees. The movement is known as 'Chipko' the hindi word, which means embrace. When on 24th April, 1974 the agents of the company came in the Mandala forest to cut down the ach tree, the members of the sangha's members and villagers specially protested. The company' agent faced protest against by women's group led by 75 years old Shyama Devi. The agents of the Simon Company left the place without cutting a single tree, after this indicident the Government allowed to cut ach tree to DGSS from the Mandal district. Along with the DGSS, Gangotri Gram Swaraj Sangh also a took part in protest the movement. Their main aim was to conserve and protest the forest and taking core of the need of the people. But between the man and women population of that region some differences occurs regarding the uses of the forest resources. Local male population was interested in commercial activity based on forest products and women's interests for sustenance activity based on forest protection. Vendana shiva mentions in her works women who participated in this movement like Mira Behn, Sarala Beh, Bimala Behn, Hima Devi, Gauri Devi, Gunga Devi, Banchni Devi, Hwari Devi, Chamun Devi and many others (V. Shiva 1988, P.68). mira Behn and Sundarlal Bahuguna gave the conceptual frameworks to the ecological view of Kimalyan forests and to give the Chipko movement a women movement laid by Sarola Behn, Bimala Behn

in Garhwal and Radha Bhatt in Kumaon.

After facing massive resistance in this region the contractor focused on the Alakananda Valley, in the village of Peni. This region already a devastating floods in 1970. The commercial contractors had great plans for felling of trees in the region, they had to backtrack because of facing massive resistance from women In this area women hugged the tress in order to prevent the felling, led by Gauri or Gaura Devi, because of the active role the movement became successful. Another such event took place in Adwani forests, in 1977; in this area, a protest took place against the auction and culling of tress. Sunderlal Bahuguna protested but was not able to withdraw the decision of cutting of trees. Women of this area was very determined, the took viewed by tied scred thread to the trees to protect the trees and guard the forests. The one men who came to cut the tree return but again came with the arm police, but the women already present to protect the trees. When the contractors questioned why they want to protect threes; they answered in corous like

What do the forest bear?

Soil, water and pure air
Soil, water and pure air
Sustain the earth and she bears

In this way the movement in the Adwani successful. Chipko movement not confied to Den it was spread to places like Adwani, Amarsar, Dungori, Badiyagarh etc. Chipko movement became suceesful and on beneficial outcome of this movement that government has imposed ban in cutting trees in this region.

However there is a question arise that Chipko is an eco feminist movement. The active role played by women showing their determination to conserve the nature make it movement a eco-feminist movement. This movement undortory one of the significant non-violent movement in post independent Indi, which is often connected to Satyagraha in the environment area. In this movement the large numbers of women's participation even challenging their men shows their power or Sakti. In India, where in patrichy system existed womens are considered as nurtures of nature. There is an believe in the Hindu Society nature or prakiti is an feminic elements. So, in anice texts it is often found that a women had a greater concern to nature.

There is also a criticism the women concern for the protention of nature is manly for their economic interest. They women were dependent economically in the hills areas manly for collecting various resources to fulfill their economic needs, so they protect nature not only for the restoring nature but also to fulfill th refill nature. The eco feminist argues that the needs of women in hills areas are very minimal, they collects forest items only for houses responsibility, women's friendly co-existence with nature.

Another criticism of the Chipko movement regarding as a eco feminist movement is that it final results donot show the mobilization of women morginalisation of women. Though as a result of this movement concern for the environment protection aris, but it did not able to eradicate the sarras of the women who still continue to move in search of resources for the collecting necessary subsistence. As a result of the Chipko movement the joint forest management office critical. But there is any participation of women which derive no any participation take part in direct decision making process and playing constructive rols.

Withnessing the large numbers of womens active participation Chipko movement is called a eco feminism movement or not it leads to a several debats. However, if we see that though womens of hills area depends of the nature for economically; but the resources they needed for survived is very less which did not harm the nature. But the contractors who tried to felling very destructive for the ecology or nature. Thus, we can not compare the women needs of the contractors. Moreover if we see the long term result of Chipko movement for forest conservation we can say it is a successful environment mental movements led by women.

Conclusion

From the above discussion, it may be concluded that whether the Chipko Movement is an ecofeminist movement or not it is not important. The significant thing is that it opens a new era towards ecological conservation and encourage the subsequent ecological movement in the world wide.

An Analytical Study on Autonomy Movement in Assam and Its Relevance

-Golap Borah
Guest Faculty, Dept of Political Science
S P P College, Namti
Ph- 6001554423

Abstract

Demand for autonomy is one of the most buzzing words in the state of Assam. Literally the word autonomy implies "self governing, independent; Subject to its own laws only". Assam is a meeting ground for different ethnic groups and communities that had migrated to this land in the time of immemorial and due course of time they have become the son of soil. The British had annexed this land with mainland India following Yandabo Treaty in 1826. British discriminatory rule had made a sense of alienation among the people of different communities of this land. In the post independence period this issue became one of the reasons behind the creation of secessionist movement and instability and a turmoil situation in the entire reason.In Assam the socio-political sphere has been increasingly encompassed by the Autonomous Movement of various tribal ethnic groups for maintaining their distinct identity and self determination aspiring for all round development of their respective community. All the states of NE India including Assam have witnessed the rise of verity of ethnic autonomy movements at different stages of its political evaluation in the pre and post independent period. In this paper an attempt has made to discuss the autonomy movement in Assam and its relevance in present context.

Key Words: Autonomy movement, ethnicity, Assam, tribal

Introduction:

Demand for Autonomy is the most buzzing word in Northeast India in general and Assam in particular. The word 'Autonomous' and 'Autonomy' are derived from the Greek word 'Autonoms' where 'Auto' means self and 'Noms" means law, i.e. self governing, independent; Subject to its own laws only. And the word autonomy implies-[i] Independent or freedom, as of the will one's own action etc., [ii] The condition of being autonomous, self government or the right of self government, independence, [iii] A self governing community.

But the word 'Autonomy' has been used in different times. For example in the 1960s scholar has understood the term "Autonomy" by emphasizing mainly its political aspects, signifying civil or national independence. But during 1970s and 1980s the social scientists started using the term 'Autonomy' to mean the freedom of religious conscience. But at present the term 'Autonomy' is used to cover up almost all aspects of human life. According to the Political Science Dictionary,Anglo Assamese Dictionary (1999), Oxford English Dictionary –the term Autonomy means limited power to manage internal affairs or the power of self government.

The term 'Autonomy Movement' can be referred as a sub category of Social Movement. This kind of movement of the various ethnic groups in Assam and other states of Northeast India are launching in order to protection of their socio-cultural, linguistic and ethnic identity and political self determination.They tried to do so by forming an administrative unit, an autonomous council or an autonomous state and they want to create a political order under the sixth schedule of the Indian Constitution.

If we analyse the grievances of different ethnic groups who have been launching autonomy movement in Assam; it has been seen that these are rooted deeply in the sense of deprivation and exploitation. The leaders of the Autonomous Movement have felt that the grievances could not be redressed until and unless they able to achieve autonomy in the field of administration. They have faith in democratic decentralization process in the administration. From this point of view, it may be assumed that there movements are power oriented. In this study an attempt has been made to analyse the Autonomous Movement on the basis of theoretical dynamics of the concept of Autonomous Movement.

Statement of the Problem:

Autonomy movement has been going on both peaceful as well as violent secessionist way. It has been creating destabilization and turmoil situation in the region like Assam. Though it has been happening to protect and preserve the identity of specific communities and ensure their rights but many a time it becomes one of the root cause behind underdevelopment of the region. In this paper an attempt has made to study the historical background of autonomy movement in Assam, causes behind it and how to peacefully resolve and bring durable solution to this problem.

Objectives:

The objectives of the study are formulated as follows-

- To examine the factors which led to the Autonomy Movement in Assam,
- Try to find out some solution to deal with the issue of autonomy movement.

Methodology: In order to prepare this paper data are collected from different secondary sources such as Books, Journals, Dailies and internet. Analytical, qualitative and descriptive method has adopted in the study.

DISCUSSION:

Assam has been providing it fertile ground to meet different groups of people in different course of history. Austric, Mongoloid, Dravidian and Aryan etc had entered the region indifferent course of its history, having their own distinctive languages, cultures and customs. They entered this land from various directionsin different course of her history and got settle down permanently. The whole population of Assam therefore may broadly be categorized as the aboriginal and non-aboriginal tribes and caste. In the same way the tribes in Assam can be divided into two segment viz., plain and hill tribes. These groups originally belonged to Mongoloid and the Tibeto-Burman family who entered Assam from the east and south East Asia at different times. The hills tribes include the Nagas, the Mizos, the Karbis, the Khasis, the Garos etc, and tribes like Bodos, Mising, Kacharis, Deoris, etc are falls in the plain category. Among all these various groups of people, with the passes of time, the assimilation process was started and it had contributed toward the formation of diverse Assamese culture and society. Gradually the process which also be termed as Assamesization was going on. But with the passes of time this process has faced several challenges. Every one individual community was not satisfied with the process. As a result a separatist tendency was started which ultimately acquire the shape of autonomy movement in Assam. So from the last phases of the British rule and also after the independence, the sense of vigilant for their own socio cultural linguistic and identity was arise among the various groups of people and they want to keep away their own culture and tradition from Assamesization process. The tribal people both hills and plain ware showed their acquaintance on this regard.

Another important fact is that these groups of people and their land never came under any foreign domination before the British annexation of this region with the rest of India through Treaty of Yandaboo. The British Administration grouped and regrouped the territories and its people in other to suit their interest. The colonial rule gradually brought the neighboring hills areas of Assam under the administrative jurisdiction of the same. Therefore the Khasis and the Jayantia hills were annexed with administration of Assam in 1828, the Garo hills in 1871, Naga and Lushai hills in 1890 and NEFA in 1911 as well. So dissatisfaction toward this activity was aroused and many a time they started to seen it as internal as well as external aggression by the British along with caste Hindu. They were not familiar with this newly introduced system as they have been maintaining their rules and course of action of their own. So they gradually started showing their dissatisfaction towards the newly introduced alien administration. After the independence it leads to born separatist tendency among different groups and demand for autonomy become one of the most discussed issue in the region. Most of the tribal groups whether plain or hills started to show their dissatisfaction and in the name of to protection of their distinct socio-political and cultural existence they gradually started uprising and try to throw away the dominance of others.

Raise of question regarding ethnicity and emergence of movement on and around in this issue had started in Assam long back to the 1906, when for the first time the people of Assam had got its 1st legislative council but the new political system introduced by the British government had generated a fear-psychosis among different ethnic groups. Punctuated suddenly by a modern political economy, the tribal groups who traditionally used to live a primordial life in a

primitive manner became suspicious that whether the new system would be sincere enough to protect and preserved their socio-cultural identity. They felt insecure and were afraid of being vanished of it. They decided to make a search for a system in which they could feel protected within the framework of the modern political system

Prior to independence, for the first time in the history, tribal people from Assam raised demand for reservation of seats in various elected bodies in 1928-29 time when the Simon Commission visited Assam.This event may be considered as the seeds of political aspiration that developed as Assam Plain Tribal League in 1933 and gave rise to popularizing a sense of autonomy among the tribal communities.Through the Tribal League, the Tribal communities, specially the Plain Tribal Communities made effort to assert political aspirations.

During pre-independent era, especially by 1930s, educated elites had emerged among the tribal communities, and they formed the Assam Plain Tribal League. In the state of Assam, in those days, there were had only three political force– The Congress, Tribal League and Muslim League. But with the induction of Bhimbar Deori into Assam Ministry who was the President of the Tribal League, the activities of the League happened to be gradually inclined toward congress and finally became inactive. As a result of it an agreement taken place between the Assam Plain Tribal League, and the Assam Pradesh congress on 10th September1939 in Shilong, although subsequently they also entered in to another agreement with Assam Muslim League headed by Sir Md. Saddullah on 16th march 1940. Nevertheless, after independent of the country in 1947, the tribal people eagerly expected justice and safeguards from the national government in all respects. On this regards the various ethnic groups of the State sign a memorandum in 1946, which demanded the provisions for separate Electoral College and separate political identity for the Tribal, both hills and plains.

On the other hand at the time of partition of India the Tribal leaders were not in favour to joint with either India or Pakistan. Instead in the mid of the 1940s a feeling grew among some of the Plains Tribes elite in favours of an independent political existence for Assam as a means of safeguarding their distinct tribal identity. Along with it tribal groups were feeling that they have some common fact like crisis of identity, the feeling of a sense so deprivation etc. and so they tended to unit together and make a common working arrangement in goal of their distinct identity. Thus the All Assam Tribes and Races Federation was formed at Shilong in 1944 at enthusiastic yet together of representatives of various tribes and races of Assam with a view to securing their political, economic and cultural welfare by promoting corporation and solidarity among them[4].

After independence of India on the basis of Bordoloi sub-committee recommendation the six schedules was incorporated in the constitution and granted more autonomy to the hills district namely Khasi and Jayentia hills, Naga hills, Mizu hills district and North East frontier agency, Karbi Anglong Hills district etc. But the areas inhabitant by the plain tribes like Bodo, Mising, Tiwa, Sonwal Kachari, Deori etc. were left out from the provision of the sixth schedule. Even after passes of more than three decades from the India's independence, conditions of the plain tribes was not change. So the Plain tribes of Assam felt a sense of deprivation, realized the need of organizing their respective communities and started demand for more autonomy under the sixth schedule of the constitution. To responding this demands the Government of Assam had decided to create statutory autonomous councils for various tribes like Bodo, Mising, Tiwa, Rabha, Sonowal Kachari etc.; but except the Bodo all other tribes are granted autonomy without demarcating the boundary. So all tribal groups in Assam along with the Mising was not satisfied with this as it was seem as not sufficient for all round development as well as protect and preserved their ethnic identity of their respected communities. As a result, therefore some of them started demanding greater autonomy under the sixth schedule of the constitution of India.

On the other hand in order to strengthen its language as well as to ensure a strong position among other languages of the country a section of Assamese elite class want to make Assamese as the Official Language of the state. Responding to this demand Official Language Bill was introduced and passed in the Assam Legislative Assembly in 1960. But this lead to a fear psychosis among different sections including tribal population who have has own language or dialect for communication and they have seen it as

an act of imposition of Assamese language over them and it can lead to elimination of their own language. So various tribal people vehemently opposed this act and it also becomes one of the root causes for demand for greater autonomy in Assam.

In the name of autonomy various ethnic groups have been demanding separate state, separate district or separate autonomous council. In the name of autonomy Nagaland 1963, Meghalaya 1972, Mizoram 1971 etc. state were became separate from the Assam and formed new states. Again Karbis, Dimasas and Bodos also have been demanding for separate states. For demanding greater autonomy generally democratic means has been used, but many a time, it leads to secessionist activities in the region.

Observing the various activities of various ethnic groups for autonomy, the government of Assam decided to set autonomous council for them under jurisdiction of government of Assam. In 1993 Bodo Accord was signed and they had given autonomous council. Moreover in 1995, then Chief Minister Hiteshwar Saikia government decided to form the Autonomous Council for Mising, Rabha, Tiwa, and Deori etc. under this decision government had decided to give autonomy to the various plains tribe. But they feel that the facilities which provided under the government of Assam were not sufficient for them. So, they raised voice for greater autonomy under the six schedules. One important aspect is notable that after a long assertion Bodo community able to formed Autonomous Council (B.T.C) in 2003. But other Plain tribes are not able to get it. So they have been continuing their demands.

Findings of the study and Conclusion: From the above study it is found that issue regarding demand for autonomy is a serious matter of concern in Assam. Assam, one of the peripheral regions, has already witnessed various level of insufficiency; but demand for autonomy becomes another level of cause of concern issue for the region In the name of demand for autonomy several movements have been going on. Despite democratic means is popular in autonomy movement, but many groups have emerged in the region with the secessionist tendency, those who want to raise war against established authority in the name of protection of ethnic identity and demand for more autonomy. It can leads to serious law and order situation in the region. But in recent time comparative improvement is visible in Assam but yet long walk to go. In order to bring durable solution, proper democratic decentralization is necessary. A proper grievance redressed mechanism has to be developed. Confidence building among different ethnic communities spread of education and awareness, commitment to protection of district identities, promotion of multiculturalism; respect to the diversity, fulfilment of essentialities, infrastructural development etc has to be ensured by the state authority. Initiative has to be made to end the sense of deprivation, misinformation must be controlled. Politics regarding demand for autonomy should be problem solving rather problem generating. In order to ensure stability, development and prosperity we need to have to find proper solution for the issues and for doing so we need to have deep understanding and research on it.

Bibliography:

Bhadra, K.R. and Mita Bhadra. Ethnic Movement and Social Structure. Jaipur: Rawat Publication, 2007.Das, N. K. Ethnic Identity, Ethnicity and Social Stratification in North East India. New Delhi: Inter India Publication, 1989.Deb, J. Bimal (ed). Ethnic Issues, Secularism and Conflict Resolution in North East India. New Delhi-110059: Concept Publishing Company, n.d.Hazarika, Niru. Ethnic Autonomy Question in North East India: Search for Answer. Guwahati,781001: Spectrum Publication, 2005.Phukon, Girin. Ethnicisation of Politics in North East India. New Delhi 110014: South Asian Publisher, 2003.Shah, Ghanshyam. Social Movement in India. Wassenaar: Netherlands Institute for Advance Study in the humanities and Social Sciences, Wassenaar, 2004.Sonowal, C.J. (ed). Question for Identity, Autonomy and Development; the Contemporary Trends of ethnic and tribal assertion in Assam. New Delhi: Akansha Publishing House, 2010.Tribal Movement for Autonomous state in Assam. 02 05 2019 < jstor < www.jstor.org/stable/4377333>>.

(Bhadra and Bhadra; Das; Deb; Hazarika; Phukon; Shah; Sonowal; Tribal Movement for Autonomous state in Assam)

Buranji Literature: A repository of history of medieval Assam

-Monjit Gogoi
Assistant Professor, Dept. of History,
Government Model College, Kaziranga,
Assam

-Bismita Bora
Research scholar, Dept. of History,
Assam University

Abstract: *In the history of literature of Assam, development of buranji literature is noteworthy from various standpoints. Historic Ahom dynasty of Assam who ruled Assam for a prolonged period of six hundred years developed this literature in order to preserve their recent past in an organised way. Therefore, this literature had not only deals with the history of Ahom dynasty but also depict a holistic picture of medieval Assamese society. Since the period of Ahom rule in Assam was significant from various socio-political development this is why under the royal patronization these buranji literature highlights these development in a systematic order. Therefore, in this paper an attempt has been made to understand its relevance in reconstruction of history of medieval Assam.*

Keywords: Assam, buranji, history, literature, Ahom, medieval.

Objectives of the Study: Objectives of the study are as follows

1. To understand the development of *Buranji* literature in medieval Assam.
2. To study the importance of *Buranji* literature as a source of history of Medieval Assam.

Discussion: Establishment of Ahom rule in the first half of thirteenth century was a remarkable chapter in Assam history. Ahom are an offshoot of the branch of the Shan branch of the Tais of South East Asia who ruled in Assam from the early part of the 13^{th} century A.D. to the middle of the 19^{th} century. In their prolonged period of rule they not only showed their concern on political and administrative policies but also emphasized on the development of culture and literature as well. Therefore, from the time of Sukapha, the first king of Ahom, a tradition of chronicle or *Buranji* writing as a repository of various events was being started in Assam. In this context it is to be mentioned that like *buranji* of medieval Assam similar tradition of chronicle writings were there in Tripura as Rajmala and as Bakhar in Maharastra. *Buranji* writing process was taken care of by the royal house of Ahom and special treatment was given for its preservation. Since these were the repository of their past events and achievements therefore, we can find out the needed historicity for reconstruction of history of medieval Assam. These *buranji* literatures had not only enriched the granary of Assamese literature but also give a platform to understand the past through the lens of literature.

Buranji writing culture which was initiated by the Ahom in medieval Assam is a noteworthy development not only in the field of historiography but also an unprecedented development in Assamese literature. The Ahom brought the practice of writing *buranji* from Maulung to Assam via Patkai hills. The *buranji* tradition bore a marked similarity with the Southeast Asian tradition of historical chronicles. The writing of *buranji* started in Assam after the establishment of Ahom kingdom by Sukapha. As a repository of various past socio-political developments of Ahom period, it describes socio-political, economic, religious and also ways of life of kings of Ahom dynasty in chronological order. However, *buranji* mainly deals with the political events like warfare, diplomatic correspondences, administrative works, reports of ambassadors or frontier officers, architectural works, etc.

At the very outset of its development *buranjis* were written in Tai language however, from the reign of Suhungmung or Dihingia Raja it seemed to be written in Assamese language as well. Since then, numerous *buranjis* were compiled both in Tai-Ahom and Assamese under the orders of the kings, their ministers, or chief officers of the state. However, some scholars

countered this view by saying that this process of writing *buranji* in Assamese language had been developed in seventeenth century. In this context the Dimbeswar Neog, a notable scholar of Assam says "There is nothing in the style and language to warrant that it was written about the first quarter of sixteenth century, but the style has something in it so say that it was certainly not later than the early sixteenth century".

Regarding importance of *buranji*, E. A. Gait in his book 'A History of Assam' mentions that these buranjis contain a careful, reliable and continuous narrative of Ahom rule. These documents were the digests of periodic reports transmitted to the court by military, commanders and frontier governors, diplomatic, epistles sent and received from foreign rulers and allies, judicial and revenue papers submitted the kings and ministers for their final orders and the day-to-day annuals of the court which incorporated all the transactions done, important utterances made and significant occurrences.

Excluding two *buranjis*, all other buranji have been written in the form of prose. Ahom rulers and bureaucracies had patronaged the writing of *buranjis* during the time of medieval Assam. The most general use of these works was within the limited elites of the Ahom administration and Ahom bureaucracy had complete control over the production and distribution of these *buranji*. Gandhia Phukan was in charge of the *buranjis* as well as royal documents of Ahom dynasty. Later, a separate official called Chiring Phukan also had been given the charge of the practical work of writing *buranji*. From the middle of the 18th century, another superior executive called Barbaruah and ranked below a minister, usurped the function of producing *buranji*. So, it implied that Ahom rulers had put lots of importance to writing *buranji* for their future reference and also, they wanted to convey their intrepidity to their next generation through *buranji*. Though *buranji* writing was confined only to the hand of a few officials of Ahom monarch it helps to give light on the contemporary society of that period.

Prominent historical writer S.L Baruah divided *buranji* into three-part based on its writing nature.

1. Lai-Lik Buranji: It covers all topics relating the political history and, in this section, where *buranji* deals with many events.
2. Lit Buranji: In this section, where chronicle dealing with only one event.
3. Chakaripheti Buranji: It deals with the origin and the lineage of the Ahom families. But further Kirtichandra Barbarua burnt many of these types of buranji because of an offensive statement.

Sometimes some *buranji* is named after the designation of individuals or any organization. Dantiyaliaburanji, Chng-rung PhukanarBuranji, Satria Buranji, Katakiburanji etc. are the example of designation based buranji. On the other hand, some buranjis were named based on a particular clan. For example, Tungkhungiaburanji, which deals with the rule of the Tungkhungia clan of Ahom kings from Gadadgar Singha to Kamaleswar Singha (1681-1810 AD). Besides, most of the *buranjis* and their writers are anonymous. They were hide their name along with the name of their writings may be because of their security. Many contemporary states of the Ahom started writing *buranji* at that time. Some of them are Padshah Buranji, Tripura Buranji, Jayantia Buranji, Kachari Buranji and so on. Study of these *buranjis*, helps us in analyzing political, economic, military, and also diplomatic relations of the states with Ahom dynasty.

Buranji literature can be considered as an important source of Medieval Assam's history. The tradition of *buranji* writing has been carried by Ahom while they established their monarchical rule in Assam in 1228 AD. Due to the royal patronization, *buranjis* were bound to describe the political, economic, military, social as well as diplomatic aspects of that period. On the other hand, as the *buranji* writing tradition started

in medieval Assam, it highlights the relationship of the Ahoms with other parts of India. Mainly, *buranji* helps to know the political ties between Ahom and contemporary ruling dynasties from mainland India. Thus, it helps to know the contemporary politics, administrative policies, archaeological plans, and other aspects of the socio-economic life of the common people. Since *Buranjis* followed the chronological order of the works and rules of kings. Therefore, it helps to analyze the time period of kings and their works

The culture of writing *Buranji* and its preservation, which began in the medieval Assam, is considered as the document for today. Because it helps to unfold the chapters of medieval Assam and its glorious past. During the time of Ahom period, many kings and officials tried to vanish many *buranjis* for keep maintain the privacy of monarchical subjects and also get a ride from the offensive statement from the writers. Therefore, it prevents clearly understanding the past of medieval Assam. Though there are various loopholes or disturbances to understanding the *buranji*, we cannot deny the effective aspects of *buranji*. However, *buranji* has gained a special place in history and also the literature for writing in the language of the common man in narrative form. So, *buranjis* are a unique piece literature to define the past events of medieval Assam in general and Ahom dynasty in particular. A prominent scholar Lila Gogoi said that "*buranjis* are the expression of the language of the common men and the ruling class of the royal court of the Ahom kingdom". *Buranjis* are also considered as the most authentic literary source of the medieval history of Assam because there are no religious biases to focus only a few portions of the society.

After the establishment of colonial rule started in Assam, a new trend of understanding of history has begun. Colonial writers have tried to unfold the past of Medieval Assam history through the archaeological remains. Though they tried to decipher the writing of *buronji* however, after the rise of the new nationalism era against the colonial rule, many Assamese enthusiastic writers evolve to define *buranji* in different ways. They started a movement to study *buronji* and its understanding from a different perspective. S. K Bhuyan, Hiteswar Barbaruah are of them. They complied, edited, and published many anonymous versions of *buranji*. They applied *buranji* as a key tool to identify the pre-colonial Assam.

Conclusion: From the above discussion we can come to this conclusion that development of *buranji* literature under the royal initiative of Ahom in medieval Assam was a noteworthy aspect in the history of Assamese literature. These *buranjis* used to preserve important socio-cultural and other relevant activities of society of medieval Assam in general and Ahom in particular which depicts the holistic picture of medieval Assam. Therefore, it can be said that *buranjis* are the repository of medieval history of Assam and its preservation is also important task for society.

References:

1. Nath, Dambarudhar. (2009). Asom Buranji, Arun Praksasan, Guwahati.
2. Gogoi, Lila. (1988). Buranji Sahitya, Student emporium, Dibrugarh.
3. Baruah, S.L. (2012). A Comprehensive History of Assam, Munshiram Manoharlal Publisher, New Delhi.
4. Gait, E.A. (2008). A History of Assam, EBH Publishers, Guwahati.
5. Pathak, Uttam Chandra. (2006). Asomia Buranji Sahityar Bislekhanatmok Adhayan, Patsala.
6. Bhatacharyya, Basanta Kumar. (1994). Madhyajugar Sahitya, Samannay Ganthalaya, Nalbari.
7. Saikia, Arupjyoti. (2008).History, Buranji and Nation: Suryya Kumar Bhuyan's histories in twentieth-century Assam, The Indian Economic and Social History Review, 45, 4.

Contributions of the Emerging Women Leadership in the Panchayati Raj Institutions (PRIs) towards

-Dr. Jayanta Baruah
Associate Professor,Dept. of Political Science
T.H.B. College, Jamugurihat,
Sonitpur, Assam

ABSTRACT

The success and strength of a democracy lies on the involvement of people in the administration. Institutions of Rural Local Governance or Panchayati Raj Institutions (PRIs) acts as the basic unit of Indian democracy. These institutions aim at ensuring people's participation at the grass-root level of the political system. Under this system people are associated with the running of the government at the lowest level and are entrusted with the responsibility of implementing their own plans. The 73rd Constitutional Amendment Act of 1992 can be regarded as the revolutionary step in the history of constitutional evolution in India. By this amendment constitutional status had been granted to Panchayati Raj Institutions adding some special features. Since then participation of people has been increasing in the Pachayati Raj Institutions which in turn helping strengthening democracy in India. The 73rd Amendment Act of the Indian Constitution has helped India greatly in women empowerment by making 33 percent reservation of seats for women in PRIs. Later on the number has been increased up to 50 percent in some states. This provision has helped women of our society to participate in the decision making or policy formation process in its real sense. In our study we will try to make an indepth inquiry about the contribution of the women representatives of PRIs towards the development of our society by discharging their duty as President of Gaon Panchayat, Member of Anchalik Panchayat, Member of Zilla Parishad and Ward Members under the PRIs of Naduar Development Block of Jamugurihat, Sonitpur, Assam, India. Their level of awareness or empowerment will be examined and also the hurdles that come on the way in the time of functioning will also be highlighted.

Key words: panchayati raj, empowerment, participation, duty

Introduction:

India adopts 'Democracy' as its form of government. Democracy literally means the rule of the people. The success of a democratic government mainly depends upon the participation of people in the decision making or policy formation process of the government. As India is recognized as the largest democracy in the world, hence the governments in the Centre as well as in the States are trying to involve more people in the administration. Again, the pillars of a democratic government are liberty and equality. Hence, everyone should get equal opportunity in a democratic government.

The efforts of the Central as well as the State governments are praise worthy to make Indian democracy a vibrant one through the involvement of people in the decision or policy formation process. The 73rd Constitutional Amendment Act of 1992 is worth mentioning in this context. This Constitutional Amendment Act conferred the constitutional status to the institutions of Rural local governance or the Panchayati Raj Institutions (PRIs). Along with the sources of funds, it has transferred 29 subjects to function and also made provisions of 33 percent reservation of seats for women in the PRIs, helping India greatly in matters women empowerment- which is the need of the hour.

In most of the societies in the world women are still deprived in all spheres in their life. India is no exception. Women have been deprived in all concerns-social, political, economic though the Constitution of India guarantees Equal Opportunity for all.

Indian women are still lagging behind in education, their representation in the Central and State legislatures are low, they are mostly deprived from their ancestral property. Though a good number of legal provisions have been enacted but still they are depriving in the society.

The Women Reservation Bill or the Constitution (108th Amendment) Bill was a good endeavor and was designed to give 33 percent reservation to women in the Central as well as in the State legislatures, is still pending in the parliament since 2008 for not getting two-third majority support. On the other hand, the 73rd Constitutional Amendment Act brings a ray of hope for the women community of India which has given 33 percent reservations of seats in the PRIs. It is well known that these PRIs are considered as the centres of democratic training; hence women community of India after acquiring political knowledge as representatives in the PRIs, could shoulder higher political responsibility later on. It is a fact that in India at present, a larger section of women in the society has been working with great aspirations and enthusiasm in the PRIs as representatives of the people and are contributing a lot for the development of their society.

Methodology:

The study is purely an empirical one. To collect data for the study women representatives under Naduar Development Block of Jamugurihat, Sonitpur, Assam, were interacted and asked about their experiences as representatives of the people. Some prominent citizens were also interacted to know the ability of function of the women representatives. It is to be mention here that the 73rd Constitutional Amendment Act of 1992 recognized the formation of three tier PRIs in India. Though these institutions are known in different names in different states in India but in Assam the institutions of PRIs which are at the lower level are known as Gaon Panchayat, the institutions which are at the block level are known as Anchalik Panchayat and in the top level there is Zila parishad. Under the Naduar Development Block there are 10(ten) Gaon Panchayats. There is Naduar Anchalik Panchayat in the block level. Only one (01) member was elected to Sonitpur Zilla Parishad. Under the block there are six(06) women representatives discharging their duty as member of Naduar Anchalik Panchayat, five women representatives are discharging their duty as President of Gaon Panchayats, and there are fifty one(51) women representatives discharging their duty as ward member. It is also to be noted that the women representatives were elected to their office through the election held on 5th of December, 2018. Though the duties and responsibilities of the women representatives are different according to their post and position but we have received same type of answers regarding their duties and functions as member of PRIs in our interactions.

Contributions of Women Representatives towards their Society:

The aim to make the women community of India empowered through giving them the representation in the PRIs are successful to a large extent as the women representatives of our study are working in their area with great enthusiasm. Most of the prominent citizens were also interacted to collect data regarding the working of the women representatives, responded positively about their ability to function. Data shows that almost all the women representatives are elected for the first time to their office. According to them, they faced tremendous problems in their early days as representatives to understand the rules and regulations, schemes provided for their beneficiaries. Now they can easily understand all the works allotted to them. It is a matter of great pride that almost all the women representatives under Naduar Development Block devoted them in making people aware about the Covid-19 Pandemic in 2019-20. They also helped the needy people in those days. A majority of the women representatives were busy in the formation of the Self-Help Groups (SHGs) to bring economic upliftment for the rural women. The process of formation of the SHGs is still continuing. Again, preparation of schemes for the SHGs and their approval from the higher authority and the supervision of the implementation of these schemes are some of the important works of all the women representatives of our study. The schemes mainly include weaving, gottary and piggery farming, fish farming, diary etc. Hence, the women representatives are all devoted to bring

economic well being to the rural poor family of their concerned area.

Implementation of MGNREGA scheme is also an important work of the women representatives. According to them, schemes of rural development such as road construction and renovation, renovations of different institutions such as Namghar (Prayer Home), Ranga Mancha (Drama Stage) etc are funded through MGNREGA. In this scheme a huge percentage is given for daily wage for the workers and a few percentages is considered for materials. If not supervised properly then there would be difficulties in management of the works and the accounts. It has come to light from our study that the women representatives have done a great job by making their beneficiaries perfect in bank transactions. It has been observed that most of the people of our society, especially illiterate people, finds very difficult in the bank transaction process. Fill up deposit or withdrawal forms becomes very difficult for them though there are provisions of fill up forms in vernacular language. But the continuous guidance of the women representative's bank transactions becomes an easy process for most of the beneficiaries of their area. This can also be a very appreciating role played by the women representatives and can be regarded as a great contribution towards the development of the society by making a large section of people empowered.

Distributions of various forms provided by the government to the beneficiaries are also an important works of the representatives. After announcement of the schemes by the government, representatives are asked immediately by the beneficiaries to provide them the forms. According to a huge majority of the representatives, this is the tough time for them as they are unable to provide forms after one day or two days of announcement of the schemes. But according to them, the beneficiaries are convinced on the promises made by them. 'Arunoday', 'Swayam' 'Widow Pension', 'Old Age Pension' are some of the important schemes which have brought tremendous economic upliftment of the rural poor people.

As it has been already mentioned that 29 subjects listed in the Eleventh Schedule (Article 243G) have been transferred to the PRIs to work, hence the responsibility and the accountability of the representatives of the PRIs have been increasing day by day. Some of the important subjects including in the list are agriculture extension, minor irrigation, land reforms, land development, animal husbandry, dairying and poultry, water management and water shed development, soil forestry, small scale industries, khadi village, rural housing, drinking water, education including primary and secondary, sanitation etc. hence, due to the ever increasing burden of work, the women representatives mostly fails in their time management.

It has been observed that to perform the duty as the representatives of the PRIs at present is not an easy task. Representatives of the PRIs are now to work for the development of education to proper distribution of food items. Hence, discharging duty with wisely and honestly can make our women representatives fit to shoulder higher political and social responsibility in the future. In our study it has been come to light that a huge majority of our respondent has discharged their duty very sincerely and contributed a lot for the development of their society.

Hurdles that come on their Way:

The process and procedures of the functioning of government offices are very critical. It will be difficult for a lay man to understand these process and procedures quickly. As it has been mentioned already that almost all our respondents are new comers hence they found very difficult to understand the rules and regulations of their office in the beginning. Hence, it will be the duty of the government to make provisions for skill enhancement training for the representatives of the PRIs in the beginning of their office so that they can understand the rules and regulations easily and can work perfectly from the beginning.

Finance can be regarded as the soul of all successful functioning. The success or failure of an organization or an activity largely depends on finance. According to our respondents, the burdens of works of the PRIs are increasing continuously. On the other hand, the aspirations and the wish of the people to get more from

the PRIs are also increasing day by day. But the sources of finance of the PRIs are very limited. Imposition of taxes and the Grant-in-Aid of the government are the main sources of finance of the PRIs. So, it becomes difficult for them to fulfill all the promises made to the people with a limited financial source. The government should provide more financial aids to the PRIs considering the interest and welfare of the rural people.

Education makes individual perfect. Educated person easily judge what is right or wrong, just or unjust. It has already been mentioned above that the working procedure of the government offices are very critical. So, while selecting representatives to PRIs education of the candidates should given utmost importance. Otherwise they will not be able to work properly. Decision making is a very crucial subject. Welfare of people mainly depends on the good and just decision making. An educated person may take good decisions in a crucial situation. It has been observed that most of the representatives of the PRIs, mainly women representatives, depend on their husband, father in laws, President and secretary of the PRIs on matters of decision making, which is not a good sign for a democratic welfare state. In our survey we have found that a good number of respondents of our study are highly educated. Among the fifty one (51) women representatives who are discharging their duty as ward member, a majority of them are matric fail. So, the government may formulate policy regarding educational qualification of the candidates to be contested in the election to the PRIs.

Control of higher authority on the workings of panchayati Raj Institutions should be limited. It has been observed that though the representatives are elected by the people in a free and fair election conducted by the State Election Commission but the representatives are not free to function their own. Their works are control by the higher authority like Anchalik Panchayat, Member of the Legislatives Assembly and so on. Most of the respondents are of the opinion that they are not free to work of their own wish. Again, the representatives who won election from the party in opposition have been facing tremendous problems and pressure in their workings. Hence, as these PRIs are considered as the training centres of democratic systems, hence representatives of these institutions should be given free environment to work, so that the main goal can be achieved.

Conclusion:

The Pachayati Raj Institutions (PRIs) have been working as the basic training centres of our democratic polity. Participating in the decision making process in the grass-root level democracy people are now busy in solving their own problems in their locality. The 73rd Constitutional Amendment Act of 1992 is worth mentioning which cleared the path for women to participate in the political office in the lower level of administration by considering 33 percent reservation of seats. Now women in India are working for the welfare of people through the working in the PRIs equally with their man counterparts. In our study it has come to the light that women are sincerely working and are devoted themselves for the development of the people and their society as representatives of the PRIs. Hence, PRIs in India are working as a powerful means of women empowerment. Finally, we can say that the 73rd Amendment Act of 1992 had done a commendable job by giving women community of India a chance to participate actively in the grass-root level democracy by considering 33 percent reservation, must pass the Women Reservation Bill to give justice to the woman community of India, who constitutes half of the population, which is pending in the parliament since 2008.

*****

References:

1.Debi Ram, 1994, Women of Assam, Omsons Publications.

2.Kaushik Sisheela, 1993, Women and Pachayati Raj, Har-Anand Publications.

3.Office of the Naduar Development Block of Jamugurihat, Sonitpur, Assam.

4.Offices of the various Pachayats under Naduar Development Block, Jamugurihat, Sonitpur, Assam.

Challenging Stereo Types: Altering the Stereotype of Dependent Woman in the Fictional works of Indian Women Novelists

-Sonawane Tejal Mark
Aurangabad (M.S)
Mob.No.9890555455

Abstract

This paper is an attempt to study the India urban women's struggle against being stereotyped. This study focuses on the women's social identities as represented in the selected novels of three Indian novelists.

My basic purpose in this paper is to analyze how contemporary Indian women novelists have altered the stereotype of 'dependent Indian women' in their narratives .As Simone de Beauvoir, the French feminist, states in her book The Second Sex,"…her wings are cut and then she is blamed for not knowing how to fly."

Key Words

Anguish, Feminism, Dominance, Stereotype, Patriarchy. Protagonist

Every patriarchal society resorts to stereotyping women as one of the 'ideological tools' through which it can impose domination over women .In a society dominance is when a group gains upper hand and thus it tries to monopolize the resources in an attempt to maintain and continue its privileged status. Dominance takes place when those on the top of the social hierarchy get what they want, while those at the bottom tends to have less access to material awards, freedom, recognition and services from others. In every society gender based dominance has existed perhaps with special exceptions. Thus in a society patriarchy is a form of social organization in which a male is the head of the family and has all the power to control and be a dominant individual. This gender classification is used by society throughout history thus making men as a group to be the dominant gender. This patriarchal society sets the glass so high enough that women cannot reach it or break it, thereby keeping the male in the dominant position. These ideas of gender play a prominent role in how one acts and how one is looked upon in a society.

From a very young age children are taught to be feminine or masculine. Our thought, our behavior consciously or unconsciously is directed by what has been installed in our heads as stereotypes. Stereotypes can be considered as 'simplistic generalizations about gender attributes, differences, roles of individuals or groups'. Gender stereotyping of men and women can be considered as a general widespread phenomenon with no exception to India since centuries. Even though we are liberated in our beliefs and attitudes many of our actions are still influenced by gender stereotyping and misconceptions about men and women that have been passed down through the generations. Stereotypes are often used as an instrument of power. They dictate our social standards; they control the way humans think and act. Stereotyping can be unconscious where it subtly biases our decisions and actions even in people who consciously do not want to be biased. The continuance of the patriarchal system is not merely an act of men but it is an effect of the overall social behavior of men and women which is influenced by the gender ideologies, thus making gender not an 'essential quality' but a 'socially constructed quality'.

Men in a patriarchal society are often stereotyped as subject, objective, strong, financial provider/ bread winner, powerful, independent, etc. while women are stereotyped as object, subjective, weak, needy, powerless, dependent, etc. These stereotypical views led us to believe that a man is the hero and women need to be saved and hence men and women must conduct their lives to preserve these illusions. Thus he must be the best and cannot falter, be fearful, or insecure. And she must be submissive and less. She cannot be powerful, self sufficient and independent. A man develops the vanity to maintain the stereotyped view of him as superior while women develops a victimized approach to life in order to maintain their powerlessness. Hence a man relies on the built-up stereotypical image of his thus rejecting the part of himself that is sensitive and vulnerable. A woman rejects the part of herself that is strong,

powerful and independent. As a result men and women buy into these stereotyped images of themselves and become not only the victims of these prejudices but also coconspirators in spreading these prejudiced attitudes.

In India the patriarchal society continues to stereotype women as a sacred mother, dependent one, an object of man's protection, helpless, and a vulnerable species that cannot survive without masculine support. She is expected to stay only in her boundaries. Being stereotyped thus she is incapable of guarding her body, exercising her intellect or achieving economic gains. The patriarchal society makes her dependent on others because she is unable to protect herself from the outer world. Thus she is forced to confine herself within the boundaries of the domestic world where she can remain protected.

Simone de Beauvoir in chapter 6 'Woman's Situation and Character' of the above-mentioned book states that, a woman develops a vulnerable dependence, helpless attitude for herself and "gives up criticizing, investigating, judging for herself and leaves all this to the superior caste'' or the masculine world.

Thus she fails to see herself as a person capable of crossing the threshold because her act of stepping over the threshold can be considered as an act of violation of the patriarchal world. Simone de Beauvoir adds,

"One is not born woman, but rather becomes a woman"

This is de Beauvoir's most famous statement. It represents her argument that femininity does not arise from differences in biology, psychology, or intellect. Rather, it is a construction of civilization, a reflection not of "essential" differences in men and women but of differences in their situation. Situation determines character, not the other way round. Woman is not born fully formed; she is gradually shaped by her upbringing. Biology does not determine what makes a woman a woman—a woman learns her role from man and others in society. Woman is not born passive, secondary, and nonessential, but all the forces in the external world have conspired to make her so. Every individual self, regardless of gender, is entitled to subjectivity; it is only outside forces that have conspired to rob woman of this right. Destiny is not a cosmic force but a human choice, the result of culture and circumstance. She shows how at each stage of woman's upbringing, a girl is conditioned into accepting passivity, dependence, repetition, inwardness, etc. According to de Beauvoir, every force in society conspires to deprive woman of subjectivity and flatten her into an 'object 'and deny the possibility of independent work or creative fulfillment. As Voltaire states,

"It is not inequality which is the real misfortune but it is dependency"

This paper solely focuses on the 'dependent woman stereotype' because it is a major issue in the subjugation of women. According to Simone de Beauvoir, "she is occupied without ever doing anything, and thus she identifies herself with what she has. This dependence on things, is a consequence of the dependence in which men keep her." The patriarchal society makes her dependent in order to maintain and perpetuate its dominance. This research problem is discussed with special reference to three novels:

1. Inside the Haveli –Rama Mehta
2. That Long Silence –Shashi Deshpande
3. Temporary Answers- Jai Nimbkar

Geeta, the protagonist of Inside the Haveli , is a Mumbai based girl educated in modern values of gender equality and egalitarianism but lands up as the daughter in law in an orthodox family in Udiapur which holds on to its status of royal history and practices the purdah system and child marriage. She bears the taunts of the women with fortitude and adjusts and assimilates their traditions maintaining the unity of the family. But she breaks her silence when her sense of justice is disturbed over the education of a motherless girl, Sita . Geeta with the help of tactics taught to her by her closest maid Dhapu is able to win over the traditional reservation to obtain permission to educate the child. Later she succeeds in delaying child marriage, brings about a conditional arrangement in her child's favor, starts classes at home for educating the servants, women of her surrounding and finally wins over the point of view of all who were against her ideas. Thus she finally brings about a change in the mindset of the people urging them to let go traditions or beliefs that were outdated and harmful to the community. Finally, Geeta, rather than becoming a blind acceptor of others' decisions, takes the

initiative to change the harmful traditional ideology thereby becoming an independent decision maker.

Jaya is the lead protagonist of That Long Silence by Shashi Deshpande. She is a homemaker and an aspiring writer. She is dependent on others to provide her with support and to make decisions, especially her husband's and her father's. Even her tastes and interests are molded by the patriarchal society. In the very beginning of the novel we see that she tries to reason out with her father as why she should not listen to the songs broadcast on the radio, but ultimately she remains silent suppressing her own desires. Even when it comes to making professional decisions she is dependent on her husband, Mohan. She is concerned only about the tastes and interests of her husband. Thus she loses her own authenticity as a human being. She shapes herself according to the wishes of her husband. He kept her away from her aspirations and later he forced her to give up her job that she wanted to take, the baby she wanted to adopt and the anti price campaign she wanted to take part in . She gives up writing because she was scared because she feared that doing a job would jeopardize her marriage. She decides to remain silent because she was taught to keep mum in front of her husband and criticizing him will damage the relationship .But later by penning her story she achieves success as a woman. She describes her plight, her constraints, and her anguish and thus breaks her long silence. Writing her experience as a woman lends her a sense of independence.

Vineeta is the protagonist in Temporary Answers. She is a widow and the victim of being a woman. Although she is educated to be a practicing pediatrician, she is habituated to being dependent on others especially on her husband and other male characters. She seeks their help for decisions, support and feeling of security. However, the fear of being pushed into another relationship drives her to begin the career of a doctor. She gets involved with her patients, meets many strong women who have run their family with fortitude. Her career provides her proof of her own skills and usefulness that give her the strength and confidence to become independent and finally reject remarriage as a means of acquiring security and dependence.

Thus these three selected novels represent the struggle of women for social identity and thereby altering the stereotype of 'dependent women'. The three protagonists of the novels-- Geeta, Jaya and Vineeta-- strove heroically to overcome their cultural conditioning and the barriers created by the society .They finally emerged as free independent individuals no longer content to be led but desirous of taking lead.

Thus when a woman goes beyond her inhibitions and inferiorities imbibed from the dominant social system she is able to cross her boundaries thereby altering her stereotypical identity as a 'dependent woman'. The transgression brings about a change in the dominant patriarchal society which has hitherto attempted to perpetuate and maintain its dominance by making her dependent on it. She not only brings change in her self-perception but also in social perception.

In conclusion, we may say that these contemporary Indian women writers have altered the stereotyped image of women by portraying how the protagonists emerged as independent beings in the patriarchal society. The characters are transformed into more assertive, more liberated and more articulate human beings and they bring in for themselves dignity and independence.

References

•Simone de Beauvoir, (1972) The Second Sex, 1949, translated by H.M.Parshley Penguin

•Mehta Rama, (2000) Inside the Haveli –Penguin India

•Deshpande Shashi (1988) That Long Silence – Penguin India

•Nimbkar Jai (1974) Temporary Answers- Orient Longman

Locating the Supernatural in Contemporary Naga Society: A Reading of Select Short Stories of Avinuo Kire

- Dr Breez Mohan Hazarika
Associate Professor of English,
DCB Girls' College, Jorhat (Assam)

Abstract

Nagaland, with a dominant Christian population, remains the home to about sixteen major tribal entities. Like most tribal conglomerates of India, the Nagas also trace their history to oral sources like myths, legends and folktales. These sources point to a belief system hinging on the supernatural that includes the spirit of nature, a Supreme Creator, and human beings. The association of the three entities constitutes the Naga people's understanding of the living world. In traditional Naga practices, malevolent and benevolent spirits find space as they serve various social and spiritual needs of the people. The recognition of spirits and deities of various denominations has led to the development of a symbiotic relationship between men and nature in traditional Naga societies. However, modern education, westernisation of culture and alteration of religion have engulfed the rich heritage of the Nagas. The present paper adopting an interdisciplinary approach aims to situate if there is a reverse trend among the present generation to relocate their roots. A select reading of Avinuo Kire's short stories in The Last Light of Glory Days (TLLOGD) would serve as the primary source of the study.

Keywords: Supernatural, Myths, Legends, Folktales, Naga, Nagaland

Nagaland, with a dominant Christian population, remains the home to about sixteen major tribal entities. Like most tribal conglomerates of India, the Nagas also trace their history to oral sources like myths, legends and folktales. These sources point to a belief system hinging on the supernatural that includes the spirit of nature, a Supreme Creator, and human beings. The association of the three entities constitutes the Naga people's understanding of the living world. In traditional Naga practices, malevolent and benevolent spirits find space as they serve various social and spiritual needs of the people. The recognition of spirits and deities of various denominations has led to the development of a symbiotic relationship between men and nature in traditional Naga societies (Lkr.1010). However, modern education, westernisation of culture and alteration of religion have engulfed the rich heritage of the Nagas (Chisi 55-6). The present paper adopting an interdisciplinary approach aims to situate if there is a reverse trend among the present generation to relocate their roots. A select reading of Avinuo Kire's short stories in The Last Light of Glory Days (TLLOGD) would serve as the primary source of the study.

Avinuo Kire's short story When the Millet Fields Flower narrates how the Naga myth of Tekhumevis (weretigers) still captures the imagination of present day youngsters of Nagaland. The Tekhumevis, in Naga legends, are human beings who maintain a symbiotic relationship with the spirit of a tiger. Kire's story begins with Aleno, the protagonist of the story, having a dream where she encounters a stripped, red-coloured, furry paw stroking and caressing her cheeks almost like a human-paramour. Though the dream shakes her consciousness, Aleno cannot waste her time because the demise of her parents has made her to adopt dual roles of a bread-earner and a guardian to her two younger sisters. But that morning in the Kohima bazaar, the familiar, handsome figure of Sevizo, her co-vendor, is conspicuous by his absence. Aleno has been observing Sevizo's mysterious disappearances for weeks and the explanations he gives for such vanishings are unconvincing to her. He returns to the market after a week's absence, with reduced weight, hollow cheeks and sunken eyes caused by an illness. Soon, Sevizo regains his health, but strange things about him continue to engage Aleno's attention. One afternoon, he declines to eat any food, but she observes him "grunting and grinding his teeth as if chewing imaginary food" (Kire TLLOGD 118). But she refrains from poking into his affairs. Once while going to her garden, Aleno meets her aunty, Ania Neiu, who warns her to stay away from Sevizo and not to accept any food from him "because the

phenomenon of becoming Tekhumevi runs strong in their family" (120). She assures her aunt that she was not having any relationship with Sevizo, even though a soft corner for him developed deep in her heart.

On the path to the garden, she reflects on her aunt's words of caution, and recollects her previous dream and the inexplicable behaviour of Sevizo. Then she remembers the tales of the Tekhumevis having a "symbiotic relationship with their tiger spirits and the death of one affects the other (124). She still remembers her father, an adherent of traditional animistic practices, telling her they belong to the priestly clan of Tsiekra Liede Yie. The eldest representative of the clan performs the community's rituals pertaining to sowing and reaping paddy. Her father remains unconverted to Christianity until a few years before his death. But shortly after his conversion, he falls sick and dies. Aleno attributes the sudden demise of her father to incurring the wrath of the ancient spirits for converting into Christianity. While returning home from her garden, she contemplates about marrying Sevizo because they share an accepted identity of believing in ancient practices rather than the alien Christian beliefs – she a Tsiekra Liede Yie, while Sevizo is a Tekhumevis. As she was thinking about the prospects, she could sense Sevizo's Tekhumevi spirit "prowling beside her" and hears "a distinctive growl" Instinctively, she chants the words "Tei, Apfu, Kiju, Apfu" (129). The words are a kind of imploration to the spirits of the Sky, Father, Earth, and Mother for protection. She recollects her father telling her Tekhumevis desire others to worship them and they leave those worshipers harmless if they pray with the litany, Tei, Apfu, Kiju, Apfu. The prayer does the trick as she finds the growling disappear, even though she could anticipate the warmth of the beast guiding her way to her home.

A day after this incident, Aleno again experiences the Tekhumevi while returning home at dusk from her field. This time, she ignores the growling and attends to her inner voice, reminding her, "not to deceive herself into believing that she knew the tiger just because she knew the man" (135). Her nonchalant attitude provokes the Tekhumevi and the growls transform to furious snarls. A dilemma confronts her whether she should align with the spirit or remain as the guardian for her orphaned sisters. If she recites the litany, she may chance losing Sevizo, and if she resists, she would do a disservice to her sisters. Meanwhile, the roar of the Tekhumevi broadens, and she could feel its gigantic shadow hovering over her. She snaps her silence, makes a mute prayer before uttering the litany. Instead of Tei, Apfu, Kiju, Apfu, she is humming a recognisable tune, the lyrics of which she has forgotten. The soothing tune calms her nerves and the snarling of the tiger seems to vanish. That night, Aleno sleeps with no dreams disturbing her. The following morning she reaches the bazaar, but Sevizo is missing for all time to come. She resigns to the new reality, but sustains the expectation that she would meet Sevizo one day.

Kire's short story The Visitors represents the Naga legend of the shadowy demons called the Kamvufhi. Khriesinuo and Tuonuo are two mischievous school-going sisters, below the age of ten years. They have grown up listening to innumerable tales of the exploits of the Kamvufhi from their grandfather. Their grandfather narrates the Kamvufhi are a group of natural warriors, dressed in magnificent warrior garbs, and always carrying a sword in their hands. The stories of the Kamvufhi are so scary that the girls sometimes have sleeping problems. Their curiosity on the demons increases when they hear their mother reminding them never to enter Aunt Neibou's house because of her rumoured friendship with the Kamvufhi. One day, Khriesinuo slips away from Tuonuo and enters Aunt Neibou's house unknowingly, lured by ripe guavas growing in her garden. Neibou takes Khriesinuo to her kitchen and treats her with galho (a soupy rice delicacy) and roasted corn. As evening draws near, she locates Neibou in a restless disposition, trying every trick to send Khriesinuo home. The latter senses that something was fishy and so delayed going home by expressing her need to use the washroom. When she comes out, Neibou proposes they should play a game of hide and seek to surprise some guests arriving shortly. Her aunty, in a panicky state, takes her to the large dining table and asks her to hide under the tablecloth until she asks her to come out.

From her hiding place, Khriesinuo hears the whooshing sounds of a dozen footsteps approaching the kitchen. Echoes of laughter, people speaking loudly, and muffled voices break the silence of the room. A curious Khriesinuo peeps from underneath the tablecloth and sees giant shadows of grotesque human-like

faces and figures on the walls. She knows they are none, but the dreaded Kamvufhi. Although she could not spot any solid figures, there was a sense of "long sinewy limbs and majestic shapes of spears and shields, just like her grandfather had described" (109). She sees Aunt Neibou talking to them animatedly and hears sounds of laughter and the clinking of pots and pans. The dreadful sights and sounds overpower her, and soon she dozes off. When she wakes up, she finds everything in order except for the smell of the zutho (fermented rice beer). Then she opens the containers and finds them filled with zutho. She dips her finger and finds the brew tasteless. Khriesinuo asks her aunt to tell about the visitors. Aunt Neibou discloses their identities as the Kamvufhi . According to her, they visit areas where there are no man-made roads and vehicular traffic. The only thing they carry from the place is their favourite drink, the zutho. Her aunt explains their occurrences are rare because "there's little room for spirits in our land now" and they are departing "back to their own realm" (112). Khriesinuo promises her aunt, she will not reveal her encounter with the Kamvufhi and reaches her home escorted by Aunt Neibou.

Longkhum is a monologue dealing with the belief of the Nagas that departed spirits rest in a place called Longkhum before their last journey to paradise. The narrator's young husband dies after visiting Longkhum. His sudden demise leaves her shattered, his memories disturbing every minute of her present existence. Her dreams of living a blissful life with him continue to occupy her mind, with nothing giving her relief. One morning she leaves for Longkhum and arrives at the rhododendron forest where they spent quality time experiencing the crimson blooms. This time, there are neither blossoms nor Sato, her husband, to give her company. She spends the night at a motel, and the following morning she hears a voice asking her to return home. While returning, she stops her car midway because of extreme fatigue and exhaustion. As she closes her eyes for some rest, she hears Sato whispering to open her eyes. No sooner, she opens her eyes, magnificent colours or red and pink blossoms in the rhododendrons greet her eyes. Though there is not a single rhododendron tree, she realises her search is not in vain and Sato has not forgotten her. Then as she is about to resume her journey, a delicate red rhododendron flower with all its petals intact slips inside her car and settles in the soft cradle of her arms. That night, she places the flower in Sato's empty pillow and recollects blissfully those moments she spent together in the woodland of Longkhum.

Kire's short stories posit the supernatural thriving in the cultural space of contemporary Nagaland. Despite westernisation of its society and alteration of spiritual beliefs by Christianity, the new generation have developed tendencies to regress to their ancestral roots, their traditions, their myths, legends, folktales, and fables. In them, they find connectivity, their identity, a sense of belongingness, a history which they can call their own. When they present themselves aping alien garbs, they could visualise in those reflections images which are distorted, artificial, uprooted and blurred. The legend of the Tekhumevi is instructive of the symbiotic relationship between the human and the world of nature. Sevizo's Tekhumevi leaves Aleno unharmed because she worshipped and showed due respect to the spirit. The legend of the Kamvufhi teaches the Nagas that they are not ordinary mortals, but belong to a race of fearless warriors who could contest, confront, resist, and defeat any power in the world. The myth of Longkhum reminds about the immortality of the human soul, and the present can draw inspiration from the past, learn from its experiences and wisdom, and ride on its back to the future. Thus, Avinuo Kire's short stories locate the relevance of the supernatural (past) in a contemporary society of Nagaland, which is in search of a distinct Naga identity, having indigenous/ethnic flavour and not embellished with cosmetics imported from alien cultures.

Works cited:

1.Chisi, Y.H. Introduction to Sutsah: Sumi Language. Indigenous Cultural Society, 2009.

2.Kire, Avinuo. The Last Light of Glory Days: Stories from Nagaland. Speaking Tiger, 2021.

3.Lkr., L.M. "Biodiversity Conservation Ethos in Naga Folklore and Folk Songs." IJAR, vol. 2 issue 5, 2014, pp. 1008-13.

Understanding Jyotiba Phule as the Critic of Colonial Government and Indian Socio political Order

- **Dr. Shahiuz Zaman Ahmed**
Assistant Professor in History,
S.P.P. College, Namti, Sivasagar Assam
,

- **Dr. Umakanta Hazarika**
Assistant Professor in Poli.Science,
S.P.P. College, Namti, Sivasagar Assam

Abstract

Known as Mahatma Jotiba Phule, was an activist, thinker, social reformer, philosopher and revolutionary. His main interests are ethics, religion and humanism. He was a pioneer in women's education in Maharashtra. He was one of the most important figures in the social reform movement in Maharashtra and is rightly called the father of social revolution in India. Poole was born into a family in Mali considered a lower caste by certain segments of society. Because of his experience of being humiliated by the Brahmin's family, he faced a chasm created by the caste system. He developed a sense of social justice and a passionate critique of the caste system. He firmly believes that education is crucial to addressing social inequality. His influence and remarkable contributions to education, caste eradication, empowerment of women and the value of widows and the eradication of untouchability are commendable.

Keywords: Philosopher, Casteism, System, Revolution, Movement etc.

Introduction

Jyotiba Phule was one of the greatest social reformers of the 19th century. He was a multi-talented man who opposed prevailing social discrimination and critical speech. A humanist, social reformer, feminist and a great educator, Phule has made a contribution to rebuilding Indian society by removing the ingrained social ills in the existing social movements led by Raja Rammohan Roy, Govindo Ranade, Dayananda Saraswati Humble try. But he touched on another dark side of a society that suffers from cruel and inhuman discrimination among people. He tried to eliminate gender discrimination and economic exploitation.

Jyotiba Phule's Attitude towards Colonial Government

It is important to note that Jyotiba was very dissatisfied with the existing caste-dominated Indian society. In such a system, people were strongly and clearly divided into high and low categories. The upper class of the Brahmin class controled the entire society by exploiting the socio-economic, political, cultural and material resources. As the authority of society, it made final decisions and formulates laws and principles. A lower class called Dalit or Sudra had nothing to do with society. They were affected and humiliated as an inhuman part of society. They were excluded from the mainstream by depriving them of their equal rights and share. In this case, the British became the dominant figures in Indian society. It controled the entire socio-economic and political order by maintaining equal law and order. Every Indian must obey legal orders. Automatically creates an environment where people with lower occupations could participate in the larger social system. While the British introduced systems of education, administration, transportation, and communication for colonial purposes, everyone else benefited indirectly from them. This ambience gives the community the opportunity to enjoy certain amenities that were not available to the British before their arrival. Another very important role played by British colonialism was to end the tyranny of the Peswar kingdom in Maharashtra. During this time, the king exploited and disturbed the commoners through his brutal rule. Secondly, under such a kingdom, only the Brahmin class enjoyed the greatest facilities such as education, political and economic system. But after the arrival of the British, the kingdom was destroyed and upper caste rule was abolished. A new modern legal, educational and administrative system was introduced. The British government had established a system of equality before the law. Jyotiba phule supported such a system. He was also a product of such a modern educational and administrative system. He paid tribute to the British government and thanked the British government for providing such an equal system. He understood that without the help of the British government, no one of the lower caste will enjoy social dignity and opportunities.

Jyotiba's adoration and regard for British didn't stay for long time. At first he invited British Government for making an equivalent request for all segment .But continuously he saw that British is all the more delicate and strong to Brhamin class. It upset and tormented him. He however that British's favoritism

will annihilate his fantasy of equivalent society where all part, man ladies, high, low will get equivalent freedom and opportunity. Phule scrutinized the public authority 's strategies conflicted with legitimate society. He needed to annihilate always the control of Brahmins in friendly, monetary and political fields. In this way, he used to assault the British for supporting high station in later period. He was irate to see that the public authority was giving more assets and offices to advanced education of the majority and not of the greater classes. He scrutinized government that it isn't unbiased to all part of society. Government procured most extreme income and expenses from ordinary citizens however they were given simply least offices. He said that Brahman people group gives least charges and appreciated most extreme offices. It was very foul play and abuse to needy individuals . Hence he mentioned government for giving most extreme offices and monetary assistance to bring down segment than higher segment of society. Savarkar had a one more objection against government that authoritative positions and official post were delighted in by elegant. Lower class individuals were not really given administrative work. Government should give significance to government assistance of denied segment of society. He was pundit of British and Brahmin officials similarly. However, as per him British officials are not worried about real states of unfortunate workers and laboring class of society. He understood that British officials were worried about their own solace and pay rates. They didn't carve out adequate opportunity to be familiar with the genuine states of the workers. They didn't get the language of the laborers. Nearby Indian officials misleaded British officials for their singular advantages. He remained against British Government for taking side of Hindu high standing through ignoring the lower station. To start with period , provincial government laid out a typical framework for all segment of society yet step by step it attempted to fulfill Hindu high position to stop public development. English understood that Hindu high standing is more instructed, cognizant and political progressed. Accordingly, it attempted to fulfill them for gap and rule. Phule steadily got the rationale of pioneer government.

Jyotiba Phule As the Critic of Contemporary Socio-Political Order

Indian culture was established on the Varna framework. Phule tested the view that it was god-appointed. He held that this guarantee was made to hoodwink the lower Varnas. Since this guarantee was made by the strict texts of the Hindus, he chose, to uncover the lie of these texts. Phule relied on the contemporary speculations and his own imagination to decipher these texts. Appropriately, he accepted that Brahmins who were known as Aryans plummeted upon the fields of North India few thousand years back, potentially from Iran. They came as heros and crushed the first occupants of this land. Under the heading of the pioneers, for example, Brahma and Parshuram, Brahmins battled extended fights the first occupants. They at first chose the banks of the Ganges and later on spread-out over different pieces of the country. To keep a superior hold over the majority, they concocted the folklore, the Varna and station framework and furthermore the code of brutal and cruel regulations. They established an arrangement of brotherhood which gave the Brahmin a noticeable quality in all ceremonies. The station framework was a making of crafty Brahmins. The most elevated freedoms and honors were given to the Brahmins though Shudras and Atishudras (untouchables) were respected with disdain and hatred. Indeed, even the commonest privileges of humankind were denied to them. Their touch or even their shadow was considered as contamination. Phule reevaluated the strict text of the Hindus to show how Aryans had vanquished the first occupants. The nine symbols of Vishnu were seen by him as different phases of Aryan triumph. From those days, the Brahmins have oppressed the Shudras and Ati~hudras. For ages they have conveyed the chains of subjection of subjugation. Various Brahmin essayists like Manu have added now and again to the current legends which oppress the personalities of the majority. Phule thought about the arrangement of bondage manufactured by the Brahmins with servitude in America and brought up that Shudras needed to experience more prominent difficulties and mistreatment than the blacks. He believed that this arrangement of narrow minded notion and dogmatism was answerable for the stagnation and every one of the disasters from which India was languishing over hundreds of years. In the wake of portraying the account of Brahmin mastery before. Phule lets us know how in. his times things had not changed much with the exception of appearance of the edified rule of Britain. The Brahmin kept on taking advantage of the Shudra from his introduction to the world to a ridiculous degree. Assuming some pretense of religion, the Brahmin mediated and interfered in each and all that the Shudra did. A Brahmin attempted to take advantage of him in his ability as a minister, yet did as such in various alternate ways too. Because of his advanced education, he

had consumed every one of the situations in the organization, legal executive, social, strict and political associations. In a town or town, the Brahmin was all taking all things together. He was the expert and the ruler.

One more mistreated bunch in the Indian culture was that of women. Phule generally made reference to women along with men. He didn't accept that when men are referenced, ladies are consequently included into that class. He makes an exceptional reference to ladies when he talks about basic freedoms. Similarly as Shudras were denied of privileges by the Brahmins by keeping them uninformed, Phule felt that childish men had restricted ladies from taking to schooling to proceed with male control. The Hindu strict texts had given various concessions to nien however had forced serious limitations on ladies. Phule was for the most part worried about the marriage arrangement of those days. He assaulted the traditions and practices like kid marriage, marriage between little youngster and elderly person, polygamy, issue with remarriage of ladies, prostitution, badgering of widows, and so forth, He prompted Shudra workers not to have more than one spouse and not to wed their small kids. He had given genuine idea to the foundation of marriage and had concocted a straightforward and present day agreement type custom for the wedding service of the individuals from Satya Shodhak Siimaj (Truth Seeking Society). It is intriguing to take note of that Phule didn't stop at envisioning equivalent status to ladies in marriage; family schooling and religion however asserted that women were better than man in many regards.

Phule impacted by extremist strict thoughts of Thomas Paine could prevail with regards to doing this sort of a hypothetical exercise. Phule put stock in one God. He viewed God as a maker of this world and all people his kids. Phule disposed of worshipful admiration, ceremony, plainness, passivity and the possibility of manifestation. No mediator among God and enthusiast was. thought about fundamental by him. Phule never accepted that any book was God appointed. Evidently, it could give the idea that Phule's methodology was like that of M.G. Ranade and his Praithana Samaj. He contrasted from Ranade and his Prarthana Samaj. He contrasted from Ranade fundamentally and on significant issues. Ranade needed to work inside the design of Hinduism. He was glad for the Hindu custom and never considered parting from it. He looked to reformist exercises as continuation of Protestantism of holy people and comparable endeavors in the set of experiences. On the conttary, Phule imagined Sarvajanik Satya Dharma (Public True Religion) to occur of Hinduism. His actual religion parted from Hindu custom through and through. In addition, he contrasted from reformers like Ranade when he seriously critisied the folklore and sacrosanct books like Ranade when he seriously reprimanded the folklore and consecrated books like Smritis and Vedas of Hindus. He attempted to demonstrate that the historical backdrop of Hinduisms was indeed, the historical backdrop of Brahmin mastery and subjugation of Shudras. He found shrewdness, self-centeredness and bad faith in consecrated sacred texts than a conversation of genuine religion. The world class reformers censured the contemporary. declined type of Hinduism, while Phule assaulted it from its actual commencement and showed that Brahmins had bamboozled lower ranks since the beginning of time. Phule deciphered Hinduism as a connection in view of Varna and rank framework formulated by the guile Brahmins to trick the lower positions.

Conclusion

Being an inflexible pioneer and social reformer Phule was ally of provincial government for its dynamic job. In any case, at a similar he made sure to government for supporting and aiding high position more. He had a fantasy of an equivalent society. He accepted that British Government will help him in laying out such framework. Along these lines, he was exceptionally faithful to it and regarded it with essence . The fact that what he thought presents in any defense, the changing person of the public authority profoundly amazed .Him comprehended pilgrim government not. Consequently he constantly reprimanded something very similar and did hostile to government program at different level. Such exertion was truly viable and welcome.

Reference

B.R Mani & P Sardar, (Ed.) (2008), A Forgotten Liberator, the life and struggle of Savitribai Phule, Mountain Peak, New Delhi.

Dhara, Lalitha, (Ed.), (2011), Phule’s and Woman’s Question, Dr. Ambedkar college of Commerce and Economics, Mumbai.

Dhara, Lalitha, (Ed.), (2012), Kavya Phule, Dr. Ambedkar college of Commerce and Economics, Mumbai.

Guthrie, W.K.C., (1967), The Greek Philosophers From Thales to Aristotle,’ Methuen and Co. Ltd., London.

Huby, P., (1969), Greek Ethics, Macmillan, St. Martin Press, London.

Education, Dalit Activism and Caste Politics in Akhila Naik's Bheda

-Dr. K. Suganthi
Assistant Professor of English
Holy Cross College (affiliated to Bharathidasan University)
Trichy, Tamil Nadu.Mo.No. 9443436644

-Saraswathi G
Department of English
Holy Cross College (affiliated to Bharathidasan University)
Trichy, Tamil Nadu Mo.No. 9629632816

Abstract

Exhorting the representation of Dalit issues in literature forms the basis of Dalit writings. The deluge of Dalit anguish in literary genres belabouring caste-based discrimination is an unavoidable perpetual reality. The miserere of psychic distortions vanquishes physical affliction in the lives of Dalits. Babasaheb Ambedkar's philosophy for Dalit liberation exerts activism as a prominent strategy. Social, political, and religious activism of Ambedkar scaffolded by education contours the themes of many Dalit studies. Caste politics is an all-pervasive phenomenon, which lies at every stratum of movement curbing the mobility and activism of Dalits and posits a threat endangering the wellbeing and agency of Dalits. The focal point of discussion in this paper is to bring out the role played by education along with activism in asserting the lives of Dalits and the intruding caste politics hamstringing the mobility of Dalits. Akhila Naik's Bheda, Odiya Dalit literary text in translation is considered for the study.

Keywords: Activism, Caste Politics, Doms, Education, Mobility, Prejudice Education, Dalit Activism and Caste Politics in Akhila Naik's Bheda

A dormant lot of Odia Dalits embarked their space in literature only a little later in the history of Dalit representation in writing. The feudal state of Odisha has long been vehement to bottleneck the sporadic efforts of the Sudras, Adivasis, and Dalits from the time of Sudramuni Sarala Dasa and also other social protest movements. Despite the upper caste interventions, historic investigation chronicles the spur in social and political activism from time to time showing their urge towards liberation from caste discrimination. The key issue in the plodding progress of Dalit mobilization is the lack of literacy pervading the Dalit population, where the social structure accredited a contusive atmosphere for the privileged castes to get educated in the precolonial and colonial era. The cultural structure of the state always made sure that the status quo of the Dalits falls into the lower echelon, braced by caste politics. Hence, it is pertinent to address the impact of education in Dalit activism and the constant cessation of mobilization and upward activities of the Dalits by caste politics present in the warp and weft of the cultural and social fabric. The paper also proposes to deal with the other poignant factors such as fear and prejudice lying across in the line of progress.

Akhila Naik's Bheda is a riveting novel on caste violence perturbing the Dom community in the Kalahandi district of Odisha. Naik being a Dalit and also belonging to the Dom community has recorded the excruciating pain of his community in the corporeal and the psychological realm. He also posits the endangering factors in mobilizing the Dalit masses, and the potential threats obstructing the freedom of his people. The novel recounts the lived experiences of the Dalits, reflecting the challenges unfurled by the upper castes and the obliterating attitude of the Dalits to be overcome. Naik does not give a solution at the end of the novel to the problems of the Dalits rather puts a comma to the difficulties faced by the Dalits.

Bheda unbolts the life of Dinabandhu Duria or Dinamastre, the headmaster of Firozpur UP School. Dinamastre is a Dom and belongs to the Dalit community who manages to become a teacher with the help of reservation and constitutional provision drawn in their favour. His twenty-five years of teaching experience earn him respect in the locality. He is fondly called by everyone as "Dina sir" (2). But his years of toil to win the respect of all the people go in vain when the encounter with SI Panda happens. School Inspector Panda belongs to the Brahmin community and when he comes to Firozpur to inspect the school where Dinamastre works, caste politics comes to the forefront

deriding the identity of a Dalit and his honour.

One is not respected for what he is but for what his name is, the one which fingers at his caste identity. SI Panda being a brahmin is unable to tolerate a Dom in the position of a school headmaster and tries to insult Dinamastre in front of his students. SI Panda asks a fifth standard boy, Niranjan "tell me, what is his full name?" (2). The "full" in the text is italicized to emphasize the politics behind the name game played by the vicious upper-caste mind. The educated, rational mind of Dinamastre fails to agitate against the vile of SI Panda fearing the aftermath of any unsolicited reaction. Makarand, a teacher of Kenduguda School has to suffer from such retaliation by one of the block officers in a similar state of affairs. Dinamastre fears such counterstroke from the block officers as his retirement is fast approaching and is afraid of the consequences relegating to economic slump as evident in the lines, "Dinamastre's anger rose; he was about to break down. He thought of using a few coarse words to teach SI Panda a lesson but did not. He was compelled to remain silent" (5).

The position of a headmaster and the status of being a teacher with the help of education does not elevate activism in Dinamastre and the rationale of mandating education for Dalits gets diminished by dint of fear. This abstract emotion gets concretized in them which prevents them from being what they are supposed to be. In the wake of such events, Dinamastre is supposed to strike back but never. Such fear of losing the comfort zone of economic privilege fails to incite the required anger and protest. Suraj Yengde in Caste Matters (2019) condemns such an attitude and says that "middle class and elite Dalits are not of much help to the subaltern community. They live amidst fears and insecurities and loathe themselves and their caste folk" (178). Thus, the chapter narrating the life of Dinamastre represents the first-generation educated Dalits intimidated by caste politics and fear. The prime of their conviction is economic stability and comfortable living which is a sign of willing subjugation to the hegemonic order (Dutt 140).

Just as the fear of Dalits cripples their movement towards liberation from the hold of caste, in the same way the fear of the upper castes also trammels the Dalits. The upper castes fear the conversion of Dalits into Christianity or Islam. This fear stops them pretentiously in doing some religious confluence to hold on to the social and religious order. In the novel too there is an instance where Baya, an upper-caste Brahmin starts shakha, a training centre organized by the Rashtriya Swayamsevak Sangh fearing the entry of Christian missionaries into the village. The brahmins "see the situation and are aware of the possible threat to the Brahmanical social order, which, it is feared, probably cannot survive" (Patel 213). Baya makes sure to give speeches to reaffirm the caste-laden social order by picking up verses from Bhagavat Gita and Puranas. The upper castes also are determined to prevent the Christian missionaries from visiting Jaitpur Dompada frequently.

Education inclined towards upward mobility alone will not help the Dalit movement in the mobilization of the masses against caste discrimination and caste politics. As in the case of Dinamastre, his social status and upward mobility as a school headmaster do not in any way dethrone caste subjugation. He yields to the politics of the upper caste Hindus. Dinmastre is even not able to induce a change with the power entrusted upon him. As the head of a school, he is not even able to create an impact in the lives of the Dalit children who are made to sit separately from the caste Hindu children for having their noon meal as palpable from the following words, "the savarna [the caste Hindus] children from Mali, Teli, Gond and Gauda communities sat in one row, and the Dom and Ghasi children in the other" (7). Whereas, Laltu, his son, on the other hand, chooses activism in the place of careerism, unlike Dinamastre. Laltu is for activism and prefers mobilization rather than mobility as Naudet calls, "the socialization of young Dalits seems to point to a perpetuation of the 'paying back to society' ideology" (256).

The protagonist of the novel is Laltu, son of Dinamastre. The nub of Bheda is the narrative revolving around Laltu. Laltu is an intellectual boy and scores the highest in the class. Dinamastre wants Laltu to have an economically and socially secured life. But life takes a different turn and incidents in Laltu's life unravel in such a way that nothing falls into place as thought by Dinamastre and his wife Mastrani. The turn of events that changes the discourse is the strife between Yuvraj, a boy belonging to the

Telipada (the living area of the Teli community people), and Laltu. Laltu strikes Yuvraj with heavy blows on account of the vulgar letter written to his best friend Manjula. The village sarpanch is not worried about the case and justice but is so anxious about a Dom hitting a Teli. This incident creates a stir in Laltu's education and is forced to study in a school away from his village to escape the plan of Yuvraj trying to beat him with the bone of a cow. The conditions in the Danamuda Ashram School coerce Laltu to run away from school earning the hatred of his father. On his way back home from Danamuda Ashram School, Laltu meets his congenial friend Kartik Pota only later to join the Sahajkhol Jungle Suraksha Committee.

Laltu's fearless contention against the caste Hindus and even the Dalits grows vehemently to the point that he suffers a jail sentence for fifteen days, for slapping a BDO (Block Development Officer) belonging to his caste. He slaps the BDO for cheating an elderly widow of the same community. The BDO gives only three hundred rupees in the place of two hundred to the woman. This kindles Laltu's fury leading to the jail sentence. No one in the village is willing to lend a helping hand to Laltu including Dinamastre. But the correspondent of a daily newspaper, Santhosh Panda helps Laltu on bail. Santhosh Panda takes this as an opportunity to take revenge on BDO for rejecting his plea. He also covers this as a news item in his newspaper leading to the suspension of BDO and also the BDO is compelled to give back the money he cheated from the pensioners. Thus, enamouring the attention of the village, Laltu's activism spreads in such a way that he intervenes in the day-to-day activities of the people, helping and reaching out to them.

Sahajkhol Jungle Suraksha Committee is led by Laltu alongside Kartik and a few others including those who are studying, some dropouts, and some illiterates. The committee is formed to stop the unnecessary cutting of trees especially by Baya the mad lawyer, an upper-caste village head who illegally does the timber business. Laltu along with the committee members seizes the tractor of Baya used for transporting the logs and refuses to leave it. Laltu is being warned indirectly by many to leave the tractor but Laltu refuses to do so and is deeply detested by Baya. Laltu though a school dropout gains courage and support through the education he acquires and also from the experience he draws in the school. The instances of caste discrimination, violence, and politics force him into activism. This is also evident from the lives of the other members of the Sahajkhol committee which comprises members mostly who are educated.

Laltu's experience in the school where he is denied to be the host of Saraswati Puja and the separate drinking water pitchers for Dom children fostered by caste politics deeply incites a scar. Laltu's anger and progression get pitched from the events happening around the school and Dompada. His substantial growth from a grassroots activist to a journalist, mobilizing masses in action and words, attracts the attention of the upper caste opportunists like Baya and Semi Seth Marwadi. The power of activism creates solidarity, oneness, and courage in the lives of the Dom population. Laltu's words gain currency when people start to listen to him in denying the candidate Laba, a clerical assistant of Semi Seth Marwadi, in the panchayat sarpanch election. Semi Seth is an influential well to do businessman of the village and an accomplice of Baya. Laltu also gathers the labourers of the Rice Mill owned by Semi Seth to call a strike to increase the wages as per the government regulations.

The ideology of Laltu represented by Naik stays in alignment with that of Ayyankali, a social reformer in the state of Travancore, whose concern is to fight "for the entry into the modern social space, mobilize people to acquire cultural capital through modern education, fight for the dignity of the community and fight against all forms of humiliation" (Mohan 86). Laltu does this in all vigour through his journalism: activism through words in integrity with truth and rights. It is at this point, the caste state apparatus as in the Althusserian Repressive State Apparatus (RSA) propels violence against the Dom community. A mob persuaded by the upper caste Hindus beat the people in Dompada, "black and blue with their fists, kicks, and sticks" (66). They also set fire to the shop of Muna and thrash the people of the pada.

Laltu, a reporter in the "Hastakshep" daily, rings up to

Santhosh Panda, the correspondent and the district representative of the daily, and informs him of the violence unleashed against the Dom community. He also assures upon the write-up of the incident for the newspaper for the next days' issue. The next day in the morning, Santhosh Panda receives a call from the Superintendent of Police Nakul Rath. SP thanks Santhosh Panda for the favour extended to him by convincing the MLA over an issue. This incidentally leads to the talk on the outbreak of violence in Beheda village. SP Nakul Rath narrates a different story unlike the one said by Laltu and cultivates poisonous seeds of prejudice in Santhosh Panda. He alleges that Laltu receives "funds from Christian institutes of foreign countries" and encourages "the Adivasis and Harijans to become Christians" (94). Further, he adds that the "Doms are cheats" and informs Panda that there is a case filed against Laltu accusing him of false allegations. He also fumes that it is Laltu who instigates "the Doms of the village to throw a cow's bone into the Mahadeva temple" (93-94).

Prejudice sanctioned by cultural conventions in the Hindu social order always impels Dalits into precarity (Yengde 2019; Rawat 2016; Misrahi-Barack et al. 2020). It is apparent that the notion of upper castes' "the social prejudice against them [Dalits] as uncivilized human brutes" (Teltumbde 274) also holds a place in the narrative. This social prejudice, at last, heightens to the level of curbing the activism of the Dalits at least temporarily in the life of Laltu. The last few lines of the novel confirm the impact of social prejudice in the destiny of Laltu, "A communal riot broke out after the bone of a cow was thrown into the Mahadev temple at Srirampur; fifteen people arrested including a reporter" (98).

Dalit literary oeuvre captures even in fictional form the reality at stake in the lives of Dalits. The age-old subjugation, oppression, shame, fear, humiliation is prevalent even now and has taken a more deleterious form in contemporary society against the agency and mobility of Dalits. Bheda by Akhila Naik stands testimony to such atrocities against the Dalit community both by Dalits and non-Dalits. This piece of writing is a valiant backlash to the human community which propels any kind of toxicity in the minds of humankind. Thus, the paper strongly proposes fear and prejudice as the two evils of any progressive society. Education enshrines values in humans but caste politics annihilates the recuperative movement of oneness.

Works Cited

Dutt, Yashica. Coming Out as Dalit: A Memoir. Aleph Book Company, 2019.

Misrahi-Barack, Judith, et al., editors. Dalit Text: Aesthetics and Politics Re-Imagined.
Routledge, 2020.

Mohan, P. Sanal. "Social Space, Civil Society, and Dalit Agency in Twentieth-Century
Kerala." Dalit Studies, edited by Ramanarayan S. Rawat & K. Satyanarayana, Duke
University Press, 2016.

Naik, Akhila. Bheda. Translated by Raj Kumar, Oxford University Press, 2017.

Naudet, Jules. "Finding One's Place Among the Elite: How Dalits Experiencing Sharp
Upward Mobility Adjust to their New Social Status." Dalits in Neoliberal India:
Mobility or Marginalisation?, edited by Clarida Still, Routledge, 2014.

Patel, Arjun. "Hinduisation of Adivasis: A Case Study from South Gujarat".
Dalits in Modern India: Vision and Values, edited by S. M. Michael, 2nd ed., Sage
Publications, 2007.

Teltumbde, Anand. Hindutva and Dalits: Perspectives for Understanding Communal Praxis.
Revised edition, Sage Publications & Samya, 2020.

Yengde, Suraj. Caste Matters. Penguin Books, 2019.

ETHNIC CONTESTATION AND CONFLICTS IN THE ASSAM'S HILL DISTRICT OF DIMAHASAO: A CASE OF CHALLENGE TO PEACEFUL CO-EXISTENCE

-Dr.Lamkholal Doungel
Associate Professor,
Department of Political Science,
DHSK College, Dibrugarh, Assam.
Contact No. 9435749480

Abstract:

This paper attempts to analyse contestation of different ethnic tribal groups inhabiting the hill district of Dima Hasao, in the state of Assam that often resulted in bloody conflicts and violence. This ethnic divide among the different indigenous tribal inhabitants has adversely affected peace and harmony, the key to the growth and development of the district. It also proposes to highlight the historical setting and formation of the multi-ethnic and multi-lingual hill district vis-à-vis the consequences following the renaming of the district from 'North Cachar Hills' to 'Dima Hasao' that gravely affected upon peaceful co-existence of the tribes. Serious and complex nature of communal disharmony and detestation between tribes of the district has been strikingly manifested with divisive politics in play more prominently with the birth of Indigenous People's Forum (IPF) demanding for bifurcation of the district into two separate districts following renamed of the district with communal connotation 'Dima Hasao'. The IPF's movement is unique in so far it is an organised body of different ethnic communities fighting for their common cause quite in contrast to other parochial demands that usually coming from exclusive single community. The study also critically analyses the alleged role of the Autonomous Council virtually becoming Government of single majority tribe overriding administration for exclusive interest of one community. Attempt also is made to address the alleged contention of the non-majority tribes that they were politically, economically and culturally deprived, dominated and neglected. By way of submission and conclusion some suggestions are put forward for solution and promotion of inclusive societal growth, peaceful co-existence and development.

Key Words: District, Ethnic, Demand, Conflict, IPF, Council, Dimasa, Non-Dimasas

1.01 Introduction:

Ethnic contestation and conflict has generated tensions in different parts of the world. It has become a global phenomenon. With immense racial, cultural and linguistic diversity, the Northeast of India and for that matter the Dima Hasao district is plagued with varied ethnic problems. For decades together the north-eastern states have been experiencing numerous ethnic conflicts and suffered irreparable human and material losses. Ethnic movements and conflicts are widespread in the region. Ethnic based demands for autonomy, statehood and regionalism and even the demand for separate district are not new to Assam. From the early nineties the two hills districts of Assam and N.C.Hills(Dima Hasao) district in particular has become the hotbed of ethnic conflicts and ruthless insurgencies. A series of bloody conflicts took place in succession one after another between been different ethnic groups inhabiting the district. The Dimasas' aspiration for creation of Dimasa Homeland is allegedly held responsible for ethnic cleansing campaign of their militant groups that led to three major bloody ethnic clashes. Proper analysis of the situation reveals that ethnic tribes become pugnacious and resort to violence usually when they face existential crisis due to deprivation, neglect and domination. Such trepidation adversely affects communal harmony and development. Ethnic contestation and domineering politics was manifested when the name of the district was forcibly changed from one inclusive and neutral name 'N.C.Hills' to a bias exclusive name 'Dima Hasao' favouring only the Dimasas. Thus ethnocentric forces and politico-identity consciousness together with political instability and rampant corruption made the Dima Hasao the most backward district of Assam.

This paper examines the ethnocentric socio-political

contestation and ethnic divide and conflicts as a challenge to inclusive society, peaceful coexistence, and development, vis-à-vis political and ethnic identity consciousness of the tribes of Dima Hasao. It also attempts to assess how far the politics of ethnic identity affects unity and social harmony of the different ethnic communities co-inhabiting the district. The study is based on personal experienced, observation, and other primary and secondary sources that comprises of books, pamphlets, memoranda and web pages. Attempt has been made under different sub-headings to analyse and comprehend ethnic contestation and conflicts as a negation to inclusive society and peaceful coexistence.

1.02 Brief Profile of Dima Hasao:

The name 'N.C. Hills' district was renamed as Dima Hasao, vide Govt. Notification No. HAD.92/2008/31 dated Dispur, the 12th April, 2010. Etymologically, "Dima" means Dimasa Kachari tribe and "Hasao" means Hills. Therefore "Dima Hasao" means "Dimasa Hills". Dima Hasao is an Autonomous District constituted under the provision of Sixth Schedule to the Constitution of India. Because of its enormous power having all the organs of a government, NCHAC is often described as a "State in miniature". Barring law and order it has full autonomy to legislate and administer all the subjects like land, revenue, primary education, customary laws etc. Presently the Dima Hasao and Karbi Anglong are the two lone survivors of the original Frontier Tracts of 1880, Backward Tracts of 1919, Excluded and Partially Excluded Areas of 1936 and Tribal Areas of 1950. The two districts at birth (Nov.17, 1951) were known as the "United Mikir and N.C.Hills District" with its headquarters at Diphu (Mikir Hills) and Sub-divisional headquarters at Haflong (N.C.Hills.) It was on April 29th 1952 the North Cachar Hills Autonomous District Council was formally inaugurated. Dima Hasao remained as a Sub-Division of United Mikir and N.C.Hills District until February 2, 1970 on which it attained its present status as a full-flagged Civil District.

It is the only hill station and enjoys the status of autonomous district under the provisions of the Sixth Schedule to the Constitution of India and is administered by the North Cachar Hills Autonomous Council. As per 2011 Census, the district has a population of 2,14,102 and a population density of 44 inhabitants per square kilometre. The district lies in 24^{o} 57'/00"/ to 25^{0} 43'/00" north latitude and 92^{0}32'/00" to 93^{0}28'/00" east longitude with its headquarters at Haflong. It has four Revenue Circles and two subdivisions with an area of 4888.0 sq. kms The District is situated at southern part of Assam and is bounded by Nagaland and Manipur state in the east, Cachar district of Assam in the south, Meghalaya state and the part of Karbi-Anglong district in the west and another part of Karbi-Anglong and Nagaon district in the north.

1.03 Ethnic Composition of the District:

The district is predominantly a tribal district inhabited by diverse ethnic communities. It is undisputable fact that Dima Hasao is without equal when it comes to the question of ethnic diversity of the state. Tribes jealously maintained their own respective dialect, culture, customs and usages. The Dimasas are the single largest populated tribe of the district. The other major tribes inhabiting the district are Zeme Nagas, the Kukis, the Hmars, the Karbis and a number of minor tribes which includes Khasi-pnars, Rongmei Naga, Khelmas and as many as thirty-seven Kukis sub-tribes like Doungels, Singsons, Lienthangs, Vaiphais, Biates, Hrangkhols, etcetera. Besides the tribal population, a sizable number of non-tribals population comprised of Assamese, Bengali, Nepali, Deshwalis and a few other communities etc. have made the district their home. Most non-tribal population are government employees, traders, graziers living in urban & semi urban area. A fascinating mosaic of ethnic, cultural and tribal mix, the people of N.C.Hills embody in their lives all the values derived from centuries of shared living on the lap of nature. In the backdrop of such beautiful spectrum of diverse ethnic composition, the district of Dima Hasao is the most backward district of Assam beset with ethnic unrest, maladministration and rampant corruptions.

1.04 The Tribal Council and Formation of NCHAC:

For some centuries, the hill areas of North Cachar Hills were inhabited by a 'tribal trinity' consisting of Dimasas, Zemes and Kukis. Unfortunately the Kukis saw division in their ranks and the Hmars formed the fourth of the tribal quartet. The Government

revised the Tribal List and declared the Hmars as one of the Hill Tribes of India in 1956. When the Sub-Committee led by Gopinath Bordoloi was investigating into the question of future political set up of the hills, a body by the name of Tribal Council comprised of representatives from tribes of N.C.Hills was formed. Accordingly a large part of the local demands were incorporated in the provisions of the Sixth Schedule.

Table–I: Mills and Allen's Reports of Tribe-wise Population of N.C. Hills in 1854 and 1859Sl. No.TribesMills' Report(1854)Allen's Report(1859)1Hill Cacharis3,9406,7352Hozai Cacharis1,1703,2603Mikirs(Karbis)1,8205,0764Old Kookies(Kukis)3,3353,7095New Kookies(Kukis)7,5754,7636Aroong Nagas3,5055,885

Source: Alexander Mackenzie

The Tribal Body was formed with the sole purpose of mobilizing public opinion to protect and decide for the best possible future of the hill areas and its inhabitants. Even in the 1950s the Kukis tribes were the most numerous in N.C.Hills. According to Mills' Report of the Census of 1854 the Kukis stood at first place and the Dimasa Cacharis second. Being the largest tribes at that crucial juncture the Kukis along with Dimasas had therefore took the lead and played decisive role as architect of modern N.C.Hills. They together forged a bond of alliance of tribes that gave birth to the Tribal Council. The need for such body was felt as there was discernible spectre of dissension from some tribal inhabitants like the Nagas, the Khasis, Mikirs and the Lushais(Mizos) who were inclined to join kinsmen of their respective homeland. The then position of the Bengalis living in the North Cachar Hills was evident from the report of the then D.C. of Cachar who wrote that the North Cachar Hills were altogether backward, in matter of education and knowledge. The inhabitants of the area knew little or nothing of the outside world. The Bengalis and Hindus who were there in Haflong were also there only in connection with their business and they were not interested in the well-being or in the internal life of the hill people. An elderly Kuki, *Pu.* Tongkhojam Thado (Lienthang) member of Tribal Council and first Kuki nominated Member of the N.C. Hills District Council in an interview narrated how steadfastly the Kuki tribes had supported for creation of the District Council when other tribes were reluctant and sought to join their kinsmen in their respective homelands; the Zeme Nagas to join Naga Hills, the Mikirs(Karbis) to join the Mikir Hills(now Karbi Anglong), the Khasis to join the Khasi Hills. But Kuki tribes resolutely stood for creation of N.C.Hills District Council in partnership with the Dimasas. Mr. Thado (Lienthang) also candidly stated that "though there was no written record of agreement between leaders of the Kukis and the Dimasas, tacit understanding was agreed upon to mutually accommodate and uphold each other interests." The unwritten agreement was honoured by the Dimasa when Late. Chonhau Khotlang, a Kuki gentleman was elected as the first Chief Executive Member in June 1952 who selected Shri. S.R.Thaosen and Shri. Joy Bhadra Hagjer as his Executive Members. However with the passage of time all such unwritten rules and commitments have disappeared into oblivion. The active roles played by the Kukis were clearly evident as mentioned was made in the Bordoloi Report that 'the Kukis simply demanded the protection of their land'. The narration of this united struggled of the tribes under the aegis of the Tribal Council in the formation of the NCHAC is pertinent in the light of the present challenges of ethnic contestation, conflicts and internecine violence.

1.05 Indigenous Peoples' Forum an Offshoot of Ethnic Contestation:

The Indigenous People's Forum (IPF) is an umbrella organisation and a common platform of all the indigenous hill tribes and all principal inhabitants of the district of North Cachar Hills. IPF is the child, fathered by ethnic unrest and political turmoil in the district, born on the 15th May 2008 with its immediate objective for scraping of the proposal for change of the district's nomenclature. It is presently spearheading the demand for bifurcation of the district into two separate districts — one for the Dimasas and the

other for the non-Dimasas. This demand started immediately after the renamed of the district as '*Dima Hasao'.* The name *"Dima Hasao*" is unacceptable as it means "Dimasa Hills" in Dimasa dialect. In fact the name automatically transferred ownership to the Dimasas by depriving other rightful indigenous stakeholders who perhaps inhabited the hill district even much before the Dimasas arrived. The biased and impetuous decision has become the root cause of disharmony and conflicts. In right earnest the IPF from its inception has been articulating its demands, expressing grievances and aspirations of the indigenous inhabitants of the district. The forum also resorts to agitational programs and ever since its formation acted as a strong force of opposition against the dominating single tribe of the Dimasas and those in the helm of affairs habitually steering the business of the Autonomous Council capriciously at their will. Under the circumstances there has always been simmering tension due to the on-going demand of the IPF, the resultant offshoot of inconsiderate renaming of the district in 2010.

1.06 Ethnic Violence:

Ethnic assertion is undoubtedly one important cause of ethnic movements and conflicts. Almost every ethnic group is in the race to consolidate its own identity and try to assert when saturated and reach a self-critical stage. In Dima Hasao, problems started with the emergence of militancy, and particularly with the birth of Dima Halam Dogah(DHD) a local insurgent group. The DHD formed with the objective of creating homeland for the Dimasas has brought complete unrest in the hills. Much strife and unrest has been suffered by the district in tandem with widespread corruption and misrule engulfing all over. Ruthless terrors were unleashed by the underground militants indulging at will in acts of large-scale violence, extortion and many other heinous crimes. The district was reeling under intermittent bloody ethnic conflicts and other antisocial violence that adversely affected psyche of the people, instilling mutual distrust and hostilities among various ethnic communities inhabiting the district. The root cause is alleged to have been started with the ethnic cleansing campaign by the DHD (N) and DHD (J). It resulted to three major bloody ethnic clashes; Dimasa-Hmar conflict in 2003, Dimasa-Karbi conflict in 2005, and Dimasa-Zeme Naga conflict in 2009. The on-going development and mega Centre Projects like East-West Corridor Highway Road Construction and Broad-Gauge Train Line Conversion works were virtually held up for some times as the DHD(J) unleashed reign of terror indulging in acts of large-scale violence, extortion and many other heinous crimes including unwarranted gunning down of security forces on duty and manual labourers working on the project sites compelling the contractors and labourers to flee. The fact was established by the declaration of the Publicity Secretary of the DHD(J) who gave unilateral ceasefire declaration unequivocally stating that, *"We the DHD (J) declared unilateral ceasefire from 25th March to 25th June 2008. From 25th March we did not take-up arms or create any operations against anybody… we declared no more disturbances and killings from our side, but we opposed the running work of Broad Gauge conversion work and East-West corridor road construction. But thinking of the development of our district and paying respect to our peoples' will we have withdrawn our earlier declaration…"*

The Government entered a cease-fire agreement with the DHD(J) militant group and they surrendered on October 2, 2009. The subsequent fulfilment of its one key demand for change of the name of the district from N.C.Hills to Dima Hasao has opened the Pandora's Box with far reaching adverse effect. In fact, ever since the proposal for changing the nomenclature of the district was initiated, the Non-Dimasas were infuriated and vehemently protested the move and alleged that the then ruling leaderships of the ASDC led United Democratic Alliance of N.C.Hills Autonomous Council were acting on the behest of the DHD(J) militant group. Thus the issue violently exploded and shook the district sharply dividing the inhabitants into two rival communal camps - the Dimasas and Non-Dimasas.

1.07 The Current Impasse and Concluding Observation:

Dima Hasao was once best known for its peacefulness and perfect synchronization of diverse ethnic tribes inhabiting the district with a perfect blending of its natural scenic beauty. It was only in the

recent past that the district has become the hotbed of ethnic unrest beset with all kinds of ethnicity related problems and gross political negligence. The situation calls for proper attention and careful handling from the perspective of ethnic consciousness and thereby fully makes use of our constitutional mechanism to absorb conflicting forces and to uphold unity through sustaining diversity. From the foregoing analysis it is seen that the tribals and their inhabited areas were always left isolated and neglected since time immemorial. They were never governed by any sovereign ruler from the other parts. Even during the Ahom period they were left to themselves. The British too had adopted the policy of an Indirect Rule by administering the area only marginally. Even after the independence the scenario has not much improved. Regardless of enormous powers and functions the performance of the Autonomous Council is far from satisfaction. It has miserably failed almost in all fronts.

The solutions to these problems are not difficult if there is political will to solve the same. It is possible under our Constitutional provisions to address, redress and accommodate, if any section of community, tribe, region or even a village of our body politic feels neglected or discriminated. This is exactly the reason for which the provisions of the Sixth Scheduled and other constitutional provisions are meant for. So concerning the various movements and demands, it should seriously and properly be handled before it begets more problems. Most importantly the people must learn to live together in peace and co-existence as was once in the remote past. Proper understanding of the tribals' psyche, sentiment, and tending the problems with utmost care and sincerity with sense of accountability in close co-operation and consultation will go a long way in giving permanent solutions to many ills of many ethnic communities.

References:

1. Memoranda of the Indigenous People's Forum(IPF)
2. Memoranda of the Indigenous Women Forum(IWF)
3. Memoranda of the Indigenous Students' Forum(ISF)
4. The Assam Tribune, published from Guwahati and Dibrugarh
5. Allen, B.C., Assam District Gazetteers, Volume-I, Cachar, Shillong, September 1905.
6. Rao V.Venkata, *A Century of Tribal Politics in North East India*, S.Chand & Company Ltd. New Delhi, 1976.
7. Souvenir, 50 Years of North Cachar Hills Autonomous Council, Haflong, 2002.
8. Shakespear L.W. Col., *History of the Assam Rifles,* Firma KLM Private Ltd. On behalf of the Tribal Research Institute, Aizawl,Mizoram, Reprint-1977.
9. *Gazetteer of India Assam State,* U.M. & N.C.Hills District (Karbi Anglong and North Cachar Hills Districts), Government of Assam; Gauhati, Assam, 1979.
10. Bordoloi B.N., *District Handbook United Mikir and North Cachar Hills,* Tribal Research Institute, Shillong, 1972.
11. Doungel Lamkholal, *Formation if Autonomous District Councils: A Study of the Hill Districts of Assam and The Kuki Tribes,* International Journal of Informative & Futuristic Research**,** Volume -1 Issue -12, August 2014.
12. Bhattacharjee Tanmay, *Changes in the Karbi Anglong Politics During 1985-200*, a Research Project undertaken by the Dept. of Political Science, Assam University, Silchar, Assam.
13. Census of India 2011, Assam District Census Handbook, Dima Hasao; Series-19 Part XII-B, Directorate of Census Operations, Assam, G.S. Road, Ulubari, Guwahati-781 007
14. Webpage http://dimahasao.assam.gov.in retrieved on 12/01/2022 at 8:30pm
15. Webpage http://en.m.wikipedia.org retrieved on 13/01/2022 at 5pm

A Study On Attitude Of Parents Towards Higher Education Of Girls Among Bhojpuri Community In Khowang Block, Dibrugarh District

-Punam Koiri
Guest Lecturer,
Department Of Education
Swahid Peoli Phukan College, Namti

ABSTRACT

Education is the basic human right for every people, regardless of gender, race or region. None will be deprived of to receive on education. Education of a girl is like a educating a family while educating a boy is merely educating a person. Higher education is most important for women to develop their reasoning skills, analytical power, and leadership quality. Community plays a very important role towards shaping the behavior or perception of people towards education. Community is condition of small or large social unit that has something in a common such as norms, values or identity. Community belief and practice help to shaping educational attitudes.

The sample of the present study consist 50 parents. This study will be done on the people of age group 35-55 and above. The researcher is used convenient sampling. In this study researcher used Descriptive survey method. In the present study the major tool are the questionnaire and interview. The present study is an attempt to understand the attitude or perception of parents among Bhojpuri community towards girl's higher education and how far the community values traditions and customs affect the educational preference. Through this study will be able to know about the status of Bhojpuri community girls in Assam. This study is also helping us to develop a positive attitude among parents towards their girls and motivate the girls to acquire higher education.

KEY WORDS: Attitude, Higher Education, Bhojpuri community, Bihari .

1.1: INTRODUCTION

Education is the basic human right for every people, regardless of gender, race or region. None will be deprived of to receive on education. Education of a girl is like a educating a family while educating a boy is merely educating a person. There can't be an educated people without education of women. If general education had to be limited to men or women, then opportunity should be given to women also, for by them it would more surely be passed to the next generation- Radhakrishnan.

Education is the most powerful tool for change and can put girls on the path of economic and social empowerment it also brings changes in the traditional outlook of the people. Due to the lack of awareness regarding their rights they faced lots of problems in day to day life.

As per the census report (2011) 77, 84, 54,120 people considered literate in India 44,42,03,762 of them are female. If we look at the percentage of educated people, there is a huge gap between male and female (82.14% in 2011) (65.46% in 2011) literacy in rates India. Women's are constituted almost half of a country population. For the development of country it must be important to give education to women's and educated women has the skill, information and self confidence that she need to be better parent , worker and citizen.

As per UN report, education for women is the single most effective way to improve lives and health of a family and a society at large. Women with education as a powerful person, she has a power to educate the children in her family, guide them in taking decisions, contributed economically and offer valuable

inputs for improvement on home and social front.

Higher education is most important for women to develop their reasoning skills, analytical power, and leadership quality and also play a major role in shaping a democratic, civilized inclusive society. Community plays a very important role towards shaping the behavior or perception of people towards education. Community is condition of small or large social unit that has something in a common such as norms, values or identity. Community belief and practice help to shaping educational attitudes.

The present study is an attempt to understand the attitude or perception of parents among Bhojpuri community towards girl's higher education and how far the community values traditions and customs affect the educational preference.

1.3: OVERVIEW BHOJPURI COMMUNITY

The Bhojpuri's formerly known as Bihari's, because the originally belongs from Bihar. In a very long time the Bhojpuri community inhabit in Assam. Mostly this community stays in Uttar Pradesh, Bihar, Jharkhand, Delhi, but due to the various causes like better employment, natural disaster, better livelihood, education they migrated to all over India. In Assam Bhojpuri community now chiefly inhabit the districts of Tinsukia, Dibrugarh, Sivasagar, Tezpur, Golaghat, Karbi-Anglonng. In Bhojpuri community there are many regional languages but they also used Hindi to communicate. Religion of Bhojpuri community is hindu. They have their own specific festivals like-Chaath puja, Khichdi, Namabi, Jiwtiya. Basically women's play a greater role in those festivals**.**

1.4: SIGNIFICANCE OF THE STUDY:

The Bhojpuri community is the part of the great Assamese society. No systematic major works especially on the higher education of Bhojpuri community has been conducted so far in recent period. Education is necessary for the development of a society. Therefore, the findings of the study will help to understand the condition of education of Bhojpuri community in Khowang block of Dibrugarh district. The study is also help in formulating specific strategies to development of educational facilities. Through this study will be able to know about the status of girls in Assam. This study is also helping us to develop a positive attitude among parents towards their girls and motivate the girls to acquire higher education. Today girl child will be mother of tomorrow and in family women play the biggest role for a sound nursing of their kids. So, women's are key to develop a society and a nation. For that girl's education is much needed in the present scenario. Thus the study helps to develop a positive attitude towards girl's higher education among parents of Bhojpuri Community.

2. REVIEW OF RELATED LITERATURE:

Hussain, s., Zakaira, M., Hassan, Y., Mukhtar, Y., Ali, S.,(2003) In this study the researcher investigated that female respondents were not sending their daughter to school because of distance problem, shortage of trained teachers and financial problem. **Shazad, Dr. Saqib.,Ali, Riasat., Qaeer,M.Z.& Khan, M.S(2011**)study conducted on Community attitude towards female education. In this study all the parents were interested in education of girls but they couldn't do so due to poverty. Majority of parents were favor of school/college education and Majority of parents needed their girls in homes for domestic work. **Iqbal,Shahid., Mohyuddin, Anwaar., Afzal, R.,Ali, Q., and Naqvi S.T.M (2013)** In this study it was found that majority of parents discontinued schooling of girls at the initial level due to misconception about religious teaching and perceptions of the special treatment towards females in their grooming. **Khattak, G.**

Shamass.,(2013) In the study found the ultimate aim of the study was to examine the attitude of parents in different economic classes towards contemporary female higher education in KPK. The result of the study revealed 90% of parents strongly agreed for their daughter higher education where as 6% condignly agreed just as financial constraints however, 4% disagreed.

Chingtham,Dr.Tomba.,&Guite,Tinkhoiling.,(2017) conducted the study on parental attitude towards girls education. In this study found that education of the parents highly influence on their attitude towards girls education. Those parents from urban who have attained better education have more understanding towards the necessity of girl's education and have more positive attitude towards the education of girls and those parents from rural who are less educated. The economic background and occupational levels of the parents have influence on their attitude towards girl's education. **Nayak Dr. Bimal (2014)** study conducted on Parents attitude towards girl's education among Khandha tribes in Odisha, India. In the study the investigators found that Majority (42percent) of respondents belongs to the same age groups researcher gives equal priority to both male and female but there are more (74 percent) male respondents in the respondent category it was also found that during the research parents allow their girls for the job. The study also reveals that 94 percent of respondents are aware of various government of program being implemented for girl child education

3. OBJECTIVES OF THE STUDY:

1. To examine the attitude of parents regarding higher education of their girls.
2. To understand how socio-economic conditions is responsible in fabricating the educational preferences.
3. To examine about gender based preference towards educational enrollment.

4: RESEARCH QUESTIONS

1. What are the opinions of parents towards girl's higher education?
2. How socio-economic condition create problem in fabricating the educational preferences?
3. Is there any gender based preference towards educational enrollment?

5: METHODOLOGY

The population of present study is consist 50 house of Bhojpuri community people in Sepon Goan Panchayat Khowang Block. Sampling procedure provide generalization on the basis of a relatively small proportion of population. The sample of the present study consist 50 parents. This study will be done on the people of age group 35-55 and above. The researcher is used convenient sampling. In this study researcher used Descriptive survey method. In the present study the major tool are the questionnaire and interview. It was the most flexible tool for collection of qualitative and quantitative information. Qualitative analysis is used in the present research study.

6. RESULT AND INTERPRETATION:

OBJECTIVE NO -1: To examine the attitude of parents regarding higher education

Researcher found that 100% respondents agree to girl's education and researcher also observed that in Bhojpuri community almost every girl child take primary education and also parents allow them to get primary education. But 84% respondents said that higher education is essential for girl child. Majority of

respondents said that if girl child get higher education then they are able to get job and become self-dependent and help in country's development through their service and also constitute in national income and some of the respondent said that highly educated girls is vitally important for grooming and upbringing their kids and care their family and some of the respondent said that girls getting higher studies is much essential because it help to empower women and reduce gender inequality also know about own rights. Most of the respondent response that educated girls perform their duties better than other girls of the society and they also give opinion that highly educated girls behave fairly well with their husband and with other member of the family. They easily understand any situation or problem. 16% of respondent disagree in giving higher education to girls. Parents are not interested in giving their girl child higher education because they thought that giving higher education girls it will be a hindrance for their marriage as they think that if a girl is highly educated then the boys would not accept them because in Bhojpuri community people are mostly depended on cultivation or on their own business. So, most of the boys are not highly educated and they also want their wife on an equal level because parents thought that if wife is more educated then her husband than she wouldn't respect their husband and also the family. Some of the responded said that they want to give their girls higher education but the main problem is dowry system. Parents save money for their daughter marriage if they give money for education then it creates problem during their girl's marriage. Some of the respondent said that if they give their child higher education she might have to live far from the house and do anything with their own choice and parents believe that a college or university education can empower women to disagree with the decision of the elders of the family. Researcher also observed that in a Bhojpuri community major issue is that girls can not marry in their own choice life partner chosen by their elders through different rituals like - showing kundli (janampatrika) of both girls and boys. If they are compatible of each other or if the caste of family member is of same level then the parents fix the marriage. If the girls do not follow all this rituals and marry to her own choice, without parents approval then it create problem for their siblings because it creates bad impression for the whole family and no one Bhojpuri family would want to make relation with them. It is also observed that no one go to that house in any festivals or any other rituals. Therefore, the parents has to pay huge amount of money to their society ask for forgiveness in front of the community member in that village. For that reason people are very much aware about their self-respect. 84% parents motivate their daughter for higher studies and 16% of parents do not motivate their daughter for higher studies because they thought secondary education is enough for girls for grooming and upbringing their kids and care family. 92% of parents want their daughter to be self-sufficient through the various activities like handmade products, domestic work and creative work but 8% of parents do not want their daughter to be self-sufficient because girls who does any kind of job after higher education do not respect their family member or their husband and the girls with higher education also thought that domestic work are only for illiterate people. 28% parents respond that educated girls do not respect their elder's decisions. But 72% of parent's response that educated girls does not disrespect their elder's decisions. 14% of respondent said that highly educated girls do not follow their cultures because they thought that it is a waste of time but 86% of respondent said that highly educated girls follow their cultures and they also help to transmit cultures one generation to another. 70% of respondent said that they wanted to send their daughter to college but they also said that some of the girls are not interested in study and they only go to college for enjoyment for that reason they fail in various subjects. So, the parents do not want to send

their daughter to college as they thought it would be a waste of time and money. 30% of parents do not want to send their daughter to college and they also do not support girl's education. 80% of parents responded that girl child education should be equally important to that of boys. Because both are equal for the parents but 20% respondent said that boys and girls are not equal therefore, there is no importance of higher education for girls. Some of the respondent said that girls should be domestic work or are meant for child rearing and take care of family in future. So for these work higher education is not necessary.78% respondent said that educated girls educated girls assist their family financially because in present era both girls and boys are equal and after higher education they are engaged in some or the other activity for earning money. But 22% of respondent said that educated girls doesn't assist their family financially because they get married and take care of her own family and they have no time for a job or earning money.

OBJECTIVE NO-2: To understand how socio-economic condition is responsible in fabricating the educational preferences

TABLE NO: 1

Annual income of the respondents

INCOME	FREQUENCY	PERCENTAGE
1,10,000 -3,00,000	8	16%
81,000 -1,00,000	6	12%
51,000 -80,000	10	20%
31,000 -50,000	7	14%
10,000 -30,000	19	38%

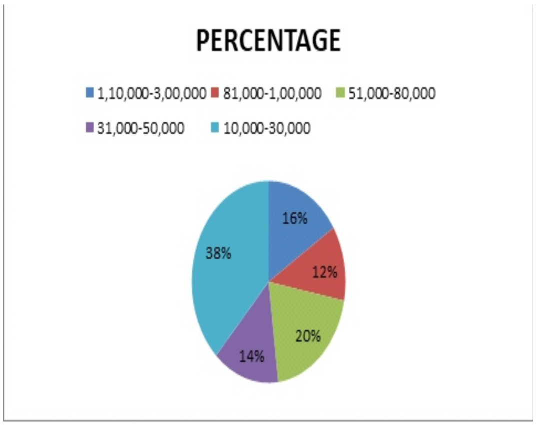

Fig. 1

From the above table, it is observed that 16% of respondent are economically strong and they also engaged in government or private job. They give their girl child higher education and want their girl child to be self-dependent and help in a country's development through their service.

20% of the respondent said that they admitted their girl child in a college but due to their poverty sometimes they are not able provide their study materials or sometimes their child do not attend their classes because college was far from their house. Bhojpuri people are not much financially strong most of the people in below poverty line. Researcher also found that most of the parents were interested in giving higher education to their girls but they couldn't do so due to the poverty. Researcher also observed that some parents who are not economically much better or who are illiterate but they give higher education to their girl child because they thought that girls and boys are equal and they help them to be economically strong and giving money in education like investing money and thought that they would get much in return. Researcher also observed that who are economically good and are able to give education to their child but their main motive is to give them marriage with who engaged in a government job.

TABLE NO -2

Distribution show the occupation of the respondents

OCCUPATION	FREQUENCY	PERCENTAGE
GOVERNMENT	3	6%
PRIVATE	1	1%
OTHER	46	93%

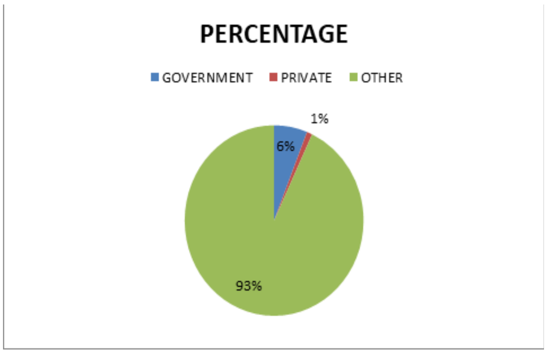

Fig.2

From the above table no 3 it shows that from the sample of 50% respondent, only 6% respondents are engaged in government job. Like teacher and doctor and only 1% in private job as an engineer and 93% of people related with cultivation or their own business. From this table, researcher observed that economic condition of the people is not good it can also be a reason to denying their girls for higher education.

TABLE NO- 3

Showing the responses regarding financial condition which is responsible for their children education

INCOME	FREQUENCY	PERCENTAGE
1,10,000-3,00,000	8	16%
81,000-1,00,000	6	12%
51,000-80,000	10	20%
31,000-50,000	7	14%
10,000-30,000	19	38%

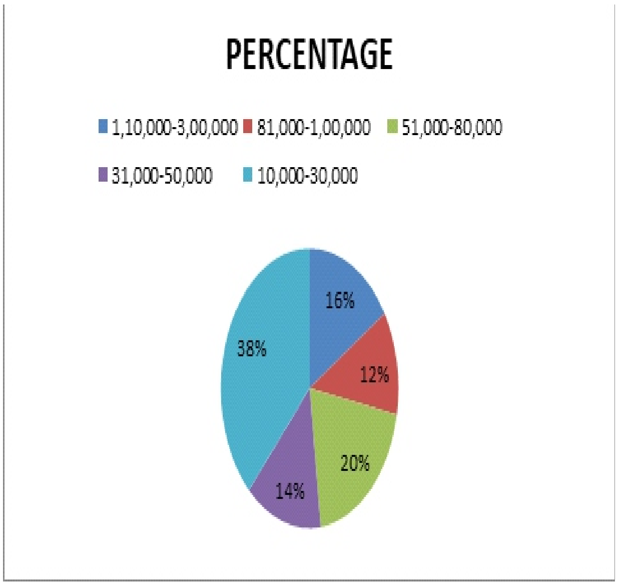

From the table no 4 researcher found that 80% of respondent said that their financial condition affect to their daughter's higher education. Because due to poverty they are not able to provide them all study materials. And 20% of parents responded that their financial condition doesn't affect their girl's higher education. Out of these 20 percent 7%

parents allowed by providing all the facilities their girl child to pursue higher education and 13% parents instead having a good economic condition neglect their girl child to pursue higher education. Figure no-3 observed that 80% of people responded that their financial condition affects their child education. 20% of people respond that their financial condition doesn't affect their child education.

OBJECTIVE NO 3: To examine about gender based preference towards educational enrolment

TABLE NO- 4

Showing the educational level of boys and girls who are still studying

LEVEL	GENDER	FREQUENCY	PERCENTAGE
PRIMARY	GIRLS	8	44.44%
	BOYS	10	55.56%
SECONDARY	GIRLS	10	50%
	BOYS	10	50%
HIGHER	GIRLS	12	80%
	BOYS	3	20%

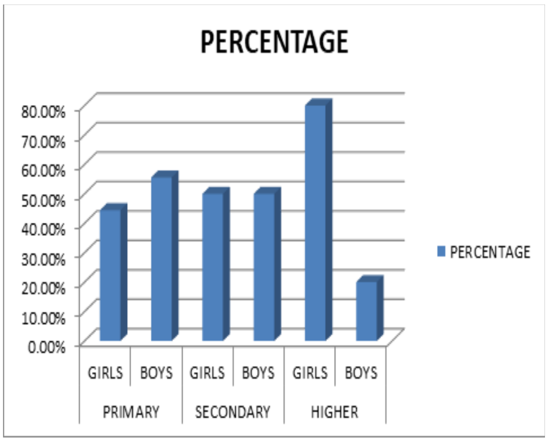

Fig-4.4

From the above table researcher found that Bhojpuri community people wouldn't give any gender based preferences towards enrollment. In primary level, the boy's enrollment was 20% and the girl enrollment 16%. In a secondary level the both girls and boys are equal and higher level girls studying rate is 24% but boy's rate is very less than girls. Researcher observed that although the percentage of girl's higher study is high then boys. But from the interview it has been found that as the boy's are not interested in studying so, they do not pursue higher education but girls are interested in higher studies so, they continue their studies. Respondents give them equal opportunities to their boys and girls children. So, it is found that there is no gender based preferences regarding higher education. And researcher also observed that in this community boys are usually couldn't pursue their education after secondary level and most of the boys join their family business or traditional occupation.

Most of the respondent said that boys are not interested in studying so, if their girls are interested in their studies then they give them all the opportunity of facilities because they want to see their girl child in a high level and fulfilled all the dreams of the parents and also set an example for others by being a role model. Some of the respondent wanted their son to take up their traditional occupation and some of the respondent give their girl child higher education because they thought that boys can do any work and they can support their family financially but the parents thought that girls are relatively weaker than boys for that parents thought if the girl child is given higher education then she will be able to handle and solve her problematic situation in life. Moreover, she becomes self-sufficient which will help her to fulfil her needs and requirements without depending on others.

From the above table no 5 researcher observed that in Bhojpuri community in Sepon Goan Panchayat though some people have a negative attitude towards girls higher education but it also observed that most of the people are much inclined to give higher education to their girl child more than boys. Because boys are prefer to do some work then study.

TABLE NO-5

Showing the responses what the respondents would prefer their girl child to do after Secondary Education.

SL. NO	FREQUENCY	PERCENTAGE
TO MARRY	8	16%
HIGHER EDUCATION	42	84%

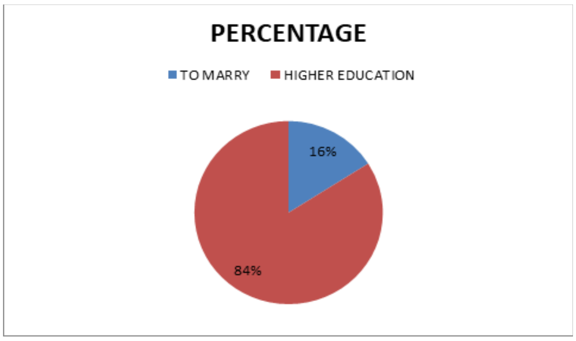

Fig-5

From the above table, researcher found that 16% of respondent said that after secondary education they suggest their girl child to marry because respondent believe that there is no importance of higher education. 84% of respondent said that they suggest their daughter for higher education after secondary because in this age they are not mature enough to get married and if she gets married then she can't take care of her family and thought that they are not able to take better decision. After secondary education if she gets higher education she will be able to become self-dependent, and understand the world and also fulfilled her own dreams and enjoy herself independently.

.

7: MAJOR FINDINGS OF THE STUDY

The major findings of the present study are given below:

1)It is found that 100% responded said that girl

education is important.

2)It is found that 84% parents responded that higher education is essential for girl child and 16% parents responded that higher education is not essential for girls.

3)It is found that 84% parents responded that they motivated their girls for higher studies and 16% parents responded that they do not motivate their girls for higher studies.

4) It is found that majority of parents 90% has provide all the facilities to their daughter for education. And only 10% parents do not provide all the facilities to their daughter for higher education.

5) 92% of parents want to their daughter to be a self- sufficient through higher education and 8% of parents do not want their girls to be self-sufficient.

6) It is found that 28% of parents believe that college or university education can empower women to disagree with the decisions of the elders of the family and 72% of parents disagree the statement.

7) Regarding the following culture 86% of parents responded that educated girls following their cultures and also transmit their culture from one generation to another and 14% believe that educated girls do not follow their cultures.

8) It was found that 80% of parents agree that education is equally important for boys and girls. And 20% of parents disagree that statement.

9) It was found that 78% of parents thought that girls assist their family financially and 22% of respondent do not think that girls are not able to assist their family financially like that of boys.

10) It was found that 7% of parents who are economically very strong and they able to provide all the facilities to their girl child for study. And they also responded that their economic condition doesn't affect their girl child.

11)It was also observed that some parents interested in giving education to their girl child but they couldn't due to the poverty.

12)It was also observed that an economically poor parent however manages to give their girls higher education then economically strong parents.

13) It was also found that 20% parents responded that they give their girls higher education but due to the poverty they are unable to provide them study materials.

14) It was found that 16% of respondent disagree in giving higher to girls. Parents not interested to giving higher education because they thought giving higher education to their girls will be a hindrance for their marriage.

15) It was found that they want to give their girls higher education but the main problem is dowry system. Parents save money for their daughter marriage.

16) It was observed that in this community parents want their boys to join their traditional occupation.

17)It was also found that people do not want to send their daughter for higher studies because they thought girls marriage their own choice without approval their parents

than it is affect their self-respect.

18)It was found that there is no gender based preference with regard to educational preferences.

19)It was found that Bhojpuri community people give importance on their girl's higher education as they can become self-sufficient.

20)It was found that the 84% parent's wants their daughter to pursue their studies after secondary education and 16% parents wants their daughter to get married.

9: SUGGESTIONS

Parents have a both positive and negative attitude on their girl child higher education among Bhojpuri community. The suggestions required to reduce the negative attitude towards girl's child higher education. Some points are given below:

1) Parents should be aware of importance of girl child education. So, those girls are more educated in this community.

2) Though the government is in favor of eliminating the dowry system still dowry system exists in this community. People should respect the low of the government and help to reduce the dowry system.

3)Parents should talk with their child in a friendly manner to know their daughter hobbies and ambitions. What they wants in their life. So, it can motivate girls to give best result to their parents.

4) Parents should avoid the superstitious belief on the girls.

5) Girls should respect their elder's decisions, respect elders to reduce the misconception about girl's higher education.

6) Girls should reduce their parent's misconception about higher studies by giving their best in studies.

7) Parents should not discriminate among girls and boys which will help to develop girl's education.

10: CONCLUSION

The primary purpose of this study was find out of parents attitude towards girl child higher education among Bhojpuri community. The research questions were investigating the views of parent's attitude regarding higher education of girl child.

RQ: 1:- What are the opinions of parents towards girl's higher education?

According to data collected through questionnaire and interview, parents have a both positive and negative opinion but maximum parents have a positive opinion towards their daughter. Parents want their daughter to be self –sufficient through higher education and cope up with any situation and empower women to reduce the misconception about girls. Educated girls fairly behave with elders and respect their decisions and also better care their kids or family. They follow their cultures and transmit from one generation to another. And also highly educated girls are engaged in job and assist their family financially and contribute in a national income. Through higher education they can be aware about their rights. Some parents have a negative attitude they couldn't pursue their child higher education because of some superstitious belief or misconception about girl child and dowry system is the major problem to girls higher education.

RQ: 2:- How socio-economic condition creates

problems in fabricating the educational preferences?

The respondents faced many problems to give their child higher education. Sometimes they couldn't afford their childs admission fees for that parents borrow money from others and give them interest. And some parents want to give their child higher education but they couldn't do so due to the poverty. Or if they get admitted then they wouldn't complete their studies.

RQ: 3:- Is there any gender based preferences towards educational enrollment?

The researcher found that there is no gender based preferences towards educational enrolment. The respondents who give education to their children prefer both boys and girls for higher education. Those who do not giving their child higher education they deny both boys and girls higher education.

REFERENCE:

Akpede,N., Eguvbe, AO., Alpamu, U.,Asogun, AD., Momodu, Md., et.al.(2018) Parents attitude and practice towards the girl child education in Esan west local government area of Edo state in Nigeria. J women's Health Report MED.VOL.2 no 1:3.

Chingtham, Dr. Tomba., & Guite, Tinkhoiling.,(2017) Parents attitude towards Girls education. IOSR Journal of Pharmacy and Biological Sciences(IOSR-JPBS)7.4:01-06.

ussain, s., Zakaira, M., Hassan, Y., Mukhtar, Y., Ali, S.,(2003). Parents attitudes towards the education of their daughters: A case study of district Faisalabad-Pakistan. International Journal Agric and Biology.5(3)

Iqbal,S.,Mohyuddin,A.,Ali,Q.,& Naqvi,S.T.M.(2013);Traditional attitude of parents and its impact on female educational attainment in rural Hafizabad, Pakistan. International Journal of education and Management studies, 3(4),493.

Koul, Lokesh (2014), Methodology of Educational Research (4thEdition),Shimla, Vikash Publishing House Pvt Ltd.

Khattak,G.Shamass.,(2013);Attitude of parents towards contemporary female higher education in KPK. Sky journal of educational research 1(2)

Mor,prof.K., Sethia ,S.,(2015); parents attitude towards Girls education in Haryana. American International Journal of research in Humanities, arts and social sciences

Mdu, Reshma(2014); Parents Attitude Towards Girl child education; A sociological study of Haryana. International Multidisciplinary Research Journal. Vol-1,

Nayak,Dr..B.(2014);Parents attitude towards education among Kandha Tribes in Odisha ,India. International Journal of Management and social sciences Research 3(10)

Ngailiankim,C.(1993). A study on the Attitude of parents towards women's education in Imphal Area. M.ed Dissertation. Monipur University

Obiageli, OE., Paulette, E.,(2015). Parential Attitude and Girl child education in Edo state, Nigeria. Journal of education and social Research 5:175

Rajan, Ratnesh., Panday, Anuradha., Rajan, v., (2014); Nature and types of schools in pre independence India. IOSR Journal of humanities' and social science vol-19

Shahzad,S., Ali,R..,Qadeer,M.Z.,& khan, M.S.(2011);community attitude towards female education. International journal of Academic Research, (1).

WEB SOURCES:

Shodhganga.inflibnet.ac.in Retrieved on 15th October 2019

www.shareyouressays .com. Retrieved on 20 October 2019

https://commonpepolecommonvoice. Retrieved on 21 October 2019

https://dibrugarh.nic.in Retrieved on November 10, 2019

https://indiawater.gov.in Retrieved on December 5, 2019

https://www.slideshare.net Retrieved on December 12, 2019

Impact of Lockdown on Digital Marketing Tools During Covid-19 in selected Business

Sidhant Kumar **Saurabh Sonkar** **Ashoke Kumar Sarkar**

Department of Business Administration, Central University of Jharkhand, India E-mail: sidhant.jru@gmail.com

1. Introduction:

The effect of COVID 19 on any business depends upon the response of consumers and customers. There is instability in almost all the businesses around the world due to the lockdown. It is the offline market and businesses that are suffering more. To some extent, the lockdown has affected the businesses on online platforms as well. The interests of people are shifting towards the online market and platforms. Various brands and companies are searching for digital marketers and advertisers for improving their online business. Many new companies are introducing themselves to online platforms. They understand that the future of business is on the internet.

2. Literature review:

In the era of the internet, there are various advanced marketing and advertising techniques available online. Social media is another factor for the rapid growth in the digital marketing industry. The markets are transforming very rapidly. The marketing industry is involving the internet. The Internet provides better opportunities for businesses to expand. We use the area-wise digital marketing analysis to examine the current scenario and situation of digital marketing in that area. It is very important to know the people that are engaged in viewing digital advertisements on their mobile internet devices. Surveying the current scenario is important for the future growth of digital marketing.

3. Covid-19 and digital marketing:

The newly introduced online businesses need good and expert digital marketing experts that can help them to enhance their business rapidly. The rapid shift of businesses from the offline market to online platforms is providing a golden opportunity for digital marketers. People are spending more than ever time on their smartphones and laptops. Almost 45% of the world population is spending 3 more average hours on the internet daily. Also due to social distancing norms, people are avoiding going to physical marketplaces. They find it easy to order things and services online. This has created a transformation in the traditional marketing scenario. The need and demand for digital marketers have increased drastically. Also, the brands and companies are finding it much more feasible and economic to advertise themselves on various online platforms. When compared with traditional marketing practices they are getting a better response from the internet. One thing that is very special about digital marketing is that it covers both the advance and the traditional methods of marketing. It can provide the benefits of both to the business. The researches and the surveys suggest that digital marketing is growing at a rapid pace since the year 2014. It has been playing a major role in diversifying the marketing strategies of the brand and companies.

4. Objective: Exploring the most effective tools of digital marketing and examining its impact during the lock down period due to COVID-19.

5. Summary of Collected Responses from Business Community:

According to a survey did in the market related to the impact of lockdown on digital marketing tools, circulated the following types of questions with digital marketers.

Table.1. The response of 50 people about challenges faced in lockdown

Sr. No	Challenges faced by businesses	Response from Business Persons
1	Slow Sales	20
2	Supply Chain Delays	40
3	Productivity	30
4	Economy Problem	42
5	Churn Reduction	38
6	Challenges for Expansion into new markets	39

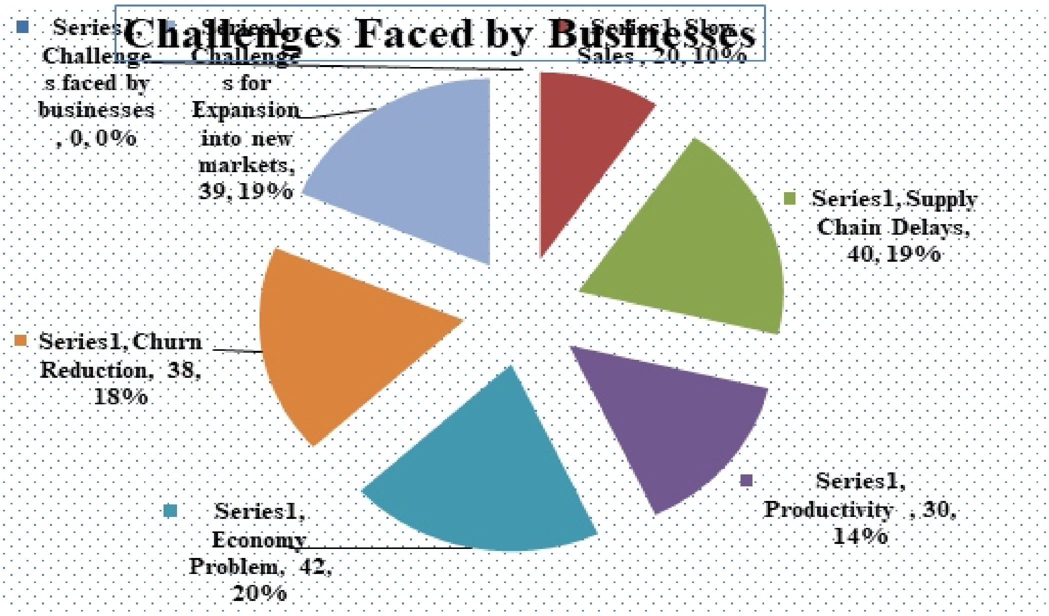

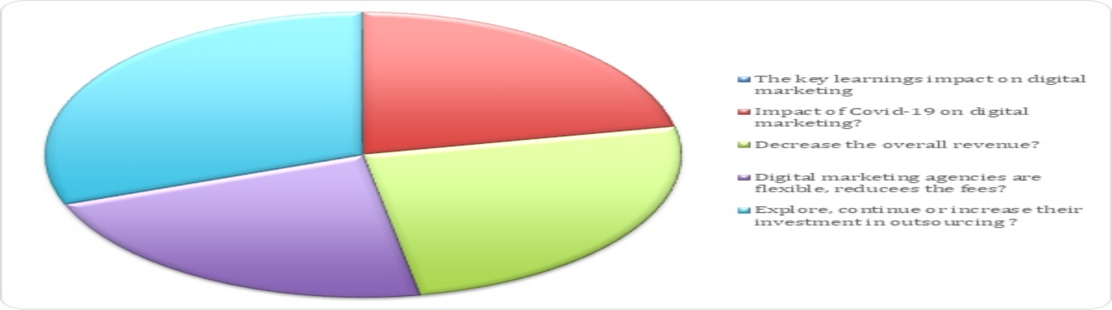

Fig.2. Key learning's impact on digital marketing.

6. Methodologies: People are spending more time on various social media platforms. This is the reason behind social media growing as a powerful digital marketing tool these days. Brands and companies are centering more on business-to-business strategy. Digital marketing can help brands to get promoted on various online platforms. This is a great time to shift the focus on digital marketing from offline and traditional marketing practices.

Several other methods to calculate the impact of COVID-19 on digital marketing are evaluation and testing, comparing the particular business with other businesses, and counterfeit check programs. The present techniques that analyze the growth of digital marketing business: The most basic technique used in analyzing the growth of the digital marketing business is evaluating the growth of business in certain locations. It is the most widely used technique that the experts use in analyzing the growth of the digital marketing business. They analyze the involvement of people in online advertisements and campaigns. They select various locations and regions for their examinations.

To calculate the damage and profit that occurred due to lockdown to digital marketing, the counterfeit check program will be used. It would make the procedure easy and more accurate.

Open in Turbo Prep Auto Model Filter (999 / 999 examples): all

Row No.	Question	Segment Ty...	Segment De...	Answer	Count	Percentage ...	Lockdown Effect ↓
1	What do you t...	Mobile	Global results	Is this produc...	268	0.226	1
2	What do you t...	Mobile	Global results	This is lame	532	0.449	1
3	What do you t...	Mobile	Global results	Get that mon...	293	0.247	1
4	What do you t...	Mobile	Global results	Other (comm...	91	0.077	1
5	What do you t...	Web	Web	Is this produc...	0	0	1
6	What do you t...	Web	Web	This is lame	0	0	1
10	What do you t...	Gender	Female voters	This is lame	220	0.510	1
12	What do you t...	Gender	Female voters	Other (comm...	40	0.093	1
16	What do you t...	Gender	Male voters	Other (comm...	51	0.068	1
17	What do you t...	University	Vanderbilt Un...	Is this produc...	7	0.226	1
18	What do you t...	University	Vanderbilt Un...	This is lame	15	0.484	1
19	What do you t...	University	Vanderbilt Un...	Get that mon...	8	0.258	1
20	What do you t...	University	Vanderbilt Un...	Other (comm...	1	0.032	1

Fig. 3 Dataset used for the regression model

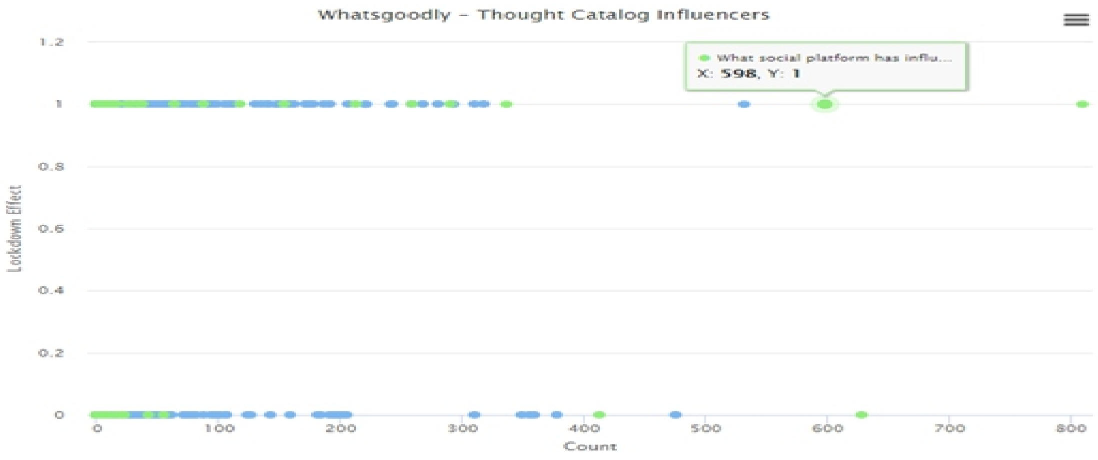

Fig 4. Regression Method Result

Attribut...	Question	Segme...	Segme...	Answer	Count	Per... ↑	Lockdo...
Question	1	?	?	?	-0.175	-0.092	0.020
Lockdow...	0.020	?	?	?	-0.010	0.019	1
Count	-0.175	?	?	?	1	0.145	-0.010
Percenta...	-0.092	?	?	?	0.145	1	0.019
Segment...	?	1	?	?	?	?	?
Segment...	?	?	1	?	?	?	?
Answer	?	?	?	1	?	?	?

Fig 5. Correlation Matrix (Dependent/Independent Variable)

According to the design model developed for the effect of lockdown on digital media, the response of the model is far better compare to the other models, like SEM, etc. also correlation matrix indicates the dependencies and independence between the attributes. The regression design model according to the pattern are as follows, which is drawn in the minddler data mining tool.

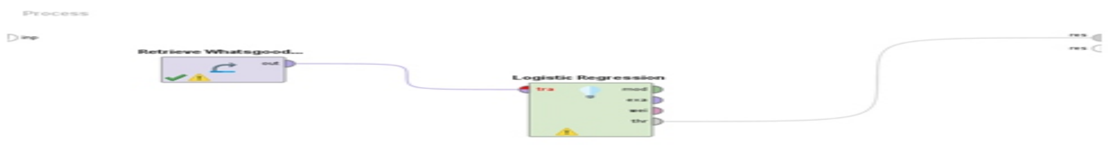

Fig 5. Design Model for Dependent/Independent Variable

7. Proposed hypothesis and research:

We are using the counterfeit check program to investigate the impact of lockdown on digital marketing tools during COVID-19. It helps to find the mean values of various calculations and examinations. This method is also used to calculate the mean of various financial and monetary businesses. We will use the collected data to get the results. The presented method is best to use while making a compression between two different scenarios. We are visualizing a scenario where there is no COVID-19. The world and the digital marketing business are working very fine and there is no problem with it. Next, the business analysis data of the visualized world will be compared with the actual current scenario. That will give the answer to the raised questions.

Steps involved-

1. Collection of the data:

   Create an excel sheet with the present data and the visualized situation data. The sheet should contain the following data

   The present sales and profits

   The sales profits from the visualized scenario

   The time and date of the sales and profits

2. Analysis of the data:

   You can use Google CIR to analyze the data. It will use the technique of the counterfeit check process to analyze the input data.

3. Getting the results:

   The CIR tool after analyzing the data will provide you with a graph. The graph provides an easy comparison between the current and the visualized scenario.

   From the comparison, you can easily examine the impact of lockdown on digital marketing tools during COVID-19.

8. Analysis :

The counterfeit check process is a very successful method to examine and figure out the difference between two input data. Data has been used to examine the use of various digital marketing tools during the lockdown period. It is figure out that there is no such loss in the digital marketing business due to the COVID-19 lockdown.

The results from the graph provide the best understanding of the impact of the lockdown on digital marketing tools. Also, the data would help us to improve our present business scenario. In the initial days of the lockdown, the workload for digital marketers was comparatively less than the normal days. But after a few days as people started to use the internet they showed interest in the digital advertisements. Also now people are showing more interest in these digital promotions.

9. Key results of the research:

In 60% of organizations, no representatives have been arrested. Also, there were no such plans in the guide. Therefore, 24% of the study members confirmed that they or their partners were fired for COVID-19 related reasons.

64% said they had started working in the distance.

63% of organizations have chosen to send SEO spending plans to PPC.

46% of organizations lost base customers in the previous period and 12% ensured that they were happy to invade a new one.

40% of respondents confirmed that their wages had been reduced and 9% of organizations had plans to turn these changes into real life.

28% observed a decrease in the peak hour grid

compared to 27% on the contrary.

19% of organizations have created and renewed anti-emergency plans.

9.1 Survey participants:

Precisely 4,511 respondents opted for the survey. The overall India from most participants are based.

The majority of respondents were aged between 22 and 35, and more men participated in the study. For more details about the gender and age distribution of the respondents, please refer to the charts below.

SEO and PPC specialists, digital marketing specialists, social media, content, and email marketers were among the participants. Their professional experiences ranged from one year to more than 10 years in the field.

9.2 Most famous tools used in digital marketing:

1. Google analytics-

   It is a very important tool to track engagement on websites and promotions. It helps you to examine the growth or decline in your progress.

2. Google AdWords-

   It is an advertisement display option that Google provides to its user. You can simply use the AdWords service to advertise your content or service on various blogs and websites.

3. Slack-

   It provides various chat groups where you can share your products and marketing tactics. People in these chat groups will help you to viral your advertisements.

4. Asana-

   It helps you to organize your marketing strategies also it provides various ways that can help you in making your campaign successful.

5. Buffer-

   It let you analyze and organize all your social media accounts at a single place. It increases the working efficiency.

6. Google Adsense-

   Adsense helps the website or blog owner to earn money by placing advertisements on their websites and blogs.

These above-mentioned tools are some of the most famous and widely used digital marketing tools present currently for operation.

The counterfeit check process is a very successful method to examine and figure out the difference between two input data. We have used the data to examine the use of various digital marketing tools during the lockdown period. We figured that there is no such loss in the digital marketing business due to the COVID-19 lockdown.

The sales were very low in the initial days. But after a month of lockdown, more people started to use their mobile and other internet-enabled devices to work from home. This directly profited the digital marketing business. More people tried their steps in the digital marketing field. As a result, growth was observed in the sales and usage of digital marketing tools. Hence all these tools have a significant role in digital marketing .

10. Conclusion:

Growth has been observed with the usage of digital marketing tools. New brands and companies are rushing towards the internet and other online platforms to establish their business. A rush in the demand of digital marketers has been observed in recent times.

Usage of online digital marketing tools have increased and by

which overall sales have been increased significantly. People like this idea of buying things and services online. Also, the heavy usage of social media platforms is playing a big role in increasing the sales of several brands. Social media is serving as the most influential advertisement and digital marketing platforms for several brands.

11. Limitations :

The method is highly accurate in getting the result. The only limitation is the number and the area to which it can be performed. This method should be used separately for different locations. This may be used by combining the data from different locations but in that case, it will not provide the most accurate result and observations. To have good results the date and time have to be very accurate and precise.

References:

A Munshi, MSS MUNSHI, 2012, Digital matketing: A new buzz word, International Journal of Business Economics & Management Research, Vol.2 Issue 7, July.

A Sundararajan, Leonard N., 2003, Pricing Digital Marketing: Information, Risk Sharing and Performance, Stern School of Business Working NYU

Anderson, P. (2007): What is Web 2.0? Ideas, technologies and implications for education, in: JISC Technology and Standards Watch, Feb, 1-64.

Bernoff J. and Li C., (2008), Harnessing the Power of the Oh-So-Social Web, MIT Sloan Management Review, vol 49, nr 3, pp 36-42

Boyd, D. M. & Ellison, N. B. 2007. Social Network Sites: Definition, History and Scholarship, Journal of Computer Mediated Communication vol 13, issue 1, 210-230.

Bryan L., Matson E., Weiss L., (2007), Harnessing the power of informal employee networks, The McKinsey Quarterly 2007,

Cetină. J, Cristiana. M, Rădulescu. V, 2012, Psychological and Social Factors that Influence Online Consumer Behavior, Procedia - Social and Behavioral Sciences, Vol 62, Page 184- 188.

Chaffey. D, (2013) “Definitions of Emarketing vs Internet vs Digital marketing”, Smart Insight Blog, February 16, 2013.

DC Edelman, 2010, Four ways to get more value from digital marketing, McKinsey Quarterly

Illusion Of Human Interdependence In Vikram Seth's A Suitable Boy

-J. Dharageswari
Assistant Professor, Dept. of English,
Kandasamy Kandar's College,Namakkal,
Periyar University,Salem,Tamilnadu

-J. Ambika
Ph.D Research Scholar, Dept. of English,
Kandasamy Kandar's College,Namakkal,
Periyar University,Salem,Tamilnadu

Abstract

Vikram Seth's first composition novel A Suitable Boy (1993) has been contemplated by reviewers and critics as a re-visitation of customary methods of composing, especially after the period of eighties. This novel explains the conditions of India after independence and partition. This novel then again deals about the situation after the national election of first post-independence during 1952, which includes the status of lower class people, customs regarding land-ownership, educational affairs, Hindu-Muslim conflict, eradication of Zamindaris' system and some issues significance to the characters. It also assumes Indian nation as an incorporating conceptual proclamation that changes beyond the transition to the state and land the nation. Stories in the novel imprint the real factors of India with common expectation. This novel reveals the different objections and problems which includes nationhood, decolonization and nationalism encountered.

Keywords: partition; independence; Zamindairs' system; nationhood; decolonization; nationalism;

INTRODUCTION

Vikram Seth is among the best of the best of intense new novelists. His impingement on the act of Indian English Literature during the 80's was in consonance with the bigger improvement of Indian English Literature around then. Seth explores social issues and incidents in India during the period of 1950 with the children of Chatterjee upper-class characters join together Chatterjee's residence for dinner to enjoy themselves. At the time of the party, people will be talking about work, business, politics, writing, literature, and their social life. Indian parents insist on arranged marriages for all of their children. Amit is a lawyer, but he takes up writing as a profession. There is an argument arising when Amit is busy writing a novel and Dipak doesn't want to be in the spirituality of Hinduism. They are hopelessly caught up in their own occupation, Justice Chatterjee tells us. It was the full-scale reality of India where people DID have jobs, but lived as if they had none. By mixing these cultures, Seth exhibits truth, education, and marriage. Justice Chatterjee says about India and Pakistanis splitting into Hindus and Muslims. He looks for judges' names from the previous year of All India Reporter in the shortened version on the first tab. He wishes he hadn't done it.

…...In macrocosm these two pages reflect the passage of an empire and the birth of two countries from the idea-tragic and ignorant-that people of different religious cannot live together in one. Who'd have thought, he asks himself … that things would have changed as much and swiftly as they had? (p.468-69).

SETH'S VIEW ON THE CHARACTERS

The lives and social traditions of the Indian middle class are reflected in the Indian government's policies. His choice of Calcutta is to demonstrate the cosmopolitan, social, and political culture of the British Empire. The family of the Chatterjee's practices British and Brahmin religion. God is one but has separate names according to Upanishad anta intellectually and artful Seth expresses the spiritual and political philosophy through the characters of Chatterjee. Mr. Agarwalla pens India for Tolstoy, which was in line with Tolstoy when writing about intellectual life in the same time period of time (p.53). Haresh Khanna travels to CLFC for industry. He sees Mahes Kapoor's son-in-in-law Kedath Tandon in Brahmpur. Java enters Haresh and Kedath's neighborhood. Ali says,

He is able to graphically depict the contort Indian society at a time of enormous stress and turbulence (1993:57).

Gain a greater understanding of the city by living with Jagat Ram. The shoes are in a dirty condition and unsanitary state. Seth captures the neglected community and their struggles. Haresh would like to bring about a social change in the immediate area listed. If resources and workers were available, he would rebuild this community in six months. It was just a matter of making practical decisions and making provision for them (p.221).Praharesigns as the foreman at Kanpur Leather Factory, he is hard-working, confident and dedicated to his job. Myers says that Haresh is a capitalistic in the factory leads to greater development. it is a chance for new India after partition.

Haresh had the mannerisms of a Stakhovinian quality (p. 1125).

Seth explains Haresh's attitude and behaviors to Lata and his relatives. Simran is absolutely faithful to him her family does not approve of inter-caste marriage. Haresh is not her ideal husband, but she slowly and gently comes to think of him as such. She doesn't care about their shared understanding because her son-in-in-law comes from a well-to-to-do household. Seth proposes that society's attention shift from money to love and affection is making ability Seth scorns his mother-in-in-mercenary law's motivation for his daughter's marital purposes finances and place were all in regard to finding a suitable man in life Mrs. Mehra and her husband illustrate the urgency of money and social standing,

"How do you enjoy your job?" asked Mrs. Rupa Mehra.

"I don't know," said Haresh.

"I can't advance to the top in CLFC, and I don't want to spend my life in a company where I cannot get to the top.

"My son thinks the same," said Mrs. Rupa Mehra.

"My elder son, Arun, He is with Bentsen Pryce: Sooner or later he is bound to become a director, May be even the first Indian director." She savored the vision for a few moments…. Lata was looking slightly disgusted (p.572).

MARRIAGE BASED ON CASTE

Seth documents societal history and personal style, along with modern modes of life in new technology, in Lata. He demonstrates the caste system in business as well as it functions. Prahar-Shoe is compared to Bat-shoe. Due to the foul atmosphere, the workers who work in the shoe factory are without a hygienic lifestyle. Jatav represents the distance between the upper and lower-class gap traditional and nontraditional are coexisting harmoniously in his writing. India's social changes are seen in a lot of "new lyric heroes" these days in "Suitable Boy," .Haresh is a self-starter He has the trust to see a daunting task through. When he meets Lata, he falls in love with her and captive Mrs. Mehra accepts Haresh as a suitable he" isn't the kind to ask for it" (p.562). Haresh is a better choice for her daughter than Kabir and Amit Instead of opposing arranged marriage; Lata has decided to embrace it. She realizes her mother's true desires and marries Haresh. The caste and community disapprove of interfamilial unions, so Lata's family disowns Kabir. Next; she gives up on Kabir as he must work for two years before making any progress in his career. Seth shows that women are not permitted to be located outside of their traditional culture. Lata and her family face many communal and familial stresses in this book Maan Kapoor and Saeeda Bai's story exposes the problems that arise from inter-caste unions. Lata's mother tells her that Hindu marriage and traditions are very different. Maan , finally sacrificing love and desires for society and family traditions Thus, Lata's passion changed him, while Saeed Khan's gets him crazy and makes him jealous, and so he ends up killing his best friend, which is Saeeda. His activity results in the Kapos and Khans feuding for generations. When Malathi asked about Kabir, Lata responded

No, cried Lata, 'I don't want!' I don't have the energy for that watches how it has affected the family. His parents are completely heartbroken. Myself; when I felt that Kabir was thinking about someone else (p.1296).

Lung's experiences teach her about marriage, and she later on settles for an arranged marriage. When in love, Mihirul spills the beans. During the campaign, it becomes a Muslim topic and Kabir's party loses. "Kabir and Saeeda Bai" are described as sympathetic. Their relationship portrays her and abuse. Malati agrees to continue loving Kabir because he is a great companion.

Lata agrees

I'm not myself when I'm around him. I ask myself who is this jealous, obsessive woman who can't allow a man to leave her thoughts? If he's always around, it will always be like this (p.1296).

MARRIAGE - A HARMONY

Marriage brings about harmony, fellowship, and understanding within the family. She recognizes certain redeeming traits in Haresh, and he is cooperative. There's no arguing with him. He avoids wasting anyone's abilities. He motivates them. I really care about Maan, about Savita, and her studies (p.1297). Lata's family do their wedding shopping with Mrs. Mehra Varun shows the gold box to his mother and he is brought back to life. Then, she jumps into the plans for her daughter's wedding. She is applying henna traditionally. All gather once again at the marriage of Lata and Haresh. The wedding induces typical Hindu habits. Lata's always has to deal with the stream of traditional and modern ideals, she just like we all of us do. M arranging an arranged marriage is what she advocates for In Mehra's family, marriage is sacred and held in high regard. Lata prioritizes her family; she is altruistic and loyal. She is a transitional figure in the changing traditions of her culture. Post-independent India's domestic activities are linked to the political conflict

THEME OF LOVE

A realist, he shows the turbulent post-Indian and Pakistani independence which has separated into Hindus and Muslims. He reveals the history of the transition to progressivism. Lata represents modernity and her family at the same time. via the lead character, through the concept of marriage and the setting, Seth attempts to show the powerful theme of love A big concern in Seth's novels is love. She is without any intense emotion. He prioritizes home life. A suitable boy is the traditional novel of the nineteenth century; he emphasizes connections with the family.

CAREEFREE LIFE OF INDIAN PEOPLE

The Nineteenth-century Pragmatic novel Seth brings anyone suitable. His work shows a more lighthearted side of Indian family life; he doesn't showcase the complex issues related to dowry and bride-burning. His direct approach reflects family, marriage, and friendship. He documents what every middle-class Indian family is like After Lata's wedding, Mrs. Mehra looks for a suitable man for her younger daughter. Arun and Mehra get married, which angers their parents. Arranged partnerships are more stable than love marriages.

ABOUT BRITISH FIRMS

British firms continue to run for money in Calcutta. Arun works for the Bentsen Pryce Corp. He works for international commerce and for the manufacture of products in the region of Calcutta. Once he's married, he settles in Calcutta. Talented young men from the UK return to Cambridge and Oxford are hired by prestigious British firms. In factually speaking, they are covenanted to work for the corporation (p.421). In the time of 1952, the eighty British business executives are dubbed 'browns' (p.422). Arun doesn't have time for Bentsen Pryce and works very hard because he is a working man. Meanwhile, Meena remains unemployed, and had an affair with her husband's uncle, Billy. She takes advantage of her free time, and is also very refined.

CONCLUSION

The characters in this story are given choices and most of them are tragic. to escape reputations. Kabir's happiness has to come before Lata's personal well-being. Their desire dissipates when their love for their family is lit. Mrs. Mehra is looking for a suitable husband but not for her daughter Pran Kapoor is looking to take the next step in his career. His asthma weakens him physically. Pran does not want to be removed from the role of Reader. Pran is afraid of his wife, and Savita's wife goes into the hospital at the same time but to everyone's disappointment, Savita has a boy for a daughter. Pran and Savita's life runs as smoothly as it can when he is emotionally or physically impaired by his wife's family' in this book, we see Mahes and Pedda's arranged marriage and Pran's daughter Veena Savita's existence Bhaskar has made a successful shoe company, and his family has a child; they are doing well. He promotes that arranged marriage is superior to love

marriages the single ingredient is most crucial respect for the sake of their families the partnership offers stability and passion alongside reciprocity and substantial sacrifices. Seth's goal is to clear the illusion of human interdependence (which disregards reality) and on the other hand he seeks to encourage human autonomy (fulfillment). A perfect marriage will balance the rights of the individual and the collective. This kind of relationship is evident in Savita's life as well.

References

1.Vikram Seth. (1994). A Suitable Boy, Delhi: Penguin, p. 850. All quotations are taken from this edition.

2.Gupta. (2005).Vikram Seth's Art: An Appraisal. Atlantic Publishers & Dist.

3.Sirsi, C. (2017). Between Agency and Exhaustion: Indian Anglophone Literature and the Neoliberal Subject (Doctoral dissertation, University of Southern California).

4.Ganapathy-Doré, G. (2004). Autobiography as Legacy: Leila Seth's On Balance. Commonwealth: Essays and Studies, 27(1), p.39.

5.Ponomareva, A. (2016). Vikram Seth's Golden Gate as a Transcription of Alexander Pushkin's Eugene Onegin. In Rereading Schleiermacher: Translation, Cognition and Culture (pp. 219-232). Springer, Berlin, Heidelberg.

6.Agrawal, B. R.,&Sinha, M. P. (2003).Major trends in the Post-Independence Indian English Fiction. Atlantic Publishers & Dist.

7.Sankari, D. R. (2019). "Culture and Music in Vikram Seth's an Equal Music," J. Inf. Comput. Sci., 9(11), 4.

8.Flint,C. (1998). Family Fictions: Narrative and Domestic Relations in Britain, 1688-1798. Stanford University Press.

9.Gopal, P. (2009).The Indian English Novel: Nation, History, and Narration. Oxford University Press.

10.Oreszczyn, S., & Lane, A. (2000). "The meaning of hedgerows in the English landscape: Different stakeholder perspectives and the implications for future hedge management," J. Environ. Manage. 60, (1), 101–118. doi: 10.1006/jema.2000.0365.

11.Sarkar, I. (2017). "Rabindranath Tagore's Idea of Universal Humanism in the Light of Islamic World View," Philos. Prog., pp. 53–66. doi: 10.3329/pp.v61i1-2.44202.

12.Singh, S. K. (2017). "Treatment of Anti-Colonial Nationalism and Religion in Tagore's Gora," p. 3.

13.Howard, V. R. (2013).Gandhi's Ascetic Activism: Renunciation and Social Action. SUNY Press.

14.Chelliah, D.S. "Mulk Raj Anand as a pioneer novelist of Indo-Anglian literature emerging as a social realist at all costs: An Appraisal," 5 (2394), 6.

15. Bhushan, N., & Garfield, J. L. (2011).Indian Philosophy in English: From Renaissance to Independence. Oxford University Press.

16.Rajeshwar, M. (1998).Indian Women Novelists and Psychoanalysis: A Study of the Neurotic Characters. Atlantic Publishers & Dist.

17.Sameni, D. M. H., & Shahmoradi, F. (2016). "Unusual but Honest: Kamala Das and Confessional Poetry," Bull. Société R. Sci. Liège, 85, 14.

18.Fair, V., & Vidal, G., Vikram Seth's "The Golden Gate".

19.Todorov. T., & Weinstein, A. (1969). "Structural Analysis of Narrative," Nov. Forum Fict., 3(1), 70–76. doi: 10.2307/1345003.

20.Varshney, A. (2001) "Ethnic Conflict and Civil Society: India and Beyond," World Polit., 53(3), 362–398.

21.Butalia, U. (2017).The Other Side of Silence: Voices from the Partition of India. Penguin UK. A Suitable Boy, p. 253.

ROLE OF COMMERCIAL BANKS IN LENDING TO PRIORITY SECTOR WITH CUSTOMERS PERSPECTIVE IN KRISHNAGIRI DISTRICT – TAMILNADU.

-Dr.S.M.KRISHNAN
HEAD,DEPARTMENT OF COMMERCE
GOVT ARTS COLLEGE FOR MEN
KRISHNAGIRI.

-Mrs.K.USHA
Ph.D., COMMERCE RESEARCH SCHOLAR (P/T)
GOVT ARTS COLLEGE FOR MEN
KRISHNAGIRI.

INTRODUCTION

The banking system in India, large segments of the Indian population especially the rural poor are not adequately served with credit facilities. This study is an attempt to evaluate therole of commercial banks in lending to priority sector with customers perspective in krishnagiri The commercial banks provide capital, technical assistance and other facilities to businessmen according to their needs, which leads to development in business. A commercial bank is owned by stockholders and perated profit. Its primary functions to receive, transfer and lend money to individuals, busineses. It makes money primarily by providing different types of loans to customers and charging interest. Public sector banks in India have impressive performance in achieving social goals, extending the geographical reach and functional spread of financial services in general and for the rural poor in particular. An effective financial system should empower individuals, facilitate better integration with economy, actively contribute to development and give protection against economic shocks. Inclusive finance, through securing savings, by providing appropriately priced credit and offering tailor made insurance products to all, and Revised Manuscript Received on December 22, 2018. modern banking operations need more efficiency on the part of the banks simultaneously with shouldering the responsibility of developing the backward regions and neglected social sectors. Simultaneously, Reserve Bank of India has been taken constant efforts to strengthen credit delivery, improve customer service and encourage banks to provide banking services to all segments of the population. Despite considerable expansion of district, Tailnadu.

REVIEW OF LITERATURE

Raman (2013) evaluated the performance of lending to priority sector by the commercial banks in Tamil Nadu for a period of 10 years from 2000 to 2010. The conclusion derived from the survey that the performance of the commercial bank in the area of priority sector advances is in positive trend with the growth rate in times for public sector banks (13.9), for private sector banks (35.6) and for foreign banks (69.1). It is stated that the economic relevance of banks and lending framework within banks which has an increase in the market credibility and subsequently enables bank to collect funds at lower cost and lower risks (Basel, 2004). Stafford (2001) analysed the performance of banks from 27 developing countries and found that there is higher valuation of firms in countries with better lending practices.

Anand (1994) in his work concludes that commercial banks should have medium and long term perspective plans for meeting the call of the priority sector lending on the one hand and making Indian commercial banking vibrant with higher productivity and profitability on the other.

Lending to priority sector

Lending interest rates

Lending interest rates of commercial banks were deregulated in October 1994 and banks were required to announce their prime lending rates (PLRs). The concept of benchmark prime lending rate (BPLR) was introduced by the Reserve Bank on April 29, 2003 to address the need for transparency in banks' lending rates as also to reduce the complexity involved in pricing of loans. Banks are now free to prescribe respective BPLRs. Banks are also permitted to offer floating rate loan products linked to a market benchmark in a transparent manner.

Term lending by banks

Various restrictions on term loans by banks were gradually phased out by 1997. In terms of the guidelines prevailing before the initiation of economic reforms in 1991, banks were expected to extend term loans for small projects in participation with the

State level institutions, though it was not mandatory. For large projects, however, they were allowed to participate compulsorily along with all-India financial institutions (FIs), subject to the condition that the share of the banking system would be restricted to 25 per cent of term loan assistance from banks and FIs and the aggregate term finance from the banking system could not exceed Rs.75 crore.

Exposure limits

Regulatory limits on banks' exposure to individual and group borrowers in India were prescribed to avoid concentration of credit. The applicable limit is 15 per cent of capital funds in the case of a single borrower and 40 per cent in the case of a group of borrowers. Credit exposure to borrowers belonging to a group may exceed the exposure norm of 40 per cent of bank's capital funds by an additional 10 per cent (i.e., up to 50 per cent), provided the additional credit exposure is on account of extension of credit to infrastructure projects. Credit exposure to a single borrower may exceed the exposure norm of 15 per cent of bank's capital funds by an additional 5 per cent (i.e., up to 20 per cent). In addition, banks may, in exceptional circumstances, with the approval of their boards, consider enhancement of the exposure to a borrower up to a further 5 per cent of capital funds.

Priority Sector Lending

Over the years the stipulation for lending to the priority sector has been retained, though its scope and definition was fine-tuned by including new items. Based on the recommendations of the Working Group, set up by the Reserve Bank, the priority sector norms were revised in April 2007. As per the revised norms, the sectors of the society/economy that impact large segments of the population, the weaker sections and the sectors which are employment-intensive such as agriculture and micro and small enterprises, have been retained as priority sector in the revised guidelines, which came into effect from April 30, 2007. Agriculture, small enterprise, micro credit, retail trade, education loans and housing loans up to Rs.20 lakh are the broad categories included in the priority sector.

NPA Management

The high level of non-performing loans (NPLs) of banks, apart from limiting the ability of credit institutions to recycle their funds, also weakened them by adversely affecting their profitability. The Reserve Bank and the Central Government, therefore, initiated several institutional measures to recover the past dues to banks and FIs and reduce the NPAs. These were Debt Recovery Tribunals (DRTs), Lok Adalats (people's courts), Asset Reconstruction Companies (ARCs) and the Corporate Debt Restructuring (CDR) mechanism. Settlement Advisory Committees have also been formed at regional and head office levels of commercial banks. Furthermore, banks can also issue notices under the Securitisation and Reconstruction of Financial Assets and Enforcement of Security Interest (SARFAESI) Act, 2002 for enforcement of security interest without intervention of courts. Further, banks, (excluding securitisation companies/ reconstruction companies) have been permitted to undertake sale/purchase of NPAs. Thus, banks and other credit institutions have been given a menu of options to resolve their NPA problems.

Development of securitisation market

With a view to ensuring healthy development of the securitisation market, the Reserve Bank issued guidelines on securitisation of standard assets on February 1, 2006 to banks, financial institutions and non-banking financial companies.

Credit information Bureau

Comprehensive credit information, which provides details pertaining to credit facilities already availed of by a borrower as well as his repayment track record, is critical for the smooth operations of the credit market. Lack of credit history is an important factor affecting the credit flow to relatively less creditworthy borrowers. In the absence of credit history, pricing of credit can be arbitary, the perceived credit risk can be higher and there can be adverse selection and moral hazard. Accordingly, a scheme for disclosure of information regarding defaulting borrowers of banks and financial institutions was introduced in 1994. In order to facilitate sharing of information relating to credit matters, a Credit Information Bureau (India) Limited (CIBIL) was set up in 2000, which took over the functions of dissemination of information relating to defaulting borrowers from the Reserve Bank. The Credit Information

Companies (Regulation) Act was enacted in 2005 to facilitate the setting up of credit information companies.

OBJECTIVES OF THE STUDY

To trace out the costumer opinion about bank's schemes in priority sector lending.

To find out customers perception towards the products and services.

To identify the problems and difficulties experienced by the customers.

LIMITATIONS OF THE STUDY

The study is conducted only Krishnagiri District.

Time given for collecting and analysing the data is insufficient.

The study is restricted to the limited number of respondents.

RESEARCH METHOLOGY

Sources of data – Primary and secondary data

Sample size – 100 Respondents

Study Area – Krishnagiri District, Tamilnadu.

Collection of Data in convenience Random sampling technique.

ANALYSIS AND INTERPRETATION

Table 1 Gender of the respondents

S.No	Gender	No of Respondents	Percentage
1	Male	60	60
2	Female	40	40
	Total	100	100

Source : Primary data

From the above table, among the total respondent, 60% of the respondents are male and remainig 40% are female.

Table 2 Age of the respondents

S.No	Age	No of Respondents	Percentage
1	Below 20	10	10
2	21-40	30	30
	41-60	45	45
	Above 60	15	15
	Total	100	100

Source : Primary data

Table 2 reveals the age frequency and the percentage of respondents. Age of Below 20, 10% of the respondents, Age between 21-40, 30% of the respondents, Age between 41-60 , 45% of the respondents are the majority, Age Above 60, 15% of the respondents.

SUGGESTIONS

Loans are offered to both agriculture sector as well as the SSI on the basis of the requirement. Even though, the both sectors are entirely different from each one. The SSI units are fully depends on agriculture because agriculture is the blood vessel of every industry. While we scrutinize the schemes of banks for the both sectors, the SSI are beneficially more than agriculture. Even though incentives and subsidies are available for the agriculture loan, the scheme for agriculture loan holder in repayment of loan is critical one when compare it to SSI.

CONCLUSION

The development should be a symmetric one everywhere. The paralysed development is possible only by stable income generation activity. So, the banks are offering various services such as loan, deposit schemes, and investment options etc,. At the same times the banks must know that the risk of every borrower and their investment activity. Because all the invested amount are not return as a profited one by all investors.

REFERENCE

1.Bhalerao Asha, "Sectoral Inequality in the Distribution of Outstanding Credit of Commercial Banks in India", Banking Finance, Vol.II, No.6,June 1989, (PP 12-13)

2.Ravola, K.S, , Nigi,R.S,., and Nigi, J.S., "Role of Commercial Banks In The Development of Priority Sectors", Indian Banking Today And Tomorrow, November 1989, (pp 14-16)

3. Bishnoi, T.R, "Policy Constraints And Banks' Profitability: Impact of Priority Sector Credit" – International Journal Of Development Banking,9(1), No.1,Jan 1991, (pp 39- 46)

4.Gayathri, K, "Credit Delivery in Rural Karnataka – A case Study of Chickmangalur District", Journal of Rural Development, Vol.12,No.3, May 1993, (pp 301-317)

5.Patel, S.G, "Role of Commercial Banks' Lending To Priority Sector In Gujarat – An Evaluation", Finance India, Vol.X, No.2, June 1996,(pp 389-393)

6.www.rbi.org.in

7.WWW.Google.com

Reviewing the Emergence and Problematics of Dalit Literature in India

-Dr. Anil Kumar
Assistant Professor,Dept. of English Studies
Akal University, Talwandi Sabo
Bathinda (Punjab)

Abstract:

The emergence of Dalit literature is a new phenomenon in post-independence India. The basic premise of argument for Dalit writers has been caste-based discrimination, humiliation, and subordination of Dalits by dominant castes in the Hindu society. In this research paper, the researcher has talked about the emergence of Dalit literature in India after independence in various Indian languages. Moreover, as with any other new literary trend, Dalit literature has also faced some challenges not from outside but from within as well. Some pertinent questions related to Dalit literature have critically been analysed, such as, 'who is a Dalit?', 'who is entitled to write Dalit literature?', 'which literature is Dalit and which is not?' etc. The contentious issues of intra-Dalit conflicts and the portrayal of Dalit women by Dalit male writers have also been scrutinized. Dalit writers reject the dominant discourses on art, literature, music, history, religion, culture, and civilization. Still, their futuristic course of action is vacillating between maintaining their respective caste identities and leaving them altogether. Further, instead of valorizing one's caste identity, the need to follow the Ambedkarite path to annihilate caste and the caste system has been suggested by the researcher.

Key words: Dalit literature, Caste, Emergence, Problematics, Ambedkar. Identity

1. Introduction

Dalit literature is an expression of life experiences, desires, and aspirations of those people who have been rendered at the ugly side of the hierarchical and hereditary Hindu caste system. Dalit people have articulated pain and anguish of their untouchable and inhuman existence through their heart-rending literary creations. They have brought forth the unnoticed and avoided aspects of the modern Hindu society, culture, and philosophy. Dalit writers have exposed the meta-narrative of modern and secular India where every citizen is considered as an Indian citizen first. They have challenged the Marxist and other progressive writers, artists, leaders, and other intellectuals through their true to life narratives of sub-human and wretched lives. It is basically Bhim Rao Ambedkar who carved out a separate 'collective Dalit identity' for the untouchable people in the hope of self-representation. Later on, Dalit writers along with Ambedkar followed the ideas of Buddha, Marx, and Lohia also. In 1973 in Bombay, Dalit Panthers issued their manifesto in which they rejected the discourse of national freedom movement led by Mohandas Karamchand Gandhi and the Congress Party. Further, they endorsed Dr. Ambedkar's ideas of annihilation of caste and varna system altogether. In addition to that, they demanded the right to land and restructuring of social organizations which were responsible for the discriminatory attitude to Dalits. The manifesto stated:

To eradicate untouchability, all the land will have to be redistributed. Age-old customs and scriptures will have to be destroyed and new ideas inculcated. The village organization, the social organization, peoples' attitudes – all these will have to be restructured to suit true democratic objectives. (Satyanarayana and Tharu 56)

Dalit writers denied sympathy and paternalistic treatment from non-Dalits. As said earlier, they recounted their day to day experiences of caste discrimination and atrocities in their narratives. It is this focus on caste and its sinister ramifications in their lives that makes Dalit literature specific. Limbale (2018)

opines, "By Dalit literature, I mean writing about Dalits by Dalit writers with a Dalit consciousness. The form of Dalit literature is inherent in its Dalitness, and its purpose is obvious: to inform Dalit society of its slavery, and narrate its pain and suffering to upper caste Hindus" (19). Dalit literature is engraved in the humanistic ethos of equality and justice for all human beings. It is against the exploitation of one human being by another in the name of caste, class, religion, gender, etc. It talks about the universal human rights of all beings on this earth. That is why this literature is imbued with the spirit of resistance and revolt. Fearlessness and frankness are the hallmark of this literature. Dalit writers have articulated their vision of freedom from casteist and untouchable selves in the strongest terms. They want to bring about the fundamental changes in all walks of life of their people. Sharatchandra Muktibodh, a Marathi poet and critic talks about Dalit literature in his essay "What is Dalit Literature?" explains:

Dalit literature is the literature produced by the Dalit consciousness. Human freedom is the inspiration behind it. That is its implied value. The nature of this literature consists in a rebellion against the suppression and humiliation suffered by the Dalits – in the past and even at present – in the framework of the varna system. A feeling of rebellion is invariably accompanied by an extreme psychological commitment. As Dalit sensibility seeks to bring about compatible changes in the social consciousness, it is rebellious as well as fundamentally optimistic and revolutionary. (Dangle 270)

From the above definition, it is clear that Dalit literature is not for enjoyment or some aesthetic pleasure or personal catharsis, but it is socially committed. Each one of the writings penned by Dalit authors is reflective of the ordeal of the whole Dalit community. That is why the autobiographical genre in Dalit literature has become more popular than other modes of writing. Here, it is important to remember that Dalit movement is not limited to literature alone but it is also prevalent in other areas also. Dalit writers have been equally active in social and political arenas of public life. They have been composers of songs, poetry, dramas, stories, etc; editors of magazines, journals, and newspapers; and organizers of political and cultural rallies. In this manner, their approach to life is inclusive and commensurate to the larger goal of ultimate human values like freedom, equality, justice, and brotherhood. Limbale (2018) rightly points out about Dalit writers when he says:

Dalit writers write out of social responsibility. Their writing expresses the emotion and commitment of an activist. That society may change and understand its problems – their writing articulates this impatience with intensity. Dalit writers are activist-artists who write while engaged in movements. They regard their literature to be a movement. Their commitment is to the Dalit and the exploited classes. (33)

Due to this social responsibility, Dalit writers disown the dominant culture, art, literature, history, myths, religion, civilization, etc., which are steeped in self-aggrandizement, inequality, falsehood, and unreal notions of being. They question the established norms of art forms and even accuse the privileged castes of taking away their art forms and excluding them at the same time. Dalit thinkers like D. R. Nagaraj (2016), Kancha Ilaih (2017) and others also complain of imposing Brahmanic culture upon dalitbahujans. They assert that most of dalitbahujans' lifestyle, art forms, culture, their gods and goddesses have been different from the Hindus. They argue that dalitbahujans have been skilful and productive people knowing one or the other art forms like weaving, tanning, spinning, ploughing, etc. while Hindus have been unproductive, dependent on the toil of dalitbahujans for their survival. In the same way, most of Dalit writers have severely criticized the Hindu religion and its inhuman philosophy based on the unjust caste system. They question the abstractness and irrationality of many Hindu myths which demonize Dalits in one way or the other. At the same time, Dalit writers re-define existing Hindu myths to appropriate their narratives for the purpose of situating them in the life-ethos of Dalits. This process of resisting, re-claiming, and re-framing is the focal narrative strategy of most of Dalit writers. They also re-

visited the history and civilization of the Hindus from their own life perspectives. B. Krishnappa, the radical Kannada Dalit writer, censures Indian history in his polemical essay "Dalit Literature" in the following words:

India's five-thousand-year history may be celebrated as glorious and magnificent, but concealed within its fringes are some terrible injustices. Its caste system, brahminical and hierocratic, enforced the exclusion of entire communities from the village. They were required to live outside the village limits. It deemed them unworthy of touch or sight. . . . Whoever calls this history great must be treated with molten lead. (Satyanarayana and Tharu 108-109)

Dalit writers have discarded the prevalent mainstream literature in most of the major Indian languages as Brahmanised and Sanskritic, insensitive of the lower echelons of society, and outdated. Consequently, the aesthetic standards of such literary works are also archaic and mundane. They argue that as Dalit literature is not just literature but a revolutionary activity which can't be judged within the parameters of classical literary standards. To analyse Dalit literature, one should be acquainted of Dalit aesthetics also. The cause, purpose, and target group of Dalit literature is totally different from that of the mainstream literature; therefore, its style and method of representing the reality are also different. In this way, Dalit writers followed down to earth approach in a more rational and humane way. They kept on re-telling their horrid, humiliating, and dreadful experiences with great difficulty. They didn't care about the set rules of literary academia and put their own people at the subject position. Though Dalit writings have been avoided, rebuffed, and reluctantly accepted as literature by the established upper caste writers, they have been able to set up an alternative anti-caste tradition by using the caste discourse itself. T. M. Yesudasan, a Dalit-Christian teacher, writer, editor, and activist from Kerala aptly puts the phenomenon of Dalit studies as under:

Dalit studies concerns itself with all aspects of dalit experience which, contrary to the views perpetrated and obstinately maintained by the upper castes, is complex, various, vast and rich. It engages dialectically with history, economics, political science, sociology, social psychology, literature, art, aesthetics, media studies, ecology and feminism; in fact, with all the major branches of social and human sciences. It also runs parallel to and crisscrosses the whole gamut of human knowledge from the theory of evolution to the science of eugenics. (Satyanarayana and Tharu 150)

Objectives of the Study

•This research paper aims to define the contours of Dalit Literature in an argumentative way.

•It focuses on the emergence of Dalit Literature in post-independence India in various Indian languages.

•It highlights and critically discusses the problematics of Dalit Literature.

•It problematizes the assertion of caste-based identities by Dalits and suggests following the Ambedkarite path of annihilation of caste.

Methodology of the Study

The researcher has reviewed the definition of Dalit literature from some seminal Dalit texts in an effort to highlight the vast horizon of it. The pan-Indian influence of Dalit literature in various Indian languages is recorded in brief. Moreover, the confusion over some basic concepts of Dalit literature, the problem of intra-Dalit conflict, and direction of the Dalit movement as a whole have critically been discussed by focussing on some key discourses of the area.

Significance of the Study

This study is different from earlier efforts for giving the pan-Indian definition of Dalit literature by citing the views of Dalit writers from different Indian languages. The phenomenon of the emergence of Dalit literature in varied Indian languages through region specific organizations is also significant here. The most important discussion is over the problematics of Dalit literature

and its future direction.

The Emergence of Dalit Literature

Dalit discourse on caste can be characterized as anti-caste discourse. Dalit writers, following the footstep of their icons like Jotiba Phule, Bhim Rao Ambedkar, Narayan Guru, and other Dalit thinkers, took caste head on and talked about it directly without deviating in any other conceptual categories like Marxism and other progressive non-Dalit writers' movements. It is caste as a category which has been responsible for their discrimination. Dalits criticize Brahmanism and other Hindu philosophical ideas which justified their inferior and untouchable status in the Hindu society. Dalit writers and scholars trace the lineage of anti-caste Dalit movement in the philosophy and movements propounded by Buddha, fourteenth century Dalit saint poets and reformers, Jotiba Phule, Periyar, Ambedkar, Swami Achhutanand, Ayyankali, Narayan Guru, etc.

Contemporary Dalit movement in literature traces its origin in the first Dalit Literary Conference held in 1958, about two years after Ambedkar's death, by the Maharashtra Dalit Sahitya Sangha. Initially, Marathi Dalit literature was informed and guided by the revolutionary writings of Marxist-Dalit writers like Anna Bhau Sathe, Baburao Bagul, Narayan Surve, etc. Later on, it was taken forward by the Maharashtra Bauddha Sahitya Parishad which held a conference in the year 1967 in which some basic questions regarding Marathi Dalit literature were discussed. On 9 July 1972, Namdeo Dhasal, Arjun Dangle, and J. V. Pawar established the Dalit Panthers which paved way for the future struggle and emergence of the Marathi Dalit literature in full bloom. From Marathi language, Dalit movement spread in Kannada, Tamil, Telugu, Malayalam, Hindi, Punjabi, Assamese, Bengali, Gujarati, Oriya, Rajasthani, etc. languages throughout India in the last decades of the twentieth century. In Karnataka, Dalit assertion started with the 'boosa' remarks by B. Basavalingappa, minister of town administration then on 19 November 1973; in Andhra Pradesh, Dalit movement came in limelight with the Karamchedu massacre of Dalit men and rape of Dalit women in 1985, in Hindi, Dalit literary movement started in the 1970s with the advent of Omprakash Valmiki and Mohandas Naimishray's autobiographies. In every state where Dalit literature has emerged, Dalit writers and activists have raised their own organizations like 'Dalit Panthers' and 'Maharashtra Dalit Sahitya Sangh' in Maharashtra, 'Dalit Lekhak Sangh' in New Delhi, Rajasthan Dalit Literary Academy, Dalit Sangharsh Samiti in Karnataka, Andhra Pradesh Dalit Mahasabha, Dalit Sahitya Vedy in Kerala, Dalit Sahitya Academy, etc. to discuss past, present, and future of the Dalit literature.

As most of Dalit writers wrote in their respective regional languages, they had to strive a lot to get their works published in the mainstream journals by non-Dalit publishers. Their writings were termed as crude, non-literary, sub-standard, and cheap by the dominant upper caste writers and critics. Slowly, by the dint of their own efforts and with the help of some truly progressive minded scholars from privileged castes, Dalit writers were able to get their literary creations published in the form of poetry, short story, critical prose, autobiography, fictional narratives, drama, etc. In addition to that, they started their own magazines, journals, and publishing presses to give exclusive space to Dalit ideology. Moreover, in many parts of India, for example in north India, Dalit writers and activists from pre-independence era have invented alternative Dalit history and mythology through poetry, drama, prose, and fiction on pamphlets, published from their own small courtyard publication houses to distribute in local Dalit melas on different occasions (Narayan and Misra).

From the beginning of the twenty-first century, with the help of translation in English and other major Indian languages, Dalit literature spread and came to be recognized at national and international level as a separate body of literature like Black literature and Feminist literature. Today, Dalit literature is being taught at school, college, and university levels in India and abroad. Numerous seminars, conferences, symposiums, and other

types of scholarly activities are held all over India to discuss and critically examine various aspects of Dalit literature. It is not a matter of doubt that Dalit literature is an established canon now.

Problematics of Dalit Literature

As Dalit literature is an emerging field in the vast body of literature available in India and abroad, there are some contentious issues upon which there hasn't been any consensus even within Dalit academia. Dalit, as well as non-Dalit critics and scholars, have tried to problematize some aspects of Dalit literature time and again. It will be useful here to discuss some of these issues to have a more nuanced understanding of Dalit literature. Foremost puzzles that have been in the critical domain of Dalit literature are – 'who is a Dalit?', 'who is entitled to write Dalit literature?', and 'which literature is Dalit and which is not?' Initially, 'Dalit' word as a form of collective identity for untouchable castes was used by Dr. Ambedkar in his writings sporadically to press his demand for separate electorate for this distinct group of people. Ambedkar (2017) didn't like the Gandhian term 'Harijan' for his people. Instead, he preferred to use the official terms like 'Depressed Classes' or 'Scheduled Castes'. Though, before confrontation with Gandhi on the Poona Pact, Dr. Ambedkar and other leaders from the untouchable community had objected to the official nomenclature 'Depressed Classes' for their people. They thought it "degrading and contemptuous" (317). After that, Dalit Panthers popularized the term 'Dalit' in their writings. In their manifesto in 1973, they clearly mentioned that who a Dalit is, "Members of Scheduled Castes and Tribes, neo-Buddhists, the working people, the landless and poor peasants, women and all those who are being exploited politically, economically and in the name of religion" (Satyanarayana and Tharu 62). Though Ambedkar's formulation of the term was in the context of people from untouchable castes only, it was expanded to poor workers and labourers of other castes also by the Dalit Panthers and earlier Marathi Dalit writers because of their Marxist leanings. It was a politically ambitious move from the part of the Dalit Panthers to include many other categories other than Scheduled Castes with converts (Dalit converts neo-Buddhists, Dalit-Christians, Dalit-Sikhs, Dalit-Muslims) in the category of 'Dalit'. Alok Mukherjee, the eminent critic of Dalit literature, also questions Limbale's understanding of the notion of 'Dalit' when he says:

He may well say here that untouchability is not the only reference point for defining the Dalit. However, the fact is that it is precisely the experiences that flow from a centuries-old hierarchical and hereditary system, unalterable because sanctioned by religion, with the concomitant notion of people as polluted and untouchable, which make the Dalit unique and distinct. All other experiences of exclusion, subjugation, dispossession and oppression, experiences that resemble those of other groups, result from this fundamental reality. Dalits may attain educational, economic, social and political success, but their unique Dalitness remains. (Limbale 11)

Further advancing this discourse, for example in Hindi Dalit literature, Dalit writers and thinkers clarify that it is 'Dalit Chetna' (consciousness) which is must in a writer to write Dalit literature. Dalit consciousness comes from the life experiences of pain, humiliation, poverty, hunger, inhuman treatment, etc. Otherwise, there is no way to know or realize the Dalit life-world. One can be sensitive, sympathetic, and helpful in case of writing for 'other' but can't replace the self and subjectivity of the 'other'. 'Dalitness' is that aspect of self which can only be realized through self-experiences. Omprakash Valmiki (2018), the prominent Hindi Dalit author, writes down about the acquisition of Dalit consciousness:

It is difficult to feel the intensity of dalit consciousness without understanding the Indian social-system. Suppressed by the atrocity, exploitation, jealousy, hatred, and discrimination of thousands of years, dalit seems to be aware of the search of his identity. He nowhere finds his identity in the historical scenario. For him, past is more dreadful than hell [translation is mine]. (29)

Therefore, for a non-Dalit writer, it seems very difficult to portray

the Dalit subject and his life-world. If he ever tries to enter into the Dalit world like Premchand (1880-1936), Mulk Raj Anand (1905-2004), U. R. Unanthamurhty (1932-2014), Thakazhi Sivasankara Pillai (1912-99), etc., his representation will be distorted, biased, and shallow. For that reason, non-Dalit writers who have written about Dalit life and characters are not considered in the canon of Dalit literature by Dalit writers and critics. For example, Mathivannan, a Tamil Dalit poet who has been engaged with the Arundathiyar movement in Tamil Nadu, criticizes Thakazhi Sivasankara Pillai, an iconic Malayalam leftist writer, for his casteist, insensitive, and irresponsible portrayal of scavengers as coward, worthless, and inherently dirty people in his novel Scavenger's Son. He retorts:

Is this because Thakazhi recognizes the slavish mentality of the scavengers as their distinctive character? Scavengers are identified by their degradation. And the sons of scavengers are identified by the degradation of their fathers.

This is the source of the stench that pervades the novel. What has been created by the hand that has kneaded the shit called casteism will, of course, stink. (Satyanarayana and Tharu 115)

Hence, Dalit consciousness is necessary for every writer to write Dalit literature even if he is born into some Dalit caste. To be born into a Dalit caste doesn't provide a person with the automatic right of being called 'Dalit'. If one hasn't faced the pangs of casteist slur, humiliation, and discrimination, then s/he can't be termed a Dalit. Similarly, if a writer from some Dalit caste has written something without any Dalit consciousness in it, his/her work won't be considered as a part of Dalit literature. In fact, Dalit consciousness should be informed by the philosophy and ideas of stalwarts like Dr. Ambedkar, Buddha, Jotiba Phule, Marx, etc. Though Kannada Dalit literature is a specific example where Ambedkar was not in the scene until the 1990s, it was influenced by the ideas of Ram Manohar Lohia, Gandhi, and Marx. After the 1990s, Ambedkar dominated the ideas and activities of Dalit writers and activists. Due to this influence, Dalit consciousness is human-centered and follows the ideals of freedom, equality, fraternity, and justice. It rejects casteism, communalism, and any type of separatism and promotes scientific and rational temper among human beings. Overall, Dalit consciousness is rooted in social consciousness through personal upliftment. Consequently, any literary creation which is not laced with such Dalit consciousness is not fit enough to be called Dalit literature. For example, Banjagere Jayaprakash, a Kannada Dalit critic and activist, evaluates the modernist literary movement in Kannada in the 1950s, famously called 'Navya' which was influenced by the ideas of Albert Camus, Franz Kafka, Sartre, etc., in the framework of Dalit aesthetics. He observes:

'Navya was very academic and technical. The writers were mostly English lecturers, middle class and brahmin. The issues they were concerned about were personal – familial or sexual – and largely internal to the middle class. Navya writing had no social consciousness. (Satyanarayana and Tharu 8)

Banjagere further gives examples of two writers from Dalit castes – N. Narasimaiah and G. Venkataiah – who, with no Dalit consciousness in their writings, can't be labelled as Dalit writers. Dalit literature is concerned with larger social, political, economic, and ideological systems. Dalit writers don't confine their writings just within individual conflicts, tensions, and aspirations. They always focus upon the social evils like caste system, feudal system, bonded labour, atrocities against the poor, etc. These malpractices in society hinder the natural development of a person. Thus, in light of the above discussion, it can be deduced that Dalit literature should be written with Dalit consciousness which primarily focuses upon life experiences of the marginalized communities.

It is not that Dalits face discriminatory behaviour from upper castes only. They are also perpetrators as well as sufferers of Brahmanical idea of hierarchy. Dalit sub-castes also blame each other for neglecting their caste interests. For example, in north India, among Dalits, Chamars are numerically higher than other

Dalit castes. They also followed Ambedkarite ideology and became politically active from the very start. As a result, they got benefits of reservation and other welfare schemes run by the governments from time to time. Due to this, some person from the Chamar caste got higher education and reached the top echelons of the system. Other Dalit castes which could not be politically aware and active remained lagging behind in almost every sphere of life. The grudge that Dhanaks and Balmikis have against Chamars in north India, same is felt against the Meena Tribe among Scheduled Tribes in Rajasthan, and against Mala Caste in Andhra Pradesh. In Karnataka and Andhra Pradesh, Madigas have led their separate movements for further dividing the reservation quotas in the late 1990s. Satyanarayana and Tharu (2013) observe this trend in the following words:

The dalit literature of this period is marked by the awakening and assertion of individual untouchable jatis (sub-castes). These 'sub-caste' movements and the new religious and cultural mobilization of jatis brought new questions to the fore. Questions were raised of structural hierarchy and social inequality among the different scheduled castes as also those of an oppressed caste identity that is rooted in culture and history and strengthened by its own myths and epics. (p. 43)

This phenomenon can be traced in almost every state of India where one Dalit sub-caste is pitted against the other. Reasons may be different but this is clearly against the collective identity and vision promoted by Jotiba Phule, Dr. Ambedkar, and other Dalit leaders. As a matter of principle and strategy, these leaders believed in the unity of all Dalit castes. After becoming aware of the hierarchical and inhuman ideological structure of the caste system, Dr. Ambedkar wanted Dalit people to be united and act in the direction of the annihilation of caste. But, in reality, this new realization among Dalits has paved way for the valorisation of the caste identity. Dalits want to transform their caste identity equally respectable and as a matter of honour as any other caste identity. For this, many Dalit scholars have re-written their respective caste histories and culture. This trend can be located back at the beginning of the twentieth century when the British government had started including castes in the decennial census. Caste as a dominant form of identity is being used by Dalits also which has been the practice of privileged castes only. Such idealization is about the equality of castes but not about human beings and is, therefore, a deviation from the Ambedkarite vision of a casteless society.

Dalit women writers have also asserted their position in the context of Dalit literature and feminist movement in India. Dalit women writers like Urmila Pawar, Bama, Kusum Meghwal, Baby Kamble, Kalpana Kannabiran, M. M. Vinodini, etc. have raised issues like avoidance of Dalit women in the mainstream feminist circles, role of caste in atrocities against women, and problematic construction of Dalit women characters in literature both by the mainstream writers as well as Dalit male writers. Moreover, Dalit women writers have examined various permutations of caste and gender in varying situations in their writings. For example, Kusum Meghwal objects the silence of Dalit women characters in the male Dalit writers' narratives. She argues that rape incidents are only used as a narrative tool against the background of caste atrocities. Dalit women characters, which have been the target of sexual crimes in the face of caste-antagonism, are used just as an object by the writers. It is just Dalit men who find ways to get rid of their woes in one way or the other. Brueck (2017) puts this argument very succinctly:

The men find their redress in various ways – violence, shaming, education, or a relocation from the village to the city, symbolic of the refusal to participate any longer in a "traditional" feudal village caste hierarchy. Women, especially the women who have suffered the attack, have little voice and are often left by the wayside as the narrative focus turns towards the male agents of the recuperation of honor. (p. 163)

It can be inferred from the above critical deliberation that Dalit literature is still evolving with the passage of time. Dalit writers

and thinkers need to work in a more holistic manner so that different voices and literary trends can also be part of the Dalit phenomenon. D. R. Nagaraj (2016), a notable Kannada Dalit critic, indicates towards the "problem of selective upward mobility" and "the phenomenon of wilful amnesia" that is "amnesia towards one's own past" among Dalits (31). R. G. Jadhav, a prominent Marathi literary critic, suggests Dalit writers to experiment more upon drama and humour in a more detached way. He observes, "Perhaps the Dalit writers, for certain reasons, fail to acquire the aesthetic detachment necessary to portray social feelings and relationships objectively" (Dangle 306). There can be many more points of discussion to have a more nuanced and comprehensive understanding of the Dalit discourse like 'Dalit Literature and Marxism', 'Dalit Literature and Black literature', 'Dalit literature and Culturalization of Caste', etc., but due to the constraint of space, it is not feasible to accommodate all the discourses here.

Conclusion: Dalit writers followed the anti-caste discourse propounded by the stalwarts like Buddha, saint poets, Jotiba Phule, Periyar, Ambedkar, etc. Emerging from the Marathi language, Dalit literature spread to other Indian languages in the post-independence decades. It is an established phenomenon today. Dalit writers recount the life experiences of Dalit people in their narratives. They discarded the mainstream standards of aesthetics for judging their works. Even prevalent myths, songs, and other art forms demonize Dalits in one way or the other. Literature for Dalit writers is not a matter of luxury but a necessity. It is just one aspect of their struggle. Dalit literature is steeped in humanitarian ethos not in some abstract sense but in an experiential way. Initially, Dalit writings were termed as crude, sub-standard, and non-literary by the mainstream literary critics. There have been vigorous debates on defining various terms like 'Dalit', 'Dalit literature', 'Dalit consciousness', etc. The writer imbued with the Dalit consciousness can only be termed as a Dalit writer. Dalit writers will have to tackle the problems of intra-Dalit conflicts and Dalit women's misrepresentation in a positive way. They have to keep in view the Ambedkarite vision of annihilation of caste in their consistent struggle against the menace of caste.

References

Ambedkar, B. R. What Congress and M. K. Gandhi Have Done to the Untouchables. New Delhi: Kalpaz, 2017.

Brueck, Laura R. Writing Resistance: The Rhetorical Imagination of Hindi Dalit Literature. Delhi: Primus Books, 2017.

Dangle, Arjun. (Ed.). Poisoned Bread. Hyderabad: Orient Blackswan, 2016.

Ilaiah, Kancha. Why I am not a Hindu: A Sudra Critique of Hindutva Philosophy, Culture and Political Economy. Kolkata: Samya, 2017.

Kamble, Baby. The Prisons We Broke. (Maya Pandit, Trans.). Hyderabad: Orient Blackswan, 2011.

Limbale, Sharankumar. Towards an Aesthetic of Dalit Literature. Translated by Alok Mukherjee, Hyderabad: Orient Blackswan, 2018.

Nagaraj, D. R. The Flaming Feet and Other Essays. Edited by Prithvi Datta Chandra Shobhi, Delhi: Permanent Black, 2016.

Narayan, Badri, and A. R. Misra. (Eds. & Trans.). Multiple Marginalities: An Anthology of Identified Dalit Writings. New Delhi: Manohar, 2004.

Satyanarayana, K., and Susie Tharu. (Eds.). From Those Stubs, Steel Nibs are Sprouting: New Dalit Writing from South India. Noida: HarperCollins, 2013.

---. (Eds.). The Exercise of Freedom: An Introduction to Dalit Writing. New Delhi: Navayana, 2013.

Valmiki, Omprakash. Dalit Sahitya Ka Saundraya Shastra. Delhi: Radhakrishna, 2018.

CULTURAL CONFRONTATION IN RUTH PRAWER JHABVALA'S *NOVELS*

-Dr. Keerthi G
Assistant Professor of English
Department of English,
Government Arts and Science College,
Komarapalayam-6480183

-Saranya Devi. P
Ph.D. Part Time Research Scholar,
Department of English,
Government Arts and Science College,
Komarapalayam-6480183

Ruth Prawer Jhabvala's novels demonstrate the feminine senses and the feminine quest for identification and self-actualization. It has been noted throughout the stages of a literary career and this quest for identity has been impeded in every woman. Despite her material equality, she is unable to come out of the shadow of the man. In every novels, the female protagonists are depicted as weak attractive, and enigmatically subservient to masculine powers which lead to self-hatred, and inner fragmentation. Indian women are the victims of cruel suppression and subjugation. This study tries to explain how the Indian woman endures to get her freedom, rights, and identity. The present paper scrutinizes the novel, To Whom She Will, Heat and Dust and Esmond in India to reveal the pain of the every Indian woman who struggles to protect her culture, tradition, and folklore.

Key-words: Expatriate, diverse culture, Sensibility, tradition, subjugation, western life.

Jhabvala's novels expose the nature of the Western people and portray their suffering due to inability to adopt Indian culture whole-heartedly even though they want to settle in India. The author not only portrays the expatriates' emotions and feelings but also exposes how the expatriates treat their Indian life partner. The expatriates and Indian born characters never synchronize with others. Her real portrayal of the marriage life of an expatriate with an Indian illustrated the pain incurred through the internal conflicts of the couple. Her concept of mixed marriage of an Indian with a westerner reveals the fact that Most Indians particularly women are strong in their culture and they hardly become victims of fantasy life. The theme of Jabhvala's cultural encounter makes it clear that the initial happiness in the couple's life gradually diminishes as they seek to impose the Western way of life on the Indian mind.

Ruth Prawer Jabhvala's novels reveal the effect of the fusion of East and west's diverse cultures, manners, and attitudes. To Whom She Will, her first novel, Jhabvala has given us a beguiling tale of a young girl named Amrita and her deliciously forbidden love affair with Hari, a boy of dubious background. While both families cook up their own plans for their children's futures, the two lovers, busy with their separate illusions, realize only at the last moment that life has led them all to a new and very different beginning. In this novel her foolish young people (Amrita and Hari) fall in and then out of love with equal ease and the system of arranged marriage appear to be no so tyrannous after someone approved of by her own mother. Jhabvala chooses classes of the Indian community where adultery and divorce are not unknown the rich upper middle class of Delhi and the circles of artist's bohemians and expatriates.

In To Whom She Will, Jhabvala ridicules the youthful Indian age, who whilebelieving themselves to be current and westernized, attempts to do things which the customary Hindusociety would not acknowledge, that is, falling head over heels for a kid outside one's own rank, local area also societal position. They face a heartfelt resistance and the incongruity is that custom successes over modernization. Mrs. Jhabvala has effectively portrayed these two sorts in the cutting edge Indian culture. Also D.C. Agarwal in one of his articles breaking down the circumstance composes:

The conservatives accomplish much by hypothecating their

well with the world and having a place. The non-conservatives, actually need to take care of their character and 'Lassaizfaire', all things considered it is problematic whether they will prevail in the deal. (215)

In Jhabvala's Heat and Dust, the character of Olivia has undergone the complete process of metamorphosis that India causes to its foreign visitors. Despite her sensitivity, intelligence and awareness of Indian cultural matters, she remains totally at sea in matters regarding her own emotions and desires and never attempts to rationalize her feelings towards the Nawab and his crude culture. In To Whom She Will, Amrita, the attractive, self-willed maiden, makes a bold, though fruitless attempt to marry for love. She tries to give herself to whom she will but does not succeed.

Jhabvala's Heat and Dust ,Set in colonial India during the 1920s, Heat and Dust tells the story of Olivia, a beautiful woman suffocated by the propriety and social constraints of her position as the wife of an important English civil servant. Longing for passion and independence, Olivia is drawn into the spell of the Nawab, a minor Indian prince deeply involved in gang raids and criminal plots. She is intrigued by the Nawab's charm and aggressive courtship, and soon begins to spend most of her days in his company. But then she becomes pregnant, and unsure of the child's paternity, she is faced with a wrenching dilemma. Her reaction to the crisis humiliates her husband and outrages the British community, breeding a scandal that lives in collective memory long after her death. The novel deals with the sad and moving story of two English women who paid their visit to India and in return they became the victims of this country.

In India, a family is a web of interconnected relationships among its members. The protagonists are introduced against the backdrop of their families and connections with them. The mainspring of Jhabvala's literary creativity is his abiding, humanistic, and responsible concern in people, particularly the great majority of ordinary people, and the unlimited possibilities of their existence. As a result, each character is given a distinct identity. The family becomes its own small world. Husband and wife, parents, children, grandparents, and grandchildren are all included. To investigate human nature and illustrate complicated inter personal relationships, Jhabvala uses the family realm and family settings.

Jhabvala's third and fourth novels project the social and political developments in the post-independence era. Mrs. Jhabvala was born in Germany, but under Nazi intimidation, she moved to England. After her marriage, Jhabvala moved to India in 1951. Her novels' descriptions reflect the post-independence urban life of the people in Delhi. She reflects her experience in India through her novel, Esmond In India. The novel's key themes are the dilemma of the westerner whose first delight in India develops into a trap, and the challenges of an Indian housewife to adapt the western culture.

In Esmond in India, an inter-racial marriage between a typical Indian girl, Gulab and a colonial-minded English expatriate, Esmond is cleverly projected as an East-West meeting. Modern western forms of existence are considered a complicated tapestry when it is woven with traditional Indian living patterns. The idea of Asian inertia and European dynamism is restated by Esmond Stillwood. He studies Indian folklore, traditional poetry, and history as part of his initial reaction to India, the East, and all that is strange to him. He is particularly drawn to Indian art and culture. Esmond Stillwood, the protagonist, is the male equivalent of Ruth Prawer Jhabvala, the author. Whatever Jhabvala thinks about India throughout her stay there, Esmond feels the same way as a man, and their decision to leave India is the same. Esmond Stillwood earns by providing private lessons to foreign ladies, tourists, and the upper crust. Intially Esmond likes India, Indian culture and he married Indian born girl. But later he could not adopt Indian culture and continuously instructs his wife to behave life westerner. Jabhvala says that she too first admired Indian

culture but it is very difficult to follow. She states, "First stage, tremendous enthusiasm everything Indian is marvellous; second stage, everything Indian not so very marvellous; third stage, everything Indian abominable" [2]

Gulab is impressed by Esmond's speech thus, she rejects Amrit who is selected by her mother and marries Esmond. Gulab and Esmond like each other's activity but later Esmond is unable to disentangle with his modernity and self-centeredness, and Gulab is unable to untie shackles of her traditions. In marrying Esmond, she has only superficially followed modernity. She tries in imitation of complying with Esmond's family rules, however as soon as he is out, she reverts her old habits of taking her meals in hand and very affectionately taking care of her child with intimate motherly touching. Gulab prefers unembarrassed access to life so she lives as per her wish in the absence of Esmond.

Gulab never become the victim of the fantasy world and she is not admired by seeing the colourful garments given by Esmond. She dislikes going to her mother's place on foot or by bus. She loves to take a taxi after properly concealing herself with her saree. They only she can travel without touching anybody and not even like to appear in front of other unwanted male eyes.

She was still in the sari which she wore at night; it was crumpled and torn, but she felt at ease in it. It had been different when Esmond had made her wear those flimsy transparent night dresses with lace and ruffles and ribbons: then she had put on her clothes the moment she had got out of bed for she had felt so indecent (Esmond 16).

Esmond wants to bring up Ravi in the European way and particularly keep him away from Indian culture and Indian food. He often scolds Gulab for not giving proper attention to Ravi's food habits:

Ravi was already taking the paper off the little earthenware pots. 'Carrot Halwa!' he cried. Gulab looked pleased, her large melancholy eyes flashed for an instant with a wonderful fire. In the other pots were gram, tomatoes and potatoes swimming in red curry, and chunks of meat soaked in curds. Everything would be very highly spiced: Gulab smiled with pleasure (Esmond 15).

Jhabvala expertly and meticulously illustrates the cultural confrontation between East and West through Esmond and Gulab. They are brought together in close proximity in order to showcase their contrasts. Despite his admiration for Indian culture and life, he is unable to fully comprehend it and cope with its peculiarities. Gulab as a typical Indian woman, is comfortable and contented at home and dislikes attending formal gatherings, but Esmond enjoys parties and other social gatherings. Esmond also wants Gulab to stay back at home so never compels her to attend the parties. He does not want to take her to formal events because he fears that her attitude will destroy his image with the western women tourist.

The Indian way of lifestyle totally frustrated Esmond. Sarcastically he calls Gulab a 'Model little wife'. Gulab shows no response to Esmond's taunts. The Indian experience transforms him completely. He is surprised at the transformation but accepts it. The reason for their disharmony is the racial and social hole, which prompts the cutting off their conjugal ties. Esmond is egotistical and mean and Gulab is sluttish and unsophisticated. The sharp difference between the two different ways of living and thinking creates abnormal and inappropriate circumstances in their intimate life. The distinctions in the ways of life of East and West lead to misconception and disunity. Thus, their relations are stressed and they float separated. Though Esmond appeared as a true representative of European culture, Gulab's Indan culture and mannerisms affects his image.

Esmond despises his Indian wife and abuses her

physically and mentally. He is certainly not a refined Englishman. Esmond wants to showcase his life, his house and his family to society to prove that he is a European. But Gulab could not forget all her tradition and folklore and transformed immediately as a European. Cross-Culture life is very different and when somebody forces to adopt the new culture and act according to that is really a horrible one. The person cannot bear the torture because the inborn nature and nature of society is embedded in the mind of each man. This has not been understood by Esmond and he needs immediate transformation from Gulab.

Jhabvala delves into the minds and hearts of her characters, which are stuck in an awful marriage. The subject of discussion is a mixed marriage. Esmond Stillwood, a European who adores India and wants to settle down there with his Indian bride, but is unable to create a permanent love for the country. He is rooted less in that place. When East and West collide, they are unable to mix and meld. Educated Indian girls like Gulab may be attracted to foreigners and even marry them, but the connection is empty. They are unable to comprehend one other's various lifestyles. There is no common ground for interaction when the initial infatuation fades. Gulab has a strong desire for Esmond to be away from home so that she can live her life as she wishes.

Jhabvala, in her article 'Living in India' rightly points out the actual feeling of the expatriate, "To live in India and be at peace one must to a very considerable extent become Indian and adopt Indian attitudes, habits, beliefs, assume if possible an Indian personality. But how is this possible? And even if it were possible without cheating oneself would it be desirable? Should one want to try and become something other than what one is" (9). Similar to the author, Esmond could not adopt the life style of Indian culture whole-heartedly though he likes India most. Akin to this Gulab could not accept the life of the western people despite her unsurpassable love towards Esmond. The native culture and native life style plays major role in everyone's life. Gulab never addicted to the fashionable life and she stays strong in her own culture and tradition. She proves that she is an Indian throughout her activities. This paper proves that Gulab the common Indian girl stays strong in her folklore.

In presenting her female characters, Jhabvala demonstrates a clear connection with feminism's proponents. She shows women in an ironic light in India's conventional conservative and patriarchal society. She also focuses on the conundrum of cryptic passion and unethical submission of European women who visit this feverishly alluring subcontinent. The review investigates Anglo Indian relations through the force of sentiment set in two unmistakable periods, pioneer India of the nineteen twenties, during the hour of Raj and the autonomous, freewheeling India of the seventies. Through her novels, Jahbavala exposes the actual strong will power of the women. They endure lot to protect their life, culture, and folklore from the hands of their male counterparts. Thus, Jahbavala's female characters are also called as the 'ambassadors of the culture'.

.Works Cited

Agarwal, Ramlal G. "To Whom She Will: A Study." Indian Women Novelist : Set. II Vol. VI.

Ed. R.K. Dhawan. Prestige Books, 1993.

Gooneratne, Yasmine. Silence, Exile and Cunning: The Fiction of Ruth Prawer Jhabvala. Sangam Books, 1991.

Jhabvala, Ruth Prawer. Esmond in India. Penguin Books, 1983.

Shahane, V. A. Ruth Prawer Jhabvala. Lucas Publications, 1

SOM: An Institute of Social and Cultural values of the Kuki Youths in Traditional society

- Dr. Paochon Tuboi

Abstract

Kuki is a name of a community consisting of tribes, clans and sub clan found in the north eastern region of India. Like many other tribes in India, this group of people practiced very well established forms of traditional institutions and Som (bachelors' dormitory) is one important centre where the young people learn and trained with social ethics and other forms of cultural values in the village society. This bit of writing delves, 'Som' as an important centre of learning rather than a mere dormitory or assembly house of unmarried boys in the traditional Kuki society. In this context, the present paper try to analyze the various components and issues related to the Som, the Bachelor's dormitory.

Key words: Som, traditional institution, social and cultural values, Kuki youths, Kuki society.

Introduction

The term Kuki is a nomenclature consisting of several tribes' clans and sub-clan inhabiting in most of the north eastern states of India. The Kukis follow a very well-established socio-economic, religious-cultural, and political institution since time immemorial where young boys and young girls learn different aspects of human comportment. And thus a distinctive form of learning centre becomes inevitable for the young boys to share their skill, knowledge, gossiping, narrating folklores, jokes and opinion and most importantly the social and cultural ethics and values in a particular place known as Som or Som-in. The SOM institution is an established form of formal and informal organization and corporation where young people learn, train and practices and shares various forms of household and agricultural works including material and non material forms of culture and knowledge. SOM may simply be term as Bachelors dormitory in an ordinary understanding. But in a true sense, in Kuki society it is not a mere dormitory or assembly house of unmarried boys rather considered to be a place of learning institutes in all matters of affairs.

Role of youth in village administration

Youth are said to be 'the pillars of the future' and same is true in the real sense that, the younger generation played a pivotal role in the development of village society. They are the frontline workers in the socio-economic progress and politico-cultural affairs. Thus the youth occupy the central part in strengthening the village administration and the Chief council especially issues related to social and political matter. To facilitate the Chief and his council the young boys needs to maintain and perpetuate a uniform code of conduct with values and discipline, since they carry potential source of strength for the vitality of the village society. And for that matter each and every bachelor needs to join hands together by learning the social values and skill in the form of an institution that includes Som, the traditional institutes of training and learning for young unmarried boys. Haokip T. T (1996) opined that, 'life in the dormitory was associated with many customs and observances, some of which had traditional antiquity. Maintenance of social coherence and loyalty to cultural values were of immense value'. [1]

The youth organization acted as a supporting force in the community based organization of the village society. It is also

one of the most important source of power and strength of the village Chief as they contributed the much needed help in times of crises. The village Chief derived power and strength from the youth in the socio-economic life of the village. They also contribute invaluable services in political and military power with other important matters. Politically, youths were the backbone of the Chief; militarily the youths acted as the defense force of the village, and ethically, youth organization was the center of moral and psychological training. Most of the youth organizations were a sort of collective service that fostered a sense of responsibility and cohesiveness among themselves which in turn contributed to develop the village social system. Thus, the youth organization formed an important mechanism around which the village social life evolved. The observance of youth festivals provided a strong bond of ethnic affinity and influence the social life of the Kukis. The absence of youth organization in any village, therefore led to serious drawbacks especially as the most potent force for the existence of Chief's power. [2]

Structure and composition of Som:

A very unique socio-political and economic set up found in most of the tribal societies in which bachelors are found lodging together and assembled in one place, known as SOM play an important role in the village administration. 'Som' occupied central position in village administration and contribute valuable services in the Kuki society politically, militarily economically and culturally. However, the practice of 'Som' as institution is different from one tribe to another and one clan to another in the traditional days. The Mizos, Nagas, and other tribal communities in north east constructed a separate house called 'Zawlbuk'. Malsawma says that, the Zawlbuk is built, like all other buildings in the village. [3] Similarly the youth dormitory known as Morung among the naga tribes also built a separate house in the village. The Morung is generally built on the edge of a steep slope to the highest altitude of the settlement area. [4] On the contrary, a separate bachelors' dormitory was not found in the Kuki society particularly among the Thadou speaking Kuki tribes. The unmarried man of similar age groups slept together in a particular house where there is a young woman in that family albeit that particular woman may not necessarily be a fiancée of the young boys or anyone of the boy in that group.

The Som organization was considered to be a part of the Kuki village polity since time immemorial. The traditional youth organization was maintained into two broad categories - (I) 'Som' (bachelors' dormitory) and (II) 'Lom' (village labor corps). The first category is considered to be in the socio-political, philanthropic and most importantly a centre of learning institute of culture both material and non material activities. The second category on the other hand played importantly on the socio-economic development of village society. The institution of 'Som' and 'Lom' as organization were well-organized pattern of mutual-corporation in various traditional social and political institutions. It is well organized in the form of its structure and function through certain leadership and membership. However, the membership in the 'Som' organization was only to the unmarried young men, which is why a designation given as Bachelor's dormitory, while members in the 'Lom' organization could be anybody in the village irrespective of sex and age. [5]

Classification of Som:

Different categories of Som organizations were found practiced in the Kuki society depending on the number boys and the size of the village. Villages inhabited by more than 40 to 50 household do practiced more than 4 centres of Som and members assembled according to the age groups category. In other words the larger the village in size the more number of Som institution will establish. These unmarried boys sleep together in their own respective

'Som-House' at night. The young men comprising of 4 to 10 join together and establish the 'Som'. They slept together until they married or even after getting married, members assemble together with other Som-mate for a week or two until and unless a formal form of farewell party is being arranged. On the other hand, the Som members still assembled in the Som- house even after the Som-nu (som girl) got married. And for that matter the Som members were rewarded a piece of the Bridal value known as Meivah Chaan-Man (price of lighting lamp), Bride-price taken from the bridegroom against losing of the girl who lit the lamp and fire to the Som members). After completions of their daily chores, the members' assembled together in their own respective 'Som' spent the night.

Som as village administrative unit:

Som is an important part of the village administration. Each section of the Soms institution is headed by one 'Som-Upa' (senior member of the som), who is regarded as a responsible person, who looks for the maintenance and administration of the Som. The 'Som-Upa is assisted by one 'Som-Haosa' (som-chief, or som adviser), who is also a member of the Semang-Pachong (village council). There is no hard and fast rule regarding the age for admission into the Som and also is no fixed rule as to which Som a particular boy has to join. The Kuki village is divided into sections or wards called 'Veng' such as, 'Khonah-Veng' (upper section/ward), 'Veng-Lai' (middle ward), 'Khoto-Veng' (lower ward), etc. As such, each of these Soms is attached to each ward. Each of these Som organizes competition among themselves, in various traditional games and sports such as, Kung-kal, (high jumo) Lhai-chop,(Long-jump) Suh-kho,(Pestle-throw) Teng-kho (Javelin throw) Song-se,(Shot-put) Ki-bot, (wrestling) and other bamboo, cane handicrafts and basketry weaving. Whoever, is found to be expertise, and win the competition is respected and recommended for the 'Som-Upa' who lead the Som after a year or so. To become 'Som-Upa, one should be well-versed in customary and traditional practices besides strong physique and mental sensibility. For that matter the young boys work very hard to excel in different skill to become the Som-Upa for its revered position in a bachelor's life.

Elements of Som: (Som-nu) dormitory-girl/host:

A girl who is found to be matured in all matters of household and agricultural works is considered to be a 'Som-nu'. A family where there more tha two girls, the senior one may take the responsibility of the Som host. When the elder get married, the next girl becomes the Som-nu. She is responsible to look after the wellbeing of the Som members, prepare tea, roll the cigarette, washes their cloths and arrange their cot. She also fetches water and washes all the Som member(s) leg and mends all their torn clothes. While preparing for agricultural works, she carries all their agricultural equipments and the lunch package called "Sun-bu", for the all members. It is her duty to comb their hairs at night by applying local hair oil, made of pig fat or any other wild oil which a separate comb for each member is used and kept separately. She prepares tea and wine and roll local tobacco known as 'Zou-dum' for smoking. And the members in turn consider the girl as their own sister and help her and her family in all possible needs. They help them in all possible household works from basketry making to clearance of Jhum field. They help them in other work such as weaving of basket from cane and bamboo materials, making of other weaving and spinning materials and housing construction. In short, all the Som members conventionally become part parcel of that family. If the girl marries with a boy other than the Som members, they are entitled to enjoy the bride price of "Meivah-chaan-man" (a price of light/lamp/fire) which is mandatory on the part of her husband, payable by a jar of wine, and an amount of two or five rupees (in the past days) or even upto one pig. This is done so, for losing their

friend, who lighted their lamp and fire. In the traditional days, a girl having no Som-members was regarded as inept to have a spouse. However, in spite of having intimate association, sexual intercourse or pregnancies are very rare if not unheard in the traditional society. In other words, every youth maintained values and ethics, unity and harmony, truth and tranquility, brotherhood and we-feeling which were regarded as the main principle in the traditional youth organization.

Som as institution:

Som was regarded as a traditional training institute for the young boys in terms of maintaining discipline, responsibility and leadership. Everyone was free and friendly to associate with one another. There was no distinction and discrimination among the members. Members learned disciplinary norms of the society. The Som provides opportunity to its members to develop finer aspects of their future life. The seniors and the U-pa who were experienced in customary laws and traditions, trained the junior members in various traditional practices and systems. Folk songs, and folk-stories, legends and myths of different kinds were taught to the young boys. They also learned the various social norms and manners. They learnt techniques of traditional games like, wrestling, high-jump, javelin throw, and other games. A spirit of keen competition and an ambition to excel pervades all the activities of Som. [6] They also learn to make and produce handicraft products, such as, woodcarving, bamboo weaving, cane works and basketry. All the articles necessary in the household matters like Pucha, Beng, Sinkhup, Thulbim, Lel, etc. (basket for keeping valuable articles) is learnt and made from this institutions. Items necessary for agricultural purposes such as, Beng, Kongvang, Nam-tai and Nam-kol (basket made of bamboo and cane) are also learnt from it. The Som institution was considered as the best traditional institution practiced in the Kuki society. The Som-Upas, (som leader) with the help of the 'Som-Haosa' (Som Advisor, a member of Chief council) assisted the young boys to produce all forms of agricultural and household materials and equipments. They were considered as instructors and teachers and in many cases the veterans and experts on agricultural methods and customary practices taught the novices in the village.

Som as village defense:

In the by-gone days, an incendiary war among the tribal was frequent and usual; thus it was necessary to teach every able-bodied man to fight their enemies for the safety of the people and village. The young boys kept their war weapons, such as, daos, spears, swords, arrows and shields in their own respective Som-house, so that they could readily use them without any delay in times of emergency. By the time the Chief waged war against neighboring village or tribe, the Som members came in the front-line, led by their Som-Upa. And thus Som was regarded to be a police military force in the traditional days. The village forces were always engaged to implement the orders of the Chief. All the villagers were obliged to abide the commands and orders of the Chief. The main duty of the village force was to keep the villagers safe from external attacks or aggression.

Sports and Festival of Som (Som-Juneh/Som-kivah)

Som-Juneh or Som-kivah is a term equivalent to that of festival of the 'Som' members. The Som-Juneh is celebrated out at the end of the year or in the beginning when everyone is free from agricultural works and activities. Each section of the som organization performs the festivals separately on different occasions and on different days, in each of their respective 'Som-House'. In order to celebration the Som-Juneh, fiesta, the members first obtain the permission of the village Chief and the owner of the Som-house. If permission is accorded, the boys fix the date as per their convenience. Generally, members of the 'Som' rear pigs for the purpose of that celebration and it lasts for

four days. Though the festival was named 'Som-feast', in reality, it becomes the whole village community(s) festival. The Chief and his Semang-Pachongs (members of village council) are also invited to participate on the occasion. All the relatives of the Som members and the 'Lom officials' are also invited to join the festival. So it becomes part of the village festival. The owner of the Som-house with their Tuh-chah, and Beh-chah (family helpers) acts as the hosts. The various types of local wine made from rice, that were prepared in advanced mainly for this feast will be distribute to all people present on the occasion. All kinds of wine made of rice such as; Ju-ting, Ju-kha, Ju-pi, Ju-pong, Vai-ju, An-thom, are supplied and contributed by the hosts and Som members.

On the auspicious occasion of Som-feast different types of entertainment and competitions like traditional dance, singing, wrestling, basket making, and narrating folk stories are conducted among the young people. For the whole period of four days, food and drinks are generously served to all members' present. It should be noted here that, even if their 'Som-nu' (som-girl) married outside the village or with other section of Som members, is invited to join the festival. In fact her husband shall not decline for the invitation, made by the later. He is rather grateful for the invitation. The Som-members become so much intimate to fall apart on these days. Thus this jovial festival goes on deep into the night with singing and dancing for four days four nights. The "Som-Juneh", is considered the most important youth festival in the traditional society.[7]

Conclusion:

Som play a pivotal role not only in shaping the future of the younger generation but also helped in many other aspects of village administration. It is not just a mere dormitory for unmarried boys rather considered to be the most important socio-cultural, economic and political institution found practiced among the Kuki tribes in olden days. However, the entry of the British in north eastern region and the adoption of Christianity with modern and western education highly affect the traditional institution and began to vanish and replace by modern forms of socio-religious organization, sports and educational organization such as Student's union, Baptist youth fellowship and youth club. However, the traditional model of Som as a source of learning institute is irreparable and cannot be replaced by any other forms of social and cultural institution in modern society.

References:

1.Haokip T. T(1995) 'Kuki Chiefship and its Changing dimension', Doctoral Thesis,

Department of Political Science, NEHU, p.129.

2.Tuboi Paochon (2006)'Socio-Cultural life of the Kukis of Manipur', Doctoral Thesis,

Department of Sociology, NEHU, p.111.

3.Malsawma H. L(2002) 'Sociology of the Mizos' Spectrum Publications, Panbazar Main

Road, Post Box No. 45, Guwahati – 781001, Assam. P, 56.

4.Indianculture.gov.inThe Morung (Youth Dormitory), Nagaland, 'Indira Gandhi Rashtriya Manav Sangrahalaya, Bhopal. Retrieved on 27/01/2022, at 9:00 P

5.Opcit. Tuboi Paochon (2006) p, 111

6.Seikholam S.L(1985) 'Traditional Institution of Thadous', Unpublished M. Phil, Dissertation, NEHU, p, 82.

7.Opcit. Tuboi Paochon (2006) p, 117.

Scrutinizing The Influence Of Myth In Domesticity: A Study Of Shashi Deshpande's Novels

-Dr.J. DHARAGESWARI
Ph.D Research Scholar,
Kandaswami Kandar's College,
P.Velur, Namakkal (D.T) 638182.

-T.VIJAYA M.A
Ph.D Research Scholar,
Kandaswami Kandar's College,
P.Velur, Namakkal (D.T) 638182.

Abstract:

Literary works thusly using fantasies can, hence, be called mythopoeia. Women's activist mythopoeia books, subsequently, become an intense digressive site to address and undermine the given philosophical design of language and culture and henceforth reality. Works of ladies address experience that is fundamentally not the same as men's as ladies' development towards individuation is molded by male centric society's solutions concerning sex. The women's activist scholars contend that provided the structures to control social and social request are disclosed, that is, by standing up to the legislative issues of language that the current custom can be changed.

Key words: Myth, Mythopoeia, Indian Culture, Legislative.

Shashi Deshpande's That Long Silence opens with a homegrown emergency in the existence of Jaya, the heroine. It is an emergency which emerges because of Mohan's, her better half's brief cutback of his employment. This serves a defining moment in Jaya's life which permits her to introspect on her life-her past, present and her yearnings. Jaya starts her conjugal existence with Mohan in a level at Dadar. Hardly any years after the fact she moves to a greatly improved level at Church gate yet later re-visitations of a similar Dadar level to get away from the outrage of her better half's negligence .Jaya too like the legendary characters is relied upon to tenderly follow her significant other since right from her youth; she has been familiar to accounts of Sita, Savitri and Draupadi, who docilely shared their spouses' struggles and their sufferings. She makes no questions except for like Gandhari of the Mahabharata denies herself the option to know anything. Jaya claims: If Gandhari, who swathed her eyes to become visually impaired like her better half, could be called an optimal spouse, I was an ideal wife as well. I gauzed my eyes firmly. (61)

In this course of inculcation quiet assumes an indispensable part in embellishment a lady's life limiting her ability to speak freely. Deshpande suggests different legends to build up the possibility that quietness and accommodation has been encouraged to ladies all through the ages. She brings out a legendary occurrence among Satyabhama and Draupadi in the Mahabharata in which Draupadi encourages the previous to stay quiet in order to hold her better half's consideration. This quiet has been supported in the existences of ladies since season of the legendary past and in this specific situation.

This loathing of living with a not man perceive the sensations of a lady is a consuming issue that informed ladies face in the contemporary society. In Gita Hariharan's The Thousand Faces of Night, the hero Devi goes under the impact of her grandma who describes to her the stories of legendary courageous women, making inconspicuous associations between the significant and spectacular existences of the fanciful ladies. "Like Sati you should consume yourself to no end, as Sati you should justify your significant other's honor and masculinity. Like Parvati you should stand neck-somewhere down in chilly, violent waters, the eager, ruthless fish eating up your feet" (94) and furthermore describes about Gandhari who blindfolds herself for the purpose of her spouse to show her regal blood by benevolence. Devi is instilled with the possibility that "a lady without a spouse has no home" (38) and "The lady has no autonomous penance to play out, no pledge, no fasting; by serving her better half, she is respected in the sky ... ' (55).

In The Long Silence, Jaya pretty much unconsciously states her job, her spot in the family when she opens the entryway of the Dadar level disregarding Mohan's lengthy hand for the keys maybe demonstrating her refusal to adapt to the picture of ideal spouse as she attempts to be straightforward with herself. She understands that, "It was not he who has surrendered his power, it was I who as of now not yielded any position to him" (9) and this demonstration, says Jaya, swas part of a similar unpretentious obstruction I had offered, the hit and run combat I had pursued for a long time" (9) The emergency in Jaya's life has constrained a ton of reconsidering.

Deshpande give inference to the specific scene of Mahabharata where Krishna imparted mental fortitude and information to a befuddled Arjun saying "Yathechchasi kuru" (Do as you want) (192). Jaya in the vortex of problem get revived by this way of thinking. She has chosen to set herself up to split away from the social philosophical designs of the family to alert with a restored self which presents her another vision as she endeavors to violate the quietness that has been a social standard for the lady in Indian culture. The author at last prevails with regards to breaking the picture of a quiet lady run of the mill of Indian culture as Jaya settles on a decision other own to affirm her singularity.

A Matter of Time has a bombed conjugal family life at its account core. The novel is partitioned into three sections. Each part starts with a title and an epigraph, lines cited from the Upanishad. The epigraphs are pertinent to the three captions specifically: The House, The Family and The River. In the principal epigraph Yagna - Valkya lets his better half know that he is going to surrender his current express, his family bond and continue on to a depression. The significance of these lines is very obvious in the two male characters in the book. In Matter of Time, Sumi, the hero and Kalyani her mom are the victims as their individual spouses Gopal and Sripathi leave them without giving any legitimate reasons. The second epigraph in the clever epitomizes the Indian culture that advantages a male youngster inside home life.

There are a few models one can follow in friendly history just as in legend, where the spouses are deserted halfway on some guise. Sita and Shakuntala are significant models where their spouses forsake and anticipate that they should bring forth their kids and bring them up without any help. The topic of deserted spouses is at the center of the book. Both Gopal and Sripathi too abandon their individual spouses Sumi and Kalyani. The novel is intertwined with legends from the Upanishads as one can follow instances of spouses who divert monks and free themselves from the servitude of the family as it occurred on account of Buddha. Gopal's renunciation can be considered as 'sanyasa' the fourth and last phase of 'ashrama' where a singular actions out of his family looking for more profound significance in life from the throbbing period of birth and resurrection with the point of salvation (moksha) which is accepted as a definitive Indian lifestyle. In this light, it tends to be viewed as that Gopal's abandonment connotes the renunciation or liberating himself of all servitude of family. The epigraph to the main part of the novel likewise appears to help this thought: "Maitreyi, said Yajnavalkya, 'Verily I am going to go forward from this condition (of householder)' (l But as per the Indian strict sacred writings, an individual could deny his reality just when he had released every one of his obligations towards his family. Gopal's renunciation in such setting can't be considered as 'sanyasa as he moves out of home life without satisfying all his familial obligations.

However other Indian ladies authors have expounded on parenthood yet Shashi Deshpande is maybe the main essayist who most reliably manages mother-girl relationship in her work. Small Remedies presents two distinct features of the mother-little girl relationship. One of them is the mother-girl connection between Bai and Munni. Bai is known as a popular performer and vocalist and Munni is her girl from her relationship with Ghulam Saab. Madhu, the storyteller hero, goes about as a channel to Bai's internal world, Despite the practical mode, the novel is a circling review account, which weaves the current occasions with

strongly evoked past occurrences.

Shashi Deshpande's Small Remedies digs profound into this lattice of parenthood and mothering as focal worry of the book. Deshpande in the clever raises her questions in regards to the glorification of parenthood. Kumkum Sangari in the Politics of the Possible comments that male centric societies, work all the while through intimidation or danger and practice of brutality, through making a wide friendly agreement drawn from and scattered over numerous spaces of public activity and through acquiring in different ways, various levels of assent from ladies. (Sangari371) Both Bai and Leela reject the regular jobs of parenthood recommended by the strict sacred writings for ladies. They rise above their familial jobs chasing after their fantasies as Bai steals away with her Muslim darling Ghulam Saab to seek after a profession in music; Leela, a widow, weds a Christian specialist and is a functioning member in the communist development. After the passing of her significant other Leela will not get back to her parental home. Rather she joins the socialist faction.

Shashi Deshpande places her ladies inside the setting of social and social conditions in India and their dealings with male centric society as they attempt to be consistent with themselves. Vrinda Nabar's conversation of marriage and maternity standards "a lady's sentiments are viewed as dispensible" whose main capacity inside the family is to serve and fulfill relatives in her job as spouse and mother(169). Deshpande projects ladies who don't appear to adjust to the ordinary picture of spouse and mother in their genuine circumstance. First experience with Indian Women: Legends of Indian womanhood follow up on the truth of the existences of the ladies of India are, thusly, followed up on by a similar reality. Frameworks of information, conviction, organizations, and financial developments brought into the world of verifiable experiences have added to this intricate interaction. The simple liberator equation of "innovation", decidedly imagined, is as inclined to this bewildering system as way of talking of continually re-designed Conservatism that philosophically flags the finish of history... Accordingly Indian womanhood is mesmerized on an essentialist idea of that purity that was utilized in a specific verifiable crossroads to define (Indianess 1-2).

In any case, Deshpande's ladies driven by their cognizance of their selfhood, they attempt to be consistent with themselves and pick a method of mothering that maybe appear to scrutinize the pre depicted codes of parenthood that will in general subsume the cases of their independence to prearranged jobs. Through her books Deshpande raises her questions seeing the foundation of marriage as it outlines ladies' lives inside the job of wife and all the more significantly mother.

Shashi Deshpande makes ladies who appear to be decisive in their own specific manner however they don't loathe being moms. Maybe they dislike adjusting to fixed personal conduct standards of generous parenthood. Deshpande in this undertakings to extend ladies outside of their ordinary jobs in permitting them to settle on jobs past socio-social commitments while they try to rebuild a distinction which don't seem to adjust to the way of life explicit codes.

An examination of the books uncovers that through her heroes Shashi Deshpande sets out upon the errand of revaluation and rehashing of legends and cliché pictures to expose how they had been made to purify different ridiculous social practices. Like a revisionists she questions the social givens especially in marriage penetrated through fantasies that appears to legitimize the inconsistent man lady relationship through the hidden legislative issues of socio-social directives which manages the thought of honor that "is the regular result Of a social code that outlines the organization of marriage in India in the manner in which it does" (256). She uncovers how fantasy assumes an imposing part in understanding their situation as ladies.

By investigating the legends Shashi Deshpande draws out the

reality, which the vast majority of our writing is simply the formation of men and tragically ladies themselves have come to acknowledge it as reality. The writer appear to be disturbed with regards to the way that ladies don't attempt to test into themselves to separate their actual selves yet they submissively acknowledge the social givens recommended in the standard texts. She is against such abusive social builds that keep ladies from understanding their actual selves. Subsequently, by investigating the legends in her books, Deshpande deconstructs the acknowledged methods of thought and experience that serve to propagate the subordination of ladies. Addressing of fantasies empowers her to revaluate legendary stories by moving focal point of the account to female characters mirroring the nature and wants consistent with them.

Through the re-assessment of legends Deshpande presents the contention between the thought ladies have of themselves and the possibility that society endless supply of what being a lady is. What's more she likewise centers on the battle to adjust to this picture and the culpability when one can't adjust to it. Deshpande accepts that a positive change in lady's economic wellbeing can't emerge without getting an adjust the lady's perspective set first, What may eventually appear to require is that the whole society need to examine and reevaluate the job that conventional texts and sacred writings plays in their lives, with the end goal of giving up specific tricky parts of custom, while holding the helpful practices. It is really at that time that ladies would like to be genuinely themselves.

Works Cited:

1. Adhikari, Madhumalati. “Creating a Brave New World: Shashi Deshpande’s A Matter of Time. “Contemporary Women Writers in English: A Feminist Perspective. Ed.Suryanath Pandey. New Delhi: Atlantic Publishers and Distributors, 1999.

2. Ausband, Stephen C. Myth and Meaning, Myth and Order. U.S.A.: Mercer University Press, 1983.

3. Barthes, Roland. Mythologies.Trans. Annette Lavers. 1957. New York: Hill and Wang, 1972.

4. Deshpande, Shashi. That Long Silence. 1988. Delhi: Penguin Books, 1989.

5. A Matter of Time. 1996. New Delhi: Penguin Books, 1996.

6. Dundes, Allan. Sacred Narrative: Readings in the Theory of Myth. Berkeley: University Of California Press. 1987.

7. Lincoln, Bruce. Theorizing Myth: Narrative, Ideology and Scholarship. Chicago: Chicago ,1999.

8. Pandey, Surya Nath., ed. Contemporary Indian Women Writers in English: A Feminist Perspective. New Delhi: Atlantic Publishers and Distributors, 1999.

9. Sharma, R.K. “That Long Silence: Long Night's Journey into Day.” The Fiction of Shashi Deshpande. Ed. R.S. Pathak. New Delhi: Creative Books, 1998.

10. Sangari, Kumkum, and SudeshVaideds.Recasting Women: Essays in Colonial History. New Delhi: Kali for Women 1989.

11.Ramamoorthi .P. “My life is my own: A study of Shashi Deshande’s women.“ In singh Sushila, ed Feminism and recent fiction in English. New Delhi prestige Books (1991), 115-127.

12 .Lakshmi Holmstrom. “Shashi DeshpandeTalks to Lakshi Holmstrom”.The Fiction of Shashi Deshpande. Ed R.S. Pathak, New Delhi: Creative, p.248

13. Sree, S. Prasanna. Woman in the Novels of Shashi Deshpande: A Study. NewDelhi: Sarup & Sons, 2003. Print

14. Beauvoir Simon de The Second sex. Trans. H.M Parshley. London: Vintage, 1997.

The problem of meaning of Social action: Max Weber and Talcott Parsons

-Dr.Premala anil Kumar
Asst Professor,
Hislop College,
Nagpur

Abstract:

This paper explains the concept of social action in simple terms without using any jargons and discuss the circumstance under which social action theory emerged by opposing well established theories of classical area and how it has been theorized first by Max Weber and later on by Talcott parsons This article basically deals with a fundamental questions which were already answered by classical thinkers in theoretical form but are reexaminined them in simple and understandable words such as what constitute society, how and why societies were possible, what hold society together and what makes society change, is society made of the sum of individual's actions, and is society more than the sum of the individual actions. These questions have raised further debate about what type of social reality or sociological phenomena required to be examined and included in the subject matter of sociology as discipline, thus, theory of social action settled the issue and stood against test of time and newly emerged sociological theories.

Understanding of Social Phenomena as Structure and Action

There are two main important types of sociological theories that were widely accepted as methodological procedures to understand social phenomena, for that matter, any aspect of the society; the methodological procedures have been theorized first into structural or macro theory and second micro theory or perspectives. As the 'micro' name suggests, small universe would be chosen by micro theorist and examine smaller groups and a little social phenomenaintensively within society. In macro approach, macro sociological problems or a phenomena is chosen for studying on the basis of extensive

But here the question arises what constitute small universe and big universe as well as small social phenomena and large social phenomena. However, apart from the analyzing what ought be studied and included in the subject matter of discipline, other doubts were raised with regard to first of all, what constitute society such questions whether as sum total of actions of individual or sum total of physical material or organic and inorganic objects.

For Herbert Spencer, society constitute of "super organic" material as he divided the universe into organic world, inorganic world and super organic world, thus according to Spencer it is the super organic world of which society constitute. For Durkheim, it is social facts the constitute the society which existing independent of individuals and it is constraining upon individual. For Karl Marx, it is the mode of production upon which relations of production depend, hence it must constitute society and sociologist, therefore, must consider economic relations which are created structurally as an important sociological phenomena.

For Pareto, human intellect cannot study various phenomena at the same time , we must consider them on after the other, this studying of various phenomena separately in order that they may be later be reunited into one bunch to obtain a synthetic concept of a real phenomena, thus, the science which studies various parts of a phenomena separately is special science(ex: economics, Political science and history etc) the science reunites them into one special social science is sociology which is also known as logico- experimental science and the study area of logico

experimental science is logical social action.

For Weber, human beings level of understanding is limited, minimized and curtailed by the difficulties in understanding why social events occur in a specific manner and framework. But this specific manner and framework was understood as structure that exists independently of individual by the classical sociology. Hence, we need to abandon all the speculative analysis of examining the social behavior as phenomena subjected to structure and suggests that sociology must study the social action rather the social structure through the mechanism of understanding which is either observational or explanatory. Thus, unlike structuralism, Weber approaches are concerned with the subjective states of individuals and see society as a product of human activity.

However, Giddens "Theory of Structuration" (1979) sees structure and social action as two sides of the same coin: structures make social action possible, but social action creates the structures. Hence sociology has to include both the structure and action in its fold which he calls it the 'duality of structure'. According to Plato mans behavior or activities are governed by the society in which he lives and gets education, if social circumstances are changed, changes may be expected in the activities of the individual, on other hand ,Aristotle maintained that the nature of society depends upon the nature of individual. Trade pointed out that mans activities is the result of social limitations and man imitates the behavior of the people around him. Here we can draw the inference from above analysis, by looking at Plato arguments in terms of classical and structural sociology, where as Aristotle and Trade views reflects quite contrary to structural sociology, thus the debate continues around what needs be taken into consideration while studying sociological phenomena. Under these circumstances, certain questions were raised such as what constitute society, how and why societies were possible, what hold society together and what makes society change, is society made of the sum of individual's actions, and is society more than the sum of the individual actions. we can find the answer to the question of whether society made of the sum of individual's actions in Weber theory of social action and answer to question of what holds society together in Talcot Parsons theory of social action. Thus both the actions theories of Weber and parsons argue that it is the meaningful social action that constitute the society, but it was the Weber first to declare social action that constitute society and later by Talcott parsons. But this analysis leads us to further question whether both the action theories of Parsons and Weber are the same, if not, the how they differ and what they meant by social action.

Max Weber on The problem of meaning of Social action

Weber rejects the views of structuralist and believed that it was social actions that should be the focus of study in sociology. To Weber, a 'social action' was an action carried out by an individual to which an individual attached a meaning. However, Weber acknowledges the existence of classes, status groups and parties as structures, but challenges Durkheim's view that society exists independently of the individuals who make up society. Max Weber has given more importance to individual actions. As he was aware that individual actions often shape the social structure but sometimes their actions seems to be carry out independently which actually could not accept it. Here the question arises whether all actions should be considered social in nature.

Social Action and individual action

What he implies that merely touch of human being could not be framed under the criteria of social action even though it may seems to have social character and meaningful behavior towards others. In this context, he provides the few examples to support his argument like cyclist collide with each otherwithout hitting and insulting each otheror friendly communication. Even the act of crowd doesn't come under the social action because of their reactive and conditioned behavior which is nothing but an act of imitation where the meaningful actions often miss in it. It

indicates that action of individual or crowd determines by the action of others but not in the context of meaningful action. There is opportunity that reactive behavior and imitation may be useful to other sociological aspects as the social actions have but for Weber, the social action is subject matter for sociology to achieve key status in social sciences.Within the sphere of social action, some individual action which seems to be social action continuously occurs in the acts of other individuals butattaching the same subjective meaning. In sociological sense, such action could not take into the outline of social action despite having differed history and certain casual explanation but influence of human society could not be denied. As per Weber, such regular actions probably are part of culture and custom but not a social action until and unless the individual action is oriented to attain self-center goal in a rational and legal manner.

Sociology as science and social action

Max Weber has explained that sociology is science only if it has elements of interpretative understanding of social action and his action is orient towards behavior of others (Weber; 1978; 4). But Weber added to say that social action become motivational by attaching the subjective meaning to it. Thus, the social actions are orient not only present but also past and future. In other words, social action of individual often led his action to the expectation. It indicates that every action is not social if the action is completely oriented towards the behavior of animate object which weber has called it as a non-social. For an instance, if any religious prayer performs in solitary space or any action accomplished by individual in isolation could not consider social action. On other side, the economic activity must be consider social action due to involvement of others behavior (Weber; 1978: 12).

This from the above explanation, it depicts that Weber has describe the four types of social action. Firstly, the traditional action based on embedded habits and often proceeds with traditional behavior. This action is near to meaningful oriented action. This action clarifies the individual behavior in which he follows repeatedly all the sanctioned customs or tradition in his everyday life. Affectual action is an action which relay on the individual's emotional state of mind where his feeling gets disturb or hurt with specific or in general incident. In this type of action, individual may burst his emotion at anytime in the form of angreness, happiness and love, etc. It is conscious effort from the side of individual to release his/her emotional tense and as a result, the action of individual orients towards the rationalization of others. The value rational action completely built on the belief which are rooted into individuals some ethical, aesthetic religious or any other form of behavior that release the value oriented action. The value oriented action is action of self-consciousness that formulate as an governing action while affectual action doesn't care about consequences and effect on others or himself because it is an action to gratify the emotional need of individual, while in value oriented action, the individual often proceed with conviction that duty, honor and respect, etc. are essential values to construct the society.

The instrumental or rational legal action focuses only the calculated means and end to achieve the expected result. For example, the individual in the vegetable markets often rationalize his behavior in order to get fresh vegetable in a minimum prizes. Sometime the value oriented behavior often become deciding factors to rationalize his/her action. For example, if any person wants to make choice between the conflicting ends or alternative paths decide what values he cherish in his everyday life. It indicates that values often play essential role in the individual's instrumental actions.As we said that social action could be understood in the preview of meaning, the understanding as per the weber is an interpretive way of grasping the meaning which may be intended in particular issue or intended by the average of people that is by larger group or constructed an ideal type which

often occurring as a phenomena either in the form of law or concept. Even when he was referring to event or objects which seems to be meaningless but they in fact are not. Hence the meaningless must be taken into consideration only if it is have causes or effect or promote the any hidden human action. In fact the non-material objects like machine has meaning because it is produced by the human beings and utilized for their human activities which imply that the interpretation of action or activities is rooted in the meaning in itself.

Interpretative understanding of social action

Therefore, it implies that without taking the meaning in relation to non-material objects, we cannot understand it. It gives us picture that without attaching the meaning to material or non-material action, we could not understand the meaning of social action. As per the concerned of experience, Weber propose that in empirical activity, there is possibility to grasp the experience of the person who has experienced some mysterious things while performing some religious activity and in this regard the social scientist may not able to reach the mysterious experience. So Weber says that it is not necessary for the social scientist or individual to experience such mysterious thing to grasp meaning. Therefore, the Weber recommends that one need not to have Caesar in order to understand the Caesar (Weber; 1978: 66). It means that we can understand the social action of individual beyond the experience. Weber accepts the subjectivity meaning of individual in order to understand the motive of the individual conduct. So the meaning of social action could be understood either in reference to existing meaning or in relation to ideal subjective meaning.

Two types of Understanding in Social Action

Weber explains two types of understanding in relation to social action. Firstly, he called subjective meaning which he referred it as observational understanding or direct understanding. For example mathematical calculation like 2x2=4 or color of sky or forest, angreness, facial expression, irrational movement, wood cutter or some one's grasping a doorhandle in order to shut the door or some one's aiming a rifle at an animaletc. secondly, to understand the social action merely attaching the meaning to it is not enough, here we have to catch the motive behind the social action along with its meaning which Weber has called it as an explanatory understanding attached motive to it. The example provided by the Weber in this regards like 2x2=4 is an rational action to scientific demonstrate of perfection and wood cutter or aiming a rifle demonstrate the need or recreational activities respectively. In short, the motive is more important along with meaning attach to it. This is an example of rational motivational action of individual. Suppose a soldier asked to fire a rifle on the enemy in the battle field would be called as a rational motivated action.

Subjective meaning of social action and Ideal Type

Weber claims that subjective meaning is an outcome of basic category of fact from which social scientist construct the ideal types to grasp the social realities exist in society. He also warn that subjective meaning of social action must not gathered from the public data but follow the verstehen method in the form of inter-subjectivity meanings or socially constitute meaning that would assist to define the meaning of social action but doesn’t mean to uncover the hidden mental meaning carried of individual. In other words, it helps to distinguish the subjective intended meaning and objective explanation of rational observation of social action.

To grasp the meaning of social action, the ideal type play an essential role to catch the motive and meaning attach to it. Ideal type is basically not constructed outside the human world rather they are constructed by the human beings only. For Weber, the ideal type is a focused area of research to unfold the concept

and categories which directly beneficial to researcher. Through the social action, he developed individual ideal type may be rooted to historical or present circumstance and generalized ideal type associated with specifically the historical types occur rigorous action happened in history.The historical ideal types involves the category of facts comprise of time which assist us to form the subject matter to draw the ideal types. These historical ideal types are able to catch the subjective meaning of social action. In real sense, the historian carries their investigation based on the facts only but with specific historical time limit which provide us the space to see meaningful action in particular time period and society.

Through this weber suggest that ideal types are one side emphasized viewpoint that has to explore through unified analytical construction (Weber;1958: 90). In other words, it is a mental construction but not a heuristic tool to compare the historical effects with present condition of individual social action which he perform in the human world. Thus, it has nothing to do with value judgment rather an investigation tool to explore the social realities exist in society (Weber; 1978: 98. It is a heuristic tool to compare the ideal types and facts in order to get real picture of historical events and its effect on the society. For example, it is often in historical writing reveals that gupta period is an golden period but such historical ideal types has to explore with historical facts and present period of time where the individual comparing his individual ideal type with historical ideal type. Here, the research is not giving judgment rather he wish to understand and investigate historical period in effect at present society member's behavior and actions. Here what we wants to explain is that social action often imbibe into the routine or inter-subjective meaning to grasp the social realities define by the society itself. The meaning attach to social action has some motive to fulfill their basic needs in the form of material and non-material but constructing ideal types often provide us to space to investigate the motive and meaning attach to individual social action. Hence, social action is an imperative tool to study not only the society internal social relationship but also assist us to see the historical context. In short, the social action is a reflection of past, present and futuristic behavior of individual which helps us to see the working pattern of society (Giddens; 1971:151).

Talcott Parson on the problem of social action

Utilitarianism views humans are seen as rational beings who try to maximize their gains and minimize their loses and consider social life as the kind of market place where people buy and sell their qualities in hope of making psychic profit, thus actors are rational and they try to maximize their utilities or rewards and gratification, invisible hand of order emerging from open market and hedonism believes that man engages only in those activities which give him pleasure and avoid painful activities. Butboth utilitarianism and hedonism has failed to provide satisfactory answers to sociological questions and disappointment with utilitarian views were traced to disruptive social change brought about by political revolutions (French Revolution) and industrialization in Europe.

The theory of behaviourism provided by James Watson points out that all behaviour, whether animal or human was fundamentally of stimulus and response pattern, for example, the fear of man to explosion of a bomb, thus, here "the fear of man is response to the stimulus of explosion". Hence according to Watson the social actions are responses to various social stimuli. Thus Watson behaviorism reduces all actions to stimulus-response pattern. But criticism arises that Watson's behaviorism can be applied to only animal behavior which is termed as trailer and error basis and in different psychological situations, a man acts differently, the same stimulus may produce different responses in two persons, therefore, in human behavior many factors other than stimulus and response play their part and

society does not constititue just a pattern of behaviorism.But the social action has been viewed by utilitarianism and hedonism differently and emphasized only upon "rationality and pleasurably activities". However, Talcott Parsons argues that it is not mindless behaviorism that constitutes society but it is social action which ultimate source of society.

Individual and situation

Social action is the action of an individual in social context as social being or member of society, thus social action includes all those activities which are done by a member of society, as a social being mans existence depends upon fulfillment of social needs and expectations, therefore, every social action has some motivation, no social being is sufficient in himself, he or she can't fulfill needs nor can he or she substitute a society. In order to fulfill himself or herself, they have depend upon other persons, these others persons may be related to him or her individually or collectively, this is the social context of the social action, thus social action includes those activities which are committed in social circumstances in relation to other persons, thus social action constitute social man, social context and motivation. Refuting behaviorism of Watson, Parsons argues society is like a system, a set of inter-connected parts which together form a whole and parts are nothing but roles and statuses and behavior of an individual is what he or she does in the roles and status

The behavior of individual in social context is called social action. Any social action has two main aspects, firstly there is an actor, and secondly, there is a context. According to the parsons, the world of action is consists of three objects, these are social, physical and cultural. Of these, the social system is made up of social objects. Thus, social system is nothing but social action. This lead to further question what constitute social system?To define social system, Talcott Parsons has identified three types of systems; these are personality system, social system and cultural system. Of these three, it the social system in which action takes place. It further leads to a question of how it takes place. Parsons argues that the ultimate source of social action is personality system through which social action take place in social system. Parsons defines the personality system

Personality system, social system and social action

Talcott parson has defined personality system as organized system of orientation and motivation of action of the individual actor which are differentiated from drives which are biological in nature. These organized system of orientation and motivations of individual actors are need dispositions which are defines as these same tendencies when they are not innate, but acquired through process of action itself.

Thus Parsons Social action system comprises Need dispositions which impel actors to seek love, approval from their social relationship, internalizing values, role expectations that lead to actors to give and get appropriate response. In other words, Parsons Action is a process of motivation which expressed through need dispositions. Without need disposition, action system is not possible, actor will not act unless an action has motivational significance and mans likes, dislikes, desires, emotions, and expectations needs are embedded in personality system.

Parsons argue that personality system will not come into existence without help of social system, because an actor performs interactive actions for need dispositions in social situation and Talcott Parsons define this social situation as social system in which plurality of individual actors interacting with each other in a situation which has at least a physical or environmental aspect and actors who are motivated in terms of a tendency to the optimization of gratification is defined, mediated in terms of a system of culturally structured and shared symbols.

Thus, According to Talcott Parsons, social system is an actor,

status and role, interaction, situation, social institutions, kinship, power and environment and need dispositions of actors would be fulfilled through status and roles, interactions according to situations and environment and cultural system exists in between personality system and social system. Cultural system exist separately in the form of social stock of knowledge, symbols, ideas, Thus, for parsons, social system and personality system and cultural system together form a system of social action.

ConclusiAccording to parsons Social action can be defined as voluntary or voluntaristic but it is constrained by set of choices available in the physical situation or environment context, the social actor has choices concerning the particular action he or she will take and acts in a voluntary manner

Social action is subjective because social actor has internal goals and orientation. social actions are meaningful for the actor but at the same time the actor has his or her own preferences and goals. That means social actor is oriented by his or her preferences and attempts to meet individual goals. For parsons Social action is governed by social norms and the values of the culture and social order within which the action takes place. But Weber has ignored the importance of social norms and values of the culture

This approach to social action by parsons is more inclusive of the social world than that of Weber , which means Parsons sets social action within the context of culture and social order and relates it to that context and how action creates the context and how context governs action. Parsons attempted to provide a fuller explanation of social action than provided by earlier theories, in that he considered the actor to have goals, choose between alternatives, and to act within the context of norms and values. At the same time, social action is within a social system and the social action itself helps to define, create, and maintain the social system. Parsons thus argued social system, personality system and cultural system are interdependent and one cannot exist without the other one.

References

Abraham, M.Francis and Morgan, (1985) Sociological Thought, New Delhi: Macmillan India ltd,

Bhusan, Vidya,Sachdeva,D.R. (2015)An Introduction to Sociology New Delhi Kitab Mahal

Collins Randall. (1997)Sociological Theory, Jaipur, Rawat,

Coser, A. Lewis, (1971) Masters of Sociological Thought, New York: Harcort Brace Jovanovich,

Emile Durkiem, Steven Lukes; W D Halls (1982) Rules of sociological methods, New York, The new press

Giddens, Antony. (1984) Sociology, Cambridge: polity,

Giddens, Anthony.197l.Capitalism and Modern Social Theory', An Analysis of

The Writing of Marx, Durkheim, Max Weber, Cambridge University press.

Sharma R.N, Sharma R.K (1988) "Contemporary Sociological theories".Bombay media publishers

Turner. (1974)The Structure of Sociological theory, Homewood: Dorsey Press,

Weber, Max. 1978. Economy and Society: An Outline of Interpretative Sociology.

ed. By Guenther Roth and Clause Witch, University Of California Press.

Weber, Max. 1958. Methodology of social sciences, Macmillan publication.

Weber, Max. 1978. Selection in Translation (ed) W.G.Runchiman, Tr By Mathew,

Cambridge, CUP.

The Problematics of Individualism in a Collective Family: A Study of the Protagonist of the Novel Inga

- Chitra Pegu
Research Scholar,
Department of English and Foreign Languages,
Central University of Haryana
Mobile No.: 8399911232

Abstract: This paper tries to show that sometimes, a village home, instead of a peaceful retreat, can actually be a chaotic place with many complexities. It tries to understand the problematics of individualism in a collective joint family. It focuses on the space and position of the individualistic Rapa within her South-Indian Brahmin joint family that respects the village council, follows every norm of the caste system, believes in superstitions and is headed by a patriarch. Rapa is the protagonist of Poile Sengupta's novel Inga (2014). Poile Sengupta is better known as one of India's most prominent Indian English playwrights. Inga is her first novel.

Keywords: Joint family, collectivism, patriarchy, individualism, Inga

Introduction: Individualism and Collectivism

Individualism is a political and social way of life that emphasises the moral worth of an individual. According to Conceição Soares:

In a broad sense, individualism is that tendency to underline individual liberty, as against external authority, and individual activity, as against associated activity. In all forms of individualism, the emphasis is on the importance of the self, and especially the notion of self-development with no restraint or help from without. Individualism is scarcely a principle; it exhibits too many facets and is too general to be called a theory, but it is probably best described as a tendency or an attitude, the tendency or the attitude of centering on the idea that the individual human being is a maker of the world he/she inhabits. ('The Philosophy of Individualism: A Critical Perspective')

In individualism a person tends to be aware of his or her interests and priorities and makes an effort to develop his or her worth as an individual. While in collectivism an individual's worth is sidelined and that of the group is brought to priority. In sociology, collectivism refers to "any of several types of social organisation in which the individual is seen as being subordinate to a social collectivity such as a state, a nation, a race, or a social class" while individualism "emphasises the moral worth of the individual" (Brittanica.com).

Rakesh K Chadda and Koushik Sinha Deb, in their article have defined 'collectivism' in contrast to 'individualism'. They write:

"Collectivism" refers to the philosophic, economic, or social outlook that emphasizes the interdependence amongst human beings. It is the basic cultural element for cohesion within social groups, which stresses on the priority of group goals over individual goals in contrast to "individualism", which emphasizes on what makes the individual distinct, and promotes engagement in competitive tasks. (Indian journal of psychiatry: "Indian family systems, collectivistic society and psychotherapy")

Hence, collectivism makes the rights and interest of the group a priority while in individualism self is given more importance than the 'group' or the 'other'.

Collectivistic Indian Family

Every culture in the world has its own degree of collectivistic traits. In Indian culture, it is to the extent that each member of the family is responsible for the behaviour and the life conditions of every other family member, even though it may deny their individual needs and aspirations. In a rural Indian family the collective traits are the normal way of life. The focus of this paper is mainly on the rural Indian Hindu joint family. A joint family promotes cooperation and interdependence with the family members. Indian joint families are characterised as sturdy, stable, closely-knit and enduring with focus on family integrity, family loyalty, and family unity. But all this comes with the cost of individuality which means exclusion from freedom of choice, privacy and personal space. A lot of interpersonal transgression happens within such families even without any realisations. Therefore, the space of an Individual in a Joint family is always

secondary to the collective needs.

Majority of Indian joint families adhere to patriarchal ideology, follow the patrilineal rule of descent, and the patrilocal marriage. Each hierarchical strata function with the principle of "collective responsibility". Males are expected to be the provider of the family while women and children are the receiver. Married women are expected to remain at home, give birth to children and take care of the house and the kitchen. Such rules of conduct are aimed at creating and maintaining family harmony and for greater readiness to cooperate with family members on decisions affecting almost all aspects of life, including career choice, mate selection, and marriage. Hence, every member of the family has a predetermined role and they are expected to play the roles naturally, for the collective betterment of the family and therefore themselves. Therefore any individual who stands up for his or her individual rights is termed as disobedient, disrespectful and rebellious.

In such a collectivist environment, a powerless individual, such as a woman, is the worst sufferer. Men, apart from the patriarch, though does not have any decisive power, at least have the freedom of movement and are accorded with value. On the other hand the status of women in a joint family is always subservient to male and is expected to subordinate their personal preferences to the needs of others. They are denied of individual autonomy, freedom and initiative in public affairs. Women who are able to sacrifice their own needs for their family are appreciated and expected.

Rapa and her Joint Family:

Most girls belonging to the rural Indian families are trained from childhood to be docile and chaste. Even though they are sent to school, the ultimate aim of the parents and grand-parents of the girl child is to raise them to be the perfectly enviable bride- fair and lovely, well-mannered, chaste, docile, etc. This happened with Rapa (or Rajalakshmi Parvathy Krishna Iyer), the protagonist of Poile Sengupta's novel Inga. When Rapa's father was an M.P., they lived in Delhi for more than a decade. They came back to their ancestral home in rural Kerala every vacation. Her being dark-complexioned was considered the greatest demerit and an obstruction for her easy marriage. Living in a joint-family, she was never short of family members, relatives, guests and neighbours to look down on her appearance. She was constantly being discouraged and jeered upon for being dark-skinned. Her Great Aunt Kuppai would accuse her, "You Coal Face! Sit still! Someone as black as you, only a blind man will marry. My poor Kittan! Why was he cursed with a devil like you? A black devil!" (Inga p.17) Her sister-in-law would call her 'ugly back rat' and attribute herself as 'a goddess, as fair as milk, as graceful as deer' (4) Guests would greet her- 'so this black girl is Thangam's daughter? (12). Though she didn't care about her appearance, being dark and living in a joint family was quite tormenting and shameful. Her great aunt, who was the custodian of 'adakkam'(or good-manners) in the family ranted at her:

You! You black-faced raakshasi! You have no adakkam! No adakkam at all! Why is your skirt so up? I can see your both upper legs! . . . Ayyo! You should not eat so much. You must have adakkam. Food should be kept for men. Poor things. They go out and work so hard! . . . O you stupid donkey! (77)

But after she had her first menstruation, her family began to treat her differently. She was treated like an object for sale in front of guests and neighbours. Her skin colour and other shortfalls were overlooked and all other good points were emphasized:

One IAS only for her,' declared Great Aunt Kuppai, 'with nice height. See her height, even at this age.' 'Good features also she has, Kuppakka,' said the unfamiliar, sans-teeth aunt. 'See her nose and eyes.' 'She is always coming first in her class,' boomed my father. 'So many times she has got double promotion. And her English! Appappa! Even those nuns can't talk like her! … 'Ayyo! Kitta!' broke in Great Aunt Kuppai, touching the tips of her fingers rapidly from cheek to cheek. 'Don't put eyes on your girl. (89)

Even her status in the family changed. She was now assigned to certain code of conducts which snatched away the little bit of individual freedom she had:

I was now a Woman, no longer a mere girl, and I had to be given work to do. This meant I was to get up early, have a bath, then with hair still wet and open, with a small horizontal plait to keep it off my face, I had to water the basil plant that grew on a stone pedestal in the front courtyard. There was also some prayer I had to chant, to get a good husband or some such thing... I was not even allowed to be in a short frock anymore, I had to wear a long skirt with a

blouse and an irritating length of cloth, a half sari, to cover my non-existent breasts… (92, 93)

Thus she was being trained to be a 'good' woman so that she can get a good husband and be an efficient house-wife. No matter how brilliant she is in her studies and how great her results are, the real accolade will be when she would captivate a man as well placed as possible and of the same caste.

Western Education:

Rapa has always been brilliant in her studies. She studied in the 'best' convent school in Delhi and always showed interest in literature. When she was fourteen and already well versed with the most common English poets but when she heard for the first time from Shakespeare's Twelfth Night: "Make me a willow cabin at your gate/ And call upon my soul within the house/ Write loyal cantons of contemned love/ And sing them loud even in the dead of night/ Hallow your name to the reverberate hills/ And make the babbling gossip of the air…", she experienced inner ecstasy, a strange sense of peace and freedom:

"Everything around me dissolved – my father's loud peremptory voice, the shouts of the men in the make-do kitchen behind me, the shrill chattering of the women inside the house. I forgot even Inga as I watched him, his head thrown back, his eyes closed, his voice, music. I was scooped up high; I soared, face tingling, rosy, free, across streaming skies, the wind ran like rivulets through my hair, my arms silver-frosted, my head crowned with stars." (31)

Probably it was during this time Rapa realised that freedom lies in education. Books gave her the freedom to move around the distant lands and know about places completely different from hers. She completed her 12th grade as one of the top students in the entire country. She was admitted into the English Honours course under the University of Delhi. There she got to experience the real sense of freedom. She says:

…The walk to the library gave me a feeling of being independent of my parents and allowed me time to spend in the reading room, looking through British newspapers and journals that smelt of English printing ink. I could pretend I was in England, that Inga was in our tiny cottage near the vicarage, getting ready for the day…" (200)

She joined book clubs and read as many books as possible. She also discovered 'treasures' like:

…-all of Rilke, Hardy, Dickens, the Brontë sisters, George Eliot, Austen, Camus, Richardson, Kafka, Gaskell, Butler, Lawrence Durrell, Gerald Durrell, D.H. Lawrence and of course Dostoevsky and Tolstoy. I read the Bible and quite a lot of poetry, I remember reading Samuel Pepys but there are writers I don't recall, the list is comprehensive but not complete ... (201)

This interest of her in Western philosophy and literature ignited her individualistic mind and made her believe in self and made her interested to grow as a person, as an individual responsible for her own happiness. Her individualistic behaviour was considered as a rebel in her family. This was because Indian values and customs have always been collectivistic. Care and respect for old parents, maintaining harmony, marital fidelity, and premarital chastity are of great value to a traditional joint family. These values have been idolised even in ancient Hindu scriptures, epics and social codes.

Effects of Collectivism on Rapa:

When Rapa was doing great in her college, dreaming about the Oxford University for higher studies and discovering more about her sexuality, confessing unreciprocated love to her cousin sister Inga and exploring western philosophy and fiction, her father's sudden decision to marry her off and therefore call her back to her chaotic ancestral home in Kerala, made her world upside down. She rebelled and began to fast for her freedom, but none was effective. She writes in her Journal:

On a hot, March morning, I was smeared with turmeric, bloodied with vermillion powder, handcuffed with scores of bangles, and noosed with a million necklaces. …I, Rajalakshmi Parvathy Krishna Iyer, was transferred as a burnt offering to the family of Padmanabhan Harihara Aiyer IAS. I heard hate words spitting out all around me… I was inspected, assessed, judged. 'She is so black. How she got IAS boy?' 'Ssh. She can hear.' (214)

She was mentally torn apart. She felt betrayed and worthless as an individual. She realised that her existence was not for herself but for the family. By arranging an IAS husband, her family used her as a showpiece in front of their relatives, friends and neighbours. She was married off forcefully to a person, with whom she can never be romantically attached, as she can only love women which is forbidden in her society. But her prohibited and

unreciprocated love for her cousin shattered into a thousand pieces when she came to confess her in person and found out that her cousin Inga was actually her sister, her father's other daughter with her aunt. She realised they were all lying to her, her parents, family members, and even Inga. She felt completely betrayed and was shattered into pieces making all her pent-up anger suddenly run wild. When she saw the mocking laughter of Inga, she felt so annoyed that she hit her to dead and walked away cold-heartedly from the murder spot. She never told anyone about this incident and no one ever suspected her. Only after her death (a few months after the murder), her husband found her journal where she has confessed about the murder:

I snatched up something from the kitchen shelf. It was heavy. I hit him. I hit my father. He was laughing. I hit him in the face. Again and again. I hit my mother, she was laughing too. And Inga's mother. I hit them all. Again and again I hit them. Again and again. She fell. The laughter stopped. Blood pooled across the floor. … I watched myself as I searched the drawers of the table. … She had not kept any of my letters. Not one.

Afterwards? Afterwards, I went back through the shadowed garden, onto the road. I shut the gate behind me. (304)

Conclusion:

It is clear that such behaviour of Rapa was because she was continuously being transgressed by her family members. As an individual she was not allowed to take any decision. She did not have any separate identity and existed only for collective wellbeing. From childhood she was forced to follow certain rules, and expected to follow a definite code of conduct. She was always being judged by her family members, relatives and neighbours and burdened with the duty to marry a man that could bring pride to the family. That she was a lesbian, she could never express to her family. Her education comforted her for a while. But soon her pent-up anger and resentment towards her family exploded so bad that it killed the person whom she loved unconditionally since she was a child. But this only shows her unhealthy mental state, the trauma she might have been suffering. According to psychologists family members can aid in many psychological issues but in some cases it can also be the source of trouble:

From a psycho-therapeutic viewpoint, in collectivistic societies like ours, the family may be a source of the trouble as well as a support during trouble. It is therefore plausible that the family might also provide solutions of the trouble and indeed, interventions focusing on the whole family rather than the individual often results in more gratifying and lasting outcome. ("Indian family systems, collectivistic society and psychotherapy")

But in Indian rural society psychotherapy is never a possible option for a respectable and 'sane' family. In Rapa's case it would never have been possible. Her being educated with western education was another factor that contributed to the development of her sense of individualism that most of the villagers ignore. Her individualistic traits made her rebellious to group norms, traditions and patriarchal authority. She could successfully assert her stand only when she moved away from her family and lived independently with her husband and for some time with a friend. Her story reveals that in the Indian family system, which is basically a joint or extended family, individualism is not easy and it always comes with a cost.

References:

Chadda, Rakesh K, and Koushik Sinha Deb. "Indian family systems, collectivistic society and psychotherapy." Indian journal of psychiatry vol. 55, Suppl 2 (2013): S299-309. doi:10.4103/0019-5545.105555

"Collectivism". Britannica, URL: https://www.britannica.com/topic/collectivism

Desai, I. P. "The Joint Family in India—An Analysis." Sociological Bulletin, vol. 5, no. 2, Sept. 1956, pp. 144–156, doi:10.1177/0038022919560206.

Gupta, Bina. "Modernity and the Hindu Joint Family System: A Problematic Interaction." International Journal on World Peace, vol. 11, no. 4, Professors World Peace Academy, 1994, pp. 37–60, http://www.jstor.org/stable/20751999.

"Individualism". Britannica, URL: https://www.britannica.com/topic/individualism

Sengupta, Poile. Inga. Tranquebar Press, 2014.

Soares, Conceição. "Philosophy of Individualism: A Critical Perspective." International Journal of Philosophy and Social Values, 2018/09/26 DOI: 10.34632/philosophyandsocialvalues.2018.2664

Training – Need for the employee's performance & development – A study of the Private sector banks of Uttarakhand

-Dr. Reenu Rani Mishra
Associate Professor,
Department of Economics,
S.B.S. Government (P.G) College
Rudrapur, (Udham Singh Nagar) Uttarakhand,263153

Abstract: As we glance from the ancient time, knowledge has always remained as a great meaningful asset. As a result, the company wars, which were till recently wishing on industrial surveillance, are heavily becoming addicted to knowledge that invent competitive advantage to their organizations. To cop up with these advantages companies' employees should be a well-trained because companies' growth totally depends on the quality of man power or human resource of any organization. Employee's performance take important part in every organization so to gain more & more profit it is the responsibility of the management of the organization to give proper training to their employees for their better performance. This study reveals the relationship between training & development of the employees & impact of training on employee's performance in the organization & how training improves their standard performance in organization. Data collected through structured questionnaire of public sectors bank of Uttrakhand.15 private banks & 200 employees of banks were selected for the data collection. Data analysed through descriptive statistics, Random sampling techniques, method used as sampling techniques & data analysed through these test - Ranking method Correlation, Regression. Percentage, frequency tab standard deviation methods. The study concluded that training impact on job performance. Study analysed that Bank employee's need training for their improvement & for their better performance.

Keywords: Employee's training, Employee's performance, Employee's development, Banking sector, Training & development.

Introduction: Banking played a important role to increase Indian economy. During the beginning of the days when banking sector were introduced in India, with the establishment of general bank of India, three major banks madras bank, Bombay bank, Bengal bank were established in the early days of 19th century. In earlier days these banks were established independently but on later days in 1921 banks were merged with imperial bank of India. Liberalization was begun in India in 1992.narishamam committee served basis for the Indian banking sector. Pfeffer (1994) defined the work culture of the organization & how they work. Employees are the key part of any organization. Organization's growth totally depends on ability of their man power or their employees & for this they organize yearly basis or monthly basis sometime when needed weekly basis training programme for their employees. To increase their performance in their specialized work.

Banking sectors are the heart core part of any country. Sector needs capital, resources, services proper management & information system. Give better services to their customers & for this they organize a proper training programme to their employees. Various training methods are to be used for their betterment like on the job training method, off the job training method, modular training method and distance learning programme. Apart from this there are many more additional programmes like – motivational speech, staffing, and incentive scheme, reward programme also to be executed for their improvement or for their better performance. Training plays a important part in every sector of every organization. Specifically in the banking sector, employee's ability, knowledge, capabilities are the key role a quality of any employee. This is the primary objective of every bank to make such kind of qualities in their employees for better result so therefore It is needed that man, material & machines should execute in a proper way.

Training is needed for every organization to achieve organizational goals. it is major function of every human resource management department of every organization through this programme, they can easily improve their productivity & goodwill. (Stone R.2002) Bank employees always focus on customer's service & quality level of work. Banking is one of the sectors in India who always provide quality level services to their

customers & employees of the bank consistently focus on customer's service. They always stand for customers need (Aryee 2009). Trained employees are not only given best performance but also improve the productivity & work culture in the organization. These trained employees are truly loyal towards the organization & also to their work. But there are many more problems that employees are facing in their job like organization politics, favoritism & this training helps employees to improve their ability & to face their weakness.

Literature Review: A literature review based on training of performance of the employees-

Shouvik Sanayal and Mohammed Wamique Hisam (2018) analyzed that employee's ability & performance based on the training which provides by the company to them. It includes a descriptive research design to collect both data (Primary & Secondary data). Rida Athar and Faiza Maqbool Shah (2020) analysed that training improve the capability & ability of the employees & all the training method which is required, applicable for banking employees.

Prasadini N. Gamage and Lionel Imbulana (2019) studied that employees' performance can improve through various training method & these performance measured on the basis of their training skills & how they get these training in an effective way. Esther (2018) agrees that employees are ready to integrate if they are not satisfied with the organization and this affects in retaining an employee in an organization. Burhan Mohmoud Award Alomari (2017) studied highlights that HR department of any organisation is the key main area, organization's growth is totally dependent on that department, proper training methods improve the creativity of the employees. Abdul Ghafoor Awan and Iffat Asghar (2014) defined the reason of the success of any organization theory explained that employees are the major assets of any organization.

Private sector banks in Uttarakhand- Uttarakhand is the 27th state of India, comparison to other states Uttarakhand have a 53,483 sq km area with the 189 per Sq.km density. Total district in Uttarakhand is 13 which is divided into Kumaon & Garhwal division. The Kumaon division has six and Garhwal division has seven districts. In Uttarakhand there are many more public & private sector banks are available & these are-

List of Private sector banks working in Uttarakhand

S. No.	Name of the bank	Establishment
1.	ICICI Bank Ltd.	1994
2.	AXIS BANK Ltd.	1993
3.	HDFC BANK Ltd.	1994
4.	YES BANK Ltd.	2004
5.	KOTAK MAHINDRA BANK	2003
6.	INDUSLND BANK	1964
7.	KARNATAKA BANK Ltd.	1924
8.	SOUTH INDIAN BANK	1929
9.	IDFC FIRST BANK	2015
10.	BANDHAN BANK	2015
11.	THE NANITAL BANK Ltd.	1922
12.	SMALL IND DEVELOPMENT BANK	1929

Source – List of private sector banks working in Uttarakhand

Challenges faced by bank employees- In today's competitive market every private sector gives best services to their customers. Every banking industry reconstructs their resources & trained them to meet the challenges. Employee of the bank gives best services to the bank apart from this many of the problems that they are facing during their job period & it is necessary to overcome from these challenges & the challenges are.

Competitive market Customer loyalty

Expectation towards job Changing banking scenario

Changing culture environment Daily to daily compliance

Organization politics Organization culture

Changing government policies Security Vulnerability

Training method used for bank employees– Training is the essential part of every HR department of organization. When a bank recruits a employee, that time he or she does not know the working culture & system of banking organization. So to do smoothly & efficiently work, it is needed to give him or her better

training programme so they can give excellent & quality work to the bank. Because banking is the one of the best sector which works with HR department effectively.

Training methods–

In- Job training method - This type of training is given to the employee when he or she is in their service or need some additional qualities during their everyday work.

Training for refresher – To know about the culture & working environment of bank. HR department organize a special training programme for refreshers.

Specialized training – Sometimes banks gives chance to their customer to choose the specific area for according to their work quality in that specific areas.

Induction method of training – After the recruitment when refresher training is to be organized bank organizes some motivational training programme for them to increase their work quality & to understand them the culture of the organization.

Training for delegates – This training method mainly organized by World Bank, central bank, income tax department, central bureau of Rajasthan officers of the entire department are selected for that training, this training gives them the wide detail about the rules & responsibilities of the work so they can give better services to their department.

Objective of the study-

To examine the performance of the employees with imparting training

To identify the factors influencing the performance of the employees.

Research design –

Sample design – Descriptive research design.

Sample size - 200 employees of banks were selected for the data collection.

Sampling techniques - Simple Random sampling,

Analysis tools – Ranking method. Percentage, frequency tab, Correlation & Regressions.

Primary Data – Private sector banks of Uttrakhand.15 private banks.

Secondary Data – Journals, Article, and Research report, Research paper, Websites.

Hypothesis –

H1 – Direct relationship between job performance & training.

H2 –Factor influencing performance of the employee.

Data Analysis –

Section A – This part of the questionnaire presented the demographics of the respondents like the Gender of respondents, age, education, Occupation and Income (Yearly). The following is a schematic presentation of the demographic profile of the sample respondents. All the statements are presented in frequency. Percent & cumulative percent method.

Analysis Of Questionnaire –

Table 1: Descriptive Statistics of Demographic profile of Respondents [Personnel]

1. Distribution of respondent (Age)

Age	Frequency	Percent	Cumulative Percent
20 -25 Years	74	38.0	38.0
26- 35 Years	70	30.0	30.0
36- 45 Years	47	6.0	6.0
Above 45	09	26.0	26.0
Total	200	100	100

The frequency distribution of age defined that bank employee recruit young people for their quality work so we can say that age group of 20- 25 years of employees are in maximum number (74) & Above 45 Age group of employees are minimum number in age (09).

2. Distribution of respondent (Gender)

Gender	Frequency	Percent	Cumulative percent
Male	125	62.0	62.0
Female	75	38.0	38.0
Total	200	100	100

Table shows that male respondent were in quantity 165 & female were in 35.

Distribution of respondent (Experience)

Experience	Frequency	Percent	Cumulative percent
1 - 5 years	81	40.5	40.5
6 - 10 years	60	30.0	30.0
11- 15 years	32	16.0	16.0
16-20 years	20	10.0	10.0
21 years & above	7	3.5	3.5
Total	200	100	100

As shown in the table, the 40% of the respondent had 1-5 year experience, 30% of the respondent had 6-10 year experience, 16% of the respondent had 11-15 year experience, 10% of the respondent had 16-20 years, experience & 3% of the respondent had more that 21 year experience.

Distribution of respondent (Experience)

Education level	Frequency	Percent	Cumulative percent
Graduate	61	31.0	31.0
Post graduate	125	62.0	62.0
Professional degree	15	7.0	7.0
Total	200	100	100

As per the table shown that 31 % of the respondent had graduate degree, 62 % respondent had post graduate degree & 7% of the respondent had professional degree. it shows that most of the respondent are highly educated.

Section B -This part of the questionnaire includes the independent variable & dependent variable, in this study dependent variable was training & independent variable was employee performance. For this, two methods i.e. correlation and regression analysis were applied.

The study used descriptive statistics to find out the level of perception of all variables and it is based on data - primary data collected through open ended questionnaire, filled by the 200 bank employees, response of the respondent were shown on 5-point Likert scale ranging from 1= strongly disagree to 5= strongly agree.

Analysis & findings

Table 2

	Mean	Standard deviation	N
Training	3.7589	0.9315	200
Performance	3.3901	0.6142	200

According to the descriptive analysis of given table value of standard deviation & value of mean is less than 1 According to Cohen (2003), value of standard deviation for the normal distribution of data should be in a range of 0 to 1. Than in that condition we can say that data is normally distributed & Pearson correlation analysis conclude the relationship between these variables.

Table -3

Correlation

		Training	Performance
Training	Pearson Correlation	1	
	Sig-2(tailed)		
	N	200	
Performance	Pearson Correlation	750	1
	Sig-2 -(tailed)	200	200

This table shows the relations between dependent & independent variable from this table it has proved that training directly impact on job performance, value extent of 75% (0.750**). This association is significant at 1% level of significance for two tailed test. In this condition we can say that job performance depends on training. Trained employee can do better job Regression Analysis also applied in this for hypothesis testing & also shows the relationship between variables. The results are in the following table:

Regression Analysis Coefficient

Table - 4

	Unstandardized coefficients		Standardized coefficients	T	Sig.	R2
	Std Error	beta				
Constant	1.525	0.159		9.635	.000	0.558
Training	0.490	0.046	0.748	11.589	.000	

Through this regression analysis table we analysed that 1 unit changes in independent effects the changes in other dependent variable. Value of R explains the quantity of variance happens in both variables. T value shows that training takes important part in job performance.

Section C - Factor influencing performance of the employee.

Table – 5

	Mean	Standard Deviation	Rank
Work Environment	1.22	.46	I
Organization policy	1.18	.45	II
Salary Structure	1.17	.44	III
Leadership style	1.16	.43	IV
Security & safety measure	1.16	.42	V
Knowledge towards job	1.16	.40	VI
Job responsibilities	1.15	.38	VII
Job Challenges	1.15	.37	VIII
Personal interest	1.14	.36	IX
Relations with Co workers	1.13	.36	IX
Relations with Manager	1.13	.36	IX
Incentives & Bonus scheme	1.13	36	IX

Table shows the mean value, standard deviation of key factors that influenced the employee's performance; we have ranked these factors on the basis of the mean value & standard deviation through simple ranking method, result shows that working environment is the key main factors that influence the Employee's performance. After that organization policy than salary structure likewise in this table we can see that incentives & bonus scheme, relations with manager, with co –workers & personal interest is the last one factors that influence the performance of the employees. it shows that work environment takes a key role in any employees' job, positive environment create positivity in employees to do an effective job.

Conclusion – This study basically examined what are the factors that influencing job performance. Uttarakhand is the city where rural peoples are living in hill areas. Many more rural, public & private banks are available to give them the best service. 200 bank employees were selected for the research. Data were collected through open ended questionnaire & according to the data, data analysed with the SPSS software & correlation, regression. ANOVA test have applied for analysis. Result showed that employees' development can be possible with the basic training programme which can organized by the organization & bank should organized a proper training for their employees, so he can do work in a efficient way data revealed that working environment take major part in employees' performance.

Today's modern business gives best services to their customer & for that they want knowledgeable & qualified employees who have given accurate work to the organization, & it can be possible through organized training programme. Researcher found large number of sample who gets training on regular basis in their organization & they felt improvement in their work after getting training. It shows that how training is needed for the employees. A lot of research have been done on the banking industry but this research specifically focused on the various factor that influence the job performance. The factors are – working environment, organization policy, salary structure, leadership style, security & safety measure, knowledge towards job, job responsibilities, job challenges, relations with Mangers, relations with co –workers. Growth of banking sector in India day by day is the result of qualified employees.

Reference:

1.Abdu l Ghafoor Awan and Iffat Asghar (2014). Impact of employee job satisfaction on their performance. Published by the Global Journal of Human Resource Management. 2(4): PP 71 -94

2.Asare-Bediako, K. (2008). Professional Skills in Human Resource Management 2nd ed. Asare-Bediako 7 Associate Limited, 277 Windy Hills.

3.Burhan Mohmoud Award Alomari (2017). The importance of training and its impact on the performance of the employee in the Banking sector of Abu Dhabi, Dubai. Journal of Accounting and Marketing. 6(2): ISSN: 2168 -9601.

4.Esther Zionia. A and Sathyapriya. J (2018). Intrapreneurship as an innovative strategy for talent retention in the private banking sector, Thanjavur.International Journal of Advance and Innovative Research. Vol5 (1): PP 51 -53.

5.Heathfield, S. M. (2012). Training: Your investment on people development and retention. About.com Guide.

6.Human Resource [on-line] Assessed on January 20, 2012 from the World Wide Web. http://humanresources.about.com/od/educationgeneral/a/training_invest.htm

7.Ivancevich, J. M. (2010). Human Resource Management 8th ed. Boston: Irwin McGraw-Hill

8.Jadhav, Ajit (2013),"A Study on Training and Development in Indian Banks", ABHINAV National Monthly. Refereed Journal of Research in Commerce & Management. Vol.1, No.1, pp34-39.

9.Mullins, J. Laurie. (2007). Management and organizational Behavior 8th ed. Prentice Hall. Pearson Education,Edinburg Gate.

10.Nagar Vaishali (2009). "Measuring Training Effectiveness".The Indian Journal of Commerce. Vol.62, No.4, pp.86-90.

11.Pfeffer, J. (1994). Competitive advantage through people. Boston, MA. Harvard Business School Press.

12.Prasadini N. Gamage and Lionel Imbulana (2019). Training and development and performance. International Journal of Marketing, Financial Services &Management Research, 2(9):12 - 24.

13.Purohit Manisha (2012). "An Evaluation of HRD Practices Followed in Co-operative Banks in Pune Region".ACADEMICIA: An International Multidisciplinary Research Journal. Volume 2, Issue 8, pp 186-195.

14.Rida Athar and Faiza Maqbool Shah (2020). Impact of training on employee performance. IOSR Journal of Business and Management. 17(11): PP 58 -67.

15.Ramakrishna G., Kamleshwari, Kumar, M. Girdhar, Krishnudu CH. (2012). "Effectiveness of Training and• Development Programmes- A Case Study of Canara Bank Employees in Kurnool District".International Journal of Multidisciplinary Research. Vol.2 No 4. Pp 150-162.

16.Shouvik, Sanayal and Mohammed Wamique Hisam (2018). Impact of training and development on the performance of employees. Published by International journal of scientific research and management (IJSRM). 6(3):191 -198.

17.Srimannarayana, M. (2011). "Measuring Training and Development".The Indian Journal of Industrial Relations. Vol.47, No.1, pp. 117-125.

18.SthapitArhan (2012). "Strategic factors in evaluation of Induction Training Effectiveness an exploratory study of Nepali bank managers".EXCEL International Journal of Multidisciplinary Management Studies. Vol.2. Issue 8, pp.16-32.

Web sites – https://www.ncertbooks.guru/list-of-all-public-and-private-sector-banks-in-india/

Prospects Of Ethnic Tourism In Namphake Village, Dibrugarh District, Assam

-Dr. Beejata Das
Assistant Professor,
Department of Geography,
S.P.P. College, Namti, Sivasagar

Abstract: North-East India is often referred to as the epitome of India as the people of the region are the descendents of different ethno- linguistic groups. The "Tai- Phake" tribe is one such group who were believed to be an offshoot of the great Tai race, which entered Assam in the latter half of the 18th century, now inhabiting in Dibrugarh and Tinsukia districts of the state. Namphake village situated few kilometers from the town of Naharkatiya in Dibrugarh district of Assam has got the highest concentration of Tai- Phake. This village has much potential for Ethnic tourism where exotic culture is the main attraction and moreover this tourism is the outcome of the curiosity of people to see and experience a lifestyle, a community or any ethnic resources that stands apart from their own. The Tai- Phake people of the village have always been able to maintain its ethnicity with respect to marriage, dress, family, religion which has been possible due to their efforts to preserve their culture. Hence, this study will focus on the socio- economic characteristics of the Tai-Phake people in Namphake village as it has a strong influence on tourism development and will explore the potential for Ethnic tourism development in the village.

Key words: ethno- linguistic, Tai-Phake, culture, tourism, resources.

INTRODUCTION:

Ethnic tourism is a new form of tourism which is the outcome of the curiosity of people to see and experience a lifestyle, a community or any ethnic resources that stands apart from their own. In a way it is a travel motivated to experience a different and exotic culture. When we say ethnic resources, it can mean the cultural expressions of a particular ethnic community or even the outcome of some traditional practices of the same. In ethnic tourism, exotic culture is the main attraction and the most vulnerable resource, which requires a specific cultural consideration in the planning process. If planned properly, ethnic tourism has a great potentiality of giving a dimension to the conservation and preservation of cultural and traditional expressions of a community by making the showcase of ethnic resources economically viable for the local people. Namphake village a place rich in natural attractions and cultural attractions in Assam offers an immense scope of development .

Study area: The Tai- Phake people also known as 'Phakials' form a small group of population of Tai origin who entered Assam in the later part of the 18th century. The Phakes believed that they are the descendents of Tai Royal officials. The word Phake is a combination of two words- 'pha' means wall and 'ke' means an old antiquity. The Phakes are divided into two groups- Borphakial and Namphakial. The Namphakials established the Namphake village on the bank of the river Burhidihing in 1850 AD. It is located between 27°16′ to27°17′ North latitude and 95°21′ to 95°22′ East longitude. Consisting of about 60 households this is the biggest Phake village which is situated at a distance of 3 kms. from Naharkatia town towards south- east direction. The northern side of the village is bordered by the Burhidihing river. On the southern side is the Baghmara village whereas on the eastern side is the Nogtow village and part of Faltutola village. In the western side is the Dihing Kinar Bangali gaon. The colourful Namphake people and its unique sustainable way of lifestyle intricate with nature, makes it a living cultural landscape. This village has been able to attract a considerable number of tourists not only from within the country but also outside the country.

OBJECTIVES:

The study aims-

1.To highlight the socio-economic factors of the local community in the study area and

2. To explore the potential for Ethnic tourism development in the village.

DATA BASE AND METHODOLOGY:

Primary data have been collected from field work by using data collection tools like questionnaires, interviews, etc. The primary data are supplemented by secondary data collected from Statistical Handbook, Magazines, Journals and Internet.

Socio-Economic factors of the Local Community in Namphake village

The socio-economic factors of the local community of a tourist destination have a strong influence on tourism development. The total area of Namphake village is 187.05 hectares and the total households are about 150.

Table 1.1: Population Statistics of Namphake village

Category		Total	Male	Female
Population		732	376	356
Population in the age- group 0-6		84	45	39
Population in the age- group above 6		724	331	317
Literacy		566	305	261
Occupation	a. Cultivators	79	73	6
	b. Agricultural Labourers	74	61	13
	c. Household Industry workers	4	1	3
	d. Other workers	72	54	18
	e. Non- workers	503	187	316

Source: Dibrugarh District- Census of India, 2011.

Source: Dibrugarh District- Census of India, 2011.

The biggest threat the Tai Phakes are currently having is the existence threat. From the field study it is revealed that the local people have agreed that tourism can help in preserving and promoting their tradition and cultural heritage. They have also agreed that tourism is a way of cultural exchange and a medium of learning new things.

Ethnic Tourism Resources in Namphake village

The tourism resources of the Namphake village are divided into three categories: cultural attractions, traditional practices and natural attractions.

CULTURAL ATTRACTIONS

Cultural heritage or attraction means the distinct expressions uniting a community through the practice of livelihood activities, artifacts, performances of dance and music, food habits, rituals and religious beliefs as well as the traditional knowledge and skills. The current conditions and cultural identity of the Tai-Phake people of Namphake village are presented in Table 1.2. The Tai- Phake people has a distinctive cultural identity of its own, such as the traditional rituals and beliefs, fairs and festivals, dance and music, history and language, which could be promoted as tourism resources.

Table 1.2: Cultural identity of the Tai- Phake in Namphake Village

Sl. No.	Tourism resources	Current conditions	Unique style
1	Language	Tai- Phakelanguage	Tai- Phakescript
2	Religion	Buddhism	Every male member of Tai Phak family become a monk one day
3	Tradition	Oral Tradition	Reflected in performance of weeklongfestivals
4	Houses	Chaang Ghar	Built on piles of wood above the ground locally known asHounn Hang
5	Society	Patriarchal Society	In case of a spinster, the daughte is also given a share of the property
6	Marriage	Monogamous although polygamy is not forbidden	They do not keep any matrimon relations with people of other castes or tribes
7	Death	Cremated after death	Disposal process is different for monks than the common people
8	Costume	Colorful dress which are different from other tribes	Colours of their dresses are expressive of their ages
9	Fairs and Festivals	Poi Sang Ken or PaniBihu, [illegible] Chum, etc.	Festivals are surrounded around Buddhism and involves monaste for performing rituals of the festival
10	Economy	80 percent of the people are involved in agriculture and tl rest in secondary and tertiary activities	The Phakial people believe on natural fertility of their field. Every house has their own little field

Source: Primary Survey

 ISSN-2321-1504 Nagfani No. UTTHIN/20210/34408

Language: The Phakes speak Tai Phake language among themselves and Assamese with outsiders. There are 17 consonants and 10 vowels in Tai Phake language.

Religion: The Tai Phakes follow Theravada sect of Buddhism with some old animistic beliefs. They strictly follow all regulations of their religion.

Tradition: The Tai Phakes follow oral tradition which is reflected in performance of weeklong festivals.

Houses: Traditional houses of the Tai Phakes are known as Chaang Ghar. Indigeneous materials such as takau leaves, timber and bamboos are used in the construction of their houses. There are two hearths in each house and the inside one is considered as sacred. The houses are generally faced North or South and situated in such a way that each house is in vicinity with the Burhidihing river. Every house has a living room (kan nak), a prayer room (khak tang chom) and a kitchen (hown aom). During the 18th century, the living room and kitchen were same but in the 19th century they were separated. Though there are modern gadgets inside the house but the Phakes while building their house keep their traditional design and structure intact. In order to save themselves from wild animals and other dangers they built the house on piles of wood above the ground. The vacant space under the house is used for weaving.

Society: The interesting feature of Tai-Phake society is that in spite of living in nuclear families, these people have preserved their culture. Patriarchal family system is followed in the society where the son inherits his father's property. If there is a spinster in the family, then the daughter is also given a share of the property. Married girls are not given a share of the father's property. As soon as the son gets married, he shifts to another house to set up his own household. The average family size is about 5 to 6 members.

Marriage: In order preserve their ethnicity the Tai-Phakes usually marry within the community but inter-caste marriage is not prohibited. They do not keep any matrimonial relations with people of other castes or tribes. Moreover, they are monogamous although polygamy is not forbidden. Another salient feature of the Tai Phakes is that cross- cousin and widow marriage take place among them.

Death: As far as the last rites of the dead are concerned, the Tai-Phakes have their own beliefs such as:

a. The dead is either buried or cremated depending on the nature of the death. In case of accidental deaths, the dead body is not allowed to be brought inside the village. The body is buried outside the village premises and all funeral rites are also performed outside the village rituals.

b. The disposal of the dead body of a Tai Phake villager and of a monk is different. For the villagers, after dead body is cremated a ceremony for purification is carried out after a week where a feast is arranged for all the villagers and gifts are given to the monks. Whereas, in case of monks, the dead body is kept in a water tight coffin for a year and after a year a big ceremony is arranged where all the villagers are invited.

Costume: The Tai Phake people have a unique clothing style which is woven by the womenfolk. The colour plays an important role among the people as the colour of the dress varies according to the age of the women such as:

a. Younger girls wear clothes with lighter tone.

b. The colour becomes darker as the age progresses.

c. Marital status of women is also depicted through her dress.

d. There are special clothes for the monks which must be yellow in colour.

Fairs & Festivals: The Tai Phakes celebrate a number of festivals which move around Buddhism and involved monastery for performing rituals of the festival.

Poi- sang- ken: Held from 13th to 15th of April every year this is their main festival. The duration of this festival is 52 hours. During this festival, the villagers wash the idol of the Buddha and play with water.

Kham- sang: There is a tradition in every Tai Phake family where every male member of the family decides to be a monk at least for a day or for any duration (which is left to the boy's and his family member's discretion). Kham Sang is the festival for this tradition. In this festival, all the monks along with the new monks who are treated as a king for a day carry a procession in which people give donations to them. He is been served with several special dishes prepared by the villagers.

Poi- mai- ko- sung- phai: This festival is celebrated during the full moon day in the month of February as it was on this day when Lord Buddha told his disciples the date on which he is going to leave the world. On this day the young boys create a long structure of bamboo and hay known as 'mejis' on the river bank and fire is set on the evening and everyone eats together in the form of picnic where they sing their traditional songs and dance on them.

Pet- moun- si- heing: This festival is celebrated once in 2-3 years where thousands of small stupas of Buddha are created on the bank of river Burhidihing. The preparation starts few days before the actual festival. All the members of family contribute in making these stupas.

Poy- pa- te- saa: It is the donating festival of the Tai Phakes where they donate the things that they possess. Finally, all the donations are offered to the monastery by the villagers.

Poi- akwa: This is a festival where the Buddhist monks gather in a particular place and pray to forgive them for their sins.

Buddha Purnima: This festival is celebrated on full moon day.

Economy: The age old economy is maintained. The Tai Phakes are an agricultural society. Rice is the staple food. Both men and women equally work in the fields. Mustard, potatoes, etc. are grown as cash crops which contribute largely to boost their economy.

Cuisine: The cuisine of the Tai Phake is very rich. Rice is their staple food. Along with rice they eat vegetables, fish and meat. The speciality in their cuisine is that they eat steamed, boiled and grilled food. Consumption of liquor is prohibited. Their ethnic cuisine consists of:

a. Khau tai: The women folk steams cook the rice in the morning and store them by making small portions in banana or tara or kau leaves. This sticky item of rice is called khau tai.

b. Paa Sa: It is a favourite and traditional fish soup of the Tai Phakes which is prepared in special occassions.

c. Pai Soo: It is a fish curry made on occasions like wedding or naming ceremony of a child.

d. Na Mu Ping: It is roasted pork which is marinated with local herb paste and salt.

e. Na Mu Phan: It is a salad prepared by boiled pork.

f. Banana Flower Soup: This broth is made with boiled banana flowers and some seasonings.

Administrative system: The administrative system of the Tai Phakes is essentially simple and democratic. Any disputes among the villagers are settled by the monks. The Phakes possess a written code called Thamchat which is based on ethical principles. This code is referred to by the elderly of the village while deciding a local case.

TRADITIONAL PRACTICES

Namphake village is a destination which is very rich not only in its cultural forms but also for the ecological traditional knowledge of its people. Hence, development of sustainable tourism is of utmost importance so as to retain the cultural and environmental values of the valley which can become the example of best practices in the same line.

Traditional knowledge of medicinal plants

The Phakials have been utilizing many of the plant resources for the cure of a large number of diseases for ages. In time, this knowledge was transformed into a belief system and a folklore relating to the medicinal remedies of certain diseases that have traditionally been cured with herbal materials. The Phakials resort to a number of herbal treatments, the medicines for which are collected from the environment. They depend upon the adjoining forests as well as their kitchen gardens for collecting these herbal medicines. Some indigenous ways of treatment using herbs as medicine for a few diseases are given below:

Table 1.3 Medicinal Herbs of the Tai Phakes

Name of the plant	**Used to cure**
Elephant Apple (Outenga)	Cold fever
Black pepper, black tulsi leaves, titakosi	Cough
Mulberry plants, malce, camphor	Jaundice
Mustard oil	To massage belly during gastric pain
Laajkosi	Gastric

Source: Roy, I & Ghone, P. A Visual Ethnography on Tai- Phake Tribe in Namphake Village

Name game

The name to the new member of a family is given on a ceremony called 'au lowng nu naai' where close relatives, old women are invited. The name is decided by the parents of the child. The name of the Tai Phakes is a combination of three words such as:

a. Prefex name: The first word is the prefexed name which is according to the birth order of the child. It is also takes into account the gender of the child. The prefex for male and female child are as follows:

Male		Female	
First	Ai	First	Ye
Second	Ngi	Second	Ee
Third	Saam	Third	Aam
Fourth	Sai	Fourth	Ay
Fifth	Ngow	Fifth	Ok
Sixth	Nuk	Sixth	Eit
Seventh	Nak	Seventh	Aat

Source: Roy, I & Ghone, P. A Visual Ethnography on Tai-Phake Tribe in Namphake Village

b. Actual name: The second word is the actual name of the child. This is the name by which the child is referred in society.

c. Surname: The last name is the surname or the family name.

Tradition of becoming a monk

In every Tai Phake family, there is a tradition in which every male member of the family decides to be a monk. A festival called Kham Sang is celebrated for this tradition. The boy becomes a monk at least for a day. He can continue to stay monk for any duration after that. It is left to the boy's and his family member's discretion. This festival shows why Tai Phakes are so deeply connected to the monastery and monks.

Handicraft and Traditional weaving

Tai Phakes are known for their richness in handicrafts. The utensils and tools they use in their daily life are locally made by them using either bamboo or wood.

One of the interesting feature of the Phakial people is the traditional method of weaving with hemp and cotton. The handloom is mostly on the platform of chaang ghar or below it. A major part of the women folk is spent on weaving. All the equipment needed is made from locally available bamboo and wood. Traditional household weaving fulfils the requirements of each household and supports domestic economy. Womenfolk rear silkworm cocoons and then reel and spin the silk into traditional yarns. These are then woven in handlooms of a traditional nature by the back-strap method by which simple hand- carved sticks are used. The Phakial people prepare the colourful dies by themselves. These dies are made using various roots, barks, stems and leaves of trees which are grown in their own gardens. They weave in a dry weather and in the paths of their houses.

Calendar

Tai Phakes follow their own Tai calender. The Tai-Phake calendar starts with a new year from the first day of the Poi Sang Ken festival. The speciality in this calendar in their calender is that they have eight working days and after that there are two holidays on which the phakial people take rest and do the household things.

Ornaments

The ornaments wore by the Tai Phakes are an example of Traditional Tai Phake culture. These ornaments are made of gold, silver and bronze. The married women wear a pair of bangles called beyan made of either gold or silver. Necklace made of small beads is worn by small children in order to avoid dangers from evil spirits. Bead armlets are used by some elderly people for similar purpose.

Manuscripts

The main force behind the intact culture of the Tai Phakes is the old historical manuscripts which are written in Tai language. The two important manuscripts are called 'lik chum khe men' and 'lik chum khe khum'. These manuscripts are about creation of living beings, Principles of Buddha, Jataka tales, codes of monks, Mahabharata, novels, history, folktales, Herbal medicines, etc.

Music & Dance

The traditional songs of Tai Phakes are very melodious and these songs praise the beauty of nature. Most of the songs are folk

songs. A song called 'ballad' is sung when a person dies by his/ her relatives. In festivals the Tai Phake people play their traditional musical instruments. The drum is called as 'Kong' which is used a lot for rhythm. Also, 'Mong' which is a cymbal, 'Yam lowng' which is a bigger cymbal and 'Toro' which is harp are used. Tai Phakes tradition has beautiful dance forms. They dance during their festivals and other get together. The names of few dance forms are:

a. Kaa pan: This dance form is performed to welcome distinguished visitors.

b. Kaa chong: The womenfolk use colourful umbrellas while tapping to this dance form.

c. Kaa kong: Here the dance is accompanied with rhythmic drum beats.

NATURAL ATTRACTIONS

Burhidihing River: The river Burhidihing flows along this village. It is a nature lover's delight to capture a spectacular view of the river. It is an ideal picnic as well as tourist spot.

Buddhist Monastery: The Tai Phake people are the followers of Buddhism. The monastery holds an important place in the heart of the people. Established in 1850 it plays the role of a mentor and helps in preserving the culture of the Tai- Phake people. It is not only a place of worship but also a plays a very important role in the socio- religious activity of the people. The monastery also acts as a meditation centre due to its unique natural settings and serene atmosphere. The Monastery is situated right in the middle of the settlement. The monastery's main temple houses a majestic six feet tall golden statue of Lord Buddha in sitting position and another statue of Lord Buddha in a resting position. The Head priest is called 'vante' followed by junior and senior monks. The day of every Tai Phake family starts with the offering made to monastery in traditional baskets. In the evening young girls carrying bookey of flowers come to the monastery to offer their prayers which is a typical example showing the younger generations connected to their roots. On the full moon day of the month, the Phakials observed Aasthashila when the elderly people come to the monastery in the evening to offer prayers. The rituals consisted of all the people gathered in the monastery to take their oaths to follow the eight paths of knowledge strictly.

Musulinda Tank: There is a water tank inside the monastery named as the Musulinda Tank which is considered to be very holy. This tank has a statue of meditating Lord Buddha at its centre protected by a snake with its hood.

Buddhist Pagoda: It is a pyramidal tower with an upward carving roof.

Ashoka Pillar: A symbolic Ashoka Pillar stands tall amidst all other monuments nearby. Near the pillar there is a stilt house called Chaitya- Griha which is a double entrance hall for religious offerings.

CONCLUSION

This study gives an insight into the type of tourism resources (cultural attractions, traditional practices and the natural attractions) available in the study area. The Tai- Phake people have always been able to maintain its ethnicity with respect to marriage, dress, family, religion which has been possible due to their efforts to preserve their culture and this has attracted tourists from all over the world. The traditional practices of the Phake tribe can give the tourists an enriching experience of nature conservation too.

REFERENCES

Bura Gohain, P. 2016. Social Framework of Ecology: Representation of Nature in Folk Tradition and Culture of the tribes in Namphake Village. IOSR Journal of Humanities and Social Science Vol. 21(8).

Kakoti, P. 2013. Preserving Ethnicity- A Study of the Tai-Phake community of Namphake village, Dibrugarh District. IOSR Journal of Humanities and Social Science Vol.6(3).

Roy, I & Ghone, P. 2016. A Visual Ethnography on Tai- Phake Tribe in Namphake Village, Assam, Industrial Design Centre, IIT, Bombay.

https://en.m.wikipedia.org.

taikhamtinamsai. Blogspot.com.

Manjhi: The Mountain Man: A Biopic of Dalit Agency

-

- Jai Shri Jain
Research Scholar
Dept. of English & Foreign Languages,
M D University, Rohtak
Mo. 9416211651

Abstract:

The present research paper is an attempt to explore the unfathomable range and profundity of human potential that rises above a man's social status of being a Dalit and provides him the agency of converting the impossible into possible and the unthinkable into thinkable. In the story of Dashrath Manjhi, deprived of all socio-economic resources of a meaningful survival and faced with frequent pangs of pain because of caste discrimination, the analysis further seeks to relate the inconceivably strong determination of this Dalit protagonist to the idea that if this man had all favorable socio-economic conditions by his side, what more wonders he might have had to his credit.

Key Words:

Dalit; Agency; Caste discrimination; Determination; Socio-economic conditions

Introduction:

Ever since its inception, Hindi cinema has moved ahead on a momentous journey of continuous accomplishments and has succeeded in creating a nuanced history that seems to have encompassed almost all thematic diversities, the human mind could possibly think of and explore. Negotiating with all established genres, cinema has made full use of biopics also to enhance its range of stories and themes for making movies. The biopic is a versatile genre of cinema as it can encapsulate an entire life into a cinematic span of a maximum of three hours. Generally, while thinking of making a biopic, the first idea that strikes is the name of someone either of historical eminence or some celebrity from the field of sports, politics, film industry etc. as their lives are thought to be of real significance to be portrayed on big screen to be seen by millions of people and get inspired. Of late, the novel trend of making a movie on the life of comparatively lesser-known real-life characters has come in vogue that brings to the masses some unsung stories no less inspiring than the life of known celebrities. Manjhi: The Mountain Man (2015), directed by Ketan Mehta is one such real-life story of Dashrath Manjhi (1934-2007), also popularly known as the 'Mountain Man' who came from a Dalit family belonging to the lowest strata of society and created his own story worth catching the attention of the reputed filmmaker, Ketan Mehta to make a movie on his life. A biopic on the life of a Dalit is quite an encouraging step taken by Hindi cinema as making movies on caste issues has relatively been a lesser priority of filmmakers. Moreover, the caste-based movies have generally been the stories of a stereotypical portrayal of Dalits as oppressed and subjugated people not having much agency to make their life choices. Manjhi: The Mountain Man seems no different because the Dalits in the village, Gehlore, to which Dashrath Manjhi belonged, were bound to live a similar life of atrocious marginalization. In such an oppressive scenario of subservience and subjugation, Dashrath Manjhi could not defeat his life situations much and like his father and other Dalits of his village lived a life of socio-economic deprivation. Nevertheless, what differentiated him from others of his caste was his perseverance, strong willpower and unyielding temperament that made him a real iconic Dalit hero notwithstanding his shabby clothes, unkempt beard and poverty-stricken face. The stereotypical Dalit image of Dashrath Manjhi concealed in his outward appearance the mountain-like

adamance and the unwavering determination that has become an inspiring story of a role model not only for Dalits but for the entire humanity.

Objectives:

Through a detailed analysis of the movie Manjhi: The Mountain Man, the present research paper attempts to explore the inscrutable range and depth of human potential that enables a man to rise above his subaltern status of being a Dalit and provides him the agency of converting the impossible into possible and the unthinkable into thinkable. Dashrath Manjhi had to bear the pain of caste discrimination and socio-economic deprivation but by defeating all unfavorable circumstances of his life, he attained a legendary status for himself. By investigating his life, the analysis further seeks to relate the inconceivably strong determination of this Dalit protagonist to the idea that if this man had all favorable socio-economic conditions by his side, what more precedents of heroic achievements he might have given to the world.

Hailing from a very poor Dalit family, Dashrath Manjhi had grown in Gehlore, a backward village in Bihar, where, faced by the severest form of caste discrimination, survival was an everyday challenge for the Dalit families of the village. Married to Phaguniya, he loved his wife passionately and was living a life of marital bliss as Phaguniya reciprocated his love with the same intensity of passion. They were blessed with a son and were expecting a new arrival in their family when life took an unexpected turn. They were struggling against the usual hardships of life and to provide his family with a good life, Dashrath Manjhi had started working as an agricultural laborer and Phaguniya, even in her advanced stage of pregnancy, used to bring him food for which she had to climb a mountain. One day, she slipped down the mountain and died after giving birth to a girl. Her life could not be saved as the nearest hospital was quite far off and the mountain blocked the way to reach the hospital early. Inconsolable in his grief over the sudden demise of his loving wife, Dashrath Manjhi challenged both himself and the mountain that he considered was responsible for the death of his wife. A day after the most tragic incident of his life, he decided to cut a path through the mountain single-handedly using only a hammer, chisel and his unshakable willpower as his tools to undertake the uphill task. Whoever heard of his decision called him mad as nobody could believe that the mountain could be cut by mere use of hammer but almost unbelievably, Dashrath Manjhi belied them all and achieved the impossible. Although it took him a long period of twenty-two years, but he ultimately succeeded in making a way through the mountain and connecting his backward village, Gehlore to the nearest town of Wazirgunj which was at a distance of four miles but compelled the villagers to go through a forty miles journey to reach there because of the mountain in between.

The inconceivable accomplishment of Dashrath Manjhi fails all verbal expressions of applause. The movie Manjhi: The Mountain Man is a sincere tribute to a Dalit hero who had no resources for completing the herculean task to which he had committed himself, inspired by an impassioned determination that no other villager should lose his life the way his own wife lost hers. The movie dramatizes the fervor of his love for his wife and counterbalances it with the altruistic mission of his life that he had set for himself as homage to his wife.

After 22 years of working relentlessly from 1960 to 1982, he made the impossible possible. He had single handedly constructed a path, 360 feet long, 30 feet wide, and 25 feet high. This path decreased the distance of 55 km between Atri and Wazirgunj to 15 km. Coming out of its apathy in 2011, the government of Bihar named the road as 'Dashrath Manjhi Path'. Dashrath Manjhi's single minded dedication and passion earned him the name, "The Mountain Man of India" (Saha).

Within the main edifice of these two points, the movie portrays the horrible circumstances of life the lower caste people

of the village had to endure. A film critic opines that "along the way, …[various incidents in the movie] dwell on the vagaries of the caste system, corruption, political apathy and an independent India grappling with concepts of equality and freedom" (Jhunjhunwala).

While celebrating the miraculous feat of its hero, the movie severely criticizes the inhuman caste system which has accorded unjust authority to one group of people to dehumanize another set of people now invariably called as Dalits. The brutal process of dehumanization has led to their social, economic and political disempowerment that has further contributed to the enhancement of the complexities of their already intricate life. In the context of caste discrimination, Raj Kumar observes:

It is due to this irrepressible caste system that the untouchables of India, numbering more than 220 million, known today as Dalits, have been systematically neglected and ostracised in Indian society for ages. Variously known as ati-shudras, chandalas, panchamas, antyajas, depressed classes, harijans and the Scheduled Castes in different periods in human history, the Dalits still suffer the stigma of untouchability even after caste discrimination has been declared an offence under the law. They are socially frail, economically needy and politically powerless. And despite various constitutional provisions of protective discrimination policies, they continue to be so. Even though a small section of them have attained an economically and professionally strengthened position, under government patronage, socially they remain downgraded and unaccepted. (115)

The atrocious impact of the caste system is clearly visible in the lives of the people of Gehlore village. Dashrath Manjhi was compelled to flee away from his village at a very young age because pressed by the urgency to repay his loan, his father Magru Manjhi had decided to sell his son, Dashrath, as a bonded laborer to the village-head, Nirbhay Singh from whom the loan was taken. Magru himself was already a bonded laborer and now he had no option but to force his son into the same miserable situation as the cruel Nirbhay Singh had threatened him to either pay the loan or be prepared to face the tortuous punishment. The helplessness of the poor Dalits in front of the exploitative caste system is depicted through various incidents in the movie. Nirbhay Singh hands over a sharp stick to his son, Ruab to mercilessly beat Magru as punishment for not paying his loan and for having liquor in the marriage of his son. The normal, casual and insensitive manner in which the stick is handed over by Nirbhay Singh to his adolescent son and the same manner in which it is received by the son make it clear how the cruel legacy of the hegemonic right to exploit lower caste people is being handed over to the younger generation of upper caste people. The highly subservient demeanor of Magru also is indicative of the acute internalization of the syndrome of their lowliness by the Dalits. Just before the visit of the legislator and a journalist, the same attitude is shown in the case of another Dalit of the village who pathetically seeks forgiveness as he is being questioned about his audacity of wearing a pair of shoes forgetting that Dalits are prohibited to do so. In one of the most brutal scenes of the movie, Nirbhay Singh orders his men to inflict upon this Dalit the cruelest form of atrocity as a lesson so that he never forgets that he is a Dalit and the code of conduct that he is supposed to follow. The haunting cries of this Dalit character of the movie are proof of the level of animalization of the people of upper caste and the level of dehumanization of the people of lower caste.

Dashrath Manjhi returns to his village seven years after his escape from the cruel clutches of caste domination taking place in his village. After having worked in the coal mines of Dhanbad during all these years, he returns as a changed man only to find out that the situation in his village is still the same. Though the time of his return coincides with the legal abolition of untouchability and the celebration of the occasion by the villagers with loud slogans

of equality, the representatives of the hegemonic forces are in great disquiet over the legal measures being taken to bring equality only to derive some solace from the idea of using the disguised dichotomy between the theoretical and practical implementation of the law. Impressed by the changed appearance of Dashrath Manjhi, the village head treats him with respect and keeps his hand on his shoulder as a gesture of affinity, but the moment the identity of Dashrath Manjhi is revealed, the village head immediately resorts back to his domineering self by spitting on him and getting him badly thrashed by his men for his impertinence of having embraced his son. His angry words clearly show his rage and insecurity over the new law and die-hard resolve to contain the audacity of Dashrath Manjhi or other Dalits like him:

You son of a worm,
Can a frog become a horse
by wearing a horseshoe?
Government loosens the grip….
so will you piss on my head?
Give him such a thrashing that…
…he never ever…
…forgets his caste!
Eyes down…eyes
down. (Scripts)

By incorporating in the movie such scenes of enforced social exclusion on Dalits, penalizing them for indulgence in any elite standard of behavior or for raising even the slightest voice of protest, the filmmaker has tried his utmost to highlight how the use of highly abusive and filthy language and all merciless means of domination serve as strategies to keep Dalits in perpetual fear, subordination and subjugation. The movie includes another harrowing scene of such callous insensitivity of dominant caste when Bhura, one of the childhood friends of Dashrath Manjhi, falls in the burning pit of the kiln and is burnt alive to the utter dismay of all of his clan around. As the Dalit laborers gathered around talk of throwing water to extinguish the fire, they are ruthlessly threatened by the son of the village head to stay away from putting water and think of saving the dying Bhura as he says:

Hey idiot, you want
to put off the fire?
If the bricks get wet,
I will throw everyone in.
Get back away… (Scripts)

A scene like this can leave anybody aghast and marveling at the extent of human insensitivity and apathy in a situation like this where one human being is going through the most intense agony of getting burnt alive in front of another fellow human being who is more concerned about the material loss of his bricks than the loss of a human life and that too in such a horrible manner. Moreover, one cannot remain oblivious to the fact that such gut-wrenching scenes are not mere figments of imagination but are disconcerting parts of real happenings in the life of Dalits and poor laborers.

The movie also draws attention to the highly ironical and hypocritical fact that on the one hand, the upper caste people adhere to the practice of untouchability and on the other hand do not refrain from sexual abuse of Dalit women. The reality of the commonly prevalent practice of violation of the dignity of Dalit women is also given space in the movie with a serious intent to encapsulate the whole range of barbarities suffered by Dalits and hold a mirror to society to make them see if they are also a party in this hideous crime of cruelty. Jhumru, another childhood friend of Dashrath Manjhi, becomes a rebel for seeking vengeance after his

wife Lauki is kidnapped by Ruab, the ruthless son of the village head and his men only to be found dead in a pool the next morning.

Amidst all kinds of arduous caste-based circumstances which Dashrath Manjhi profusely encountered in day-to-day life in his village and deep wounds of grief at the loss of his loved ones, the life of Dashrath Manjhi was still going on normally with his loving wife, Phaguniya by his side as his strength. The sudden death of Phaguniya was a life-turning moment of inexpressible grief for Dashrath Manjhi as he turned his grief into a resolution that the people of his village called madness. His impassioned resolve of carving a path through the mountain to Wazirgunj so that nobody dies the way his wife died indeed seemed incredible as who could ever believe in the possibility of a man doing this alone with only a hammer and a chisel. But, Dashrath Manjhi, a Dalit belonging to the lowest of the low caste category of rat catchers, living in a backward village of Bihar, could prove everybody wrong by devoting twenty-two years of his youth to incessant hammering of the mountain and finally accomplishing the task that seemed insurmountable. If one tries to read between the lines, it becomes apparently clear what kind of life he would have led all these years. One can imagine a man busy with his work braving the scorching heat of the relentless sun, the harsh climatic severities of the rainy and winter season, hunger, thirst, frequent injuries to his body because of the broken splinters hitting him at times. The movie has portrayed a tough situation of the exodus of all the villagers because of the famine in the village but Dashrath Manjhi stays back with mountain-like adamance and manages to survive by eating leaves and drinking the dirtiest water available. Another scene records his willpower to survive in order to complete the task at hand when he is bitten by a snake at the toe and takes an immediate decision to chop off the bitten toe so that the poison does not spread to the rest of the body. The strong dedication to an altruistic cause, willpower and perseverance of Dashrath Manjhi made him rise above all limitations that his caste had imposed on him and took him to an iconic pedestal of an immortal hero, much higher than the level of those who dominated him and his people. His indomitable spirit proved the age-old adage true that 'where there is a will, there is a way'. He translates this maxim into his peculiar Bihari style when the journalist tells him that it is not easy to start his own newspaper. What he says is counted as one of the most popular dialogues of the movie, "Pahad tode se bhi mushkil hai kya?" ("Is it more difficult than breaking a mountain?") (Manjhi: The Mountain Man 1:01:58-59).

This legendary man came to be known as the "Mountain Man'' as he relentlessly persevered and finally succeeded in making a path by cutting the mountain as he had resolved, "jab tak todenge nahi, chodenge nahi" ("I will not rest till I break you") (Manjhi: The Mountain Man 13:27).

Jolting incidents like the false assurance of government help in his project, a brief stint in jail, and a nonproductive on-foot journey from Bihar to Delhi to meet the Prime Minister, as he did not have twenty rupees to purchase a train ticket, did not deter him from completing the self-assigned task of a mammoth scale.

Dashrath Manjhi, popularly known as the "Mountain Man" is a legend who proved that nothing is impossible to achieve. His life gives a moral lesson that even a small man, who has no money and no power, can have the willpower to set for him and accomplish as challenging a task as cutting a mighty mountain.

Manjhi's firm determination to carve the huge mountain gives out a strong message that every hurdle can be crossed if one has kept a firm eye on his goal. His 22 years of hard work became a success, as the road constructed by him is, now used by villagers. (OneIndia)

The movie which had started with a resolute challenge to the mountain with dialogues like:

"Bahut bada hai tu?'' ("So…You think you are too

big?"), "Bahut akad hai tora mein?" ("…Too proud?"),"Bahut jor hai?" ("Very powerful?"), "Arey bharam hai, bharam.", ("It's an illusion."), "Dekh, Dekh Kaise ukhadten hain akad teri!" ("Now watch! How I break your arrogance!"), "Tune humri zindagi ko kharab kiya hai… hum toreko cheer ke rakh denge." ("You ruined my whole life…I will slice you through!"). (Manjhi: The Mountain Man 2:35-58)

ends with a profound message of self-reliance coming through simple words of Dashrath Manjhi, "Hum to ee kahenge ki Bhagwan ke bharose mat baithe… kya pata Bhagwan humare bharose baitha ho…" ("I would say, don't depend too much on God…may be God depends on us…") (Manjhi: The Mountain Man 1:53:44- 1:54:01)

Conclusion:

The agency of Dashrath Manjhi, a Dalit, to change the conditions of his own life, as well as that of the entire village, can be summed up through his traits of unfathomable courage, die-hard determination, extreme self-reliance, indomitable spirit and unyielding perseverance. The fact that, an illiterate man born in a Dalit family, with the poorest means of sustenance, could think of such a daunting initiative and translate it into action, affirms faith in human capabilities in the midst of extreme kinds of hardships. If Manjhi could attain a legendary status for himself and become an icon for the coming generations in spite of the caste-related barriers, the human potential can reach far greater heights, if such discriminatory barriers are transcended. The challenge lies in recognizing caste barriers as irrational and inessential and working together to build conditions where all individuals can realize their full potential irrespective of caste, class, colour or gender discrimination. Manjhi's life and story gives a powerful message that individuals can create their own destiny if they refuse to surrender before the dominant forces that tend to subjugate them either in the name of fate or born superiority. This affirmation of human agency is bound to prove a source of inspiration for all those who have been oppressed and discriminated against for ages by the ruling upper caste and class structures to keep their power and hegemony intact. This undying belief in one's own agency can unleash tremendous potential at individual and collective level that can be harnessed to make this society more equitable and inclusive.

Works Cited

Jhunjhunwala, Udita. "Film Review: 'Manjhi The Mountain Man' is a powerful tale of human will." Scroll.in, 21 Aug. 2015, scroll.in/article/749826/film-review-manjhi-the-mountain-man-is-a- powerful-tale-of-human-will. Accessed 20 December 2021.

Kumar, Raj. Dalit Personal Narratives: Reading Caste, Nation and Identity. Orient Blackswan, 2010, p. 115.

Manjhi: The Mountain Man. Directed by Ketan Mehta, Viacom18, 2015.

OneIndia. "Dashrath Manjhi: The Mountain Man- The inspiring &untold story of an unsung hero." 6 July 2018. oneindia.com/feature/dashrath-manjhi-the-mountain-man-the-inspiring-untold-story-of-an-unsung-hero-1841887.html?story=1. Accessed 11 January 2022.

Saha, Dr. Moitreyee. Inspiring Stories Part-I Mountain Man of India- Dashrath Manjhi. vpmthane.org/web2/assets/files/Dr.-MOITREYEESAHA-INSPIRATIONPARTI.pdf. Accessed 8 December 2021.

Scripts. Manjhi: The Mountain Man. scripts.com/script.php?id=manjhi%3A_the_mountain_man_13322&p= 4. Accessed 20 January 2022.

Rights of Refugees and Humanitarian obligation of world at large

-

-Dinesh B. Kolte
Associate Professor,
M.P.Law College,
Aurangabad
Mob.9423160612

DECLARATION

I Dinesh B. Kolte do hereby declare that this research paper entitled, "Rights of Refugees and Humanitarian obligation of world at large "is my original work and

I hereby transfer my copyright to the publisher for the purpose of publication.

Rights of Refugees and Humanitarian obligation of world at large

Abstract

International humanitarian law, refugee law and human rights law are complementary bodies of law having a common goal, of protecting the lives, health and dignity of people. They form a complex set of connections of related protections, they recognize international law with respect to seeking asylum but states are not bound to give the same. In such circumstances people can be promptly permitted to safer countries, but without any promise of constant asylum. Thus 'temporary protection' is helpful for both governments as well as asylum seekers in unambiguous situation. Earlier human rights issues were considered outside the ambit of global discourse on refugees as humanitarian problem; because both were considered as distinct but with the advent of time the human rights law and humanitarian law with refugee law are now considered to be supplementary and complimentary to each other. It is vital for countries to safeguard human rights of the refugees and provide permanent and viable solution for the same. the Since refugee crisis is a global phenomenon concerning relationship between refugees and their relationship with host state as well as the one of its origin, there is necessity of law for recognising the legal status of refugees, protective mechanism for them as a collective responsibility of all states on humanitarian grounds. If the refugee crisis is handled with human rights perspective and legal basis is provided to them the issue will be resolved amicably.

The present research is descriptive in nature and analytical in approach. The co-relationship of humanitarian law, refugee law and human rights law is described. The approach of states providing asylum or protection to refugees and that of the state of their origin is analysed with the help of policies of certain states towards refugees and their problems Vis –a Vis international covenants relating to human rights and Refugee conventions. The rights of refugees and obligations of world at large are discussed. Further attempt is made to analyse 'Global Compact on Refugees' adopted in December 2018. Finally author's perspective on the above subject is presented with probable suggestions.

Aim: To analyse whether the world at large is rendering its obligation to protect rights of refugees from Human rights perspective.

Objectives

- To study the problems of refugees at global level
- To study the relationship between Humanitarian law, human rights law and Refugee law
- To critically evaluate 'Global Compact on Refugees'

Researchable Questions

Q1. What are the issues due to which States are denying permanent protection to refugees?

Q2. While denying permanent protection whether states are violating international norms relating to human rights and humanitarian law?

Q3. What will be the impact of 'Global Compact on Refugees'?

Methodology adopted

The present research is purely based upon doctrinal method. The descriptive research design is adopted. The concerned issues are analysed on the basis of International conventions, research

articles from reputed law journals, blogs and news reports with the help of web based services like E-books and news articles. The research will be significant for the purpose of future research and development. The sources of data collection are secondary and tertiary.

"At sea, a frightening number of refugees and migrants are dying each year. On land, people fleeing war are finding their way blocked by closed borders."

Filippo Grandi

Introduction

20th June is celebrated as world 'Refugee day'. Refugees, internationally displaced persons or asylum seekers are the people who owing to fear of genocide or violence or prosecution are forced to flee from the country of their origin to other countries for various reasons such as of race, religion, nationality, political opinion or membership in a particular social group.

Refugee law

At international level various conventions have been entered into between different countries for protection of refugees such as1951 Convention Relating to the Status of Refugees and 1967 Protocol Convention relating to the Status of Refugees & 1967 Protocol.

Humanitarian law

International humanitarian law is part of the body of international law that governs relations between states. It aims to protect persons who are not or are no longer taking part in hostilities, the sick and wounded, prisoners and civilians, and to define the rights and obligations of the parties to a conflict in the conduct of hostilities

International humanitarian law is also called as the laws of war or the law of armed conflict, provides the legal framework which is applicable to situations of armed conflict and occupation. As a set of rules and principles it aims, for humanitarian reasons, to limit the effects of armed conflict . The principal sources of international humanitarian law include; Geneva Conventions of 1949; the Additional Protocols thereto of 1977; treaties prohibiting or restricting the use of specific weapons, the Convention of 1980 on Certain Conventional Weapons and its protocols; the Convention of 1954 on the Protection of Cultural Property in the Event of War; instruments establishing international mechanisms for the enforcement of international humanitarian law such as Statute of the International Criminal Court 1998.

Human Rights law

Human rights laws have been defined by international conventions, by treaties, and by organizations, particularly the United Nations. These laws prohibit practices such as torture, slavery, summary execution without trial, and arbitrary detention or exile. There are several international documents which deal with the issue including the 1948 Universal Declaration of Human Rights, International covenant on civil and political rights 1966 and International covenant on socio=economic rights 1966.Human rights laws protect people from racial discrimination, from torture and from enforced disappearances. They also recognise the rights of specific groups of people, including women, children, and people with disability, indigenous peoples and migrant workers.

Some of these treaties are complemented by optional protocols that deal with specific issues or allow people to make complaints.

In the era of globalization and liberalization the so called modern world is becoming conservative in its approach towards mankind. The global society is indifferent towards refugees. In the liberalized economy the developed countries are hampering their resources for refugees coming from under developed countries. Two-thirds of all refugees worldwide come from just five countries: Syria, Afghanistan, South Sudan, Myanmar and Somalia . The policies adopted by U.S during Triumph's regime and that of other gulf countries are increasing the woes of refugees.

Co-relationship between Humanitarian Law, Human Rights and Refugee Law

International humanitarian law, refugee law and human rights law correspond to each other and have common goals, the protection of the lives, health and dignity of human beings. They form a complex network of complementary protections to refugees

under humanitarian law, human rights law and refugee law. However the application and scope of the three bodies of law differ slightly.

International humanitarian law is applicable during armed conflict, whereas human rights law is applicable all the time (peace as well as arms conflict).

International humanitarian law binds all states involved in armed conflicts as well as individuals but the Human rights law regulates relations between state and individuals.

International humanitarian law and the refugee law are relevant to each other and aims at refugee protection in several ways; both bodies of law aim to protect human life, prohibit torture or cruel treatment, prescribe basic rights for persons facing criminal proceedings and prohibit discrimination. Refugee law and international human rights law are closely intertwined; when there is fear of persecution or threat to life or safety s in the context of an armed conflict, refugee law also intersects with international humanitarian law .

The provisions of international humanitarian law apply to the exclusion of human rights with respect to deprivation of liberty to war prisoners till the end of hostilities and a right to challenge the deprivation of liberty cannot be inferred from human rights law. If the International humanitarian law is vague or silent on particular questions, than in that case it is appropriate to interpret the rules in question in the light of human rights law.

International humanitarian law offers refugees stuck in armed conflict, who themselves are not directly involved in hostilities two tier protection

- civilians refugees are entitled to protection from the effects of hostilities and
- grants refugees additional rights and protections in view of their situation as aliens in the territory of a party to a conflict and their consequent specific vulnerabilities

When people are compelled to flee from the states of their origin due to indiscriminate effect of hostilities accompanied by disorder, destruction of their homes and other means of survival amounts to violation of international humanitarian law in such circumstances regional refugee instruments are the only ray of hope. However the states which are not a party to the convention relating to refugees have developed administrative measures like 'temporary protection' for persons fleeing from armed conflict.

The principle of 'Non-refoulement' is the bedrock of refugee law and it is also a part of international humanitarian law and human rights law, as it prohibits torture and restricts transfer to a place where humans are at risk of being tortured or facing other forms of ill-treatment. While the specific outline of the principle may vary with minor difference under the three bodies of law, the spirit of the law remains same.

Rights of Refugees and states obligation towards refugees'

Refugees, internationally displaced persons or asylum seekers may be defined variedly under various covenants or conventions and their rights too may differ under various laws but one thing which is common to all of them is that they are humans and deserve to be treated as humans. States may provide or deny them protection on the basis of policy adopted by the concerned state but all the states are obliged for protection of refugees under international law on account of their membership of United Nations and signature or accession to International Refugee Instruments as well as International Human Rights Instruments. The legal basis for this international protection is significant to fundamental human rights found in the International Bill of Human Rights. Hence all states are obliged to protect the fundamental human rights of refugees under customary international law.

Article 12 of International Covenant on Civil and Political Rights gives right to freedom of movement, for refugees within their host country.

Article 23(1) of International Covenant on Civil and Political Rights, In respect of this right, a number of countries provide for the granting of derivative status to dependent relatives. Thus, where an individual is granted asylum, his or her dependent relatives will also receive protection through him or her.

Rights granted according to 1951 Refugee Convention

Article 13 provides same rights to moveable and immoveable

property as foreign nationals

Article 16 grants refugees equal access to the courts

Article 17 afford the same access to wage-earning employment as foreign nationals

Article 26 of the 1951 Convention provides that States shall afford refugees the right to choose their place of residence within the territory and to move freely within the State. Article 28 obliges States parties to issue refugees travel documents permitting them to travel outside the State "unless compelling reasons of national security or public order otherwise require."

Under the principle of non-refoulement a refugee shall not be expelled or returned in any manner whatsoever to the frontiers of territories where his life or freedom would be threatened on account of race, religion, nationality, membership of a particular social group or political opinion. It is the obligation of states both under customary international law and international instruments not to send them back. However, a refugee may be denied protection under this principle in case there are reasonable grounds that it will apprehend the national security. This situation will give rise to a question as to which one will be given due consideration? However it is argued that principle of non-refoulement is a customary international law binding on all sates irrespective of the fact whether state is party or non-state party to the 1951 Convention.

Problems faced by refugees

Henna Deol who has volunteered to work with refugee children of 21 countries as a personal mentor has highlighted the challenges children and young people face when they are required to escape their homes such as:

Mental health: half of the refugee children fleeing Syria have Post Traumatic Stress Disorder; and there is absolute shortage in mental health services, both in journey and in the destination country

Lack of Education: UNHCR estimates that only fifty percent of refugee children have a primary education as opposed to a global average of 90 percent .

Integration: millions of refugee children who find themselves isolated and alone in a new country

Internal Displacement: due to enormous cultural and linguistic disparities getting accustomed to new state of affairs becomes hard. While Staying inside a national border international help, which some refugees receive is limited .

There are more than 65 million refugees in the world, according to the United Nations. Fleeing war, famine, persecution, and natural disaster, some travel thousands of miles for safety and security .There are several other challenges too faced by refugees thereby infringing their basic human rights. Such as:

Legal protections: The "responsibility to protect" refugees, asylum seekers, and IDPs (Internationally displaced persons) is embodied in the principle that sovereign states are under obligation(Article 24 of the UN Charter) to protect their citizens against harm, but unfortunately when states are unable or unwilling to render their obligation the responsibility lies on international community .

Providing humanitarian aid: humanitarian assistance agencies are under dilemma with respect to providing protection and assistance under conditions of conflict; when UNHCR and NGO staff are themselves targeted by warring parties .

Handling combatants: People in refugee camps or self-settled refugee communities are considered as vulnerable civilians but many a times include combatants or war criminals and, under various international legal instruments, those who engage in armed activities are not to be accorded refugee status; than aid agencies face problems .

Mass flight: Another international policy issue becomes especially prominent when developed countries are faced with prospects of mass exodus from conflicts in nearby countries. Most countries do not subscribe to the expanded "refugee" definition and are reluctant to recognize as refugees those in mass flight from generalized conflict. Resulting in temporary protection schemes; paving alternative way to avoid granting more permanent asylum and refugee status .

State's approach towards refugees

The approach of states at global level is not uniform and often they

decline to adopt refugees wholeheartedly as their fellow beings. Many even have zero tolerance policy towards refugees citing vague reasons such as social or demographic values, ethnic imbalance or non-availability of enough resources.

The facts about refugees reveal that 68.5 million People were displaced at the entry of 2018; 40 million people are displaced within their own country, according to NRC's Internal Displacement Monitoring Centre (IDMC); 28.5 million people have fled their country and are refugees or asylum seekers, according to the UN Refugee Agency (UNHCR); In 2017, 3.6 million sought protection in another country, either by themselves or through resettlement programs. Turkey received close to 20 percent of all new refugees in 2017, Bangladesh 18 percent, Uganda 15 percent and Sudan 14 percent; 667,000 refugees returned to their home country last year. Most returned to Nigeria (283,000)

The European Union has perhaps the world's most complex system to prevent the entry of unwanted migrants by closing down legal routes, such as the ability to claim asylum at overseas embassies; by introducing penalties for transport companies that allow people to travel into the EU without the correct documents; and by signing treaties with its neighbors so they control migration on the EU's behalf. Even within the EU, an agreement called the Dublin regulation compels the asylum seekers to apply in whatever country they reach first.

The US Department of Justice (DOJ) has instituted a "zero tolerance" policy for illegal entries. It further seeks to prosecute 100% of illegal entrants and asylum-seekers who enter between ports-of-entry. The government has framed a policy to separate children from their parents at the border. Aggravating the matters, the federal Office of Refugee Resettlement has begun sharing information with Immigration and Customs Enforcement (ICE) on potential sponsors with whom the children in its custody might be placed; placement of the children with safe family members (including parents) will not be probable . The Donald Trump administration enacted immigration policies, affecting refugees and asylum seekers .

Gulf countries already preoccupied with migrant labour control and nationalization strategies; aimed at protecting the rights and privileges of their indigenous populations, who are outnumbered by the huge wrap of Arabic and South Asian populations coming to work and settle in the Arab Gulf. Due social and demographic issue, and the Gulf countries are reluctant to further outnumber their indigenous populations by accepting yet more settlers .

Turkey, Bangladesh and Uganda alone received over half of all new refugees in 2017 . Korea, a safe haven that welcomes the refugees, gives them automatic citizenship and helps them resettle, took months.

The underdeveloped or developing countries have economic constraints to accept refugees or provide protection to asylum seekers but still permit the entry in limited numbers according to availability of resources.

Critical Appraisal of 'Global Compact on Refugees'

The Global Compact on Refugees was called for by the New York Declaration for Refugees and Migrants, was adopted by 164 governments in Marrakech; in December 2018.An overwhelming number of majority States, 181, and voted in favor of adopting the compact. Approximately eighty five percent of refugees live in developing countries, according to UNHCR, where armed forces are already tensed. It objectives are as follows:

1. To ease the pressures on countries hosting large numbers of refugees;

2. To Build self-reliance of refugees;

3. To Expand access to third-country or refugees through resettlement and other pathways of admission;

4. To Support conditions which enable refugees to return to their countries of origin?

However there are some unaddressed challenges of the Refugee Compact such as there is lack of a global responsibility-sharing strategy and structure; and the protection of forced migrants who do not come within the definition of 'refugee' in the 1951 Refugee Convention is not addressed. The World Bank has established a precise financial mechanism for low-income countries affected

by compulsory displacement; two billion dollars for two years help will be provided to address the socio-economic impact of refugee inflow in country.

Conclusion and suggestions

From the above discussion it can be concluded that refugees or asylum seekers are human beings though different laws may be applicable to them based upon situation but one common law which protects their individuality that is human rights law which is helpful in all circumstances and when interrelated with humanitarian law or refugee law it becomes more powerful shield in protecting the rights of refugees. In present era the International responsibility-sharing for displaced people has utterly collapsed due to negative approach of developed states thereby putting burden on developing or underdeveloped states. To provide protection states positive actions are required mere obligations will not suffice. Global Compact on Refugees' provides a ray of hope to protect rights of refugees. Moreover a humanitarian approach is required to help the refugees secure their rights.

UN High Commissioner for Refugees

International Committee of the Red Cross (ICRC), War and International Humanitarian Law (29 October 2010)Accessed from Amanda Alexander, "A Short History of International Humanitarian Law" European Journal of International Law, Volume 26, Issue 1, February 2015, Pages 109–138 doi.org March 31, 2015

ijrcenter.org April 11, 2019 6:52 P.M IST

www.humanrightscommission.vic.gov.au April 13 2019 11:10A.M IST

www.unrefugees.org April 11 2019 6:49 P.M IST

ijrcenter.org April 14 2019 1:17 P.M IST

International committee on Red cross Accessed from www.icrc.org on April 14 2019 2:08 P.M IST

A.B.M.Imdadul Haque Khan "Obligations and conventions towards refugees" www.thedailystar.net April 11 2019 10:18 P.M IST

Report from UN Children's Fund published on Sept 13 2017 available at blogs.unicef.org accessed on April 14 2019 11:56 A.M IST

Ibid

Ibid

Ibid

Chris Gelardi April 26, 2018 www.globalcitizen.org April 11 2019 11:03 P.M IST

Sharon Stanton Russell, "Refugees: Risks and Challenges Worldwide" Accessed from www.migrationpolicy.org on April 14 2019 12:05 P.M IST

Ibid

Ibid

Ibid

UNHCR, NRC's Internal Displacement Monitoring Centre (IDMC) reliefweb.int April 14 2019 1:13 P.M IST

www.theguardian.com April 11. 2019 10:54 P.M IST

www.economist.com April 11 2019 10:59 P.M IST

cmsny.org April 14 2019 1:01P.M IST

Rana Jawad " why are the gulf states so reluctant to take in refugees?" theconversation.com April 11 2019 10:50 P.M IST

Norwegian Refugee Council report June 19 2018 Accessed from reliefweb.int April 14 2019 1:14 P.M IST

Marie Kem, "The Current Global Refugee Crisis Explained" www.entitymag.com April 11, 2019 6:45 P.M IST

UN affirms 'historic' global compact to support world's refugees Dec 17 2018 news.un.org March 31 2019

T Alexander Aleinik off , "The Unfinished Work of the Global Compact on Refugees" International Journal of Refugee Law, Published: 24 December 2018 academic.oup.com

news.un.org April 14 2019 6:50P.M IST

With Best Compliments from

ASIAN RESOURCE FOUNDATION, INDIA

(An NGO Registered Under Trust Act)
Kalgachia, Barpeta, Assam, PIN-781319
E-mail: arfindia2016@gmail.com

We work for:

* Capacity building of local organizations through management and leadership training, cultural promotion, indigenous technology, environmental rehabilitation and harmonic relations.
* To cooperate with the academic institutions in research works and sustainable development policy and facilitate exchange experiences through meetings seminars and publications.
* To mobilize funds through donations and support education for children, youth and women and income generating activities to improve quality of life of the rural and urban poor and under privileged people.
* To establish educational institution/s for development of scientific temperament and for generating human resources.